सुधानिधि



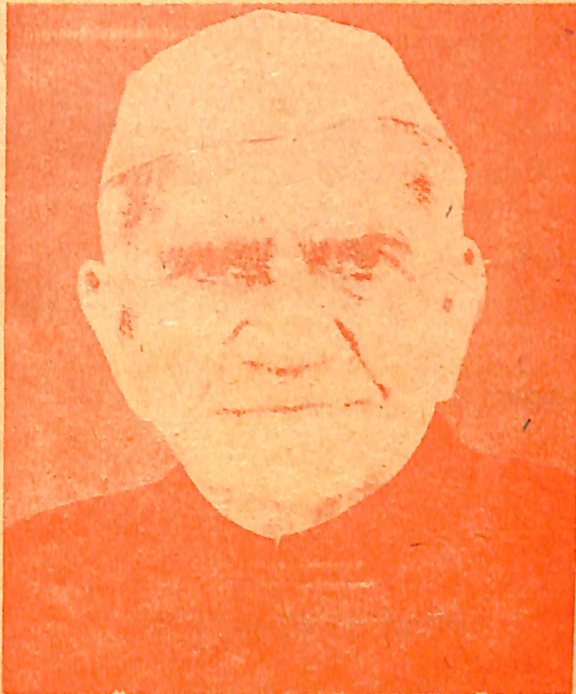
जटिल रोग चिकित्सांक

की

विषयानुक्रमणिका



शुभकामनाएँ एवं सन्देश ....



राष्ट्रपति सचिवालय

राष्ट्रपति भवन

नई दिल्ली, ११०००४

प्रिय महोदय,

राष्ट्रपति जी के नाम आपका पत्र प्राप्त हुआ। उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मार्च के आरम्भ में 'सुधानिधि' मासिक पत्र द्वारा 'जटिल रोग चिकित्सांक' प्रकाशित किया जा रहा है। आपके इस प्रयास की सफलता के लिये वे अपनी शुभकामनायें भेजते हैं।

भवदीय,

ह०—रे० वे० राघवराव

हिन्दी अधिकारी

—)*(—

श्री बनारसीदास गुप्त

मुख्यमन्त्री, हरियाणा



मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आयुर्वेद के सचित्र मासिक पत्र "सुधानिधि" का अगला अंक "जटिल रोग चिकित्सा विशेषांक" के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली हमारी प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति है। आम जनता के लिए सर्व-सुलभ एवं सस्ती चिकित्सा सहूलतों में से एक है। किन्तु आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि वैज्ञानिक चिकित्सा के लिए आयुर्वेद में खोज कार्य किया जाए और जटिल रोगों की चिकित्सा पर विशेष अनुसन्धान किए जाएं।

मुझे आशा है कि विशेषांक में उपयोगी सामग्री का संकलन किया जाएगा।

शुभ कामनाओं सहित—

ह०—बनारसीदास गुप्त

'आयुर्वेद गौरव' आचार्य मुकुन्दीलाल द्विवेदी

आयुर्वेद एवं यूनानी सेवा निदेशक

उत्तर प्रदेश

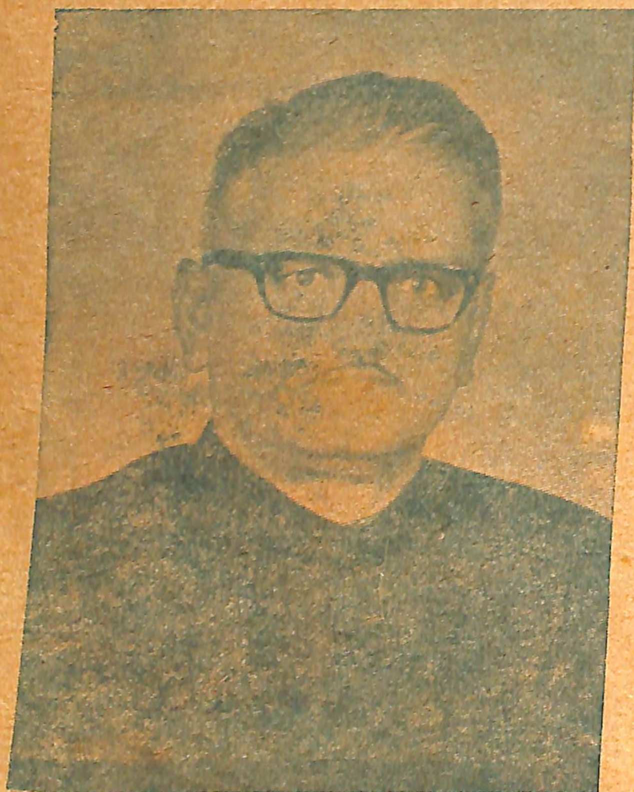


प्रिय महोदय,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'सुधानिधि' का आगामी विशेषांक "जटिल रोग चिकित्सांक" के रूप में शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है जिसका सम्पादन आयुर्वेद चिकित्सा के ख्यातिनामा विद्वान् आचार्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी करेंगे। आयुर्वेद चिकित्सकों के पास प्रायः चिरानुबंधी एवं जटिल रोगों से ग्रस्त रोगी ही अधिकतर आते हैं और कभी-कभी अनुभवी चिकित्सक भी इस जटिल रोग की चिकित्सा में कठिनाई अनुभव करते हैं। मुझे आशा है कि उक्त विशेषांक चिकित्सकों की इस कठिनाई को दूर करने में सहायक सिद्ध होगा। आपके प्रयास की सफलता के लिये मैं अपनी शुभ कामनाएं प्रेषित करता हूँ।

ह०—मुकुन्दीलाल द्विवेदी





आचार्य पं० प्रियव्रत शर्मा

अध्यक्ष—द्रव्यगुण विभाग

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

प्रिय शर्मा जी,

आपका पत्र मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'सुधानिधि' का 'जटिलरोग चिकित्सांक' आचार्य रघुवीर प्रसाद जी त्रिवेदी के सम्पादकत्व में प्रकाशित होने जा रहा है। श्री त्रिवेदी जी ने और आपने विशेषांकों की जो परम्परा स्थापित की है उसमें यह विशेषांक भी एक उत्तम अवदान सिद्ध होगा। उसकी सफलता के लिए मेरी हार्दिक शुभ-कामना स्वीकार करें।

भवदीय,

प्रियव्रत शर्मा



आयुर्वेद चक्रवर्ती, वैद्यरत्न

पं० शिवशर्मा

•

I am glad to learn that the veteran Ayurvedic Journal, SUDHANIDHI is bringing out a special issue on the treatment of complicated diseases under the caption, JATILA-ROGA-CHIKITSANKA.

I am sure that consistent with its past tradition of offering valueable fare to its readers, it will again contain articles of high clinical value and of great interest to the practitioners teachers and Students of Ayurveda.

—Shiv Sharma.

●—●

आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी

वाराणसी

•

प्रिय त्रिवेदी जी,

आपका पत्र व समाचार श्री गोपालशरण जी के द्वारा मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पुनः सुधानिधि का विशेषांक जटिलरोगों पर निकाल रहे हैं।

सुधानिधि के विशेषांक विशेष प्रकार के और विशाल होते हैं। जनता में उनका प्रचार अधिक है। जटिलरोग पर आपका यह विशेषांक भी सुन्दर और सर्वाङ्गपूर्ण होगा। आज आधुनिक औषधियों से व सभ्यतानुकरण से नये-नये परन्तु जटिलरोग बढ़ गये हैं और उनकी चिकित्सा आवश्यक है। आशा है आपका यह अंक इन पर विशेष प्रकाश डालेगा। इष्ट हृदय से सुधानिधि का उत्कर्ष चाहते हैं।

भवदीय,

विश्वनाथ द्विवेदी





आचार्य श्री हरदयाल वैद्य, नई दिल्ली
का शुभकामना सन्देश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि इस वर्ष का विशेषांक "जटिल रोग चिकित्सांक" के नाम से आप प्रकाशित कर रहे हैं। इस विशेषांक का नामकरण और चुनाव युगीय मांग के अनुसार हुआ है।

आशा है सुयोग्य सम्पादक मण्डल के प्रचुर परिश्रम तथा अनुभवी चिकित्सकों के हार्दिक सहयोग से यह जटिलरोग चिकित्सांक चिकित्सकों एवं चिकित्स्यों के लिए निश्चय ही वरदान होगा। —श्री हरदयाल वैद्य



साहित्यायुर्वेदरत्न वैद्य अम्बालाल जोशी
जोधपुर

'सुधानिधि' अपनी गौरवशाली परम्परा में एक मुक्ता और जोड़ना चाहता है। मुझे आशा है कि इस मुक्ता लड़ी में यह मोती उसी स्तर का जोड़ा जावेगा जिस स्तर के पहले मोती हैं। क्यों न हो त्रिवेदी जी जैसे मजे हुए कलमकार इसे पिरो रहे हैं। उनकी दृष्टि पैनी तथा नीर क्षीर विवेकी है।

—वैद्य अम्बालाल जोशी



श्री पुरुषोत्तमदेव मुल्तानी
हैदराबाद

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'सुधानिधि' का 'जटिलरोगांक' शीघ्र प्रकाशित हो रहा है। आज वैद्य समाज को चुनौती है कि ऐसे रोग जिनसे आम जनता परेशान है उनकी आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचार व प्रसार हो अन्यथा हम पिछड़ जाएंगे।

मुझे आशा ही नहीं, अपि तु पूर्ण विश्वास है कि आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी व श्री गोपालशरण गर्ग के सम्पादकत्व में प्रकाशित यह विशेषांक जटिलरोगों से पीड़ित जनता की चिकित्सा की दिशा में वैद्य समाज का सही मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

विशेषांक की सफलता चाहता हुआ—पुरुषोत्तमदेव मुल्तानी।

सुधानिधि के पुराने विशेषांक

सुधानिधि के गत ३ वर्षों में जो विशेषांक तथा लघु विशेषांक छपे हैं उनमें अमूल्य साहित्य भरा है, जिसने भी इन विशेषांकों को पढ़ा है,इनकी मुक्तिकंठ प्रशंसा की है। सुधानिधि का प्रथम विशेषांक महिला रोगचिकित्सांक समाप्त हो चुका है सुधानिधि के जो विशेषांक इस समय उपलब्ध हैं उनका विवरण तथा मूल्य नीचे दिये जा रहा है सुधानिधि के नवीन ग्राहक जिनके पास ये विशेषांक नहीं हैं, अपने पास मंगाकर रखें—

पुरुष रोग चिकित्सांक—५०० पृष्ठों का अत्यन्त उपादेय विशेषांक है जिसमें १०० से अधिक देश के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों के लेख हैं, अनेकों चित्र दिये गये हैं, इस विशेषांक का अध्ययन कर आप सभी पुरुष रोगों की सफलतापूर्वक चिकित्सा कर सकते हैं। इस विशेषांक की बहुत थोड़ी प्रतियां हमारे पास शेष हैं। मूल्य १२.००। सजिल्द १३.००

पुरुष रोग अनुभव खण्ड—यह पुरुष रोग चिकित्सांक का परिशिष्ट अंक है जिसमें देश के २५ विशिष्ट विद्वानों के पुरुष रोगों पर अनुभव दिये गये हैं, इस अंक में सहस्रों योगों का समावेश किया गया है। मूल्य २.५०।

शिशु रोग चिकित्सांक—१९७५ का बहुप्रशंसित विशेषांक है, जिसने भी देखा है इसकी प्रशंसा की है। बालकों के सभी रोगों पर इससे अच्छा साहित्य आपको अन्यत्र नहीं मिलेगा। १२५ से अधिक लेखकों द्वारा लिखे गये इस विशेषांक में अनेक चित्र दिये गये हैं। मूल्य १५.००

शिशु रोग चिकित्सांक योग परिशिष्टांक—इसमें शिशु रोग नाशक आयुर्वेद ग्रन्थों में वर्णित अनेक योग दिये गये हैं। मूल्य २.५०

रक्तदाबांक (प्रथम तथा द्वितीय भाग)—ये दो लघु विशेषांक रक्तदाब (ब्लड प्रेशर) के सम्बन्ध में १९७३ तथा १९७४ में प्रकाशित किये गये थे। प्रथम भाग में अतिरक्त दाब तथा द्वितीय भाग में न्यून रक्त-दाब की चिकित्सा तथा विवरण दिया गया है। मूल्य ४.५०

शिरः शूलांक—यह अङ्क शिरःशूल के विषय में अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित हुआ है। शिरः रोगों पर अनेक अनुभूत प्रयोगों का संग्रह है। मूल्य २.५०

परिवार नियोजन अङ्क—सुधानिधि का सबसे अधिक बिकने वाला लघु विशेषांक है, जिसकी बहुत थोड़ी प्रतियां हमारे स्टाक में हैं अनेक चित्रों से परिवार नियोजन के प्राचीन तथा अर्वाचीन साधन दिये गये हैं, प्रत्येक वैद्य, डाक्टर और गृहस्थ के लिए उपयोगी है। मूल्य २.००

दन्त रोगाङ्क—दन्त रोगों पर इस लघु विशेषांक में विस्तार से वर्णन दिया गया है। दन्त रोगों की आयुर्वेदिक, एलोपैथिक, होम्योपैथिक आदि चिकित्सा बतायी गयी है। दांतों का संज्ञाहरण तथा उखाड़ने आदि की विधि भी अनेक चित्रों के साथ दी गयी है। मूल्य २.५०

कैपसूल अङ्क—आयुर्वेदिक कैपसूलों के सम्बन्ध में १९७५ में श्री मोहरसिंह आर्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित बहु प्रशंसित लघु विशेषांक है, अनेक अनुभूत योग इस लघु विशेषांक में दिये गये हैं। मूल्य २.५०

स्मृति अङ्क—सुधानिधि के सम्पादक स्वर्गीय वैद्य देवीशरण जी गर्ग की स्मृति में प्रकाशित लघु अङ्क है जिसमें स्वर्गीय वैद्य जी के अनुभूत प्रयोग भी दिये गये हैं। मूल्य २.५०

नोट—सभी विशेषांकों पर पोस्ट व्यय पृथक् लगेगा। सुधानिधि के नवीन ग्राहकों को २५.०० से अधिक मूल्य के विशेषांकों पर २५% कमीशन भी दिया जायगा।

भूल-सुधार—१. पृष्ठ ७७ पर मन्थर ज्वर कारण और निवारण शीर्षक लेख आयुर्वेद चूड़ामणि के लेखक कविराज धर्मदत्त चौधरी, आयुर्भवन, चन्डीगढ़ है।

२. पृष्ठ २५७ पर श्री तेजबहादुर चौधरी के स्थान नबागढ़ की जगह नबलगढ़ छप गया है। पाठक सुधार कर पढ़ें।

पता—धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ [अलीगढ़]

वैद्यों में हर्ष की लहर

For Medical Profession

नाम कमाने का अवसर

एलोपैथिक जगत् में भी आयुर्वेद की धूम मचाने वाले

प्रसिद्ध आशुगुणकारी इञ्जेक्शन्स

विश्व प्रसिद्ध और अत्यन्त आधुनिक दवाओं के साथ-२ इन इञ्जेक्शनों में भारतीय जड़ी-बूटियों के क्रियाशील सार भी मिलाये गये हैं, जिनके फलस्वरूप ये फौरन चमत्कारी असर करते हैं, गत २८ वर्षों से लाखों वैद्यों-डाक्टरों ने करोड़ों इञ्जेक्शनों का सफलता पूर्वक प्रयोग करके इनको अजमाया है और रोजाना प्रयोग में लाते हैं।

मार्तण्ड फार्मेस्युटिकल्स, बड़ौत, दिल्ली के निकट, लाखों रुपये की लागत से बनी, आधुनिक आटोमेटिक मशीनों और यन्त्रों से सुसज्जित विशाल एयर कंडीसण्ड लैबोरेट्री है, जिसमें सरकारी मान्यता प्राप्त फार्मेस्युटिकल्स इञ्जीनियरों और बी० फार्म० कैमिस्टों की देख-रेख में आधुनिक दवाओं जैसे हार्मोन्स, सल्फा ड्रग्स, एण्टीबायोटिक्स के कैपसूल, सीरप, टेबलेट और इञ्जेक्नों का निर्माण होता है। बेसिक फार्मेस्युटिकल कैमिकल्स जैसे क्लोरमफेनीकाल, एनालजिन, पैरासिटामोल फ्रेनासिटिन, नियासिनामाइड आदि कैमिकल्स का निर्माण जर्मनी तकनिक से भारी मात्रा में होता है।

एक बार इन ७ प्रसिद्ध इञ्जेक्शनों की आशुगुणकारिता अवश्य देखिये !

शूलान्तक—(त्वचान्तर्गत) गुल्म शूल, उदर का तीव्र शूल, आमाशय शूल, गृध्रसी शूल, तीव्र नाड़ी शूल, आमवात का शूल, बिच्छू दंश शूल और बेहद पसीने आना, वृक्क शूल, हृदय शूल, निमोनिया का तीव्र पार्श्व शूल, स्तनों से लगातार दूध टपकना, दिक में ज्यादा पसीना आना, मुख में ज्यादा पसीना आना, मुख से ज्यादा लालास्राव, स्वप्न दोष में प्रसिद्ध है। ६×१ का बक्स ४ रु० ४० पैसे।

सोमा—(त्वचान्तर्गत) तीव्र श्वांस और दमे के दौरे को ५ मिनट में तुरन्त शमन करता है। श्वांस गति इञ्जेक्शन लगते ही तत्काल सुधर जाती है, श्वांस प्रणालियों और वायु कोषों का संकोच तत्काल शमन होकर श्वांस ठीक आने लगता है। साधारण दम्मे और रोजाना रहने वाली दमकशी में तुरन्त लाभकारी सोमा कैपसूल, सोमा टेबलेट, सोमा सीरप दें। इनसे श्वांस रोग में तत्काल लाभ होता है। ६×१ मि. लि. बक्स ४.५०

हिरण्य—(मांस पेश्यान्तर्गत) श्वांस और दमे के तीव्र दौरे को ५ मिनट में शान्त करता है; श्वास की गति इससे तुरन्त ठीक हो जाती है; इससे श्वास प्रणालिका पेशियों का संकोच तुरन्त शिथिल होकर श्वांस सरलता से आने लगता है। एक इञ्जेक्शन से शान्त होकर पुनः बार-बार उठने वाले श्वांस दौरे में सोमा हिरण्य दोनों मिलाकर लगायें। ६×१ बक्स ४.५०।

हृदयामृत—(मांस पेश्यान्तर्गत) श्वसन केन्द्र, सौषुम्निक तन्त्र और हृदय को तत्काल उत्तेजित करके, सन्निपात, टायफाइड बुखार, निमोनिया और शीतांग में। गम्भीर रोगों और भयंकर दुर्घटनाओं में दिल बैठना, नाड़ी मन्द हो जाना, शरीर में शीतलता में डूबते दिल को शक्ति देकर प्राणों को फौरन बचा लेता है। दिल और नाड़ी का मन्द चलना, श्वांस की मन्द गति में यह तत्काल दिल, फेफड़ों और नाड़ी को उत्तेजित करता है, शरीर में गर्मी लाता है। ६×१ मि. लि. का बक्स ६.००।

प्रदरारि—(मांस पेश्यान्तर्गत) श्वेत प्रदर, रक्त प्रदर में चमत्कारी आशुगुणकारी इञ्जेक्शन है, खाने को ल्यूकोरिन टेबलेट दें, फिटकरी जल से योनि धुलवाये। यह प्रदर की अद्भुत चिकित्सा तुरन्त लाभकारी है। ६×२ मि. लि. बक्स ४.५०।

रासोन—(मांस पेश्यान्तर्गत) संधियो की सूजन, ग्रंथियों का दर्द, संधि शूल, आमवात (गठिया के बुखार) में निश्चित लाभ करता है। साथ में कोलिकगन टेबलेट भी दें। गठिया और दर्द की यह चमत्कारी चिकित्सा है। ६×२ मि. लि. बक्स ४.५०।

क्लीवान्तक—(मांस पेश्यान्तर्गत) नपुंसकता, नामर्दी नाशक प्रसिद्ध इञ्जेक्शन हैं। ६×१ मि. लि. बक्स ७.५०।

मुफ्त उपहार—सातों इञ्जेक्शनों को एक साथ मंगाने पर ज्वर-वेदना नाशक पैरामोल टेबलेट २.५० की मुफ्त।

नोट—हमारे इन्हीं नामों से कई नक्काल फार्मेसियां वैद्यों को धोखा दे रही हैं, लोभ में मत आइये, ये आशुगुणकारी इञ्जेक्शन डाकपार्सल से मगाइये।

पता—मार्तण्ड फार्मेस्युटिकल्स, बड़ौत (दिल्ली के निकट)



अहं हि धन्वन्तरि रादिदेवः सुधानिधिं धार्य सुखेन पाणौ ।
विद्याविनोदाय सुखाय शीघ्रं शुद्धोपचाराय च मानवानाम् ॥
अंकं विशिष्टं जटिलामयघ्नं चिकित्सकैर्वै धुरि कीर्तनीयम् ।
प्रस्तूयते बुद्धिप्रदं वरेण्यं गर्गस्य देवीशरणस्य ग्रामे ॥

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ द्वारा प्रकाशित

ध्यानयोग से शक्ति का साक्षात्कार

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

—(श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० १ । ३)

देखी उन्होंने निज ध्यानयोग से देवात्मशक्तिः स्वगुणैः निगूढ ।
आकाल आत्मा तक सब अधिष्ठित सबका वही कारण एक ब्रह्म ॥
उसी तरह वैद्य करें गवेषणा रखें सदा ही निज शास्त्रध्यान ।
पावें जटिल व्याधियों पर विजय वे सन्देहहर आयु का वेद एक ॥

—(र० प्र० त्रि०)



* जटिल रोग चिकित्सांक प्रशस्ति *

श्री पं० शंकरलाल गौड़ 'शंभु कवि' तपस्थली दूरा (आगरा)

●

ध्वस्त जटिल रोगों को करने योगों को लेकर आता है !
ऐसा प्यारा है अंक "सुधा" यह नवजीवन दिखलाता है !!
रोगों का राजा ज्वर जिसका सुस्वरूप इसमें सुन्दर !
विषम जीर्ण द्वन्द्वज मन्थर इनकी व्याख्या इसके अन्दर !!
भीषण दुःख व्याकुल रोगी भी इससे छुटकारा पाता है !
ऐसा प्यारा है अंक "सुधा" यह नवजीवन दिखलाता है !!१!!

पाचन-संस्थानी जटिल रोग अतिसार वमन कृमि की ग्रहणी !
अम्लपित्त या यकृत् विकार अरु अर्श अश्मरी दुःखद कणी !!
निश्चेष्ट मनुज पत्थर सम तनु स्फूर्ति शीघ्र पा जाता है !
ऐसा प्यारा है अंक "सुधा" यह नवजीवन दिखलाता है !!२!!

श्वास रक्त उत्पादन में प्रतिश्याय जीर्ण खांसी उरःक्षत !
श्वसनक श्वास राजयक्ष्मा है पाण्डु कामला आदिक मत !!
तब जीर्ण शीर्ण होकर मानव मृत्यू की बाट जोहता है !
ऐसा प्यारा है अंक "सुधा" यह नवजीवन दिखलाता है !!३!!

हृत्पात् शूल अरु रक्तदाब वाहिका स्रोत बन जाता है !
शोथ उच्च अवसाद शाक रुज 'शंकर' भी जी जाता है !!
भिन्न भिन्न रोगों पर भी यह विजय योग जब भाता है !
ऐसा प्यारा है अंक "सुधा" यह नवजीवन दिखलाता है !!४!!

मूत्रघात अरु वृक्कपाक सर्वाङ्ग शोथ की वृद्धी हो !
अश्मरी अण्ड सम्बन्धि रोग की यदि भीषण अभिवृद्धि हो !!
तभी चिकित्सा 'सुधा कलश' बन सबको राह दिखाता है !
ऐसा प्यारा है अंक "सुधा" यह नवजीवन दिखलाता है !!५!!

त्वचा जटिल कक्षा पामा छाजन अरु दद्रु रोग भी हो !
खाज विचर्चिका कुष्ठ आदि से नहीं देह की मुक्ति हो !!
देकर ऋषियों के योग भोग इन रोगों से छुटवाता है !
ऐसा प्यारा है अंक "सुधा" यह नवजीवन दिखलाता है !!६!!

आमवात गाउट लकवा अरु अपस्मार उन्माद शूल !
गृध्रसी कास भक्षण विष गुरु चेचक अनिन्द्रा गया भूल !!
उपचार सभी का सफल सिद्ध अपना प्रभाव दर्शाता है !
ऐसा प्यारा है अंक "सुधा" यह नवजीवन दिखलाता है !!७!!



चरक संहिता में इन दो वाक्यों में युक्त भेषज और भिषक् श्रेष्ठ की परिभाषा दी गई है—

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते ।
स चैव भिषजां श्रेष्ठः रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥

इसके अनुसार युक्त भेषज वही है जो आरोग्य प्रदान करे तथा भिषक् श्रेष्ठ वह है जो रोगों से
ुक्त कर दे । इस परिभाषा का उपयोग हमारे मिश्र प्रणाली में शिक्षित चिकित्सकगण करके ऐलोपैथिक दवाओं
ा प्रयोग करने में हिचकिचाते न थे । आधुनिक औषधों में लक्षण शामक गुण अपेक्षाकृत अधिक आभासित होने
े इन दवाओं का उपयोग उन लोगों ने सीमातिक्रमण तक किया है । पर अब प्रवृत्ति बदल रही है । लोग आधु-
निक कही जाने वाली दवाओं के व्यामोह से ऊब रहे हैं । उनके प्रयोग से रोग से रोगी को छुटकारा नहीं मिलता
ौर न आरोग्य ही प्राप्त होता है । ब्लडप्रेशर के रोगी को या मधुमेही को अथवा अम्लपित्ती को जीवन भर
ंग्रेजी दवा खानी पड़ती है फिर भी रोग जहां का तहां पाया जाता है । दवा बन्द हुई कि रोग पहले से अधिक
ीषण रूप में सामने आ गया । इसके ठीक विपरीत, थोड़े से योगासन करते रहने से रोगों पर विजय प्राप्त
करली जाती है और रोग का पुनरुद्भव नहीं होता । योग की थोड़ी सी झलक ने ही यूरोपवासियों तथा अमेरि-
कनों को उसका भक्त बना दिया है जिससे पश्चिमी गोलार्द्ध में योग सीखने की एक लहर सी दौड़ रही है। इसी
रिप्रेक्ष्य में उनमें से बहुत ही थोड़े अंगुलियों पर गिने जाने वाले लोगों ने आयुर्वेद का भी उपयोग किया है और
उन्हें इसमें भी युक्त भेषजता दिखाई दे गई है, यद्यपि भिषक् श्रेष्ठत्व का आभास अभी पूरा-पूरा नहीं मिला है ।
ेश-देश में प्रचलित देशी औषधियों और चिकित्सा पद्धति की उपादेयता में विश्व स्वास्थ्य संगठन भी रुचि लेता
्रतीत हो रहा है और यह लगता है कि नातिदूर भविष्य में आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति को वह गौरव प्राप्त हो
ायगा जो उसे अपने देश में सदा से मिलता रहा है तथा जिसकी धाक किसी समय बगदाद के खलीफाओं
ौर स्पेन के राजदरबार तक रह चुकी है । हम आयुर्वेदज्ञों का भी कर्त्तव्य है कि उस जीवन रक्षिणी प्रणाली को

समझें उपयोग करें और प्रचार करें जिसके व्यतिरिक्त मानवस्वास्थ्यप्रशयिनी दूसरी कोई चिकित्सा पद्धति दृष्टिगोचर नहीं ही है।

इस पद्धति के निर्माण में हमारे उत्कृष्टतम भिषक्श्रेष्ठों की पीढ़ी समाप्त हुई है। एक एक आचार्य ने अपना जीवन उस तपस्या में खपा दिया है जिसका प्रसाद आयुर्वेद है। यह ऐसे छिपे हुए जाज्वल्यमान रत्नों की खान है जो युगों से छिपी हुई रही है। जिस दिन यह विश्व के समक्ष उजागर हो जायगी इसकी प्रभा से समस्त विश्व अभिभूत हो उठेगा। इसके उपयोग से मानव समाज का अधिकतम कल्याण होगा ही। क्योंकि इस आरोग्यशास्त्र में जितना व्यापक दृष्टिकोण सामने रखकर एक-एक वाक्य लिखा गया है वह किसी एक क्षेत्र की दृष्टि से नहीं है। सभी कुछ यूनीवर्सल ट्रुथ ही अक्षर अक्षर में उतार दिया गया है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

I. रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता। निजागन्तुविभागेन तत्र रोगाः द्विधा स्मृताः॥
तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा॥

इस वाक्य में रोग और अरोगता की यूनिवर्सल परिभाषा दी गई है तथा रोगों के जो भेद दिये गये हैं, उसमें समस्त मानव जाति के सम्पूर्ण रोगों का समावेश कर दिया गया है। शरीर में दोषों का साम्य होना अर्थात् होम्योस्टैसिस होना अरोगता या स्वस्थता है। दोषों का विषम होना रोग है। ये रोग भी निज आगन्तु भेद से दो प्रकार के होते हैं तथा इनका अधिष्ठान या तो काया या शरीर होता है या मन होता है। इन वाक्यों में अन्दर ही अन्दर बिना किसी उपसर्ग के शरीर यन्त्रों की क्रियाओं में विविध कारणों से खराबी आने से होने वाले निज रोगों तथा अभिशाप, अभिचार, अभिघात और उपसर्गों से उत्पन्न आगन्तुज रोगों का उल्लेख कर दिया गया है। बहुत बाद में पाश्चात्य चिकित्सा में रोगोत्पत्ति में मानस का रोग अधिष्ठान के रूप में समावेश करके सायकोसोमैटिक नेचर आफ डिजीज की कल्पना को मूर्त रूप दिया गया जिसे आयुर्वेद अपने जन्म के साथ ही स्वीकार करता आ रहा है। रोग के शरीर और मन के अधिष्ठान रूप की झलक आयुर्वेद में सर्वत्र मिलती है।●

● चरक के सूत्रस्थान के विधिशोणितीय नामक २४ वें अध्याय में इसका सुन्दर वर्णन इन शब्दों में मिलता है—
दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा वायुः प्रपद्यते। मनोविक्षोभयन् जन्तोः संज्ञां संमोहयेत्तदा॥
पित्तमेव कफश्चैवं मनोविक्षोभयन्नृणाम्। संज्ञां नयत्याकुलताम्………… ॥

इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः। भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूत सामान्य लक्षणाः॥

इस वाक्य में काम-शोक-भय से वायु, क्रोध से पित्त तथा भूताभिषंग (जीवाणुओं और सुपरपावर्स) से तीनों दोषों के प्रकोप का संकेत किया गया है। आगन्तुज्वरों की उत्पत्ति में काम, भय, शोक और क्रोध को कारण माना गया है।

(२) अतीसारों की उत्पत्ति में शोक भी कारण माना गया है—शोकाद् दुष्टाम्बु मद्यातिपानैः……… नृणां भवत्यतीसारः। शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यैः कष्ट एवं प्रदिष्टः। शोक ने अतीसार ही उत्पन्न नहीं किया उस अतीसार को जटिल भी बना दिया।

(३) वातिक ग्रहणी में लौल्य (गृद्धिः सर्वरसानां च) तथा मानसिक अवसाद (मानसः सदनं तथा)

(४) वातार्श की उत्पत्ति में शोक, पित्तोल्बण अर्श में क्रोध तथा अचिन्तन को श्लैष्मिक अर्श में कारण माना है।

(५) अजीर्ण की उत्पत्ति में मनोविकारों को प्रमुखता दी गई है—ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन। प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानं अन्नं न सम्यक्परिपाकमेति॥

(६) पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति में कामचिन्ताभयक्रोधशोकोपहतचेतसः के द्वारा पित्त प्रकोप की भूमिका

पर प्रकाश डाला गया है ।

(७) वेग सन्धारणजन्य यक्ष्मा में ह्री, घृणा और भय को, क्षयजन्य में—हर्षोत्कण्ठा भयत्रासक्रोधशोक इन सभी को अतिकर्षण का कारण माना है ।

(८) उन्माद तो स्वयं ही मानस विकार है—उन्माद हेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टा । इसी प्रकार अपस्मार भी मानस व्याधि है—चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा मनस्यभ्याहते नृणां अपस्मारः प्रवर्तते ।

(९) अरोचकों की उत्पत्ति भी शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धों द्वारा होती है ।

(१०) मूर्च्छाभ्रमसंन्यासादि में हीनसत्त्वता बहुत महत्त्वपूर्ण मानी गई है ।

(११) मद्यपान क्रुद्ध, भीत, शोकाभितप्त को ही विविध विकारों से ग्रसित करता है ।

(१२) वातव्याधियों की उत्पत्ति में—धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् प्रमुख कारण कहे गये हैं ।

(१३) वातरक्त की उत्पत्ति में सुख (आनन्ददायक मनःस्थिति) की अपनी भूमिका है । वही प्रमेह-मधुमेह की उत्पति में भी महत्त्वपूर्ण है ।

(१४) वातिक उदरशूल—शोकोपवासादतिहास्यभाष्यात्; पैत्तिक—क्रोधानलायासरविप्रतापैः; श्लैष्मिक अवसाद द्वारा उत्पन्न होता है । उदावर्तों का उद्भव तो मन की वेगनिग्रहवृत्ति का प्रत्यक्ष परिणाम है ।

(१५) वातिकगुल्म की उत्पत्ति में शोक, पित्तज में क्रोध, हृद्रोगों की उत्पत्ति में संचिन्तन का बहुत महत्त्व है ।

II. रोगं निदानप्राग्रूप लक्षणोपशयादिभिः

यह एक दूसरा यूनिवर्सल ट्रुथ (सार्वजनीन सत्य) है । रोग का ज्ञान निदान, पूर्वरूप, लक्षण और उपशय द्वारा होता है । रोगज्ञान के लिए प्राचीन भारतीय आचार्यों ने आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति इन चारों प्रमाणों का पूरा-पूरा उपयोग करके रोग के सटीक निदान के लिए एक ऐसी मैथोडोलोजी (पद्धति) प्रस्तुत कर दी थी जिसके बल पर आज तक रोग का याथातथ्य ज्ञान या डायग्नोसिस की जाती रही हैं । उस परम्परा का निर्वाह लगातार सभी चिकित्सा-पद्धतियां कर रही हैं । इस पद्धति की थोड़ी झलक नीचे दी जा रही है :—

१. **कुष्ठ निदान में**—विरोधी अन्नपान ।
छर्दिवेग को रोकना ।
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुत शीताम्बु का सेवन ।
पापकर्म करना ।
गुरु और पूज्यों का अनादर करना ।

२. **अम्लपित्त निदान में**—विरुद्ध भोजन ।
दुष्ट भोजन ।
अम्ल, विदाही, प्रकोपी भोजन करना ।

३. **विसर्प निदान में**—लवण, अम्ल, कटु, उष्ण द्रव्यों का अधिक सेवन करना ।

४. **विस्फोट निदान में**—ऋतु विपर्यय ।

५. **मसूरिका निदान में**—पवन और उदक का प्रदुष्ट होना ।
क्रूरग्रहों द्वारा देखना ।

६. **मुखरोग निदान में**—क्षीर दधि मत्स्यादि सेवन ।

७. कर्णस्राव की उत्पत्ति में—शिरोऽभिघात, प्रपाक और जल में निमज्जन करना।
८. आगन्तुक नासारोग में—सूर्यदर्शन तथा तरुणास्थि मर्म का उद्घाटन।
९. नेत्ररोग निदान में—उष्णाभितप्त व्यक्ति का सहसा जल में प्रवेश, दूरदर्शन, स्वप्न विपर्यय, रज, धूम-निषेवण, निरन्तर रोना, क्रोध, शोक, अभिघात, मद्यपान, बाष्पनिग्रह।
१०. असृग्दर निदान में—अति मैथुन, गर्भ प्रपात, यान प्रयोग, अध्व, शोक करना।
११. मूढगर्भ निदान में—पद्म करना।

अभिघात।

१२. सूतिकारोग निदान में—मिथ्योपचार।
१३. बालरोग निदान में—क्षीरदोष, गर्भिणी स्त्री द्वारा दुग्ध पिलाना, ग्रहप्रकोप।
१४. फिरंगरोग निदान में—फिरंगिणी के साथ प्रसंग करना।
१५. अतीसार निदान में—दुष्टाम्बु सेवन, कृमिदोष, विष सेवन।

कारण के बाद रोग लक्षणों का सुन्दर वर्णन जिन शब्दों में किया गया है उसके कुछ उदाहरण ये हैं :—

रक्तपित्त में रक्तस्राव का स्वरूप इन शब्दों में दिया है—

मांस प्रक्षालनाभ

कुथितामिव

कर्दमाम्भोनिभ

मेदः पूयास्रकल्प

यकृदिव

पक्वजम्बूफलाभ

क्षतज कास में पारावत इवाकूजन कासवेगात् क्षतोद्भवात् कितना सुस्पष्ट ऑब्जर्वेशन है।

त्वचा में-रोग के अनेक स्वरूप बतलाये गये हैं—रूक्षा, स्फुटिता, सुप्ता, कृष्णा, सरागा।

मल के विविध रूपों का वर्णन इन शब्दों में मिलता है—

(i) चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् पुनः पुनः सृजेद्वर्चः—वातिक ग्रहणी में।
(ii) सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्—पैत्तिक ग्रहणी।
(iii) भिन्नामश्लेष्मसंसृष्ट गुरुवर्चः प्रवर्तनम्—श्लैष्मिक ग्रहणी।
(iv) पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम्—आमातीसार।
(v) वराहस्नेहमांसाम्बु सदृशं—त्रिदोषजअतीसार।
(vi) अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः शकृदामं सरुक्शब्दम्—वातातीसार।
(vii) शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं—श्लेष्मातीसार।
(viii) पक्वजाम्बवसंकाशं यकृत्खण्डनिभं।
घृत तैल वसामज्जवेशवार पयोदधि।
मांसधावन तोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्।
मेचकं स्निग्ध कर्बुरं चन्द्रकोपगतं घनम्।
कुणपं मस्तु लुंगाभं सुगन्धं कुथितं बहु।

मूत्र के सम्बन्ध में उनका ऑब्जर्वेशन इन शब्दों में आता है—

(i) अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धं उदकोपमम् किंचिद् आविलपिच्छिलम्।

(ii) इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरम् ।
(iii) सान्द्रीभवेत्पर्युषितम् ।
(iv) सुरातुल्यं उपरि अच्छं अधोघनम् ।
(v) पिष्टवद्बहुलं सितम् ।
(vi) शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा ।
(vii) सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् ।
(viii) लालातन्तुयुतं मूत्रम् पिच्छिलम् ।
(ix) क्षारतोयवत् ।
(x) नीलाभम् ।
(xi) मसीनिभ ।
(xii) हरिद्रा संनिभम् ।
(xiii) मंजिष्ठा सलिलोपमम् ।
(xiv) विस्रमुष्णं सलवणम् रक्ताभम् ।
(xv) वसाभम्, मज्जाभम् ।
(xvi) कषायं मधुरं रूक्षम् ।
(xvii) सलसीकं विबद्धञ्च ।

पिडकाओं के सम्बन्ध में अनेक उपमाएं दी जाती हैं—

(i) गौरसर्षप संस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपा ।
(ii) सदाहा कूर्म संस्थाना । (iii) मांस जाल समावृता । (iv) महती नीला ।
(v) मसूराकृति संस्थाना । (vi) रक्तासिता स्फोटचिता । (vii) विदारीकन्दवद्वृत्ता ।

सटीक निदान की दृष्टि से भी कुछ परीक्षाएं दी गई हैं—

(i) आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ।
(ii) हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तस्योदरं बद्धगुदं वदन्ति ।
(iii) नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम् ।
(iv) स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समाततं पूर्ण मिवाम्बुना च ।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥
(v) प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवावली च श्वयथुः समीरणात् ।
(vi) स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो नचोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः ।
(vii) प्रपीडितोऽन्तः स्वनवान् प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः । (अन्त्रवृद्धिः)
(viii) प्रलम्बतेऽलाबु वदल्पमूलो देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः । (मेदोज गलगण्ड)

यही नहीं प्रत्येक रोग में उन महापुरुषों ने गजब का ज्ञान संचित करके रखा था। रोग लक्षण परम्परा में उनकी अवलोकन शक्ति आश्चर्यजनक रूप से सराही जाने योग्य है। उसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(i) **ज्वरपूर्वरूप**—नयनप्लवः ।
इच्छाद्वेषौमुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ।
(ii) **वातज्वर**—निद्रानाशः, गाढविट्कता ।

(iii) **पित्तज्वर**—अतिसार, प्रलाप, भ्रम तथा कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः ।
(iv) **कफज्वर**—रोमहर्षोऽति निद्रता तथा अक्ष्णोश्च शुक्लता ।
कहीं-कहीं तो पूरा रोग चित्र ही प्रस्तुत कर दिया है—
(v) **सन्निपातज्वर**—क्षणेदाहः क्षणेशीतम् ।

सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ।
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य
शिरसोलोठनं—प्रततं कण्ठ कूजनम् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ।

(vi) **आमज्वर**—लालाप्रसेक, गुरुगात्रता, बहुमूत्रता, बलवान्ज्वर ।
(vii) **पच्यमानज्वर**—ज्वरवेगाधिक्य, तृष्णा, प्रलाप, श्वसन, भ्रम, मलप्रवृत्ति और उत्क्लेश ।
(viii) **गुदांकुरों का स्वरूप**—बिम्बीखर्जूर कर्कन्धूकार्पासीफल सन्निभाः ।

केचित् कदम्बपुष्पाभाः केचित् सिद्धार्थकोपमाः ।
शुकजिह्वा यकृत्खण्ड जलौको वक्त्रसंनिभाः ।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसंनिभाः ।

(ix) **वेदनाओं या पीडाओं का सादृश्य, काल और स्वरूप**—

आमवात—स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ।
श्लैष्मिक शूल—भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं । सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥
वातिक गुल्म—करोति जीर्णे त्वधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च ।
वातिक हृद्रोग—आयम्यते, तुद्यते, निर्मथ्यते, दीर्यते, स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च ।
वातज अश्मरी—तत्र वाताद्भृशं चार्तो दन्तान् खादति वेपते ।

गृह्णाति मेहनं नाभिं पीडयत्यनिशं क्वणन् ॥

पच्यमानव्रण—दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते

पिपीलिकागणेनेव दृश्यते छिद्यते तथा
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते
पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते
सोषाचोषो विवर्णः स्यादंगुल्ये वावघट्यते
आसने शयने स्थाने शान्ति वृश्चिक विद्धवत्
न गच्छेद् ।

अधिमन्थ—उत्पाट्यत इवाऽत्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा ।
अर्धावभेद—मन्याभ्रू शंखकर्णाक्षिललाटार्धेऽति वेदनाम् ।

शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोऽर्धावभेदकः ।

वृश्चिकदंश—दहत्यग्निरिवादौ च भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च ।
(x) **शरीर के विविध भागों तथा विविध अंगों के लक्षण भी मिलते हैं**—

तेनार्धं शीतलं देहं अर्धमुष्णं प्रजायते—विषम ज्वर में ।

पिडिकोद्वेष्टनम्—मांसगत ज्वर ।

मेदोऽस्थ्नां—अस्थिगत ज्वर।

शेफसः स्तब्धता—शुक्रगत ज्वर।

सन्ध्यस्थिशूलम्—अन्तर्वेग ज्वर।

हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोद—अतीसार पूर्वरूप।

असंवृतगुदम्—असाध्य अतीसार।

कण्ठास्यशोषः—वातिक ग्रहणी, वातपित्त ज्वर, अब्शोष, तृष्णानिरोधज दाह।

पार्श्वरुक्—वातिक ग्रहणी, तृष्णाविघातज उदावर्त।

उरोरुक्—क्षतक्षीण, क्षतज कास।

हृत्पीडा—वातिक ग्रहणी, कृमिरोग, रक्तपित्त, श्वास पूर्वरूप, वातज अरोचक, कृमिज छर्दि, मूर्च्छा पूर्वरूप, अपतन्त्रक वातपैत्तिक शूल, उदावर्त, सन्निपातजज्वर, आगन्तुज्वर।

हृद्ग्रह—अर्श, आमवात।

हृत्कम्प—अपस्मार पूर्वरूप।

गण्डाक्षिकूटगः शोथः—अजीर्ण,पांडुपूर्वरूप

अंसपार्श्वाभिताप—यक्ष्मा।

रक्तैकलोचनः—छिन्नश्वास।

विभ्रान्त लोचन—असाध्यज्वर।

ताम्रलोचनः—रक्तजदाह, विषजउन्माद।

विष्टब्धाक्ष—धनुर्वात।

अनिमिषाक्ष—अर्दित।

वाक्संग—अर्दित, जिह्वास्तम्भ।

शिरोग्रह—वातश्लेष्मज्वर।

शिरोरुक्—औषधिगन्धजज्वर।

अनेक उपमाएं भी इतस्ततः मिलती हैं—कृष्णारुणकपालाभ, मत्स्यशकलोपम, वरटीदष्टसंस्थान, पंकवत्शीर्णमांसश्च, अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः, गुञ्जाविद्रुमसंनिभाः, मसूराकृति संस्थानाः, तोयबुद्बुदसंकाशाः, प्रवालसदृशाः काश्चित्, काश्चिज्जम्बूफलोपमाः, लोहजालसमाः काश्चिद् अतसीफलसंनिभाः (मसूरिकाः) यवाकाराः सुकठिनाः (यवप्रख्याः), विदारीकन्दवद्वृत्ता (विदारिका), शाल्मलिकण्टकप्रख्याः (मुखदूषिकाः), सर्पिर्मण्डप्रतीकाशौ ओष्ठौ, शाकच्छदन प्रकाशा जिह्वा।

xiv. रोगी का स्वरूप कैसा हो जाता है इसे उन्होंने स्पष्ट किया है—

i. भेकाभः (रक्तार्श, कामला)

ii. रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डुर्भवेदर्बुद पीडितस्तु (रक्तार्बुद)

iii. निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले (गलगण्ड)

iv. वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते (श्लीपद)

xv. व्रणों के स्वरूप और उनके स्रावों के सम्बन्ध में इतना स्पष्ट लिखा है कि वह उनके प्रतिदिन के व्रणोपचार को स्पष्ट कर देता है—

मद्य, अगुरु, घृत, चमेली, कमल, चन्दन, चम्पा जैसी गन्ध (असाध्य व्रण)

श्यावो व्रणो मारुतसम्भवः, व्रणपित्तकृत विद्याद् गन्धः स्रावेश्च पूतिकैः, पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरपाकी कफव्रणः।

पूतिपूयातिदुष्टासृक्स्राव्युत्सङ्गी चिरस्थितिः (दुष्टव्रण), जिह्वातलाभोऽतिमृदुः (शुद्धव्रण)
कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिता स्थिराश्च पिडिकावन्तः (रुह्यमाण व्रण), त्वक्सवर्ण समतलम् (सम्यग् रूढव्रण)

उपर्युक्त विहंगावलोकन यह बतलाने के लिए पर्याप्त है—

१. भारत के चिकित्सक विद्वानों ने अपने प्रयत्नों से एक चिकित्सा पद्धति को जन्म दिया था जो स्वास्थ्य और रोग सम्बन्धी सभी समस्याओं का समाधान खोजने में सफल रही है।

२. यह चिकित्सा पद्धति अपने ढङ्ग की रही है जिसमें रोगोत्पत्ति के कारणों की बड़ी तत्परता से खोज की गई थी। शरीर और मन दोनों को प्रभावित करने वाले कारणों को खोज निकाला गया था। इन कारणों से सम्पूर्ण शरीर में या उसके किसी कोष्ठाङ्गों, अङ्ग या अवयव में रोगोत्पत्ति किस प्रकार होती है उसके पूर्वरूप क्या बनते हैं तथा कौन-कौन लक्षण रोगी के द्वारा पूछने पर ज्ञात होते हैं तथा कौन कौन लक्षण चिकित्सक को स्वयं खोज निकालने पड़ते हैं। इन लक्षणों के सामूहिकज्ञान से रोग का क्या रूप बनता है। वह रूप जीवन के लिए कितना नुकसान पहुँचा सकता है तथा रोग की साध्यासाध्यता क्या है। रोगी बचेगा भी या नहीं। उस रोग का अन्य किन रोगों से सादृश्य बैठता है तथा क्या-क्या अन्य परीक्षाएं की जानी चाहिए जिससे रोग का निदान सौकर्य से किया जा सके। इन सब बिन्दुओं पर विपुल सामग्री आयुर्वेदीय ग्रन्थों में सर्वत्र भरी पड़ी है। इसकी थोड़ी सी झलक ऊपर कुछ शब्दों में दिखलाई भी गई है।

३. आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति में रोगी परिचारक औषधि और वैद्य चारों का अपना अपना दायित्व और क्षेत्र है। चारों की अपनी-अपनी मर्यादाएं तथा विशेषताएं बतलाई जाती हैं तथा चारों को चिकित्सा के चार पाद माना गया है। आज भी इन चारों पर ही बहुत जोर दिया जाता है। रोगी की मानसिक स्थिति को ठीक रखने के उपाय किए जाते हैं। परिचारकों या नर्सों की ट्रेनिंग की विशेष योजना चलाई जा रही है। औषधि निर्माण के लिए निगम स्थापित किये जा रहे हैं तथा औषधि निर्माण को एक बड़े व्यवसाय का रूप दिया जा रहा है। वैद्य या चिकित्सक की शिक्षा हेतु मेडिकल या इण्डियन मेडिकल काउन्सिलों की स्थापना की गई है। विश्वविद्यालयों, विद्यापीठों में इसकी शिक्षा के स्तर की उन्नति के लिए सतत यत्न किए जा रहे हैं। आयुर्वेद में इन चारों की स्पष्ट कल्पना उनकी उपयोगिता और निर्माण पर बहुत अधिक जोर दिया गया है।

४. आयुर्वेद रोगी में दोषों की स्थिति का अवलोकन करता है फिर उस स्थिति को साम्यावस्था में लाने हेतु क्या औषधान्न विहार सम्बन्धी परिवर्तन करना अपेक्षित है उस पर उसने विपुल सामग्री प्रस्तुत कर दी है। एक ओर निदान सम्बन्धी ग्रन्थों में वे सभी उपाय सुझाये गये हैं जिनके द्वारा रोग को निर्मूल किया जा सकता है।

आगे की पंक्तियों में चिकित्सक तथा रोग की विभिन्न स्थितियों पर प्रकाश डाला जा रहा है तथा कौन-कौन चिकित्सा के शास्त्र सम्मत काल हैं जब वैद्य को चिकित्सा आरम्भ कर देनी चाहिए इस पर भी चर्चा की जा रही है।

चिकित्सक २ प्रकार के होते हैं—"एक केवल स्वास्थ्य रक्षक चिकित्सक या हैल्थ आफिसर कहलाता है" जो दोष प्रकोपक कारणों को दूर करने और रोग के प्रतिषेधात्मक (Preventive) उपायों के करने में दत्तचित्त रहता है। सारा स्वास्थ्य विभाग उसी के इशारे पर काम करता है। आयुर्वेद का समस्त स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त का उपदेश "स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्" के प्रथम प्रयोजन की सिद्धि हेतु ही वर्णित है। इसका काम मनुष्यों, पशु-पक्षियों, जीवजन्तुओं ही नहीं पेड़ पौधों में भी दोष प्रकोप को रोकना होता है। प्रसंगवश यहां यह बतलाना निरुद्देश्य नहीं है कि आज जो हैल्थ आफिसर क्षेत्र-क्षेत्र में फैले हुए हैं इनका अधिकतर काम स्वच्छकों की जमादारी करना और मिलावट का भय दिखाकर प्रायः रुपये ऐंठना रह गया है। यदि ये दोष प्रकोपक कारणों

के बारे में जनता को आगाह करने के लिए भाषणमाला का आवाहन करें। पोस्टर लगावें, दीवालों पर लिखवावें विद्यालयों में उपदेश दें श्रमिकों को सुझाव दें तो वे निज रोगों से व्यक्ति की रक्षा कर समाज को उनके चंगुल से बचा सकते हैं। निजरोग समस्त रोगों के तीन चौथाई से अधिक होते हैं। उनका सारा ध्यान औपसर्गिक रोगों की रोकथाम तक ही सीमित होता है जिससे वे समाज को स्वस्थ रखने में समर्थ नहीं होते। वे कुछ सामान्य औपसर्गिक रोगों की विभीषिका से अंशतः त्राण दिलाने में ही समर्थ होते हैं। आयुर्वेद के रोगकारक कारणों का सम्यक् अध्ययन कराने के बाद ही इस पद पर किसी भी अधिकारी की नियुक्ति सरकार को करना चाहिए। यह बात भारत के लिए ही नहीं अपि तु विश्व के सभी देशों के स्वास्थ्य अधिकारियों के लिए भी लागू होती है। किसी भी देश को रोगकारक कारणों का अपना ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता। दूसरे देशों में आधुनिक युग में या प्राचीन युग में जो ज्ञान अर्जित किया जा चुका है उस सबका अध्ययन और उपयोग करना भी आवश्यक होता है।

"दूसरा रोगनाशक चिकित्सक या मेडिकल आफिसर या चिकित्साधिकारी कहलाता है" जो दोषप्रकोप या उपसर्ग के फलस्वरूप उत्पन्न हुए रोगों से चिकित्सा द्वारा औषधादि देने के रोगनाशक (Curative) उपायों से काम लेकर समाज को पुनः स्वस्थ करने का सफल या असफल यत्न करता है। समस्त चिकित्सा विभाग उसी की आवश्यकता पूर्ति में जुटा रहता है। आयुर्वेद के अधिकांश अध्याय इसी हेतु लिखे गये हैं और आतुरस्य "विकारप्रशमनम्" नामक द्वितीय प्रयोजन की सिद्धि हेतु ही वर्णित हैं। यह मनुष्यों, पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं और पेड़ पौधों के रोगों को समूल नष्ट करने के उपाय सोचने में लगा रहता है।

हम आज इसी द्वितीय वर्ग के चिकित्सक नामधारी कलाकार के लिए ये पंक्तियां लिख रहे हैं ताकि वह उत्पन्न हुए रोगों को जटिल होने से पूर्व दूर कर सके अथवा जटिलता उत्पन्न होनें पर भी उसका सुधार कर मानव जीवन की रक्षा कर सके।

निज ज्वरोत्पत्ति की घटनाएं

ज्वर के उत्पादन में चिकित्सक उन सभी महत्वपूर्ण घटनाओं को पहले से जान ले जो इस रोग को पैदा करती हैं। वे घटनाएँ हैं—

१. दोषों का प्रकोप।

२. दोषों का आमाशय में प्रवेश रसधातु के साथ मिश्रण और स्रोतों का अवरोध।

३. पाचकाग्नि को मन्द करना और उसे महास्रोत से हटाकर सर्व शरीर व्यापी बनाना जो शरीर को सन्तप्त कर सके चिकित्सको का कर्त्तव्य है कि वह—

i. आगे दोष प्रकोप न होने दें और ठीक-ठीक आहार-विहार की व्यवस्था करें।

ii. प्रकुपित दोष की प्रकोपावस्था की शान्ति करना आमाशय में प्रकुपित दोषों को न प्रविष्ट होने देना, स्रोतों का उनके द्वारा जो अवरोध होना चाहता है उसे रोकना, पाचक अग्नि को मन्द न होने देना तथा प्रकुपित दोषों द्वारा पाचकाग्नि को अपने स्थान से भ्रष्ट न होने देना और शरीर को गरम होने से रोकना इन सबके लिए सक्रिय रूप से निदेशित करें।

ये दोनों कार्य स्वास्थ्य अधिकारी तक जा सकते हैं।

iii. यदि ज्वर उत्पन्न हो ही जाय तो उसे विविध चिकित्सात्मक उपायों से दूर करना।

चिकित्सा के काल

सुश्रुत संहिता में चिकित्सा के कालों का वर्णन किया हुआ है—

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक्॥

—सु. सं. सू. स्था. अ. २१ श्लो. ३५

१. पहला दोषों का 'संचय काल' होता है एवं संचीयन्ते दोषाः। तत्र संचितानां दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवं आलस्यं चयकारणविद्वेषश्च इति लिङ्गानि भवन्ति, तत्र प्रथमः क्रियाकालः। इस संचयकाल में दोष संचित होते हैं जैसे—

ग्रीष्मऋतु—वात का संचय।

वर्षाऋतु—पित्त का संचय।

हेमन्तऋतु—कफ का संचय।

दोषों के संचित होने के कारण रोगी के शरीर में कोष्ठ का भरा हुआ सा अनुभव होना, वर्ण का विवर्ण होते जाना। अग्निमान्द्य, शरीर का भारी होना तथा आलस्य संचयकारक पदार्थों या भावों के प्रति द्वेष ये लक्षण सबके सब या कुछ मिल सकते हैं। यह चिकित्सा का प्रथम काल कहलाता है।

यह प्रथमकाल चिकित्सक को समस्त ऋतुचर्या के यथार्थ ज्ञान को सदा स्मरण रखने के लिए तो प्रेरित करता ही है वह यह भी इङ्गित करता है कि हर परिवार को अपना एक फैमिली डाक्टर या पारिवारिक चिकित्सक भी नियुक्त करके रखना चाहिए जिसे यह ज्ञान हो कि ऋतु विशेष में परिवारीजनों ने क्या कुपथ्य किया है और आहार-विहार में ऐसी कौन सी त्रुटि हुई है जो दोषों का संचय कर सके। यह परिवारी चिकित्सक एक आयुर्वेदज्ञ ही संभव है क्योंकि उसी को ऋतुओं, ऋतुचर्या, आहार-विहार का सम्यक् ज्ञान हो सकता है। और वही त्रिविध निदान—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम का ज्ञाता भी होता है।

एक परिवारी चिकित्सक ही संचयकाल में रोग का दमन कर सकता है। इस काल में साधारण सा उपाय ही उसको आगे के भीषण रोग से बचा सकता है—

संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥

संचयकाल में निकाल दिये गये दोषों की आगे रोगकारक गति नष्ट हो जाती है अन्यथा तो आगे चलकर वे बलवत्तर होकर प्रकोप को प्राप्त होते हैं।

२. दूसरा दोषों का प्रकोपकाल कहलाता है।

(क) तत्र बलवद् विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनभिघातलंघनविषमाशनाध्यशन वातमूत्रादि वेगविघातादिभिर्विशेषैर्वायुः प्रकोपमापद्यते॥

(ख) क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिलतैल मत्स्याजाविकमांसदधितक्रसुरा विकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते॥

(ग) दिवास्वप्नाव्यायामालस्यमधुराम्ललवणपिच्छिलाभिष्यन्दिमाषगोधूमदधिदुग्धकृशरापायसेक्षुविकारानूपौदकमांसवसासमशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते।

इन दोषों के प्रकोपक कालों के बारे में आयुर्वेदीय ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन किया गया है। सारांश इस प्रकार है—

दोष प्रकोपक काल चार्ट

	वात	पित्त	कफ
काल	शीतकाल	उष्णकाल	शीतकाल
ऋतु	वर्षा	शरद	वसन्त
दिन	अपराह्न	मध्याह्न	पूर्वाह्न
		अर्द्ध रात्रि	

सुश्रुत ने लिखा है—तत्र वर्षा हेमन्त ग्रीष्मर्तुषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्त्तव्यम् । वर्षा में संचित पित्त दोष का प्रकोप शरद् में, हेमन्त में संचित कफ का वसन्त में और ग्रीष्म में संचित वात का प्रकोप प्रावृट् में होता है, इनका निर्हरण संचयावस्था पूर्ण होने के बाद प्रकोप पूरा हो जाने पर करना चाहिए ।

प्रथम काल में तो आहार विहार की उचित व्यवस्था करके दोषों के संचयकाल को रोकने तक ही चिकित्सक की गति सीमित रहनी चाहिए । पर यदि दोष संचय होने लगे तो उसका निर्हरण प्रकोपावस्था में ही निःशेषतया हो पाता है । संचयकाल में यदि दोषों का चय रोक दिया जायगा तो कालस्वभाव से पुनः भी उनका चय हो सकता है । इस विषय में चिकित्सक को अपनी बुद्धि का उपयोग करना ही परमावश्यक होता है ।

(घ) पित्त के समान ही रक्त के प्रकोप का विचार किया गया है—द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्न-क्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैः असृक् प्रकोपमापद्यते ।

रक्त के प्रकोप का काल दोषों के अनुसार ही समझना चाहिए क्योंकि रक्त का प्रकोप दोषों के बिना नहीं होता—

यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति । यस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यात्प्रकोपणे ।।

इन वात, पित्त, कफ, रक्त के प्रकोप से कोष्ठ में तोद और वायु का संचार होता है, खट्टी डकारें आती हैं, प्यास बहुत लगती है, पेट में जलन होती है, अन्नद्वेष उत्पन्न हो जाता है तथा जी मिचलाने लगता है। इसे चिकित्सा का 'द्वितीयकाल' निर्धारित किया गया है । इस काल के दोषप्रकोप के जो सामान्य लक्षण सुश्रुतसंहिता से दिये गये हैं उनमें आजकल जिसे गैस का रोग बोलते हैं उसका चित्रण आ जाता है । जब कोई सेठ या अफसर या मजदूर इस गैस की बात करे तो चिकित्सक को समझ लेना चाहिए कि उसके शरीर में दोष या दोषों का प्रकोप उत्पन्न हो गया है । उस दोष प्रकोप को अच्छी तरह समझकर ही यथादोष उसके निर्हरण और शमन की व्यवस्था की जानी चाहिए । क्योंकि—

तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणादम्लिकापिपासापरिदाहान्नद्वेष हृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते । तत्र द्वितीयः क्रियाकालः । स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है ।

इस काल में दोष अपने अपने स्थानों पर प्रकुपित हो चुके हैं और व्यक्ति के स्वास्थ्यनाशोन्मुखता की दूसरी घंटी बज चुकी है इसे वैद्य को भली प्रकार समझ लेना चाहिए ।

३. तीसरा दोषों का 'प्रसरकाल' कहलाता है, इस काल में संचय को प्राप्त हुए दोष काल पाकर प्रकोपावस्था को पहुंचने के पश्चात् शरीर में प्रसर्पण करते या फैलने लगते हैं । शास्त्र कहता है कि किण्व, जल और पीठी को मिलाकर रात भर रखा जावे तो जैसे उनमें उफान आता है वैसे ही प्रकुपित दोष शरीर में फैलते हैं । इस प्रसार में रजोगुणभूयिष्ठ गतिमान् वायु विशेष भाग लेता है। सुश्रुत ने एक और उदाहरण दिया है—

यथा—महानुदकसंचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्य अपरेणोदकेन सह व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति, एवं दोषाः कदाचिद् एकशो, द्विशः समस्ताः शोणितसहिताः वा अनेकधा प्रसरन्ति । अर्थात् जैसे बाढ़ की विपुल जलराशि सेतु या बन्ध को तोड़ दूसरे जल से मिलकर सब ओर फैलता चला जाता है वैसे ही अकेले अकेले या दो-दो मिल-कर स्वयं या रक्त को साथ लेकर दोष शरीर में अनेक प्रकार से फैलते हैं ।

इनका प्रसरण सुश्रुत संहिता में १५ प्रकार का इस प्रकार बतलाया है—

१. वातज	५. वातपित्तज	९. पित्तशोणितज	१३. पित्तश्लेष्मशोणितज
२. पित्तज	६. वातश्लेष्मज	१०. श्लेष्मशोणितज	१४. वातपित्तकफज
३. कफज	७. पित्तश्लेष्मज	११. वातपित्तशोणितज	१५. वातपित्तकफशोणितज
४. रक्तज	८. वातशोणितज	१२. वातश्लेष्मशोणितज	

प्रत्येक आयुर्वेदीय चिकित्सक को ज्वर या अन्य रोगों के उपचार के पूर्व यह मालूम कर लेना होगा कि जिस रोगी का वह उपचार कर रहा है उसमें दोषों की क्या स्थिति है ? संचय अवस्था में चल रही है या प्रकोपावस्था या दोष प्रकुपित होकर प्रसरण कर रहे हैं। यह प्रसार अकेले-अकेले वात, पित्त, कफ रक्त का हो रहा है या दोष दो-दो, तीन-तीन या चारों मिलकर शरीर के विभिन्न अङ्ग, अवयव या संस्थान, स्थान में फैल रहे हैं।

प्रकुपित दोषों के प्रसरण के विषय में कुछ और ज्ञातव्य भी है—

१. जिस अंग, अवयव, आधे भाग या पूरे भाग में दोष का प्रकोप होता है वहां ही दोष उसी प्रकार फैलते हैं जैसे जहां बादलों का जमाव होता है वहां ही वर्षा होती है।

२. यदि दोष अत्यधिक प्रकोप को नहीं प्राप्त होते तो लीन होकर मार्गों में बैठ जाते हैं वे रोगोत्पादन में समर्थ नहीं होते किन्तु अवसर की ताक में रहते हैं। फिर जब और अधिक प्रकोपक कारण मिलकर उन्हें पूर्ण प्रकुपित कर देते हैं तो फिर उनका भी प्रसार होता और रोगोत्पत्ति हो जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक भी इस तथ्य को स्वीकार करते है। इसका उदाहरण सैप्सिस का है। किसी एक दांत की जड़ या मसूड़े जैसी नाचीज में थोड़ी सैप्सिस हो गई तो वह वहां स्थित होकर धीरे-धीरे बढ़ने लगती है। उसके लिए भी पूरे उपचार की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार बाल्यकाल में ही राजयक्ष्मा का जीवाणु फुफ्फुस के एक कोने में घोण विक्षत बनाकर बैठ जाता है और कालान्तर में राजयक्ष्मा का कारण बनता है। जैसे रोगकारक जीवाणुओं के लिए यह नियम सटीक उतरता है वैसे ही वात, पित्त, कफ, के लिए भी ठीक बैठता है—

नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गेषु तिष्ठति ।
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति ॥

३. जब प्रकुपित दोष शरीर या शरीरांग में फैलने लगता है तो वह अपना स्थान छोड़ देता है वह दूसरे या तीसरे दोष के स्थान पर भी पहुंच जाता है। वात के स्थान पर कफ का पहुंचना, कफ के स्थान पर पित्त का पहुंचना और पित्त के स्थान पर वात का पहुंचना तथा अन्य का अन्य स्थान पर पहुंचना भी देखा जाता है।

इस विषय पर मधुकोश टीकाकार विजयरक्षित ने भी बहुत उपयोगी वक्तव्य माधवनिदान के पञ्चलक्षणाध्याय के निदान नामक प्रकरण में दिया है। व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम् की व्याख्या में व्याधि उत्पन्न करने वाले कारणों की व्यापक मीमांसा की गई है। इनमें एक 'आशयापकर्ष' भी है। वह लिखता है—स्वमानस्थोऽपि दोषं स्वाशयाद् आकृष्य वायुः स्थानान्तरं गमयति तदा स्वमानस्थोऽपि स विकारं जनयति। अर्थात् दोष अपने ही मान में स्थित अर्थात् अकुपित है यदि वह अपने स्थान से हटकर वायु द्वारा अन्य स्थान को ले जाया जाता है तब भी वह रोग की उत्पत्ति कर सकता है। इसके लिए चरकसंहिता सूत्रस्थान अ. १७ का उदाहरण यह दिया है कि यदि प्रकृतिस्थ पित्त को वायु कफ के क्षय हो जाने पर अपने स्थान से निकाल कर शरीर में जहां-जहां ले जाता है वहीं-वहीं तब-तब भेद और दाह पैदा हो जाता है और उस गात्र या अवयव में श्रम तथा दौर्बल्य देखा जाता है। यदि चिकित्सक पित्त के स्थानापकर्षण से अनभिज्ञ है तो वह दाह को पित्त का प्रकोप मानकर पित्तनाशक उपचार करके प्रकृतिस्थ पित्त को क्षीण कर बैठता है जिससे पित्तक्षय के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इससे रोगान्तर होकर रोगी की जान जोखिम में पड़ सकती है अर्थात् रोग जटिलता को प्राप्त हो सकता है—

ये त्वेनां पित्तस्य स्थानाकृष्टिं न विन्दन्ति, ते दाहोपलम्भेन पित्तवृद्धिं मन्यमानाः, पित्तं ह्रासयन्तः पित्तक्षयलक्षणं रोगान्तरमेवोत्पादयन्तः आतुरं अतिपातयन्ति इति भट्टारहरिचन्द्रः।

इस पर अन्य विद्वानों की भी स्वीकृति है कि भ्राजकादि भेदों से यद्यपि पित्त सारे शरीर में स्थित रहता है किन्तु यदि एक प्रकार के पित्त को वायु शरीर के अन्य अङ्ग में पहुँचा देता है तो वहां पित्त का मान बढ़

आता है जिससे उस स्थान पर दाह उत्पन्न हो जाता है। यदि यहां बाह्य या आगन्तुरूप पित्त न आता तो दाहरूप विकार वहां पैदा ही न होता क्योंकि स्वमान में स्थित कोई भी दोष विकार कारक नहीं हुआ करता ।

भट्टारहरिचन्द्र के कथन को स्पष्ट करते हुए विजयरक्षित लिखते हैं—

भट्टारहरिचन्द्रस्य तु अयं अभिप्रायः यद्यपि एवं तथाऽपि चिकित्साभेदार्थं वृद्धिक्षयव्यतिरिक्तस्थानान्तर-गतिरूपो दुष्टिविशेषो अवश्यमेव इष्टव्यः अन्यथा वृद्धं पित्तमिति मत्वा विरेचनं पित्तह्रासनं वा कार्यं, न च तत् तत्र योग्यं, किं तु स्वस्थानानयनम् ।

अर्थात् भट्टारहरिश्चन्द्र का तो यही अभिप्राय है—यद्यपि सामान्यतया एक दोष दूसरे दोष के स्थान को प्राप्त कर लेता है तथापि दोषों की वृद्धि और क्षय के अतिरिक्त दोषों की स्थानान्तर की गति का भी चिकित्साभेद की दृष्टि से ज्ञान कर लेना आवश्यक होता हैं अन्यथा पित्त के एक स्थान से अपनी प्रकृतावस्था में ही दूसरे स्थान पर चले जाने पर वहां दाह आदि लक्षणों को जो पित्तवृद्धि में मिलते हैं, जानकर पित्तनाशक कर्म विरेचन करा देने से पित्तह्रास हो जावेगा, किन्तु इस परिस्थिति में पित्त का ह्रास करना कदापि योग्य नहीं होगा। इस स्थिति में तो अपना स्थान छोड़े हुए पित्त को पुनः अपने स्थान पर लौटा लेना ही चिकित्सक के लिए करणीय कार्य होगा ।

इस स्थिति से रक्षा करने से लिए चिकित्सक को सुश्रुत संहिता के निम्नांकित मूलमन्त्र को हृदयंगम कर लेना चाहिए—

तत्र वायोः पित्तस्थानगतस्य पित्तवत् प्रतीकारः । पित्तस्य च कफस्थानगतस्य कफवत्, कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत्; एष क्रियाविभागः ॥ —सु० सू० स्था० अ० २१-३०

अर्थात् यदि वायु पित्तस्थान में स्थानान्तरित हो जाय तो वातनाशक उपचार न करके पित्तनाशक चिकित्सा की जानी चाहिए, पित्त के कफ स्थान में चले जाने पर कफ की चिकित्सा करनी चाहिए तथा कफ के वातस्थान में जाने पर वातवत् चिकित्सा की जानी योग्य है।

आयुर्वेद के अपर कालीन दिग्गज विद्वान् वाग्भट ने इस विषय पर बहुत शोध कार्य करके उपर्युक्त सुश्रुतीय चिकित्सा सूत्र में थोड़ा परिवर्तन कर दिया है—

उसने दोषोपक्रमणीय नामक अष्टांग हृदय के तेरहवें अध्याय में यह बतलाया है कि विविध कारणों से दोष वायु की द्रुतगति के कारण कोष्ठ से शाखा मर्मास्थिसन्धियों में चले जाते हैं। इन शाखादिकों से दोषों को पुनः कोष्ठ में लाने के लिए उसने उपाय बतलाये हैं।

तथा तेभ्यः स्रोतोमुखविशोधनात् । वृद्धयाऽभिष्यन्दनात्पाकात् कोष्ठं वायोश्च निग्रहात् ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतु प्रतीक्षिणः । ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि ॥
तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु तु । कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु ॥
आगन्तुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा । प्रायस्तिर्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम् ॥
कुर्यान्न तेषु त्वरया देहाग्निबलवित् क्रियाम् ॥
शमयेत्तान् प्रयोगेण सुखं वा कोष्ठमानयेत् । ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांश्च यथासन्नं विनिर्हरेत् ॥

वह बतलाता है कि दूसरे स्थान पर आये हुए दोष के कारण की प्रतीक्षा करते हुए स्रोतोमुखशोधन दोष वृद्धि, अभिष्यंदन, पाक तथा कोष्ठ में वायु के निग्रह से चिकित्साकार्य में विलम्ब पैदा करे। ऐसा करने से वे दोष अन्यस्थानों पर पहुँचने पर भी स्वमान में स्थित होने पर भी कालपाकर प्रकोप करते हैं। उनके प्रकोप करने पर प्रकुपित दोष के उपचार की तरह चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार उनकी चिकित्सा करे।

पर यदि दूसरे स्थान पर गये हुए स्वमानस्थित दोषके आमबल या दुर्बल होने पर स्थानीदोष (जहाँ वह पहुंच गया है) की चिकित्सा की जानी चाहिए।

किन्तु यदि स्थानान्तरकारी दोष अधिक बलवान् हो और उसने स्थानीय दोष को पराभूत कर रक्खा हो तो स्थानी दोष का प्रतीकार करते हुए आगन्तु दोष का शमन करना ही चाहिए। इसी प्रकरण को और स्पष्ट करते हुए एक पुस्तक में इतना और जुड़ा हुआ है—साधारणं वा कुर्वीत क्रियामुभययोगिनीम्। अर्थात् अथवा आगन्तु और स्थानी दोनों दोषों के लिए साधारणोपचार करना चाहिए।

यदि दोषों का स्थानान्तरगमन तिर्यक् गति से (ऊपर या नीचे न होकर) हुआ है तो चिकित्सक को जो रोगी के देहबल और अग्निबल को अच्छी तरह जानता है उसकी चिकित्सा तत्काल ही न शुरू कर देनी चाहिए। देहमग्निं बलं च विचार्य शनैः शनैः कुर्याद् इत्यर्थः (हेमाद्रिः)

इन तिर्यग्गत दोषों को शास्त्र विहित विधि से शमन करे अथवा स्नेह स्वेदादि कर्मों से इनको कोष्ठ में ले आवे जब वे कोष्ठ में आजायें तो जो मार्ग उनके पास का हो जैसे गुद, मुख या घ्राण उसी के अनुसार विरेचन या वमन या शिरोविरेचन द्वारा उनको निकाल दें।

इन सभी वाक्यों में कितनी विद्या और अनुभव भरे हुए हैं जो आयुर्वेद को पूर्ण वैज्ञानिक सिद्ध करने में समर्थ हैं।

जटिल रोगों की चिकित्सा करने वाले चिकित्सक को आशयापकर्ष रूप दोषों की गतिविधियों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। अपने स्थान से च्युत हुए दोषों के द्वारा उत्पन्न रोगों की चिकित्सा साधारण वैद्य या डाक्टर से जब संभव नहीं होती तभी वह अन्य योग्य चिकित्सक पर पहुँचता है। यदि वह इन सबका बिना विचार किए चिकित्सा करने लगता है तो वह भी रोगी द्वारा परित्यक्त कर दिया जा सकता है।

एक कायचिकित्सक के लिए दोषों की संचयावस्था, प्रकोपावस्था और प्रसरावस्था का सम्यक् ज्ञान होना परमावश्यक है।

इस प्रकार प्रकुपित और प्रसरता को प्राप्त वायु विमार्गगमन तथा आटोप को उत्पन्न करता है, पित्त ओष, चोष, परिदाह, धूमायन के लक्षण पैदा करता है तथा कफ अरोचक, अविपाक, अंगसाद और वमनकारक होता है जब इनमें से कोई भी लक्षण प्रगट होने लगे तो उसे चिकित्सा का तृतीयकाल मानना चाहिए।

डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर ने अपनी आयुर्वेद रहस्यदीपिका नाम्नी सुश्रुतसंहिता की टीका में लिखा है कि संचय की अवस्था में दोष ठोस घृत के समान होते हैं, प्रकोपावस्था में वे उष्णता से उत्क्वन बिन्दु तक पहुंचे हुए पतले घृत के समान होते हैं। प्रसर की अवस्था में उबलते हुए घृत (जिसमें से फेन बुद्बुद और छींटे इधर उधर उड़ रही हैं) के समान होते हैं। उनका यह भी कथन है कि इन तीनों अवस्थाओं में चिकित्सा हेतु-विपरीत की जानी चाहिए।

४. चौथी स्थान संश्रय की अवस्था होती है। इस अवस्था में प्रकुपित हुए दोष शरीर के विविध क्षेत्रों में पहुंच कर उस व्याधि को उत्पन्न करते हैं। कहां कौन व्याधि उत्पन्न होती है उसकी तालिका नीचे दी जा रही है—

अंग या स्थान	उत्पन्न रोग
उदर—	गुल्म, विद्रधि, उदररोग, अग्निसङ्ग, आनाह, विसूचिका, अतीसार इत्यादि
बस्ति—	प्रमेह, अश्मरी, मूत्राघात, मूत्रदोष आदि
वृषण—	वृद्धिरोग
मेढ्र—	निरुद्धप्रकश, उपदंश, शूकदोष आदि
गुद—	भगन्दर, अर्श इत्यादि
ऊर्ध्वजत्रुगत—	ऊर्ध्वंग रोग
त्वङ्मांसरक्त—	क्षुद्ररोग, कुष्ठ रोग वीसर्प
मेदोगत—	ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड, अलजी आदि

अस्थिगत—	विद्रधि, अनुशयी
पादगत —	श्लीपद, वातरक्त, वातकण्टक इत्यादि
सर्वांगगत—	ज्वर, सर्वांग रोग इत्यादि

इन प्रसरित दोषों के निवेश से रोगों के पूर्वरूपों का प्रादुर्भाव होता है। यह पूर्वरूप का समय रोग का चौथा क्रियाकाल माना जाता है।

स्थानसंश्रय के बाद व्याधिदर्शन की अवस्था आती है। इसमें रोग अपने वास्तविक रूप में आजाता है उसके सभी लक्षण प्रकट हो जाते हैं जैसे अतीसार में मल का अतिसरण, कामला में त्वङ् नेत्रमुखादि का पीला होना, ज्वर में सन्ताप आदि होना। रूप या लक्षणाम्तर्गत जो कुछ निदानग्रन्थों में आता है उसे व्याधिदर्शन या व्यक्तावस्था कहा जा सकता है। यह पञ्चमक्रियाकाल है।

रोग को दूर करने के जब चार अवसर रोगी खो चुकता है तब यह पाँचवाँ अवसर आकर उपस्थित होता है। यदि रोगी के इस काल के प्रगट होने के पूर्व ठीक से चिकित्सक द्वारा या रोगी द्वारा ध्यान दे लिया जावे तो न तो रोग जटिल होगा और न उसे रोग से पीड़ित होने की आवश्यकता ही पड़ेगी। शल्यतन्त्र के शोफ अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि, विसर्प आदि कष्टकर रोग की प्रव्यक्तावस्था उत्पन्न ही न होगी।

६. षष्ठ क्रियाकाल—शल्य शास्त्र का विषय है-अत ऊर्ध्वं एतेषां (रोगाणां) अवदीर्णानां व्रणमावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः। कायचिकित्सा की दृष्टि से छठा काल रोग के दीर्घकालानुबन्धी होने से उत्पन्न होता है। —ज्वर प्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः। इस छठे क्रियाकाल में चिकित्सा न करने से रोग असाध्यता को प्राप्त हो जाता है —तत्राप्रतिक्रियमाणे ऽसाध्यतामुपयान्ति (रोगाः) यह भेदावस्था भी कहलाती है।

दोषों के इन छहों चिकित्साकालों या क्रियाकालों (सुश्रुत की भाषा में) को जो व्यक्ति ठीक ठीक जान लेता है वही भिषक् है—

> संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
> व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्॥

एक रोग के जटिल होने के पूर्व अन्यान्य रोगों की भाँति ये क्रियाकाल आ उपस्थित होते हैं। दोषों की संचयावस्था जो ज्वरोत्पादकता का आरम्भिक या बीजवपन काल है इसके जानने के लिए और प्रतिषेध की दृष्टि से दिनचर्या, ऋतुचर्या और भोजन सम्बन्धी नियम बनाये गये हैं। दोषों के प्रकोपक कारण सभी निदान ग्रन्थों में रोग के पूर्व ही गिना दिये जाते हैं। उन रोगकारक कारणों से बचा जाने पर रोग उत्पादक दोषों का प्रकोप ही नहीं हो सकता। प्रसर काल में दोष स्वाशय से अपकृष्ट होते हैं वे ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्गति करते हैं। फिर उनका स्थानसंश्रय हो जाता है तब रोग के पूर्वरूप प्रकट होते हैं। उसके बाद रोग की व्यक्तावस्था आती है। इसमें रोग अपना स्वरूप प्रकट करता है। इन पाँच कालों में जब वैद्य सन्तोषजनक उपचार करने में असमर्थ हो जाता है तब रोग की दीर्घकालानुबन्धिता या असाध्यता आरम्भ होती है। पंचमक्रियाकाल का उत्तर काल और षष्ठक्रियाकाल का पूर्वकाल उस समय तक जब तक कि रोग असाध्यता को न प्राप्त हो जाय रोग की जटिलता का काल माना जाता है। इस स्थिति को उत्पन्न हो जाने पर साधारण तो क्या बड़े बड़े चिकित्सक भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं, रोगी घबड़ा जाता है और परिवारीजन व्याकुल हो जाते हैं। और वे घर फूंक तमाशा देखने के लिए भी तैयार हो जाते हैं। इस विशेषांक की सृष्टि इसी हेतु की गई है।

आयुर्वेद चिकित्सा का सर्वाङ्गीण स्वरूप

सुदम या दुर्दम, साध्य या याप्य, सरल या जटिल किसी भी प्रकार का रोग क्यों न हो चाहे वह वैद्य के लिए एकदम नया रोग हो जिसका नाम तक उसे न मालूम हो तो भी वह यदि उसकी ट्रेनिंग ठीक-ठीक हुई है तो बड़े विश्वास के साथ वह रोगी का निदान करके रोग की स्थिति शरीर के किस भाग या अंग में है उसका क्या

स्वरूप है तथा उसमें वात, पित्त, कफ, की क्या स्थिति है इसका वह आकलन अपने ही उन उपायों से जिन्हें उसने किसी अन्य चिकित्सा पद्धति से उधार नहीं लिया है करने में तत्पर हो जाता है। वह रोगी का इतिहास लेता है और अब तक कहां क्या इलाज कराया गया है तथा उस इलाज का आधार क्या है कौन-कौन पैथालोजीकल परीक्षण हो चुके हैं विविध परीक्षाएं, ऐक्सरेज चित्रण, इलैक्ट्रोकार्डियोग्राफी, पायलोग्राफी, ब्रॉकोस्कोपी, ऐंकैफैलोग्राफी की गई हैं इनका भी वह जायजा लेकर दोषों की संचय प्रकोप प्रसरावस्थादि का ज्ञान कर लेता है तब फिर वह किस दिशा से कितनी शक्ति से औषधाक्रमण रोग पर किया जा सके इसका निर्णय अपने प्रशिक्षण और अनुभव के आधार पर करता है।

संसार भर में भारतीय वैद्य ही एक ऐसा चिकित्सक है जिसका दिमाग संसार भर को अपना आचार्य मानने के लिए खुला हुआ है। वह ऐलोपैथी, होम्योपैथी, बायोकैमिस्ट्री, क्रोमोपैथी, मन्त्र विद्या, तन्त्र विद्या, ज्योतिष, योगशास्त्र, वृद्धानुभव, संहिताज्ञान, आयुर्वेदीय चिकित्सा, पथ्यापथ्य विज्ञान सभी में अपनी गति रखने वाला दैवव्यपाश्रय एवं युक्तिव्यपाश्रय और सत्वावजय चिकित्सा का सहारा लेने में हिचकिचाता नहीं। यही कारण है कि देश के ८५ प्रतिशत निविड अन्धकार में इस बीसवीं शताब्दी के दो तृतीयांश के व्यतीत होने पर भी पड़े हुए भूखे नंगे प्रताडित भारतीयों की स्वास्थ्य रक्षा को उस हालत में सम्हालता चला आ रहा है जब कि उसे कुछ लोग क्वैक कहते हैं कुछ छद्मचर बतलाते हैं और कुछ उसे उसके सेवा स्थल से उखाड़ने में सतत संलग्न रहते आ रहे हैं। उसने मुगलकालीन जर्राही संगीनों से लोहा लिया है वृटिशकालीन कूटनीतिक आक्रमणों को विफल किया है तथा जिसे स्वतन्त्र भारत में विशेष अधिकार पाकर बौराये हुए डाक्टरों से तथा अपने ही कुछ अर्द्ध-विक्षिप्त भाइयों के द्वारा अपमान सहन करना पड़ रहा है। पर वह भारत का जीवट वाला वैद्य है जिसकी कुटिया में सुदर्शनचूर्ण, मकरध्वज, होम्योपैथिक एकोनाइट और बैप्टिसिया, बायोकैमिक नेट्रमम्यूर और फेरमफास, यूनानी याकूती और नौशदारू, मकरध्वज और मृतसंजीवनी, द्राक्षासव और च्यवनप्राश, योगेन्द्र और वातविध्वंसन, मुलहठी और गावजबां के साथ-साथ, टैरामायसीन और डैकाड्रोन, पिच्युट्रिन और कोरामिन सब साथ-साथ पलती मिलती प्रयुक्त होती और आदर पाती हैं। देश के ऐम॰ बी.बी.एस. और इन्टीग्रेटेड चिकित्सकों (जो अधिकांश में ऐलोपैथ हैं) के ऊपर यदि देश के स्वास्थ्य का भार छोड़ दिया जाय और इस भारतीय ग्राम वैद्य को वहां से हटा दिया जाय तो देश में कुहराम मच जायगा। यही नहीं, जितनी आधुनिक और हिन्दुस्तानी दवाएं यह वैद्य इस्तेमाल करता है उनको बनाने वाली अनेक कम्पनियों का दिवाला ही निकल जायगा जो उसीके बल पर टिकी हुई हैं। इस वर्ग को और अधिक प्रशिक्षण देकर प्रोत्साहित करते रहना इतने बड़े देश का ज्ञान रखने वाले प्रशासकों नेताओं और भद्र पुरुषों के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से एक ग्रामीण योजना का सूत्रपात तत्कालीन केन्द्रिय स्वास्थ्य मन्त्री माननीय श्री उमाशंकर दीक्षित करना चाहते थे पर उसे पूरा न करने देने में कई वर्गों का सम्मिलित प्रयत्न बाधक बन गया और योजना अभी तक खटाई में पड़ी हुई है। हमें यही कहना है कि इस वर्ग की जितनी उपेक्षा की गई है अब बन्द करके इनके प्रति सहानुभूति का भाईचारे का व्यवहार प्रोफैशन और प्रशासन दोनों को ही करना चाहिए। जिस वर्ग पर अधिक आशा की जा रही है वह इस देश की मिट्टी को प्यार नहीं करता वह तो पैसे को प्यार करता है तथा उसे प्राप्त करने के लिए कितने ही अमानुषिक कुकृत्य भी वह नित्यप्रति करता ही रहता है। जो वर्ग इस भूमि की रज को प्रणाम करता और उसमें भक्ति रखता है उसके संरक्षण और विकास की भूमिका कौन निबाहेगा इसकी हमें चिन्ता व्याप रही है।

अपने विषय से अलग थलग जाने की रंचमात्र भी इच्छा न होने के कारण देश के स्वास्थ्य संरक्षण की जटिल समस्या के समाधान की दृष्टि से ही ऊपर की पंक्तियां लिखी गई हैं।

हमारी आयुर्वेदीय चिकित्सा एकांगी नहीं है अपि तु सर्वाङ्गी है। वह एक बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में रोगी को देखती है तथा अनेक कोणों से अनेक विधि उपचार के माध्यम से उसे स्वस्थ करने में जुट जाती है।

चरक संहिता सूत्रस्थान के कल्पना चतुष्क में बड़े काम की बातें बतलाई गई हैं। अन्तिम १६वें अध्याय में स्वभावोपरमवाद का वर्णन मिलता है। हेतुओं के विषम होने से देहधातुओं का वैषम्य हो जाता है हेतु साम्य होने से स्वाभाविकरूप में ही बिना यत्न के वे विषम हुई धातुएं पुनः समावस्था को प्राप्त हो जाती हैं। इसका अर्थ हुआ कि भावों की आवश्यकता प्रवृत्ति में तो है निरोध में नहीं। जिस हेतु से रोग उत्पन्न होते हैं उस हेतु के न रहने से रोग नहीं रहेंगे। इसे सुनकर अग्निवेश ने भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से प्रश्न कर दिया—भिषक् कान् विषयान् धातून् भेषजैः समीकुरुते ? चिकित्सा का ? अथवा किमर्थं चिकित्सा ? जबकि स्वभाव से ही दोष वैषम्य दूर हो सकता है तो फिर दवाएं किन विषम धातुओं को साम्यावस्था में लाती हैं ? फिर चिकित्सा की ही क्या आवश्यकता है तथा उस चिकित्सा का फिर लाभ ही क्या है ? इस पर गुरुजी बोले—हे सौम्य ! श्रूयताम्—हे विनयशील शिष्य सुनो।—न नाशकारणाभावाद् भावानां नाशकारणम्। कि नाशकारक कारणों के अभाव से भावों का नाश नहीं होता। जैसे लाल पक्के रंग से रंगा हुआ कपड़ा रंग के हटा लेने मात्र से अपने आप सफेद नहीं हो सकता उसे छुड़ाने के लिए उपाय करने पड़ते हैं। जिन क्रियाओं द्वारा विषम हुई धातुओं को पुनः समावस्था में लाया जाता है वही रोगों की चिकित्सा है। चिकित्सा का प्रयोजन यह है कि कैसे ही विषम हुई धातुओं को समावस्था में लाया जावे और उन्हें बराबर समावस्था में रखा जावे। विषमहेतुओं के परित्याग से, समानों के सेवन करने से विषम धातुत्व बराबर बना नहीं रहता तथा धातुएं सम हो जाती हैं, स्वभावोपरमवाद का उदाहरण आजकल चिकित्सा में टीका लगाने का चल पड़ा है। कुछ रोगकारक मसाला शरीर में प्रविष्ट कर देने के बाद शरीर में क्षमताशक्ति बढ़ने पर रोग आगे नहीं होता। कुछ रोग भी एक बार उत्पन्न होने के बाद शरीर में प्रतीकारिता या क्षमता बढ़ने पर नहीं ही होते। विषमधातुओं को सम बनाने वाला तथा इस कार्य को सतत करने वाला हमारा वैद्यवर्ग इसीलिए सुख और आयु का दाता माना जाता है—

धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च।
दाता सम्पद्यते वैद्यो दानाद्देहसुखायुषाम्॥

इसी प्रसंग में ऊपर एक संकेत और किया गया है—

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घन पाचनैः।
जिताः संशोधनैर्येतु न तेषां पुनरुद्भवः॥

कि लंघनपाचन रूप शमन चिकित्सा से दोष कभी-कभी कुपित होकर रोग का रिलैप्स हो भी सकता है किन्तु जिन दोषों की प्रकोपावस्था को संशोधन चिकित्सा से जीत लिया जाता है उनकी पुनरुत्पत्ति या रिलैप्स होता ही नहीं है। दोषों का साम्य दिखलाया है वृक्षों से, जैसे वृक्ष का काण्ड काट दिया जाय और जड़ को रहने दिया जाय तो उसमें पुनः काण्ड और पत्ते फूट आते हैं वैसे ही शमन चिकित्सा से दोषों का मूलोच्छेद नहीं हो पाता और वे पुनः प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न कर सकते हैं। जब वृक्ष की जड़ निकाल दी जाती है तो फिर उसकी पुनरुत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता वैसे ही संशोधन द्वारा दोष प्रकोप का मूलच्छेद कर देने से रोग की पुनरुत्पत्ति नहीं होती।

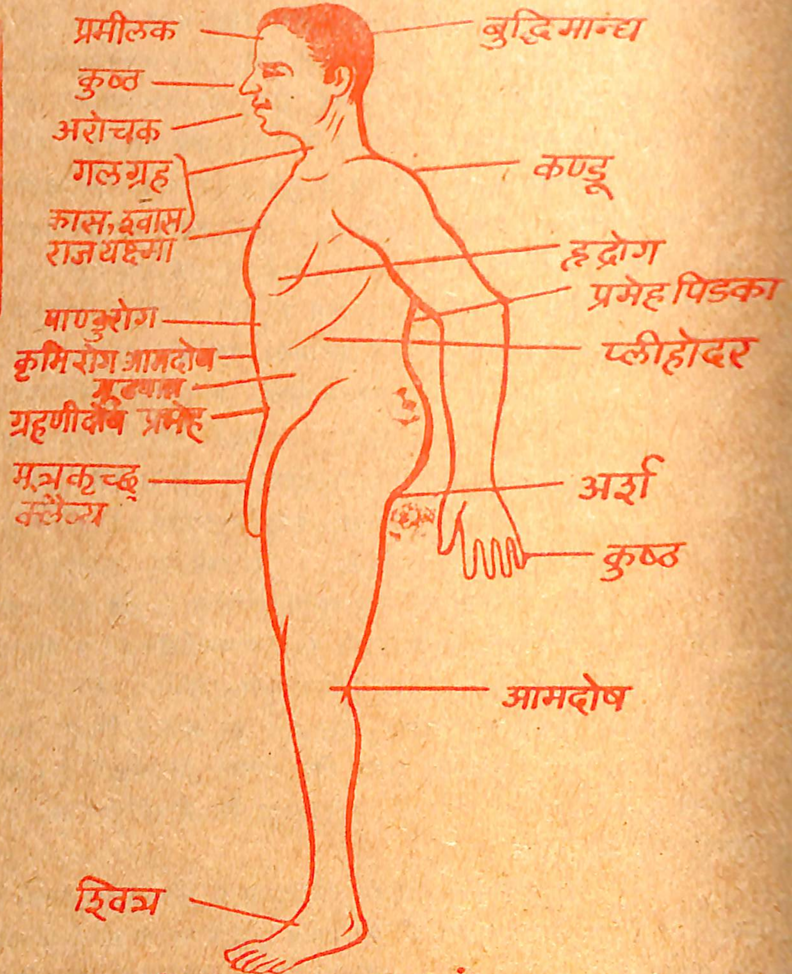
षडुपक्रम—आयुर्वेद चिकित्सा में रोग कारक हेतुओं के द्वारा उत्पन्न धातुवैषम्य या रोग को दूर करने के लिए लंघनपाचन की जो शमन चिकित्सा का संकेत किया गया है वह १. लंघन २. बृंहण ३. रूक्षण ४. स्नेहन ५. स्वेदन तथा ६. स्तम्भन इन ६ उपक्रमों पर आधारित है। भारी शरीर को हलका करना, हलके शरीर को भारी करना, अधिक चिकने शरीर को रूखा बनाना, रूखे को चिकना करना, जड़ बने शरीर को मुलायम करना और अधिक मुलायम को सख्त बनाना ये ६ प्रकार की एक दूसरे के विपरीत चिकित्सा विधियों के तीन जोड़े हैं। ये उपक्रम दोषों के बहुत संसर्ग से आपस में मिल तो जाते हैं पर ६ की संख्या से उसी प्रकार कम या अधिक नहीं होते जैसे दोषों की संख्या त्रित्व (३ होने को) नहीं छोड़ती—

दोषाणां बहुसंसर्गात्संकीर्यन्ते ह्युपक्रमाः ।
षट्त्वं तु नातिवर्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा ॥ —च. सू. अ. २२

इन षडुपक्रमों की परिभाषा, उनके योग्य रोगावस्था, कम या अधिक करने से होने वाली हानियों पर शास्त्र में विशद विवेचन किया गया है। आयुर्वेद में सभी व्याधियों को दो बड़े-बड़े भागों में बांटा गया है। जिनमें एक सन्तर्पणज व्याधियां कहलाती हैं तथा दूसरी अपतर्पणज व्याधियां कही जाती हैं। सन्तर्पणज व्याधियों में लंघन, रूक्षण और स्वेदन से तथा अपतर्पणज व्याधियों में बृंहण, स्नेहन और स्तम्भन से चिकित्सा की जाती है।

रोगों की तीन कैटेगरियां—

सन्तर्पणजन्य रोग स्निग्ध मधुर गुरु पिच्छिल नवान्न नवमद्य आनूप जलजमांस दूध खोया और शकर चीनी की मिठाइयों को खाने वाले चेष्टा-द्वेषी आफिस की कुर्सी हराम में तोड़ने वाले बाबुओं तथा गद्दी तोड़ने वाले पेटुओं को होते हैं। इनमें प्रमेह, कण्डू, पिडका, कोठ, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, आमदोष, मूत्रकृच्छ्र, अरोचक, तन्द्रा, क्लैब्य, अतिस्थौल्य, आलस्य, गुरुगात्रता, इन्द्रियलेप, स्रोतोलेप, बुद्धिमान्द्य, प्रमीलक तथा शोथों का समावेश किया गया है। इन्हें साथ के चित्र में दिया जा रहा है इन सन्तर्पणज व्याधियों को दूर करने के लिए आयुर्वेद वमन,



सन्तर्पणजन्य व्याधियाँ

विरेचन, रक्तमोक्षण, व्यायाम, योगासन, उपवास, धूम्रपान, स्वेदन इन कर्मों का प्रयोग करने की सलाह देता है। शहद, अभयाप्राश, रूक्षान्न सेवन, कण्डूघ्न, कोठघ्न द्रव्य, त्रिफला, अमलतास, पाठा, सप्तपर्ण, कुटज, मोथा, नीम और मदनफल से सिद्ध क्वाथ पीने मोथा, अमलतास, पाठा, त्रिफला, देवदारु, गोखरू, कत्था, नीम,

हल्दी, दारुहल्दी और कुड़ा की छाल के रसों में से दोषानुसार जिसकी आवश्यकता हो उसे पीने की सलाह देता है । त्वग्दोषों के दूर करने हेतु घर्षण, उबटन और विविध स्नानों (बाथों) का प्रयोग बतलाता है ।

दूसरी कैटेगरी अपतर्पणज रोगों की है इसमें शरीर का बल, अग्नि, वर्ण, ओज, शुक्र, मांस सभी का क्षय होने लगता है ज्वर रहता है खांसी हो जाती है पार्श्वशूल (प्लूरिसी) अरुचि, ऊंचा सुनना, कम देखना, उन्माद, प्रलाप, हृद्रोग, कब्ज, पेशाब का कम उतरना, शरीर के विविध जोड़ों और भागों में दर्द, ऊर्ध्ववात, तथा नर्वससिस्टम के अनेक रोग हो जाते हैं । इन रोगों से पीड़ित कुछ रोगी सद्यःक्षीण होते हैं कुछ चिरक्षीण होते हैं । सद्यःक्षीण तर्पण योगों से ठीक होजाते हैं पर चिरदुर्बलों को देह, अग्नि, दोष का ध्यान देकर उचित मात्रा में देर तक उपचार करने से मांसरस दूध या प्रोटीनों से, घृत, तर्पक बस्तियों, अभ्यंग, तथा तर्पण योगों के बराबर देते रहने से ठीक किया जाता है । ऊर्ध्ववात ज्वर कास मूत्रकृच्छ्र से पीड़ित कृश रोगियों को शर्करा, पिप्पलीमूल, घृत, मधु, बराबर-बराबर डालकर सबके बराबर सत्तू या भुना आटा डालकर मन्थ बनाकर देने से या अन्य बलवर्द्धक अग्निदीपक द्रव्य देने से अपतर्पणज रोगों पर विजय प्राप्त की जाती है ।

वातजरोग
देहक्षय
बलक्षय
वर्णक्षय
ओजक्षय
ज्वर

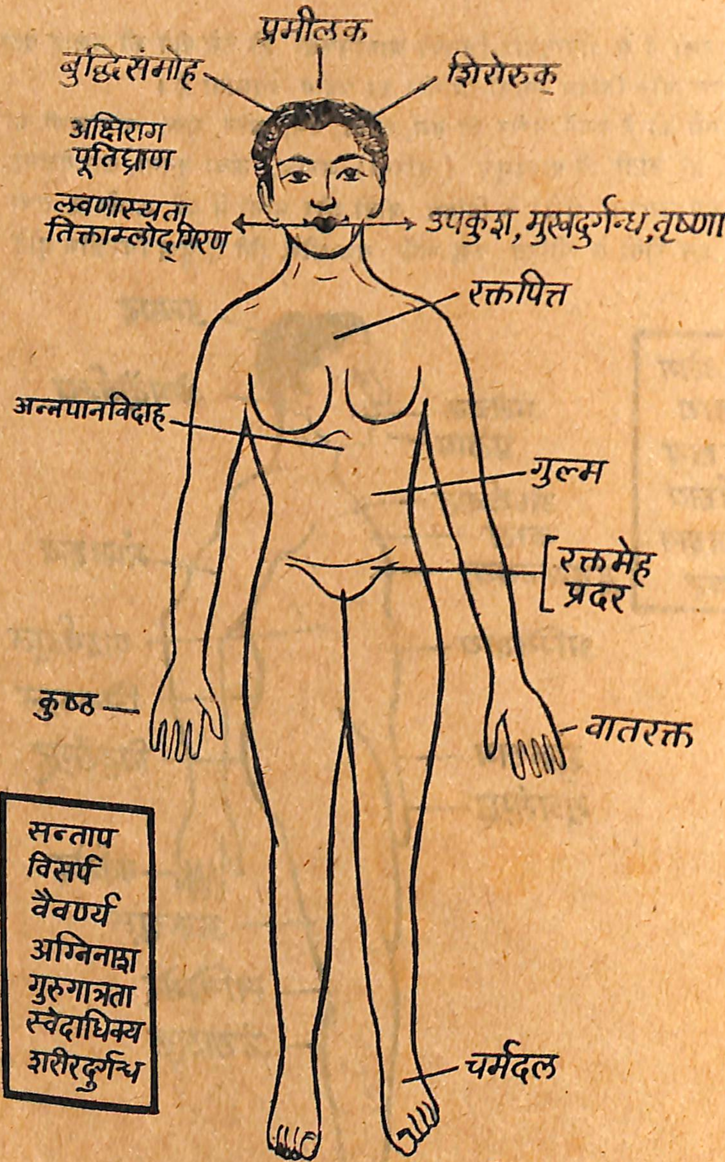
उन्माद
श्रोत्रदौर्बल्य
अरोचक
प्रलाप
ऊर्ध्ववात
कास
हृदयव्यथा
मांसक्षय
अग्निक्षय
पार्श्वशूल
त्रिकशूल
शुक्रक्षय
विट्संग्रह
मूत्रसंग्रह
पर्वभेद
ऊरुशूल
सन्धिभेद
जंघाशूल

अपतर्पणजन्य व्याधियाँ

रक्तजरोग—उपर्युक्त दो श्रेणियों की व्याधियों के अतिरिक्त रक्तजरोगों की एक अलग ही कैटेगरी दी गई है इसमें मुखपाक, नेत्र लालिमा, पूतिघ्राण, मुख दुर्गन्ध, गुल्म, उपकुश, विसर्प, रक्तपित्त, प्रमीलक, विद्रधि, रक्तमेह, प्रदर, वातरक्त, विवर्णता, अग्निनाश, तृष्णा, गुरुगात्रता, सन्ताप, अति दौर्बल्य, अरुचि, शिरोवेदना, अम्लपित्त, क्लम, क्रोध, बुद्धिमोह, स्वेद, शरीर दुर्गन्धि, मद, कम्प, स्वरक्षय, तन्द्रा, निद्रा, तिमिर, कण्डू, कोठ, चर्मदलादि कुष्ठ आते हैं ।

इन रक्तज व्याधियों की परीक्षा कैसे की जाय इसे बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं—

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैः उपक्रान्ताश्च ये गदाः ।
सम्यक्साध्या न सिध्यन्ति रक्तजांस्तान् विभावयेत् ॥



रक्तज व्याधियाँ

अर्थात् जिनका षडुपक्रमों से उपचार करने पर भी जो ठीक न हों उन रोगों को रक्तज मानकर ही आगे इलाज करना चाहिए। रक्तज रोगों की चिकित्सा का सूत्र है—

कुर्यात् शोणितरोगेषु
रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकं उपवासं च
स्रावणं शोणितस्य वा।।

रक्तपित्तनाशक व्यवस्था, विरेचन, उपवास और रक्तमोक्षण इन चार साधनों का उपयोग रक्तज रोगों के परिहारार्थ करना पड़ता है। कभी-कभी चिकित्सक रक्तज रोगों का ध्यान न देकर सामाण्य रोग को भी जटिल मान बैठता है। कभी-कभी चिकित्सा से निराश रोगी रोग को जटिल मानकर दुखी होते हैं। इनमें एक उदाहरण चर्मदल कुष्ठ या ऐक्जैमा का है। इसमें अनेकों अंगरेजी देशी मलहम लगाने के बाद भी रोग ज्यों का त्यों रहता या बढ़ता हुआ चला जाता है। यदि वहां रक्तपित्तहरी क्रिया, विरेचन, उपवास और रक्तमोक्षण का उपयोग, इके बा दीगरे किया जाय तो ६ महीने के अन्दर यह रोग जड़मूल से चला जाता है और फिर कभी उत्पन्न नहीं होता। यदि इसके साथ डीशेन द्वारा निर्मित अर्कमूल का इन्जैक्शन आयोबिन हर दूसरे-तीसरे दिन और देते रहा जाय तो समय भी कम लगता है। निकाले हुए रक्त में से कुछ को नितम्ब पेशी में क्रमिक वृद्धि के साथ डाल दिया जाय तो परिणाम अच्छे निकलते हैं। १० से १५ वर्ष पुराने त्वग्रोग इस विधि से दूर होजाते हैं। चरक में सूत्रस्थान के तीसरे अध्याय में जो ३२ प्रकार के लेप बतलाये गये हैं वे केवल पुस्तक की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं हैं अपि तु सैकड़ों वर्षों के अनुभवों का सार है। वे सिद्धतम प्रयोग हैं जिन्हें जगत् के हितार्थ पूज्य सिद्धों और महर्षियों से प्राप्त किया गया है—

इहात्रिजः सिद्धतमानुवाच द्वात्रिंशतं सिद्धमहर्षिपूज्यः।
चूर्णप्रदेहान् विविधामयघ्ना नारग्वधीये जगतो हितार्थम्।।

इसी विधि शोणित अध्याय में जिसमें रक्तज रोगों का वर्णन किया गया है मद-मूर्च्छा, संन्यास की चिकित्स को गाइड लाइन भी दी गई है। पहले बेहोश को होश में लाने के अनेक आश्चर्यजनक उपाय दिये गये हैं इनमें एक है कोंच की फली का अवघर्षण तथा तीक्ष्ण कटु द्रव्य युक्त मद्यों का मुख में डालना कुछ नहीं तो मातुलुंग (नीबू) का रस कालानमक हींग कालीमिर्च डालकर मुख में डालने का इंगित है। फिर प्रबुद्धसंज्ञ होने पर उसे हलके आहारों, विस्मयकारक उपायों, स्मारणक्रियाओं, प्रिय श्रुतिकर आवाजों (नगाड़ा, बाजे, गीत, ट्रांजिस्टर, रेडियो, टेलिविजन चित्रैश्च दर्शनैः—) स्रंसनों, वमनों, धूमों, अंजनों, कवलग्रहों, रक्तमोक्षण, अवसेक, व्यायाम, उद्घर्षणादि की इतनी क्रियाएं बताई गई हैं जिन्हें एक व्यक्ति नहीं कर सकता। इसके लिए अस्पतालों की तथा उनमें ट्रेण्ड पैरा मेडिकल सर्विस वाले आयुर्वेद सेवकों की जरूरत पड़ेगी।

इतने सारे ज्ञान के साथ चरकसंहिता सूत्रस्थान के पच्चीसवें अध्याय की तरह विद्वानों के संशयों के निराकरण के लिए समितियों या मेडिकल बोर्डों या सेमिनारों की आवश्यकता होती है जिनके द्वारा जटिलरोगों के सम्बन्ध में क्या साधन अपनाये जायं और क्या अनुसंधान किया जावे सोचा जाता है। उस अध्याय में काशिपति काशिराज ने जो संशय उठाया था वह संशय बम्बई पति आयुर्वेद चक्रवर्ती और दिल्लीपति पद्मश्री के मन में भी हो सकता है और आचार्याचार्य काशी में एवं आयुर्वेदगौरव लखनऊ में ही उस प्रकार के संशयों के दूरीकरण के लिए सोच सकते हैं—

सर्वे एवामितज्ञानविज्ञानच्छिन्नसंशयाः।
भवन्तश्छेत्तुमर्हन्ति काशिराजस्य संशयम्॥

उस समिति में पारीक्षि, शरलोमा, हिरण्याक्ष, कुशिक, मद्रकाप्य, भरद्वाज, कांकायन, थे आज हरिदत्त, शिव, हरदयाल, धर्मदत्त, मुकुन्दीलाल, रमानाथ, आशुतोष, प्रियव्रत, नारायण, रामनारायण, प्रभु, दामोदर, अनन्त, यदुनन्दन, नागेश, गोरखनाथ, सुरेन्द्र हरिश्चन्द्र, लक्ष्मीशंकर, ज्योतिर्मित्र, अनन्तानन्द, रत्नप्रकाश, वीरेन्द्र, शिवसागर, द्वारका, द्वारकानाथ, वासुदेव, वल्लभराम, बापालाल, पुरुषोत्तम, युधिष्ठिर, विश्वनाथ, रामनाथ, पूर्णचन्द्र, दिनकर, भास्कर म्हस्कर, बलवन्त और दत्तात्रेय, उसे पूरा नहीं कर सकते क्या? श्री आगे लगाकर लिखने की प्रणाली आर्ष नहीं है केवल एक पुनर्वसु आत्रेय के साथ ही भगवान् शब्द का प्रयोग हुआ है। हमारे ये भगवान्, हाराणचन्द्र, शिवदास, लक्ष्मीराम, धर्मदास ब्रजविहारी, यादवजी, सत्यनारायण गोखले आदि उन्हीं के पास जा बैठे हैं नये भगवानों की खोज में वैद्यों का वर्ग बेताबी के साथ असहायता का अनुभव कर रहा है। ऊंचे-ऊंचे पदों पर प्रतिष्ठित बड़े-बड़े महानुभावों में भगवान् पुनर्वसु को खोजता हुआ मेरा मानस अभी थका नहीं है। किस कन्दरा में हमारा पुनर्वसु इस समय होगा इसे कोई बतावे तो? बड़ी पीड़ा बढ़ रही है और यह पीड़ा हर आयुर्वेद निष्णात और पारंगत को सता रही है। आज तो अग्निवेश और सुश्रुत सरीखे शिष्यों की परम्परा ही तिरोहित होती चली जा रही है। जटिलरोगों की चिकित्सा के आयुर्वेदीय स्वरूप की अभिव्यक्ति आगे के पृष्ठों में जिन महानुभावों ने की है उन्हीं में हमारे आत्रेय की आत्मा सोई हुई है उन्हीं से देश विदेश में आयुर्वेद का प्रचार और प्रसार होगा और वे ही आयुर्वेद के द्वारा जटिलतमरोगों से विश्व के मानवों का उद्धार करेंगे। और वही विश्वमानव के कानों में इस आत्रेय वाक्य का उद्घोष करेंगे—

हिताहारोपयोगं एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्त इति। और इसकी परिभाषा इन शब्दों में दी जायगी।

यद् आहारजातं अग्निवेश! समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोतीति एतत् हितं विद्धि, अहितं विपरीतं इति एतत् हिताहित लक्षणमनपवादं भवति॥ हमारी आयुर्वेद गवेषणा का मूल आधार इसी पर होना चाहिए। विषमशरीर धातुओं को समावस्था में प्रकृति में स्थापित करने का लक्ष्य। उस काल में रिसर्च द्वारा शूकधान्यों (कार्बो हाइड्रेट्स) में लोहित शालियों को श्रेष्ठतम माना जाता था, शमीधान्यों (प्रोटीनों)

में मूंग की दाल श्रेष्ठतम गिनाई गयी थी, अंगूर को फलों में श्रेष्ठतम माना गया था तथा विविध डिजीज सिंड्रोमों पर अलग अलग द्रव्यों की उपयोगिता स्वीकार की गयी थी –पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणां, काश्मर्यफलं रक्तसंग्राहकरक्तपित्तप्रशमनानाम् । शुक्रवेगनिग्रहः षाण्ढ्य कराणाम् । तब विद्वानों को जितने द्रव्यों और विविध वनस्पतियों और जीवों का ज्ञान था उनमें आज अपरिमित वृद्धि हुई है । हमें आत्रेय की इस लिस्ट का नवीन संस्करण करना होगा और देखना होगा कि आज की समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में परिवारनियोजन (Family Planing) कार्यक्रम में शुक्रवेगनिग्रह कैसे किया जावे ।

इसी के साथ ही हमें दशेमानि द्रव्यों का भी नवीनतम संस्करण करना होगा क्या पिप्पली पिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेराम्लवेतसमरिचाजमोदाभल्लातकाऽस्थिहिंगुयनिर्यास आजभी दशेमानि दीपनीयानि को सार्थक करते हैं या कुछ परिवर्तन किया जा सकता है । पंचाशन्महाकषाय में जिन फार्मा कोलोजीकल ऐक्शनों के लिए दशेमानियों की ५० श्रेणियां की गई हैं उनमें क्या कुछ और वृद्धि की जानी चाहिए इसके लिए समितियां कब बैठेंगीं संयोजन कौन करेगा, धन कहां से आयेगा और विश्व के आज के शासकों को आयुर्वेद की उपयोगिता कौन समझावेगा तथा विश्व के समस्त विद्वानों को आयुर्वेदीय अनुसन्धानात्मक मैथोडोलोजी की ओर कौन लायेगा ? इसके लिये भगवान् धन्वन्तरि जैसा दिव्य शरीर धारी चाहिए जिसकी उत्पत्ति में देवता दैत्य, मन्दराचल, शेषनाग, कच्छप सभी को अपनी अपनी शक्ति भर यत्न करना होगा ताकि इस महाजनसमुद्र से अमृतपाणि सुधानिधियुक्त भगवान् धन्वन्तरि को इस जगती में लाया जासके । इसके लिए शिवशंकर जैसी विषपान की क्षमता और विष्णु के मोहनी रूप की कल्पना करनी होगी ।

अन्त में समस्त जटिल और ऐमर्जेन्सीजन्य रोगों के लिए जबलपुर शासकीय आयुर्वेद कालेज के स्वनामधन्य प्राचार्य श्री महादेवप्रसाद पाण्डेय द्वारा प्रेषित निम्नांकित सुश्रुत वाक्य के साथ इस सम्पादकीय बक्तव्य को समाप्त करता हुं:—

अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद विधिमिमं भिषक् ।
प्रदीप्तागारवत् शीघ्रं तत्र कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥

और इस जटिल रोग चिकित्सांक के इतिहास प्रसिद्ध कलेवर के निर्माण में जितने भी महानुभाव शुभकामनाओं और सम्मतिदान से लेकर अक्षरकम्पोज करने तक और जिल्द बाँधने तक आये हैं । विशेष कर डिजायन निर्माता आर्टस्पोट अलीगढ़ तथा टाइटिल मुद्रणकर्त्ता शिवाकाशी (दक्षिण भारत)के बन्धुओं सहित सभी को धन्यबाद प्रदान कर इस प्रार्थना के साथ कि मेरे इन सम्पादकीय विचारों को पाठकगण कई बार पढ़ेंगे अपनी लेखनी को विश्राम देता हूँ ।

ਸੁਧਾਨਿਧਿ

ਟਿਲ

ਰੋਗ

ਕਿਤਸਾਂਕ

...ੀਆਂ ਦੀ ਵਿਚਾਰਧਾਰਾ

...ਸ਼ਿਸ਼ ਵੀ ਕੀਤੀ ਸੀ। ਪਰੰਤੂ ਜਦੋਂ ਬਿਸਮਿਲ ਨੂੰ ਛੁਡਾਉਣ ...ਂ ਸਕੀਮ ਸਿਰੇ ਨਾ ਚੜ੍ਹੀ ਤਾਂ ਖਿੰਡੇ ਹੋਏ ਸੂਤਰਾਂ ਨੂੰ ਇਕੱਠਾ ...ਰਕੇ ਇਕ ਲੜੀ ਵਿਚ ਪ੍ਰੋਣ ਦਾ ਕੰਮ ਆਰੰਭ ਦਿਤਾ।

...ਛੇਤੀ ਹੀ ਬਹੁਤ ਸਾਰੇ ਨੇਤਾ ਇਕੱਠੇ ਕਰ ਲਏ ਗਏ। ...ਮ ਪ੍ਰਸ਼ਾਦ ਬਿਸਮਿਲ ਨੇ ਜਿਹੜੀ ਪਾਰਟੀ ਹਥਿਆਰਬੰਦ ...ਨਕਲਾਬ ਲਈ ਬਣਾਈ ਸੀ—ਦਾ ਨਾਂ 'ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਰੀਪ-...ਲੀਕਨ ਐਸੋਸੀਏਸ਼ਨ' ਸੀ। ਪਰੰਤੂ ਜਦੋਂ ਭਗਤ ਸਿੰਘ ...ਸ ਨਾਲ ਜੁੜਿਆ ਤਾਂ ਇਸ ਦਾ ਨਾਂ 'ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਸਮਾਜ-...ਾਦੀ ਪ੍ਰਜਾਤੰਤਰ ਸੈਨਾ' ਰਖਿਆ।

'ਹਿਸਪ੍ਰਸ' ਦਾ ਜਮਹੂਰੀਅਤ ਵਿਚ ਅਟੁੱਟ ਵਿਸ਼ਵਾਸ ਸੀ। ...ਈ ਵੀ ਕੰਮ ਕਰਨ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਸੈਂਟਰਲ ਕਮੇਟੀ ਜੋ ...ਕ ਸੂਤਰਾਂ ਨੂੰ ਜੋੜ ਕੇ ਚੁਣੀ ਹੋਈ ਸੀ—ਤੋਂ ਪ੍ਰਵਾਨਗੀ ...ਈ ਜਾਂਦੀ।

1928 ਵਿਚ ਜਦੋਂ ਸਾਈਮਨ ਕਮਿਸ਼ਨ ਭਾਰਤ ਆਇਆ ...ਾਂ ਭਾਰਤੀਆਂ ਵਿਚ ਇਸ ਪ੍ਰਤੀ ਰੋਹ ਸੀ। ਸਾਈਮਨ ਕਮਿ-...ਨ ਦਾ ਹਰ ਥਾਂ ਬਾਈਕਾਟ ਕੀਤਾ ਗਿਆ। ਲਾਹੌਰ ਵਿਖੇ ...ਲੂਸ ਦੀ ਅਗਵਾਈ ਲਾਲਾ ਲਾਜਪਤ ਰਾਇ ਕਰ ਰਹੇ ...ਨ। ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਮੌਤ ਸਾਂਡਰਸ ਦੀਆਂ ਲਾਠੀਆਂ ਨਾਲ...

...ਟਿਲ ਰੋਗ

ਸੁਧਨਿਧਿ

ਐਸੀ ਕਰਾਂਤੀ ਤੋਂ ਹੈ, ਜੋ ਮਨੁੱਖ ਤੇ ਮਨੁੱਖ ਦੀ ਦਬਾਊ ਹਕੂ-ਮਤ ਖਤਮ ਕਰ ਦੇਵੇਗੀ।''

ਅਪ੍ਰੈਲ 1929 ਵਿਚ ਦਿਲੀ ਵਿਚ ਅਸੈਂਬਲੀ ਦਾ ਸ਼ੈਸ਼ਨ ਬੈਠਾ ਜਿਸ ਵਿਚ ਦੋ ਕਾਲੇ ਬਿਲ ਭਾਰਤੀਆਂ ਨੂੰ ਦਬਾਉਣ ਲਈ ਪਾਸ ਹੋਣੇ ਸਨ। ਵਾਇਸਰਾਇ ਨੇ ਐਲਾਨ ਕੀਤਾ ਸੀ ਕਿ ਭਾਵੇਂ ਉਹ ਬਿਲ ਅਸੈਂਬਲੀ ਰੱਦ ਕਰ ਦੇਵੇ ਤਾਂ ਉਹ ਬਿਲ ਖਾਸ ਆਰਡੀਨੈਂਸ ਰਾਹੀਂ ਲਾਗੂ ਕਰ ਦਿੱਤੇ ਜਾਣਗੇ। ਉਹ ਬਿਲ ਸਨ—ਟਰੇਡ ਡਿਸਪਿਊਟਸ ਬਿਲ ਤੇ ਪਬਲਿਕ ਸੇਫ਼ਟੀ ਬਿਲ। ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਤੇ ਉਸ ਦੇ ਸਾਥੀ ਏਸ ਮੌਕੇ ਤੋਂ ਫਾਇਦਾ ਲੈਣਾ ਚਾਹੁੰਦੇ ਸਨ। ਉਹ ਨਾਮਨਿਹਾਦ ਅਸੈਂਬਲੀ ਨੂੰ ਲੋਕਾ ਵਿਚ ਨੰਗਿਆਂ ਕਰਨਾ ਚਾਹੁੰਦੇ ਸਨ। ਉਸ ਵੇਲੇ ਕੁਝ ਖਾਸ ਅਧਿਕਾਰਾਂ ਵਾਲੇ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਵੋਟ ਦੇਣ ਤੇ ਚੁਣੇ ਜਾਣਦਾ ਅਧਿਕਾਰ ਸੀ ਇਹ ਅਸੈਂਬਲੀ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨਾਲ ਬਣਾਈ ਗਈ ਸੀ। ਆਮ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਵੋਟਾਂ ਨਾਲ ਕੋਈ ਸਰੋਕਾਰ ਨਹੀਂ ਸੀ।

ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਤੇ ਭਟੁਕੇਸ਼ਵਰ ਦੱਤ ਦੋਵੇਂ ਸੂਰਮੇਂ ਅਸੈਂਬਲੀ ਵਿਚ ਗਏ। 18 ਅਪ੍ਰੈਲ, 1929 ਨੂੰ ਅਸੈਂਬਲੀ ਵਿਚ ਬੰਬ ਸੁਟਿਆ ਗਿਆ ਤੇ ਨਾਹਰਾ ਗੂੰਜਾਇਆ—"ਇਨਕਲਾਬ-ਜ਼ਿੰਦਾਬਾਦ!' ਅਸੈਂਬਲੀ ਵਿਚ ਪਰਚੇ ਸੁੱਟੇ ਗਏ—"ਬੋਲਿਆਂ ਨੂੰ ਸੁਣਾਉਣ ਲਈ ਧਮਾਕੇ ਦੀ ਲੋੜ ਹੁੰਦੀ ਹੈ।'' ਅਖੌਤੀ ... ਨੂੰ ਨਿਖੇੜ ਨੇ ...

ਸਨ—ਪਰ ਉਸ ਸਵਰਾਜ ਦੀ ਰੂਪ ਰੇਖਾ ਕੀ ਹੋਵੇਗੀ?—ਸਭ ਹਨੇਰੇ ਵਿਚ ਸੀ। ਪਰੰਤੂ ਏਸ ਦੇ ਉਲਟ ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਤੇ ਉਸ ਦੇ ਸਾਥੀਆਂ ਨੇ ਆਜ਼ਾਦੀ ਤੋਂ ਬਾਦ ਦੇ ਦੇਸ਼ ਦੀ ਰੂਪ ਰੇਖਾ ਕੀ ਹੋਵੇਗੀ?—ਬਣਾਈ ਸੀ। ਦੇਸ਼ ਦੀ ਉਸਾਰੀ ਸਮਾਜਵਾਦੀ ਸਿਧਾਂਤ ਅਨੁਸਾਰ ਹੋਣੀ ਸੀ ਜਿਸ ਵਿਚ ਲੁੱਟ ਖਸੁੱਟ ਦੀ ਕੋਈ ਥਾਂ ਨਹੀਂ ਸੀ ਹੋਣਾ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਕਾਂਗਰਸ ਦਾ ਉਦੇਸ਼ ਵੀ ਆਪਣੇ ਲੇਖਾਂ ਵਿਚ ਪ੍ਰਗਟ ਕੀਤਾ ਸੀ ਕਿ ਕਾਂਗ-ਰਸ ਅੰਗਰੇਜ਼ਾਂ ਤੇ ਆਰਥਿਕ ਦਬਾ ਪਾ ਕੇ ਕੇਵਲ ਕੁਝ ਰਿਆ-ਇਤਾਂ ਹੀ ਲੈਣਾ ਚਾਹੁੰਦੀ ਹੈ।

ਅਦਾਲਤ ਨੂੰ ਬਿਆਨ ਦੇਂਦੇ ਹੋਏ ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਨੇ ਆਖਿਆ ਕਿ ਸਾਡੀ ਲੜਾਈ ਕਿਸੇ ਵਿਅਕਤੀ ਦੇ ਖ਼ਿਲਾਫ਼ ਨਹੀਂ। ਉਨ੍ਹਾ ਆਖਿਆ ਕਿ ਅਸੀਂ ਦੇਸ਼ ਦੇ ਹਾਲਾਤ ਸੰਜੀ-ਦਗੀ ਨਾਲ ਵਿਚਾਰ ਕਰਨ ਵਾਲੇ ਹਾਂ। ਸਾਡਾ ਮੰਤਵ ਉਸ ਅਦਾਰੇ ਦੇ ਖ਼ਿਲਾਫ਼ ਪ੍ਰੋਟੈਸਟ ਕਰਨਾ ਸੀ ਜਿਹੜਾ ਜਨਤਾ ਨੂੰ ਧੋਖਾ ਦੇਣ ਲਈ ਖੜਾ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ। ਜਿਸ ਵਿਚ ਜਨਤਾ ਦੇ ਆਗੂਆਂ ਵਲੋਂ ਪੇਸ਼ ਕੀਤੇ ਗਏ ਕਾਨੂੰਨ ਪਾਰਲੀ-ਮੈਂਟ ਵਿਚ ਪਾਸ ਹੋਣ ਦੇ ਬਾਵਜੂਦ ਵੀ ਲਾਗੂ ਨਹੀਂ ਕੀਤੇ ਗਏ ਤੇ ਜਿਹੜੇ ਜਾਬਰਾਨਾ ਕਾਨੂੰਨ ਸਰਕਾਰ ਬਣਾਉਣਾ ਚਾਹੁੰਦੀ ਸੀ—ਨੂੰ ਜਨਤਕ ਆਗੂਆਂ ਦੇ ਇਕ ਆਵਾਜ਼ ਨਾਲ ਰੱਦ ਕਰਨ ਦੇ ਬਾਵਜੂਦ ਵੀ ... ਪਾਸ ਸਮਝੇ

ਸੁਧਾਨਿਧਿ

...टिल
...ोग

...चिकित्सांक

...क जटिल रोग

ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਤੇ ਉਸਦੇ ਸ...

ਜਿੰਨਾ ਵੱਧ ਅਸੀਂ ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਦੇ ਨਾਂ ਬਾਰੇ ਜਾਣਦੇ ਹਾਂ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਹੀ ਘੱਟ ਅਸੀਂ ਉਸ ਦੀ ਵਿਚਾਰਧਾਰਾ ਬਾਰੇ ਜਾਣਦੇ ਹਾਂ। ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਦਾ ਜਨਮ 1907 ਈ: ਵਿਚ ਇਕ ਦੇਸ਼ ਭਗਤ ਪ੍ਰਵਾਰ ਵਿਚ ਹੋਇਆ। ਉਸ ਦੇ ਦਾਦਾ ਸ: ਅਰਜਨ ਸਿੰਘ ਨੇ ਇਕ ਕਾਂਗਰਸ ਦੇ ਜਲਸੇ ਵਿਚ ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਦੇ ਸਿਰ ਤੇ ਹੱਥ ਰਖਦਿਆਂ ਹੋਇਆ ਦੇਸ਼ ਦੀ ਅਜ਼ਾਦੀ ਲਈ ਸੌਂਪ ਦਿੱਤਾ ਸੀ। ਉਸ ਦੇ ਚਾਚਾ ਸ: ਅਜੀਤ ਸਿੰਘ 1907 ਦੀ ਜ਼ਮੀਨੀ ਐਜ਼ੀਟੇਸ਼ਨ 'ਪਗੜੀ ਸੰਭਾਲ ਓ ਜੱਟਾ' ਲਹਿਰ ਸਮੇਂ ਜਲਾਵਤਨ ਹੋ ਚੁੱਕੇ ਸਨ ਤੇ ਇਕ ਚਾਚਾ ਸ: ਸਵਰਨ ਸਿੰਘ ਉਸੇ ਲਹਿਰ ਵਿਚ ਜੇਲ ਦੇ ਕਸ਼ਟ ਸਹਿੰਦੇ ਹੋਏ ਸ਼ਹੀਦ ਹੋ ਚੁੱਕੇ ਸਨ। ਉਸ ਦੇ ਪਿਤਾ ਸ: ਕਿਸ਼ਨ ਸਿੰਘ ਵੀ ਕਾਂਗਰਸ ਵਿਚ ਸਰਗਰਮ ਸਨ। ਜਿਸ ਬੱਚੇ ਦਾ ਅਜਿਹੇ ਦੇਸ਼ ਭਗਤ ਪ੍ਰਵਾਰ ਵਿਚ ਜਨਮ ਹੋਇਆ ਹੋਵੇ ਕੀ ਉਹ ਬੱਚਾ ਦੇਸ਼ ਪਿਆਰ ਤੋਂ ਵਿਰਵਾ ਰਹਿ ਸਕਦਾ ਹੈ? ਅਸੰਭਵ!

ਸ਼ਹੀਦ ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਦੇ ਬਚਪਨ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਇਕ ਘਟਨਾ ਇਉਂ ਦਸੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ ਕਿ ਜਦੋਂ ਉਹ ਪੰਜ ਸੱਤ ਸਾਲ ਦਾ ਹੀ ਸੀ ਤਾਂ ਆਪਣੇ ਪਿਤਾ ਨਾਲ ਖੇਤ ਵਿਚ ਗਿਆ। ਕਿਸੇ ਨੇ [illegible] ਜਣਾਉਣ ਲੱਗਿਆ ਕਿ ਉਥੇ ਕੀ ਬੀਜਣਾ ਹੈ [illegible] ਨੂੰ ਨਿਖੇੜ [illegible]

में मूंग की दाल श्रेष्ठतम गिनाई गयी थी, अंगूर को फलों में श्रेष्ठतम माना गया था तथा विविध डिजीज सिंड्रोमों पर अलग अलग द्रव्यों की उपयोगिता स्वीकार की गयी थी –पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणां, काश्मर्यफलं रक्तसंग्राहकरक्तपित्तप्रशमनानाम् । शुक्रवेगनिग्रहः षाण्ढ्य कराणाम् । तब विद्वानों को जितने द्रव्यों और विविध वनस्पतियों और जीवों का ज्ञान था उनमें आज अपरिमित वृद्धि हुई है । हमें आत्रेय की इस लिस्ट का नवीन संस्करण करना होगा और देखना होगा कि आज की समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में परिवारनियोजन (Family Planing) कार्यक्रम में शुक्रवेगनिग्रह कैसे किया जावे ।

इसी के साथ ही
मूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरामल
करते हैं या कुछ परिवर्तन
दशेमानियों की ५० श्रेणियां
बैठेंगीं संयोजन कौन करेगा,
समझावेगा तथा विश्व के सम
इसके लिये भगवान् धन्वन्तरि
कच्छप सभी को अपनी अपनी
भगवान् धन्वन्तरि को इस ज
के मोहनी रूप की कल्पना क

अन्त में समस्त
स्वनामधन्य प्राचार्य श्री महादे
को समाप्त करता हूं:—

और इस जटिल
शुभकामनाओं और सम्मति
डिजायन निर्माता आर्टस्पोट
को धन्यवाद प्रदान कर इस
लेखनी को विश्राम देता हूँ ।

ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਤੇ ਉਸਦੇ

ਜਿੰਨਾ ਵੱਧ ਅਸੀਂ ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਦੇ ਨਾਂ ਬਾਰੇ ਜਾਣਦੇ ਹਾਂ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਹੀ ਘੱਟ ਅਸੀਂ ਉਸ ਦੀ ਵਿਚਾਰਧਾਰਾ ਬਾਰੇ ਜਾਣਦੇ ਹਾਂ। ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਦਾ ਜਨਮ 1907 ਈ: ਵਿਚ ਇਕ ਦੇਸ਼ ਭਗਤ ਪ੍ਰਵਾਰ ਵਿਚ ਹੋਇਆ। ਉਸ ਦੇ ਦਾਦਾ ਸ: ਅਰਜਨ ਸਿੰਘ ਨੇ ਇਕ ਕਾਂਗਰਸ ਦੇ ਜਲਸੇ ਵਿਚ ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਦੇ ਸਿਰ ਤੇ ਹੱਥ ਰਖਦਿਆਂ ਹੋਇਆ ਦੇਸ਼ ਦੀ ਅਜ਼ਾਦੀ ਲਈ ਸੌਂਪ ਦਿੱਤਾ ਸੀ। ਉਸ ਦੇ ਚਾਚਾ ਸ: ਅਜੀਤ ਸਿੰਘ 1907 ਦੀ ਜ਼ਮੀਨੀ ਐਜ਼ੀਟੇਸ਼ਨ 'ਪਗੜੀ ਸੰਭਾਲ ਓ ਜੱਟਾ' ਲਹਿਰ ਸਮੇਂ ਜਲਾਵਤਨ ਹੋ ਚੁੱਕੇ ਸਨ ਤੇ ਇਕ ਚਾਚਾ ਸ: ਸਵਰਨ ਸਿੰਘ ਉਸੇ ਲਹਿਰ ਵਿਚ ਜੇਲ ਦੇ ਕਸ਼ਟ ਸਹਿੰਦੇ ਹੋਏ ਸ਼ਹੀਦ ਹੋ ਚੁੱਕੇ ਸਨ। ਉਸ ਦੇ ਪਿਤਾ ਸ: ਕਿਸ਼ਨ ਸਿੰਘ ਵੀ ਕਾਂਗਰਸ ਵਿਚ ਸਰਗਰਮ ਸਨ। ਜਿਸ ਬੱਚੇ ਦਾ ਅਜਿਹੇ ਦੇਸ਼ ਭਗਤ ਪ੍ਰਵਾਰ ਵਿਚ ਜਨਮ ਹੋਇਆ ਹੋਵੇ ਕੀ ਉਹ ਬੱਚਾ ਦੇਸ਼ ਪਿਆਰ ਤੋਂ ਵਿਰਵਾ ਰਹਿ ਸਕਦਾ ਹੈ? ਅਸੰਭਵ!

ਸ਼ਹੀਦ ਭਗਤ ਸਿੰਘ ਦੇ ਬਚਪਨ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਇਕ ਘਟਨਾ ਇਉਂ ਦਸੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ ਕਿ ਜਦੋਂ ਉਹ ਪੰਜ ਸੱਤ ਸਾਲ ਦਾ ਹੀ ਸੀ ਤਾਂ ਆਪਣੇ ਪਿਤਾ ਨਾਲ ਖੇਤ ਵਿਚ ਗਿਆ। ਕਿਸੇ ਨੇ [illegible] ਲਾਉਣ ਲਈ ਪੁੱਛਿਆ ਕਿ ਉਥੇ ਕੀ ਬੀਜਣਾ ਹੈ [illegible] ਨੂੰ ਨਿਖੇੜ [illegible]

ली पिप्पली-
न को सार्थक
शनों के लिए
मितियां कब
योगिता कौन
न लायेगा ?
न, शेषनाग,
ानिधियुक्त
और विष्णु

कालेज के
य वक्तव्य

हानुभाव
शेष कर
हुत सभी
ो अपनी

सुधानिधि



जटिल रोग चिकित्सांक

ज्वर एक जटिल रोग

इस खण्ड में

★





आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, सम्पादक 'सुधानिधि'

विशेषांक तथा इस प्रकरण के प्रथम लेख में ज्वर के विषय में इस विशेषांक के सम्पादक आयुर्वेद मनीषी आचार्य त्रिवेदी जी ने अपना अध्ययनात्मक विद्वत्तापूर्ण तथा प्रत्येक भारतीय चिकित्सक के लिये अत्यन्त उपादेय विवरण प्रस्तुत किया है। ज्वर से पीड़ित रोगी की चिकित्सा में किन-किन सिद्धान्तों का विशेषरूप से ज्ञान होना एक चिकित्सक के लिये परमावश्यक है। उन तथ्यों को आचार्य प्रवर की लौह लेखनी ने अत्यन्त सरल भाषा में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस लेख के प्रकाश में इस खण्ड के तथा आगामी खण्डों में आये अनेक रोगों की चिकित्सा को समझने में पाठकों को पर्याप्त सहायता मिलेगी। आशा है आचार्य प्रवर के इस लेख की प्रत्येक पंक्ति को पाठक अपने हृदय में उतारकर अपनी ज्ञान पिपासा शान्त करने में सक्षम होंगे।

— गोपालशरण गर्ग।

ज्वर एक विवेचन

जटिल रोग चिकित्सांक में हमने ज्वर को सर्वप्रथम स्थान दिया है। आयुर्वेद के सर्वमान्य काय-चिकित्सा के आर्षग्रन्थ चरक संहिता में भी ज्वर को प्रधानता दी गई है। चक्रपाणिदत्त ने इसी लिए अपनी ज्वर निदान की टीका में लिखा है—

तत्रापि च शारीरविकारेषु प्रधानत्वाज्ज्वरस्यैव निदानं आदौ उच्यते। यथा च ज्वरः प्रधानं तथा अत्रैव 'ज्वरस्तु खलु' इत्यादिना वक्ष्यति; तथा चिकित्सितेऽपि वक्ष्यति—"देहेन्द्रियमनस्तापी सर्व-रोगाग्रजो बली" इत्यादि।

इस सर्व रोगाग्रज ज्वर की चिकित्सा सरल नहीं है। इस रोग के शमन करने में बड़े-बड़े दिग्गज चिकित्सकों को भी आये दिन कठिनाई आती रहती है इस कारण ज्वर विषयक चिकित्सा-सामग्री के संकलन को इस चिकित्सांक में विशेष महत्त्व दिया जा रहा है।

डा० मैक्स्वीने ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तिका क्लिनिकल अप्रोच टू फीवर्स के दूसरे अध्याय में महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्धृत किया है, इन शब्दों में—

"Diagnosis in medicine is not the simple process of adding two to two and making four. Rather is it the summation of a dozen



or even a score of fractions, each by itself in significant."

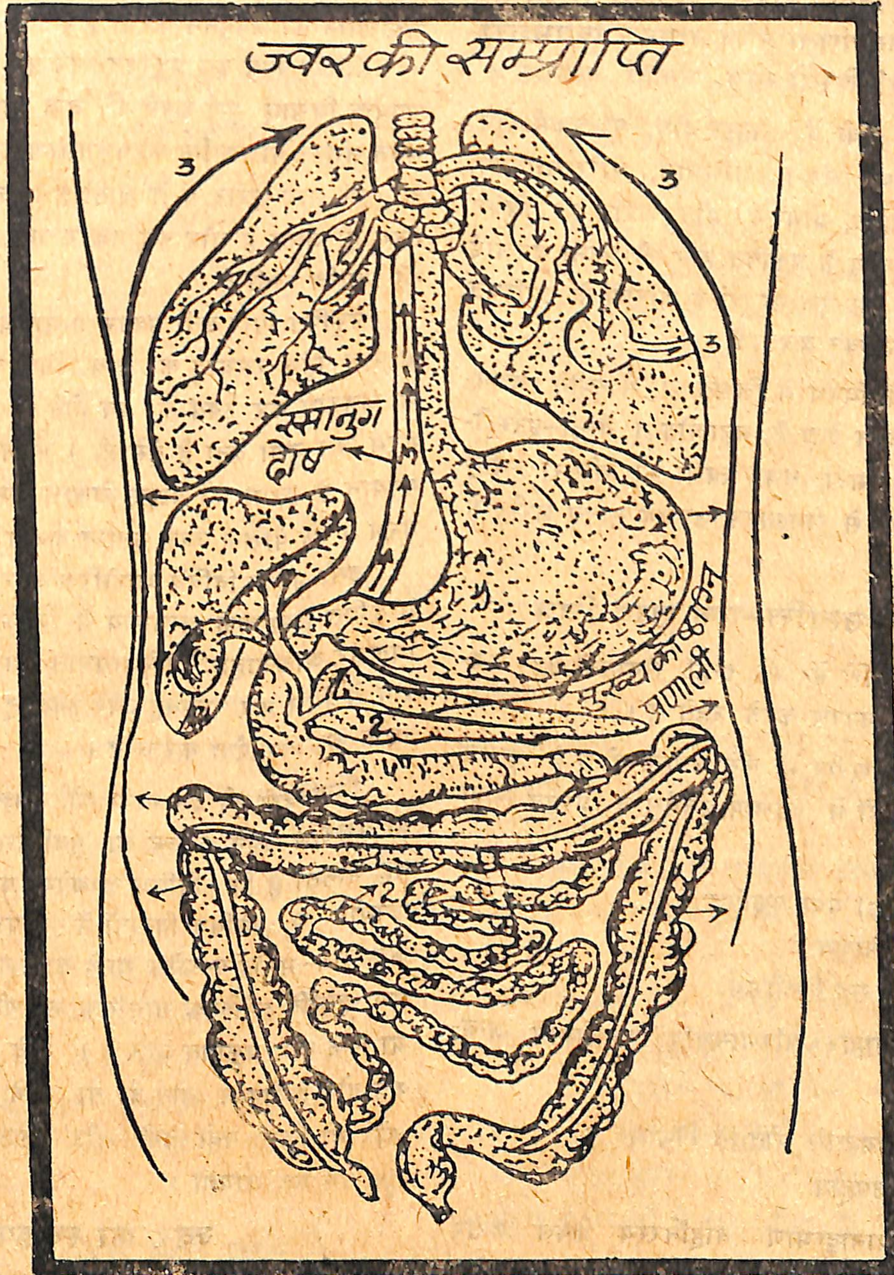
अर्थात् चिकित्साशास्त्र में किसी रोग का निदान करना इतना सरल नहीं है कि दो और दो जोड़ दिये और उत्तर चार आ गया; यह तो बल्कि अनेक (दर्जनों या कोड़ियों) ऐसी घटनाओं और तथ्यांशों का जोड़ है जिसमें से प्रत्येक अलग-अलग कोई खास महत्त्व नहीं रखता।

निदान की महत्ता

ज्वरों के निदान के सम्बन्ध में भी हमें इसी दृष्टिकोण को अपनाना होगा। किसी व्यक्ति को क्यों ज्वर आया उसने आहार-विहार में क्या असावधानी बरती या कौन सा उपसर्ग उसे लगा इसके लिए दर्जनों महत्त्वहीन समझे जाने वाले तथ्यों का चिकित्सक को आकलन करना होगा। जो लोग थर्मामीटर में पारे का स्तम्भ चढ़ा हुआ देख कर रोग को ज्वरमात्र समझते हुए इलाज करने चल पड़ते हैं तथा रोग के पूर्वा पर सम्बन्ध के बारे में छानबीन नहीं करते उनके हाथ से रोगी चला जाता है। कभी-कभी तो एक स्पेशलिस्ट और विद्वज्जनपूजित चिकित्सक का रोगी उसकी निदानशाला को त्याग कर नाममात्र के चिकित्सक की शरण में चला जाकर लाभ उठा जाता है। भारतवर्ष में ऐसे बहुत से चिकित्सक हैं जिनकी शिक्षा-योग्यता नगण्य होते हुए भी उनके यहां रोगियों का सतत तांता लगा रहता है जबकि बड़े-बड़े दिग्गज हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं।

ज्वर या किसी रोग के निदान करने में पैथालोजीकल परीक्षणों का बड़ा महत्त्व है तथा हर अच्छे चिकित्सक को इन परीक्षणों को कराना और उनके परिणामों के आधार पर निदान का निर्णय करना भी चाहिए। पर, ये परीक्षण भी सब कुछ नहीं होते। उदाहरण के लिए किसी के थूक में या मल में या आंत में किसी रोगकारक जीवाणु की उपस्थिति प्रमाणित होने से उस जीवाणु के कारण होने वाला रोग उस स्वस्थवाहक को लग ही जावेगा ऐसा नहीं माना जा सकता। कितने ही लोग खुद बिना रुग्ण हुए दूसरे को रोग का प्रसार करते रहते हैं। रोगकारक कारण उपस्थित हो जाने पर भी व्यक्ति रोगग्रसित नहीं होता जब तक कि रोगकारक जीवाणु या अन्य कारण पूरे वेग से उस पर आक्रमण न कर दे। यह आक्रमण किन परिस्थितियों में हुआ है इसका विचार करना होगा। किसी रोगी से किसी जीवाणु के संस्पर्श से ही रोग की उत्पत्ति नहीं होती। उसके लिए व्यक्ति और रोगाणु के अतिरिक्त भी एक महत्त्वपूर्ण तीसरे घटक की आवश्यकता होती है जिसे हम अभिघात कह कर पुकारते हैं। यह अभिघात शारीरिक भी हो सकता है और मानसिक भी। गिरने के बाद मेनिंजाइटिस हो सकती है। अधिक परिश्रम के द्वारा औस्टियोमाइलाइटिस या अस्थिमज्जापाक बन जाता है। मेनिंजाइटिस के जीवाणु या अस्थिमज्जापाक कारक रोगाणु शरीर में उपस्थित रह सकते हैं पर बिना अभिघात या चोट लगे उस व्यक्ति को इन भीषण रोगों की उत्पत्ति करने में वे अशक्त रहते हैं।

मन का शरीर पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है। सतत् चिन्ता (*Stress* या *mental tension*) का रहना, व्यापार में घाटा आ जाना, आर्थिक संकट का उपस्थित हो जाना, शोक का संवाद मिलना अथवा परीक्षा सन्निकट आने पर विद्यार्थी द्वारा अधिक चिन्तित हो जाना वे कारण हैं जो मनोऽभिघात कर देते हैं जिससे उसकी रोगाणुओं से सतत् उलझने की शक्ति क्रमशः क्षीण होती चली जाती है और शरीर के अन्दर ही बसे हुए रोगकारक जीवाणु पूरे वेग से आक्रमण करके प्राणी को रोगग्रसित कर देते हैं। यह तथ्य जितना औपसर्गिक रोगों पर लागू होता है उतना ही ज्वरों पर लागू होता है। ज्वरों में अनेक औपसर्गिक हैं पर कुछ निज भी होते हैं जिनकी उत्पत्ति में अभिघात या ट्रौमा (*Trauma*) का भी विशिष्ट स्थान होता है। उदाहरण के लिए चरक संहिता के वातिक ज्वर—जो एक निज रोग है के निदान की ओर दृष्टिपात किया जाय तो उसमें जो रोगोत्पादक अवस्थाओं की सूची दी गई है उसमें अभिघात भी है। सद्यः स्मरणार्थं तथा विषय के सम्यक् प्रतिपादनार्थं चरकीय वातरोगोत्पादक तथ्यों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है :—



आमाशय में आश्रित दोष, कोष्ठ (आमाशय, पक्वाशय, अग्न्याशय, मूत्राशय, रक्ताशय, हृदय, उण्डुक और फुफ्फुस) की अग्नि को बाहर निकालकर रस और रक्त के अनुगामी होकर ज्वर उत्पन्न करते हैं।

संकेत—१. आमाशयाश्रित दोष २. कोष्ठाग्नि ३. रसानुग दोष



रुक्षलघुशीतवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोगव्यायामवेगसन्धारण अनशन अभिघात व्यवायोद्वेगशोकशोणितातिषेकजागरण विषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपं आपद्यते ।

इस उपर्युक्त सूची में आहार दोष, पञ्चकर्म दोष परिश्रम, वेगधारण, लंघन, अभिघात, परिश्रमाधिक्य, मनोद्वेग और शोक, जागरण और शरीर की विषम चेष्टाओं के द्वारा वायु के प्रकुपित होने की घटना बतलाई गई है। इनमें से एक-एक या अनेक कारणों के उपस्थित होने से ही वातिक ज्वर बनता है।

रोग मार्गों के विषय में लिखते हुए मैक्स्वीने श्वसन-मार्ग को प्रथम स्थान देता है, महास्रोत (गैस्ट्रो-इंटेस्टीनल ट्रैक्ट) को दूसरा तथा त्वचा को तीसरा स्थान बतलाता है। जहां से रोगकारक उपसर्ग मानव शरीर में प्रवेश करता है।

ज्वर की उत्पत्ति—एक शब्द चित्र

ज्वर की उत्पत्ति में भी इन्हीं रोगमार्गों का अवलम्बन रोगकारक कारण करते रहते हैं।

वातिक ज्वर शरीर में कैसे उत्पन्न होता है इसका शब्दचित्र इन शब्दों में आचार्य पुनर्वसु ने प्रस्तुत किया है—

१. स (वातः) यदा प्रकुपितः
२. प्रविश्यामाशय
३. ऊष्मणा सह मिश्रीभूय
४. आद्य आहार परिणामधातुं रसनामानं अन्ववेत्य
५. रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय
६. अग्निं उपहत्य
७. पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य केवलं शरीरं अनुप्रपद्यते
८. तदा ज्वरं अभिनिर्वर्तयति

अर्थात् पहले वायु कुपित होती है वह प्रकुपित वायु आमाशय में प्रवेश करती है फिर वहां पर स्थित ऊष्मा के साथ मिलती है। दूसरे आहार की आदि परिणाम धातु रस के साथ जाकर दो कार्य करती है। एक रसवह स्रोतों तथा स्वेदवाही स्रोतों का अवरोध करती है तथा दूसरे जाठराग्नि का उपहनन करती है।

तीसरा कार्य इस प्रकुपित वायु का यह रहता है कि उपर्युक्त क्रियाएं पूर्ण करने के बाद इस अन्नपाचन में सतत संलग्न पाचकाग्नि को पचनसंस्थान से बाहर निकाल कर उसे सारे शरीर में ले जाती है। जिससे सारा शरीर गरम हो जाता है और इस प्रकार ज्वर की या वातज्वर की उत्पत्ति होती है।

प्रकुपित पित्त इसी प्रकार आमाशय में पहुंच ऊष्मा के पास पहुंच रसधातु के साथ मिल रस-स्वेदवह स्रोतों का अवरोध कर स्वयं के द्रव होने से (अंगार को जैसे गरम जल बुझा देता है वैसे ही) अग्नि को बुझा पचनसंस्थान से ऊष्मा को बाहर निकाल कर सारे शरीर को गरम करके पैत्तिक ज्वर उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार विविध शारीरिक और मानसिक कारणों से कुपित हुआ कफ आमाशय में जाकर ऊष्मा के साथ मिलकर आद्यआहार परिणामधातु रस के साथ यथोक्त-क्रम से मिल कर रसवह और स्वेदवह स्रोतसों को बन्द करके कफज्वर पैदा करता है।

निजज्वरों की इस गाथा को समझते ही चिकित्सक या वैद्यराज अपने कर्त्तव्य का पूर्वाभास कर सकता है। वह जानता है कि विविध खाद्यपेय पदार्थों के अनुचित उपयोग से, विविध विहारों में लापरवाही बरतने से अभिघात-मनोद्वेग-शोक आदि वातिक, क्रोध रूप पैत्तिक तथा हर्षादि श्लैष्मिक मानसिक कारणों से वात या पित्त या कफ दोष प्रकुपित होते हैं। यदि हम किसी प्रकार यह दोष प्रकोप न होने दें तो आगे की ज्वरोत्पादिनी कोई भी क्रिया नहीं होगी और निजज्वरों की उत्पत्ति एक दम रुक जायगी।

ज्वर का स्वरूप

हरिवंशपुराण में ज्वर को कालान्तक यमोपम बतलाया गया है—

ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः षड्भुजोनवलोचनः ।
भस्मप्रहरणो रौद्रःकालान्तकयमोपमः ॥

भगवान् रुद्र या शंकर को प्रलयकारी माना गया है।

वह जो नाश करके प्रलय करता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश में यह तीसरी शक्ति है जिससे सभी डरते हैं। उसके कोप से इसकी उत्पत्ति हुई है।

दक्षापमानसंक्रुद्धः रुद्रनिःश्वास सम्भवः।

इस कारण यह रौद्र अर्थात् महाभयानक व्याधि है। आज भी प्रलयकारी अस्त्र एटम बम माना जाता है जो साक्षात् रुद्रकोप ही है—कोपोद्भवत्वेन तैजसत्वं प्रकाश्यते; क्रोधो हि आग्नेयः। इस दृष्टि से इस परमाणु बम की तैजसता और आग्नेयता अति प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में दक्षयज्ञ के नाश में रुद्र ने क्रोधित होकर इसी प्रकार के किसी महाभयानक अस्त्र का निःक्षेपण किया होगा जिसके कारण उत्पन्न ऐटोमिक रैडियेशनों से जगत् में ज्वर की उत्पत्ति हुई होगी।

ऐसी उत्पत्ति के कारण जगत् में सर्वप्रथम आविर्भूत ज्वर नामक व्याधि को जटिल तत्त्व प्राप्त करना सदैव आसान है इसे जानकर ही वैद्य को ज्वर की चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए।

इस स्थान पर विदेह के इस बचन को भी हृदयंगम करना अनुचित न होगा—

ज्वरस्तु पूजनैर्वाऽपि सहसैवोपशाम्यति ॥

अर्थात् यतः ज्वर देवकोपजन्य व्याधि है और देवकोप किसी शान्ति हेतु देवार्चना पूजा का विधान है इसलिए किसी भी ज्वर में रुद्रदेव की पूजा कराने से वह सहसा दूर भी हो जाता है। पूजा-पाठ के महत्त्व को हम भूलते जाते हैं। पर मन्त्र-चिकित्सा पर लोगों ने नये सिरे से ध्यान दिया है इस दृष्टि से जटिल रोगों में दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा भी की जा सकती है तथा युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा के साथ उसकी उपयोगिता भी है इसे भी हमें जान लेना चाहिए।

ज्वर किसे कहा जावे ?

भगवान् धन्वन्तरि अपने प्रिय शिष्य सुश्रुत को बतलाते हैं—

स्वेदावरोधः संतापः सर्वांगग्रहणं तथा।
युगपद् यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥

जिसमें स्वेदवह स्रोतों का प्रायः अवरोध हो जावे, सारे अंग जकड़ जावें और संताप (देहताप तथा मनस्ताप) उत्पन्न हो जाय। ये तीनों लक्षण एक साथ पैदा हों तब शरीर की वह स्थिति ज्वर कहलाती है।

देह सन्ताप जानने का आधुनिक तरीका थर्मामीटर का उपयोग है। सामान्यतः ९८° फै. से ऊपर ताप या टेम्परेचर होने पर शरीरगत ताप की वृद्धि मानी जाती है। ९८.४° फै. के बाद ज्वरावस्था स्वीकार कर ली जाती है। प्राचीनकाल में जब थर्मामीटर नहीं था तब—

"इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं संतापलक्षणम्।"
—च. चि. अ. ३

इन्द्रियों में विकृति का आभास होना देहसन्ताप का लक्षण माना जाता था। यहां यह स्मरणीय है कि शरीर छूने से गरम लगना इसे स्पष्ट रूप से शास्त्रकारों ने प्रकट कम ही किया है। ऐसा क्यों हुआ यह कहने की आवश्यकता नहीं है। ज्वर कहते ही शरीर गरम होगा और टैम्परेचर बढ़ेगा इसे बिना ननु नच स्वीकार लिया जाता था।

मानससंताप के लिए आज तक कोई थर्मामीटर नहीं बन सका है, उसे तो चरकसंहिता के इस सूत्र से ही जाना जाता है—

वैचित्त्यमरतिग्लानिर्मनः सन्तापलक्षणम्।

देहमानससन्ताप ही ज्वर की प्रत्यात्मलिंगता मानी गई है—

ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः।
ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिन्न तप्यते ॥

ज्वर में शरीर का तप्त होना और मन का खिन्न होना दोनों ही चाहिए। धूप में या आग के सामने कारखानों में या इञ्जन में काम करने वालों का शरीर तप्त हो जाने पर भी वे ज्वर ग्रसित नहीं होते।

ज्वर के चरकोक्त भेद

चरक संहिता में ज्वर कई प्रकार के बतलाए हैं। उनकी आठ श्रेणियां दी गई हैं।

१. शारीर-मानस ज्वर।
२. सौम्य-आग्नेय ज्वर।



३. अन्तर्वेग-बहिर्वेग ज्वर ।
४. प्राकृत-वैकृत ज्वर ।
५. साध्य-असाध्य ज्वर ।
६. पंचम विध ज्वर—[१] सन्तत ज्वर
[२] सतत ज्वर
[३] अन्येद्युष्क ज्वर
[४] तृतीयक ज्वर
[५] चातुर्थक ज्वर
७. सप्त विध ज्वर—[१] रसगत ज्वर
[२] रक्तगत ज्वर
[३] मांसगत ज्वर
[४] मेदोगत ज्वर
[५] अस्थिगत ज्वर
[६] मज्जागत ज्वर
[७] शुक्रगत ज्वर
८. अष्ट विध ज्वर—[१] वातिक ज्वर
[२] पैत्तिक ज्वर
[३] श्लैष्मिक ज्वर
[४] वातपैत्तिक ज्वर
[५] वातश्लैष्मिक ज्वर
[६] श्लेष्मपैत्तिक ज्वर
[७] सन्निपातिक ज्वर
[८] आगन्तुक ज्वर

इनमें से प्रत्येक श्रेणी का विषद वर्णन करना इस चिकित्साङ्ग की विषय परिधि के बाहर होने से देना संभव नहीं है पर जिन कारणों से ज्वर में जटिलता आ सकती है उनकी दृष्टि से ही इन सबका विचार करना अभिप्रेत है। इस दृष्टि से निम्नांकित तथ्यों की ओर चिकित्सक को ध्यान देना ही होगा।

१. वायु की योग वाहिता

वातदोष योगवाही होता है। जब वह अग्नि या पित्त से मिलता है तो दाह या गर्मी पैदा करता है तथा जल या कफ से मिलने पर सर्दी या शीत या कम्प उत्पन्न करता है। इसलिए जिस ज्वर में गर्मी अधिक लगे (दाह पूर्वी) उसमें पित्त के विरुद्ध द्रव्य प्रयुक्त करने के साथ वायु का रोल नहीं भूलना चाहिए। उसी प्रकार जिसमें कम्प या शीत अधिक लगे (शीतपूर्वी) उसमें कफोपचार के साथ वातदोष की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

२. अन्तर्वेग ज्वर या टॉग्जीमिया

कभी-कभी ज्वर शरीर के अन्दर रहता है पर त्वचा ठण्डी रहती है। कभी कभी बाहर आदमी जलता रहता है पर अन्दर से फुरफुरी आती रहती है। ये दोनों परिस्थितियां रोग की जटिलता को प्रकट करती हैं। ज्वर की अन्तर्वेगता और बहिर्वेगता से भी चिकित्सक को सावधान रहना चाहिए। बहिर्वेग ज्वर सदा कष्ट साध्य रहता है—

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः ॥
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत्।

रोगी अन्दर से जलता रहता है, बहुत प्यास होती है, प्रलाप या बकझक करता है, श्वास की गति बढ़ जाती है, चक्कर आते हैं, अस्थि-संधियों में दर्द होता है, पसीना आता नहीं है, दोष निकलते नहीं हैं तथा टट्टी आती नहीं है। ये अन्तर्वेगज्वर के लक्षण हैं। ये लक्षण आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के टॉग्जीमिया (*Toxaemia*) के अन्तर्गत आते हैं। इसलिए प्रत्येक जटिल रोग विशेषज्ञ को अन्तर्वेग ज्वर और टॉग्जीमिया के साम्य को समझना होगा। शास्त्र में जो अस्वेद शब्द दिया है उसका सामान्य अर्थ तो पसीना नहीं आना किया ही जाता है। टॉक्जीमिया की दृष्टि से उसे अतिशयस्वेद तक लिया जा सकता है।

आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों का मत है कि उपसर्ग और संक्रमणजन्य रोगों में रोगकारक जीवाणुओं के आक्रमण से रोगी के शरीर में कुछ सामान्य (जनरल) लक्षण देखे जाते हैं जिनका कारण जीवाणुओं के शरीर से निकलने वाला विष होता है। परन्तु ये जो सामान्य अन्तर्वेगज लक्षण बनते हैं वे जीवाणुओं द्वारा ही बनते हों ऐसा नहीं माना जाता—

These can not be ascribed to bacterial toxins alone Undoubtedly, they make a contribution, but the products of the consequent tissue destruction must also be important.

उनके द्वारा शरीर धातुओं का विनाश होना और उस विनाश के उत्पाद भी इन लक्षणों की उत्पत्ति में योगदान करते हैं। राइटीय मत को भी हृदयङ्गम करना होगा। आयुर्वेदज्ञों ने अपना सारा ध्यान शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग के आधारभूत चतुर्विंशतितत्त्वात्मक राशिपुरुष की ओर ही केन्द्रित किया था, उसी की रक्षा और दृढ़ता सतंजीवी व्यक्ति के निर्माण में सहायक होती है इसलिए जीवाणुओं की ओर ही ध्यान न देकर उन्होंने अनेक दृष्टि से रोगों के कारणों का विचार किया है।

जहां राइट लिखता है कि—

An elevation of body temperature is an almost invariable accompaniment of bacterial infection.

शरीर के टेम्परेचर का आधिक्य रोगकारक जीवाणुओं के उपसर्ग का अचल या नित्य साथी है वहां वह यह कहना भूल जाता है कि यह वृद्धि और भी कारणों से हो सकती है जिसमें ये जीवाणु होते ही नहीं। आयुर्वेद के समस्त निज ज्वर इसके उदाहरण हैं। पर निज ज्वरों में बैक्टीरियल इन्फेक्शन बिल्कुल ही नहीं होता इसे जानने के लिए निरन्तर बड़े पैमाने पर शोध या अनुसंधान को नकारा नहीं जा सकता है।

३. प्राकृत वैकृतज्वर

वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः॥

वर्षाऋतु का वातिक ज्वर, शरद् ऋतु का पैत्तिक ज्वर, वसन्त ऋतु का श्लैष्मिक ज्वर प्राकृत ज्वर कहलाता है। वर्षा में पैत्तिक या श्लैष्मिक ज्वर का होना, शरद् में वातिक या श्लैष्मिक ज्वर का मिलना तथा वसन्त में वातिक या पैत्तिक ज्वर का प्राप्त होना यह सब ज्वरों की श्रेणी वैकृत ज्वरों के अन्तर्गत आती है। इनमें वसन्त ऋतु में उत्पन्न कफज्वर तथा शरद् ऋतु में उत्पन्न पित्तजज्वर तो सुखसाध्य होते हैं—

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः।

तथा वर्षा ऋतु का वातिक ज्वर एवं समस्त वैकृत ज्वर दुःसाध्य और जटिल रूप धारण कर लेते हैं।

यहां विजयरक्षित की इस उक्ति को भी स्मरण रखना चाहिए—

अन्यरोगेषु प्राकृतत्वेन दुःसाध्यत्वं, ज्वरस्य तु व्याधिप्रभावात् सुखसाध्यत्वम्। तन्त्रान्तरं हि— "ज्वरेतुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्।" इति

अर्थात् ज्वर को छोड़कर अन्य सभी रोग प्राकृत श्रेणी में आने पर जटिल या कष्टसाध्य होते हैं। प्राकृत ज्वर का सुखसाध्य होना यह व्याधि प्रभाव के कारण ही है। तन्त्रान्तर में ज्वर, प्रमेह और रक्तगुल्म इन तीन की सुखसाध्यता की तीन शर्तें दी हैं। ज्वर तुल्य ऋतु में उत्पन्न हो अर्थात् प्राकृत हो। प्रमेह में तुल्य दूषिता हो जैसे कफज प्रमेह तथा रक्तगुल्म पुराना पड़ गया हो—

मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः।

जटिलरोगों के सफल चिकित्सक को अपनी चिकित्सा में किसी ज्वर के रोगी लेते समय उसके रोग की प्राकृतता और वैकृतता पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

४. ज्वर की सामता और निरामता

जटिलरोगवेत्ताओं को ज्वर की सामता और निरामता की ओर भी ध्यान रोगी के आते ही देना आवश्यक होता है। आम ज्वर, पच्यमान ज्वर तथा निराम ज्वर इन तीन अवस्थाओं के लक्षण शास्त्र में मिलते हैं—

लालाप्रसेको हृल्लासः हृदयाशुद्ध्यरोचकाः।
तन्द्रालस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता॥
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवां ज्वरः।

ये आम ज्वर के लक्षण हैं। इसमें सभी लक्षण कफ प्रकोप के हैं। कफ दोष का शरीर में देर तक संचय होने के बाद उसका प्रकोप होता है। प्रकुपित दोष का जब पूर्वक प्रसर होता है तब सारा शरीर ज्वर से अभिभूत हो जाता है लार और मूत्र का त्याग तो बहुत होता है पर सारा शरीर अवसादित या डिप्रैस्ड हो जाता है। ज्वर यहां कफज ज्वर की तरह मन्द न होकर बलवान् स्वरूप का होता है। यह आम दोषज ज्वर है। इसमें टिश्यूज का विनाश होकर आमरस का संवहन शरीर भर में होता है। रस के परिपक्व न होने का कारण जाठराग्नि



की मन्दता है। चरक ऐसी स्थिति में निर्देश करता है—

न दद्यात् तत्र भेषजम्।

अर्थात् आमज्वर में औषधि न दो। किन्तु विजयरक्षित इसे इस प्रकार समझाते हैं—

ननु, न दद्यात्तत्र भेषजमिति विरुद्धं द्विविधं हि भेषजमुक्तं चरकेण द्रव्यभूतं अद्रव्यभूतं च इति। तत्र द्रव्यभूतं कषायादि, अद्रव्यभूतं लङ्घन स्वेदादि, अत्र लङ्घनादिकं षडङ्गार्धश्भृतं च प्रयुज्यते। उच्यते-भेषजशब्देन अत्र अन्नापनसाधनव्यतिरिक्ता कल्पना उच्यते, न तु सामान्येन औषधमात्रं; कथं एषा प्रतीतिः इति चेत्, तरुणज्वरे भेषजपाननिषेधेऽपि भेषजविधानदर्शनात् एवं पच्यमानेऽपि बौद्धव्यं तत्र अपि सामतायाः सद्भावात्।

यह सरल होने से अर्थ देना अनावश्यक है। सारांश यह है कि आम ज्वर में द्रव्यभूत कषाय, रस, रसादिक का प्रयोग न कर अद्रव्यभूत लंघन, स्वेदन तथा षडङ्ग-पानीय और तप्त जल का प्रयोग ही करना चाहिए। चरक ने स्वयं इस विषय में न दद्यात् तत्र भेषजं का कारण निम्न शब्दों में सुस्पष्ट किया है—

भेषजं हि आमदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्।
शोधनं शमनीयं च करोति विषम ज्वरम्॥

कि आमदोषज ज्वर में भेषज प्रयोग ज्वर को और तेज कर देता है। शोधन द्रव्यों के प्रयोग अथवा शमनीय योगों को देने से ज्वर विषम रूप धारण कर लेता है अर्थात् छोड़ छोड़ कर पारी से आने लगता है।

जो लोग हर विषमज्वर को मलेरिया मानकर चलते हैं उन्हें शास्त्र के उक्त निर्देश को भले प्रकार समझ लेना चाहिए। कोई भी निज ज्वर आमावस्था में दवाओं द्वारा चिकित्सित होने पर विषमता को प्राप्त हो सकता है। जटिलरोगवेत्ता को विषमज्वर और मलेरिया के साक्षेप निदान को समझना ही होगा। क्योंकि हर विषमज्वर मलेरिया नहीं है, जबकि मलेरिया स्वयं एक सुप्रसिद्ध विषम ज्वर है।

आमज्वर के लक्षण

टॉग्जीमिया के उन ज्वरों के लक्षणों से मिलते हैं जो रोगकारक बैक्टीरिया द्वारा उनके अन्तः विष या बहिर्विष के प्रभाव से बनते हैं। यदि चिकित्सक अन्तर्वेगी टांग्जीमिया जन्य ज्वर तथा आमज्वर में अन्तर नहीं कर सकता तो उसे चिकित्सा कर्म से विश्राम ले लेना चाहिए। क्योंकि आमज्वर में औषध प्रयोग भयंकरता पैदा करता है जबकि अन्तर्वेगज टांग्जीमिया जन्य ज्वर में तत्काल औषध प्रयोग न करने से रोगी तत्काल मर सकता है।

आमज्वर में अग्नि अत्यन्त क्षीण रहती है। कोई भी दवा मुख द्वारा देने से जाठराग्नि के क्षीण होने से जीर्ण नहीं हो पाती उसका लाभ तो नहीं मिलता उसके पड़े रहने और सड़ने से ज्वर और तीव्र रूप धारण कर लेता है।

ज्वर के कारण शरीर क्षीण होने लगता है। आमावस्था में जाठराग्नि तो कम हो ही जाती है धात्वग्नियां जो जाठराग्नि के सहारे ही उद्दीप्त होती हैं उनके भी मन्द हो जाने से यदि रोगी को इस अवस्था में ग्लूकोज की बोतल भी चढ़ाई जावेगी जो रोटी या कार्बोहाइड्रेट के जाठराग्नि के पाक का अन्तिम द्रव्य ग्लूकोज का धातुओं में पहुँचाना है वह भी धात्वग्निमान्द्य के कारण धातुओं में सड़न पैदा कर ज्वर को बढ़ा देगा।

जबकि टांग्जीमिया में जाठराग्नि मन्द नहीं होती उसे जीवाणु विष बाहर निकाल कर उसके द्वारा अन्न पाचन में बाधा डाल देता है ज्वर के इस प्रकार उत्पन्न होने में धात्वग्नियां आम दोष से मुक्त और अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहने के कारण सिरा द्वारा चढ़ाई गई ग्लूकोज (५ प्रतिशत) की बोतल धातुओं का सन्तर्पण कर उनको विष के प्रभाव से आंशिक मुक्ति और राहत दे देती है। यदि इसी समय आयुर्वेदिक या ऐलोपैथिक तत्तद् जीवाणुनाशक दवा का प्रयोग और कर दिया जाय तो रोगी ज्वर तथा अन्य रोग लक्षणों से भी मुक्त हो जाता है।

ज्वरों में मुख द्वारा दी गई ज्वरध्न आयुर्वेदिक या ऐलोपैथिक दवा इस लिए अच्छा काम नहीं करती क्योंकि इस दवा को जीर्ण करने वाली जाठराग्नि मन्द पड़ चुकी है। इस लिए जटिलज्वरों में आयुर्वेदिक या ऐलोपैथिक

इंजैक्शन उसी समय तक अच्छा काम करते हैं जब तक कि धात्वाग्नियां शिथिल नहीं होतीं; दीर्घकालानुबन्धि ज्वरों में इन धात्वग्नियों की मन्दता के कारण चिकित्सा व्यर्थ जाती है और असाध्यता का कारण उपस्थित कर देती है।

आयुर्वेद ने अग्निसन्धुक्षण पर जो जोर दिया है वह समस्त आयुर्वेदीय चिकित्सा की प्रथम और अन्तिम कुंजी है।

आमज्वर के बाद पच्यमानज्वर आता है। यह ज्वर की पच्यमानावस्था है इसके लक्षण टांक्जीमिया जन्य ज्वर के अनुरूप ही हैं:—

ज्वरवेगोऽधिकस्त्रतृष्णा, प्रलापः श्वसनं भ्रमः।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम्॥

इस काल में आमता दूर होने लगती है और दोषों का परिपाक चालू हो जाता है। ज्वर का वेग बढ़ जाता है प्यास तीव्र हो जाती है रोगी बकझक करता है श्वास और भ्रम तथा मल प्रवृत्ति होने लगती है तथा उत्क्लेश *(nausea)* भी होता है।

पच्यमानावस्था के बीतने पर ज्वर निराम हो जाता है आठवें दिन ज्वर की निरामता प्रायः हो जाती है। ऐसा चरक का मत है। निराम ज्वर के लक्षण—

क्षुत्क्षमता लघुत्वं च गात्राणां ज्वर मार्दवम्।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षम्॥

रोगी को भूख लगने लगती है, शरीर कृश या क्षाम हो जाता है। किन्तु आमज्वर की गुरुगात्रता लघुत्वं च गात्राणां में बदल जाती है, ज्वर का वेग हलका हो जाता है ज्वर आमावस्था में १००-१०२° F पच्यमानावस्था में १०२-१०४° फै. तथा निरामावस्था में ९९-१००° फैं तक ही रहता है। आठवें दिन दोषप्रवृत्ति या अपान वायु का गुदमार्ग से निष्कासन होने लगता है।

सामता के विषय में विजयरक्षित ने बहुत विस्तृत विचार किया है। वह लिखता है—

द्विविधा हि सामता—सामता दो प्रकार की होती है।

एका रसस्य अपरा दोषस्य—एक सामता रस की और दूसरी दोष की होती है।

रस सामता तु मुखवैरस्यादि लक्षण—रस की सामता तो मुख की विरसता, तन्द्रा, आलस्यादि लक्षणों वाली होती है।

दोषसामता तरुणत्वरूपा, सा अष्टाहेनैव अपैति—दोष सामता तरुणाई वाली होती है जो आठ दिनों के अन्दर ही दूर हो जाती है।

रससामता तु अष्टाहात्परतोऽप्यनुवर्तते—रस की सामता तो आठ दिन के आगे भी चलती है।

एतत्प्रयोजनं च तरुणसामतायां औषधं नोपयुज्यते—इसका प्रयोजन यह है कि तरुण दोषज सामता में औषध प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

रससामतायां तु पाचनं दीयते—रस सामता में तो पाचन देने का विधान है।

इसके लिए उसने चरक और सुश्रुत से उद्धरण दिये हैं

ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्न प्रतिभोजितम्
पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम्॥

तथा—

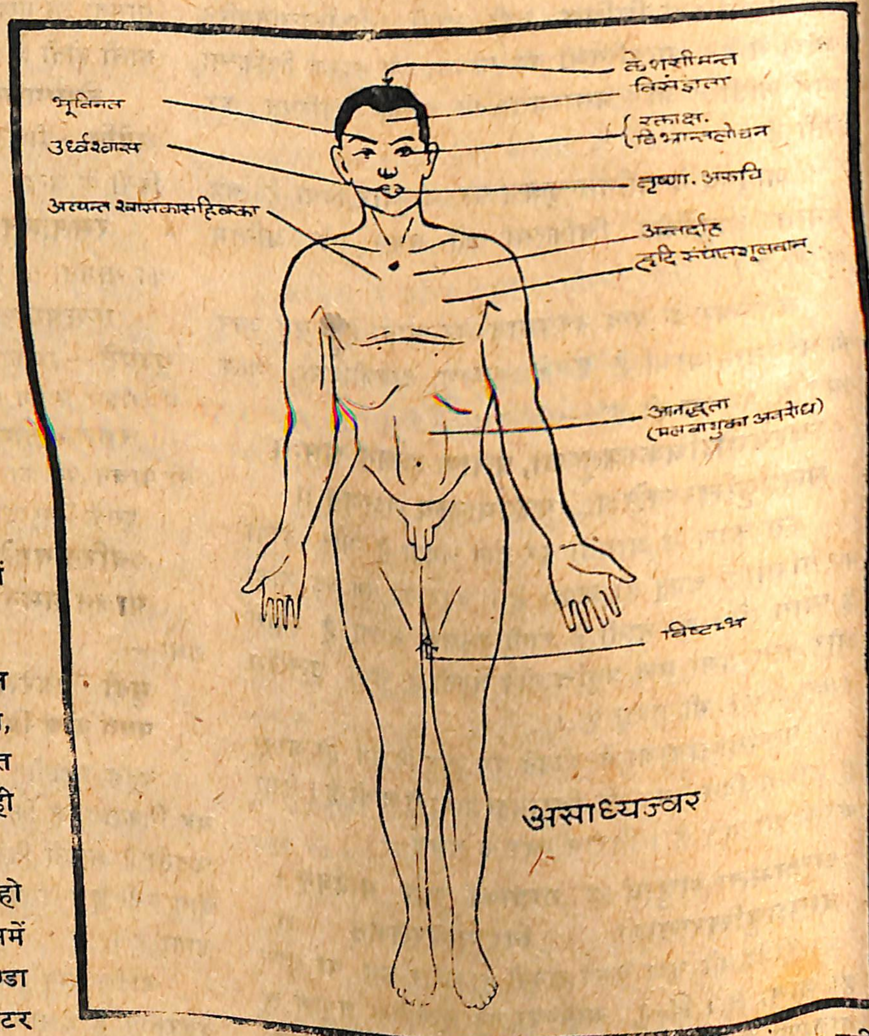
मृदौ ज्वरेलघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च।
पक्वं दोषं विजानीयात् ज्वरे देयं तदौषधम्॥

बहुत ऊहापोह इस विषय में करने के बाद निर्णय यह निकलता है कि ज्वर की सामता एक सप्ताह तक चलती है आठवें दिन ज्वरनाशक औषध दी जाने में कोई दोष नहीं है। उसके बाद पाचन देकर दोषों को पचाया जाता है।

जटिल रोग दृष्ट्या ज्वर की पच्यमानावस्था बहुत खतरनाक है। आमावस्था और निरामास्था के बीच में यह स्थिति आती है जब वृद्ध वैद्य औषध का निषेध एक स्वर से करते हैं पर आज का रोगी और उसके परिवार वाले औषध देने के लिए आकाश पाताल एक कर देते हैं। व्यापार की दृष्टि से इलाज करने वाले यदि आम ज्वरी को लंघन और गरम पानी पर सूखा टरकाते है तो रोगी दूसरे डाक्टर पर दौड़ जाता है। रोगी के हिताहित का विचार करते हुए भी औषध प्रयोग आज के युग की मांग है। आतुरालय में अन्तरंग कक्ष में लेटे हुए रोगी को शास्त्रविहित मार्ग पर चलने को विवश किया जा सकता है प्राइवेट प्रैक्टिस में नहीं।

५. ज्वर की साध्या-साध्यता

हर चिकित्सक को ज्वर की साध्यता या असाध्यता का भी बराबर विचार करते रहना चाहिए । रोगी बलवान् हो, दोष थोड़े ही कुपित हुए हों और उपद्रव कोई न हो तो ज्वर साध्य किन्तु रोगोत्पत्ति में कारण बहुत से हों, वे कारण सबल भी हों, ज्वर के साथ बहुत से लक्षण भी मिले हों तो ऐसी स्थिति इन्द्रियों की नाशक तथा रोगी के प्राणों का अन्त करने वाली होती है ।



सुश्रुत उत्तरतन्त्र में असाध्य ज्वरों के कई वर्ग दिये हैं:—

(१) रोगी क्षीण हो, अत्यन्त रूक्ष हो, ज्वर आरम्भ से ही विषम हो, रोग दीर्घकालानुबन्धी हो और अन्तर्वेगी या गम्भीरधातुस्थ हो तब ही रोगी को मार डालता है ।

(२) रोगी विसंज्ञ और मूर्च्छित हो सोता सा हुआ पड़ा रहे उठनेकी जिसमें सामर्थ्य न हो, बाहर से शरीर ठण्डा हो अन्दर मुख या गुद में थर्मामीटर लगाने से तापक्रम १०४° फै. तक जाय ऐसा व्यक्ति ज्वर से ही मर जाता है ।

(३) जिस रोगी के सर्दी के कारण रोंगटे खड़े हो गये हों आंखें लाल सुर्ख हों, हृदय में जिसके संघात तथा हृदय शूलउत्पन्न हो गया हो, नाक से श्वास का लेना कठिन हो और मुंह फाड़-फाड़ कर श्वास ले रहा हो ऐसा ज्वर रोगी को मार डालता है ।

(४) रोगी को हिचकियां आती हों श्वास और तेज प्यास हो, मूढ़ या बेहोश हो, विभ्रान्त लोचन (भ्रान्त चलित दृष्टि) हो लगातार खर श्वास आ रही हो ऐसे क्षीण हुए रोगी को ज्वर मार लेता है ।

(५) रोगी हतप्रभ हो, इन्द्रियां काम न कर पा रही हों, क्षीण हो, भोजन के प्रति पूर्ण अरुचि हो, ज्वर का गम्भीर वेग (अन्तर्वेग) हो तथा तीक्ष्ण वेग (तेज बुखार) हो ऐसे ज्वरी को चिकित्सक को छोड़ देना चाहिए ।

चरक का यह श्लोक भी ध्यान में रखा जाना चाहिए—

ज्वरः क्षीणस्यशूनस्य, गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ।
असाध्यो बलवान् यश्च, केशसीमन्तकृज्ज्वरः ।।

रोगी दुर्बल हो सूजा हुआ हो, उसे गम्भीर ज्वर हो ज्वर दीर्घकाल से हो बलवान् हो केशों की सीमाएं बांधने वाला हो वह असाध्य होता है । असाध्य ज्वर के लक्षणों का यह चित्र भी द्रष्टव्य है ।

गम्भीर ज्वर का लक्षण—

गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो, ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया।
आनद्धत्वेन चात्यर्थं, श्वासकासोद्‌गमेन च ॥

अर्थात् गम्भीर ज्वर वह है जिसमें अन्तर्दाह, तृष्णा, अत्यधिक आनाह अथवा बद्धदोषतां जिसमें हो तथा कास और श्वास उत्पन्न हो गये हों। गम्भीर के सम्बन्ध में विजयरक्षित लिखते हैं कि जिसे चरक ने अन्तर्वेगज्वर कहा है उसी को सुश्रुत ने गम्भीर ज्वर नाम दिया है।

इसी मधुकोष टीका में कई असाध्य ज्वरों का चित्रण किया गया है।

(१) स्वप्न में जो मुर्दों के साथ मद्यपान करे, जिसे मुर्दे घसीट रहे हों तथा जिसे भयंकर ज्वर चढ़ता हो वह अपने जीवन का शीघ्र परित्याग करने वाला होता है।

(२) बल और मांस हीन रोगी को यदि पूर्वाह्न में ज्वर रहता है और शुष्ककास दारुणता को प्राप्त हो गई हो वह रोगी मुर्दा ही समझना चाहिए।

(३) बल मांस विहीन अपराह्न में ज्वर जिसे चढ़े तथा जिसे दारुण कफज कास का उपद्रव हो वह भी प्रेत ही है।

(४) जिसे सहसा ज्वर चढ़े, ताप और तृष्णा अधिक हो बलक्षय भी सहसा हो गया हो तथा मूर्च्छा आ गई हो साथ ही सन्धियों का विश्लेषण हो गया होवह मुमूर्षु हो जाता है।

(५) जिसके शरीर से सवेरे ही सवेरे खूब पसीना आवे जो प्रलेपक ज्वर में उपसृष्ट हो उसका जीवन दुर्लभ ही होता है।

[क] मृत्युश्च तस्मिन् बहुपिच्छिलत्वात्
शीतस्य जन्तोः परितः सरत्वात्।
स्वेदो ललाटे हिमवन्नरस्य
शीतार्दितस्यातिसुपिच्छिलश्च ॥
कण्ठे स्थितो यस्य न याति वक्षो
नूनं यमस्यैति गृहं स मर्त्यः ॥

यह शीतांग सन्निपात की स्थिति है जिसमें शांक एण्ड कौलैप्स *(shock & collapse)* एक साथ आते हैं। रोगी का शरीर ठण्डा और चिपचिपा हो, ललाट पर चिपकना ठण्डा पसीना *(cold & clemmy) perspiration* आ रहा हो श्वास कण्ठ में तो चलती हो पर वक्ष में न पहुँचती हो वह यमालय के जाने वाला है ऐसा समझ सकते हैं।

(७) ललाट पीसने से भर गया हो सन्धि बन्धन ढीले पड़ गये हों उठाने पर भी जो बेहोश हो जाता हो वह स्थूल या बलवान् होने पर भी नहीं जीता।

(८) जिस ज्वरी को पसीना बहुत निकल रहा हो जो सब स्थान पर चिपचिपा हो तथा रोगी का शरीर ठण्डा पड़ गया हो ऐसा व्यक्ति भी नहीं जीता।

(९) आतंकदर्पणकार श्री वाचस्पति वैद्य ने भी ऐसी ही दो असाध्य ज्वर की अवस्थाओं की ओर इन पंक्तियों में इङ्गित किया है:—

[क] आविलाक्षं प्रताम्यन्तं निद्रायुक्तमतीव च।
क्षीणशोणित मांसञ्च नरं क्षपयतिज्वरः ॥

[ख] यस्ताम्यति स्वपिति शीतलगात्रयष्टिः,
अन्तर्विदाहसहितः स्मरणादपेतः।
सोच्छ्वासवान् कुपितरोमचयः सशूल,
तं वर्जयेद् भिषगिह ज्वरितं विधिज्ञः ॥

ज्वर की ये तथा अन्य अनेक असाध्य अवस्थाएं चिकित्सकों के द्वारा प्रायः मिलती रहती हैं। इनमें अनेक विविध चिकित्सा ग्रन्थों में वर्णित भी हैं। आधुनिक चिकित्सा पद्धति की पुस्तकों में भी इनमें से बहुतों का उल्लेख है। इन अवस्थाओं में उससे कुछ पूर्व भी रोगी जटिलरोग चिकित्सकों के पास आते हैं। उनका कर्तव्य है कि वे—

i. रोगी को ध्यान से देखें।

ii. उसके ज्वर को निराम करें।

iii. उसके उपद्रवों को शान्त करें।

iv. उसकी मुमूर्षता जिन लक्षण विशेषों से बन रही हो उन्हें हटावें।

v. साहस के साथ उचित उपचार में तत्पर हो जायं तो कोई कारण नहीं कि इन अनेक असाध्याभासी परिस्थितियों में से वे रोगी को बचा कर उसे प्राणदान दे सकते हैं।

ऊपर बतलाई हुई विविध अवस्थाओं से कई ऐसी हैं जो नव्य ज्ञान तथा आयुर्वेदीय गवेषणा के नये कीर्तिमानों के आधार साध्य बना दी गई हैं।



विषम ज्वर

प्रस्तुत लेख आचार्य त्रिवेदी जी द्वारा लिखित पूर्व लेख 'ज्वर एक अध्ययन' का ही एक भाग है जिसे यहां पृथक् दिया जा रहा है इस लेख में विषमज्वर की परिभाषा, भेद, शरीर में विकृति तथा मलेरिया जीवाणु का जीवनक्रम प्राचीन तथा अर्वाचीन मतों से प्रस्तुत किया गया है। लेख के अन्त में आधुनिक चिकित्सा का विवरण भी दिया गया है जो पाठकों के लिये अत्यन्त उपादेय है। —गोपालशरण गर्ग।

आम ज्वर के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि यदि आम का पाचन होने के पूर्व ही शोधन या शमन-चिकित्सा की जाय तो ज्वर का स्वरूप विषम ज्वर का हो जाता है। आतंकदर्पणकार इस विषय में लिखता है—

'एतानि लक्षणानि आमज्वरे भवन्ति, तत्र भेषजं पाचनादि न देयं यदि दत्तं भेषजं तदा भूयो ज्वरं वर्धयति शोधनं यत्, यच्च शमनीयं तच्च विषमज्वरं कुर्यात्।'

सुश्रुत ने विषम की उत्पत्ति की एक और परिस्थिति इन शब्दों में व्यक्त की है :—

दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः।
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषम ज्वरम्॥

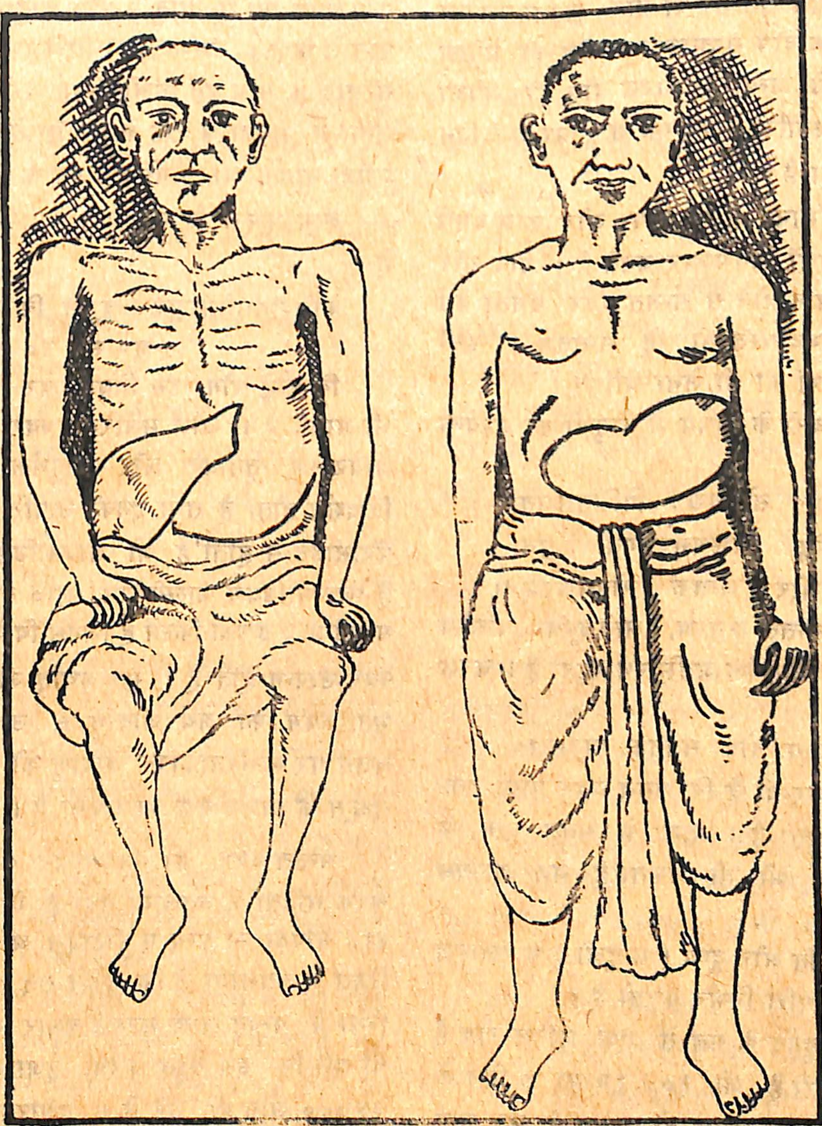
इसकी टीका में विजयरक्षित बतलाते हैं कि जब दोष अल्प बल होते हैं तब काल विशेष को पाकर लब्ध बल होने पर ज्वर की उत्पत्ति कभी-कभी करते हैं। बलवान् दोष तो नित्य ज्वर किया करते हैं। जब व्यक्ति अहित आहार विहार आचारादि करने लगता है तब अल्प बल दोष बढ़ जाते हैं और निवृत्त हुआ ज्वर पुनः चढ़ जाता है। कभी-कभी आरम्भ से ही ज्वर में विषमता पाई जाती है। माधुकि ने विषम ज्वर का निम्नलिखित लक्षण किया है—

यः स्याद् अनियतात्कालात् शीतोष्णाभ्यां तथैव च।
वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः॥

शीत या उष्ण दोनों में से किसी भी प्रकार का अनियमितकालिक तथा वेग से विषम चढ़ उतर कर आने वाला ज्वर विषमज्वर कहलाता है।

दोषकालबलावलात्

चरक ने पञ्चविध ज्वर सन्तत–सतत–अन्येद्युः तृतीयक–चातुर्थक को दोष बलाबलजन्य तथा कालबलाबलजन्य बतलाया है। ये ज्वर अनियतकालिक होते हैं। जो नियतकालिक ज्वर हैं वे अन्य या भिन्न वर्ग के ज्वर होते हैं। कालबलाबल का अर्थ है ज्वर काल का चढ़ना-उतरना (प्रकर्षाप्रकर्ष) सन्तत ज्वर में बलवान् दोषों के



कालाजार तथा जीर्ण विषमज्वर रोगी में अन्तर

जीर्ण लाघरक (कालाजार)	जीर्ण विषमज्वर
वृद्ध यकृत्प्लीहा और क्षीणमांस	वृद्ध प्लीहा और अक्षीण मांस (साधारण पुष्टि बहुत अच्छी)

द्वारा सात दिन तक लगातार चलता है। सन्तत ज्वर में दोष हीनबल होने के कारण ज्वरकाल अबल हो जाता है इस कारण ज्वर दिन-रात में दो बार चढ़ता-उतरता है। सतत ज्वरकारक दोष सन्ततकारक दोष की अपेक्षा हीन बल होते हुए भी अन्येद्युष्ककारक दोष की अपेक्षा बलवान् होता है। क्योंकि अन्येद्युष्क में ज्वर एक दिन में एक बार ही चढ़ता है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि दोष और काल दोनों के बलाबल पर ये पांचों विषमज्वर बनते हैं। दोष और काल दोनों ही बलवान् होने से सन्तत ज्वर बनता है। —कालदूष्य-प्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्। इसी तारतम्य में अन्य चारों को भी लेना चाहिए।

सुश्रुत ने इन ज्वरों के विषय में धातुओं का सम्बन्ध जोड़ा है :—

सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः।
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जगतः पुनः।
कुर्याच्चतुर्थकं घोरं अन्तकं रोगसंकरम्॥

इसके अनुसार सन्तत रसस्थ, अन्येद्युष्क मांसस्थ तृतीयक मेदःस्थ तथा चातुर्थक आस्थिस्थ रहता है। चरक ने भी—

रक्तधात्वाश्रयः प्रायः दोषः सततकं ज्वरम्।

लिखकर पुष्टि कर दी है कि सतत ज्वर प्रायः रक्त-धातु के आश्रित रहता है। प्रायः से सतत रक्त के अतिरिक्त रसधातुगत भी हो सकता है यह आभास मिलता है।

इस प्रकार काल, प्रकृति और दूष्य (धातुओं) के बलाबल पर इन ज्वरों की उत्पत्ति निर्भर करती है।

सन्तत ज्वर आयुर्वेद के मत से एक जटिल रोग है क्योंकि यह शीघ्रकारी है जो १०, १२ या ७ दिन के अन्दर उचित उपचार से शमन हो जाता है या मार डालता है—

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः।
सर्वदेहानुगाः स्तब्धता ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम्॥
दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः।
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा॥
कालदूष्य प्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्।
निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः॥

सन्तत का सम्बन्ध रस वाहिनियों से है। सतत का भी रक्तधातु के साथ सम्बन्ध है। अन्येद्युष्क का मांसधातु से तृतीयक का मेदोधातु से तथा चातुर्थक का अस्थिमज्जा धातुओं से है। उसका सूक्ष्म निरीक्षण करने से रक्तवह संस्थान के साथ इन पांचों विषमज्वरों का सम्बन्ध आ जाता है मज्जा में रक्त के निर्माण से लेकर यकृत् और प्लीहा नामक रक्तस्थानों तक इनका व्याप है।

आगे सुश्रुत ने एक अन्य का मत देते हुए लिखा है—

केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषम ज्वरम्॥
—सु० सं० उ० तं० अं० ३९

कि कुछ लोग इस विषम ज्वर को भूताभिषङ्गोत्थ भी मानते हैं। आज मलेरिया ज्वर में सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चातुर्थक इन पांचों का ही दिग्दर्शन होता है तथा इनकी उत्पत्ति मलेरिया उत्पादक पैरासाइट से होती है जो प्लाज्मोडियम जाति का होता है प्लाज्मोडियम फाल्सीपैरम, प्ला० वाइवेक्स और प्ला० मलेरी ये ३ इसकी किस्में हैं जिनसे विविध प्रकार के विषम ज्वर उत्पन्न होते हैं। भूत अर्थात् जीवाणु मान लेने पर भूताभिषंग का अर्थ जीवाणु से उत्पन्न ऐसा मानकर चलने पर मलेरियाकारक जीवाणु की खोज का इतिहास सुश्रुत के कारण तक जा सकता है।

सन्तत ज्वर या विषमज्वर को जितना घातक चरक संहिता में बतलाया गया है ऐसा वह रहा भी है। डा० चोपड़ा का ग्रन्थ ए ट्रीटाइज ऑन ट्रॉपिकल थेराप्यूटिक्स में बतलाया है कि अकेले सन् १९३६ ई० में मलेरिया ने पन्द्रह लाख सरसठ हजार लोगों की जानें ली थीं जब कि इस साल प्लेग, हैजा और चेचक से कुल ३५७०० लोग ही मरे थे। मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के कारण इसकी मारक शक्ति शून्य पर पहुंच गई थी परन्तु मलेरिया पुनः सिर उठा रहा है जिससे विषम ज्वर के रोगी पुनः गांव-गांव और नगर-नगर देखने में आ रहे हैं।

मलेरिया के प्रसार में तीन की श्रृङ्खला बनी हुई है। इसमें पहली कड़ी है मनुष्य जो मलेरिया के उपसर्ग का भण्डार अपने शरीर में भरे रहता है। दूसरी कड़ी

है मलेरियाकारक पराश्रयी प्लाज्मोडियम जो इस रोग को उत्पन्न करता है तथा तीसरी कड़ी है एनाफिलीज मच्छरी जो इस रोग को एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक ले जाती है। इन तीन के अतिरिक्त उष्णार्द्र जलवायु का इस पर प्रभाव पड़ता है। यही नहीं, जिन लोगों में मलेरिया के विरुद्ध क्षमता रहती है वे भी दुर्भिक्ष या स्थानान्तर गमन या अर्थाभाव से पीड़ित होने पर अपनी क्षमता खो बैठते हैं।

मलेरिया की विकृति

मलेरिया का पैरासाइट रक्त के लालकण में निवास करता है। मलेरिया के ज्वर के प्रत्येक आक्रमण पर २४ घंटे के अन्दर १० लाख या उससे कुछ ऊपर ही रक्त के लालकणों को प्रति घन मिमी रक्त में से यह जीवाणु नष्ट कर डालता है। शुरू के ज्वर के वेगों में लालकणों का विनाश बहुत अधिक होता है जो बाद के आक्रमणों या वेगों में घटता चला जाता है। मारात्मक (*Malignant*) मलेरिया में विषाक्तता के कारण भी बहुत से लालकण नष्ट हो जाते हैं। यह भी स्मरणीय है कि ज्वर चढ़ने के बाद अज्वरकाल में लालकणों का निर्माण भी तेजी से होता है जिसके कारण रक्तकणों की कमी पूरी करने की कोशिश रोगी का शरीर करता है पर यह कमी पूरी-पूरी नहीं हो पाती और रोगी पाण्डु या रक्तक्षय से पीड़ित हो जाता है। लालकणों की कमी होने से हीमोग्लोबिन की मात्रा भी रक्त में घट जाती है।

रक्त के श्वेत कण मलेरिया के आरम्भ में तो बढ़ते हैं पर ज्यों-ज्यों रोग दीर्घकालानुबन्धि होता जाता है इन की संख्या भी घट कर ३००० से ४००० तक प्रति घन मिलीमीटर रह जाती है।

रोग के जीर्ण हो जाने पर प्लीहा की वृद्धि हो जाती है। वह दबाने से दर्द करती है किन्तु मृदु रहती है। आगे चलकर वह बृहदाकार की और बहुत बड़ी हो जाती है।

रोग के आरम्भ में यकृत् की वृद्धि थोड़ी सी ही होती है दबाने से उसमें दर्द होता है। रोग के जीर्ण होने के साथ यकृत् का आकार भी बहुत बढ़ जाता है और वह तिल्ली की तरह कड़ा हो जाता है। काट कर देखने पर यकृत् जो प्रकृत्या ब्राउन रंग का होता है गहरा स्लेटी रंग का हो जाता है प्लीहा का गूदा भी काला हो जाता है।

मस्तिष्क, अस्थि और अस्थिमज्जा पर भी रोग का गहरा प्रभाव पड़ता है। वृक्कों पर बहुत कम असर देखा जाता है।

संचयकाल

प्लाज्मोडियम फाल्सीपैरम जो मारात्मक तृतीयक का जनक है उसका १४ से १८ दिन तथा प्ला० मैलेरी जो चातुर्थक का उत्पादक है उसका १४ से २१ दिन का संचयकाल होता है। सर्दी लगने से या रोगी की शक्ति परिश्रम करने या चिन्ता के कारण घट जाने से रोग का असर उस पर जल्दी भी हो सकता है।

मलेरिया ज्वर का दौरा

मलेरिया का ज्वर आने के पूर्व थोड़ी या अधिक देर पहले निम्नलिखित में से कुछ या सबल क्षण मिलते हैं—

श्रम, क्लम, ग्लानि, मन्द-मन्द शिरोरुक्, अंगमर्द, आमाशय क्षेत्र में बेचैनी, प्लीहा के क्षेत्र में वेदना, क्षुधानाश और कोष्ठबद्धता।

कभी-कभी इनमें से कोई लक्षण नहीं मिलता केवलमात्र ज्वर ही पहला लक्षण है जो रोगी में मिलता है। ज्वर के साथ जाड़ा (*Chill*) चढ़ता है। इस ज्वर की निम्नलिखित विशेषताएं सभी प्रकार के उपसर्गों में मिलती हैं:—

(क) ज्वर मध्याह्न और मध्यरात्रि के बीच के काल में उत्पन्न होता है;

(ख) रोगी को दौरे का पूर्वाभास हो जाता है;

(ग) एक घण्टे तक शीतपूर्वी अवस्था रह कर ज्वर औसतन ६ से ८ घण्टे तक रहता है।

(घ) इस ज्वर की तीन अवस्थाएं रहती हैं—

पहली शीतावस्था जो लगभग एक घण्टे तक ही रहती है, दूसरी उष्णावस्था जो चार से छैः घण्टे तक रहती है, तीसरी प्रस्वेदावस्था जो दो से चार घण्टे तक रहती है। जाड़ा लगना, गर्मी लगना, पसीना आना इन अवस्थाओं में मलेरिया ज्वर का पूरा दौरा पूर्ण हो जाता है।

मूताभिषंगन विषमज्वर (मलेरिया) लक्षण चार्ट

सवाँग लक्षण

ज्वर

पाण्डुरोग या रक्तक्षय

कामला

कम्प

पॉलीन्यूराइटिस

यकृत वृद्धि

आमाशय मे लवणाम्लाभाव
हृल्लास
पितज छर्दि

मूत्र मे अल्ब्यूमिन, निर्भिक लोहांश बिलिरूबिन मिल सकते है।

घातक मलेरिया मे नेत्रों में रक्तस्राव

मुखशोष, तृष्णा
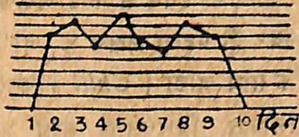
घातक मे - हृच्छूल ४% में हृत्पेशी घात

प्लीहोदर
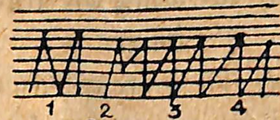
घातक मलेरिया मे आतो से रक्तस्राव और अतीसार

सामान्य मे कोष्ठ बद्धता
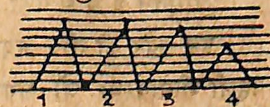
सन्तत ज्वर



सतत ज्वर
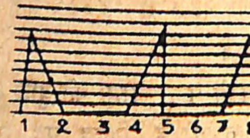


अन्येद्युष्क



तृतीयक ज्वर



चातुर्थक ज्वर



शीतावस्था——

जाड़ा लगना मेरुदण्ड से पसलियों तक और दांतों के जबड़ों तक जाता है। रोगी हिलने कांपने और दांत बजाने लगता है जाड़े के मारे रोगी अंगों को सिकोड़ लेता है और रजाई कम्बल डलाबता रहता है। रोगी दीन दिखाई देता है त्वचा रोमांचित हो जाती है श्वास उथला और जल्दी चलता है ओठ और नख श्याव हो जाते हैं। नाड़ी हलकी और द्रुत हो जाती है इस अवस्था में जी मिचलाना (हृल्लास) वमन और तीव्र शिरो-वेदना पाई जाती है।

उष्णावस्था—

जाड़ा लगना कुछ देर बाद बन्द होकर रोगी कुछ गरमी महसूस करता है। उसे कुछ राहत मिलती है। किन्तु थोड़े ही समय बाद उसे तेज गर्मी लगती है। ज्वर १०२° से ऊपर नहीं जाता आंखें गाल और सारी चमड़ी लाल सुर्ख हो जाती है। सिर का दर्द चालू रहता है। नाड़ी भरी हुई और जोरदार हो जाती है। प्लीहा क्षेत्र में शूल होने लगता है। रोगी को जोरदार प्यास लगती है।

प्रस्वेदावस्था—

गरम अवस्था के बाद सबसे पहले माथे पर पसीना आता है बाद में सारा शरीर पसीने से नहा जाता है। पसीना खूब आता है और इसमें शुक्रवत् गन्ध आती है। इस अवस्था में सन्ताप (टैम्परेचर) कम होकर सबनॉर्मल तक हो जाता है। नाड़ी मन्द और ढीली पड़ जाती है।

इन तीनों अवस्थाओं के फल स्वरूप रोगी बहुत दुर्बल और खाली-खाली अनुभव करता है। बार-बार दौरा पड़ने से कुछ समय बाद (१०-१२ बार आक्रान्त होने पर) रोगी स्वयं ठीक हो जाता है। डा. चोपड़ा का कथन है कि मलेरिया पैरासाइट किसी मनुष्य के रक्त में ५ साल से अधिक नहीं ठहरता यदि रोगी ऐसे स्थान पर रहे जहां मलेरिया उत्पन्न न होता है। यद्यपि इन सालों में उपसर्ग बना रह सकता है और रोग का उसी दशा में पुनराक्रमण संभव है जब रोगी की विजयवाहिनी क्षमता शक्ति किसी आघात् अभिघात या प्रवात (*exposure*) या शस्त्र प्रणिधान से घट चुकी है।

मलेरिया के प्रकार—

विषम ज्वर के सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चातुर्थक ये ५ प्रकार ऊपर गिना दिये गये हैं पर आधुनिक वैज्ञानिक इन प्रकारों को अपने ढंग से स्वीकार करते हैं। उनके प्रकार ये हैं:—

बिनाइन टर्शियन मलेरिया—यह प्लाज्मोडियम वाइवैक्स का उपसर्ग है। इसे सुदम तृतीयक ज्वर आधुनिक हिन्दी में कहते हैं। यह उष्ण कटिबन्ध में बहुतायत से मिलता है। यह सालभर तक रहता है। इसमें जाड़ा कम लगता है ज्वर शीघ्रता से बढ़ता है तथा जल्दी उतर जाता है। शिरःशूल, वमन तथा अङ्गमर्द चातुर्थक की अपेक्षा बहुत कष्टप्रद होते हैं। ज्वर ६ से १० घंटे तक रहता है। अगर रोगी को डबल उपसर्ग लग चुका है तो रोग का आक्रमण प्रतिदिन दो बार तक होता है, यदि मलेरिया की महामारी चल रही हो तो कई प्रकार के प्लाज्मोडिया मिलकर ज्वर को उतरने ही नहीं देते। इसी स्थिति को भूताभिषंगज विषमज्वर में सन्ततज्वर की संज्ञा दी है जिसमें ज्वर लगातार बना रहे ७ दिन, १०, दिन १२ दिन तक। उपसर्ग डबल होता है तब दिन में दो बार चढ़ने से यही सतत ज्वर कहलाता है। एक दिन में एक बार चढ़ने पर अन्येद्युष्क तथा एक दिन छोड़ तीसरे दिन आने पर तृतीयक इसकी संज्ञा हो जाती है।

क्वार्टन मलेरिया—यह प्लाज्मोडियम मैलेरी नामक मलेरियल पैरासाइट का उपसर्ग है। वर्षा ऋतु के बाद भारत में इसका आक्रमण होता था। जबसे मलेरियोन्मूलन कार्यक्रम चला है तब से नहीं होता। इस रोग में एक बार ज्वर आने के ठीक ७२ घंटे बाद दूसरा दौरा पड़ता है। इसी लिये इसे चातुर्थक या क्वार्टन संज्ञा दी गयी है। कभी-कभी दुहरा उपसर्ग होने पर तीसरे दिन और तिहरा उपसर्ग होने पर प्रतिदिन भी इसका आक्रमण होते हुए देखा जाता है। चरक ने जो चतुर्थक विपर्यय का वर्णन किया है—

> विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः ।
> स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आपावन्ते च मुञ्चति ।।

इस पर जेज्जट लिखता है—आदौ एक दिनं मुक्त्वा मध्ये दिन द्वयं भूत्वा,अन्ते एक दिनं न भवतीति।—हरि-



चन्द्र ने इसकी व्याख्या यों दी है—द्वे अहनी निरन्तरं ज्वरयित्वा उपरम्यैकं अहः पुनर्ज्वरयतीति एवं चतुर्थक विषर्ययः। सुश्रुत उत्तरतन्त्र में यह विपर्यय की परम्परा सभी विषम ज्वरों में स्वीकार की है—

कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रिचतुर्षु च।
विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान्॥

चातुर्थक ज्वर में रोग लक्षण बहुत तीव्र नहीं होते यद्यपि दौरा अपेक्षाकृत अन्यों के अधिक सहसा होता है और बहुत तीव्र भी होता है। दौरे अधिक घातक स्वरूप के होते हैं। ज्वरावस्था में रोगी प्रलाप (*delirium*) करता है ज्वर काफी ऊंचे तापांश तक पहुँच जाता है ज्वर के बाद तापमान सामान्य से नीचे ही काफी काल तक बना रहता है। यह रोग प्रातःकाल या अपराह्न के पूर्वकाल में अर्थात् दिन में ही उत्पन्न होता है। यह रोग सुदम तृतीयाक की अपेक्षा अधिक घातक है और बच्चे इसके ज्यादा शिकार होते हैं।

मैलिग्नेंट टर्शियन—या दुर्दम तृतीयक प्लाज्मोडियम फैल्सीपैरम का उपसर्ग है। यह भारत में सबसे ज्यादा होता था। इसके आक्रमण वर्षा के बाद अधिकतर होते हैं वैसे यह सालभर मिलता है। इसके लक्षण असामान्य या अप्ररूपी (*asyfical*) पाये जाते हैं। रोग का आक्रमण १६ से १८ घंटे तक रहता है। कभी-कभी ४० घंटे बराबर ज्वर चढ़ा रहता है। और इसी बीच दूसरा आक्रमण हो जाता है जिससे रोग सन्तत या सतत अन्येद्युष्क तथा तृतीयक तीनों रूपों में मिलता है। विजयरक्षित लिखता है—चतुर्थकविपर्ययोपलक्षणत्वेन तृतीयादि विपर्ययोऽपि ऊह्यः। तद्यथामध्ये एक दिनं ज्वरयति आद्यन्तयोर्मुञ्चतीति तृतीयकविपर्ययः, एककालं विमुच्य सर्वं अहोरात्रं व्याप्नोतीत्यन्येद्युष्कविपर्यय, (काल द्वये मुञ्चति, सर्वं अहोरात्रं ज्वरयतीति सततक विपर्ययः।) अत्र दोषविकृतिरेव नानाविधा हेतुरिति।

आयुर्वेद के इस सारे वर्णन से सिद्ध होता है कि वे वर्तमान मलेरिया की रग-रग से वाकिफ थे और इस रोग के बारे में उन्होंने खोज करने में बहुत परिश्रम किया था।

आगे के चित्र में मलेरिया परजीवी के जीवन चक्र जो मनुष्य और ऐनाफिलीज मच्छरी के उदर में उत्पन्न होते हैं। अच्छी तरह प्रदर्शित कर दिये गये हैं। इनके चक्र प्रति प्रकार इस प्रकार संक्षेप में समझे जा सकते हैं—

प्लाज्मोडियम फैल्सीपैरम जीवन चक्र

बीजाणु (स्पोरोजोआइट) — यकृत् में प्राक् रक्तावस्था अमैथुनी चक्र
|
रक्त के लालकणों में अमैथुनी चक्र
|
रोग का आक्रमण

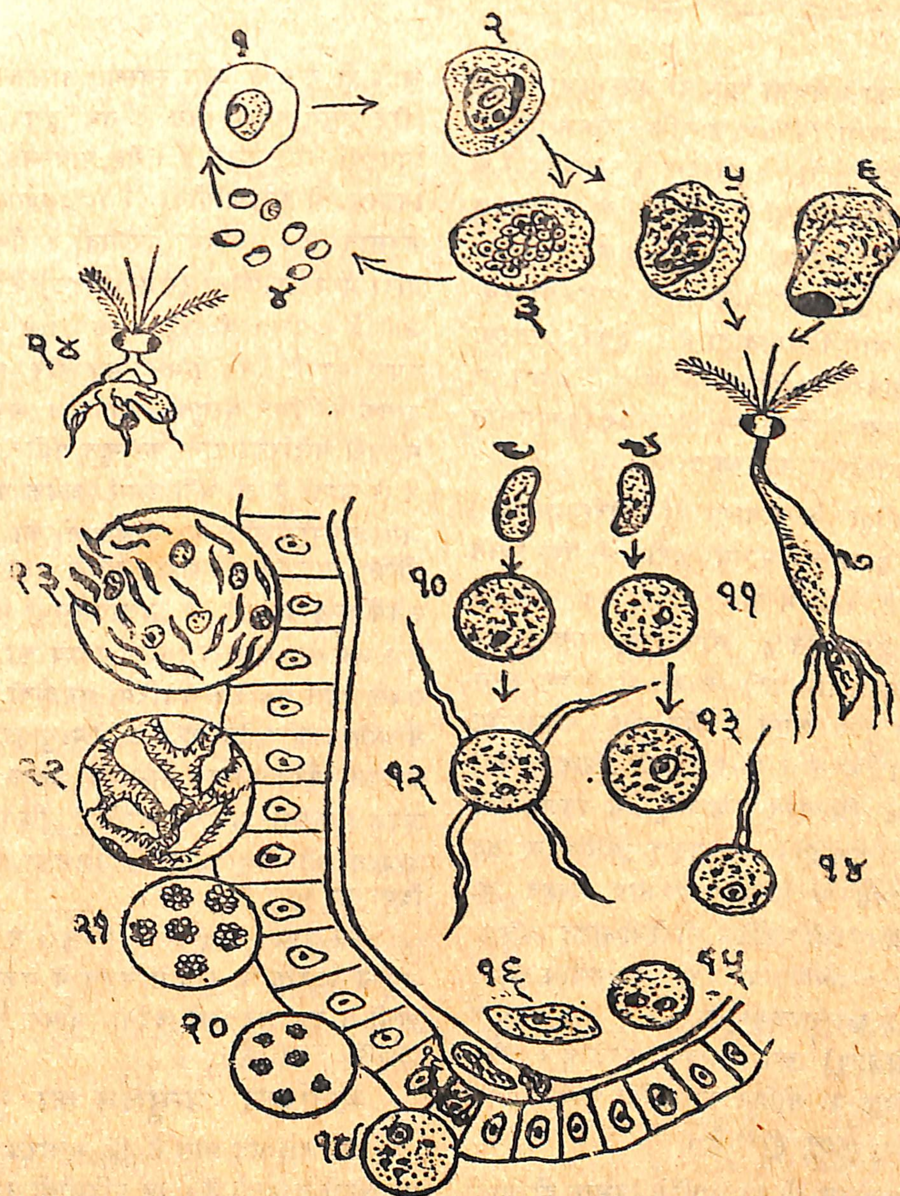
प्लाज्मोडियन वाइवैक्स तथा प्ला० मैलेरी जीवन चक्र

बीजाणु — प्राक्रक्तावस्था — बहिः रक्तकणावस्था

रक्तकणावस्था	रक्तकणावस्था
रोगाक्रमण	रोग का पुनराक्रमण

एक बार रोग दूर हो जाने के बाद तथा ताजा उपसर्ग न लगने पर भी मलेरिया होता हुआ देखा जाने से यह ज्ञान हुआ कि मलेरिया परजीवी शरीर में रक्तकणों के बाहर भी रहता है जिसे ऐक्सोऐरिथ्रोसाइटिक (बहिः रक्तकणावस्था) चक्र कहा जाता है। कुछ प्रच्छन्न बीजाणु चक्र कहा जाता है। कुछ प्रच्छन्न बीजाणु (क्रिप्टो पेरोजोआइट) लालकणों में न घुसकर यकृत् में घुस जाते हैं। वहां यदि रोगी की क्षमता शक्ति कम हुई तो वे पुनः रक्त में प्रविष्ट होकर मलेरिया का पुनराक्रमण (*Relapse*) करते हैं।

मलेरिया के परिजीवी के विनाश के पूर्व यह जानना आवश्यक था कि उसके जीवनचक्र को समझा जाता इसलिए आगे चक्रचित्र और चार्ट ऊपर दिया है। मलेरिया परजीवी या पराश्रयी अमैथुनी इन दो चक्रों में अपना जीवन पूरा करता है। अमैथुनीचक्र मानव शरीर में विकसित होता है तथा मैथुनीचक्र ऐनाफिलीज मच्छरी के पेट में पनपता है।



मलेरियल पैरासाइट का जीवन चक्र

१. अंकुरावस्था २. मुद्रिकावस्था ३. पूर्णावस्था ४. विभक्तावस्था
५, ६. व्यवायक ७. मशक का आमाशय ८, १०, १२. पुरुष व्यवायक
९, ११, १३ स्त्री व्यवायक १४. पुरुष और स्त्री व्यापकों का संयोग
१५. गर्भ १५,१७. मिथुन १८. आमाशय भित्ति में मिथुन
१९. कोषक २०, २१, २२ कोषक में जीवांकुरों का विकास
२३. अंकुर २४. जीवांकुरों का मशक की लालाग्रन्थि में प्रवेश

मानव शरीर का अमैथुनी चक्र दो अवस्थाओं में पूर्ण होता है। एक प्रावस्था *(Phase)* बहिः रक्तकणीय या ऐक्सो एरिथ्रोसाइटिक होती है जो रक्त के लालकणों के बाहर बनती है। इस प्रावस्था में मलेरिया के संचयकाल के अन्दर यकृत् के पैरैंकाइमल कोशाओं के अन्दर उनका विकास होता रहता है। इस प्रावस्था के ऊतकप्रावस्था या टिश्यू-फेज भी नाम दिया जाता है। दूसरी प्रावस्था लोहितकोशिका प्रावस्था *(Erythrocytic Phase)* या सामान्य भाषा में रक्त के लालकणों के अन्दर विकासमान प्रावस्था या रक्तकणावस्था कहा जाता है।

मलेरियापरिजीवी के जीवाणु (स्पोरोजोआइट) मच्छरी की लार द्वारा जब मानव शरीर में दंश स्थान पर प्रविष्ट होते हैं, रक्त में होकर यकृत् तक जाते हैं, वहां वे रक्त को छोड़ देते हैं और यकृत् कोशाओं में प्रछन्न बीजाणु (क्रिप्टोजोआइट) के रूप में प्रवेश करते हैं जहां वे प्रगुणित होने लगते हैं और बहिः रक्तकणीय चक्र का श्रीगणेश करते हैं। ये क्रिप्टोजोआइट यहां क्रिप्टोमीरोजोआइट (प्रच्छन्न खण्डजाणु) में बदल जाते हैं। संचयकाल के पूर्ण होने पर यकृत् कोशिकाएं फट जातीं हैं और उनसे ये प्रच्छन्नखण्डजाणु बाहर आ जाते हैं जो अब प्रि-एरिथ्रोसाइटिक मीरोजोआइट *(Pre-erythrocytic merozoite)* या प्राक् रक्तकणीय खण्डजाणु कहलाते हैं। इन खण्डजाणुओं में से कुछ रक्त में ट्रोफोजोआइट (बीजाणु) रूप में प्रवेश करते हैं। उनसे फिर रक्तकणीय चक्र या लोहित कोशिकीय चक्र *(Erythrocytic cycle)* चालू होती है।

रक्तकणीय प्रावस्था भी दो भागों में विभक्त हो जाती है। अर्थात् मलेरिया परजीवी दो रूपों में बंट जाता है। एक मैथुनी रूप और दूसरा अमैथुनी रूप। अमैथुनी परजीवी शाईजोंट या खण्डप्रसू का रूप ले लेता है। एक परिपक्व खण्ड प्रसू पूरे लाल कण को या उसके अधिकांश भाग को घेर लेता है। वह फिर अनेक छोटे खण्डों में बंट जाता है। जिनको मीरोजॉइट कहा जाता है। ये मीरोजॉइट (खण्डजाणु) उस समय मुक्त होते हैं जब लोहित कोशिका (लालकण) फटता है। लालकणों के फटने के काल में ही रोगी को जाड़ा चढ़ता है। ये खण्डजाणु बाहर आते ही रक्त के अन्य स्वस्थ लालकणों से चिपक जाते और उनमें प्रवेश करते हैं तथा दूसरे लोहित कोशिकीय प्रावस्था चालू करते हैं। यह प्रावस्था आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में शाइजोगोनी *(Scizogony)* विखण्डीजनन कहलाता है। मलेरिया परजीवी के मैथुनी रूप नर और मादा युग्मककोशिका (गैमेटोसाइट) के रूप में स्वतन्त्र हो जाते हैं। चित्र में इन्हें 7' के नाम से दिया गया है। ऊपर का 7' नर युग्मक का और नीचे का 7' मादा युग्मक का चित्र प्रस्तुत करता है। जब इन्हें एनाफिलीज मच्छरी मलेरिया रोगी का खून पीते समय अपने शरीर में ले जाती है तो वहां इनमें अनेक परिवर्तन होकर वे असंख्य स्पोरोजॉइट या बीजाणुओं का रूप ले लेते हैं। ये बीजाणु मच्छरी की शरीरगुहा में मुक्त विचरण करते हैं। उनमें कुछ मच्छरी की लालाग्रन्थिओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। जब यह मच्छरी स्वस्थ मनुष्य का रक्त चूसती है तो सबसे पहले वह इन मलेरिया परजीवी बीजाणुओं को रक्त में प्रविष्ट करा देती है। ये बीजाणु रक्त को छोड़ यकृत् के ठोस (पैरेंकाइमम कोशाओं) ऊतक में प्रविष्ट होकर ऊतक प्रावस्था आरम्भ करते हैं जिसे बहिः रक्तकणीय प्रावस्था भी कहा जाता है जिसका कि विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

इस प्रकार मनुष्य से मच्छरी में और मच्छरी से मनुष्य के रक्त में, रक्त से यकृत् में यकृत् से रक्त के लाल कणों में यह परजीवी अपनी जीवन लीला बड़े मजे से चलाता रहता है।

मलेरिया उन्मूलन का मूल रहस्य

जब हमें यह ज्ञात है कि मलेरिया की उत्पत्ति एक परिजीवी से होती है। यह परिजीवी मनुष्य और मच्छरी दोनों में रहता है। यदि मच्छरों का नाश कर दिया जाय तो परजीवी का मैथुनी चक्र बनेगा ही नहीं और यह परजीवी विनष्ट हो जायगा। दूसरा तरीका यह है कि मलेरिया से पीड़ित रोगी को ऐसे कमरे या घर में रख दिया जावे जहां मच्छर हो ही नहीं तथा रोगी को परजीवी नाशक दवाएं दी जावें तो नातिदूर काल में सारा वातावरण मच्छर और आदमी दोनों ही मलेरिया परजीवी के करालपाश से मुक्त हो जावेंगे।

यही सर्वोत्तम प्रतिषेधात्मक उपाय इस देश में तीन वर्ष लगातार चलाया गया और मलेरिया को भारत से समाप्त कर दिया गया। पर कहीं-कहीं मलेरिया की पाकिटें रह गई उन्हीं से विस्तार पाकर यह राक्षस पुनः सिर उठा रहा है जिसे दूर रखना प्रत्येक देशभक्त भारतीय चिकित्सक का प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है।

मलेरिया संहारक आधुनिक औषधियां

[Anti Malariol Drugs]

आज एक भी ऐसी औषधि उपलब्ध नहीं है जो मलेरिया परजीवी के विकास के पूरे जीवनचक्र को समाप्त करने की शक्ति रखती हो। इसलिए निम्नांकित ५ कार्यों के लिए मलेरियानाशक दवाएं दी जाती हैं—

(१) मलेरिया की रोकथाम हेतु प्रयुक्त प्रतिषेधात्मक औषधियां—इस कार्य हेतु अपने पास आज भी कोई दवा नहीं जो मलेरियापरजीवी के बीजाणुओं तथा उसकी प्राक्रक्तकणीय प्रावस्था को नष्ट कर सके।

(२) रोगनाशक औषधियां—जो औषधियां इस परजीवी की लोहित कोशिकीय प्रावस्था अथवा शाइजोगोनी (विखण्डीजनन) का विध्वंस कर सकती हैं, वे मलेरिया रोग से मुक्ति दिला सकती हैं। इनमें क्लोरोक्वीन,क्विनीन, मैपाक्रीन, प्रोग्वानिल तथा हाइड्रोक्सी क्लोरोक्वीन आती है।

(३) मलेरिया दमनकारी दवाएं—वे दवाएं जो लोहित कोशिकीय प्रावस्था के विकास में बाधक हों। इनमें डैराप्रिम एक है तथा प्रोग्वानिल दूसरी है। उपर्युक्त शेष दवाएं जैसे क्लोरोक्वीन और मैपाक्रीन भी इसी काम में प्रयुक्त होती हैं।

(४) मूलोच्छेदक मलेरिया संहारक औषधद्रव्य—जो मलेरिया नाशक दवाएं यकृत् की ऊतक प्रावस्था के बहिः रक्तकणीय चक्र को खतम करने की सामर्थ्य रखती हैं। वे इस वर्ग में आती हैं, क्योंकि इनके बिना रोग का पुनराक्रमण या रिलैप्स को रोका नहीं जा सकता। इसके लिए दो-दो दवाओं का साथ-साथ प्रयोग आवश्यक होता है। इनमें क्विनीन या क्लोरोक्वीन के साथ ८ एमाइनो क्विनोलिन का प्रयोग करना पड़ता है। बाजार में यह दवा प्राइमाक्विन या पामाक्विन अथवा पेंटाक्विन के नाम से मिलती है।

(५) युग्मकविनाशक औषधियां—इन्हें गैमैटोसाइडल ड्रग्स कहा जाता है। वाइवैक्स के युग्मक प्रत्येक मलेरिया नाशक द्वारा नष्ट हो जाते हैं। पर फाल्सीपैरम के युग्मकों का सफाया करना बहुत कठिन होता है। ८-एमाइनो क्विनोलीन वर्ग के द्रव्य ही इन पर कुछ काबू पा सकते हैं। प्रोग्वानिल (पैल्यूड्रीन) या पाइरीलिथैमिन (डैराप्रिम) का प्रयोग यदि रोगी कर रहा हो उसी समय उसके रक्त को मच्छरी चूस ले तो ये दोनों दवाएं मच्छरी के पेट में युग्मकों का संहार कर देती हैं, जिससे वह स्वस्थ व्यक्ति में मलेरिया पैदा करने में समर्थ नहीं हो पाता। यद्यपि ये दोनों दवाएं मानव शरीरस्थ युग्मकों के विनाश में असफल रहती हैं।

आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान विशारदों ने मलेरिया-संहारक दवाओं के श्रेणीविभाजन किए हैं। एक रासायनिक श्रेणी विभाजन का वर्गीकरण है और दूसरा रोग नाशक है दृष्टि का वर्गीकरण है। इनको फार्मकालोजी के बड़े ग्रन्थों में देखना उचित होगा। हम यहां इन द्रव्यों के नाम, उपयोगिता और मात्रा पर थोड़ा सा विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। जिसे हमने अन्य सामग्री के साथ डा० पी० के० चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० बी० एन० घोष की टैस्टबुक आफ फार्माकोलोजी एण्ड थिराप्यूटिक्स (प्रकाशक सायण्टिफिक पब्लिशिंग कम्पनी कलकत्ता–१) से साभार लिया है।

१. (क) क्लोरोक्वीन फॉस्फेट—

प्रतिषेधार्थ—५०० मि. ग्रा. साप्ताहिक।

चिकित्सार्थ—(मुख से) १ ग्राम पहली मात्रा एक दिन फिर ५०० मि. ग्रा. प्रतिदिन।

(सुई से) २०० से ३०० मि. ग्रा. सिरा या पेशी में।

(ख) क्लोरोक्वीन सल्फेट (नीवाक्वीन-सीबा)—

प्रतिषेधार्थ—४०० मि. ग्रा. साप्ताहिक।

चिकित्सार्थ—(मुख से) पहले दिन ८०० मि. ग्रा.। बाद में ४०० मि. ग्रा. प्रतिदिन।

(सुई से) २००–२०० मि.ग्रा. i.v. या i.m.।



उपयोग–यह दवा मलेरिया के प्रतिषेध या रोगनाश के लिए सबसे अधिक सुलभ, सबसे कम विषैली और सब दवाओं से अधिक कार्यकर सिद्ध हुई है।

२. प्रोग्वानिल हाइड्रोक्लोराइड पैल्यूड्रिन (I. C. I.)–

प्रतिषेधात्मक–१०० मि. ग्रा. प्रतिदिन (बड़ों को)।

चिकित्सार्थ–२५ मि. ग्रा. प्रतिदिन (५ वर्ष तक के बालकों को) ५० मि. ग्रा. (६ से १२ वर्ष तक) बड़ों को ३०० मि. ग्रा. प्रतिदिन प्लाज्मो० फाल्सीपैरम उपसर्ग में इसे ३०० मि. ग्रा. प्रतिदिन २ बार १० दिन तक भोजन के बाद देना चाहिए।

यही मात्रा वाइवैक्स में भी दे सकते हैं।

उपयोग–यह डैराप्रिम (नीचे देखें) की तरह मलेरिया का दमन करती है उसके टिश्यूफेज को नष्ट कर देती है।

यह शाइजौट को नष्ट करके रोग को भी दूर करती है।

३. पाइरीमीथैमिन डैराप्रिम (बरोज-वैल्कम)–

प्रतिषेधात्मक–२५ से ५० मि. ग्रा. प्रति सप्ताह।

उपयोग–यह तीनों प्रकार के मलेरिया के दमन हेतु प्रयुक्त की जाती है। यह हेतून्मूलक तो है ही यह बहिः रक्तकणीय चक्र का भी सर्वनाश करने में समर्थ है।

इसका प्रभाव रोगनाश में कम होता है क्योंकि यह शाइजोंट जो रक्त में हों उन पर कोई खास प्रभाव नहीं डाल पाती।

अधिक दिन तक इसका प्रयोग कदापि न करावें क्योंकि यह रक्तनिर्माण के कार्य में अपने फॉलिकाम्ल विरोधी स्वभाव के कारण बाधा डालती है।

४. कैमोक्वीन (पार्क डैविस)–

प्रतिषेधात्मक–४०० मि. ग्रा. एक या दो सप्ताह बाद दें।

चिकित्सार्थ–४००–६०० मि. ग्रा. प्रतिदिन ३ दिन तक।

उपयोग—यह क्लोरोक्वीन की तरह ही रक्तकणीय परजीवी चक्र पर कार्य करती है। किन्तु प्राक् रक्तकणीय चक्र या बीजाणुओं पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। यह रोग का पुनराक्रमण भी नहीं रोक सकती।

५. क्विनीन हाइड्रोक्लोराइड–

मात्रा–३००–६०० मि. ग्रा.।

६. क्विनीन बाई सल्फेट–

मात्रा–३००–६०० मि. ग्रा.।

उपयोग–क्विनीन बहिः रक्तकणीय या प्राक् रक्तकणीय चक्र पर बेकार है। केवल वाइवैक्स और मैलेरी के युग्मकों को नष्ट करती है फाल्सीपेरम के युग्मकों पर भी प्रभावी नहीं है। परन्तु रोगनाशक है शाइजोंट को नष्ट कर देती है। पुनराक्रमण नहीं रोक पाती।

७. क्विनीन डाई हाइड्रोक्लोराइड–

मात्रा–३००–६०० मि. ग्रा.।

क्विनीन की मात्रा ज्वरनाश हेतु ०.६ ग्राम दिन में ३ बार ७ से १० दिन तक है।

उपयोग–प्रणाशी (मैलिग्नेंट) मलेरिया में तापमान की बिना परवा किए रोगी के बेहोश हो जाने पर भी उसकी जीवन-रक्षा के लिए सिरा द्वारा सभी सावधानियां बरतते हुए क्विनीन डाई हाइड्रोक्लोराइड का इंजैक्शन अविलम्ब दे देना चाहिए। सिरा द्वारा देने में हृदय पर प्रभाव पड़ सकता और रक्तबल (ब्यडप्रैशर) गिर सकता है। इसके लिए ६०० मि. ग्रा. क्विनीन हाइड्रोक्लोराइड को १० मि. लि. नार्मल सैलाइन में मिलाकर इतने धीरे सिरा में इसे चढ़ावें कि कम से कम ३ मिनट में पूरी दवा प्रवेश करे तो हानि की सम्भावना कम रह जाती है।

८. मैपाक्रीन (अटैब्रिन)–

प्रतिषेधार्थ–१०० मि. ग्रा. प्रतिदिन।

चिकित्सार्थ–२००–५०० मि. ग्रा. प्रतिदिन विभाजित मात्रा में कई बार में दें इसे मुख द्वारा ही देते हैं पर जब उलटियां हो रही हों या रोगी बेहोश हो तो इसे पेशी या सिरा में इंजैक्शन आफ मेपाक्रीन मिथेनेसलफोनेट के रूप में ०.१ से ०.३ ग्राम की मात्रा में पानी में घोल कर देते हैं या घुला हुआ ऐम्प्यूल में मिलता है।

—शेषांश पृष्ठ ५२ पर।

विषमज्वरनाशक अनुभूत चिकित्साक्रम

कविराज गिरधारीलाल मिश्र *A. M. B. S.* **आयुर्वेद वाचस्पति**
असम आयुर्वेद भवन, शिवसागर (आसाम)



विषम-ज्वर की परिभाषा, भेद, कारण तथा आधुनिक चिकित्सा का विवरण आचार्य त्रिवेदी जी के लेख में पर्याप्त रूप से किया जा चुका है अतः प्रस्तुत लेख में तथा आगामी २ लेखों में केवल विषम-ज्वर नाशक अनुभूत चिकित्सा-क्रम का विवरण दिया जा रहा है।

प्रस्तुत लेख के लेखक कविराज मिश्र आयुर्वेद के विद्वान् हैं ए० एम० बी० एस० पदवीधर हैं। साहित्यायुर्वेद रत्न और आयुर्वेद वाचस्पति हैं। आपने भारत के पूर्वाञ्चल में अपनी चिकित्सा जमाई है और बहुत सम्मानपूर्वक वैद्य समाज में अपनी प्रतिष्ठा अर्जित की है। आपने सुधानिधि को कई सुन्दर, खोजपूर्ण लेख प्रदान किए हैं। हमें विश्वास है आप पूर्वी भारत में आयुर्वेद के ज्योतिस्तम्भ को दोनों हाथों से उठाते हुए आगे बढ़े चलेंगे और प्रगति उनके कदम चूमती चलेगी।

—गोपालशरण अग्रवाल।

रोगी की तत्काल करणीय चिकित्सा—

ज्वर के पूर्वरूप में हाथ, पैर और पीठ में दर्द, आलस्य, जम्हाई, गौरव, क्लम, नेत्रों में आंसू भर आना, धूप, अग्नि, वायुसेवन, शीतजल इनका बार-बार इच्छा या इनसे विद्वेष होता है। अविपाक, आस्यवैरस्य(मुखमालिन्य) बल की हानि आदि होने पर रोगी को शैया पर सुला दें। खाना-पीना बन्द कर दें। रोगी को शीत लगने पर रज़ाई, कम्बल आदि गरम कपड़े औढ़ा दें। शरीर की गर्मी बढ़ाने के लिए "तुलसी की पत्ती ३ माशा, कालीमिर्च १० नग" लेकर चाय बनाकर पीने को दें, साथ में ज्वरनाशक योग भी दिया जा सकता है। चाय या कॉफी की पांव के तलवे में मालिश करने से भी शीत उतरता है। पृष्ठ देश में हाथों पर उष्ण जल से भरी हुई रवड़ की थैली से या बोतल में गर्म जल भर कर स्वेदन करें।

आवश्यक परीक्षण—

१. **ज्वर**—शीत अधिक तीव्र होता है तथा कंपकंपी देकर ज्वर आता है।

२. **तापमान**—ज्वर तीव्र गति से चढ़ता है तथा

१०० से १११ डिग्री तक बढ़ सकता है।

३. मुख—मुख में बदबू, स्वाद कड़वा, जीभ मैली, हृल्लास, वमन।

४. हृदय—हृदय दुर्बल, नाड़ी शीघ्रगामिनी तथा स्पर्श उष्ण।

५. मूत्र—मूत्र अल्प, गुरुता *(Specific Gravity)* कम।

६. त्वचा—त्वचा उष्ण, शरीर पर चकत्ते, ओष्ठ तथा नासिका के पास विस्फोट।

७. वेदना—प्रारम्भ में शिरःशूल तथा सर्वाङ्ग में वेदना।

८. यकृत् वृद्धि—२० प्रतिशत रोगियों में मिलती है, बच्चों में विशेषतः।

९. प्लीहा वृद्धि—प्लीहा में रक्ताधिक्य होने से वृद्धि होती है। परीक्षा करने पर नीचे का किनारा मालूम पड़ता है। पुराने रोग में प्लीहा की वृद्धि विशेषतः होती है।

१०. रक्त—रक्त की कमी, रक्त का परीक्षण, सूक्ष्म-दर्शक *(Microscop)* से करने पर रक्ताणुओं में विषम ज्वर के जीवाणुओं *(Plasmodium)* का प्राप्त होना, विषम ज्वर का "सबसे विश्वसनीय" परीक्षण है।

चिकित्सा सिद्धान्त—

विषम ज्वर में सम्प्राप्ति की दृष्टि से अधोलिखित तीन विशेषताएं हैं जिनकी तदनुकूल चिकित्सा वर्णित है—

त्रिविध कारण	त्रिविध अधिष्ठान	त्रिविध चिकित्सा
[१] दोष अल्प किन्तु धातुगत	शरीर	युक्ति व्यपाश्रय
[२] भूताभिषंगोत्थ	मन	दैव व्यपाश्रय
[३] मानसिक दौर्बल्य	निमित्त	सत्वाजय

त्रिविध चिकित्सा—

युक्ति व्यपाश्रय

औषधि द्वारा की जाने वाली चिकित्सा को "युक्ति व्यपाश्रय" कहा जाता है। औषधियों द्वारा शरीरस्थ दोषों का संशोधन किया जाता है। तदनन्तर रोग प्रशमनोपचार किये जाते हैं। "आधुनिक मत भी' तदनुकूल है। सर्व प्रथम पंचसकार या मृदुविरेचन एवं *Mag Sulph* आदि का प्रयोग कर शोधन करते हैं।

विषम ज्वरघ्न औषध-द्रव्य—दारुहरिद्रा, करंज, सप्तपर्ण, चिरायता, तुलसी, द्रोणपुष्पी, निम्बपत्र एवं विभिन्न अनुभूत योग प्रशस्त हैं।

आधुनिकों की तीन प्रचलित औषधियां कुनीन, प्लैज्मोकीन, स्टविन प्रशस्त हैं।

दैव व्यपाश्रय

मानसिक रोग, जनपदोध्वंस, भूताभिषंगोत्थ, कीटाणुजन्य, रोगोपशमनार्थ आयुर्वेदीय आर्षग्रन्थों में इस चिकित्सा का विधान है। विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रपाठ, हवन, धूपन आदि दैवमूलक उपाय करने से विषमज्वर नाशन में विचित्र प्रभाव देखा जाता है। "टोटका प्रयोग *(Magical Charm)*" रविवार के दिन रोगी के पृष्ठवंश पर पैर लगाकर सात लाल सूत के धागों से अपामार्ग की मूल कमर में बांधे तो विषम ज्वर नहीं आता है।

मलेरिया हर धूप—गुग्गुल, शुष्क निम्बपत्र, वच, कूठ, हरीतकी वल्कल, श्वेत सर्षप, जौ और घृत समान भाग लें। रोगी को निर्वात स्थान में वस्त्र रहित कर खाट पर चद्दर ओढ़ाकर लिटा दें तथा खाट के नीचे पीपल या बेर की लकड़ी के अङ्गारे रखकर थोड़ा-थोड़ा धूप छोड़ें, मुख खुला रखें। पसीना पौंछ लें, दिन में दो बार करें, ज्वर अच्छा हो जायेगा।

धूप व हवन के धुएं से मलेरिया, प्लेग, चेचक, राजयक्ष्मा आदि के कीटाणुओं का नाश होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी अनुसंधान कर इन्हें सही पाया है। आधुनिक चिकित्सक भी मच्छर नाशक क्रिया के लिए धूप और धूआं का निर्देशन देते हैं।

सत्वाजय

आहार-विहार की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। रोगी को सुपाच्य लघु पौष्टिक आहार देना चाहिए। दूध का प्रयोग अतीव हितकर है। मुर्गे का मांस भी प्रशस्त है। जौ, गेहूं की रोटी खानी चाहिए। ज्वर आने के समय से पूर्व ही अपने मन को अन्य कार्यों में लगा लेने से भी ज्वर का वेग रुक जाता है।

मच्छरनाश की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। रात में "शरीर पर सरसों के तैल की मालिस कर मशहरी लगा कर सोना चाहिए। स्वास्थ्य विभाग को सूचना देनी चाहिए ताकि कीटाणुनाशन की समुचित व्यवस्था की जा सके। ठण्डक से बचना चाहिए तथा विश्राम करना चाहिए।

चिकित्साकालीन अनुभव—

सरकारी आंकड़ों के अनुसार तो भारत से इस महामारी का उन्मूलन हो चुका है तथापि भारत में हिमालय की तराई बिहार का पूर्वी भाग बंगाल, आसाम, कोचीन, त्रावणकोर, मध्यप्रदेश का जंगली भाग आदि स्थानों में आज भी प्रतिवर्ष वर्षा तथा शरदृऋतु में (जुलाई से दिसम्बर तक) इस महामारी से मानव आक्रान्त होता है। सच पूछिये तो जिस समय "जटिलरोग चिकित्सांक" की विषय सूची हस्तगत हुई लेखक स्वयं विषम ज्वर के जटिल रोगियों की चिकित्सा में व्यस्त था तथा अभी भी हमारे क्षेत्र में इस महाव्याधि का प्रकोप है एतदर्थ इसी विषय पर लेखनी चल पड़ी।

यद्यपि विषम ज्वर के रोगी बड़ी विषम स्थिति से गुजरते हैं तथा सबका एकसा निदान व एकसी चिकित्सा होना मुश्किल है। रोगियों के दोष लक्षणानुसार ही चिकित्सा व्यवस्था करनी पड़ती है। तथापि (संक्षेप में) आवश्यक परीक्षणोपरान्त अधोलिखित चिकित्सा० यवस्था करता हूँ—

१. विषमांत सूचीवेध (प्रताप फार्मा) व सिनकोना (मार्तण्ड) ज्वर आने के ३-४ घण्टे पूर्व दिया जाता है। ज्वर के वेग में इन्जेक्शन का प्रयोग वर्जित है।

२. विषम ज्वर लौह १ गोली, त्रिभुवनकीर्ति रस ½ गोली, गोदन्ती भस्म ४ रत्ती, गिलोय सत्व ४ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १ माशा।

ऐसी १ खुराक ३-३ घण्टे बाद उष्ण जल व अन्य उचित अनुपान से दी जाती है। तथा लक्षणानुसार त्रिभुवनकीर्ति रस के स्थान में महाज्वरांकुश, महामृत्युञ्जय व सितोपलादि के स्थान में सुदर्शन चूर्ण का भी प्रयोग करते हैं।

अनुपान—सुदर्शन अर्क का अनुपान सर्व श्रेष्ठ है।

भोजनोत्तर—अमृतारिष्ट ४-४ चम्मच बराबर पानी मिलाकर पिलावें।

विशेष चिकित्सा—ज्वर का आक्रमण निश्चित समय पर (अक्सर सायंकाल ४ बजे) ही होता है तथा रात्रि ९-१० बजे तक पूर्णतः ज्वर उतर जाता है अतः पुनः ज्वर का आक्रमण न हो इसके लिए "ज्वर विराम काल" में ही उपयुक्त औषध व्यवस्था परमावश्यक है। अन्यथा पुनः यथा समय ज्वर का आक्रमण हो जाता है। 'विराम-काल' में प्राणदा जुड़ीताप आदि क्वीनाईन मिश्रित औषधियों का प्रयोग भी आयुर्वेदीय औषधियों के साथ कर लेता हूँ। सिनकोना वृक्ष की छाल से 'सत्व' रूप में प्राप्त औषधि 'कुनीन' है जो मलेरिया जीवाणुनाशनार्थ आशुफलप्रद हैं। तथा 'विराम काल' में इसका सेवन शीघ्र शाभप्रद है किन्तु जिन लोगों को 'कुनीन' औषध प्रयोग करने पर वमन, चक्कर, त्वचा पर चकते लाली आदि लक्षण हों उन्हें इसका सेवन वर्जित है।

पथ्यापथ्य आनुभागिक चिकित्सा—

बुखार के समय रोगी को पूर्णतः विश्राम करना चाहिए तथा रोग के उपद्रवों के शमनार्थ सहायक उपचार व आनुषंगिक चिकित्सा करनी चाहिए।

१. शिरोवेदना—शीतल जल व बर्फ के टुकड़ों का स्थानिक प्रयोग व शिर धोना तथा गेंदे के फूल को अर्क गुलाब में पीसकर लेप करना चाहिए।

२. पिपासा—बर्फ चूसना, सौंफ अर्क, गावजवान अर्क पिलावें।

३. वेदना—यकृत्-प्लीहा के स्थान में वेदना हो तो सरसों का पलास्तर लगावें।

४. स्वेदाधिक्य—अधिक स्वेद आता हो तो फिटकरी मिले हुए गर्म जल से शरीर को पोंछ दें तथा इच्छानुसार जल पीने की अनुमति दें।

५. वमन—ज्वर के समय "कै" आती हो तो केवल थोड़ा सा गर्म जल पिलाने से 'कै' भी बन्द हो जाती है तथा प्यास भी दूर हो जाती है।

६. आहार—विषम ज्वर में सुपाच्य लघु-पौष्टिक आहार देना चाहिए।

[क] यवान्न की बड़ी प्रशंसा की गई है यव, गोधूम शालिका का प्रयोग उत्तम है। ज्वर छूट जाने पर गर्म दूध, दूध-सागू, तथा सूजी की रूखी रोटी दे सकते हैं। २-४ दिन बाद दिन में पुराने चावलों का भात, गूलर-परबल, बैंगन, आदि की तरकारि दे सकते हैं किन्तु रात में रूखी गेहूँ की रोटी ही दूध के साथ देना अच्छा है। ज्वर आगमन काल में अन्न के मद्य पीकर सो जाना



चाहिए।

[ख] दूध—दूध का प्रयोग विषम ज्वर में आचार्य सुश्रुत ने जो पंचसार के रूप में बताया है—अतीव गुणकारी है, उबले हुए दूध में घी, शहद, चीनी, पिप्पली चूर्ण मिलाकर पीना अमृतोपम है बल्य तथा ज्वरघ्न है। "जीर्णे ज्वरे कफे क्षीणे क्षारं स्यादमृतोपमम्" शीत वीर्य होने के कारण दूध उष्ण औषधियों से उत्पन्न दाह को भी शान्त करता है। तथा अत्यधिक रक्तक्षयजन्य दुर्बलता को दूर कर शीघ्र शक्ति का संचार करता है।

[ग] नीम्बू का फाण्ट—एक कागजी नींबू के छोटे छोटे टुकड़े कर ४ गिलास जल में डालकर पकालें जब जल चतुर्थांश शेष रहे तब उतार लें। ठण्डा होने पर छान कर पीवें। उपद्रवों को शान्त करता है तथा 'कुनीन' के समान गुणकारी बहु परीक्षित पथ्य प्रयोग है।

[घ] मासाहारियों के लिए—मुर्गा, तीतर, मयूर के मांस का आहार करना भी प्रशस्त है। मुर्गे के मांस में लौह और ताम्र का अंश अधिक होने से रक्तक्षय की पूर्ति अच्छी होती है।

[ङ] लहसुन—सुश्रुत का प्रातःकाल घी के साथका तथा चरक का भोजन के पूर्व तेल के साथ लहसुन का प्रयोग अतीव हितकर है।



पृष्ठ ४८ का शेषांश

उपयोग—यह मलेरिया को क्विनीन की तरह ही दूर करता है और इसे किसी भी प्रकार के मलेरिया ज्वर में दे सकते हैं। इसका प्रयोग करने के बाद यह वृक्क प्लीहा तथा यकृत् में ही नहीं मस्तिष्क के तर्पक कफ में भी पहुँच जाता है। यह युग्मकों या प्राक् रक्तकणीय चक्र पर कोई प्रभाव नहीं डालता परन्तु यदि इसका रक्त में ०.०२ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. लि. है तो यह प्लाज्मोडिया की सब किस्मों के अमैथुनी चक्र का सर्वनाश करके सभी प्रकार के विषम-ज्वर को दवा देती है।

इसकी विषाक्तता कम होते हुए भी यह शिरःशूल, भ्रम, हृल्लास और वमन कर सकता है। बहुत समय तक लेने से त्वचा पर छाजन जैसा रोग कर देती है।

९. पामाक्विन—

प्रतिषेधात्मक—२० मि. ग्रा. सप्ताह में दो बार।

उपयोग—यह बहुत विषाक्त होने से केवल मलेरिया प्रतिषेध हेतु ही प्रयुक्त होता है।

१०. प्राइमाक्वीन—

प्रतिषेधात्मक—३०—६० मि. ग्रा. प्रति सप्ताह।

चिकित्सार्थ—१५ मि. ग्रा. प्रतिदिन १४ दिन तक वाइवैक्स द्वारा उत्पन्न मलेरिया में।

उपयोग—यह दवा भी पेट में दर्द और कई विषाक्त लक्षण उत्पन्न कर देती है अतः प्रयोगार्ह नहीं है।

जूड़ी पर

गोदन्ती भस्म, करंज मींग, गेरू, फिटकरी श्वेत का फूला, चूना बुझा हुआ—समान भाग लेकर तुलसीपत्र स्वरस तथा गुडूची स्वरस में चना प्रमाण गोली बनाकर रख लीजिये।

सेवन-विधि—ज्वर से ३—४ घण्टे पूर्व १-१ घण्टे के अन्तर से २-२ गोली गर्म जल के साथ निगलने से किसी भी प्रकार का जाड़े का ज्वर न आयेगा।

यदि ज्वर का कोई निश्चित समय न हो तो ४—४ घण्टे के अन्तर से ४ बार देनी चाहिए। जिस दिन ज्वर की बारी न हो उस दिन भी इसी प्रकार देना चाहिए। यह पूर्ण मात्रा है दुर्बल रोगी को व १० वर्ष से १६ वर्ष वाले को १—१ गोली चाहिये। इससे कम आयु वाले को आधी गोली ही पर्याप्त है।

नोट—यदि कोष्ठ शुद्ध न हो तो कोई मृदुविरेचन ले लेना उचित है।

स्वर्गीय वैद्यराज इन्द्रमणि जी जैन वैद्यशास्त्री
कनवरीगंज, अलीगढ़।

विषम ज्वर तथा मेरा अनुभव

वैद्यवर्य श्री विश्वम्भरदयाल गोयल, रकाबगंज पुल के निकट, लखनऊ

श्री गोयल जी ने अपनी ४१ साल की चिकित्सात्मक ज्ञान कमाई को कई अंशों में इस चिकित्सांक को प्रदान करने की अनुकम्पा की है। अनुभूतयोग तो जब और जिसके द्वारा भी भेजे जावें वह सज्जन वैद्य जगत् के आदर के पात्र तो हो ही जाते हैं। आपने कई रोगों पर अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करके भेजा है। इसके लिए हम उनके विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। इन अनुभवों को हमारे चिकित्सकगण प्रयोग में लाकर जब हमें अपना क्लीनीकल प्रतिवेदन भेजेंगे तब न वास्तविक आयुर्वेदोद्धार का मार्ग प्रशस्त होगा। —रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

विषम ज्वर को सविराम ज्वर या मलेरिया भी कहते हैं प्रायः जाड़ा लगकर ज्वर चढ़ आता है और पसीना आकर उतर जाता है। जटिलता में इस क्रम में व्यतिरेक होना एवं कभी निश्चित समय पर आना, कभी एक दिन, २ दिन या तीन दिन नागा देकर आना। कभी हर सप्ताह और हर मास के रूप में देखा जाता है।

आयुर्वेद एवं दादी नानी के अनेकों अचूक लटके अपना निजी महत्व रखते हैं और आरम्भ में उपयोग कर लिये जाते हैं तो प्रायः रोग जटिलता की दिशा में कम ही जाता है। जैसेः—

(१) जीरा गुड़ के साथ खाना, या (२) गुड़ और अजवाइन खाना, या (३) छोटी (अभाव में बड़ी) पीपल और मधु, या (४) श्वेत जीरा करेला रस और गुड़, या (५) अतीस चूर्ण ४-४ रत्ती गर्म पानी से, या (६) पीपल बड़ी या छोटी दूध में समभाग पानी मिला पका वर्द्धमान पद्धति से सेवन करना अर्थात् ३ या ५ पीपल पहले दिन, फिर १-१ नित्य बढ़ाकर ११ तक ले जांय और १-१ घटाकर पुनः ३ या ५ की पूर्व स्थिति पर लाकर छोड़ दे। जल जल जाय दूध मात्र रहने पर, मधु या मीठा मिला सेवन करना। या (७) पर्बल के पत्ते, कुटकी, मुलहठी, हरड़ और नागरमोथा काढ़ा बनाकर या (न बन सके तो) चूर्ण रूप में जल के साथ सेवन करना (८) धाय के फूल, गिलोय, आंवला पीस मधु से चाटना। या (९) लाल फिटकरी घृतकुमारी रस में घोटकर सराव सम्पुट कर फूंककर भस्म बना एक-एक रत्ती बतासा या शक्कर या गुड़ में लपेट सेवन करना। या (१०) शुद्ध कुचला एक से चार रत्ती तक (बल देखकर) घी, दूध मलाई, मधु व मिश्री के साथ सेवन करना। या (११) ढाक के बीज (लाल छिलका रहित कर) कंजा मिगी (छिलका रहित कर) और कालीमिर्च पीस घोट दो-दो रत्ती की गोली बना वारी से दो घण्टा पूर्व से प्रति घण्टा सेवन करना। या (१२) कालमेघ बूटी (कल्पनाथ बूटी) ६ माशा, कालीमिर्च ४-५ दाने के साथ पीसकर चूर्ण या जल से पेय बनाकर सेवन करना। या (१३) आक के पत्तों के बीच में फिटकरी सराब संपुट कर फूंककर भस्म चार-चार चावल बतासा या खांड के साथ सेवन करना। या (१४) करंज की गिरी और कालीमिर्च का चूर्ण बनाकर, चिरायता, गिलोय, तुलसी के रस (अभाव में काढ़ा बनाकर काढ़े) में घोटकर चना सम गोली बना सुखाकर दो-दो घण्टे पर सेवन करना। या (१५) कपूर, गेरू एक-एक भाग, खूबकला (खाकशीर) तीन भाग, तुलसी रस में घोटकर चनावत गोली ऊपर सम बनाकर सेवन करना। (इसमें कालीमिर्च या त्रिकुटा मिला लें तो और सुन्दर कार्य होता है)।



या (१६) अतीस, गिलोय (८ गुना)। पित्त पापड़ा, नीम-पत्र, करंजगिरी (आधा भाग), इमली गूदा (६ भाग), आलू बुखारा (१२ भाग), (एक भाग ४ रत्ती मानकर) आधा पाव जल में भिगो दें और एक घण्टे बाद मल छान मधु मिला सेवन करना। या (१७) चिरायता, पित्तपापड़ा एक-एक सेर, गूमा (द्रौणपुष्पी बूटी) दो सेर, जल १६ सेर में भिगोकर बारह घण्टे बाद अर्क खींच लें। मात्रा २-२ तोला मधु मिलाकर प्रातः शाम पीना पारी के ज्वर पर कारगर है। (१८) केवल फिटकरी फूला या नमक भूनकर जल में घोलकर पीना या करंजगिरी का चूर्ण फांककर जल पीना या नौसादर चना सम पान में रखकर खाना। या (१६) पीपल की दांतुन करना मात्र उपयोगी लटके हैं।

होम्योपैथी सिद्धान्त के अनुसार "बेलाडोना ३०" *Bell* ३०–या "स्वेरटा चिरायता *3X*"–चिरायता से घोटी औषधि–या "गिलोय *3X*" या पारी के ज्वरों पर "अरिस्टा इण्डिका ६ या ३०" (*Atista Indica*) *6 or 30*) भी अपना बेजोड़ कार्य कर दिखाती है। यदि घड़ी के समय के अनुसार ठीक सुई के एक स्थान पर पहुँचने पर एक ही समय पर नित्य ज्वर आने पर "सीड्रन (*Cedron*) *30*" बेजोड़ औषधि है। बहुत से ऐलोपैथ तथा अन्य चिकित्सक कुनीन का अंधाधुंध प्रयोग करते रहे हैं और इसी परिपाटी पर होम्योपैथी के ज्ञान विहीन लोग कुनीन का व्यवहार कर रोगियों को हानि पहुँचा चुके हैं। वैसे कुनैन विषम ज्वर की एक अच्छी औषधि है पर उसके अपने निजी लक्षण हैं जैसे ज्वर दोपहर या प्रातः ५ बजे या शाम ५ बजे आना, ज्वर आने के पहले बहुत प्यास, भूख, और सिर में पीड़ा होना, शीतावस्था-जाड़ा आरम्भ होने पर प्यास न लगना, भीतर तथा बाहर शीत अनुभव करना, जल पीने पर जाड़ा बढ़ जाना; उत्तापा-वस्था में प्यास तो नहीं रहती पर गरमी रहती है। शरीर जलता सा अनुभव होना, कपड़ा उतारते ही सिहरन मालूम होना; एवं सिर पीड़ा, पसीने की अवस्था में प्यास अधिक रहना और शरीर ढके रहने पर खूब पसीना आना। ज्वर उतरने पर पसीना आना एवं यकृत और तिल्ली में पीड़ा अनुभव होना। यदि ये लक्षण हों तो कुनीन या सिङ्कोना (*China 30*) सुन्दर कार्य करता है अन्यथा हानिकर होता है। शीतावस्था के पहले और बाद को प्यास नहीं रहती है। यदि उत्तापावस्था में भी प्यास हो तो वह "सिन्कोना ३०" से हानि ही उठावेगा। इस हानि को एवं उल्टी या मतली की "इपीकाक ३०" (*Ipecac 30*) एक विश्वासप्रद औषधि है। ज्वर ७ और ६ बजे (प्रातः) के बीच आना, दूसरे दिन १० और ११ (प्रातः) आना, जोड़-जोड़ में पीड़ा अनुभव होना में "यूपे-टोरिम परफोलियेटम ३०" (*Eupatorium Perf 30*) मन्त्र की तरह काम करती है और अचूक कार्य करती है।

कभी-कभी ज्वर १०४° (फारेनहाइड) से ऊपर १०५° भी पारकर जाता है जो एक जटिल समस्या खड़ी कर देता है ऐसी दशा में "एसेटेनीलिडम ३*X*" [*Aseta-nilidum 3X*] की १०, १० मिनट पर तीन मात्रा दे देना एवं कपड़े की जल में, या गुलाब जल में या अंग्रेजी यू० डी० कोलोन से भिगोकर रखना अच्छा कार्य करता है और मैं अनेकों बार सफलता पा चुका हूं। इसी प्रकार कभी-कभी किसी औषधि के प्रकोप के कारण ताप ९७° (फारेनहाइट) से नीचे गिरना आरम्भ होकर ९६° पहुँच जाता है तब भी एक समस्या खड़ी हो जाती है। इसका निराकरण करने के लिए होम्योपैथी में 'हेलोहरया ३०' [*Helodeama 30*]' एक विश्वासप्रद औषधि है जो इस जटिल घड़ी में हाथ पैर फुलाने में हमारी मदद करती है। मैं इसे संकट की घड़ी टालने वाली औषधि मानता रहा हूं। वायोकैमिक चिकित्सा के अनुसार "फेरमफास ६ [*Ferrum phos 6*], "कालीम्यूर ३*X*" [*Kalimur 3X*]" और नेट्रम सल्फ ३*X Natrum Sulph 3X*], तीनों की एक-एक टिकिया जल में घोल या वैसे ही जीभ पर रख रस चूसना अच्छा कार्य करता है। जे० एण्ड जे० डीशेन साहब की औषधियों में मैथलीपौड दो भाग, आर्जलहयोस चार भाग, गेस्ट्रोमोन एक या डेढ़ भाग, हेमोप्लेक्स एक भाग और आयोडाइन्ड कुनीन तीन भाग मिला घोटकर ३-३ ग्रेन (डेढ़ डेढ़ रत्ती) हलुआ, दूध मलाई मधु या दूध से सेवन करना अच्छा कार्य करता है। (मैं तो घोटकर ३X पुट में भी अच्छा कार्य करते देखता आया हूं)। ३ *X* पुट में औषधि शतांश भाग ही होती है।

—शेषांश पृष्ठ ६२ पर

अष्टविध ज्वर

लेखक—आचार्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी
सम्पादक

चरक ने "भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः" ऐसा लिखकर दोषज ज्वरों की परिगणना की है। इसी को विस्तार से निदान स्थान में समझाया है—

अथ खलु अष्टाभ्य कारणेभ्यो ज्वरः संजायते मनुष्याणां, तद्यथा–वातात्, पित्तात्, कफात्, वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, पित्तकफाभ्यां वातपित्तकफेभ्यः आगन्तोरष्टमात् कारणात्।

इनमें आरम्भिक ७ ज्वर भेद निज ज्वर के अन्तर्गत आते हैं तथा आठवां आगन्तुक ज्वर है। इन निज ज्वरों पर शास्त्र में काफी चर्चा की गई है। वातिक ज्वर वात के कोपक कारणों से, पैत्तिक ज्वर पित्त के तथा श्लैष्मिक ज्वर श्लेष्मा के प्रकोपक कारणों से मानव शरीर में उत्पन्न होते हैं। जब दो-दो दोष एक साथ प्रकुपित होकर ज्वर उत्पन्न करते हैं तो उनको द्वन्द्वजज्वर की संज्ञा दी जाती है। वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक और पित्तश्लैष्मिक ज्वर ये तीन द्वन्द्वजों के नाम हैं। जब तीनों दोष एक साथ मानव शरीर में प्रकुपित होते हैं तब सन्निपात ज्वर बनता है।

ज्वरों की जटिलता की दृष्टि से यद्यपि कोई भी ज्वर खतरनाक मोड़ ले सकता है पर एकदोषज ज्वर जिन भी कारणों से हुए हों। आयुर्वेदीय परम्परागत चिकित्सा से प्रायः शमित हो जाते हैं। एकदोषज ज्वरों के सम्बन्ध में चिकित्सात्मक दृष्टि से निम्नांकित तथ्यों को प्रत्येक चिकित्सक वैद्य को हृदयङ्गम किए रहना चाहिए—

(१) अन्नहीन (खालीपेट) औषध का प्रयोग अच्छा लाभ करता है और रोग का नाश जल्दी होता है। किन्तु बालक,वृद्ध हो और कोमल प्रकृति वाली स्त्रियों को खालीपेट ज्वरघ्न दवा नहीं देनी चाहिए। मलेरिया नाशक कई दवाएं कभी-कभी पेट में दर्द, मिचली, उलटी कर देती हैं उसी प्रकार आयुर्वेदीय औषधियां भी इनको ग्लानि और बलक्षयकर सिद्ध हो सकती हैं।

(२) एक बार दी गई औषधि जब शरीर में जीर्ण हो जाय तब दूसरी बार औषधि दी जानी चाहिए। जीर्णौषधि का लक्षण है—वायु का अनुलोमन, शुद्ध डकार आना, इन्द्रियों में हलकापन महसूस होना, क्षुधा-तृष्णा का लगना और मन का प्रसन्न होना। जो औषधि शरीर में जीर्ण नहीं होती वह बिना श्रम थकावट पैदा करती है, अङ्गावसाद होता है, भ्रम, मूर्च्छा, शिरःशूल में से कोई भी लक्षण उत्पन्न हो सकता है, बेचैनी और दौर्बल्य हो जाता है।

(३) वृद्ध, बच्चों और सुकुमार स्त्रियों को औषध देकर तत्काल भोजन (खाद्य या पेय) दे देने से वह शीघ्र पच जाती है तथा कष्टकारक नहीं होती।

(४) रोगी को किसी भी कारण से शरीर तापमान बढ़ने पर सबसे पहले धनियां और पटोलपत्र का क्वाथ बनाकर पिला देना चाहिए। यह क्वाथ दीपन और कफघ्न वातपित्तानुलोमन होता है। तापमान को बढ़ने नहीं देता आम का पाचन करता है एवं मलबन्ध को तोड़ देता है। यदि क्वाथ लेने से रोगी को अरुचि हो तो उसे इन दोनों का फांट या चाय बनाकर देनी चाहिए। जो लोग हर ज्वर में आयुर्वेदिक या ऐलोपैथिक दवाओं के कैपसूलों का प्रयोग करते हैं उन्हें कैपसूल के ऊपर इस चाय को पिलाना सदा हितकर रहता है। इसके लिए आधा पाव पानी खौलाकर उसमें धनिये और पटोलपत्र समभाग के चूर्ण में से ३ माशा डालकर ५ मिनट उबाल कर ठंडा करके छान लेना चाहिए।

वातज्वर

इसके लक्षणों का एक चित्र हमने अपने सम्पादन

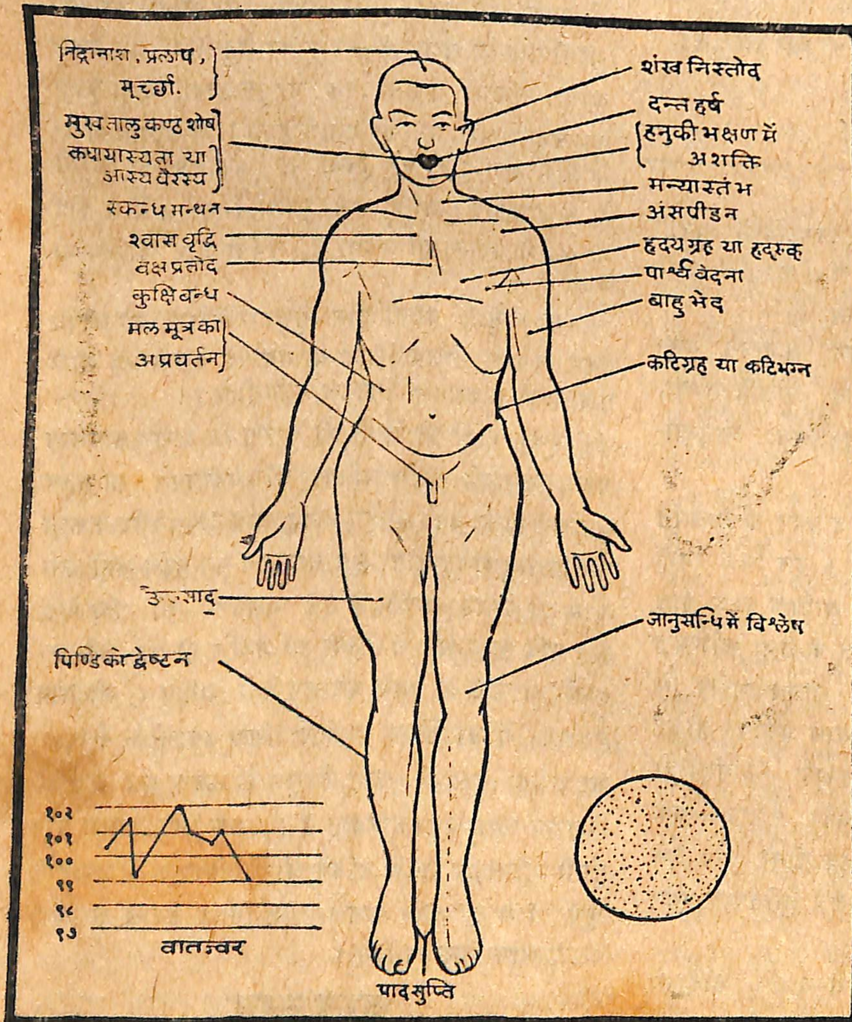
काल में धन्वन्तरि काय चिकित्साङ्क में दिया था उसे साभार नीचे दिया जा रहा है। उससे अङ्ग-प्रत्यङ्गों के वात ज्वरीय लक्षणों का ज्ञान हो जाता है—

वातिक ज्वर के रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने से पहले वैद्य को देख लेना चाहिए कि ज्वर साम है या निराम। यदि साम है तो लंघन थोड़े दिन कराना होगा—

यस्तु मार्गावरणेन वायुः कुप्यति, स आवरकधर्मितया प्रायेण सामो भवति तत्र च लंघनं मात्रया कर्त्तव्यम्।

वातिक ज्वर में आमदोष का आमत्व हटाने तथा वायु के मार्गावरोधक रूप को ठीक कर स्रोतों को खोलने हेतु २-३ दिन तक लंघन करने के बाद तरुण ज्वर में पाचन देने चाहिए। पाचन में सर्वप्रथम उष्ण जल आता है। उष्ण जल से स्रोतों का शोधन हो जाता है बल और रुचि बढ़ते हैं तथा कुछ पसीना आता है।

लंघन के बाद यवागू (मण्डपेया–विलेपी) का प्रयोग उचित होता है। वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध यवागू भी दिया जा सकता है। पेया का प्रयोग उचित है इसे लिक्विड फूड कह सकते हैं, यह वातमूत्रपुरीष तथा अन्यदोषों का भी अनुलोमन करती है, स्वेदक है, तृष्णा शामक तथा प्राणरक्षिणी मानी गई है।



पेया के बाद तर्पण प्रयोग बतलाया गया है—

तत्र तर्पणमेवाग्रे प्रयोज्यं
लाजसक्तुभिः।
ज्वरापहै फलरसैर्युक्तं
समधु शर्करम्॥

अर्थात् खीलों के सत्तू, फलों के रस, शहद और मिश्री मिला कर दें। बाद में मूंग की दाल या जांगलजीवों का मांस रस दिया जा सकता है। घृतपान कराया जा सकता है किन्तु घृत पान के पूर्व देख लें कि कफ की वृद्धि तो कहीं नहीं हो गई है। दोष के निराम होने पर दूध देना होता है—बद्ध प्रच्युत दोषं वा निरामं पयसा जयेत्। यदि इन उपायों से ज्वर न शान्त हो तथा रोगी निर्बल न हो तो शमयेत्तं विरेचनैः क्योंकि—

ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं
न विरेचनम्।

उसके लिये दूध के साथ निरूहण बस्ति दी जानी चाहिए

क्यों कि वह बलकारक, अग्निवर्द्धक, ज्वरहर, रुचिप्रद तथा परिपक्व दोषों का निर्हरण करती है।

ज्वर कालानुबन्धी हो, कफपित्त क्षीण हों, अग्नि दृढ़ हो और वातदोष के कारण मल रूक्ष तथा कड़ा हो तो अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

इतने सब उपायों के पूर्व ही वातिकज्वर चला जाता है। इस प्रक्रिया में १०-१५ दिन लग जाते हैं। यदि रोगी इतना समय न दे सके तो आरम्भ से ही वातज्वरनाशक रसयोगों का प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि—

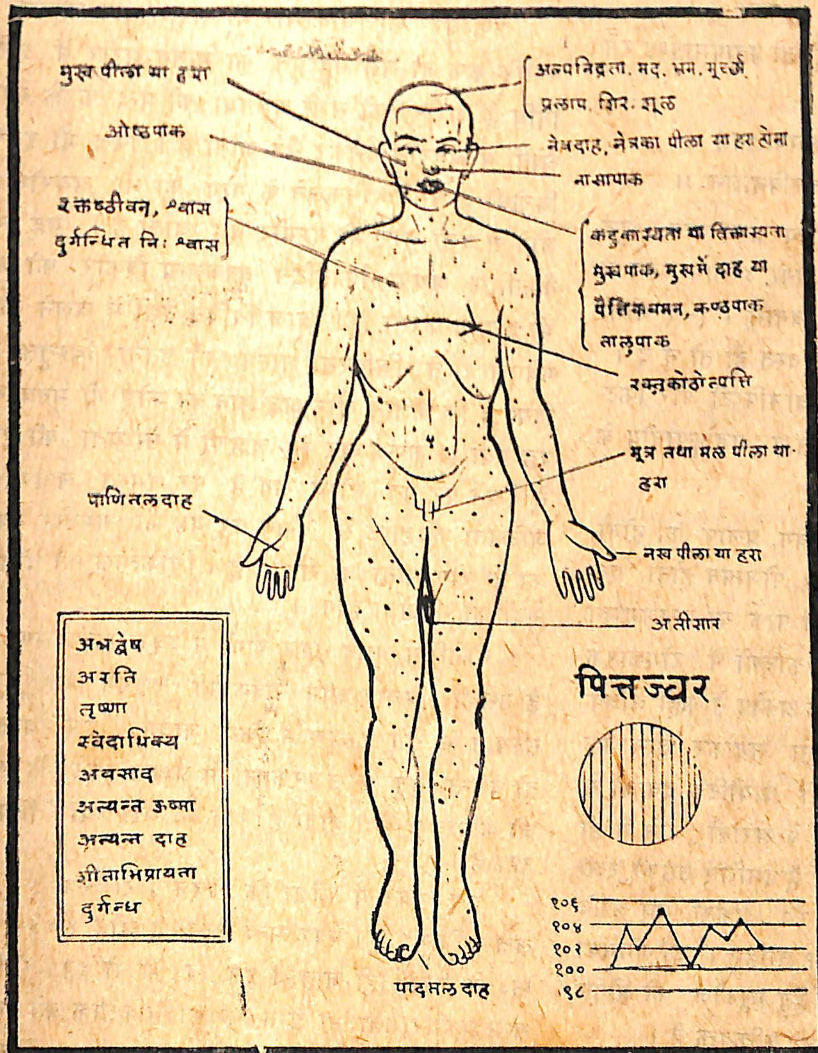
न दोषाणां न रोगाणां न पुसाञ्च परीक्षणम्।
न देशस्य न कालस्य कार्यं रसचिकित्सिते॥

इतना व्यापक अधिकार रस चिकित्सा को मिला हुआ है और वातज्वर के लिए भैषज्यरत्नावली का हिंगुलेश्वर रस भी पर्याप्त है—

तुल्यांशं मर्दयेत् खल्ले पिप्पलीं हिंगुलं विषम्।
गुञ्जार्धं मधुना देयं वातज्वर निवृत्तये॥

पित्तजज्वर

इसके लक्षणों के लिए नीचे का चित्र पर्याप्त है—



पित्तजज्वर की चिकित्सा में लंघन का कोई निषेध नहीं है—

ज्वरे लंघनमेवादौ वुपदिष्ट मृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोध कामशोकश्रमोद्भवात्॥

लंघन से दोषों का क्षय होता है। लंघन के बाद जो आजकल मानव शरीरों में निर्बलता होने से ५ दिन से अधिक न करना चाहिए। आमदोष रसयोगों के प्रयोग से इस काल में समाप्त कर लिया जाना चाहिए। फिर पाचन, यवागू प्रयोग और श्रृतशीत (उबालकर ठण्डा किया हुआ) जल पिलाते रहना चाहिए। पूर्वोक्त धान्य-पटोल चाय का उपयोग करना चाहिए। तिक्तरसयुक्त द्रव्यसिद्ध-जल शास्त्रसम्मत है—

मुस्तपर्पटकोदीच्यचन्द-नोशीरनागरैः।
श्रृतशीतं जलं दद्यात् पिपासाज्वर शान्तये॥

यह षडङ्गपानीय है जो मोथा, पित्तपापड़ा, सुगन्धवाला, लालचन्दन, खस और सौंठ के चूर्ण को जल में औटाकर ठण्डा करने से बनता है। पित्त ज्वर में तर्पण मुद्गयूष, जांगल जीवों का मांस रस आदि दिये जाते हैं। घृतपान लाभदायक सिद्ध होता है। निराम ज्वर होने पर दूध दे सकते हैं। यदि रोगी बलवान् है तो उसे स्रंसन या विरेचन कराना उचित होता है। मूंग, मसूर, कुलथी, परवल, रक्तशालि और षष्टि सभी पथ्यकर हैं।

पित्तज्वर में यदि अतीसार न हो तो प्रतापमार्तण्ड रस अच्छा काम करता है—

विष हिंगुलजैपालटंकणं क्रमवर्द्धितम्।
रसः प्रतापमार्तण्डः सद्यो ज्वरविनाशनः॥

शुद्ध वत्सनाभ १ भाग, शुद्ध सिंगरफ २ भाग, शुद्ध जमालगोटा ३ भाग और शुद्ध सुहागा ४ भाग जल में पीस आधी-आधी रत्ती की गोलियां बनालें। १–१ गोली जल के साथ प्रातः सायं दें। अधिक दस्त हों तो न दें।

पित्तज्वर में गोदन्ती भस्म, प्रवालपिष्टी और फिटकिरी का फूला १–१ रत्ती प्रातः सायं षडङ्गपानीय के साथ देने से बहुत लाभ होता है।

पितज्वर में ज्वर का तीव्र वेग, प्रलाप का होना, मूर्च्छा, दाह, भ्रम तथा नेत्रों का पीलापन होना एक जटिल रोग के ही लक्षण हैं। इसमें पाक या इन्फ्लेमेशन का अधिक महत्त्व है। पाक के कारणों में रोगकारक जीवाणुओं का भी योगदान पित्त के प्रकोप से कहीं अधिक रहता है इसलिए जीवाणु का पता लगाकर तन्नाशक उपचार टैट्रासाइक्लीन आदि एण्टी बायोटिक दवाओं से भी किया जा सकता है। यकृत् में खराबी आने से ही पित्त प्रावल्य होकर कामला होता है इसलिए उसकी रक्षा हेतु ग्लूकोज का प्रयोग, फलों का रस, शर्करा, मधु आदि का प्रचुर मात्रा में उपयोग करना चाहिए। टॉक्सीमिया या विषाक्तता को न बढ़ने देने हेतु ग्लूकोज की बोतल चढ़ाना और विटामिन सी देना भी युक्तियुक्त है।

कफज्वर

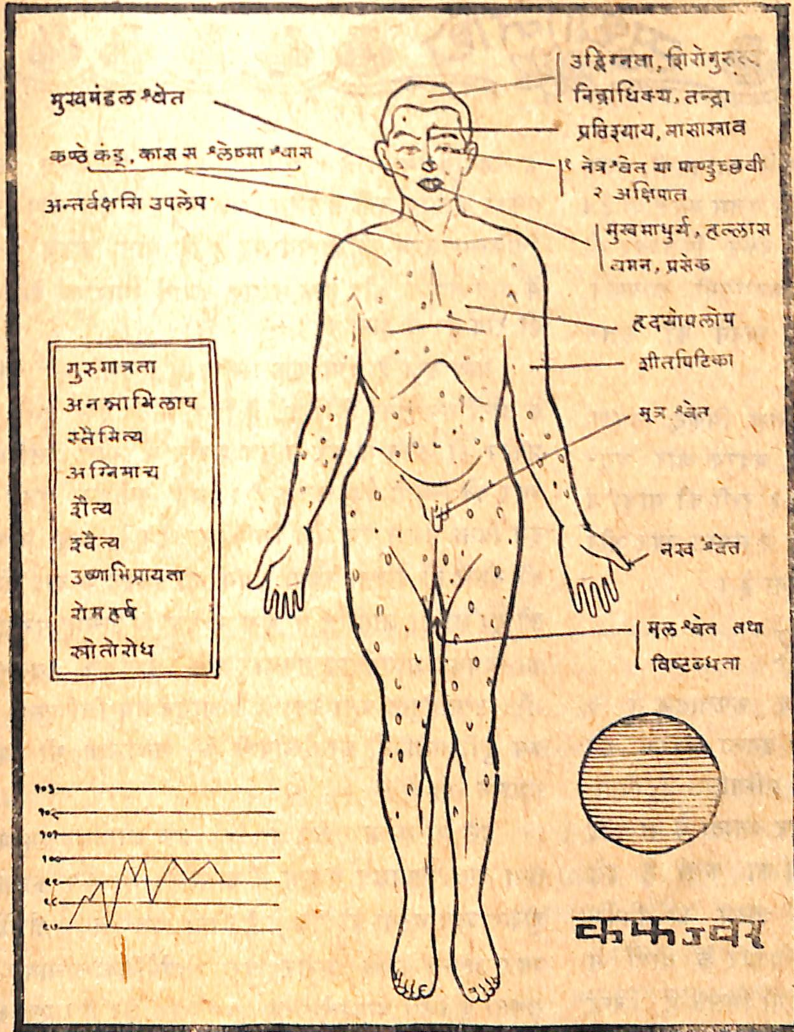
इस ज्वर के लक्षण आगे के चित्र द्वारा सुस्पष्ट हो गये हैं—

इस में ज्वर शुक्लमूत्र पुरीषत्व से मूत्र में अल्ब्युमिन का आना और पुरीष में बाइल का न मिलना ये दो भयंकर लक्षण हैं। स्रोतोरोध यहां स्पष्ट ही वृक्कों की नालिकाओं के अवरोध की ओर भी इङ्गित करते हैं। पुरीष की शुक्लता पित्तवाही स्रोत में अवरोध को प्रकट करती है यह तो ठीक है कि इस रोग में ज्वर कम रहता है पर मन्दज्वरता स्वयं जटिलता की ओर इशारा करती है।

कफज्वर की चिकित्सा में लङ्घन का महत्त्व है क्योंकि कफ जो जल महाभूत का मानव शरीर में प्रतिनिधि है, शरीर की सभी अग्नियों को मन्द करके स्वयं स्रोतों में अवरोध बनकर बैठ जाता है। पित्त जो इसका विरोधी है उसके निकलने के मार्ग का भी अवरोध हो जाने से दशा और भी गम्भीर बन जाती है। यह ज्वर नैफ्रोसिस अथवा नैफ्राइटिस वृक्कजन्य विकार की ओर भी इशारा करता है। आज विविध देशों में चलने वाली गवेषणाओं ने चिकित्सा शास्त्र को इतना विस्तृत कर दिया है कि अज्ञान और अर्द्ध ज्ञान का कोई भी मूल्य नहीं रह गया। कफजज्वर के लक्षणों में साध्यता की दृष्टि से देखने पर यह सौम्य रोग है पर समस्त लक्षणों को जटिलता की दृष्टि से देखने पर यह भी गम्भीर स्वरूप का ही रोग माना जा सकता है। चिकित्सक को दोनों के भेदों को समझना होगा।

नैफ्रोसिस आदि वृक्क रोगों में ज्वर एक लक्षण मात्र है उसका विचार आगे वृक्करोग प्रकरण या मूत्रवह संस्थान के रोग प्रकरण में किया जावेगा। इस स्थान पर तो वसन्त ऋतु के उत्तरकाल में प्राकृत ज्वर के रूप में जो कफज्वर पैदा होता है उसी की ओर ध्यान दिया जा रहा है।

इस ज्वर में जैसा कि चित्र द्वारा स्पष्ट है, कुछ लक्षण मिलते हैं। ज्वर मन्द रहता है और १००-१०१° फ० से ऊपर नहीं जाता। इस ज्वर से पीड़ित रोगी की सामता निरामता का ज्ञान करके चिकित्सक को लङ्घन अवश्य कराना चाहिए। आजकल इसमें ७ दिन तक लङ्घन करा सकते हैं उससे आगे नहीं, क्योंकि मनुष्यों का बल पहले की अपेक्षा क्षीण है। बलाधिष्ठानमारोग्यं



खुजली, शीतपित्त, चकत्ते आदि देखे जा रहे हैं, उसका प्रधान कारण प्रकुपित कफदोष के निर्हरण में वमन कर्म के अभाव में कमी आ जाना ही है।

वमनकर्म के बाद यवागू का प्रयोग—कफनाशक द्रव्यों से सिद्ध पेया करना चाहिए। उसके बाद कफनाशक कषाय और औषध योगों को दे सकते हैं।

जिन्हें जल्दी हो वे रसयोगों से भी अपने रोग को दबवा सकते हैं। संजीवनी वटी, अभ्रक भस्म, मल्लभस्म, इस ज्वर में अच्छा काम करते हैं। त्रिभुवनकीर्ति रस का भी उपयोग किया जा सकता है।

(८) इन एक दोषज ज्वरों के बारे में योगरत्नाकरकार ने कुछ अच्छे सूत्र दिये हैं।

[क] वातजः सप्तरात्रेण
दशरात्रेय पित्तजः।
श्लेष्मजो द्वादशाहेन
ज्वरः पाकं प्रपद्यते ॥

यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः।

तरुण कफज्वर में लङ्घनं, स्वेदनं, कालो यवाग्वस्तिक्तकोरसः और पाचनानि सभी चल सकते हैं। पानी गरम गरम ही पिलाना चाहिए। उसके बाद कफ प्रधान उत्क्लिष्ट दोषों को निकालने के लिए वमन करानी चाहिए—

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान्।
बुद्ध्वाज्वरकरान् काले वम्यानां वमनर्हरेत् ॥—चरक

आजकल कफदोष के बहुत प्रवृद्ध होने पर भी रोगी वमन करना नहीं चाहता जिसके कारण दोष का पूरी तरह निर्हरण नहीं हो पाता। आज जो चमड़ी के विकार,

[ख] सर्वज्वरेषु दातव्यः कषायः सप्तमेऽहनि।
अथवा लंघयेत्तावद् यावदारोग्यदर्शनम् ॥

[ग] सर्वज्वरेषु सप्ताहे मात्रया लघु भोजयेत्।

[घ] ज्वरितं ज्वरमुक्तं वा दिनान्ते भोजयेल्लघु।
श्लेष्मक्षय प्रवृद्धोष्मा बलवाननलस्तदा ॥
यथोचितेऽथवाकाले देशसात्म्यानु रोधतः।
प्रागल्पवह्निर्भुञ्जानो नह्यजीर्णेन पीड्यते ॥

[ङ] यत्क्वाथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं भवेत्।
अर्धावशिष्टं भवति तदुष्णोदकमुच्यते ॥
तत्पादहीनं वातघ्नं अर्धहीनं तु पित्तनुत्।
त्रिपादहीनं श्लेष्मघ्नं पाचनं दीपनं लघु ॥



योगरत्नाकर कार ने तीव्र ज्वर में शालिपर्णी, बला, रास्ना, गुडूची और सारिवा का क्वाथ उत्तम बतलाया है। उसने गुडूचीसत्व को मिश्री के साथ देकर पित्तज्वर को जीतना लिखा है। कफज्वर में काकड़ासिंगी, कायफल, पुष्करमूल के चूर्ण को शहद में मिला चाटने को उत्तम माना है।

त्रिभुवनकीर्तिरस (हिंगुल, वत्सनाभ, त्रिकटु, टंकण, पिप्पलीमूल के चूर्ण में तुलसी स्तरस, अदरक और धतूरे के पत्तों के रस की भावना देकर १-१ रत्ती की मात्रा में गोलियाँ बनाना) अदरक के साथ देने से समस्त ज्वर और सन्निपातों को नष्ट करने वाला माना है।

द्वन्द्वजज्वर

शास्त्र में वातपित्तज पित्तकफज, कफवातज ये ३ द्वन्द्वज ज्वर के भेद बतलाये गये हैं। इनका कारण इन तीनों दोषों में से किन्हीं २ दोषों के सम्मिलित प्रकुपितावस्था का शरीर पर प्रभाव द्वन्द्वजज्वर बनाता है या कोई विषाणु प्रत्येक प्रकार के द्वन्द्वज ज्वरों का कर्त्ता है इसे कहना आज कठिन हो गया है यद्यपि शास्त्र का निर्देश स्पष्ट है। इन द्वन्द्वज ज्वरों में दोनों प्रकार के दोषों से अलग-अलग उत्पन्न ज्वरों के लक्षण भी मिलते हैं जिन्हें प्रकृति सम समवायात्मक लक्षण कहते हैं तथा कुछ अलग लक्षण भी मिलते हैं जिन्हें विकृति विषम समवायात्मक लक्षण कहते हैं। हल्दी और चूने को मिला कर जो नया लाल रंग बनता है वह न हल्दी की तरह पीला है और न चूने की तरह सफेद है। वह तीसरे ही प्रकार का है। इन्हें हम क्रमशः फिजीकल मिक्श्चर और कैमीकल मिक्श्चर भी कह सकते हैं। द्वन्द्वज में ये दोनों प्रकार के समवाय मिलते हैं। इसलिए इनकी चिकित्सा उस प्रकार आसान नहीं है जिस प्रकार एक-एक दोष की चिकित्सा कहने का तात्पर्य यह है कि वात कफज ज्वर में वात नाशक और कफ नाशक दवायें मिलाकर देने से ही रोग दूर न होगा।

वात रूक्ष है तथा कफ स्निग्ध है। गुणों की दृष्टि से दोनों एक दूसरे के उलटे हैं फिर भी ये एक दूसरे के प्रकोप को शान्त न कर मानव शरीर में वात श्लैष्मिक ज्वर की स्थिति पैदा करते हैं। यह क्योंकर संभव है इसे बिना समझे एक वैद्य चिकित्सा क्षेत्र में फ्लू नाशक की गोली ही बांटता रहेगा। अंगरेजी इलाज के बाद रोगी की दुर्दशा हो जाती है न भूख न बल न उत्साह पर इसी का विधवत् आयुर्वेदीय उपचार उसे क्षुधायुक्त, बलयुक्त और उत्साहयुक्त बना देता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा की इस सुपीरियोरिटी को ऐलोपैथी के अन्धभक्त भी आज समझने लगे हैं।

इसे यों समझ सकते हैं कि कफ आमाशयसमुत्थ है तथा वात पक्वाशय समुत्थ है आमाशय में कफ का कोप होकर ज्वरावस्था हो सकती है दोनों अलग-अलग क्षेत्रों से ज्वर उत्पन्न करके शरीर पर सार्वदैशिक प्रभाव पड़ सकता है जिसे वातश्लैष्मिक ज्वर नाम देते हैं। एक क्षेत्र ऐसा भी हो सकता है जहां दोनों का मिलन हो जिसके कारण विशेष लक्षण बनते हैं जबकि अलग-अलग क्षेत्रों में कफकोप के कारण उत्पन्न कफज्वर के तथा वातकोप के कारण उत्पन्न वातज्वर के अलग-अलग लक्षण भी मिलते हैं। हम अपनी बात समझाने के लिए माधव-निदानोक्त वातज्वर, कफज्वर तथा वातकफज्वर के लक्षणों की तालिका दे रहे हैं :—

वातज्वर	कफज्वर	वातकफज्वर
१. विषमवेग	१. छर्दि	१. स्तैमित्य, मध्यवेग
२. वेपथु	२. स्तैमित्य, स्तिमितवेग	२. स्वेदाप्रवर्तन
३. कण्ठशोष	३. रोमहर्ष	३. निद्रा
४. ओष्ठशोष	४. प्रसेक, लालास्राव	४. गौरव
५. निद्रानाश	५. अति निद्रता	५. शिरोग्रह
६. क्षवस्तम्भ	६. गात्रस्तम्भ, गात्रगौरव	६. पर्वभेद कास
७. गात्ररौक्ष्य	७. रुगल्पत्व	७. प्रतिश्याय

८. शिरोरुक्	८. नेत्रशुक्लता	८. सन्ताप
९. हृद्रुक्	९. कास	९. स्वेदाप्रवर्तन
१०. गात्ररुक्	१०. मधुरमुखता, लवणास्यता	
११. मुख की विरसता	११. शुक्ल पुरीषता मूत्रता	
१२. गाढविट्कता	१२. अरुचि	
१३. शूल	१३. अविपाकता	
१४. आध्मान	१४. प्रतिश्याय	
१५. जृम्भा	१५. आलस्य	
	१६. तृप्ति	
	१७. उत्क्लेद	
	१८. नात्युष्णगात्रता	

इस तालिका से पहली बात तो यह स्पष्ट होती है कि जितने लक्षण वातज्वर अथवा कफज्वर में गिनाए हैं उनसे आधे ही लक्षण वातकफज्वर में पाये जाते हैं। वे लक्षण भी अधिकतर दोनों के सम्मिलित प्रभाव के द्वारा बने हुए हैं जैसे वातज्वर में शरीरताप कभी घटता कभी बढ़ता है और वेग विषम हो जाता है तथा कफज्वर में तापमान कम ही रहता है। दोनों के मिलने से वातकफ-ज्वरी में तापमान मध्यवेगी ही रहता है। वातज में निद्रा का नाश, कफज में अति निद्रता, वातकफज में केवल निद्राकारक रह जाती है। वातज का शिरःशूल और कफज का मन्दशूल, वातकफज में शिरोग्रह तक ही सीमित हो जाता है।

यदि वात और कफ के गुणों का मिलान किया जावे—

वात के गुण	कफ के गुण	मिश्रण का प्रभाव
रूक्ष	स्निग्ध	×
शीत	शीत	वृद्धि
लघु	गुरु	×
सूक्ष्म	स्थूल	×
चल	स्थिर	×
विशद	पिच्छिल	×
खर	मृदु	×
	मधुर	रहेगी

अब देखना यह होगा कि वातकफज्वर में इन दोनों दोषों की अंशांश कल्पना क्या है। यदि वात की रूक्षता १०० अंश है तथा कफ स्निग्धता ७५ अंश है तो वातकफज्वर में २५ अंश रूक्षता अवश्य बच जायगी। ऊपर वातकफज्वर में पर्वभेद या सन्धिशूल का उल्लेख है जो दोनों रोगों में अलग-अलग नहीं है। यह लक्षण कफ की सामता और वात की वेदना के परिणामस्वरूप विकृति-विषमसमवायात्मक लक्षण है।

तीनों के लक्षणों को देखकर तुलना की जा सकती है। पर इनके लक्षणों में घट-बढ़ दोनों दोषों के प्रकोपक कारणों के वैषम्य के अनुसार हुआ करती है। यदि वात-दोष प्रकोपक कारण अधिक हैं तो द्वन्द्वज होते हुए भी उसमें वात दोष प्रकोप के लक्षण अधिक मिलेंगे। इस दृष्टि से भी चिकित्सक को द्वन्द्वज ज्वरों में दोष प्रकोप का सही-सही आकलन करना परमावश्यक होगा। जो दोष अधिक उल्बण हो तो पहले उसे सम बनाने के लिए यत्न करना होता है। यदि दोनों दोष एक बराबर शक्ति से ज्वरोत्पत्ति कर रहे हों तो दोनों को शमन करने के लिए एक साथ उपाय करने होंगे और पहले उस लक्षण को दूर करना जो दोनों में समान हो और अधिक कष्ट दे रहा हो। जैसे वातकफज्वर में तन्द्रा और मोह।

द्वन्द्वज ज्वरों में भी एक दोषज ज्वरों में करणीय आरम्भिक उपचार ज्यों का त्यों करना होगा। आरम्भ में लंघन, दोषों के निराम और मृदु हो जाने पर स्वेदन, यवागू, तिक्तरस, पाचन का उपयोग उष्णोदक की व्यवस्था, वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन और शिरोविरेचन इन

पंचकर्मों में जो आवश्यक हो उसका प्रयोग पेया, तर्पण देकर औषधयोगों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

वातपित्तज्वर में वैद्य जीवन का लघु पंचमूल गुडूची, मुस्ता, सोंठ, चिरायतासिद्धक्वाथ वातकफज्वर में अमलतास, पिप्पलीमूल, मोथा, कुटकी और हरड़ का क्वाथ, पित्तकफज्वर में गुडूची, नीम की छाल, कुटकी, मोथा, इन्द्र जौ, सोंठ, पटोलपत्र, लालचन्दन का क्वाथ, पिप्पली चूर्ण डालकर पिलाया जाता है।

मैषज्य रत्नावली का ज्वरार्यभ्र–अभ्रक भस्म, ताम्र भस्म, शु० पारद, शु० गन्धक, शु० वत्सनाम १–१ भाग, धत्तूर बीज शुद्ध २ भाग तथा त्रिकटु ५ भाग, जल में मर्दन करके गोलियां बनालें। यह सर्व प्रकार के ज्वरों–एकदोषज, द्विदोषज, त्रिदोषज सभी में दिया जा सकता है। विषम ज्वरों धातुगत ज्वरों में भी उपयोगी है। यकृत्प्लीहा वृद्धि, गुल्म, अग्निमान्द्य, शोथ, दाह, तृषा, शीत कम्प, भ्रम वमि, कास श्वास के उपद्रवों और लक्षणों को भी दूर करता है।

योगरत्नाकर का त्रिभुवनकीर्ति रस भी उसी प्रकार उपयोगी है।

भाई रामबिहारी शुक्ल ने अपनी चिकित्साहस्त पुस्तिका या अनुपान नामक पुस्तक में जिसे हिन्दी पुस्तक एजेंसी ज्ञानवापी काशी ने प्रकाशित किया है द्वन्द्वजज्वरों में निम्न दवाएं या रसयोग बतलाये हैं।

रसेन्द्रसार संग्रह का गदमुरारि (वापित्तज्वर) चीनी+जल से।

उसी ग्रन्थ का मृत्युंजय रस (वातकफज्वर) अदरकस्वरस+मधु से।

भैषज्य रत्नावली का चण्डेश्वर रस (पित्तकफज्वर)

वैद्य भास्कर विश्वनाथ गोखले ने अपने चिकित्सा प्रदीप नामक सुप्रसिद्ध चिकित्सा ग्रन्थ में (प्रकाशक भा० वि० गोखले ३६/१४-१५ एरंडवणें–पूना ४) वातकफज्वर में नागगुटी मिश्रण २–३ रत्ती मधु और सितोपलादि चूर्ण के साथ। वातपित्तज्वर में चन्द्रशेखर रस २–६ गुंजा तक मधु से तथा पित्तकफज में नाग गुटी मिश्रण एक बार देना तथा दूसरी बार देना उचित बतलाया है। उनका वातकफज्वर में हरमल वसन्त योग भी सुन्दर है।

भैषज्य रत्नावली का वातश्लेष्मान्तक रस जिसमें पंचकोल, प्रवाल, शु० पारद, अभ्रक भस्म समभाग अदरख रस के साथ मर्दन करके रखते हैं। मात्रा–२ रत्ती पान के रस के साथ दिया जाता है यह न केवल वातश्लैष्मिक अपि तु वातज पित्तज कफज तीनों पर ही अच्छा कार्य करता है।

पृष्ठ ५४ का शेषांश

जब ज्वर का ताप १०५° पहुँचने लगता है तो इस समस्या को हल करने में आयुर्वेदीय निम्न प्रयोग भी बड़ा महत्व रखते हैं जो अनुभव करने पर ही अपनी छटा दिखाते हैं:—(१) सोंफ तवे पर भून लें तथा मिश्री भी गीले कपड़े में लपेट कर भूभल में दवा दे। बीस पच्चीस मिनट बाद निकाल पीस एक तोला मात्रा फांककर गुनगुना जल पिलाकर उढ़ा कर सुला दें। पसीना आकर ज्वर उतर जायगा।

(२) पाषाण भेद २ माशा, सुहागा फूला आधा माशा खिलाकर ओढ़ कर सोना पसीना लाकर ज्वर कम होता है। इसी प्रकार (३) कंजा की गिरी का चूर्ण २-३ माशा जल से या अतीस कड़ई चूर्ण ४-४ रत्ती गुनगुने जल से, या लोहासव सवा तोला, जल सवा तोला, नौसादर, कलमी शोरा ४-४ रत्ती मिला ३-३ घण्टे पर दिन में तीन चार बार पिलाना, और उढ़ा कर सुलाना लाभकारी योग हैं। आनुसंगिक प्रयोगों में गेहूं की भूसी (चोकर) नमक मिला पोटली बना गर्मकर पैर के तलवे सहलाना या कांसे की कटोरी तलवों में रगड़ना। या सिरका १ छटांक, अर्क गुलाव २ छटांक, कलमीशोरा १ तोला, नौसादर एक तोला मिला कपड़े की गद्दी भिगोकर सिर पर रखना बस्ति द्वारा मल त्याग करना या गीली चादर सर्वांग पर लपेटना, गर्म होने पर बदलते रहना तथा ताप शान्त होने पर भलीभांति पसीना पोंछ कर कपड़े बदल कर गर्म कपड़े ओढ़ाना या मैनफल के बीजों को पीस चन्दनवत् लेप बीसों नाखूनों पर करना। सामान्य स्थिति ताप की आने पर लेप छुड़ा देना चाहिए। अन्यथा अधिक नीचा ताप भी गिर सकता है।

वातश्लैष्मिक ज्वर या इन्फ्लूऐंजा

डा० वी० एन० अग्रवाल एम० एस-सी० ए० शासकीय चिकित्सकबारवां
नरसिंहगढ़ (राजगढ़) म० प्र०



डा० अग्रवाल एक लम्बे समय से बांखा (नरसिंहगढ़) के शासकीय चिकित्सालय में कार्यरत हैं, आपने अपनी चिकित्सा-चातुर्य से इस क्षेत्र में अच्छी यशकीर्ति अर्जित की है आपने हमारे आग्रह पर यह लेख लिखकर भेजा है, जिसमें वातश्लैष्मिक ज्वर के हर पहलू पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। आशा है, लेख पाठकों को पसन्द आयेगा। भविष्य में भी अग्रवाल महोदय सुधानिधि को अपने ज्ञान से आलोकित करेंगे यह पूर्ण विश्वास है।

—गोपालशरण गर्ग

इन्फ्लूऐंजा या वातश्लैष्मिक ज्वर—नामक द्वन्द्वज कहे जाने वाले ज्वर के विषय में यदि सावधानी से विचार किया जावे तो यह रोग द्विदोषज न होकर त्रिदोषज ही मालूम पड़ता है क्योंकि इसमें तीनों ही दोषों के लक्षण स्पष्ट रूप से मिलते हैं—

वातिक प्रमुख लक्षण—सर्वाङ्गमर्द।

पैत्तिक प्रमुख लक्षण—तीव्र ज्वर।

श्लैष्मिक प्रमुख लक्षण—प्रतिश्याय।

फिर इसे द्वन्द्वज कहना कैसे आरम्भ हो गया, नहीं कहा जा सकता।

हम इन्फ्लूऐंजा के विषय में पहले नवीन पाश्चात्य चिकित्सा सम्बन्धी विशेषताओं का जिक्र करेंगे फिर हमारे प्रिय मित्रों और बन्धुओं ने जो ज्ञान दिया है उसे प्रस्तुत करेंगे।

इन्फ्लुऐंजा को पाश्चात्य चिकित्सक जगत् निज रोग नहीं मानता, यह एक तीव्र औपसर्गिक रोग है जो इन्फ्लुऐंजा वाइरस नामक सूक्ष्मरोगाणु से तैयार होता है। इसे फैरट—पैथोजीनिक वाइरस कहा जाता है।

यह रोग जनपदोध्वंस के रूप में कभी-कभी विश्वभर में फैलता है। सन् १८४७-४८, १८८०-९०, १९१८-१९ तथा १९७३-७४ में यह विश्वभर में फैल चुका है और अब भी एक हलकी सी लहर एशिया भर में दौड़ रही है। एक ही प्रकार का वाइरस (विषाणु) इन्फ्लुऐंजा (संक्षिप्त नाम फ्लु) उत्पन्न नहीं करता अपि तु दो प्रकार



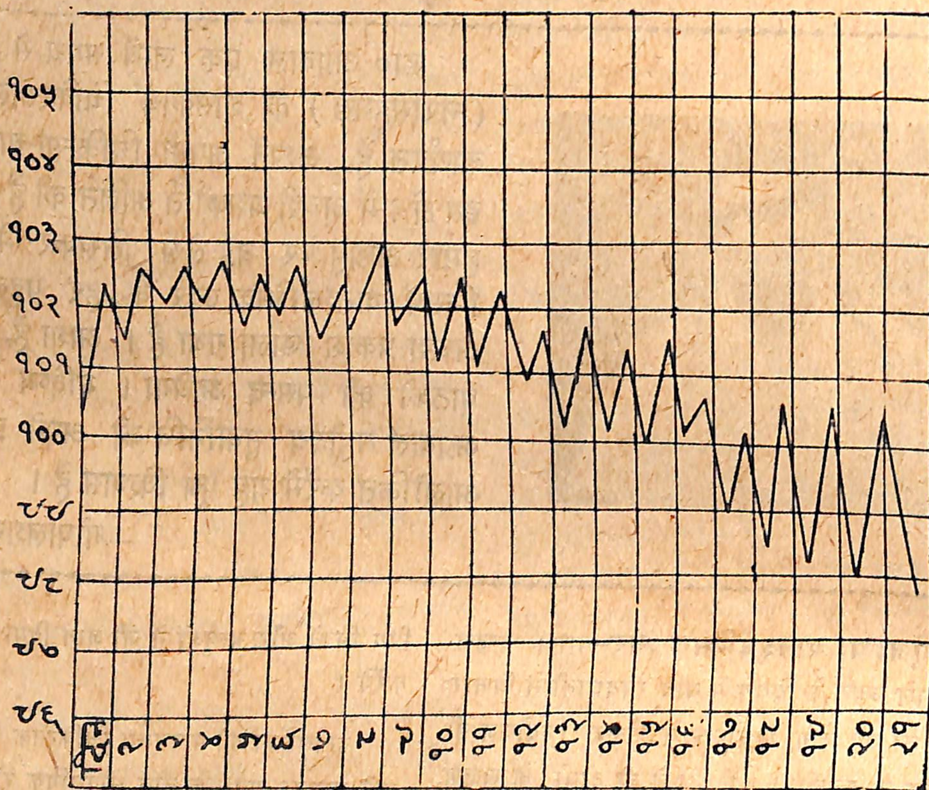
के ये होते हैं। दोनों का प्रभाव मानव शरीर पर एकसा पड़ता है। दोनों के प्रतिजन (एण्टीजन) एक से ही होते हैं।

फ्लु के रोगलक्षण निम्न प्रकार के होते हैं—

सामान्य फ्लु—आरम्भ में थोड़ा ज्वर, आंख के गोलकों में दर्द, हाथ-पैरों और शरीर में दर्द फिर ज्वर १००° फै. से १०४° फै. तक बढ़ जाता है, शरीर रूक्ष रहता है, निद्रा आती नहीं, सूखी खांसी कई दिन लगातार रहती है। नाड़ी तेज भरी हुई पैत्तिक या पतली वातिका गले और नासा की कला रूक्ष तथा अधिरक्तीय हो जाती है।

पेशियां बराबर मुलायम रहती हैं जबकि आन्त्रावरोध में कड़ी पड़ जाती हैं।

इस रोग में फेफड़ों में प्रभाव पड़ा करता है। श्रवण यन्त्र से सुनने पर कई प्रकार की आवाजें छाती के निचले भाग में सुनाई देती हैं। मानों कि ब्रांकोन्यूमोनियां हो गया हो, खांसी में कफ कठिनाई से निकलता है तथा उसमें रक्त के धब्बे आ सकते हैं। इस प्रकार के फ्लु में रक्त के श्वेत कण बढ़कर १५००० से ३०००० प्रतिघन मिलीमीटर तक हो जाते हैं, जबकि सामान्य प्रकार में श्वेतकणों की संख्या ४००० प्रतिघन मिलीमीटर या उससे भी कम हो जाती है। रक्त के लाल कण भी बहुत बढ़



महास्रोतीय फ्लु—इसमें ज्वर ९९° फै. से ऊपर नहीं जाता। चौबीस घण्टे बीतते-बीतते रोगी का जी मिचलाने लगता है और वह उलटियां करने लगता है और पेट में दर्द शुरू हो जाता है। रोगी को कोष्ठबद्धता या अतीसार दोनों में से कुछ भी हो सकता है। इसके लक्षणों को देखकर आनाह या आन्त्रावरोध का भय हो सकता है, पर वह मिथ्या होता है क्योंकि इसमें उदर-

जाते हैं ७० से ८० लाख प्रतिघन मिलीमीटर तक। मूत्र लाल सुर्ख रक्त और अल्ब्युमिन युक्त देखा जा सकता है।

आमाशय रस का विश्लेषण करने पर उसमें क्लेदक-कफ (जलीयांश) अधिक लवणाम्ल (पित्तांश) कम मिलता है।

रोगी में गलतुण्डिका शोथ (टान्सीलाइटिस), वायु-विवर पाक (साइन्यूसाइटिस), स्वरयन्त्र पाक तथा मध्य

कर्णपाक तक मिल सकता है।

इस रोग में अतिविषाक्तता हो जाने पर मृत्यु से कुछ पूर्व कामला भी होता हुआ देखा जाता है।

वातिक फ्लु—इसमें मेनिंजाइटिस जैसे या मेनिंजो-ऐंकैफैलाइटिस जैसे लक्षण मिलते हैं, जिनमें गरदन का टेढ़ा होना, सिर में तीव्र वेदना होना और प्रकाश संत्रास (फोटोफोबिया) होना मुख्य हैं। नाड़ी की गति १०० बार प्रतिमिनट तक चली जाती है जो परिश्रम करने पर १२० तक हो जाती है। रक्तबल (रक्तदाब) घट जाता है। यदि इस प्रकार के फ्लु के रोगी को अनिद्रा, छर्दि, तापमान का गिर जाना, रक्तबल का घट जाना, नाड़ी की गति का बढ़ते चला जाना, श्वेतकणों की गणना एकदम कम हो जाना, श्वसनक, रक्तष्ठीवन तथा विषाक्त कामला के लक्षण उत्पन्न होते चले जायें तो वह काल के करालगाल में पहुंच जाता है।

इस रोग में निम्नांकित प्रधान लक्षण (*Cardinal Symptoms*) होते हैं—

१. ज्वर का सहसा चालू हो जाना।

२ मुख, नासा और गले की श्लेष्म कलाओं की अतिरक्तता होना।

३. सारे शरीर में अङ्गमर्द या हड़फूटन होना।

४. ग्लानि होना।

५. सिर में भयङ्कर शूल होना।

६. हाथ पैरों में पटकन पड़ना।

यह स्मरण रखना चाहिए कि फ्लु सज्वर प्रतिश्याय नहीं है। प्रतिश्याय में ज्वर धीरे-धीरे बढ़ता है। सर्दी के लक्षण पहले आते हैं और यह रोग ऋतु के परिवर्तनों के साथ उत्पन्न होता है। जबकि फ्लु बिना सूचना एकदम आक्रमण करता है, ज्वर शीघ्र ही तीव्र हो जाता है। फ्लु जब भी आता है उस जिले में तथा शहर में एक साथ अनेकों को उत्पन्न होता है। सभी में थोड़े भेद से एक से लक्षण मिलते हैं।

इस रोग की सबसे बड़ी दवा चारपाई पर लेटकर पूर्ण विश्राम करना है। जो विश्राम नहीं करता, फ्लु का ऐसा रोगी मर भी सकता है और बहुत दुःख उठाता है। उसके कमरे को चारों ओर से बन्द करने की मूर्खता नहीं करनी चाहिए। खुली हवा का आदान–प्रदान होने देना शुभतम लक्षण है। उसे पूर्ण लङ्घन पर नहीं रखना चाहिए उसे गरम–गरम पेय पदार्थ कुछ दिन देते रहकर फिर लघु सुपाच्य आहार द्रव्यों पर रख सकते हैं। चाय, यवमण्ड, हलकी चाय, अदरक और तुलसी पत्र की चाय, फलों का रस और ग्लूकोज देते ही रहना चाहिए। उसे खूब जल पिलाते रहना चाहिए। जल गरम करके देना उचित है। यदि रोगी को उलटियां परेशान कर रही हों और उसका इलैक्ट्रोलाइटिक सन्तुलन बिगड़ने की संभावना हो तो ग्लूकोज–सैलाइन की बोतल नस द्वारा चढ़ाने से नहीं रुकना चाहिए।

स्नान तो नहीं पर गरम पानी में भिगोकर निचोड़ी गई तौलिया से उसका शरीर पोंछ देना उचित है।

गले की खराश और छाती के दर्द को दूर करने के लिए गरम पानी में टिंक्चर बेंजौइन को डालकर या विक्स डालकर पानी और नाक दोनों को तौलिया से ढंक कर सांस लेने से बेहद राहत मिलती है।

ऐलोपैथी में इस रोग की अभी तक कोई अचूक दवा नहीं निकल सकी। केवल लाक्षणिक चिकित्सा ही प्रचलित है। उपद्रवों और लक्षणों की वही चिकित्सा है जो अन्यत्र की जाती है। ज्वर, सिरदर्द, अङ्गमर्द को दूर करने के लिए एस्प्रिन विटामिन सी और बेरिन मिलाकर दे सकते हैं। कोष्ठबद्धता होने पर लिक्विड पैराफीन, ग्लैक्सैना या कैलोमल दे सकते हैं।

आयुर्वेद में इस रोग में महास्रोतीय लक्षण अधिक होने पर अथवा सामान्य लक्षण प्रकट होने पर त्रिभुवन-कीर्ति अच्छा काम करती है।

आयुर्वेद में ज्वरातीसार की दवा है आनन्दभैरव जिसमें, हिंगुल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, शुद्ध टंकण, शुद्ध वत्सनाभ और शुद्ध गन्धक समभाग लेकर नीबू के रस में १२ घण्टे घोंटकर १–१ रत्ती की गोली बनाते हैं। त्रिभुवन कीर्ति में हिंगुल, सोंठ, मिर्च, पीपल, सुहागा, शुद्ध वत्सनाभ और पिप्पलीमूल समभाग लेकर तुलसी, अदरक, धत्तूर रसों की ३–३ भावनाएं देकर गोलियां बनाई जाती हैं। इस दृष्टि से **त्रिभुवनकीर्ति** जहां ज्वर

—शेषांश पृष्ठ ७२ पर

वातश्लैष्मिक ज्वर तथा अनुभूत चिकित्सा

श्री वैद्य गोवरधनदास चागलानी, एटा (उ० प्र०)

आप सिन्धी वैद्य हैं। आयुर्वेद के अच्छे लेखक हैं और कष्टसाध्य तथा जटिल एवं कठिन रोगों के विशेषज्ञ हैं। स्वभाव से सरल और कार्य में आयुर्वेद के प्रति निष्ठा इनकी वे विशेषताएं हैं जो इनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। आपके लेख में सभी कुछ सारगर्भित है।

—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

रोग के लक्षण—रोगी को पहले सर्दी जुखाम होकर ज्वर होता है। ज्वर शीत लगकर या कभी बिना शीत के भी बढ़ जाता है। शिरशूल तथा शारीरिक दर्द अधिक होता है। कभी किसी रोगी में खांसी अधिक होती है तथा किसी रोगी में कण्ठ प्रदाह से गले में दर्द भी होता है। इस ज्वर में दुर्बलता कमजोरी अधिक हो जाती है। किसी-किसी रोगी को फुफ्फुस तथा हृदय की दुर्बलता अधिक हो जाती है मुख्यतः ये ४ लक्षण प्रत्येक वात श्लेष्मज्वर रोगी में मिलते हैं—(१) प्रतिश्याय (सर्दी जुखाम) (२) ज्वर (३) शरीर व शिर में शूल (४) अधिक दुर्बलता, कभी किसी रोगी को वमन (उल्टी) व अतीसार (दस्त) भी हो जाते हैं। किसी-किसी रोगी को श्वसनक-ज्वर (निमोनियां) के लक्षण भी साथ में देखने को मिलते हैं।

रोगी की तत्काल करणीय व्यवस्था—

१. जल औटाकर ठंडा कर दें। शीतऋतु में जल गुनगुना ही दें।

२. शीतल वायु,शीतल जल,वर्षा में भीगने, ओस में सोने से बचाना चाहिये।

३. ज्वर अधिक हो तो शिर में गुलरोगन या चन्दनादि तैल की शीशी को शीतल जल में ठंडा कर रोगी के शिर में लगवा दें अभाव में शीतल जल की पट्टी या अधिक ज्वर की तेजी में बर्फ की पट्टी माथे पर रखवा दें। ज्वर कम हो जाने पर बर्फ की पट्टी बन्द कर दें।

ज्वर साधारण या मध्यम १०१ डिग्री से १०३ या १०४ तक (मुख का तापमान) देखने को मिलता है। बगल का १ डिग्री तापमान कम रहता है। छोटे बच्चों को तापमापकयंत्र (थर्मामीटर) मुख में न लगावें कभी-कभी छोटे बच्चे अथवा अर्ध मूच्छित अवस्था में बड़ी आयु के भी रोगी तापमापक यंत्र को चबा लेते हैं। अतः खूब सावधानी से तापमापक यंत्र को लगाना चाहिये या नाड़ी से ज्वर का अनुमान कर लेना चाहिये।

चिकित्सा प्रतिषेध-रोक थाम—१. मेला, उत्सव, सिनेमा, स्कूल, कालेज आदि जहां जन-समूह इकट्ठा होवे वहां पर संक्रामक रूप से फैलने वाले वातश्लेष्मज्वर के फैलाव की अधिक सम्भावना रहती है अतः उसकी रोक थाम के लिये भीड़-भाड़ वाले स्थानों पर नहीं जाना चाहिये।

२. शुद्ध जलवायु वाले स्थान पर रहना चाहिये। शुद्धता पूर्वक सफाई के साथ सुपाच्य भोजन लेना चाहिये।

३. तेज धूप व शीतल जलवायु से बचाव चाहिये। बर्फ, दही, मट्ठा चावल आदि न लें।

४. वात-कफ को दूषित करने वाले पदार्थों से बचना चाहिये।

५. मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिये।

६. दिन में सोने से कफ की वृद्धि होती है तथा रात्रि को जागरण से वायु कुपित होता है अतः दिन में सोने तथा रात को अधिक देर तक नहीं जागना चाहिये।

७. प्रति दिन चाय, अदरक, बड़ी इलायची, तुलसी-पत्र, कालीमिर्च डालकर रोगी की अवस्थानुसार दे सकते हैं।

८. सफाई आदि का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये वायु शुद्धि के लिये गुग्गुल, अगरबत्ती हवन सामग्री आदि का प्रयोग किया जाना चाहिये।

९. थूक आदि तथा मल-मूत्र आदि पर मक्खी मच्छर आदि बैठकर अन्य स्थानों पर भी रोग फैलाने में कारण बनते हैं अतः इनकी रोक थाम के लिये उपाय करना चाहिये।

१०. रोगी को घर के अन्य स्वस्थ लोगों से अलग रखना चाहिये।

११. रोगी को मलावरोध (कब्ज) हो तो दूर करना चाहिये।

औषधि चिकित्सा—रोगी की सामान्य अवस्था में १. संजीवनी वटी २ रत्ती+त्रिभुवनकीर्ति रस १ रत्ती गोदन्तीभस्म ४ रत्ती+मृगश्रृंगभस्म २ रत्ती+अभ्रक-भस्म १ रत्ती+व्योषादिवटी २ गोली इनकी ४ मात्रा ३-४ घंटे पर तुलसीपत्र+कालीमिर्च डालकर बनायी चाय से या गुनगुने जल से।

२. यदि ज्वर अधिक तेज हो अर्थात् १०४ डिग्री मुख का तापमान हो और पित्त के लक्षण हों या उससे अधिक हो तो उपरोक्त मिश्रण योग में से संजीवनी वटी, तथा त्रिभुवनकीर्ति रस, निकाल कर उसके स्थान पर आनन्दभैरव रस, (ज्वर) और मुक्ताशुक्ति पिष्टी अथवा प्रवालपिष्टी मिलाकर दे सकते हैं।

३. वमन व उबकाई के लिये अमृतारिष्ट, द्राक्षारिष्ट, द्राक्षासव, अर्जुनारिष्ट, आदि में शर्बत नीबू और १-२ बूंद अमृतधारा बड़ी आयु के रोगियों में) मिलाकर देने से तथा अवस्थानुसार बीच-बीच में गंधकवटी (राजवटी) चूसने से वमन (उल्टी) उबकाई में शीघ्र लाभ हो जाता है। कभी-कभी किसी बड़े रोगी अथवा (रोगी बच्चों को भी) संजीवनी वटी,+सूतशेखर रस (स्वर्ण युक्त), या स्वर्ण रहित+गंधकवटी (राजवटी) मुक्ताशुक्ति पिष्टी का मिश्रण शर्बत (पानक) नीबू या नीबू+अदरक की चाशनी में चटाने से उल्टी-उबकाई में लाभ शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

४. शरीर में पीड़ा तथा शिरशूल में योगराज गुग्गुल, लक्ष्मीविलास रस, शिरशूलादि बज्ररस, सूतशेखर रस, घी, बूरे, दूध, या चाय से रोगी की अवस्थानुसार देने से शीघ्र लाभ हो जाता है। अधिक तीव्रशूल पर (वेदनान्तक वटी), (कपूर+खुरासानी अजवायन+पीपरा-मूल रससिन्दूर+पोस्त डोंडा का घनसत्व से बनी अनुभूत औषध) १-२ गोली घी—बूरे या दूध अथवा चाय से देने पर शीघ्र ही रोगी को लाभ दिखाती है।

५. खांसी पर चूसने के लिये व्योषादि वटी, लवंगादि वटी, एलादिवटी, की गोली १-१ करके दिन भर में ५-७ गोली अवस्थानुसार देने से खांसी (कास) में जल्द ही शान्ति मिलती है। खांसी का अधिक जोर हो तो द्राक्षा-रिष्ट, वासारिष्ट, दशमूलारिष्ट-कासारिसुधा (वांसापत्र, सोंठ+मुलहठी+कालीमिर्च+पीपल छोटी+नवसादर पिपरमेन्ट का अनुभूत शर्बत) देने से शीघ्र लाभ मिलने लगता है।

गले में खराशें (कण्ठ प्रदाह) आदि से भी खांसी आती है उसमें कण्ठासृत लगावें।

६. रोगी में शारीरिक दुर्बलता कभी-कभी हृदय की दुर्बलता अत्यधिक हो जाती है उसके निवारणार्थ महालक्ष्मीविलास रस, महामकरध्वजवटी, (अपना अनुभूत योग) स्वर्णबसंतमालती मिश्रण, स्वर्णसूतशेखर रस, बच्चों को कुमारकल्याण रस, आदि तथा साधारण रोगियों को लक्ष्मीविलास रस, (नारदीय) या महालक्ष्मीविलास, (शिरो.) भी अवश्य ही अपना अच्छा प्रभाव दिखाते हैं। कभी किसी रोगी को साथ में च्यवनप्राश, भी देने से सोने में सुहागे का काम हो जाता है।

सन्निपात ज्वर एक विवेचन

वैद्यराज श्री युधिष्ठिरसिंह, बैबहाउर, भैंसवार (सतना)

इस विषय पर हमारे पुराने और श्रद्धेय मित्र वैद्यराज श्री युधिष्ठिरसिंह जी बैबहाउर सतना वालों ने सभी दृष्टि--शास्त्रीय एवं अर्वाचीन--से अपने सुलेख में अच्छा प्रकाश डाला है।

उनके लिखने की शैली बड़ी पुष्ट है। वे उन्हीं गिरिशैलों के सन्निकट निवास करते हैं जिन्हें कभी मर्यादा पुरुषोत्तम राम, जगज्जननी सीता, शेषनागावतार लक्ष्मण, राम-भक्त हनुमान् और भ्रातृस्नेह के आदर्श भरत जी के पादारविन्दों ने पवित्र किया था। हमें विश्वास है परब्रह्म परमात्मा उन्हें एकशत शरद् पर्यन्त सुखी और स्वस्थ रखेगा। —रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।



जिसमें वात पित्त कफ ये तीनों दोष परस्पर मिलकर शरीर की धातुओं को दुष्ट करें, वैद्यों ने उस ज्वर को सन्निपात ज्वर कहा है। इस सन्निपात ज्वर के सामान्य और विशेष भेद करके दो प्रकार के लक्षण हैं। सामान्य लक्षण सुश्रुताचार्य ने और विशेष लक्षण चरक आदि ने कहे हैं। जिससे कि वैद्य दोषों के परिणाम से उनकी प्रधानता और अप्रधानता जानकर रोगों के जीतने में समर्थ हों अल्प बुद्धि वाले वैद्यों का इलाज करने में आसानी हो इस लिए सन्निपात के १३ भेद कहे हैं। इस प्रकार नवीन तथा प्राचीन आचार्य्यों ने इन वातोल्वण आदि भेद करके जो १३ भेद कहे हैं लिख रहा हूँ। इन वैद्यों ने सन्निपात के ५२ भेदों की कल्पन्ना की है। उनमें जो व्याधि के सूचक हैं उनके लक्षणादि लिखता हूं।

रोगोत्पत्ति में कारण आयुर्वेदिक तथा आधुनिक मत से—खट्टे, चिकने, गरम, तीखे, कडुवे, मीठे, पदार्थों के अनियमित खाने से, शराब पीने से, धूप अधिक सहने व घूमने से, आग के पास बैठे रहने से, कसैली चीजों के सेवन से, रूखे एवं भारी पदार्थों के खाने से, अधिक कामी होने से, क्रोध अधिक करने से, ठंड अधिक लगने से, चिन्ता कसरत, श्रम करने से, चैत्र बैशाख श्रावण भादों और आश्विनि के महीने में अधिकतर विशेष त्रिदोष कुपित होता है। कुपित हुए तीनों दोष आमाशय पर चढ़ाई

करते हैं । यानी अपना अष्ठिान बनाते हैं ।

जब खाने पीने की गड़बड़ी से पाचन-क्रिया ठीकतौर से नहीं होती तब कच्चा रस आम शरीरस्थ आदि अग्नि पर प्रभाव करता है और उसे शांत कर देता है । बाद का खाया हुआ अन्न सब कफ के रूप में परिणत हो जाता है । फिर उसमें वायु भी मिल जाती है । दूषित हुआ वात वाहिनी नसों के काम में बाधा पहुँचाता है रुका हुआ वायु फिर पित्त से दोस्ती बढ़ाता है । इस तरह तीनों दोष एक साथ उछल कूद मचाते हैं । एक को दबाते हैं तो दूसरा उछलता है । दूसरे को दवाते हैं तो तीसरा पैर पटकता है ।

काल बुद्धि और इन्द्रियों के विषयों का मिथ्या योग अयोग और अति योग हो तो रोग पैदा होते हैं । बात है भी कुछ ऐसी ही रोग अपने आप पैदा नहीं होते जब हम उनके लिए रास्ता साफ कर देते हैं तब वे हमारे शरीर में आते हैं। कोई भी रोग स्वास्थ्य की सोन्दर्यावस्था में नहीं होता । किसी कारणवश जब शरीरस्थ धातुओं में बैषम्य पैदा हो जाता है त्रिदोष की विकृतावस्था में रोगों का होना अनिवार्य है । कुपित हुआ दोष कुछ गड़बड़ तो अन्दर करेगा, शान्त होकर नहीं बैठेगा इसी भाव को लेकर भावमिश्र ने लिखा है–

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ।।
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ।।

दोष कुपित होने से रोग पैदा होते हैं किन्तु दोष भी अपने आप तो कुपित नहीं होते उनको कुपित होने में भी कुछ कारण अवश्य होते हैं इसका स्पष्ट उत्तर 'विविधाहित सेवनम्'' है जो अहित पदार्थ हैं उनका सेवन करने से दोष कुपित होते हैं, मिथ्या आहार विहार से सदा बचना चाहिए ।

आधुनिक शास्त्र के मत वाले चिकित्सकों का मत—सन्निपात की एक विशेष अवस्था को न्यूमोनियां कहते हैं । निदान के अपूर्व होने के कारण उन्हें नये-नये रोगों का आश्रय लेना पड़ता है, सन्निपात के विशेष चिह्नों से इसके चिह्न मिलते हैं ।

रोग उत्पत्ति के कारण—यह रोग सर्दी लगने, ज्वर में परहेज बिगड़ने से, अति परिश्रम से, असीमित मैथुन से, आमाशय में गड़बड़ी होने से अक्सर पैदा होता है ।

रोग के विशेष रूप से वे लक्षण जो रोग की जटिलता में कारण हैं आयुर्वेदिक तथा आधुनिक मत से निम्न लिखित हैं ।

लक्षण—क्षण में दाह, क्षण में शीत लगना, हड्डी जोड़ और सिर में दर्द, आंसू सहित गंदले लाल फटे से अथवा गड्डे में घुसे पर अत्यन्त टेढ़े नेत्र होना, कानों में शब्द होना तथा दर्द जौ, धान, आदि के समान कंठ में कांटों का पड़ना, तन्द्रा नेत्रों का आधा खुला और भिचा रहना, बेहोशी, बकना, खांसी, अरुचि घुमनी, जीभ का जले हुए के समान होना, गौ की जीभ के तुल्य समान खरखरी होना, शरीर का ढीला पड़ जाना, केवल रक्त अथवा पित्त का अथवा कफ मिले हुये रक्त या पित्त का थूकना, सिर का इधर-उधर घूमना, प्यास, निद्रानाश, छाती, पार्श्व में दर्द, पसीना, मूत्र और पखाने का देर से आना, कमी से आना, शरीर का अत्यन्त दुबला होना, निरन्तर कण्ठ में घुरघुर होना, भिड़ के काटे हुए के समान मटमैले चकत्तों का पड़ना अथवा बीच में खाली मण्डलों का होना, कम बोलना, कान नाक आदि का पकना और पेट का भारी रहना, दोषों का देर में पाक होना ये लक्षण सन्निपात ज्वर के होते हैं ।

आधुनिक सन्निपात के विषय में कुछ लक्षण नहीं लिखे गये केवल वेदना शामक तथा विटामिन बी० की कमी का होना मानते हैं ।

रोग चिकित्सा के सिद्धान्त आयुर्वेदिक तथा आधुनिकमतानुसार—

सन्निपात चिकित्सायामयमेवक्रियाक्रमः ।
यो यो दोषो भवेद् वृद्धस्तंपूर्वं समुपाचरेत् ।।

सन्निपात चिकित्सा का यह सिद्धान्त है कि जो-जो दोष बढ़ा हुआ हो, उस ही को प्रथम शान्त करे ।

लङ्घनोद्धूलनं स्वेदो नस्यं, निष्ठीवनाञ्जने ।
अबलेहास्त्रिदोषेऽस्मिन् क्वाथादेः पूर्वमिष्यते ।।

इस त्रिदोष ज्वर में लंघन उद्धूलन स्वेदन नस्य निष्ठीवन और अंजन अवलेह क्वाथ आदि सेवन पहले कराना चाहिए ।

जब तक सन्निपात ज्वरों में दोषों की आम का पाक न हो तब तक वैद्य रोगी के बल और कमजोरी को देखकर लङ्घन करावें। रूखी होने से वायु की आम जल्दी पक जाती है। स्निग्ध होने से पित्त की आमता वायु से देर में पकती है। कफ के अधिक स्निग्ध होने से कफ की आम क्रमानुसार पित्त से भी अधिक दिनों में पकती है।

विषहो ते कफ पित्ते स्निग्ध द्रव हेतु लङ्घनं बहुनाः।
किन्त्वामक्षय पश्चात्नो सहत लङ्घनं वायुः ॥

कफ पित्त स्निग्ध और द्रव होने के कारण बहुत लङ्घन सह जाते हैं, किन्तु वायु लङ्घन द्वारा आंव के क्षय हो जाने पर भी फिर लङ्घन नहीं सह सकता।

शरीर के हल्के होने तथा मल, मूत्र, अपान वायु मुख कष्ट वृद्धि के होने पर भूख, प्यास के लगने पर वैद्यराज वात के पर्वभेद, अङ्गवेदना, खांसी, मुख, शोथ डकार आदि रोगों के भय से लङ्घन न करवायें।

मग्नस्य सन्निपातेऽब्धेः पूर्वं संशमयेद्बुधः।
प्राधान्येनकफाञ्चामं पश्चादन्यं यथायथम् ॥
कफामशमयोरन्ते वातपित्ते प्रशाम्यतः।
अतो ज्वरे त्रिदोषेऽस्मिन्नात्रश्लेष्म श्चयोहितः॥

वैद्य पहले सन्निपात रूपी समुद्र से डूबे हुए रोगी के प्रधानता से कफ और आम को शान्त करे, बाद में बक्त के अनुसार अन्य दोषों को शान्त करे। इस लिए त्रिदोष ज्वर में आम और कफ को शान्त करना आचार्यों ने कहा है।

वृद्ध वैद्या विशेषेण क्राथान् यान् तु प्रयुञ्जते।
सन्निपातज्वरे तांश्च यथा दोषं प्रयोजयेत् ॥

चतुर वैद्य सन्निपात ज्वर में विशेषकर जिन क्राथों का प्रयोग करते हैं उन्हीं क्राथों का दोषानुसार प्रयोग करना चाहिए। सन्निपात ज्वर वाले रोगी को सिवाय शमन के रेचन औषधियां नहीं देनी चाहिए।

ऐलोपैथिक मत से—ऐलोपैथी ग्रन्थों में शायद ही कोई ऐसी औषधि हो जो न्युमोनियां के दोषों को पूर्णतया दूर कर सके। बल्कि जंका मंका छिपाने के लिए, सन्निपात नाश के लिए क्लोरोमाइस्टीन देते हैं।

रोगी की तत्कालीन व्यवस्था—चतुर वैद्य रोगी के सम्पूर्ण लक्षणों को जानकर और उसकी नाड़ी देखकर बढ़े हुए उपद्रवों को शान्त करने का प्रयत्न करे।

लक्षण सबै विचार कै, अरु नाड़ी गति देखि।
चतुर वैद्य औषधि करै, जबै ग्रन्थ महं पेखि॥
रोगी के सब रोग को, समुझै ग्रन्थ मझार।
पहले कीजै तासु के, संयम को निरधार ॥

१. रोगी के आते ही क्या उपचार किया जाय—प्रथम रोगी के लक्षण और नाड़ी को देखकर चतुर वैद्य उसके जल की व्यवस्था तथा दोष के अनुसार लङ्घन की व्यवस्था तथा औषधियों की व्यवस्था करें—

पहले ज्वर के रोगिए, लङ्घन कह्यो प्रधान।
अनुचित जाको कहत हैं, ताको करौं बखान॥
बालक बूढ़ों क्षुधित, वातज्वर क्षयज्वर वारी।
नारि गर्भिणी निरखि, देहि दुर्बल दुख भारी॥
ऊर्ध्ववात जिहि होय, अभय अन्तर लख लीजै।
लङ्घन ऐसे निरखि, भूल के करन न दीजै॥
लङ्घन मानुष करत हैं, दोष सहित वह आय।
दोष गये फिर कैसहू, लङ्घन कियो न जाय॥

२. रोगी के आवश्यक परीक्षण—रोगी के सब लक्षण और नाड़ी की गति देखकर तथा रोग वृद्धि का कारण जानकर उसके बढ़े हुए उपद्रवों के शमन हेतु औषधियां तथा पथ्यापथ्य का विचार कर रोगानुसार काढ़ा, वटी, चूर्ण दें।

३. रोगी की परिचर्या के निर्देश—प्रथम रोगी को हवा रहित साफ मकान में स्वच्छ बिस्तर सहित पलंग या चारपाई में लिटाकर जल और पथ्यापथ्य पर विचार कर रोगानुसार शमनार्थ क्वाथ, गुटिका, चूर्ण, अवलेह आदि की व्यवस्था करें। रोगी की सेवा करने वाला परिचायक स्वामी का विश्वासी सत्यभाषी चतुर साक्षर हो और रोगी का हितैषी और वर्ण वाला हो।

४. रोगी का पथ्यापथ्य निरूपण—रोगी के रोगानुसार और अवस्थानुसार विचार रक्खें। बूढ़ा, बालक, गर्भिणी हो तो लङ्घन न करावें। इनको सुपाच्य, हल्का पथ्य और औटाया जल दे। पथ्य में यवागु, नमकीन, साबूदाना, विलेपी आदि भी दें। यदि रोगी बलवान् हो तो लङ्घन करावें।

रोगी की लाक्षणिक चिकित्सा—रोगी के रोगानुसार और नाड़ी की गति देखकर चतुर वैद्य उसके बढ़े हुए वात-पित्त-कफादि दोषों के समनार्थ आयुर्वेदिक औषधियों का प्रयोग कर तथा जल और पथ्यापथ्य पर ध्यान रक्खें।

६. रोगी के मूलकारण की दूरी करने हेतु विशेष चिकित्सा—यदि रोगी भागे प्रलाप करे तथा कय करे तो रसतन्त्रसार प्रथम भाग की निम्न **संजीवनी वटी** का प्रयोग करें—

१; संजीवनी वटी ०

द्रव्य—हरड़, बहेड़ा, आवला बीज रहित सब १०-१० ग्राम, बायविड़ंग, सोंठ, वच, शुद्ध भिलावा, शुद्ध बच्छनाभ, शुद्ध सिंगरफ ये भी १०-१० ग्राम, ताजी गिलोय २० ग्राम, पिपरमेंट का फूल ६ ग्राम लें।

निर्माण विधि—प्रथम सबको कूट छानकर रखलें फिर गोमूत्र में ४१ दिन घोटकर चना बराबर गोली बना लें।

मात्रा—एक-एक गोली दो-दो घण्टे पर अदरक के रस या जल से दें।

उपयोग—यह वटी सन्निपात ज्वर में अति हित करती है।

२. त्रिभुवनकीर्ति—

द्रव्य—पीपर, सोंठ, मिर्च, शुद्ध सिंगरफ शुद्ध बच्छनाभ सुहागे का फूला पीपरामूल ये सब १०-१० ग्राम लें।

निर्माण विधि—सबको कूट कपड़छान करलो फिर तुलसी के पत्तों का रस, अदरख व धतूरे के पत्तों के रस में ३-३ भावना देकर घोटकर मटर बराबर वटी बना लें।

मात्रा—एक-एक गोली दिन में २-३ बार अदरख के रस और शहद से दें।

उपयोग—यह वटी ज्वर कफनाशक स्वेदल और वेदनाहर है।

३. अश्वकंचुकी रस—

द्रव्य—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध बच्छनाभ, सुहागे का फूला, शुद्ध हरताल, शुद्ध जमालगोटे की मिंगी, हर्र बहेड़ा आमला बीज रहित पीपर, सोंठ, मिर्च ये सब १०-१० ग्राम लें।

निर्माण विधि—सबको कूट कपड़छन कर लें। फिर भांगरे के रस में २१ दिन घोटकर मटर बराबर गोली बना लें।

मात्रा—एक-एक गोली दिन में २-३ बार जल से दें।

उपयोग—यह वटी सन्निपात ज्वर को दूर करती है।

७ रोग के असाध्य लक्षण—जिसके दोनों फुफ्फुस दुष्ट हो गये हों अथवा एक तरफ का ही सब फुफ्फुस दुष्ट हो गया हो, नासिका से श्वास लेने से नथुने अधिक फूलें, अत्यन्त पसीना आता हो। तब उसका जीवन दुर्लभ है। जो रोगी कुछ मन्द प्रलाप करे पसीना से तर हो। बेहोश हो जाता हो स्वसनक रोगी दारुण अतीसार से आक्रान्त या क्षीण हो तो वह अवश्य मर जावेगा।

८. रोग पर अनुभूत प्रमुख शास्त्रोक्त औषधियां—

चिरायता, देवदारु, दशमूल, नागरमोथा, कुटकी, इन्द्रजौ, धनियां, गजपीपल ये सब ६-६ ग्राम लो।

निर्माण विधि—सब को यवकुट करके १०-१० ग्राम की पोटली बनाकर एक पोटली आठ गुने जल में मिट्टी के पात्र में औटा कर चौथाई रहने पर छान कर सेवन करें।

मात्रा—दिन में २-३ बार दें।

उपयोग—इस काढ़े से तन्द्रा, प्रलाप, खांसी, अरुचि, दाह, मोह और श्वास तथा त्रिदोष से उत्पन्न ज्वर नाश होता है।

२. अष्टांग अवलेहिका

कायफल, पुष्करमूल, काकड़ासिंगी, सोंठ, मिर्च, पीपल, जवासा, काला जीरा ये सब ६-६ ग्राम ले।

निर्माण विधि—सबको कूट, कपड़छान चूर्ण करलें।

मात्रा—३-३ ग्राम शहद से मिलाकर दिन में कई बार चटावें।

उपयोग—यह अवलेहिका कठिन सन्निपात, हिचकी, श्वास, खांसी और कण्ठावरोध को दूर करती है।

उष्ण ऋतु में केवल अदरख के रस से दें और शीत ऋतु में शहद मिलाकर दें।

३. मृत्युञ्जय रस

द्रव्य—शुद्ध हिंगुल २० ग्राम, शुद्ध बच्छनाभ, शुद्ध गन्धक, काली मिर्च सोहागे का लावा और पीपल ये सब १०-१० ग्राम लो।

निर्माण विधि—प्रथम सबको कूट कपड़छान कर लें फिर सबको अदरख के रस में ३ दिन घोटकर मिर्च बराबर गोली बना लें।

मात्रा—१ से ३ गोली दिन में ३ बार अदरख के रस या जल से दें।

उपयोग—यह वटी सन्निपात के ज्वर में अति फलप्रद है।

४. सन्निपात सूर्य रस

द्रव्य—शुद्ध संखिया, सफेद कत्था, डोंडा के दाना ये सब १०-१० ग्राम लो।

निर्माण विधि—प्रथम सब को कूट कपड़छान कर लो, फिर सब को बंगाली पान के रस में २ दिन घोट कर मिर्च बराबर गोली बनालें।

मात्रा—एक-एक गोली दोनों समय बताशे में दें।

उपयोग—इस वटी के सेवन से शीतांग सन्निपात नष्ट होता है।

लोहबान रस

द्रव्य—शुद्ध पारा सिंगरफ से निकाला हुआ, शुद्ध गन्धक, शुद्ध सिंगिया, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध लोहबान ये सब १०-१० ग्राम और सोंठ ६० ग्राम लो।

निर्माण विधि—प्रथम पारा गन्धक की कज्जली करे फिर शेष औषधियों को कूट कपड़छान कर कज्जली में मिला ३ दिन घोटें।

मात्रा—१२५ से १५० मिली ग्राम दोनों समय अदरख के रस और शहद से दें।

उपयोग—इस रस के प्रयोग से घोर सन्निपात, सिरपीड़ा, खांसी, पार्श्वशूल आदि दूर होते हैं।

पृष्ठ ६५ का शेषांश

की अच्छी दवा बनती है वहीं ज्वरातीसार लक्षण वाले फ्लु को आदर्श दवा के रूप में महाराष्ट्र और गुजरात में परम विख्यात औषध है। यह रस वातजज्वर कफजज्वर तथा वातकफजज्वर पर उत्तम रूप से क्रियाशील है तथा सन्निपातज्वर रूप फ्लु में भी बेजोड़ औषधि है।

मस्तिष्कगत लक्षणों वाले फ्लु में **लक्ष्मीविलास नारदीय** (भै. र.) महत्त्वपूर्ण योगदान करता है, रोगी के प्राण बचाने में। इसमें अभ्रक भस्म ४ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग, वंगभस्म १ भाग, शुद्ध पारद ½ भाग, शुद्ध हरताल ½ भाग, ताम्रभस्म ¼ तथा कपूर, जायफल, जावित्री, विधारा बीज शुद्ध धत्तूर बीज १—१ भाग डालते हैं तथा स्वर्ण भस्म ¼ भाग डाली जाती है। इसे पान के रस में ३ दिन खरल करते हैं, अन्त में कपूर मिलाकर आधी—आधी रत्ती की गोलियां बनाते हैं यह साध्य, कष्टसाध्य सन्निपातों में भी अपना प्रभाव दिखलाता है। वातिक फ्लु की उत्तम औषधि है। इसके लक्षणों को मिटाता है। उपद्रवों को शान्त करता है। ★★

विषमज्वर पर

कालमेघ पत्र ५ तोला, शुद्ध कुचला, सोंठ, मिर्च, पीपल—चारों २॥—२॥ तोला।

विधि—कूट कपड़छन कर हारश्रृङ्गार के स्वरस तथा तुलसी पत्र स्वरस की ३-३ भावनायें देकर काली मिर्च के बराबर गोली बनाकर सुखा लें।

मात्रा—ज्वरावेग से पूर्व २—२ घण्टे के अन्तर से १-१ गोली ३—४ बार तुलसी पत्र स्वरस के साथ देना चाहिए।

गुण—विषमज्वर के लिये अमोघ औषधि है। मलेरिया कीटाणुओं को मारती है। ज्वर को रोकती है। कुनैन जैसा गुण करती है।

—श्री पं० चन्दनप्रसाद जी मिश्र अमरपुर-भागलपुर [बिहार]

सन्निपात ज्वरों के उपद्रवों की चिकित्सा

श्री जगदम्बाप्रसाद श्रीवास्तव, आयुर्वेद औषधालय, अरौल कानपुर

१. अतीसार—

(१) नारदीय लक्ष्मीविलास १–२ रत्ती।

(२) संजीवनी वटी १ रत्ती + कर्पूर रस ½ रत्ती।

(३) बृ० कस्तूरीभैरव रस १–२ रत्ती।

(४) मध्यम कस्तूरीभैरव रस १ रत्ती।

(५) आनन्द भैरव रस १–२ रत्ती।

२. आक्षेप—

(१) बृ० वातचिन्तामणि १–२ रत्ती (वातपित्तकफ विकृति)

(२) कृष्ण चतुर्मुख रस १–२ रत्ती।

(३) सौभाग्य वटी १–२ रत्ती।

(४) लक्ष्मीनारायण रस १–२ रत्ती।

(५) मध्यम कस्तूरीभैरव रस १–२ रत्ती।

३. अन्तर्दाह—

(१) चन्द्रकला रस १–२ रत्ती।

(२) बृ० कस्तूरीभैरव रस १ रत्ती।

(३) चन्दनादि क्वाथ [भै. र.] २–४ तोला।

(४) पर्पटादि क्वाथ २–४ तोला।

(५) स्वर्णमाक्षिक भस्म १ रत्ती, प्रवालशाखा पिष्टी १ रत्ती + गिलोय सत्व ३ रत्ती, १ मात्रा।

(६) षडङ्ग पानीय ४–५ तोला, ५–६ बार।

४. अतिसन्ताप—ज्वर १०४°–१०५°।

(१) रसादि वटी २–४ रत्ती [सि. यो. सं.]

(२) गोदन्ती मिश्रण ४–६ रत्ती [सि. यो. सं.]

(३) चन्द्रकला रस १–२ रत्ती।

(४) त्रिभुवनकीर्ति रस १-२ रत्ती। यह स्वेद लाकर ज्वर कम करता है। पित्त या वातपित्त ज्वर, मंथर ज्वर में न दें।

(५) ज्वरकेशरी वटी १–२ रत्ती। यह १–२ रेचन लाकर ज्वर कम करती है। अतीसार होने पर वात या वात-पित्तविकार या मंथरज्वर में न दें।

(६) षडङ्गपानीय ४–६ तोला दिनभर में ४-६ बार

५. अनिद्रा—

(१) निद्रोदय रस १–२ रत्ती [र. त.]

(२) निद्राणी कैपसूल।

(३) स्वर्ण सूतशेखर रस १–२ [सि. यो. सं.]

(४) १ तोला द्राक्षासव या मृतसंजीवनी सुरा में ४–५ रत्ती, सर्पगन्धा का मोटा चूर्ण डालकर दें। कुछ समय बाद छानकर २–६ बार में पिला दें।

६. आध्मान—

(१) संजीवनी वटी १–२ रत्ती।

(२) महाशङ्ख वटी २–३ रत्ती।

(३) दारुणक लेप उदर पर लगावें। अपामार्ग और मिलालें।

७. अपतानक धनुर्वात—

(१) बृ० वातचिन्तामणि २–३ रत्ती।

(२) कृष्ण चतुर्मुख रस १–२ रत्ती।

८. अङ्गमर्द—

(१) अङ्गमर्द प्रशमनीय [च. सू. अ. ६४] के कोई भी ८ द्रव्यों का क्वाथ २–४ तोला।

(२) दशमूल घनसत्व ४–६ रत्ती।

(३) अग्नितुण्डी वटी १ रत्ती। इसमें कुचिला है।

९. कफसंघात—

(१) श्लेष्मकालानल रस १–२ रत्ती, बात या वात-पित्त विकार में न दें।



(२) श्लेष्मशैलेन्द्र रस १–२ रत्ती, वात या वातपित्त विकार में न दें।
(३) कफकुठार १–२ रत्ती।
(४) कासारि (धन्वन्तरि) ४–६ माशे।
(५) बृहत्यादि क्वाथ २–४ तोला [भै. र.) वात या वातपित्त विकार में न दें।
(६) अर्कादि क्वाथ २–३ तोला पित्त या वातपित्त विकारों में न दें।
(७) सौभाग्य वटी २–३ रत्ती।
(८) चन्द्रामृत रस ४–६ रत्ती।

१२. शीतपित्त—

(१) आरोग्यवर्धिनी वटी ३ रत्ती + अजवाइन ३ रत्ती। १ मात्रा
(२) सर्वतोभद्र रस २–३ रत्ती।

१३. शोथ—

(१) श्लेष्मकालानल १–२ रत्ती।
(२) ज्वरकेशरी वटी १–२ रत्ती।
(३) ज्वर मुरारि रस १–२ रत्ती।
(४) त्रिपुरभैरव रस १–२ रत्ती।

श्री जगदम्बाप्रसाद जी से सुधानिधि के पाठक पूर्णरूप से परिचित हैं। व्यावहारिक पक्ष को विशेष ध्यान देने वाले श्रीवास्तव जी एक ऐसे लेखक हैं जो विशेषांक के लिये हमें विपुल सामग्री भेजते हैं तथा उस विपुल सामग्री में से क्या दिया जाय? क्या छोड़ दिया जाय यह सोच पाना हमारे लिये जटिल समस्या बन जाती है। उनको बहुत सारी सामग्री प्रकाशित हुये बिना हमारे पास रह जाती है जिसे हम क्रमशः सुधानिधि के अंकों में प्रकाशित करते रहते हैं।

प्रस्तुत लेख में लेखक ने सन्निपात ज्वर के विवेचन के झमेले में न पड़कर केवल उपद्रवों में प्रयुक्त उन अनुभूत शास्त्रीय औषधियों का वर्णन किया है जो नवीन आविष्कृत एलोपैथिक औषधियों के दुष्परिणामों से दूर रोगी को नीरोग कर आयुर्वेद का नाम उज्ज्वल करता हैं।

—गोपालशरण गर्ग।

१०. अतिस्वेद—

(१) हैमगर्भ रस १ रत्ती + प्रवाल पञ्चामृत २ रत्ती। यह १ मात्रा है।
(२) बृ० कस्तूरीभैरव रस १–२ रत्ती।

११. अस्वेद—

(१) त्रिभुवन कीर्ति रस १–२ रत्ती [र. तं. सा.]
(२) मृत्युञ्जय रस १–२ रत्ती [र. त.]

(५) मध्यम कस्तूरी भैरव १–२ रत्ती।
(६) लक्ष्मीविलाज नारदीय १–२ रत्ती।
(७) पुनर्नवामाण्डूर ४–६ रत्ती।
(८) आरोग्यवर्धिनी वटी ६ रत्ती।

१४. यकृद्दाल्युदर—

(१) सर्वज्वरहर रस २–३ रत्ती।
(२) रोहितक लौह २–३ रत्ती।

१५. रक्तपित्त—

(१) दुरालभादि क्वाथ २–४ तोला।
(२) पर्पटादि क्वाथ २–४ तोला।
(३) चन्द्रकला रस १–२ रत्ती।
(४) सर्वतोभद्र रस १–२ रत्ती।
(५) वासा स्वरस ३–४ माशे।
(६) दूर्वारस ३–४ माशे।
(७) स्वर्णमालिनी वसन्त ½–१ रत्ती।
(८) बावलीघास घन सत्व ३–६ रत्ती।

१६. मूत्ररोध—

(१) शीतल पर्पटी २–६ रत्ती।
(२) दशमूल घनसत्व ४–६ रत्ती।
(३) चन्द्रकला रस १–२ रत्ती।
(४) जवाखार ४–८ रत्ती।

१७. मन्याग्रह—

(१) वातान्तक कैपसूल १–१।
(२) बृ० वातचिन्तामणि १–२ रत्ती।
(३) १ रत्ती शुद्ध कुचिला चूर्ण उष्ण संभालू रस या उष्ण जल से दें।

१८. मूर्छा (तन्द्रा)—

(१) संजीवनी वटी ½ रत्ती का नस्य।
(२) श्वासकुठार ½ रत्ती का नस्य।
(३) सौभाग्य वटी १–२ रत्ती।
(४) बृ० कस्तूरीभैरव १–२ रत्ती।
(५) चन्द्रोदयवर्ति गोमूत्र में घिसकर अंजन करें।

१९. पार्श्वशूल—

(१) श्रृङ्गभस्म अग्निदग्ध २–४ रत्ती।
(२) नृसार सत्व २ रत्ती।
(३) दशमूल घनसत्व २–४ रत्ती।
(४) ½ रत्ती शुद्ध कुचिला चूर्ण (मन्थर ज्वर में इसे न दें।)

२०. संज्ञाहीनता—

(१) संज्ञासंस्थापक नस्य का प्रयोग करें। इसमें कपूर, कस्तूरी, नौसादर आदि हैं।
(२) १ चावल पुटास पीसकर नासा छिद्रों में डालें।
(३) तन्द्राहर नस्य का प्रयोग करें।

विशेष—निर्बल मस्तिष्क वाले रोगी को उग्र नस्य न दें या कम मात्रा में दें।

२१. प्रलाप—

(१) बृ. वातचिन्तामणि रस १–२ रत्ती।
(२) बृ. ब्राह्मी वटी १–२ रत्ती।
(३) मधुरान्तक वटी १–२ रत्ती। [र. तं. सा.]
(४) चन्द्रकला रस १–२ रत्ती।
(५) तगरादि कषाय २–४ तोला।

२२. प्रतिश्याय—

(१) नारदीय लक्ष्मीविलास १–२ रत्ती।
(२) त्रिभुवनकीर्ति रस १ रत्ती।
(३) मृत्युञ्जय रस १ रत्ती।

२३. शूल—

(१) सौभाग्य वटी १–२ रत्ती।
(२) नारदीय लक्ष्मी विलास रस २–३ रत्ती।
(३) मृगश्रृङ्ग भस्म २–४ रत्ती।
(४) दशमूल घनसत्व ४–६ रत्ती।
(५) त्रैलोक्यतापहर रस [यो. र.] १–२ रत्ती। कुचिला, धत्तूर आदि है, मंथर ज्वर में न दें।
(६) त्रिपुरभैरव रस १–१ रत्ती। जयपाल युक्त है, अतीसार या मंथर ज्वर में न दें।
(७) ज्वरमुरारि रस १–१ रत्ती [भै. र.]। जयपाल है, अतीसार या मंथर ज्वर में न दें।
(८) ज्वरकेसरी रस १–१ रत्ती [भै. र.]। जयपाल है, अतीसार या मंथर ज्वर में न दें।
(९) मध्यम कस्तूरीभैरव रस १ रत्ती।
(१०) कर्पूर रस १–१ रत्ती। मलसंचय होने पर न दें।
(११) अग्नितुण्डी वटी १–१ रत्ती। आमाशयिक व्रण और मथर ज्वर में न दें।
(१२) अहिफेनासव २–३ बूंद। उदर में मल संचय होने पर न दें।

२४. शीताङ्गता—

(१) मल्लचन्द्रोदय ½–१ रत्ती। [रसायनसार]

(२) मल्लचन्द्रोदय मिश्रण १-२ रत्ती; [रसायनसार]

(३) हेमगर्भपोटली रस [समीरपन्नग युक्त] ½-१ रत्ती। [र. तं. सा.]

(४) संचेतनी वटी ½-२ रत्ती।

(५) सिद्ध मकरध्वज ½ रत्ती + कस्तूरी ¼ रत्ती + नागार्जुनाभ्र ½ रत्ती मिलित १ मात्रा।

(६) मध्यम कस्तूरीभैरव १ रत्ती + सिद्ध मकरध्वज ½ रत्ती + अभ्रक भस्म १ रत्ती। १ मात्रा

(७) मृगमदासव २०-३० बूंद।

२५. श्वास—

(१) श्वासान्तक कैपसूल १-१।

(२) श्वासहारी कैपसूल १-१।

(३) सोमकल्प चूर्ण ४ रत्ती। १ मात्रा

(४) श्वासकास चिन्तामणि २-३ रत्ती।

२६. हृदय गति वृद्धि—

(१) जवाहरमोहरा १-२ रत्ती।

(२) याकूती १-२ रत्ती।

(३) नारदीय लक्ष्मीविलास रस १-२ रत्ती।

२७. हृदय शूल—

(१) जवाहरमोहरा १-२ रत्ती।

(२) नारदीय लक्ष्मीविलास रस १-२ रत्ती।

(३) चिन्तामणि रस १-२ रत्ती। [स्वर्ण, रजत, मुक्ता, अम्बर आदि युक्त]

२८. हृदयगतिरोध—

(१) बृ. कस्तूरी भैरव १-२ रत्ती। [र.तं.सा.द्वि.खं.]

(२) मध्यम कस्तूरी भैरव १-२ रत्ती।

(३) याकूती १-२ रत्ती। [र. तं. सा. द्वि. खं.]

(४) जवाहरमोहरा १-२ रत्ती। [र.तं.सा.द्वि.खं.]

(५) हेमगर्भपोटली रस १-२ रत्ती। [रसामृत]

२९. हिक्का—

(१) अष्टदशांग क्वाथ २-४ तोला।

(२) कट्फलादि क्वाथ २-४ तोला।

(३) मृगमदासव १०-२० बूंद।

(४) हिक्कान्तक रस १-२ रत्ती। [र. तं. सा.]

विशेष बचन—कफ की उल्बणता से मूकता होती है शीतता कफाधिक्य से होती है। निद्रानाश वाताधिक्य से होता है। वात की उल्बणता से प्रलाप होता है। फुफ्फुस व्रण, आमाशयिक व्रण या हृदयकृमि रोग से भी रक्तवमन हो सकता है। आन्त्रिक ज्वर में अन्त्रछिद्र या व्रण विदीर्ण होने से भी रक्तातीसार हो सकता है। एक रोगी में आन्त्रिक ज्वर, फुफ्फुस पाक और प्रवाहिका भी हो सकती है उसी में आक्षेप आदि कोई वातविकार भी हो सकता है। आन्त्रिक ज्वर प्रायः पित्तवातोल्बण होता है। फुफ्फुस पाक प्रायः कफ वातोल्बण होता है। आन्त्रिक ज्वर में जयपाल या अन्य कोई रेचन न दें। १-२ मुनक्का दे सकते हैं। कुचिला का भी प्रयोग न करें। अन्न भी न दें। दूध भी न दें। फुफ्फुसशोथ में कफ सूख न जाय, इसलिए मल्लसिंदूर दें तो कम मात्रा से ¼ रत्ती में कम। विचार कर योग चुनें।

★★

सन्निपात ज्वर पर एक सफल योग

सन्निपात ज्वर में जब रोगी बहुत बकता है और उठ-उठ कर भागने की चेष्टा करता है, उस समय निम्नलिखित प्रयोग रामबाण जैसा कार्य करता है।

शुद्ध पारा, शुद्ध आंवलासार गंधक, शुद्ध सिंगरफ, अभ्रक भस्म शतपुटी।

—प्रथम पारे और गंधक की कज्जली करे फिर सभी औषधियों को अदरक के रस में ८ प्रहर घोटकर मूंग प्रमाण गोली बना लेवें।

सन्निपात वाले रोगी को बंगला पान और अदरक के रस में शहद मिलाकर उसके साथ दें। बढ़े हुए दोषों में २-२ घण्टे में १-१ गोली देनी चाहिए। —(गुप्तसिद्ध प्रयोगाङ्क से उद्धृत)।



मन्थर ज्वर

कारण और निवारण



चौधरी साहब आयुर्वेद के माने हुए विद्वान् हैं। आपकी लेखनी में वैज्ञानिक विषयों को रोचक रूप में प्रस्तुत करने की अद्भुत कला ने विकास पाया है। पैत्तिक प्रकृति के वर्णन में सुश्रुत ने विगृह्य वक्ता और समितिषु दुर्निवार्य वीर्य के दो गुण बतलाये हैं। दोनों ही चौधरी साहब में अच्छी तरह व्याप्त हैं। आपका लेख स्वयं इतना पुष्ट है कि मुझे उसमें कुछ जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और उसे अविकल नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

मन्थरज्वर या टायफायड फीवर अथवा आन्त्रिक ज्वर का वर्णन हमारे आयुर्वेदिक ग्रन्थों में न्यून ही मिलता है। केवल 'निदान दीपिका' और 'योगरत्नाकर' में इसका वर्णन आने से सिद्ध होता है कि यह रोग इस देश का नहीं है। इसे यहां आये पांच छः सौ वर्ष ही हुए होंगे, ऐसा हमारा मत है।

इसके भिन्न-भिन्न नाम निम्न हैं—

हिन्दी—मन्थर ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, मधुरा।

यूनानी—मोहरका इसहाली।

पंजाबी—तोरकी, मुबारकी, मोतीझरा, गल की माता।

ऐलोपैथिक—टायफाइड *(Tphaid fever)* एन्ट्रिक ज्वर *(Entric fever)*, गेस्टटिक ज्वर *(Gastic fever)* आदि।

कारण—इस ज्वर का कारण एक विशेष प्रकार का दण्डाकार कीटाणु है, जिसे वैसिलस टाइफोसस *(Bacillus Typhosus)* कहते हैं। यह कीटाणु दूषित मल-मूत्र, थूक, वस्त्रादि द्वारा खाद्य पदार्थ के साथ उदर में जाकर रोग उत्पन्न करता है। प्रायः मक्खियां इस रोग के प्रसार में सहायक होती हैं। कभी-कभी यह रोग महामारी के रूप भी फैलता है। परन्तु आयुर्वेदिक ग्रन्थ 'निदान दीपिका' में इसका कारण यह माना है।

घृताशनात्स्वेद रोधात् मन्थरो जायते नृणाम्।

आन्त्रिक ज्वर के विशेष लक्षण इस प्रकार हैं—

लक्षण—शिरःशूल, अरुचि एवं अंगों में फूटने की सी पीड़ा, बेचैनी, आदि के साथ ज्वर प्रारम्भ होता है। प्रतिदिन एक डिग्री बढ़ता है। ज्वर के इस प्रकार बढ़ने को सोपान क्रम या शनैः स्तोक क्रम कहते हैं। आरम्भ में रोगी सुस्ती प्रतीत करता है, सर्वांग पीड़ा, मन का न लगना, कभी उदरशूल, कभी अतीसार, तृष्णा, अवसाद और मन्द ज्वर के लक्षण होते हैं जो दिनों दिन तीव्र होते जाते हैं।

रूप—रूप बोधक चिह्न यथा होते हैं—

विष्टब्धता, जिह्वा का मल विशेष से आवृत होना, मध्य में विशेष मल की तह, अग्रभाग अथवा किनारे लाल सुर्ख, शरीर से विशेष प्रकार की गंध आना, गले, छाती पर मोतियों जैसे सफेद दाने का होना, प्लीहा और यकृत् का बढ़ना, ज्वर १०३°-१०४° का रहना।

'योगरत्नाकर' में यह लक्षण निम्न लिखे गये हैं—

ज्वरोदाहोभ्रमोमोहो ह्यतीसारो वमिस्तृषा।
अनिद्रा मुखशोषश्च तालजिह्वा च शुष्यति॥
ग्रीवायां परिदृष्यन्ते स्फोटकः सर्षपोपमा।
मन्थरो जायते नृणाम्॥

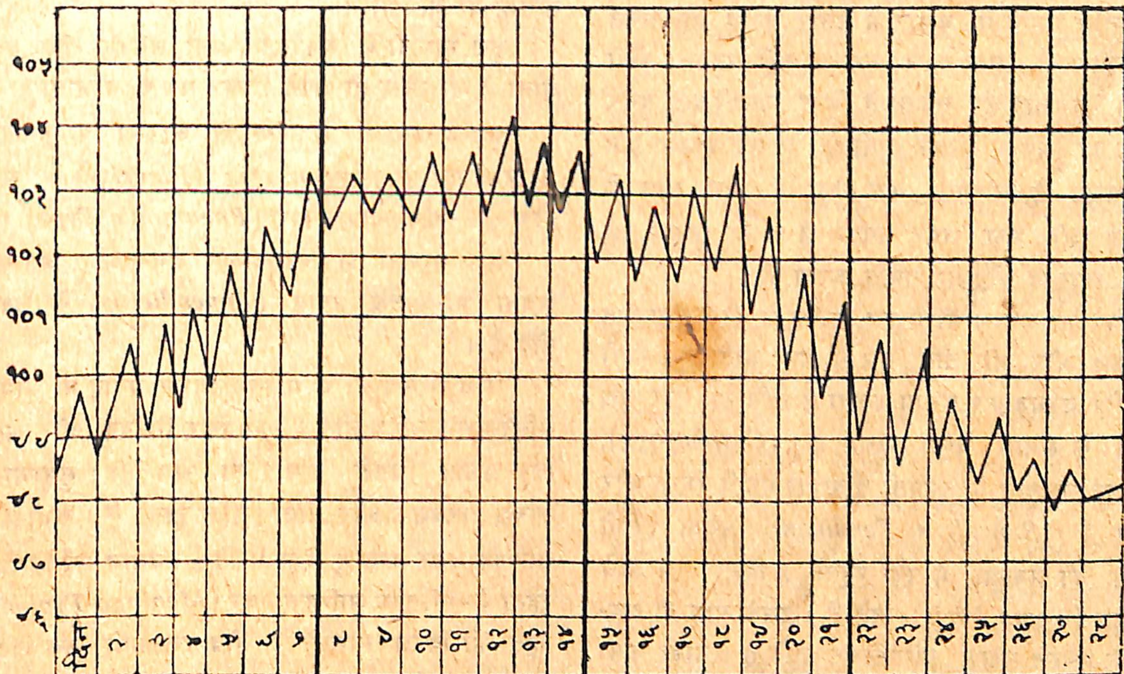
सम्प्राप्ति—आधुनिक मतानुसार आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु आक्रान्त व्यक्ति की आंतों में स्थित रसवाहिनियों में से प्रविष्ट होकर रक्त में पहुँचते हैं जिससे रोग के प्रारम्भिक काल में रक्त में तृणाणुमयता *(Becteriemia)* रहती है किन्तु चूंकि ये दण्डाणु रक्त में वृद्धि नहीं करते इसलिये दोषमयता नहीं होती। इसकी वृद्धि विशेष रूप से यकृत्, प्लीहा और आन्त्र समीपस्थ मैसेन्ट्रिक *(Mesenteric)* ग्रन्थियों में होती है। ये दण्डाणु एक प्रकार के विष की उत्पत्ति करते हैं। जिससे सार्वांगिक और स्थानिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। स्थानिक लक्षण विशेष रूप से क्षुद्रान्त्र, प्लीहा, यकृत् और अस्थिमज्जा में होते हैं।

क्षुद्रान्त्र के निचले भाग में और विशेषतः क्षुद्रान्त्र *(Ileme)* और उण्डुक *(Caecum)* की सन्धि के समीपस्थ लसिकीय तन्तुओं *(Lymphaid Tissue)* के अन्तर्गत पेयर के चकत्तों (*Peyer's patches*) और गुच्छों (*Salitary follicles*) में प्रदाह उत्पन्न करते हैं जो लगभग दसवें दिन शान्त होती है और उसके बाद वहां के तन्तुओं का नाश होकर पपड़ी निकलने लगती है, तथा व्रण बन जाते हैं। पेयर के चकत्तों में लम्बे और एकाकी गुच्छों में वृत्ताकार व्रण बनते हैं। रक्तस्राव प्रायः नहीं होता क्योंकि व्रण बनने के पूर्व ही वहां की रक्त वाहिनियों में रक्तस्कन्दन हो चुकता है। किन्तु कुछ रोगियों में गहरे व्रण बनने के कारण बड़ी रक्तवाहिनियों के खुल जाने से अथवा अन्य जीवाणुओं जैसे मालागोलाणुओं का संक्रमण हो जाने से रक्तस्राव होने लगता है जो कि एक घातक उपद्रव है। बहुत ही विरल मामलों में आन्त्र में छेद हो जाता है जो कि एक और भी अधिक घातक उपद्रव है। यह उपद्रव द्वितीय सप्ताह के अन्तिम भाग और तृतीय सप्ताह में कभी भी हो सकते हैं। चौथे सप्ताह में यह व्रण भर जाते हैं।

यकृत् और प्लीहा में तनाव होता है और शोथ के छोटे-छोटे क्षेत्र एवं कभी एक बड़ा क्षेत्र उत्पन्न होते हैं। पित्ताशय का प्रदाह होता है और उसके भीतर स्थित पदार्थों में आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु पाये जाते हैं जो आगे चलकर पित्ताश्मरी की उत्पत्ति कर सकते हैं। वृक्कों में घनशोथ (*Cloudy swelling*) होता है। कभी-कभी प्रदाह भी हो सकता है। मूत्र के साथ दण्डाणु निकलते हैं। कुछ मामलों में रोग शान्त हो चुकने के काफी समय बाद तक पित्ताशय और वृक्कों में आन्त्रिक ज्वर के दण्डाणु पाये जाते हैं। इस प्रकार का व्यक्ति स्वस्थ जीवाणुवाहक (*Convelescent Carrier*) कहलाता है। वह ऊपर से स्वस्थ दीखते हुए भी अन्य लोगों को व्याधि के जीवाणु बांटता फिरता है।

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं, ज्वर आने के पूर्व बेचैनी, सिर दर्द सर्वांग में पीड़ा और शूल, अरुचि और कुछ रोगियों में नासामार्ग से रक्तपित्त—ये पूर्वरूप होते हैं। ज्वर क्रमशः चढ़ता है, प्रतिदिन ज्वर में कुछ न कुछ वृद्धि होती है जब तक कि ज्वर अपने शिखर (*Fastigium*) १०२° से १०४° तक नहीं पहुँच जाता। प्रतिदिन प्रातः ज्वर में कुछ कमी रहती है किन्तु साम की अपेक्षा कुछ न कुछ अधिक ही हो जाता है। अधिकांश मामलों में ज्वर की वृद्धि इसी प्रकार होती है, किन्तु कई मामले इस नियम के अपवाद भी हुआ करते हैं।

छठवें या सातवें दिन तक रोगी की आकृति में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। चेहरा रक्ताधिक्य से लाल किन्तु सुस्त दिखाई देता है। मुख और जिह्वा में शुष्कता आ जाती है। जिह्वा सफेद चिकने मैल से लिप्त रहती है, किन्तु किनारे साफ, लाल और किंचित प्रदाहयुक्त भासते हैं। अरुचि आध्मान और उदर में गुड़गुड़ाहट होती है। अधिकांश रोगियों को मलावरोध रहता है किन्तु कुछ को अतीसार होता है। कुछ रोगियों में विशेषतया यूरपियनों को नासामार्ग से रक्तपित्त की प्रवृत्ति



आन्त्रिक ज्वर में ताप की स्थिति

होती है। सिर दर्द प्रारम्भ से ही थोड़ा बहुत अवश्य रहता है, किन्तु इस समय वह तन्द्रा या प्रलाप का रूप धारण कर लेता है। नाड़ी ज्वर के अनुरूप तीव्र नहीं रहती, दबाव कम रहता है और दोहरे झटके एक बड़ा और एक छोटा देकर चलती है (*Dicrotic pulse*)। थोड़ा बहुत प्रतिश्याय अवश्य रहता है। सातवें दिन से लेकर दसवें दिन तक यूरोपियन रोगियों में राई के दानों के बराबर गुलाबी रंग के कोठ धड़ पर दृष्टिगोचर होते हैं। ये कोठ दबाने से अदृश्य हो जाते हैं। भारतियों में इनके स्थान पर स्वेदज पिड़िकायें (*Sudaminal vesicles*) पाई जाती हैं। भारतीय वैद्य इन पिड़िकाओं को मोतीझला के नाम से जानते हैं और उन्हें मोतीझला का खास चिह्न मानते हैं, यह धारणा भ्रामक है। इस प्रकार के दानों से रहित आन्त्रिक ज्वर हो सकता है और अन्य ज्वरों में भी इस प्रकार के दानों की उत्पत्ति देखी गई है।

दूसरे सप्ताह में ज्वर अपने शिखर पर ही रहा आता है। लगभग एक सा रहता है, प्रातः कुछ कम रहता है। इस समय रोगी लगभग आन्त्रिक ज्वर की दशा (*Typhaid state*) में रहता है। तन्द्रा रहती है अथवा संन्यास के समान अवस्था (किन्तु संन्यास नहीं *Semi-comatose*) रहती है और सिर दर्द की शिकायत प्रायः नहीं करता। मुख और जीभ की शुष्कता बढ़ जाती है, होंठ फट जाते हैं और दांतों पर मैल की तह जम जाती है। श्रवणशक्ति का ह्रास हो जाता है। कुछ रोगियों को अतीसार होता है। दस्त पीले रंग के और साधारण बदबू से युक्त होते हैं। कमजोरी बहुत बढ़ जाती है और रोगी प्रलाप की अवस्था में धीरे-धीरे बड़बड़ाता हुआ पड़ा रहता है। श्वास नलिका एवं फुफ्फुस नलिका प्रदाह हो जाता है जिससे खांसी और श्वास की शिकायत हो जाती है। नाड़ी की गति में कुछ तीव्रता आ जाती है किन्तु दबाव कम ही रहता है। प्लीहा और यकृत् की किंचित वृद्धि हो जाती है जो टटोलकर मालूम की जा सकती है। मूत्र में श्विति (*Albumin*) और निनीलेन्य (*Indicon*) एवं थोड़े से नलिका निर्मोक (*Tulu casts*) मिलते हैं। इस सप्ताह के अंतिम दिनों में आन्त्र से रक्तस्राव अथवा आन्त्रभेद (आन्त्र में छिद्र हो जाना) (*Perforation*)



होने की सम्भावना रहती है।

तृतीय सप्ताह में बुखार में उतार चढ़ाव होने लगते हैं। कभी-कभी प्रातः काल बुखार नहीं रहता। रोगी अत्यन्त कमजोर हो चुकता है किन्तु उसकी दशा दूसरे सप्ताह की अपेक्षा अच्छी रहती है। बुखार क्रमशः कम होता जाता है, आध्मान कम होता है, जीभ साफ हो जाती है और भूख लगने लगती है। इस प्रकार वह क्रमशः स्वास्थ्य की ओर प्रगति करता है।

विपरीत अवस्थाओं में इस सप्ताह में द्वितीय सप्ताह के लक्षण और भी तीव्र रूप में पाये जाते हैं। रोगी धीरे-धीरे बड़बड़ाकर प्रलाप करता है। बिस्तर पर कुछ पकड़ने के समान चेष्टा करता है। (*Carphalogy*), अंगुलियां अकड़ती या कांपती हैं अथवा मुट्ठी बंधती और खुलती है (*Subcultus Tendinum*) अथवा रोगी संन्यास की अवस्था में पड़ा रहता है किन्तु नेत्र आधे खुले हुए (*Coma Vigil*) रहते हैं। इसके साथ ही अवसाद के समस्त लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। नाड़ी कमजोर तीव्रगामिनी होती है एवं श्वास पूर्ण गहराई तक नहीं लिया जाता। इस दशा को आन्त्रिकावस्था (*Typhoid State*) कहते हैं। आंत्रिकावस्था अन्य बहुत से रोगों में मिलती है, वहां आन्त्रिक ज्वर से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह नामकरण उक्त लक्षणों के समूह मात्र का है।

चौथे सप्ताह में बुखार दूर हो जाता है और उसके सभी लक्षण अदृश्य हो जाते हैं। स्वास्थ्य में धीरे-धीरे उन्नति होती है।

सौम्य प्रकार—बुखार साधारण रहता है, लक्षण कम और उपद्रव प्रायः नहीं होते तथा दूसरे सप्ताह में ही ज्वर-मोक्ष हो जाता है। इस प्रकार के रोगी रोग के प्रसार में सहायक होते हैं। साथ ही उनकी उचित देख-रेख एवं चिकित्सा न होने के कारण रक्तस्राव, आन्त्रभेद, हृदयावरोध, अचानक संन्यास आदि उपद्रव होने की सम्भावना रहती है।

अति तीव्र प्रकार—कुछ रोगियों में आन्त्रिक ज्वर का आक्रमण अस्वाभाविक तीव्रता और भयंकर लक्षणों के साथ होता है। प्रायः शीघ्र ही रोगी का अन्त हो जाता है। अथवा भोगकाल अत्यधिक लम्बा हो जाता है (५-६ सप्ताह या अधिक)।

कुछ मामलों में यकायक जाड़ा लगकर तीव्र ज्वर आता है जो शीघ्र ही अपने शिखर पर पहुंच जाता है।

कुछ अवस्थाओं में रोग का आरम्भ फुफ्फुसखण्ड प्रदाह अथवा फुफ्फुसावरण प्रदाह (*Pleurisy*) के साथ होता है—फौफ्फुसीय प्रकार (*Pneumonic Type*)।

अन्य मामलों में त्रासदायक वमन और अतीसार अथवा आन्त्रपुच्छ प्रदाह (*Appendicitis*) के लक्षण होते हैं।

अन्य अवस्थाओं में मस्तिष्कावरण प्रदाह के समान मस्तिष्कगत लक्षण होते हैं—भयंकर सिरदर्द और अत्यधिक प्रलाप जिससे उन्माद का भ्रम हो। सुषुम्नाद्रव स्वच्छ पारदर्शक और जीवाणुरहित होता है। कभी-कभी आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु मिल सकते हैं। दबाव सदैव अधिक रहता है—मस्तिष्क आन्त्रिक ज्वर (*Meningo-Typhoid*) बहुत ही विरल मामलों में तीव्र रक्तस्रावी वृक्क प्रदाह (*Acute haemorrhagic nephritis*) के समान लक्षण होते हैं।

कुछ मामलों में रक्तस्राव की प्रवृत्ति पाई जाती है। मल के साथ काला रक्त जाता है (*Malaena*) मूत्र के साथ रक्त जाता है और त्वचा में रक्तस्राव होने के कारण लाल काले चकत्तों की उत्पत्ति होती है। कुछ मामलों में मसूढ़ों और तुण्डिकाओं (*Tonsils*) से रक्तस्राव अथवा आभ्यन्तर कोष्ठों में रक्तस्राव हो सकता है।

दूसरे मामलों में स्थानिक लक्षणों की उत्पत्ति न होकर घोर विषमयता होकर तीव्र बुखार आता है। मल-मूत्र की प्रवृत्ति अनजाने में ही हो जाती है। नाड़ी कमजोर रहती है, प्रलाप होता है और आक्षेप आते हैं। लगभग एक सप्ताह में मृत्यु हो जाती है।

फौफ्फुसीय प्रकार—यह सौम्य होता है। रक्तस्राव और आन्त्रभेद प्रायः नहीं होते। कुछ मामलों में फुफ्फुस नलिका प्रदाह एवं मस्तिष्क सम्बन्धी लक्षण हो सकते हैं। नाड़ी की गति मन्द नहीं रहती। वमन, अतीसार आध्मान आदि लक्षण अधिकतर उपस्थित रहते हैं।

प्रौढ़ों और वृद्धों पर आन्त्रिक ज्वर का आक्रमण बहुत कम हुआ करता है किन्तु यदि होता है तो लक्षण

भयंकर होते हैं और मृत्यु होने की संभावना अधिक रहती है। फुफ्फुस खण्ड प्रदाह और हृदयावरोध हो जाना साधारण बात है। स्वास्थ्य अत्यन्त धीरे लौटता है। यदि पहले से राजयक्ष्मा अथवा मदात्यय रोग की उपस्थिति हो तो भविष्य और भी बुरा होता है।

सगर्भावस्था में आन्त्रिक ज्वर होने से गर्भपात या गर्भस्राव होने की सम्भावना रहती है।

आन्त्रभेद (*Perforation*)—यह घातक उपद्रव तृतीय सप्ताह में उन रोगियों में उपस्थित होता है जिन्हें अतीसार और आध्मान अत्यधिक रहे हों। छिद्र होने का सबसे अधिक सम्भावित स्थान क्षुद्रान्त्र का निचला भाग है। आन्त्रभेद होते समय यकायक उस स्थान पर शूल उठता है और उदर कड़ा हो जाता है। पीड़ित स्थान को छूने से भी पीड़ा होती है। रोगी का चेहरा उतरा हुआ दीखता है। नाड़ी एवं श्वास की गति तीव्र हो जाती है किन्तु तापमान घट जाता है। बाद में उदरावरण प्रदाह आरम्भ होते ही बुखार पुनः बढ़ जाता है। रक्त में बह्वाकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष मिलता है। यह उपद्रव केवल शल्य चिकित्सा द्वारा ही साध्य है।

परीक्षायें—प्रथम सप्ताह—१. रक्त संवर्धन सबसे अधिक निश्चयात्मक होता है। २. प्रारम्भ में थोड़ा श्वेतकायाणूत्कर्ष (१०००० से १२०००० प्रतिघन मिलीमीटर तक) और बाद में श्वेतकायाणू क्षय (५००० तक) होता है। ३. मूत्र में डायजो प्रतिक्रिया (*Diarye-reaction*) मिलती है।

द्वितीय सप्ताह—विडाल परीक्षा एवं मल और मूत्र के संवर्ध अस्त्यात्मक रहते हैं।

पुनराक्रमण (*Realapse*)—लगभग १०%मामलों में ज्वर मोक्ष होने के कुछ समय बाद (अधिक से अधिक २ सप्ताह के भीतर) पुनः ज्वर आ जाता है। इस बार भी रोग के लक्षण और क्रम प्रथम आक्रमण के समान होते हैं किन्तु भोगकाल अपेक्षाकृत कम होता है।

कुछ रोगियों में पूर्णतया ज्वर मोक्ष हुए बिना ही पुनराक्रमण हो जाता है। कुछ मामलों में कई बार पुनराक्रमण हो सकता है। पुनराक्रमण के कुछ मामले आन्त्रिक ज्वर के न होकर काल ज्वर के भी हो सकते हैं।

सापेक्षनिदान—

टायफाइड	टाइफस
१. मर्यादा २१ दिन।	१. मर्यादा १४ दिन।
२. दानों या पिड़िका के निकलने आदि का क्रम एक-दो सप्ताह का।	२. दानों या पिड़िका आदि का क्रम ५-५ दिन का।
३. ज्वर वेग की अपेक्षा नाड़ी गति मन्द।	३. ज्वर वेग के अनुपातानुसार गति तीव्र।
४. अन्त्र में पीड़ा, उदर में स्पर्श से या दबाने से पीड़ा।	४. अन्त्र या उदर में पीड़ा का अभाव।
५. पेट में आध्मान (फूलना) और अतीसार	५. मलावरोध।
६. ताप का क्रम बढ़ना।	६. प्रारम्भ से ही ताप की वृद्धि।
७. प्रायः शिरःशूल और प्रलाप का अभाव।	७. अति शिरःशूल और प्रलाप।
८. रक्तातीसार, न्यूमोनिया या अन्त्रक्षत से मृत्यु।	८. मूर्च्छा या रक्त के अभाव से मृत्यु।

टायफाइड	विषम ज्वर
१. ज्वरारम्भ में शीत का अभाव।	१. शीत लगकर ज्वरारम्भ।
२. सोपान क्रम से ज्वर का उतार-चढ़ाव।	२. सोपान क्रम का सर्वथा अभाव।
३. ज्वर का नियमित क्रमशः उतार।	३. नियमित बिना क्रम के उतार।



४. अतीसार ।	४. मलावरोध ।
५. नाभि के पास दबाने से पीड़ा ।	५. कौड़ी प्रदेश में दबाने से पीड़ा ।
६. ज्वरवेग की अपेक्षा नाड़ी मन्द ।	६. ज्वरवेग के अनुपातानुसार नाड़ी तीव्र ।
७. वमन और कामला का प्रभाव ।	७. वमन और कामला की उपस्थिति ।
८. पाचन और ग्राही चिकित्सा ।	८. शामक और शोधक चिकित्सा ।
९. ज्वर नष्ट करने के लिये प्रयत्न न कर धीरता से काल मर्यादा की प्रतीक्षा करना ।	९. ज्वर नष्ट करने का प्रबल प्रयत्न होता है । अन्तिम काल मर्यादा प्रायः नहीं होती ।
१०. लंघन आवश्यक ।	१०. लंघन अनावश्यक ।

टायफाइड	इन्फ्लूएंजा
१. प्रतिश्याय का अभाव ।	१. प्रतिश्याय आवश्यक ।
२. ज्वर के बढ़ने में सोपान क्रम ।	२. ज्वर की वृद्धि में शीघ्रता सोपान का अभाव ।
३. सर्वांग पीड़ा एवं शक्तिह्लास का सामान्य अभाव ।	३. अधिक सर्वांग पीड़ा एवं शक्ति क्षय ।

चिकित्सा—आन्त्रिक ज्वर को औषधि-साध्य-व्याधि न कह कर सुश्रुषा-साध्य-व्याधि ही कहना श्रेयस्कर है। सुसंयम और सुचिंतित सुश्रुषा, सुयोग्य पथ्य और जलाभिषेक ही अधिक प्रयोजनीय है। ज्वर उतारने के लिए शीघ्रता न करें, मस्तिष्क, हृदय और आंतों की सुरक्षा पर ध्यान दें। पाचक चिकित्सा पर ध्यान दें। मल पतला आता हो तो उसे तुरन्त गाढ़ा करने और रोकने के लिए ग्राही चिकित्सा करें। नहीं तो दौर्बल्य बढ़ता है। कोई उपद्रव बढ़ने न पाये, ऐसा उपचार जारी रखें। लंघन तोड़ने पर जोर न दें। लगातार दो दिन तक ९७° या ९७॥° ज्वर हो तो अन्न देने की व्यवस्था सोचें। दूध न दें। मलावरोध हो तो मुनक्का या अमलतास आदि मृदुरेचक औषधियों का प्रयोग हो सकता है। नरम साबुन की वर्ती अथवा ग्लिसरीन-सपोजिटरी गुदा में देकर रुका मल निकाला जा सकता है। यथासम्भव मस्तिष्क के लिये ब्राह्मी, हृदय के लिये मुक्ता, मकरध्वज प्रवाल प्रयोग करें। रोगी की व्यवस्थानुसार शास्त्रोक्त औषधियां—सर्वाङ्ग सुन्दर रस, महागन्धक, रामबाण रस, कर्पूर रस, रत्नगिरी रस, बृहत् कस्तूरीभैरव रस, वातकुलान्तक, बृहत् वातचिन्तामणि, संजीवनीवटी, सौभाग्यवटी, मुक्तापिष्टी, योगेन्द्र रस प्रयोग में लाये जा सकते हैं। यह सब चिकित्सक अथवा रोगी तथा रोग की हालत पर निर्भर करता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञानानुसार क्लोरोमाइस्टीन इस रोग को अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुई है। इसके प्रयोग से दो-तीन दिन में रोगी का ज्वर उतरता देखा गया है। परन्तु पीछे रोगी खाट पर पड़ा कई दिन तक लटकता देखा जाता है। परिणाम स्वरूप उसकी भूख मर जाती है, आवरण श्वेत हो जाता है, क्षीण अधिक हो जाता है और रक्ताल्पता के कारण जीवन के दिन गिनता रहता है। इसके प्रयोग करने वाले पित्ताधिक्य के रोगी तो मृत्युलोक का मुख देखते भी देखे गये हैं।

कई वर्षों से हमारे अनुभव में भैषज्य रत्नावली के विस्फोटक अधिकार की **'इन्दुकला वटी'** बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। हमने इसका उल्लेख कई पत्रिकाओं में कई बार किया है। ग्रन्थ का योग इस प्रकार है—सुवर्ण भस्म, शिलाजीत और लोहभस्म समभाग लेकर खरल कर वटी बनावें। हमने अपने अनुभव से इन्दुकला वटी को निम्नप्रकार से निर्माण किया है—शु. शिलाजीत १० ग्राम, लोहभस्म १० ग्राम, सुवर्ण भस्म १० ग्राम, सुवर्णमाक्षिक भस्म ९ ग्राम, तुलसी घनसत्व १० ग्राम, मुक्तापिष्टी ३ ग्राम। सब द्रव्यों को मिलाकर साधारण जल अथवा अर्क गाजवान में खरल कर १००-१०० मिलीग्राम की वटी बनायें और छाया में सुखा लें। इसके सेवन से मसूरिका, विस्फोटक, लोहित ज्वर तथा सम्पूर्ण व्रण शान्त होते हैं। इस प्रकार योग अधिक सस्ता तथा अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। इसको हमने टाइफायड ज्वर

में "ज्वरांकुश' के साथ द्राक्षा के दाने में लपेट कर प्रयोग से सैकड़ों रोगियों को देकर यश प्राप्त किया है। क्लोरोमाइसिटीन कैपसूल (*Chloromycetin Capsules*) जो आधुनिक समय की अचूक उक्त ज्वरनाशक औषध है इसके स्थान पर यह योग कहीं अधिक गुणकारक सिद्ध हुआ है। हमने बीसियों उन रोगियों पर प्रयोग किया है जो क्लोरोमाइसिटीन से पित्ताधिक्य के कारण बिगड़ गये, जिन्हें श्वेत वर्ण, भूखबन्द, वमन आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। साधारण वैद्यवर्ग जानता है जि सुवर्णभस्म शीतल, वीर्यवर्द्धक, रसायन, बलदायक, पवित्र, पुष्टिकारक, नेत्रहितकारी, बुद्धि, विचार शक्ति वर्द्धक, हृदय को प्रिय, आयु बढ़ाने वाली, कान्ति, वाणी को स्वच्छ करने वाली, विषनाशक तथा क्षय उन्माद ज्वरादि दोष नाशक है। शिलाजीत, पारद, छः रसों से युक्त, स्निग्ध, त्रिदोष नाशक, रसायन, योगवाही, वीर्यवर्द्धक, नेत्रबलदायक, सर्व रोगनाशक, विशेषकर सब प्रकार के कुष्ठों को नष्ट करती है। इसी प्रकार लोहभस्म [उत्तम] कड़वी शीतल, दस्ताधर, कसैली, मधुर, भारी, रूक्ष, आयुदात्री कफ, पित्त, विष, शूल नाशक, सूजन, अर्श, प्लीहा, पांडु, मेद, प्रमेह, क्रिमि और कोढ़ को नष्ट करती है। इसी प्रकार शेष द्रव्य रोगनाशक अथवा गुणकारक अथवा योगवाही हैं।

ऊपर लिखित "ज्वरांकुश" योग हम इस प्रकार बनाते हैं—सिताचुर्ण १० ग्राम, तवाशीर ८ ग्राम, खूबकलां शुद्ध २ ग्राम। सबको वस्त्रपूत कर रख लें। साधारण ज्वर, पित्तज्वर तथा आमाशय विकार में ज्वर में इसका प्रयोग हम कर सकते हैं परन्तु "इन्दुकला" के साथ इसका योग अधिक महत्व रखता है।

इस लेख के लिये हमने चरक संहिता, वाग्भट, भैषज संहिता, योगरत्नाकर, निदान दीपिका, कायचिकित्साङ्क आदि ग्रन्थ, प्राणाचार्य, धन्वन्तरि पत्रिकाओं के निदान अङ्क और साधारण अङ्क तथा अपने लेखनीबद्ध पुरातन लेखों का आधार लिया है। उसके लिए आदि महर्षियों, ग्रन्थ लेखकों, विशेष सम्पादकों का आभार मानते हैं।

आशा है कि पाठक आन्त्रिक ज्वर के विषय में कुछ लाभ प्राप्त करेंगे और हमारे अनुभव को अपनायेंगे।

सुधानिधि के आद्य सम्पादक
स्व० वैद्य देवीशरण जी गर्ग का
वर्षों का अनुभूत

मन्थर ज्वर (मोतीझला)

पर एक प्रयोग

मुक्तापिष्टी	१ माशा
कस्तूरी	२ माशा
केशर	३ माशा
जायफल	४ माशा
जावित्री	५ माशा
लौंग	६ माशा
तुलसीपत्र	७ माशा
अभ्रक भस्म	८ माशा

विधि—सब को मिलाकर ३ घण्टा अदरख के रस में घोटें और १-१ रत्ती की गोली बनाकर सुखाकर रखलें। (गोली धूप में न सुखायें। छाया शुष्क ही करें)।

मात्रा—आधी गोली से २ गोली तक।

समय—दिन में ३-४ बार तीन-तीन घण्टे के अन्तर से अदरख के रस या जल के साथ सेवन करावें।

गुण—यह गोली मन्थर ज्वर की सब अवस्थाओं में अतीव उपयोगी है विष का शमन करती है। आन्त्र को बलवान है और दाह को शान्त करती है। अपथ्य सेवन या औषधि में भूल होने पर कभी-कभी दाने बाहर नहीं निकलते और विष भीतर फैल जाने से अधिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसी परिस्थिति में यह जादू के समान लाभ पहुँचाती है। रसतन्त्र सार एवं सिद्ध प्रयोग संग्रह के प्रथम भाग के इस प्रयोग को वर्षों से व्यवहार में लाते हैं, और सदैव उत्तम लाभ होता है।

आन्त्रिक ज्वर

आयुर्वेद वृहस्पति, आयुर्वेदाचार्य श्री श्रीनिवास व्यास
५७७५/५ देवनगर करौलबाग, नई दिल्ली

श्री व्यास जी की कलात्मक आयुर्वेदीय कृतियों से हमारे सुजन पाठक भले प्रकार परिचित हैं तथा उनके दिनानुदिन वर्द्धमान स्वरूप और प्रगतिमान जीवन के प्रति हम सभी आशावान् भी हैं। उनका संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित अनुभवपूर्ण लेख पूरा ही यहां दिया जा रहा है, आशा है पाठक लाभान्वित होंगे। टाइफाइड ज्वर में उनकी अनुभूत चिकित्सा तथा योगों के मिश्रणों का प्रयोग यदि एलोपैथिक औषधियों के अन्धभक्त अपना हठ छोड़कर प्रयोग करेंगे तो निश्चय ही अपने रोगियों पर लाभ अर्जित करेंगे और औषधियों के दुष्प्रभाव से अपने रोगियों को बचाये रखेंगे।
—गोपालशरण गर्ग।

यह एक प्रकार का संतत (संक्रामक) ज्वर है। इसे प्रायः मोतीझारा, आन्त्रिक ज्वर, तोरकी, एन्टरिक फीवर, टाइफाइड फीवर के नामों से जाना जाता है। आयुर्वेदिक ग्रन्थ योगरत्नाकर में मन्थर ज्वर या मधुर ज्वर के नाम से इसका वर्णन किया गया है।

इसमें क्षुद्रांत्र की लसीका ग्रन्थि समूहों में शोथ और व्रण हो जाते हैं, ज्वर शनैः-शनैः चढ़कर कुछ काल तक उच्चतापमय रहकर उतर जाता है। इस क्रिया में प्रायः तीन सप्ताह लग जाते हैं।

आयुर्वेदिक मतानुसार आन्त्रिक ज्वर तीनों दोषों के सन्निपात से होता है। दोष तारतम्य के अनुसार यह सौम्य, मध्यम या तीव्र प्रकार का होता है।

आधुनिक मतानुसार इसका कारण एक विशेष प्रकार का दण्डाकार कीटाणु है जिसे "बेसिलस टायफोसस" कहते हैं। यह कीटाणु रोगी के आन्त्रिक व्रण, मूत्राशय, पित्ताशय, प्लीहा, रक्त और शरीर पर पीड़िकाओं में रहता है। रोगी के मलमूत्र और कभी-कभी स्वेद में भी कीटाणु उपस्थित होता है। यह कीटाणु उष्णता से शीघ्र मर जाता है परन्तु वर्फ और पानी में बहुत देर तक जीवित रहता है। शुष्कता से शीघ्र नाश नहीं होता अतः टाइफाइड के मल मूत्र के दूषित कण शुष्क अवस्था में रोग फैलाने का कारण बन सकते हैं।

आन्त्रिक ज्वर प्रायः सम्पूर्ण भूमण्डल पर होता है। परन्तु अधिकतर उष्ण प्रदेश में, वहां पर भी ग्रीष्म और

वर्षा ऋतु में, ज्यादा होता है।

सम्प्राप्ति—

रोगाणु अन्त्र में जाकर वहां की दीवार की लसीका ग्रन्थि समूह में शोथ पैदा कर देते हैं। यह शोथ धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। दूसरे सप्ताह में वहां व्रण बन जाते हैं और उनके ऊपर से श्लैष्मिक कला के टुकड़े झड़ने लगते हैं। उदर कला की लसीका ग्रन्थियां भी सूज जाती हैं और पीड़ा करती हैं। यकृत् और प्लीहा की वृद्धि हो जाती है। व्रण के बढ़ने से यदि रक्तवाहिनी उसके अधिकृत में आकर फट जाये तो रक्तस्राव मल द्वारा होने लगता है। जब व्रण अन्त्र की दीवार को फाड़कर उदरक कला तक पहुँच जाये तो वहां शोथ हो जाती है। परिपाककाल १० से १४ दिन और सीमा ५ से २० दिन है।

लक्षण—

आन्त्रिक ज्वर धीरे-धीरे प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में शिरःशूल, अंगमर्द, और अवसादादि लक्षण प्रतीत होते हैं, ज्वर बढ़ता जाता है, एक दो दिन तो रोगी चलता-फिरता यथा साधारण कार्य करता रहता है परन्तु दो-चार दिन में शय्या की शरण ले लेता है। ताप अब भी शनैः-शनैः प्रतिदिन अधिकाधिक होता जाता है नाड़ी की गति ज्वर की अपेक्षा मन्द होती है। जिह्वा मलिन और श्वेत होती है उसमें लाल-लाल किंचित् उभरे हुये अंकुर दिखाई देते हैं। कभी-कभी कोष्ठबद्धता होती है। नाभि के नीचे भाग में दबाने से पीड़ा होती है। यकृत् और प्लीहा बढ़े हुए प्रतीत होते हैं। सात दिन तक या कभी-कभी इससे पहले भी ज्वर अपनी १०४°–१०५° तक पहुँच जाता है, कभी-कभी ज्वर आरम्भ से ही तीव्र होता है।

द्वितीय अवस्था दूसरे सप्ताह में होती है। इसमें ज्वर उतना ही तीव्र स्थिर रूप में मिलता है और दुर्बलता बढ़ जाती है तथा अन्य लक्षण भी तीव्र होते हैं। उदर पर गुलाबी रंग की पीडिकाएं निकलती हैं। कभी-कभी गले पर श्वेत वर्ण के दाने भी दिखाई देते हैं। जिह्वा शुष्क और फटी हुई मिलती है। ओष्ठों एवं दांतों पर मल जम जाता है। तीव्र लक्षणों में प्रलाप ज्वर की अधिकता, ब्रांकोनिमोनियां मिल सकते हैं। अतीसार मल-मार्ग से रक्तस्राव भी हो सकता है। यह अवस्था बहुत भयानक हैं। यदि विष कम हुआ तो एक सप्ताह तक यह अवस्था रहती है। कभी-कभी यह अवस्था २–४–६ सप्ताह तक भी चल सकती है। इस अवस्था में विषाक्तता के कारण मृत्यु का भय रहता है।

तीसरी अवस्था द्वितीय अवस्था की समाप्ति पर प्रारम्भ होती है। साधारणतः दो सप्ताह के बाद तीसरे सप्ताह में ज्वर का वेग मन्द होता है। प्रातः ज्वर मन्द रहता है और सायंकाल कुछ बढ़ जाता है। अन्य लक्षण भी कुछ कम होते जाते हैं। यह अवस्था एक सप्ताह रहती है।

चौथी अवस्था में ज्वर उतर चुका होता है। रोगी को दुर्बलता बहुत होती है। यदि इस अवस्था में पथ्य का प्रयोग न किया जाये तो इसमें पुनः ज्वर तेज हो जाता है और रोग का पुनराक्रमण हो जाता है।

आन्त्रिक ज्वर में निम्न उपद्रव होते हैं :—

१. अति तीव्र ताप।
२. टाक्सीसिया-प्रलापादि।
३. आध्मान।
४. आन्त्रिक रक्तस्राव।
५. उदरकला शोथ।
६. फुफ्फुस प्रदाह।
७. वृक्कशोथ।
८. शय्याव्रण इत्यादि।

चिकित्सा—

सामान्य प्रयोग प्रथम सप्ताह—

१. मृगशृङ्ग भस्म —१२० मि० ग्रा०
मुक्ताशुक्ति भस्म—१२० मि० ग्राम
१ × ३
प्रातः दोपहर, सायं मधु से।

२. खूबकला —१२ ग्राम
मुनक्का —१० ग्राम
१ मात्रा क्वाथ बनाकर प्रातः।



सामान्य प्रयोग द्वितीय सप्ताह—

१. कस्तूरी भैरव —१२० मि० ग्रा०
मुक्ताशुक्ति भस्म—१२० मि० ग्रा०
१×२
प्रातः सायं मधु से।

२. ज्वरार्यभ्र —१२० मि० ग्रा०
सौभाग्य वटी —२४० मि० ग्रा०
१×२
दोपहर—रात्रि अदरक रस से।

सामान्य प्रयोग तृतीय सप्ताह—

१. बसंत मालती —१२० मि० ग्रा०
प्रवाल भस्म —१२० मि० ग्रा०
अमृतासत्व —२४० मि० ग्रा०
१×२
प्रातः साय मधु से।

२. सर्वज्वर हरलौह—२४० मि० ग्रा०
पिप्पली चूर्ण —२४० मि० ग्रा०
१×२
दोपहर रात्रि मधु से।

सामान्य प्रयोग चतुर्थ सप्ताह—

१. बसन्तमालती —१२० मि० ग्रा०
नवायस चूर्ण —२४० मि० ग्रा०
सितोपलादि चूर्ण—१।। ग्राम
१×२
प्रातः सायं मधु से।

२. विषमुष्ट्यासव—५ मि० लि०
लोहासव १० मि० लि०
अमृतारिष्ट १० मि० लि०
१×२
भोजनोत्तर समजल से।

३. महालाक्षादि तैल मालिश के लिए।

विशेष—

वात की प्रबलता में—

बृहत् वातचिन्तामणि—१२० मि० ग्रा०
बृ० कस्तूरी भैरव —१२० मि० ग्रा०
सौभाग्य वटी —१२० मि० ग्रा०
१×३
प्रातः, दोपहर, सायं मधु या अदरक के रस से।

पित्त की प्रबलता में—

नागार्जुनाभ्र —१२० मि० ग्रा०
प्रवाल भस्म —१२० मि० ग्रा०
मुक्ता पिष्टी —१२० मि० ग्रा०
१×३
प्रातः, दोपहर, सायं इलायची चूर्ण व मधु से।

कफ की प्रबलता में—

मकरध्वज — ६० मि० ग्रा०
बृ० कस्तूरी भैरव—१२० मि० ग्रा०
सौभाग्य वटी —१२० मि० ग्रा०
१×३
प्रातः दोपहर, सायं भुनी लौंग चूर्ण १२० मि० ग्रा० व मधु से।

हृदौर्बल्य की अवस्था में—विश्वेश्वर रस—मुक्ता-पिष्टी व बृ० कस्तूरी भैरव मधु में मिलाकर दें। अतीसार होने पर जहां तक हो सके अफीम के योग न दें, संजीवनी, रामबाण व महागन्धक के मिश्रण से काम चलायें। अतीसार न रुकने पर अगस्ति सूतराज १२० मि० ग्रा० एक बार दिन में दें। दाने ठीक न निकल रहे हों तो, १० ग्राम के लगभग लौंग डेढ़ लिटर जल में डालकर उबाल लें, इसी पानी का प्रयोग पीने के लिये करायें। विबन्ध दूर करने के लिए विरेचन न दें। ग्लीसरीन की गुदवर्ति से काम ले। कास होने पर मुख्य रोग के साथ कास की भी औषधियां दें। रक्तस्राव हो तो रक्तपित्त कुलकण्डन रस आदि रक्तपित्त हर औषधियों का प्रयोग करें।

आधुनिक मत में इस रोग की प्रधान औषधि क्लोरें-फेनिकॉल (क्लोरोमाइसटीन) है।



मंथर ज्वर की अनुभूत चिकित्सा

प्रस्तुतकर्ता—आचार्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी सम्पादक

रोगी जब चिकित्सक के पास आ जावे तो उसे मंथर ज्वर का ज्ञान या आभास होने की दशा में क्या-क्या करना चाहिए यह बताना जरूरी है। क्योंकि मन्थरज्वर एक जटिल रोग है तथा ठीक से उपचार न करने से बड़ी कलियां खिलने से पूर्व ही मुरझा जाती हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज में हमसे तीन वर्ष पीछे एक ए. एम. एस. उपाधि हेतु पढ़ने वाले छात्रों की एक टीम थी जिसमें थे चिरगांव के श्री अवध बिहारी गुप्त जो अब कोंच [झांसी] में ऊंचे चिकित्सक हैं। श्रीनगर गढ़वाल के श्री केशवानन्द नौटियाल जो अब शंकुधारा खुजवां काशी में नौटियाल निवास में रहते हैं और कई उत्तमोत्तम चिकित्सा ग्रन्थों के प्रणेता हैं, बिहार के श्री भूदेव प्रसाद केशरी और मैनपुरी जिले के श्री कुलकान्त शुक्ल। शुक्ल अपनी क्लास में सर्व प्रथम आते थे और सर्व प्रथम ही स्वर्णपदक लेकर ए. एम. एस. स्नातक बने। उन्हें टायफाइड हो गया। उनकी ठीक से चिकित्सा न हुई और यह नौनिहाल अपने माता-पिता, इष्ट मित्रों और शायद अपनी प्रियतमा को रुलाता हुआ छोड़कर चला गया वहां जहां से कोई नहीं आता। उसकी भोली सलोनी मूर्ति नूतन वर्ष [दीपावली के बाद का प्रथम दिन] के इस अवसर पर मेरी कोर में अश्रुबिन्दु प्रस्तुत कर रही है। काश आज वह होता तो मेरे कितने विशेषाङ्क के पृष्ठ उसके द्वारा पूरे होते और मेरी इस अनवरत चलती हुई लेखनी को कुछ विश्राम मिल जाता।

इसलिए वैद्य व डाक्टर बन्धुओ! टायफाइड के रोगी को सावधानी से देखो। यह तो हम जानते हैं कि आप क्लोरैंफेनिकॉल नामक रामबाण से नीचे निशाना नहीं लगाते पर इसका जल्दबाजी में किया गया अतिशय प्रयोग जीवन को दूसरी पार उतार सकता है, इसे न भूलिए। हमारे सहोदर और अग्रज हैं आयुर्वेद तत्वमर्मज्ञ वैद्य बंशीधर त्रिवेदी जी हमारी जन्मभूमि पुरदिलनगर में ही रहते हैं। आप सन् १९२१ से ही चिकित्सारत हैं जब अंग्रेज सरकार ने १९२१ ई० में उन्हें जेल में बन्द कर दिया था। महात्मागांधी के आंदोलन के सिलसिले में। तब से बराबर वे अपनी पीयूषपाणिता के लिए प्रसिद्ध हैं जीवन में कभी कोई इन्जेक्शन नहीं लगाया और जिस रोगी को छू दिया वही ठीक हो गया। वे मोतीझरा या मन्थर ज्वर की चिकित्सा करते हैं और सदा यश पाते हैं।

उनकी चिकित्सा के मूल मन्त्र हैं—

१—रोगी को भोजन देना बन्द कर दो।

२—देखो कि रोगी को कब्ज रहती है या दस्त चलते हैं क्योंकि मोतीझरा में दोनों ही प्रकार मिलते हैं।

३—यदि कब्ज हो तो अश्वकंचुकी वटी की १ गोली क्रूरकोष्ठी को हर दूसरे-तीसरे दिन देना चाहिए। कोमल स्वभाव के व्यक्ति को काढ़ा देने से भी पेट साफ हो जाता है।

४—अब ज्वर की समस्या पर ध्यान न दो। उसे खूबकलादि क्वाथ पिलाओ नुस्खा इस प्रकार है—

खूबकला ६ माशा, मुनक्का बीज निकाले हुए ७ दाने, तुलसी की डण्डी १।। माशा, गिलोय ३ माशा, पानी २० तोला, शेष ५ तोला, शहद १ तोला सवेरे दें या सवेरे शाम दोनों समय दें।



५—काढ़े के साथ एक गोली दें। गोली कच्छप-पृष्ठास्थि का बारीक चूर्ण को मुनक्के के साथ घोंटकर ३-३ रत्ती की गोलियां बनाली जाती हैं। इसमें आवश्यकतानुसार मुक्तापिष्टी भी डाली जाती है।

६—रोगी के सिर पर शिरोवल्लभ तैल की मालिश कराना बहुत जरूरी होता है। यह तैल इस इलाके में बहुत प्रसिद्ध है। मन्थरज्वर से पीड़ित होने पर रोगी इसे खुद मंगवाकर रखता है। यह भाई साहब का आजमूदा योग है। इसे वे मीठे तेल को पेठे और लौकी के रसों से सिद्ध कर केसर, कस्तूरी, कपूर आदि डालकर बनाते हैं। बनाने का ढङ्ग उनका अपना है। तेल लगाने से रोगी की घबराहट और बेचैनी दूर हो जाती है।

७—दिल को ताकत देने के लिए खमीरा मरवारीद या खमीरा अम्बरी जवाहरवाला वे प्रयोग में लाते हैं। हृदय में अधिक घबराहट दूर करने के लिए वे हृदय विलास रस देते हैं जो कि एक सहस्रशः अनुभूत योग है।

रोगी उनके इस इलाज से पहली म्याद १७ दिन दूसरी २७ दिन, तीसरी ४८ दिन के अन्दर अवश्य ठीक हो जाता है। उसका बल, वर्ण और पौरुष पहले से बहुत बढ़ जाता है। भाई साहब तो मन्थर ज्वर को मनुष्य के कायाकल्प का ही एक प्रकार मानते हैं जो स्थूल को कृश और कृश को पुष्ट करके सारे शरीर को मल रहित कर देता है।

उनका कहना है कि जिस रोगी के पेट में दर्द शुरू से ही रहता है उसे ठीक करना बहुत कठिन काम है। उनका दूसरा कहना यह है कि जिस मोतीझरा वाले रोगी को शुरू से ही दस्त होते हैं उसे दाने प्रायः नही निकलते। उनका तीसरा अनुभव यह है कि जब तक अन्दर दबे मोतीझरा के दाने बाहर नहीं निकल आवेंगे तब तक रोग दूर नहीं किया जा सकता जिसके लिए लंघन और हृद्य औषधें देना परमावश्यक है। दानों के निकलने से मोतीझरा का विष निकलने लगता है। जैसे ही दाने सिर से पैर की ओर तिरोहित होने लगते हैं रोगी में विजयवाहिनी शक्ति बढ़ने लगती है और वह ठीक होता चला जाता है।

रोगी को जैसा-जैसा उपद्रव उठता है उसी-उसी को ठीक करने के लिए औषध प्रयोग करना आवश्यक होता है। मोतीझरा के दस्तों को वे बन्द करना खतरे से खाली नहीं मानते। पेट फूलना और पेट में दर्द होना वे असाध्य के सन्निकट लक्षण मानते हैं। यदि छिद्रोदर न हो तो तसल्ली से इलाज करने की सलाह देते हैं।

वे रोगी को आरम्भ में फटे दूध का पानी ग्लूकोज डालकर पिलवाते हैं। बाद में उसे दूध पर ले आते हैं। फलों का रस दिलाते रहते हैं।

उनके इस इलाज के बाद किसी भी रोगी को कोई खास उपद्रव होते हुए नहीं देखे गये।

वे मोतीझरा में उग्र विषाक्त औषधियां देने के विरुद्ध रहते हैं।

एक बार तो उन्हें एक स्त्री को दुमिया [नानऊं] जिला अलीगढ़ में ठा० मेघसिंह की पत्नी को ८५ दिन तक लंघन कराना पड़ा। ८५ वें दिन उसे भूख आई। उससे जब पूछा गया कि क्या खायेगी तो उसने बताया कि सूजी का हलवा दो। भाई साहब ने एक कड़ाही भर कर हलवा बनवाया। उसे सारे गांव को बांटा गया और उसे सिर्फ मटर बराबर दिया गया। प्रतिदिन मटर बराबर ही बढ़ाते गये, यहां तक कि वह आधा सेर हलवा तक खा निकली। यह स्त्री जा सूखी और कमजोर थी, बड़ी हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर हो गई और उनकी प्रशंसा चतुर्दिक छा गई। ऐसे उनके मन्थर ज्वर विषयक अनेक करिश्मे विख्यात हैं।

भैषज्य रत्नावली परिशिष्ट भाग में

मौक्तिक ज्वर की चिकित्सा में—मृत्युञ्जय रस १ रत्ती पीसकर १ मात्रा अथवा संजीवनी वटी १ रत्ती, रस सिंदूर $\frac{1}{2}$ रत्ती।

अनुपान—मुलहठी का चूर्ण अथवा पीपल का चूर्ण एवं अदरख या पान का रस अथवा अड़ूसे का शर्बत मिलाकर ४-४ घण्टे पर तीन मात्रा प्रतिदिन।

इस ज्वर में कभी-कभी 'प्रलाप, उत्पन्न हो जाता है तब ब्राह्मी के स्वरस में रुद्राक्ष एवं सफेद गुंजा घिसकर देवें और अतीसार उत्पन्न हो जाने पर यद्यपि यह कुलक्षण होता है तथापि नागरमोथा पित्तपापड़ा एवं धनियां के स्वरस में जायफल घिसकर देने से लाभ हो जाता है।



आचार्य श्री नाथूराम
गोस्वामी शास्त्री
बी. आई. एम. एस.
भिलाई रोड,
रायपुर (म० प्र०)

आचार्य नाथूराम गोस्वामी से सुधानिधि के पाठक उसके जन्मकाल से ही परिचित हैं सुधानिधि के पूर्व प्रकाशित तीनों विशेषांकों में आचार्य के लेखों ने पाठकों के हृदय में अमिट छाप छोड़ी है। आप एक कर्मठ लेखक तथा सफल चिकित्सक के रूप में आयुर्वेद जगत् में प्रकाश रश्मियां विकीर्ण करते हुये अपना यश विस्तार करते जा रहे हैं भविष्य में भी गोस्वामी जी सुधानिधि को अपना सहयोग देते रहेंगे इस आशा तथा विश्वास के साथ।

रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

धातुगत ज्वर तथा जीर्णज्वर एवं उपचार—

चरक संहिता में लिखा है—

पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः

आश्रय भेद से ज्वर पुनः सात प्रकार का माना गया है। इस विषय में विजयरक्षित लिखते हैं—

उक्तवातादिज्वराणां धातुविशेषदूष्यतयाऽधिक लक्षणानि भवन्ति; यदुक्तं—

वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा।
तथा तेषां भिषग्ब्रूयाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान ॥

—सुश्रुत सं. उत्तर तन्त्र

धातुगत ज्वर प्रायः जीर्ण स्वरूप के हो जाते हैं खास कर जब वे रस और रक्तधातु के आगे की धातुओं में आश्रित होते हैं। तब वे जटिल भी हो जाते हैं:—

रसरक्ताश्रितः साध्यो मांसमेदोगतश्च यः।
अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थस्तु न सिध्यति ॥

—चरक संहिता चि. स्था. अ. ३

योगरत्नाकर में सप्तधातुगत ज्वरों की चिकित्सा के विषय में जो लिखा है उसका भाव यह है:—

१. रसगत ज्वर होने पर लंघन और वमन कराना चाहिए।

२. रक्तगत ज्वर में—सेक, संशमन चिकित्सा, आलेप (पिडिकाओं पर) और रक्तमोक्षण कर्म कराना चाहिए।

३. मांसगत ज्वर का निर्हरण तीक्ष्ण विरेचनों द्वारा होता है। इसमें पिण्डिकोद्वेष्टन तृष्णा और अन्तर्दाह ये लक्षण सृष्टमूत्रपुरीषता जन्य डिहाइड्रेशन के होने से इलैक्ट्रोलाईटिक (रसगत लवणों के) सन्तुलन का भी ध्यान रखना पड़ेगा।

४. मेदगत ज्वर तीव्र विषाक्तता की अवस्था होती है इसमें मेदोधातु वृद्धि को रोकना चाहिए। मेदोधातु वृद्धि में या शरीर में अत्यम्लता के कारण मूत्र में ऐसीटोन भी आ सकता है मधुमेह होने पर उसकी चिकित्सा भी करणीय है।

५. अस्थिगत ज्वर में हड़फूटन बहुत होने से वातनाशक चिकित्सा उपयोगी मानी गई है। वातघ्न बस्ति-

कर्म, अभ्यंग, उद्वर्तन सभी उपचार आवश्यक होते हैं।

६. मज्जाशुक्रे क्रिया नोक्ता मरणं तत्र भाषितम्।

मज्जागत ज्वर प्लास्टिक अनीमिया का कारण होता है जिसका कोई इलाज अभी तक नहीं मिल पाया।

धातुगत ज्वरों में रस चिकित्सा का बहुत उपयोग है तथा उससे लाभ भी होता है। स्वर्णभस्म, अभ्रकभस्म, मुक्तापिष्टी या भस्म युक्त योगों का अधिकतर व्यवहार किया जाता है और लाक्षणिक, रोग कारक जीवाणुनाशक चिकित्सा सतत दी जाती है।

जीर्णज्वर—

जब ज्वर अपनी साधारण अवधि तक निरन्तर उपचार करने पर भी ठीक नहीं होता या जिस ज्वर की कोई चिकित्सा न की जाने के कारण दीर्घकालानुबन्धि (*Chronic*) हो गया है वह भी जटिल रोगों की श्रेणी में आ जाता है।

ज्वर जीर्ण क्यों होता है इसे एक ही वाक्य में वाग्भट ने इस प्रकार सुस्पष्ट किया है—

देहधात्वबलत्वाच्च ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते।

—अष्टांग हृदय चि. स्था. अ. १

देह धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा शुक्र तथा वात धातु, पित्त धातु और कफ धातु) के निर्बल हो जाने से उनके द्वारा उत्पन्न या उनमें रमा हुआ किसी भी प्रकार का ज्वर दूर नहीं हो पाता और रोगी जीर्णज्वर से ग्रसित हो जाता है।

वाग्भट ने देह धातुओं को बलवान् बनाने के लिए घृतपान को उपयोगी बतलाया है। ज्वर में ज्वर के तेज से रूक्ष और जलते हुए शरीर को घृत द्वारा शान्ति या संशमन प्राप्त होता है।

रूक्षं हि तेजो ज्वरकृत् तेजसा रूक्षितस्य च।
वमनस्वेद कालाम्बु कषाय लघु भोजनैः॥
यः स्यादति बलो धातुः सहचारी सदागतिः।
तस्य संशमनं सर्पिः दीप्तस्येवाम्बु वेश्मनः॥

जिस प्रकार का ज्वर जीर्ण हो गया हो उसके नवीन रूप में जो क्वाथ दिया जाता है उसी क्वाथ से घृत सिद्ध करके देने से वही-वही ज्वर अपना जीर्णरूप छोड़कर ठीक हो जाता है।

वातपित्तजितामग्र्यं संस्कारं चानुरुध्यते।
सुतरां सद्ध्यतोदद्याद यथास्वौषध साधितम्॥

घृत क्यों लाभ करता है उसका कारण देते हुए लिखा है—

घृतं विपरीतं ज्वरोष्माणं जयेत् पित्तं च शैत्यतः जयेत् स्नेहाद् वातं जयेत् योग संस्कारतः कफं जयेत्।

इस तरह घृत व्याधिविपरीत भी है और हेतु विपरीत भी है। इसलिए—

पूर्वे कषायाः सघृताः सर्वे योज्याः यथा मलम्॥

यथा दोष प्रयुक्त सभी कषायों को घृत मिलाकर या उनमें घृत सिद्ध करके देने का विधान है।

जब घृत जीर्ण हो जाय तब रोगी को मृदु मांसरसौदन या शीघ्रपाची दूध की प्रोटीनोंयुक्त आहार देना चाहिए—

जीर्णेघृते च भुञ्जीत मृदुमांस रसौदनम्।
बलं ह्यलं दोषहरं परं तच्च बलप्रदम्॥

जीर्णज्वर का विषय बहुत व्यापक है इस पर कभी अधिक विस्तार से किसी एक अंक में चर्चा की जायगी।

जीर्णज्वरों में स्वर्ण के योग पिप्पली का प्रयोग बहुत लाभदायक माना जाता है।

स्वर्णवसन्तमालती इसकी एकमेव परम उपयोगी औषधि है।

स्वर्णमुक्तादरदमरिचं भागवृद्ध्या प्रदिष्टं।
खर्परंष्टौ प्रथममखिलं मर्दयेन्मृक्षणेन॥
यावत्स्नेहो व्रजति विलयं निम्बुनीरेण तावत्।
गुन्जा द्वन्द्वं मधुचपलया मालती प्राग्वसन्तः॥
सेवितोऽयं हरेत्तूर्णं जीर्णञ्च विषमज्वरम्।
व्याधीनन्यांश्च कासादीन् प्रदीप्तंकुरुतेऽनलम्॥

केवल खर्पर २ मरिच १ भाग को पीस मक्खन मिला नीबू के रस से घोटकर प्रयोग करना भी उत्तम है यह रसयोग सागर का तृतीय वसन्तमालती रस है। इसे पिप्पली चूर्ण और मधु के साथ देते हैं ३-३ रत्ती प्रातः सायंकाल।

यह प्राचीन (जीर्ण) ज्वर नाशक, विषमज्वरहर और धातुगतज्वरों का विध्वंसन करती है। इसे रस प्रदीपकार ने जीर्णज्वरहर रस नाम से लिखा है।

(शेषांश पृष्ठ ६५ पर)



ज्वर में उच्च सन्ताप की व्यवस्था

आयुर्वेदाचार्य डा० सत्यनारायण खरे ए. एम. बी. एस.
चिकित्साधिकारी–जिला परिषद् औषधालय, ककवारा (झांसी)



डा० खरे एक मानवताप्रिय, मध्यम-मार्गीय चिकित्सक हैं जो आयुर्वेद में पूर्ण आस्था रखते हुए भी दुनियां भर में विज्ञान ने जो नई दृष्टि दी है उससे लाभ उठाने के लिए सर्वदा अग्रसर रहने वाले चिकित्सक हैं। उनकी लेखों की एक लम्बी शृङ्खला है। लेख के विषय चुने हुए, सामग्री उपयुक्त और उसमें अनुभव का स्वच्छ पुट रहता है। जिला परिषद् झांसी को ऐसे सुयोग्य वैद्य को पाकर गर्व करना चाहिए। उनकी योग्यता की कदर झांसी बुन्देलखण्ड आयुर्वेद महाविद्यालय के चिकित्सालय को सम्पन्न बनाने के लिए राज्य सरकार को करना चाहिए। हमारा विश्वास है कि उनकी सेवाएं किसी भी आयुर्वेद कॉलेज में बैठकर चिन्तन करने वाले किसी विद्वान् से किसी कदर कम नहीं हैं। विकास मार्ग का पथिक बनने पर उनसे समाज को बहुत अधिक लाभ हो सकता है। यह मेरा प्रस्ताव डा० खरे को कितना स्वीकार होगा यह मैं नहीं जानता किन्तु उनकी योग्यता, क्रियाकुशलता लेखन-पटुता और शास्त्र में पैठने की प्रवृत्ति का आभास ही मुझे यह सब लिखने के लिए प्रेरित कर रहा है।

—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

प्रत्येक प्राणी का जीवन उसके शरीर तापमान के अनुसार ही संचालित होता है। शरीर का तापमान नियमित रहने पर ही प्राणी स्वस्थ रहता है, इसके कम होने या पूर्ण अभाव से शरीर शीतल होकर पंचतत्व में विलीन हो जाता है। प्रत्येक प्राणी के शरीर का सामान्य तापमान विभिन्न प्रकार का रहता है। कुछ प्राणी शीतरक्त (*Cold Blooded*) वाले होते हैं जिनमें सर्प व मेंढक मुख्य हैं, इनमें वायु के तापमान को सहन करने की क्षमता नहीं



होती है अतः अधिक या कम ताप के समय ये जमीन के अन्दर जीवित रह पाते हैं।

इसके अतिरिक्त जितने पशु-पक्षी व मनुष्य प्राणी हैं, वे उष्ण रक्त वाले (*Hot Blooded*) प्राणी कहलाते हैं। ये वायु के किसी प्रकार के तापक्रम को सहन करने की क्षमता रखते हैं परन्तु वायु के तापमान के अनुसार उनके शरीर में कुछ प्राकृतिक परिवर्तन होते रहते हैं जिसके अनुसार वे जीवित रहने में समर्थ होते हैं। ये शारारिक परिवर्तन ऋतु के अनुसार होते हैं जैसे शीतऋतु में स्वेदावरोध (पसीना रुकने) द्वारा शरीर के ताप की रक्षा और ग्रीष्मऋतु में स्वेदस्राव (पसीना निकलना) द्वारा वायुमंडल के अधिक तापमान से शरीर के तापमान की रक्षा होती रहती है। ये परिवर्तन शरीर के स्वस्थ रहने पर ही होते हैं।

शरीर के अस्वस्थ होने व विषम अवस्था में यह क्रियायें विपरीत हो जाती हैं जिसके अनुसार शीतऋतु में स्वेदस्राव व ग्रीष्म ऋतु में स्वेदावरोध की प्रतिक्रिया होने लगती है जिससे मानव के शरीर की रक्षा करना बहुत कठिन प्रतीत होता है। शीताङ्ग अवस्था व उच्च ताप की अवस्था दोनों में शरीर नष्ट हो सकता है अगर समय पर उसकी उचित व्यवस्था न की जा सकी।

अब यह देखना है कि शरीर का तापमान कितना हो कि जिससे उसे स्वस्थ व अस्वस्थ माना जाये ? जैसा कि मैंने पहले उल्लेख किया है, प्रत्येक प्राणी का सामान्य तापमान अलग-अलग होता है। परन्तु यहां विषय के अनुसार केवल मनुष्य प्राणी के तापमान का ही उल्लेख हो रहा है।

स्वस्थ मनुष्य का सामान्य तापमान ९८.४°फै. या ३६.९° या ३७° सेण्टीग्रेड होता है। परन्तु यह तापमान पूर्णस्वस्थ व्यक्तियों का माना गया है। जैसा कि आज कोई भी मनुष्य पूर्णस्वस्थ देखने में नहीं आता है कुछ न कुछ मानसिक व शारीरिकव्याधि से प्रत्येक व्यक्ति पीड़ित है। अतएव आजकल जो सामान्य तापमान मनुष्यों में देखने को मिलता है वह ९७.०° फै. अथवा ३६.१° सेन्टीग्रेड है। यह तापक्रम जिह्वा के नीचे का है। कक्ष का ताएमान इससे १° कम होता है।

उक्त तापमान से कम होने पर शीताङ्ग अवस्था कहलाती है जो केवल ९४.०° फै. (*34.5–35°C*) तक ही सीमित रहती है। परन्तु सामान्य तापमान से ऊपर शरीर का तापमान बढ़ने पर इसे ज्वर (*Fever*) अथवा बुखार कहा जाता है। यह विकार प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी व्याधि से किसी भी समय हो सकता है। अतः इसका मुख्य लक्षण स्वेदावरोध (पसीने का रुकना) होता है जिससे शरीर का तापमान बढ़ता ही जाता है इस उच्च संताप की सीमा १०८° फै. (*42.2°C.*) तक देखने को मिली है जहां तक मानव प्राणी के शरीर की रक्षा की जा सकी है वैसे यह तापमान १११° फै. तक भी बढ़ सकता है परन्तु मैंने इतने अधिक तापक्रम वाले रोगी को स्वस्थ होते नहीं देखा है। शरीर के तापमान का ज्ञान तापमापकयन्त्र (*Thermometer*) द्वारा किया जाता है।

शरीर के तापमान के अनुसार सामान्य ज्वर १००° फै. (*37.8°C.*) तक माना गया है। तीव्र ज्वर १०२° (*38.9°C.*) तक माना गया है, इस तापमान तक मनुष्य कष्ट सहन कर लेता है व होश चेतन अवस्था में रहता है। ग्रीष्मऋतु में यह अवस्था १०४° फै. (*40°C.*) तक हो सकती है। इसके ऊपर १०८° फै. (*42.2°C.*) तक शरीर का तापक्रम पहुँचने की अवस्था गम्भीर व घातक होती है। इसे उच्च संताप की अवस्था अथवा तीव्रतर ज्वर (*Hyper Pyrexia*) कहते हैं। यह अवस्था कुछ विशिष्ट व्याधि व ऋतु में हो जाती है जिससे प्रत्येक प्राणी को सतर्क रहना चाहिए एवं चिकित्सक वर्ग भी ऐसे रोगियों की चिकित्सा बहुत ही सावधानी से करें। इतने उच्च संताप में रक्त का संचालन तीव्र हो जाता है, हृदय संकोच की क्रिया तीव्र रहती है कुछ गम्भीर रोगियों में हृदयावरोध द्वारा मृत्यु होने की संभावना रहती है।

इस प्रकार का संताप लू लगने पर ग्रीष्म ऋतु में अधिक देखने को मिलता है, इसके अतिरिक्त मलेरिया ज्वर, जिसका कि आजकल अधिक प्रकोप चल रहा है, में अधिक उच्च तापमान देखने को मिलता है। इस ज्वर में शीतऋतु में तापमान १०५°–१०६° फै. तक एवं ग्रीष्मऋतु में १०८° से १११° फै. तक का रिकार्ड देखने में आया है।

रक्त में रक्ताणुओं (*R. B. C.*) का अतिह्रास होने पर ज्वर की तीव्रता होती है। रक्त में विषैले तत्त्व बढ़ने पर ज्वर अधिक बढ़ता है। आपरेशन के बाद व प्रसव के बाद स्त्रियों में पूति विषजज्वर (*Septic fevvr*) की उत्पत्ति होती है जिससे तापमान भी बढ़ जाता है। इन दूषित तत्त्वों से मस्तिष्क का तापनियामक केन्द्र (*Heat regulating center*) भी अतिशय उत्तेजित होकर प्रबल ज्वर हो जाता है।

इस प्रकार के उच्च तापमान को कम करने के लिए इञ्जैक्शन का उपयोग जहां तक सम्भव हो सके नहीं करना चाहिए। १०३°-१०४° फं. से कम तापमान होने पर ही इञ्जैक्शन का उपयोग करना चाहिए। इससे ऊपर रहने पर अन्य उपायों [जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है] द्वारा शरीर का तापमान सुधारना चाहिए। शीतऋतु में १०४° फं. तक और ग्रीष्मऋतु व वर्षाऋतु में १०८° फ. तक ज्वर बढ़ सकता है, इसे ही उच्च संताप (*High Temperature*) की संज्ञा दी है।

इस प्रकार उच्च संताप का नियन्त्रण दो प्रकार से किया जाता है—

१—बाह्य प्रयोग द्वारा
२—आभ्यन्तर प्रयोग द्वारा

बाहरी उपायों द्वारा उच्चसंताप का नियंत्रण

(१) सर्वप्रथम रोगी को स्वच्छ, प्रकाशयुक्त शीतल जल से धुले हुए कमरे में लिटाना चाहिए। कमरा सीलनयुक्त, प्रकाशहीन नहीं होना चाहिए।

(२) रोगी को निर्वात स्थान में रखना चाहिए। निर्वात का अर्थ है कि वायु के वेग का स्पर्श शरीर से नहीं होना चाहिए। कमरे की खिड़कियों व द्वार के पास रोगी को नहीं लिटाना चाहिए। क्योंकि उक्त वायु के स्पर्श से पसीना आना बन्द हो जाता है अतएव निर्वात स्थान में अगर वायु की आवश्यकता पड़े तो ताड़ पत्रादिक से बने पंखे से रोगी की हवा करनी चाहिये। इस प्रकार की हवा प्यास, पसीना, मूर्च्छा तथा श्रम को कम करती है।

(३) तीव्र ज्वरयुक्त रोगी के हाथ पैरों में कांसे या तांबे का कटोरा मलना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया रोगी को चित लिटाकर मुंह छोड़कर पूरा शरीर ढकना चाहिए केवल नाभि के पास का हिस्सा बाहर निकालना चाहिये। इस पर कांसे या तांबे का कटोरा रखकर इसमें शीतल जल की धारा धीरे-धीरे डालना चाहिए। उक्त पानी गर्म होने पर उक्त बर्तन खाली कर पुनः शीतल जल डालना चाहिये। इस क्रिया से कुछ ही मिनटों में तापमान कम हो जाता है। यह क्रिया तब तक करनी चाहिये जब तक कि तापमान १०२° फं. तक न आ जावे।

(४) शीत वेष्ठन *[Cold pack]*—उच्च संताप की अवस्था में रोगी को शीतल जल में भिगोई हुई चद्दर [चादरा] फैला उस पर रोगी को लिटा देना चाहिये फिर ऊपर से एक दूसरा चादरा भिगोकर निचोड़कर ओढ़ा देना चाहिए। ऊपर की चद्दर से बाष्प निकलने पर [उसके गर्म होने पर] उसे हटा देना चाहिए। दूसरी चादर इसी प्रकार गीला करके ओढ़ा देनी चाहिए। इस प्रकार यह चादर ३-४ मिनट पर बदलते रहना चाहिये १५-२० मिनट तक तापमान कम होकर १०२-१०३°फं. तक आ जाता है तब यह बन्द कर देना चाहिये इसके बाद रोगी को सूखे वस्त्र या तौलिया से पोंछ देना चाहिये।

(४) शीत स्नान *[Cold Bath]*—इसमें रोगी को इस प्रकार के जल से स्नान कराने का विधान है कि उच्च संताप की अपेक्षा जल का तापमान कम हो। इस प्रकार के रोगी को बन्द कमरे में निर्वात स्थान में स्नान करना चाहिये अगर १०५° फं. के ऊपर बुखार है तो रोगी को ५० डिग्री से ६० डिग्री फं. के तापमान वाले जल से स्नान कराना चाहिए। कभी-कभी केवल शिर के ऊपर ही शीतल जल डाला जाता है। उक्त तापमान वाले जल से कुछ तापमान कम ४०° से ६०° फं. वाले जल से रोगी को स्नान कराना चाहिए। यह स्नान केवल ३ मिनट तक ही होना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के स्नान कराने की विधि में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। रोगी की नाड़ी की गति पर ध्यान रखना चाहिए एवं शीतल जल स्नान के बाद शीतकम्प होने लगता है इसके होने पर स्नान बन्द करके गर्म तौलिया से शरीर पोंछकर बिछौने पर लिटाकर गर्म कम्बल ओढ़ा देना चाहिए।

(६) शीत मार्जन *[Cold sponging]* १०३ फं. से अधिक ज्वर होने या विष प्रकोप में १०६ फं. तक



तापमान पहुँचने पर यह क्रिया की जाती है। इसमें पहले उक्त जल में कपड़ा भिगोकर निचोड़कर पहले मुख को पोंछना चाहिये इसके बाद प्रत्येक अवयव दोनों हाथ, छाती, उदर और पैरों को ३-३ मिनट आगे पीछे पोंछना चाहिए और खुला लेटाकर शरीर का जलीयांश सूखने दें। इससे भी शरीर का तापमान कम हो जाता है।

(७) बर्फ की थैली *[Ice bag]* तीव्र तापमान में कभी-कभी शिरदर्द तीव्र हो जाता है ऐसी स्थिति में बर्फ की थैली [जो रबर की होती है] में रख कर शिर पर रखना चाहिये। परन्तु उच्च तापमान वाले रोगी के शरीर की त्वचा एवं शिर पर अगर बिना किसी माध्यम के बर्फ रक्खी जाती है एवं मली जाती है तो तापमान अवश्य कम हो सकता है परन्तु कुछ गम्भीर परिणाम होने का भय है। जैसा कि मैंने पहले उल्लेख किया है कि उच्च तापमान के समय रक्त संचार तीव्र रहकर त्वचा की रक्त नलिकाओं में भी अधिक रक्त रहता है इस कारण बर्फ के प्रयोग से रक्तनलिकायें अचानक संकुचित हो जावेगीं जिनसे रक्त परिभ्रमण में अवरोध व किसी कोमल अंग की रक्तनलिका फटकर रक्तस्रावजन्य उपद्रव पैदा हो सकता है जिससे रोगी की हालत और बिगड़ सकती है।

अतः बर्फ का प्रयोग "आइसबैग" के माध्यम से ही किया जावे।

एलोपैथी मतानुसार तापमान कम करने के लिए विभिन्न प्रकार के ताप वाले जल से स्नान कराने का विधान है। जैसे शीतल जल से स्नान *[Cool bath]* ३२ से ६० डिग्री तक किञ्चित शीतल जल से स्नान *[Cool bath]* ६० से ७५° शीत रहित सामान्य जल के स्नान *[Temperate bath]* ७५ से ८५ डिग्री तक फै. तक के जल में रोगी को स्नान कराना चाहिए। उक्त कम तापमान वाला जल शरीर से उच्च संताप को अपने अन्दर खींच लेता है एवं शरीर का तापमान कम हो जाता है।

(८) केले के खम्भे का रस या कलमी शोरा के जल में भिगोया हुआ कपड़ा मस्तक पर रक्खें। गर्म होने पर कपड़ा पुनः उक्त जल में भिगो लेना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया १०२° फै० तक ज्वर आने तक ही करना चाहिए।

(९) हाथ पैरों में अधिक दाह होने पर शतधौत घृत को हथेली व पैर के तलवों पर मलना चाहिये।

इसके अतिरिक्त अधिक दाह होने पर एरण्ड के शीतल पत्तों को जहां-जहां दाह हो उन अंगों पर रखना चाहिए इससे दाह कम हो जाता है। एवं ज्वर भी कम हो जाता है। यह उपद्रव अधिकतर मलेरिया ज्वर में देखने को मिलता है।

आभ्यन्तर प्रयोग—

उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त कुछ आभ्यन्तर प्रयोग भी उल्लिखित हैं इनका प्रयोग भी ज्वर को पूर्णतया शमन करने के लिए करना चाहिए।

(१) ज्वर रोगी को जलपान—जब रोगी का तापमान बढ़ने लगता है तब पिपासा की वृद्धि होती है इस प्रकार की क्रिया अधिक ऊष्मा के बढ़ने से रक्तगत जल की मात्रा कम होनें लगती है इस कारण प्यास अधिक लगती है। अतः ऐसे रोगी को कुछ उबला हुआ जल थोड़ा-थोड़ा पिलाना चाहिये। क्योंकि प्राणों की रक्षा के लिये जल पीना आवश्यकक है। बिना जल के रोगी मूर्च्छित हो जाता है। अतः ज्वर ग्रस्त रोगी को रुक-रुक कर थोड़ा-थोड़ा जल पिलाते रहें। औटाया हुआ जल दोषों को दूर करने वाला, पाचक व लघु होता है। बिना औटा हुआ जल सेवन करने से ज्वर रोगी का ज्वर बढ़ता है एवं दूषित होता है। जैसा कि शास्त्र में उल्लेख है—

"सेव्य मानेन शीतेन ज्वरस्तोयेन वर्द्धते।"

२. अगर ज्वर रोगी को वमन अधिक हो रही हो तो पीपल वृक्ष की (छाल) अग्नि में जलाकर उसके अंगारों को जल में बुझाकर थोड़ा-थोड़ा पिलाना चाहिये इससे जी मिचलाना व उल्टी बन्द होकर ज्वर कम हो जावेगा व पेट की जलन भी कम हो जायगी।

(३) ज्वर का बढ़ते समय केवल बाह्य उपचार के अतिरिक्त किसी औषधि द्वारा ज्वर को कम करने का प्रयास खतरे से खाली नहीं रहता। ज्वर स्थिर हो जाने पर औषधि का प्रयोग करने से ज्वर कम हो सकता है। इसके लिए निम्न सर्वोत्तम योग लाभप्रद है—

सितोपलादि चूर्ण १ ग्राम, गिलोय सत्व १ रत्ती, प्रवाल पिष्टी १ रत्ती तथा गोदन्ती भस्म १ रत्ती की १ पुड़िया बनाकर शहद के साथ, अनार के रस के साथ दिन में ३ बार प्रयोग करना चाहिए। इससे किसी भी प्रकार के ज्वर का तापक्रम क्रमशः कम होता जाता है एवं कोई नया उपद्रव देखने को नहीं मिलता है।

यह योग उन मलेरिया ज्वर के रोगियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है जो कुनाइन या अन्य कोई उष्ण प्रभाव वाली औषधि खाने की क्षमता नहीं रखते हैं जिनमें विशेष रूप से गर्भवती महिलायें हैं। इनको उक्त योग का प्रयोग कम से कम ४-५ दिन तक अवश्य करना चाहिये एवं भोजन में फलाहार का प्रयोग करना चाहिये।

उक्त उपचार के साथ अगर रोगी को उल्टी (वमन) अधिक हो तो मयूर चन्द्रिका भस्म १ रत्ती की मात्रा में उक्त पुड़िया के साथ देना चाहिये।

उपरोक्त उपायों को करते हुये अगर किसी ज्वर रोगी का तापमान अचानक कम हो जावे एवं सामान्य तापमान से भी कम तापक्रम हो रहा हो व पसीना अधिक आता हो तो उसका तापमान सामान्य करने के लिये गर्म जल में हाथ पैरों को रखना, या गर्म जल की बोतल का स्पर्श, डस्टिंगपाउडर की त्वचा पर मालिश, मृत संजीवनी सुरा अथवा द्राक्षासव का सेवन करने से तापमान सामान्य तक पहुँच जाता है। अस्तु मुझे आशा है कि सुधानिधि के पाठक गण इस भयंकर व्याधि से मुक्ति पाने में इन उपायों द्वारा अवश्य लाभान्वित होंगे। ★★

(पृष्ठ ९० का शेषांश)

गोखले जी स्वर्णवसन्तमालती को २-४ रत्ती च्यवनप्राश के साथ देना उचित बतलाते हैं। वे तो आरोग्यवर्धिनी को २ से ४ रत्ती की मात्रा में दूध + शर्करा से अपने चिकित्साप्रदीप में लिखते हैं।

रसतन्त्रसारकार जीर्णज्वर की चिकित्सा हेतु शिलाजीत, स्वर्णभस्म, कासीस गोदन्तीभस्म, पन्नाभस्म, वैक्रान्तभस्म, मल्लभस्म, रससिन्दूर, अभ्रकभस्म, श्रृंगभस्म, रसमाणिक्य, सुवर्णमालिनी, लघुमालिनीवसन्त, मधुमालिनीवसन्त, कामदुधारस, षडंगपानीय, संशमनीयवटी, कनकासव, जीवन्त्यादिघृत तथा पर्पटाद्यरिष्ट का यथा स्थान उल्लेख करते हैं।

जीर्णज्वर की जटिलता का ध्यान देते हुए चिकित्सक बन्धुओं को अपनी बुद्धि का प्रयोग कर उचित उपचार दृढ़तापूर्वक करना चाहिए। जीर्णज्वर प्रायः यक्ष्माजन्य होते हैं इसलिए राजयक्ष्मा नाशक नवीन प्राचीन उपायों का अवलम्बन करना भी नहीं भूलना चाहिए। ●●

तीव्र ज्वर में

कविराज पं० रामनारायण जी हर्षुल मिश्र का अनुभूत प्रयोग

●

१—पित्त ज्वर के रोगों के ताप की मात्रा १०६° या उससे ऊपर हो जाती है तब सन्निपातिक अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। उस समय केले के जल का प्रयोग करना चाहिये। केले के गात्र (तना) का रस निकाल कर उससे कपड़ा तर करके रोगी के मस्तक पर रखें।

परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये जब रोगी के शरीर का तापमान १०१° फै० हो जाय तब तुरन्त इस क्रिया को बन्द कर देना चाहिये। ऐसे समय में मृत्युञ्जय का मधु के साथ प्रयोग करना उत्तम कार्य है। इससे ज्वर ज्यादा उतरने नहीं पाता और न विशेष चढ़ता ही है।

२—तिल के तैल में या चन्दनादि तैल में या हिमसागर तैल में जल मिलाकर शिर में तथा हाथ-पैर के तलुओं में रगड़ने से ज्वर का वेग शान्त होता है।

विभिन्न ज्वर नाशक अनुभूत विशिष्ट प्रयोग

श्री जगदम्बाप्रसाद श्रीवास्तव, अरौल (कानपुर)

१. सन्ततज्वर-विषमज्वर—

मृत्युञ्जय रस १ रत्ती, भुनी फिटकरी २ रत्ती, नृसार सत्व १ रत्ती, बायविडंग चूर्ण २ रत्ती।

—मात्रा १

ऐसी ३-४ मात्राएं १ दिन में उष्ण जल से सेवन करावें कवच में भरकर भी दे सकते हैं। मृत्युञ्जय के स्थान पर त्रिभुवनकीर्ति रस ले सकते हैं। मात्रा दूनी कर सकते हैं। सन्निपातिकज्वर या मन्थरज्वर के अतिरिक्त ज्वर इसके प्रयोग से कम हो जाते हैं। मन्थरज्वर में फिटकरी और नृसार के स्थान पर नारदीय लक्ष्मीविलासरस १ रत्ती रखें। इसके प्रयोग से प्रस्वेद आता है। आम का पाचन होता है। सन्तत ज्वर या मंथरज्वर में अन्न और दूध अपथ्य है।

२. मन्थरज्वर—

जयमंगलरस आधी रत्ती, संजीवनीवटी १ रत्ती, विडंगचूर्ण २रत्ती।

—मात्रा १

कवच में भरकर दिन में ३-४ बार देना चाहिए यह वात पित्तज विकृति, जीवाणु प्रकोपक और रक्तस्रावहर है। अशक्ति और परमज्वर को दूर करता है। जयमंगल के स्थान पर स्वर्णसूतशेखर या नारदीय लक्ष्मीविलास या मधुरान्तकवटी र. तं. सा. भी ले सकते हैं। इसके प्रयोग से मन्थरज्वर का विष शमन होकर कष्टसाध्य अवस्था भी दूर हो जाती है।

> प्रस्तुत लेख श्रीवास्तव जी का इस खण्ड में दूसरा लेख है जिसमें विभिन्न ज्वर-नाशक अनेक अनुभूत विशिष्ट प्रयोगों का संग्रह है आशा है पाठक इन प्रयोगों से निश्चित रूप से लाभान्वित होंगे। —गोपालशरण गर्ग।

३. मंथरज्वर—

लक्ष्मीनारायणरस १ रत्ती, प्रवालशाखापिष्टी १ रत्ती, बायविडंगचूर्ण २ रत्ती।

—मात्रा १

ऐसी ३-४ मात्राएं दिनभर में देनी चाहिए। अनुपान अनार स्वरस या कवच में भरकर पानी से दें, इसके प्रयोग से बिना किसी उपद्रव के २१ दिनों या २८ दिनों में मधुरा का ज्वर दूर हो जाता है। पथ्य—मौसम्मी, सेव, अनार का रस। तृतीय सप्ताह में लक्ष्मीनारायणरस आधी रत्ती रखें।

४. अन्तरलीन मुक्ता-ज्वर—

मधुरान्तकवटी १ रत्ती र. तं. सा. लौंग चूर्ण १ रत्ती, बायविडंगचूर्ण २ रत्ती।

—मात्रा १

कवच में भरकर दें। दिनभर में ३-४ कवच। इसके प्रयोग से मंथरज्वर का बिगड़ा हुआ रोगीभी ठीक हो जाता है अन्तर्लीन मुक्ता झलक आते हैं। प्रलाप, अनिद्रा, अशक्ति १०४° ज्वर सब दूर हो जाता है। यदि अतीसार हो तो आनन्दभैरववटी १ रत्ती बायविडंग के स्थान पर देना चाहिए।

फुफ्फुसप्रदाहादिक ज्वर—

मल्लसिन्दूर $\frac{1}{2}$ रत्ती, नृसारसत्व १ रत्ती, शृंगभस्म २ रत्ती, चन्द्रामृत रस २ रत्ती, शुद्ध कुचिला $\frac{1}{2}$ रत्ती।

—मात्रा १

कवच में भरकर रखें। मात्रा ३-४ तक १ दिन में दें, यदि मुख से फेफड़ों से रक्तस्राव होता हो मल्लसिन्दूर न दें उसके स्थान पर आधी रत्ती मुक्तापिष्टी मिलावें और कुचिला और नृसारसत्व भी हटा दें।

५. वातोल्वण सन्निपात—

बृ. वातचिन्तामणि १ रत्ती, संजीवनीवटी २ रत्ती, पिप्पलीमूलचूर्ण २ रत्ती। —मात्रा १

अनुपान ब्राह्मीपत्र स्वरस ३ माशे से ३-४ बार दें यह वातपित्तोल्वण हीन कफ पर सफल प्रयोग है।

हृदय-पतन, या नाड़ी पतन नहीं होता ९६° या १०५° का ज्वर १००° हो जाता है। प्रस्वेद रुक जाता है। प्रलाप अनिद्रा दूर हो जाती है। या पित्त को बढ़ाना हो तो बृ. वातचिन्तामणि कस्तूरीयुक्त सि. यो. सं. का ग्रहण करें।

६. कफोल्वण सन्निपात—

बृ. कस्तूरीभैरव आधी रत्ती, सोभाग्यवटी आधी रत्ती कफकेतु रस ¼ रत्ती, सुहागाभस्म १ रत्ती, प्रवालशाखापिष्टी १ रत्ती। —मात्रा १

ऐसी ३-४ मात्राएं दशमूलक्काथ या दशमूलार्क, या ब्राह्मीस्वरस ३ माशे से सेवन करावें। प्राप्त होने पर अर्कादि क्काथ देना चाहिए। लक्षण दूर होने पर कम दें या बन्द कर दें। यह वातकफोल्वणता को पूर्णरूप से शमन कर देता है और पित्त प्रकोप नहीं करता। कारण कि बृ. कस्तूरीभैरव में स्वर्णरजत मुक्ता भी है। साधारण रोग में बृ. कस्तूरीभैरव के बिना भी प्रयोग कर सकते हैं। बृ. कस्तूरीभैरव और मध्यम कस्तूरीभैरव में बच्छनाग नहीं है।

७. पित्तोल्वण सन्निपात—

स्वर्णसूतशेखर रस १ रत्ती, मुक्तापिष्टी ¼ रत्ती, प्रवालशाखापिष्टी १ रत्ती, सौभाग्यवटी १ रत्ती। —मात्रा १

चन्दन के दासे से—४ रत्ती चन्दन सिल पर पानी डालकर घिस लें या १-२ मुनक्का का क्वाथ कर शीतल कर लें। इसके प्रयोग से सन्निपातिक ज्वर शमन हो जाता है। मंथरज्वर में भी दे सकते हैं।

८. अतिप्रस्वेद—

बृ. वातचिन्तामणि १ रत्ती, प्रवालपञ्चामृत २ रत्ती। —मात्रा १

पान का रस, मधु, अनार या सेव का रस या दूध से सेवन करावें। इसके प्रयोग से प्रलाप, प्रस्वेद, अनिद्रा १०५° या ९७° ज्वर १००° पर आ जाता है। रोगी को जीवन प्राप्त हो जाता है।

शीतांगता—

बृ. कस्तूरीभैरव रस २ रत्ती, सोमनाथी ताम्रभस्म १ रत्ती, सिद्धमकरध्वज आधी रत्ती, मल्लचन्द्रोदय ⅛ रत्ती। —मात्रा १

पान का रस, अदरख का रस उष्ण करके उसमें दवा खरल कर दें। ऐसी ३-४ मात्राएं देना चाहिए। अभ्रकभस्म शतपुटी भी १ रत्ती मिला सकते हैं। इसके प्रयोग से मांसगामिनी नाड़ी का स्पर्श प्रतीत होने लगता है ज्वर ९७° का ९९° हो जाता है रोग शमन होने पर उक्त प्रयोग की ३-४ मात्राएं बनाई जा सकती हैं या अन्य प्रयोग दें। मल्लचन्द्रोदय के बिना भी प्रयोग करें।

९. नाड़ीपतन, ज्वर ९७°, हृदयशूल—

हेमगर्भपोटली रस आधीरत्ती, याकूतीरस आधीरत्ती, श्रृंगभस्म १ रत्ती, संजीवनीवटी १ रत्ती। —मात्रा १

खरल कर १ कवच में भर लें। रात दिन में ३-४-५ मात्राएं दें वैसे २ मात्राएं ही काफी हैं। १ कवच तोड़कर पान के स्वरस में खरल कर पिला दें। यदि याकूती रस सि. यो. सं. ना मिले तो जहरमोहरा (सि. यो. सं.) लें। यदि हेमगर्भ (समीरपन्नग युक्त न मिले तो सादा लें (सि. यो. सं.) यदि हेमगर्भ या याकूती न मिले तो शेष तीन योगों के मिश्रण का प्रयोग करें।

गुण—इसके प्रयोग से सन्निपातिक लक्षण शान्त होते हैं।

हृद्द्रव, हृद्शूल, हृद्गति वृद्धि, नाड़ी क्षीणता, मांसगामिनी नाड़ी, शीतांगता, अतिस्वेद, अनिद्रा, प्रलाप, कम्पन, श्वास ज्वर ९७°, मोह आदि लक्षण ३-४ मात्राओं में शमन हो जाते हैं श्वसनकज्वरयुक्त आन्त्रिक ज्वर की कष्ट साध्यावस्था में भी सफल होता है। यदि अन्त्र या फुफ्फुस से रक्त जाता हो तो समीरपन्नग वाला हेमगर्भ

का प्रयोग न करें। उग्र लक्षण शमन हो जाने पर अन्य योगों का आश्रय लेना चाहिए। याकूती के विना या संजीवनी के बिना या केवल 'हेमगर्भ' (रसामृत का) प्रयोग करें रोगी का जीवन बच जायगा। आन्त्रिक सन्निपात में समीरपन्नग युक्त हेमगर्भ न दें और फुफ्फुस सन्निपात में समीरपन्नग युक्त हेमगर्भ दें, पर शीतांगता में कस्तूरी युक्त और वत्सनाभ रहित योग दें। उक्त प्राकृत प्रयोग पित्तावृत वात में या कफ आवृत वात प्रकोप में भी दे सकते हैं किन्तु पित्त विकार या वात पित्त विकार में समीरपन्नग युक्त न दें।

१०. नाड़ीपतन-ज्वर ९७°—

बृ. कस्तूरीभैरव रस आधी रत्ती, सिद्धमकरध्वज ¼ रत्ती, शुद्धकुचिला ¼ रत्ती, कस्तूरी $\frac{1}{16}$ रत्ती।

—मात्रा १

सबको खरल कर १ मात्रा बनावें। ३० बूंद पान का रस गर्मकर उसमें ३० बूंद मधु मिलावें उसी प्याली में उक्त मात्रा डाल कर रोगी की जीभ पर अंगुली से रखें। ऐसी २-३ मात्राएं दें। इतनी मात्राओं से रोगी की नाड़ी में शक्ति आ जायगी। इससे पित्त वृद्धि और वात कफ शमन होकर एक मात्रा में ही अंगुलियों के नीचे प्रतीत होने लगेगी। १-२ मात्राएं ही काफी हैं।

११. फुफ्फुस प्रदाहिक ज्वर—

त्रिभुवनकीर्ति रस १ रत्ती, नृसारसत्व २ रत्ती, श्रृंगभस्म २ रत्ती, शुद्ध कुचिला ¼ रत्ती, —मात्रा १

सबको खरल कर पुड़िया में रखें। १ दिन में ऐसी ३-४ पुड़िया दें। अनुपान—३० बूंद पान का स्वरस गर्म कर उसमें ३० बूंद मधु मिलाकर उसी प्याली में उक्त पुड़िया की दवा डालकर रोगी को चटावें। अथवा उक्त पुड़िया की दवा कवच में भरकर १-१ कवच प्रातः मध्याह्न, सायंकाल उष्ण जल से निगलवा दें।

गुण—इसके सेवन से प्रस्वेद आता है पार्श्वशूल और ज्वर शमन होता है। कास-श्वास दूर होता है। जीवाणु प्रकोप निवारण होता है। वात श्लैष्मिक ज्वर में भी पूर्ण लाभकारी है।

सावधानी—श्वसन ज्वर में ७ वें या ९ वें दिन में ज्वर का दारुण पतन होता है। अर्थात् ज्वर एक दम से ९७° पर आ सकता है अ.: इसका प्रयोग आरम्भिक ५ दिनों तक किया जा सकता है। रक्तस्राव होने पर या मंथर ज्वर में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

विशेष वचन—त्रिभुवनकीर्ति रस के स्थान पर सौभाग्यवटी १ रत्ती देने से शूल शमन होता है। मूत्र अधिक उतरता है जिससे शरीर का शोथ शमन हो जाता है। यह वातशामक अधिक है।

१२. क्षय-श्वास-उन्माद—

बालचन्द्र रस १ रत्ती, सर्पगन्धा चूर्ण २ रत्ती, सोमकल्प चूर्ण २ रत्ती, शिलाजीत चूर्ण २ रत्ती, रसपर्पटी १ रत्ती।

—मात्राएं २

खरलकर २ कवचों में भर लें। प्रातः-सायं उष्णदूध से सेवन कराना चाहिऐ।

गुण—रक्तयुक्त कास, श्वास, क्षयरोग, उन्माद, रक्तपित्त, दाह अनिद्रा, अशक्ति, हृदय-शोथ-शूल, जलोदर, उच्चरक्त निपीड़ आदि कष्टसाध्य रोग दूर होते हैं। विवेचनानुसार शरीर शोधन के पश्चात् रोगानुसार अनुपान से सेवन कराना चाहिए। अन्य सहायक योग अनुक्रम से दिये जा सकते हैं। बालचन्द रस (र. तं सा.) में स्वर्णमुक्ता आदि द्रव्य हैं। यदि श्वास प्रकोप न हो तो सोमकल्प के बिना प्रयोग करें।

१३, कफ प्रकोप—

शुद्ध नीलाथोथा $\frac{1}{16}$ रत्ती, शुद्ध सुहागा १ रत्ती, नृसार सत्व १ रत्ती, मधुयष्टि सत्व २ रत्ती।

—मात्रा १

कवच में भरकर ५ तोला उष्णजल से सेवन करावें। केवल १ मात्रा दें।

गुण—इसके प्रयोग से कुछ ही समय में श्वास नलिकाओं में भरा हुआ कफ विगलित होकर कास या वमन के द्वारा बाहर हो जायगा। श्वास, कफोल्बण सन्निपात, श्वसनकज्वर में दिया जा सकता है। यदि कफ वृद्धि न हो तो इसका प्रयोग न करें।

१४. श्वसनक-श्लेष्मिकज्वर—

त्रिभुवनकीर्ति रस १ रत्ती, मृत्युञ्जय रस (र. त.) १ रत्ती, नृसार सत्व २ रत्ती, श्रृङ्गभस्म २ रत्ती, अभ्रक भस्म ½ रत्ती, व्योषादि वटी ४ रत्ती।

खरल कर २ कवचों में भरें। उष्णजल से दिनभर में ३-४ कवच दें। प्रस्वेद लाता है, ज्वर, शूल, कास, श्वास शमन करता है।

उग्राक्षेप—बृ० वातचिन्तामणि रस १ रत्ती, महायोगराज गुग्गुल ४ रत्ती।

—मात्रा १

संभालूपत्र स्वरस उष्ण ६ माशे के अनुपान से २-३ मात्राएं दें। दशमूल क्वाथ या दशमूलार्क से भी दे सकते हैं। अपतानक आदि सम्पूर्ण वातव्याधि में लाभकारी है।

मन्याज्वर मस्तिष्कावरण प्रदाह—कृष्ण चतुर्मुख रस २ रत्ती, सिद्ध मकरध्वज ½ रत्ती, सौभाग्य वटी २ रत्ती।

—मात्रा १

ब्राह्मी और संभालू के पत्र-स्वरस ६ माशे के अनुपान से दें। दिन में ६-४ बार भी दे सकते हैं। इसकी २ मात्राएं भी होती हैं, यह आक्षेपकज्वर को शमन करता है।

१५. मन्थरज्वर अतीसार सहित—

आनन्दभैरव वटी १ रत्ती, संजीवनी वटी १ रत्ती, बायविडङ्ग चूर्ण २ रत्ती।

—मात्रा १

खरल कर कवच में भर कर प्रयोग करें। दिन में २-३-४ बार खाली बायविडङ्ग से दें अथवा केवल आनन्द भैरव या कर्पूर रस सहित संजीवनी वटी दें।

१६. मन्थरज्वर—

संजीवनी वटी १ रत्ती, सौभाग्य वटी ½ रत्ती, मुक्ताशुक्ति भस्म २ रत्ती।

—मात्रा १

कवच में भरकर २-३ बार प्रयोग करें। आरम्भ के दिनों में आमपाचन के लिए इसकी योजना सफल रहती है। षडङ्गपानीय की तरह लवङ्ग+तुलसी+बायविडङ्ग, पानीय से देना उचित है।

१७. परमज्वर—

त्रिभुवनकीर्ति रस ½ रत्ती, मृत्युञ्जय रस ½ रत्ती, नारदीय लक्ष्मीविलास रस ½ रत्ती, प्रवालशाखा पिष्टी १ रत्ती। —मात्रा १

कवच में भर कर ऐसी २-३ मात्राएं १ दिन में देवें, अनुपान में षडङ्गपानीय या १ माशा लौंग १ माशा बायविडङ्ग १ सेर जल में पका आधा शेष रहने पर छान लें। उसे ४-५ बार में पिलावें। यदि मन्थरज्वर में दें तो प्रथम दोनों द्रव्यों की मात्रा अधिक न करें नहीं तो ज्वर शीघ्र गिर जायगा।

१८. श्वसनकज्वर—

त्रिभुवनकीर्ति रस ½ रत्ती, नृसार सत्व १ रत्ती, शृङ्गभस्म २ रत्ती, समीरपन्नग रस ⅛ रत्ती।

—मात्रा १

खरल कर कवच में भर लें। उष्णजल से दिन में ३-४ कवच दें। इसके प्रयोग से स्वेद आता है। कफ, शूल और ज्वर शमन होता है। जीवाणु प्रकोप का विनाश होता है। श्वसनकज्वर और वातश्लैष्मिक ज्वर पर प्रथम श्रेणी का प्रयोग है। साधारण रोग में समीरपन्नग के बिना प्रयोग करें। समीरपन्नग अतिउग्र योग है। मात्रा ⅛ रत्ती से कम ही रखें। उष्णऋतु, वातपित्तज या पित्त प्रकोप और रक्तपित्त कामला-पाण्डु में इसका प्रयोग कभी भी न करें।

१९. उग्रज्वर संताप—

रसादि वटी १ रत्ती [सि. यो. सं.], गोदन्ती भस्म ३ रत्ती, जरहमोहरा पिष्टी २ रत्ती, छोटी इलायची के बीज २ रत्ती।

—मात्रा १

सबको खरल कर १ कवच में भर लें। १-२ मुनक्का के क्वाथ से खिला दें। इसके १-२ मात्रा के प्रयोग से वातपित्त शमन होकर ज्वर, उष्णताप, वमन, अशक्ति, रक्तस्राव, अतीसार दूर होता है। रोगी की मूर्च्छा, मोह निवारण होता है। कफप्रकोप में न देवें। उष्ण और शरद ऋतु में सेवनीय।

२०. वातश्लैष्मिक ज्वरान्तक—

त्रिभुवनकीर्ति रस ½ रत्ती [र. तं. सा.], मृत्युञ्जय रस ½ रत्ती [र. त.], नारदीय लक्ष्मीविलास रस ½ रत्ती, मृगशृङ्ग भस्म १ रत्ती, चन्द्रामृत रस २ रत्ती, श्वासकुठार १ रत्ती, गोदन्ती भस्म २ रत्ती।

—मात्राएं २

सबको खरल कर कवचों में भर रखें। साधारण अवस्था में २ कवच, १-१ प्रातः सायं उष्णजल से सेवन करावें। उग्र अवस्था में ३-४ कवच दशमूल क्वाथ, दशमूलार्क या तुलसीपत्र स्वरस या संभालूपत्र स्वरस ६ माशे उष्ण कर उसके अनुपान में दें। अभाव में श्वासकुठार के बिना या मृत्युञ्जय के बिना या दोनों के बिना प्रयोग करें।

गुण—प्रतिश्याय, कास-श्वास युक्त ज्वर, अङ्गमर्द, शूल, अशक्ति, वातप्रकोप, कफप्रकोप, जीवाणु प्रकोप दूर होता है। २-३ कवचों के सेवन करने के बाद रोग की भयानकता शमन हो जाती है। उसके प्रयोग से तन्द्रा अनिद्रा, अप्रस्वेद आदि लक्षण दूर हो जाते हैं।

२१. आमवातान्तक—

आमवातारिवटी १ रत्ती, वातगजांकुश १ रत्ती, शृङ्गभस्म २ रत्ती।

—मात्रा १

सब खरलकर १ कवच में भर रखें। दिन भर में ऐसी ३-४ मात्राएं दें। अनुपान में दशमूल क्वाथ या रास्नादि क्वाथ या सम्भालू स्वरस १ तोला उष्णकर दें। रोगानुसार एक समय में २ कवच भी दे सकते हैं।

गुण—इसके प्रयोग से ज्वरवेदना शमन रहती है। यदि रेचन देना हो तो ३ रत्ती अश्वकञ्चुकी रस उक्त अनुपान से प्रयोग करें, दिनभर में २-३ मात्रा। १०-१२ वर्ष के लड़के के लिए १ रत्ती की मात्रा दें।

२२. प्रलापान्तक—

बृ० ब्राह्मी वटी २ रत्ती, चन्द्रकला रस १ रत्ती, सर्पगन्धा १ रत्ती।

—मात्रा १

सबको खरल कर १ कवच में भर रखें। २-४ कवच १ दिन में सेवन करावें। अनुपान तगरादि कषाय २ तोला या मुनक्का क्वाथ १ तोला। कवच रहित दवा को मुनक्का क्वाथ में या शंखावली स्वरस १ तोला में घोलकर पिलावें। एक दिन में लाभ हो जाता है। अप्राप्ति होने पर उक्त तीनों द्रव्यों में से कोई दो का प्रयोग करें।

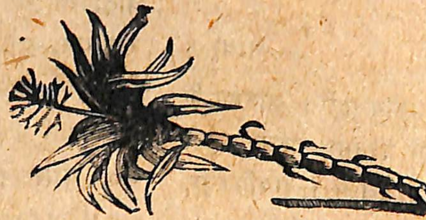
२३. क्लोरोफेनिकाल जनित विकृति—

संजीवनी वटी १ रत्ती, प्रवालशाखा पिष्टी १ रत्ती, स्वर्णमाक्षिक भस्म १ रत्ती, गोदन्ती भस्म २ रत्ती।

—मात्रा १

सबको खरल कर पुड़िया में रखें या कवच में भरें। एक दिन में ३-४ बार श्रृतशीत मधुर गोदुग्ध या अजादुग्ध १-२ पाव में सेवन करावें। अनार का रस, मौसम्मी का रस या सेव का रस के अनुपान से भी दिया जाता है। इसी अनुपान को यहां लिखे अन्य रोगों में भी दे सकते हैं।

गुण—इसके प्रयोग से जीर्ण ज्वर, अग्निमन्दता, रक्त न्यूनता, अशक्ति, अतीसार, अरुचि, अनुत्साह आदि दुर्गुण दूर होते हैं।



सुधानिधि

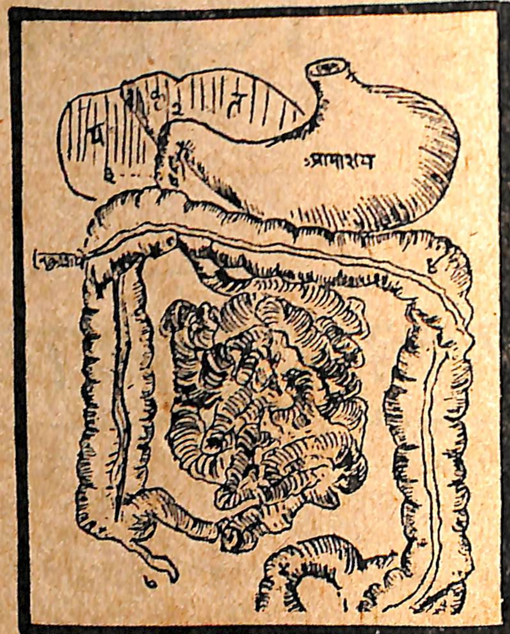


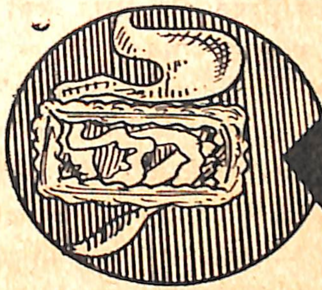
ग्रंथिल रोग चिकित्सांक

पचन संस्थान

इस खण्ड में

★





पाचन संस्थान के रोग

एक अध्ययन

आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी सम्पादक 'सुधानिधि'

पचन संस्थान के रोगों के सम्बन्ध में चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान पाठकों को समझाने हेतु इस संस्थान का यह प्रथम लेख विशेष रूप से आचार्य प्रवर ने लिखा है। पाचन की क्रिया सम्यक् रूप से किस प्रकार सम्पन्न होती है? पाचन में वात, पित्त, कफ का क्या कार्य है? मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि आदि से शरीर में कौन रोग उत्पन्न होते हैं? तथा उनका शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है इस सैद्धान्तिक विमर्श को इस छोटे से लेख में प्रस्तुत किया गया है जो पाठकों के लिये अत्यन्त उपादेय तथा संग्रहणीय है।

—गोपालशरण गर्ग।

मुख से गुद तक शरीर के मध्य में जो गुहा रहती है वह महास्रोत या ऐलीमेण्टरी केनाल कहलाती है। इसे आमपक्वाशय भी कहा जाता है जिसे अंग्रेजी में गैस्ट्रो-इंटैस्टीनलट्रैक्ट नाम दिया जाता है। यही पचनसंस्थान भी कहलाता है। क्योंकि भोजन के रूप में खाद्य, पेय, चोष्य, लेह्य आदि जो भी पदार्थ मुख द्वारा सेवन किये जाते हैं, उन सभी का पाचन (*digestion*) और शोषण (*abserption*) इसी क्षेत्र में होता है।

आयुर्वेदीय फिजियोलौजी की दृष्टि से इस महास्रोत में वात, पित्त और कफ इन तीनों की ही क्रिया होती है और तीनों ही यहां अवस्था पाक के रूप में तैयार होते हैं। शास्त्रों में जो वायु के ५ भेद बतलाये गये हैं उनमें प्राण-वायु, समानवायु और अपानवायु प्रत्यक्ष रूप में इस संस्थान से सम्बद्ध रहते हैं। उदानवायु और व्यानवायु का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप से आता है। पित्त के जो ५ भेद बतलाये गये हैं उनमें पाचक और रंजक पित्त का सीधा सम्बन्ध आता है। साधक पित्त का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध आता है। आलोचक और भ्राजक का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कफ के जो पांच भेद आयुर्वेदज्ञों ने माने हैं उनमें बोधक और क्लेदक कफ का प्रत्यक्ष सम्बन्ध पचनसंस्थ न

के साथ रहता है। तर्पक, श्लेषक और अवलम्बक का सम्बन्ध नहीं रहता है।

अन्नपाचन में सबसे महत्त्वपूर्ण भाग रहता है जाठराग्नि का। यह पाचक संस्थान में सर्वत्र व्याप्त अग्नि अंश है जिसके छोटे-छोटे कण स्फुलिंग की तरह अन्न के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं को पचाकर अन्नरस उत्पन्न करने में विशेष क्रिया करते हैं। यह जाठराग्नि ही अन्न की पांच भौतिक अग्नियों के साथ मिल उनके भौम, आप्य, वायव्य, आग्नेय और नाभस भागों को पचा देती है। परिपक्व अन्न रस रसधातु को आप्यायित करता है। उसके साथ जाठराग्नि के अंश निकल कर प्रत्येकधातु में स्थित धात्वग्नियों को प्रदीप्त करते हैं। धात्वग्नियां पोषक रस को आत्मसात करने योग्य बनाकर पोष्यरूप में स्वीकार कर लेती है तथा अग्रिमधातु का अंश भी तैयार कराती है। इस प्रकार जाठराग्नि समस्त शरीर की पाचनक्रियाओं को उत्तेजित करती और अग्नि कर्म की कर्त्ता मानी जाती है। जिसे हम कैमीकल ऐक्टिविटीज या ऐंज़ाइमैटिक ऐक्टिविटीज कहते हैं वे सब जाठराग्नि की ही विविध क्रियाएं हैं।

जाठराग्नि को सन्धुक्षित करने का कार्य समानवायु करता है। यदि यह वात दुर्बल है तो जाठराग्नि भी दुर्बल हो जाती है और यदि प्रबल है तो वह भी प्रबल हो जाती है। जाठराग्नि की क्रिया के नियमन में जल या कफ धातु का भी बहुत बड़ा महत्त्व है। यह शीत वीर्य होने से उदककर्म में प्रवृत्त होता है और अग्नि को बहुत अधिक तीव्ररूप धारण करने से रोकता है। यदि यह कम हुआ तो जाठराग्नि तीव्र हो जाती है। यदि यह प्रबल हुआ तो जाठराग्नि मन्द पड़ जाती है।

इस तरह प्रकृति ने जाठराग्नि के नियमन के लिए दुहरी नियामक व्यवस्था प्रस्तुत की है। वायु की प्रबलता उसे तीव्र करती है, कफ की प्रबलता उसे मन्द करती है। मन्द वायु अग्नि को अधिक उत्तेजना नहीं दे पाता तथा कफ की कमी उसे उत्तेजित कर देती है।

चरकसंहिता के सूत्रस्थान के छठे अध्याय में—आहारपरिणामकरास्तु इमे भावा भवन्ति; तद्यथाऊष्मा, वायुः क्लेदः, स्नेहः, कालः समयोगश्च इति। ऊष्मा जाठराग्नि है। वायु समान वायु है। क्लेद पाचक रसों का जलीयांश है, स्नेहांश भोजन और पाचक रसों एवं बाइल से प्राप्त होता है। काल वह समय है जो एक अवस्था से दूसरी अवस्था और उससे आगे की अवस्थाओं में मधुर अम्ल और कटुभाव की प्राप्ति कराता हुआ आहार का पाचन कराता है। समयोग आहार की यथोचित मात्रा की ओर इंगित करता है। कौन-कौन सा और कितना पदार्थ एक व्यक्ति के भोजन में होना चाहिए, इसका नियमन भी आवश्यक है।

इन आहारपरिपाककर षड्भावों के ठीक-ठीक होने से अन्न से प्रसादांश रस बनता है तथा किट्ट रूप मल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अन्न का स्थूल पाक पूरा होता है। उसके बाद अणु पाक का विचार किया जाता है—

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूतं उदीर्यते॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्ल भावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य बह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः॥

यह षड्रसात्मक अन्न की अवस्थापाक की अवस्था है—अन्न के प्रसादांश से समस्त धातुओं—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र की उत्पत्ति होती है। इसी समय प्रत्येक धातु में ओजस् अंश भी उत्पन्न होता है। इन दोनों के अतिरिक्त इस धातु से स्तन्य [मातृदुग्ध] तथा रज इन दो धातुओं की उत्पत्ति होती है। रक्त से दो उपधातु कण्डरा और सिराएं बनती हैं। मांस से वसा और छहों प्रकार की त्वचाएं बनती हैं। मेदो धातु से स्नायुओं की उत्पत्ति होती है।

इसी अन्नपरिपाक क्रम में किट्टांश तैयार होता है जो इस प्रकार है—

अन्न से—मलरूप पुरीष और मूत्र बनते हैं।

रसधातु से—मलरूप कफ।

रक्तधातु से—मलरूप पित्त।

मांसधातु से—कर्ण, नेत्र, नासा, मुख और प्रजननांगों से मल बनते हैं।

मेदोधातु से—स्वेद बनता है।

अस्थिधातु से—केश और लोम तथा नख तैयार होते हैं।

मज्जाधातु से—आंखों की कीचड़ और चमड़ी का स्निग्धांश मलरूप में तैयार होता है।

इस प्रकार यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि हमारे शरीर की सब धातुएं, सब उपधातुएं और सभी मलों से निर्माण और पोषण में आहार तथा उसके परिणामकरभावों का पग पग पर महत्त्व जिसे बिना हृदयंगम किए आयुर्वेदीय चिकित्सा से साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए नख को लीजिए। नख आयुर्वेददृष्ट्या या तो स्वयं अस्थिधातु के अन्तर्गत आता है जैसा कि संख्याशारीर में अस्थिगणना प्रसंग में २० नखों की संख्या भी समाविष्ट करली गई है या वह अस्थि का मल होता है। इसलिए अस्थिधातु के पोषण में कोई कमीवेशी होने पर उसका प्रभाव नख पर अवश्य पड़ेगा। अस्थि के निर्माण में अस्थ्यग्नि रूप धात्वग्नि का बहुत महत्त्व है। यदि यह अग्नि कम है तो अस्थि का निर्माण (प्रसादांश का निर्माण) कम और मलांश (नख) का निर्माण अधिक होगा। बालकों में अस्थि की लगातार वृद्धि होते रहने का कारण अन्नरस के अस्थिपोषक भाग पर अस्थ्यग्नि की निरन्तर स्वस्थ क्रिया का होना ही है जिससे भी नखों की वृद्धि शीघ्र-शीघ्र होती है। अस्थ्यग्नि जाठराग्नि के सीधे प्रभाव में रहने से नखोत्पत्ति और अस्थ्युत्पत्ति का अनुपात जाठराग्नि की वृद्धि या क्षीणता या समता पर निर्भर करता है।

जो बात नख और अस्थि पर लागू होती है वही शरीर की सभी धातुओं, उपधातुओं और मलों पर भी एकसी लागू होती है। इसी कारण किसी भी रोग के आरम्भ में वैद्य जाठराग्नि के सम्बन्ध में अवश्य प्रश्न करता है। जाठराग्नि का विकार ही शरीर के समस्त रोगों का जनक होता है और उसकी स्वस्थता शरीर को आरोग्य प्रदान करती है।

चरक संहिता के ३० वें अध्याय में सूत्र स्थान में जो आयुर्वेद के ८ अङ्ग गिनाए गये हैं उनमें प्रथम अङ्ग का जो नाम काय चिकित्सा में दिया गया है वहां काय शब्द अन्तरग्नि बोधक है—कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा ऐसा अर्थ चक्रपाणिदत्त ने किया है। चरकोपस्कारकर्त्ता आचार्य शिवदाससेन ने—कायति शब्दं करोतीति कायो जाठराग्निः, अंगुलीपिहिते कर्णयुगले 'धूक्' इति शब्द श्रवणात् तात्स्थ्याद्वा कायशब्देन अग्निः उच्यते। ऐसा लिखकर उसकी पुष्टि भोज के इस वाक्य से की है:—

जाठरः प्राणिनां अग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः॥

इसे उन्होंने यह लिखकर और भी पुष्ट कर दिया है—युक्तं च एतत्; यतो ज्वरोतीसारादयः कायचिकित्सा विषया रोगा अग्निदोषाद् एव भवन्ति।

इसलिए पचनसंस्थान के रोगों का बहुत महत्त्व है उनका प्रभाव सार्वदैहिक स्वरूप का हो सकता है। पचनसंस्थान का मूलाधार जाठराग्नि है, इसलिए जाठराग्नि की प्रधानता और उसकी रोगकारक शक्ति के विषय में चिकित्सक को बहुत सावधान रहना चाहिए—

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणां अधिपो मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धि क्षयवृद्धिक्षयात्मकाः॥
तस्मात्तं विधिवद्युक्तैः अन्नपानेन्धनैः हितैः।
पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः॥

अर्थात् अग्नि को पकाने वाला अग्नि—जाठराग्नि ही सब अग्नियों में श्रेष्ठतम और नियामक रूप वाला है। उसी जाठराग्नि को इन सभी धात्वग्नियों, भूताग्नियों आदि का मूल कारण मानना चाहिए क्योंकि उसी की वृद्धि या क्षय पर अन्य अग्नियों की वृद्धि या क्षय होती है।

इसलिए इस उदर्या अग्नि या जाठराग्नि का हितावह अन्नपान रूपी ईंधन से प्रयत्न तथा विधिपूर्वक पालन करना चाहिए क्योंकि इसी पर मनुष्य की आयु और बल निर्भर करते हैं।

अग्नि के अपनी मर्यादा और मात्रा में सम रहने पर या तो कोई रोग उत्पन्न ही नहीं होता या फिर उसकी स्थिति शरीर में अधिक काल तक नहीं रह पाती। भिषक् का भी यह प्रथम कर्म है कि वह रोगी की अग्नि पर काबू करे।

अग्निः दुष्यति

चरक ने अग्नि के दुष्ट होने के सम्बन्ध में एक साधिकार घोषणा की है—

अभोजनात्
अजीर्णातिभोजनात्
विमाशनात्
असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसन्दुष्टभोजनात्
विरेकवमनस्नेहविभ्रमात्
व्याधिकर्षणात्
देशकालर्तु वैषम्याद्
वेगानां च विधारणात्
दुष्यति अग्निः ।

इन उपर्युक्त विविध कारणों से अग्निदुष्ट हो जाती है और यह दुष्ट हुई अग्नि हलके से हलके अन्न को भी पचाने में असमर्थ हो जाती है जिससे खाया हुआ न पचा हुआ अन्न शुक्तता या अम्लता को प्राप्त हो जाता है। उससे वह अन्न विषरूपी हो जाता है।

—स दुष्टोग्निः न तत्पचति लघ्वपि ।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम् ॥

अन्न के न पचने,शुक्तत्व प्राप्त कर लेने और विषरूप हो जाने से जो सीधे-सीधे रोगों की उत्पत्ति की नामावलि पेश की गई है वह इस प्रकार है—

i. अजीर्ण की उत्पत्ति—इससे विष्टम्भ *[Constipation]* अवसाद *[depression]* शिरोरुक *[heedache]* मूर्च्छा *[uncouscious ness]* भ्रम *[vertigo]* पृष्ठकटिग्रह *(Spasitcitv of the murcly of thoracice and lumbar regious)* जृम्भा, अंगमर्द, तृष्णा, ज्वर वमन, प्रवाहण, अरोचक, अविपाक।

ii. जब इसमें पित्त का और अनुबन्ध हो जाता है तब दाह-तृष्णा, मुख के रोग, अम्लपित्त, अन्य पित्तजरोग उत्पन्न हो जाते हैं।

iii. कफ का अनुबन्ध हो जाने से राजयक्ष्मा, पीनस, प्रमेह, तथा अन्य कफज रोग होते हैं।

iv वात के संसृष्ट होने पर अनेक वातजरोग उत्पन्न हो जाते है।

v. मूत्र संस्थान में अग्नि की कमी के कारण मूत्रस्थ रोग होते हैं।

vi. शकृद्गत अग्नि की कमी कुक्षि के रोगों को जन्म देती है।

vii. यदि रसादिधातुओं में अग्नि कमी उत्पन्न होती है तो रसज, रक्तज, मांसज आदि सातों धातुओं में विकार उत्पन्न हो सकते हैं।

vii. जब यह अग्नि वात दोष के कारण विषम हो जाती है तो अन्न का परिपाक भी विषम स्वरूप का होता है।

xi. अग्नि के तीक्ष्ण होने पर और खुराक कम मिलने पर वह धातुओं को सुखा डालता है।

x. युक्त अग्नि उचित मात्रा में खाये हुए भोजन का ठीक-ठीक परिपाक करती है।

इस प्रकार मन्द, विषम, तीक्ष्ण और सम ये चार प्रकार की जाठराग्नि होती है और वह शरीर में कहीं भी रोग या स्वास्थ्य का कर्त्ता मानी गई है।

समाग्नि से धातुसाम्य होता है।

युक्तं भुक्तवतो युक्तोधातुसाम्यं समं पचन् । और दुष्टाग्नि (मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि और विषमाग्नि) धातुवैषम्य करती है। और रोगस्तु दोषवैषम्यं धातुसाम्यमरोगिता के अनुसार समाग्नि स्वास्थ्यदाता और विषम दुष्टाग्नि रोगप्रदाता होती है।

इस अग्नि की दुष्टि के कारण तथा आहार परिणाम कर अन्य पांच भावों में गड़बड़ होने से रोग उत्पन्न होते हैं। पाचन संस्थान के अनेक जटिल रोग इन्हीं से होते हैं। इनमें से निम्नांकित रोगों का व्यापक विचार इस प्रकरण में किया जावेगा क्योंकि ये सभी जटिल रोगों की श्रेणी में ही आते हैं। वे हैं—

१. अम्लपित्त, २. अतीसार, ३. ग्रहणी, ४. यकृद्विकार ३. पित्ताश्मरी, ६. कृमिशोथ, ७ वमन, ८. जलोदर, ९. उदर्याकलारोग १०. अन्त्रपुच्छशोथ, ११. अर्श १२. भगन्दर, १३. आमाशय कैन्सर १४. अन्त्रवृद्धि।

इन रोगों में कुछ काय चिकित्सा से सम्बन्धित हैं और कुछ शल्य चिकित्सा से सम्बद्ध हैं। जटिलता की दृष्टि से ही इनका विवेचन किया जा रहा है। इन सभी के चिकित्सासूत्र यथा स्थान दिये जा रहे हैं।

अम्लपित्त चिकित्सा

आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी सम्पादक 'सुधानिधि'

परिभाषा—

महास्रोत के आमाशय क्षेत्र में दाह के साथ उत्क्लेश और खट्टी डकारों का आना तथा विशेष प्रकार की बेचैनी का होना अम्लपित्त कहलाता है।

विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्तं प्रकोपि पानान्नभुजो विदग्धम्।
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरायत् तदम्लपित्तं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

रोगोत्पत्ति में कारण—

विविध पित्त प्रकोपक कारणों से जिनमें ऋतुजन्य औषध प्रयोगजन्य तथा खानपानादिजन्य कारण आते हैं—जब पित्त संचित और विदग्ध हो जाता है तब उसके कारण उसकी स्वाभाविक कटुता अम्लता में बदल जाती है और तब उसे अम्लपित्त नाम दिया जाता है।

आधुनिक मत से मुख से लेकर आमाशय तक जलन कई कारणों से होती है जिनमें आमाशय में उत्पन्न होने वाले हाईड्रोक्लोरिक अम्ल की अधिकता (हाइपरक्लोरहाइड्रिया) अथवा उसकी कमी (हाइपोक्लोरहाइड्रिया या अक्लोरहाइड्रिया) दोनों ही इसके लिए जिम्मेदार होते हैं। इसलिए अम्लपित्त कह देने मात्र से जो लोग यह समझते हैं कि एसिडिटी (अम्लता) बढ़ी हुई होगी वे भ्रम में रहते हैं। आमाशय के कैन्सर में जो अपनी अनम्लता के लिए प्रसिद्ध है इतना दाह होता है कि अज्ञानवश बड़े-बड़े तज्ज्ञ भी एण्टैसिडों का प्रयोग कर बैठते हैं।

अम्लपित्त एक लक्षण समूह का नाम है जो आमाशयिक अम्ल की वृद्धि या क्षय दोनों में ही एक सा मिलता है। आयुर्वेदीय पित्त की विदग्धता आमाशयिक अम्ल की वृद्धि या ह्रास दोनों में संभव है इसे न भूलना चाहिए।

रोग के लक्षण—अम्लपित्त में अरोचक उदरशूल, अम्लोद्गार, हृल्लास और वमन बहुधा मिलते हैं। जिसे आधुनिक विज्ञ हार्टबर्न [*heart burn*] कहते हैं वह भी प्रायः करके इस रोग में रहता है।

यह स्मरणीय है कि आमाशय की स्वस्थावस्था में उससे रात दिन आमाशयरस का स्राव होता रहता है। विश्रामकाल में यह स्राव १०-१५ मिलीलिटर प्रति घंटा होता है इस स्राव में आमाशयिक अम्ल या हाइड्रोक्लोरिक एसिड, पैप्सिन, जल, यूरिया, म्यूकस अमोनियां ऐमाइन्स आदि विविध मात्राओं में स्रवित होकर मिलते हैं। आमाशय में ऊपरी भाग में अम्ल अधिक बनता है निचले या मुद्रिका भाग में कम। आमाशय स्राव प्रति व्यक्ति भी कुछ कम या अधिक होता है।

जब किसी के स्राव में अम्लता बढ़ती है तो क्षारीय म्यूकस कम बनता है पर अम्लीय स्राव बहुत अधिक बनता है। यदि स्राव बढ़ता जाय तथा आमाशय भी ग्रहणी में जल्दी-जल्दी खुलता जाय तो ग्रहणी में अधिक अम्ल के पहुँचने से ग्रहणी में व्रण [*duodenal ulcer*] या विदार बन सकता है।

आमाशय स्राव पर नर्वस (वातिक) तथा कैमीकल (पैत्तिक) इन दोनों प्रकार की उत्तेजनाओं का प्रभाव पड़ता है। गैस्ट्रीन एक ऐसा द्रव्य है जो इस स्राव की वृद्धि में अधिक कार्य करता है। यह आमाशय के ऊर्ध्व

प्रस्तुत लेख में अम्लपित्त के सम्बन्ध में आचार्य त्रिवेदी जी ने पूर्ण ज्ञान प्रस्तुत किया है आशा है पाठक लाभान्वित होंगे।

—गोपालशरण गर्ग।



भाग को कला से शुद्ध रूप में निकाला जा सकता है। वागस नाड़ी की उत्त`जना से स्राव बढ़ता है। इन उत्त`-जनाओं से गैस्ट्रीन मुक्त होकर आमाशयिक अम्ल का अधिक स्राव कराती है। एट्रोपीन देने से उत्त`जना मन्द होकर स्राव को कम कर देती है। कुछ अन्य द्रव्य भी गैस्ट्रीन को मुक्त कर अम्ल की वृद्धि कर देते हैं। इनमें लहसुन, मद्य, पैप्टोन, यकृत् सत्व, चाय और काफी आते हैं। ग्रहणी में स्नेहों की उपस्थिति या अम्ल की उपस्थिति आमाशय की कोशिकाओं से अम्लीय स्राव की उत्पत्ति को कम कर देती हैं।

कुछ मनोद्वे`ग जैसे क्रोध स्राव बढ़ाते हैं। मानसिक तनाव भी स्राववृद्धि कारक है। भय और अवसाद उलटा काम करते हैं। अधिक मात्रा में भोजन करने के कारण आमाशय में जो खिंचाव होता है उससे भी गैस्ट्रीन मुक्त होकर आमाशयिक स्रावों को बढ़ा देती है। जीर्ण स्वरूप के रोगों में स्राव घट जाता है। आयुर्वेद अम्लवर्द्धक इन विविध कारणों को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकर करता है।

आजकल आमाशय के स्रावों को जानने के लिए गैस्ट्रिक एनैलाइसिस आमाशयस्रावीय विश्लेषण किया जाता है। पहले इसका बड़ा रिवाज था अब अनुसन्धाना-त्मक दृष्टि से ही इसका उपयोग किया जाता है। आमा-शय दर्शन या गैस्ट्रोस्कोपी एक नया प्रकार है आमाशय कला के प्रत्यक्ष दर्शन का उससे उसकी सूजन, विदार आदि का पता चल जाता है।

आजकल शुद्ध जल, रिंगर्स विलयन और क्रोमो-ट्रिप्सीन के विलयन का प्रयोग कर आमाशय कला के उन्मुक्त कोशाओं का अध्ययन कर आमाशय में कैंसर का पता लगाया जाता है। इस पद्धति को गैस्ट्रिक ऐक्स-फोलिएटिव सायटोलोजी कहा जाता है।

रोगी की तत्काल करणीय व्यवस्था—

अम्लपित्त के रोगी में हृल्लास और वमन का उपद्रव बहुत मिलता है। कभी-कभी मुख से प्रसेक और जलन भी बहुत परेशान करती है। इस लिए अम्लपित्त के रोगी के आते ही तत्काल वमनहर दवा का प्रयोग करना [illegible]। यदि दवा देने से भी कोई लाभ न हो तो उसे गरम पानी खूब पिलाकर गले में अंगुली डालकर वमन कर देना चाहिए। कारण के दूर होने पर रोगी स्वस्थ अनु-भव करता है। अतिवमन को दूर करने के लिए शरीरस्थ जलाभाव को दूर करना आवश्यक होता है और ग्लूकोज का उपयोग ड्रिप विधि से देने से भी काफी राहत मिलती है।

केवल मात्र आमाशयकला में तीव्रशोथ होने से भी जटिलावस्था बन जाती है। इसमें आमाशय क्षेत्र में शूल बहुत होता है। शूल के साथ तृषा मिलती है। मिचली (हृल्लास) के साथ उलटियां आती हैं। लालाप्रसेक भी बहुत होता है। इस स्थिति में वमन सबसे पहले करा देनी चाहिए। केवल जल पिलाना, उसमें ग्लूकोज डाल-डाल कर देना चल जाता है। बहुत तीव्र शूल होने पर मार्फिया का इञ्जेक्शन तक देना पड़ सकता है।

कभी-कभी अम्लपित्त के रोगी के जब आमाशय में अल्सर हो जाता है और उसके कारण रक्तवमन(*haeme-temesis*) होने लगती है तब आता है। कभी-कभी रक्तवमन के अतिरिक्त अन्य कोई लक्षण इस रोग में नहीं मिलता। अम्लपित्त या आमाशय व्रण का रक्तवमन प्रायः मारक नहीं होता किन्तु उसकी चिकित्सा वैद्य को तत्परता के साथ करनी होती है।

अम्लपित्त में रक्तवमन बहुत काफी होती है। रक्त-वमन के रोगी को खून की उलटी को रोकने के लिए रक्ताधान या ब्लड ट्रान्सफ्यूजन की आवश्यकता पड़ सकती है इस लिए उसे ऐसे अस्पताल या चिकित्सालय में पहुँचा देना चाहिए जहां रक्त की सुविधा आसानी से प्राप्त हो सके।

चिकित्सक का रक्तवमन की अवस्था में जो करणीय कर्त्तव्य है वह इस प्रकार है:—

रोगी को लिटाकर पूर्ण विश्राम दिया जावे।

उसे फिटकरी का फूला ½ माषा, दुग्धपाषाण चूर्ण १ माषा, कामदुधारस ½ माषा, ग्लूकोज मिले बर्फ से ठण्डे किए हुए जल में मिला कर दिया जाये। यह प्रयोग हर आधा घंटे पर पुनः-पुनः किया जावे। बाहर से पेट को बर्फ के पानी से सेक भी सकते हैं।

घबराहट और क्रियातिपात की चिकित्सा की जानी चाहिए।

यदि रक्तवमन पर काबू पाना संभव न हो तो मार्फिया १५ मिलीग्राम का एक इंजेक्शन त्वचा के नीचे दे देना चाहिए। इससे रोगी शान्त हो जाता है और उसे पूर्ण विश्राम की स्थिति में रक्ताधानार्थ अस्पताल पहुँचाया जा सकता है।

रक्तवमन के लिए वे सभी साधन प्रयोग में लाने चाहिए जो एक रक्तपित्त के रोगी के लिये बतलाये जाते हैं।

रक्तवमन दूर होने पर भी बर्फ चुसाते रहना चाहिए। यादव जी ने वमन दूर करने के लिए लाजामण्ड का जो प्रयोग अपने सिद्ध योग संग्रह में दिया है वह भी उत्तम है। इसमें धान का लावा (खील) १ तोला लेकर २ तोले जल में २-४ नग छोटी इलायची तथा लौंगें डाल कर उबालते हैं इसमें मिश्री ३—६ माशे तक साथ ही डाल देते हैं। ५-७ उबाल आ जाने पर उसे उतार कपड़े में छान ठण्डा कर बर्फ में रख देते हैं इस लाजामण्ड को थोड़ी-थोड़ी देर बाद १—२ चम्मच करके देते रहते हैं। इसमें कागजी नीबू भी निचोड़ कर डाल सकते हैं। यह मण्ड न केवल उलटी को अपि तु हिचकी और प्यास को भी दूर कर देता है।

अम्लपित्त या अम्लपित्तज आमाशयिक व्रण में शूल या पेन बहुत बड़ी समस्या बन जाती है। इसे दूर करने के लिए एट्रोपीन सल्फेट ०·५ मि० ग्रा० ४ मि० लि० पानी में मिलाकर सबेरे ८ बजे और रात ८ बजे भोजन से पूर्व देते हैं। बेलाफोलीन की गोली दी जाती है। सीबा की ऐण्ट्रीनिल भी अच्छा काम करती है।

आमाशय व्रण में नारायण तैल १० बूंद दिन में २—३ बार बताशे में भरकर देने से दर्द भी बन्द हो जाता है और व्रण भी रोपित हो जाता है।

मधुयष्टी चूर्ण घी में मिलाकर चटाने से शूल और व्रण दोनों शान्त होते हैं।

अहमदाबाद के वैद्य वल्लभराम विश्वनाथ ने, लक्ष्मण-झूला में हुई वैद्यनाथ शास्त्रचर्चा परिषद् में अम्लपित्त के शूल को रोकने के लिए डा० बर्जर का नुस्खा बतलाया। इसे वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा प्रकाशित आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी कृत अम्लपित्त-प्रकरण नामक पुस्तक में देखा जा सकता है। यह पुस्तिका इस शास्त्रचर्चा परिषद् में हुए अम्लपित्त विषयक शास्त्रचर्चा से युक्त और बहुत उपादेय है। मूल्य कुल १.५० मात्र है। डा० बर्जर के नुस्खे में मैगसल्फ ५० ग्राम शु० गन्धक १०० ग्राम शुद्ध चूना ५० ग्राम सबको घोंट शराब सम्पुट कर ४० उपलों की आग में फूंकते हैं। इसकी मात्रा २ रत्ती की है।

लीलाविलास रस मधु के साथ देने से भी अम्लपित्त और शूल का सफाया किया जा सकता है।

आचार्य रमानाथ द्विवेदी ने मधुयष्टी के साथ सममात्रा में घृत और मधु मिलाकर देने को उत्तम बतलाया।

अम्लपित्त नाशक चिकित्सा—

अम्लपित्त को भिषङ् मोहकर रोग माना गया है जो रोगी और चिकित्सक दोनों को बहुत परेशान करता है। इस रोग की लग कर चिकित्सा करने, पथ्यपूर्वक रहने से इसे समूल नष्ट किया जा सकता है। रोगी को चिकित्सक के प्रति पूर्ण आस्था रखकर ही इलाज कराना चाहिए। चिकित्सक को भी रोगी की चिकित्सा में ऐक्सपैरीमेंट जैसा न कर सिद्ध अनुभूत चिकित्सा का सावधानी से प्रयोग करना चाहिए।

अम्लपित्त की आयुर्वेदीय चिकित्सा—

१. अभ्रक भस्म,
२. आमलकी तथा
३. गुडूची

इन ३ पर ही निर्भर करती है। इनका प्रयोग अभ्रक भस्म युक्त योगों, आमलकी रसायन और संशमनी वटी के रूप में कर सकते हैं।

अम्लपित्त की विधिवत् प्रयुक्त चिकित्सा इन बिन्दुओं पर की जानी चाहिए—

१. वमन कर्म } शोधन चिकित्सा
२. विरेचन कर्म }
३. संशमन या भेषज चिकित्सा

(क) निरन्न (ख) सान्न तथा (ग) निरन्न सान्न

तीन रूपों में करने का विधान है निरन्न में अन्न न देकर स्वर्णपर्पटी, विजयपर्पटी या पंचामृतपर्पटी



कल्प देते हैं साथ में दूध या सन्तरे का रस चलाते हैं। साम्न में जौ का दलिया या रोटी नीबू आदि का प्रयोग करते हुए नमक न देते हुए पर्पटी या औषध देते हैं। निरन्न साम्न में कुछ दिन दूध पर रखते हैं, कुछ दिन दलिया पर रखते हैं तथा औषध प्रयोग करते हैं।

अम्लपित्त की चिकित्सा—

१. पटोलादि क्वाथ
२. धात्रीलोह
३. अविपत्तिकर चूर्ण
४. कामदुधा रस और
५. स्वर्ण सूतशेखर के द्वारा की जाती है।

चक्रदत्त का पटोलादि क्वाथ अनुपम प्रयोग है। हिन्दू विश्वविद्यालय में अम्लपित्त पर किये गये पटोलपत्र के प्रयोग ने एक नई आशा जागृत की है। चक्रदत्त का नुस्खा इस प्रकार है—

फलत्रिकं पटोलं च तिक्ताक्वाथः सितायुतः।
पीतः क्लीतकमध्वाक्तो ज्वरछर्द्यम्लपित्तजित् ॥

मुलहठी का चूर्ण मधु मिलाकर चाटें ऊपर से त्रिफला, पटोलपत्र, कुटकी का क्वाथ मिश्री मिलाकर पिलावें तो ज्वर, वमन और अम्लपित्त दूर होता है।

भैषज्य रत्नावलीकार ने गुडूची, नीम की छाल, पटोलपत्र और त्रिफला के क्वाथ को ठण्डा कर शहद मिला कर पिलाने को दारुण अम्लपित्त नाशक बतलाया है।

अविपत्तिकर चूर्ण भी अम्लपित्त की आयुर्वेदीय चिकित्सा में अनिवार्य रूप से दिया जाता है। आजकल लौंग बहुत तेज हो जाने से यह बहुत कीमती बनता है। इसमें निशोथ सब दवाओं से दूना पड़ता है। निशोथ दस्तावर होती है। आजकल सफेद निशोथ के नाम से जो द्रव्य मिलता है उसमें दस्त लाने की शक्ति न होने से उसे प्रयोग में नहीं लेना चाहिए।

धात्री लोह आमाशय व्रण में उत्तम कार्य करता है। इसमें आमला, लोह भस्म, मुलहठी के चूर्ण को गिलोय के रस में घोंटते हैं फिर घी और शहद के साथ प्रयोग करते हैं। भोजन की पच्यमानावस्था में देने से यह अत्यन्त कष्टकर उदरशूल और अम्लपित्त को दूर करता है।

शतावरी का स्वरस मधु के साथ लेने से या शतावरी घृत का प्रयोग करने से अम्लपित्त के व्रण का उपशम होता है तथा दाह और शूल मिट जाता है।

रक्तवमन में अडूसापंचांग का स्वरस बहुत लाभ देता है उसे मधु और शर्करा के साथ दे सकते हैं।

स्वर्ण सूतशेखर में विशेष कार्यशील द्रव्य धत्तूर बीज और स्वर्ण भस्म है। यह अम्लपित्त की वमन और शूल दोनों को मिटा देता है इसे मिश्री और मधु के साथ देते हैं।

कामदुधा रस में १—गेरू और आमला रस २—गिलोय सत्त्व, गेरू और अभ्रक भस्म तथा ३—मुक्ता, प्रवाल, शुक्ति, वराट, शंख की भस्में, गुडूचीसत्व आते हैं। इस प्रकार ये ३ योग चलते हैं। उनका स्थिति के अनुसार वैद्य प्रयोग करते हैं।

पथ्यापथ्य—तिक्तरसयुक्त आहार और पान, जौ, गेहूँ, मूंग की दाल, तप्तशीत जल, पेठा, केला, आमला, जांगल जीवों के मांसरस आदि पथ्यकर हैं।

अधिक भोजन, पित्तवर्द्धक विदाही तीक्ष्ण द्रव्यों का सेवन उचित नहीं है तिल, उड़द, कुलथी, तैल में सिके और पीठी के पदार्थ नहीं देने चाहिए। नमक का प्रयोग कम करने देना चाहिए। भेड़ का दूध, दही, मद्य, कांजी, आदि कदापि सेव्य नहीं है।

नारियल का पानी, नारिकेल लवण, नारियल की गिरी अच्छी सिकी या अधजली रोटी और कफपित्त हर पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए।

असाध्यता—काश्यपसंहिता में असाध्यता के विषय में लिखा है—

ज्वरातीसार पाण्डुत्वं शूलशोथारुचिभ्रमैः।
उपद्रवैरिमैर्जुष्टः क्षीणधातुर्न सिध्यति ॥

अर्थात् जिसे ज्वरातीसार हो, शरीर में पाण्डुता या रक्तक्षय (*Anaemea*) हो गया हो, उदरशूल भयंकर हो, शरीर सूज गया हो, अन्न में अरुचि हो, चक्कर (*Vertigo*) आते हों तथा धातुएं क्षीण हो चुकी हों ऐसा सर्व उपद्रव युक्त अम्लपित्त का रोगी ठीक नहीं होता।

इस स्थिति तक पहुंचने के लिए चतुष्पाद (वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक) के श्रेष्ठतम होने की आवश्यकता है।

अम्लपित्त चिकित्सा और पथ्य व्यवस्था

कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय आयुर्वेद विशारद , आयुर्वेद वाचस्पति
महेन्द्र रसायनशाला ममफोर्ड गंज इलाहाबाद

आयुर्वेद-वाचस्पति आचार्य महेन्द्रनाथ पाण्डेय प्रयाग के उन इने-गिने चिकित्सकों में से हैं जिन्होंने अपनी लेखनी के चमत्कार तथा पीयूष पाणिता के फलस्वरूप देश भर के मूर्धन्य वैद्यों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। प्रयाग उत्तर प्रदेश में प्राकृतिक चिकित्सा का एक विशिष्ट केन्द्र रहा है। गोरखपुर का मोदी संस्थान बाद में विकसित हुआ। श्रद्धेय जानकीशरण वर्मा, श्री बालेश्वर प्रसाद आदि प्रयाग के उच्च प्राकृतिक चिकित्सक रहे हैं उसी परम्परा में पाण्डेय जी का नाम भी आता है इनकी विशेषता यह रही है कि आपने प्राकृतिक चिकित्सा के उसी रूप को वृद्धिगत और पुष्ट किया है जो आयुर्वेद के आर्ष ग्रन्थों में विदित है। आपकी साहित्य साधना भी अनूठी और विपुल रही है।

अम्लपित्त पर आपने बहुत कुछ लिखकर भेजा था जिसमें से केवल उपयोगी अंश पिष्ट प्रेषण छोड़कर प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

अम्लपित्त की चिकित्सा के दो मुख्य सिद्धान्त हैं—

१. उर्ध्वगअम्लपित्त को वमन द्वारा निकाल देना।
२. अधोग अम्लपित्त को विरेचन द्वारा निष्काषित कर देना।

तीसरा उपाय है इन दोनों विधियों को अपनाते हुये इस प्रकार का भोजन ग्रहण करना जो पित्तवर्धक न होकर पित्त को शान्त करने वाला हो। इस सिद्धान्त से चिकित्सा में शतप्रतिशत सफलता मिल जाती है।

अम्लपित्त की चिकित्सा में प्रयोग में आने वाले द्रव्य ये हैं—आंवला, नीम के पत्ते, कडुवे परवल के पत्ते, मुनक्का, हर्रे, निशोथ, नारियल, कुष्माण्ड, धान का लावा, चावल की लाई, गुडुच, अडूसा, पित्तपापड़ा आदि।

अम्लपित्त में वमन कराने के जिए नीम की पत्ती, कडुवे परवल के पत्ते, मैनफल का काढ़ा बनालें। काढ़ा छानकर उसमें शहद और सेंधानमक मिला दें और भर-पेट पिलाकर वमन करा द। वमन करने की क्रिया थोड़ी कठिन है इसलिए अनुभव रखने वाले चिकित्सक को ही वमन कराना चाहिए।

केवल परवल और नीम की पत्ती का काढ़ा बना लेवे और उसमें सेंधानमक मिलाकर, पिलाकर पित्त की चिकित्सा में आसानी हो जाती है।

वमन कराने की क्रिया प्रति सप्ताह करनी चाहिए।

यदि आवश्यकता हो और पित्त का जोर बहुत हो तो सप्ताह में दो बार भी वमन कराया जा सकता है। जब पित्त का जोर कम हो जाये और रोग कमजोर पड़ने लगे तो वमन कराने की क्रिया पन्द्रह दिन पर करनी चाहिए।

केवल सुखोष्ण जल में नमक मिलाकर भरपेट पिलाकर वमन कराना सबसे निर्दोष क्रिया है। इसमें वमन के उपद्रव नहीं होते और रोग शान्त हो जाता है।

वमन के बाद दो-चार घण्टे कुछ खाने पीने को नहीं देना चाहिए। जब भूख लगे और रोगी खाना चाहे तब उसे जौ या गेहूं का उबाला हुआ जल, धान का लावा, चावल की लाई पानी में भिगोकर देना लाभकर होता है।

भोजन में जौ या गेहुं की रोटी, उत्तम बढ़िया पुराना चावल, पथ्य-शाक-सब्जियां, मूंग की दाल जो आंवला डालकर पकाई गई हो, दूध आदि देना चाहिए।

अम्लपित्त की औषधियां अनेक हैं उनसे लाभ भी होता है। परन्तु पथ्य पालन, पित्त निष्कासन और ऐसा भोजन जो पित्त न उत्पन्न करे, लेना चिकित्सा का सर्वोत्तम ढङ्ग है।

हमने रोगी को नमक छुड़ाकर और केवल दूध, भात या दूध रोटी खिलाकर एवं आंवला, लौकी, परवल आदि पथ्य फलों को देकर अम्लपित्त के कठिन रोगियों को आराम किया है।

अम्लपित्त के रोगी को थोड़ा टहलाना, स्वच्छ वायु में गहरी सांस लेना, यदि शरीर बलवान हो तो थोड़ी सी कम ताकत लगाकर दौड़ना बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है।

अधोग अम्लपित्त में विरेचन के लिए निशोथ का प्रयोग करना चाहिए। निशोथ पित्तशामक तो है ही मृदु विरेचक है अतः इसके प्रयोग से कोई उपद्रव नहीं होता। किसी-किसी को निशोथ और छोटी हर्रं का चूर्ण मिलाकर देने की आवश्यकता पड़ती है। निशोथ की मात्रा १ तोला तक दी जा सकती है। हरीतकी मिलानी हो तो चवन्नी भर तक मिलाई जा सकती है। विरेचन करा देने से प्रायः अधोग अम्लपित्त घटने लगता है।

कूष्माण्डावलेह, बृहत् नारिकेल खण्ड, नारकेल खण्ड, सूतशेखर रस, लीलाविलास रस, इस रोग की प्रसिद्ध औषधियां हैं। यह सब प्रयोग शास्त्रीय हैं और शास्त्र के अनुसार ही बनाये जाते हैं इनमें परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ती।

हर्रे, मुनक्का और मिश्री समभाग लेकर गोली बना लें। इस गोली को मुंह में रखकर चूसने में जलन में कमी हो जाती है।

शङ्खभस्म २ रत्ती, कपर्दभस्म २ रत्ती, ताप्यादिलौह २ रत्ती, आंवले का रस जरूरत भर मिलाकर दिन में दो तीन बार चाटने से अम्लपित्त में लाभ होता है।

नारकेलखण्ड १ तोले की मात्रा में सुबह शाम दूध के साथ देने से बहुत लाभ होता है।

अम्लपित्त के कुछ रोगियों को तेल, घी, मक्खन, मलाई आदि चिकने पदार्थ लेने से कष्ट में वृद्धि हो जाती है। यदि ऐसी स्थिति न हो और चिकनाई वाले पदार्थ माफिक आते हों तो अम्लपित्त के रोगी को शतावरी घृत बनाकर उचित मात्रा में देने से लाभ होता है। शतावरी घृत का प्रयोग योगरत्नाकर में अम्लपित्त प्रकरण में दिया हुआ है। शास्त्र के अनुसार ही घृत तैयार करने से औषधि की शुद्धता रहती है और लाभ भी होता है।

पथ्यापथ्य—

जौ, गेहूं, मूंग, पुराना लाल चावल, गर्म करके ठण्डा किया हुआ जल, चीनी या मिश्री, मधुयुक्त जौ का सत्तू, लाई, धान का लावा, खोखसा (कर्कोटक), करेला, केले का फूल, बथुआ, पका हुआ सफेद कोहड़ा (भतुआ) परवल अनार और दूसरे अन्न और पेय पदार्थ जो कफ का नाश करने वाले हों इस रोग में पथ्य हैं। इनका सेवन मात्रानुसार करने से लाभ होता है।

वमन के वेग को रोकना, तिल, उर्द, कुल्थी, भेड़ का दूध, कांजी, नमकीन पदार्थ, खट्टे पदार्थ, कडुवे पदार्थ, देर में पचने वाले अन्न, दही और मद्य—ये पदार्थ अम्लपित्त वाले के लिए हानिकारक होते हैं अतः इनका त्याग करना चाहिए।

अतीसार चिकित्सा

अचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, सम्पादक 'सुधानिधि'

परिभाषा—ऐसी स्थिति जिसमें बार-बार पहले दस्त हों, मलत्याग तेजी से हो अतीसार कहलाता है। शास्त्र में पुरीषं द्रवीकृत्य, पुरीषाशयं उपहत्य उपक्लेद्य पुरीषं अतीसाराय कल्पते, द्रवत्वाद् ऊष्माणं उपहत्य पुरीषाशयगतं पित्तं द्रवत्वाद् सरत्वाच्च भित्वा पुरीषं अतीसाराय कल्पते आदि वाक्य भी यही इंगित करते हैं कि इस रोग में दस्त पतले और बार-बार आते हैं।

सुश्रुत का यह वाक्य इस सबके लिए सटीक बैठता है—

संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाऽधः प्रणुन्नः।
सरत्यतीवातिसारं तमाहुः व्याधि घोरं षड्विधं तं वदन्ति॥

जल धातु अग्नि को मन्द करके स्वयं प्रवृद्ध होकर महास्रोत में बिना चूसी हुई पड़ी रहती है इसमें मलभाग (पुरीष) को मिलाकर वायु नीचे की ओर सराता रहता (बार-बार निकलता) रहता है। यह एक घोर व्याधि (जटिल रोग) है और ६ प्रकार का बतलाया जाता है।

विजयरक्षित के शब्दों में 'गुदेन बहुद्रवसरणमतिसार इत्यर्थः' भी इसी ओर इंगित करता है।

अतीसारोत्पत्ति में कारण—

अतीसार आधुनिक मत से एक लक्षण है जो अनेकों कारणों से उत्पन्न होता है—*It is a Symptom which has many causes*—प्राइस।

आयुर्वेद अतीसार के निम्नांकित कारण मानता है—

१. दोषज कारण—वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों में से प्रत्येक के अलग-अलग कुपित होने पर या दो-दो मिलकर कुपित होने पर या तीनों एक साथ मिलकर प्रकोप करने से अतीसार बनते हैं। उन्हें वातातीसार, पित्तातीसार, कफातीसार तथा सन्निपातातीसार नाम दिया जाता है। द्वन्द्वज अतीसारों का शास्त्र में वर्णन इसलिए नहीं है क्योंकि उनके लक्षण इन्हीं दोषों द्वारा उत्पन्न अतीसारों का प्रकृति समसमवायात्मक लक्षण समूह ही होता है विकृतिविषमसमवायारब्धक कुछ भी नहीं होता।

शैली च इयं आचार्याणां प्रायः प्रकृतिसमसमवाया-रब्धान् द्वन्द्वान् सन्निपातांश्च न गणयन्ति, विकृतिविषम-समवायारब्धांश्च अवश्यं लिखन्ति। —विजय रक्षित।

२. मानसिक कारण—भय और शोक इन दो कारणों से भी अतीसार होता है भयातीसार एवं शोकातीसार। इनके लक्षण वातातीसार के समान चरक ने गिनाये हैं—

आगन्तू द्वौ अतीसारौ मानसौ भयशोकजौ।
तत् तयोर्लक्षणं वायोः यद् अतीसार लक्षणम्॥
—च. चि. स्था, अ. १६

३. आमज कारण—इसे सुश्रुत ने तो दिया है—

एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः।
—सु. उ. तं. अ. ४०

इस पर विजयरक्षित ने काफी ऊहापोह किया है। उसने एक पक्ष यह रखा है कि आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया हिता। अतः सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वा-मलक्षणम्॥ इस सुश्रुत वाक्य के आधार पर अलग आमज अतीसार मानना असंगत है क्योंकि सभी अतीसारों में आरम्भ में आमावस्था रहा करती है जीर्ण होने पर पक्वावस्था हो जाती है। इस पक्ष को विजयरक्षित ने इन शब्दों में निरस्त किया है—

नैवम्—ऐसा नहीं है।

'आमेन एव आरभ्यत इति आमजः'—जो अतीसार आम से ही आरम्भ होता है वह आमज है।

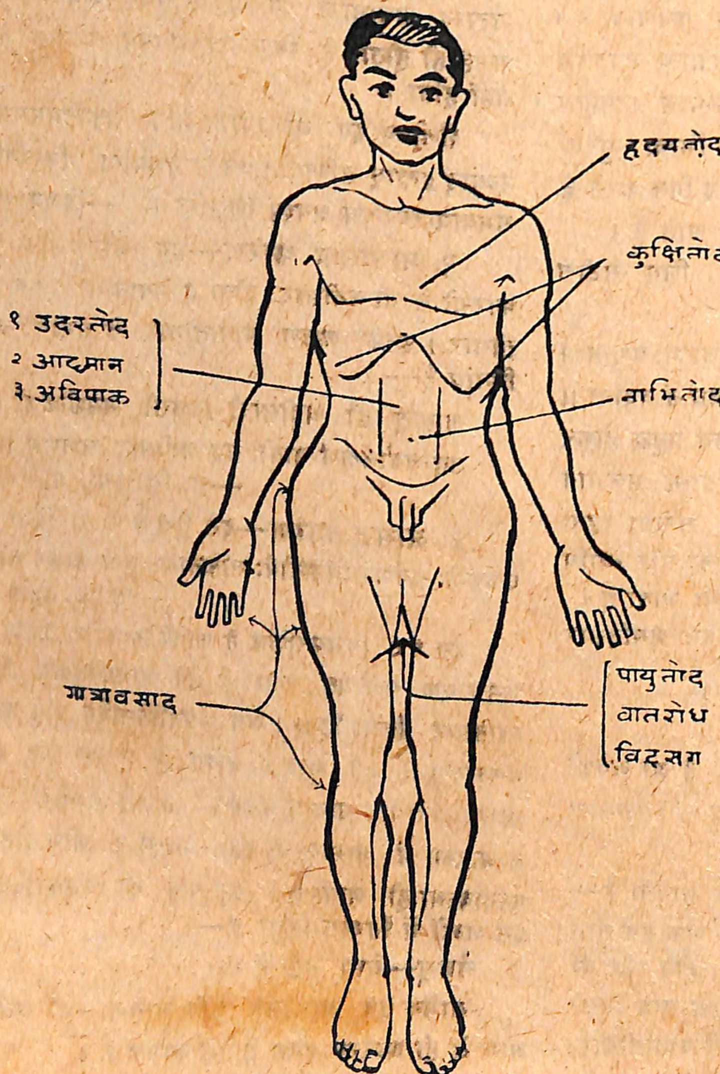
'दोषास्तु संसर्गिणः प्रेरयितारश्च'—दोष तो संसर्गी और प्रेरक होते हैं।

न तु आरम्भका—वे अतीसार के आरम्भ करने वाले नहीं होते।

आमश्च—दुष्टान्नकार्यो दोषधातुमलव्यतिरिक्तो वातादिसंसृष्टो वातादिप्रेरितो वा रक्तादिवद् आद्य आरम्भक इति।

—आम दूषित अन्नपान द्वारा उत्पन्न, दोषों-धातुओं, मलों से सर्वथा अलग, वातादि दोषों से संसृष्ट अथवा वातादि दोषों से प्रेरित रक्त आदि के समान ही एक स्वतन्त्र अस्तित्व वाला पदार्थ है जो रक्तादि की तरह ही रोग का आरम्भक होता है।

आम के इस स्पष्टीकरण से और सुश्रुतोक्त निम्न-लक्षण सूची में रेखांकित कारणों पर गौर करने से आम उत्पन्न करने के आद कारण 'अमीबा' का सहज ही पता चल जाता है—



गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्ण
द्रवस्थूलातिशीतलैः।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैः
विषमैश्चापि भोजनैः॥
स्नेहाद्यैः अतियुक्तैश्च
मिथ्या युक्तैर्विषैर्भयैः
शोकाद् दुष्टाम्बुमद्या
पानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः।
जलाभिरमणैः वेग-
विघातैः क्रिमिदोषतः।
नृणां भवति अतीसारो
लक्षणं तस्य वक्ष्यते॥

रोग के लक्षण—

अतीसार रोग में जो-जो लक्षण मिलते हैं या मिल सकते हैं उन्हें नीचे के चित्र से समझ सकते हैं।

अतीसार चिकित्सा के सिद्धान्त और तत्काल करणीय व्यवस्था—

१. अतीसार रोग में मल पानी से पतला आता है। पानी भी शरीर की धातुओं से निकलता है इस कारण शरीर में जलाभाव, धातुदौर्बल्य और वात प्रकोप ये तीन महा लक्षण एक

के बाद एक उपस्थित होते हैं। जब कोई रोगी चिकित्सक वैद्य के पास आता है तो उसे यह देखना पड़ता है कि उसे किस महारोग लक्षण ने घेर रखा है। जलाभाव है या धातुदौर्बल्य भी प्रकट हो गया है अथवा इन दोनों के साथ वात प्रकोप भी उपस्थित है।

जलाभाव होने पर उसकी तत्काल पूर्ति के उपाय किए जाने आवश्यक हैं। धातुदौर्बल्य में धातुदोषक उपचार करने होते हैं तथा वात प्रकोप में इन दोनों के साथ साथ वायु की शान्ति हेतु व्यवस्था करनी होती है।

२. चिकित्सा के पूर्व रोगी के मल को उसे देखना तथा नैदानिक प्रयोगशाला में जांच के लिए भेज देना चाहिए। इसी समय—

आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया हिता

का तत्काल ध्यान देने के लिए मल के एक अंश को सूंवकर तथा पानी में डालकर परीक्षा करनी चाहिए—

संसृष्टमामैर्दोषस्तु न्यस्तं अप्सु निमज्जति।
पुरीषं भृश दुर्गन्धि पिच्छिलं चाम संज्ञितम्॥

अगर मल में सड़ी बदबू हो मल चिपचिपा हो और वह पानी में डूब जाय तो उसे आम युक्त जान पहले आमशमनार्थ व्यवस्था करनी चाहिए।

३. यदि आमातीसार हो तो आरम्भ में संग्राही द्रव्य न दें। पर यदि स्थिति खतरनाक दौर में पहुंच रही हो तो आमोऽपि लंघनीयः स्यात् पाचनान्मरणं व्रजेत् के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए स्तम्भन या ग्राही चिकित्सा की जा सकती है।

(*i*) आम पचाने के लिए थोड़ी-थोड़ी मात्रा में अभया-पिप्पलीकल्क गरम जल से देकर आम को निकालें।

(*ii*) जो बहुत मात्रा में पतला दस्त करता हो उसे वंगसेन पहले वमन कराने का आदेश देता है—

योऽति द्रवं प्रभूतं च पुरीषमतिसार्यते।
तस्यादौ वमनं योज्यं पश्चाल्लंघनमेव च॥

वमन के लिए पिप्पली, लवण साधित जल पिलाकर कुंजल क्रिया से वमन करा सकते है।

(*iii*) आम को जीतने के लिए पाठा, हींग, अजमोद, वचा, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ का चूर्ण गरम पानी के साथ देना श्रेयस्कर है।

(*iv*) आम के साथ दर्द होने पर धनियां, सौं नागरमोथा, सुगन्धवाला और बेलगिरी का चूर्ण जिसे धान्यपंचक कहते हैं, बहुत लाभ करता है।

(*v*) एक और छोटा योग है जिसे देने से अतीसार, आनाह, विबन्ध और विषूचिका के सब लक्षण दूर हो जाते हैं—

हरड़ छोटी, शुण्ठी या सोंठ, नागरमोथा समभाग लेकर गुड़ मिलाकर २-२ रत्ती की गोलियां बना १-१ गोली गरम जल से २-२ घण्टे के अन्तर से दें। इसे बंगसेन ने चतुःसमा बटी नाम दिया है। यह अग्नि को दीप्त करती है और कृमिनाशक भी है।

(*vi*) यदि अतीसार के साथ जलाभाव (डिहाइड्रेशन) के लक्षण उत्पन्न हो गए हों तो उस स्थिति में सिरा द्वारा लवणोदक (नार्मल सेलाइन) चढ़ाना पड़ता है।

नमक के आयुर्वेदीय प्रयोग इसी स्थिति में जूझने के लिए लिखे गये हैं।

(*vii*) भास्कर लवण इसी समय देते हैं। वंगसेन का कलिंगादि चूर्ण इसी की दवा है—

इन्द्र जौ (कलिंग), अतीस, हींग असली, छोटी हरड़ भुनी, काला नमक और घुड़बच।

यदि धातुदौर्बल्य भी चालू हो गया हो तो केवल नार्मल सैलाइन से काम न चलेगा उस स्थिति में ग्लूकोज सैलाइन की बोतलें ड्रिप पद्धति से चढ़ानी होंगी। अत्युग्र स्थिति में प्लाज्मा की बोतल चढ़ाई जा सकती है।

(*viii*) वातप्रकोप को दूर करने के लिए यवक्षार, शुण्ठी, चांगेरी, बेर और खट्टे दही के साथ सिद्ध घृत, सोंठ और यवक्षार मिलाकर पिलाते हैं। यवक्षार में पोटाशियम होता है। उग्र अतीसार में कोशिकाओं के अन्दर से पोटाशियम निकल जाता है और भयंकर धातुदौर्बल्य करता है, उसे भी यह प्रयोग रोकता है।

उग्र रक्तातीसार में रक्तधातु का नाश रोकने के लिए रक्ताधान (ब्लडट्रान्सफ्यूजन) भी कराया जा सकता है।

(४) वेगवान् अतीसार को रोकने हेतु वंगसेन ने कई प्रयोग दिये हैं इनमें एक निम्नांकित है—

(*i*) मुस्ता वत्सकबीजं मोचरसं बिल्वधातकीलोध्रम्।
गुडमथितसम्प्रयुक्तं गङ्गामपि वेगवाहिनी रुन्ध्यात्॥

नागरमोथा, इन्द्रजौ, मोचरस, बेलगिरी, पठानीलोध के चूर्ण में गुड़ मिलाकर देने से गङ्गा के समान वेगवान

अतीसार को भी रोका जा सकता है।

इसीप्रकार अंकोटमूल को सिल पर शहद के साथ पीसकर तण्डुलोदक (चावल के धोवन) में घोलकर पिला देने से, बांध बना देने से जैसे सरिता का वेग रुक जाता है वैसे ही अतीसार का वेग नष्ट हो जाता है।

एक और सुन्दर प्रयोग है—

कृत्वालवालं सुदृढं पिष्टैरामलकैर्भिषक् ।
आर्द्रकस्वरसेनाशु पूरयेन्नाभिमण्डलम् ।।
नदीवेगोपमं घोरं प्रवृद्धं दुर्द्धरं नृणाम् ।
सद्योऽतीसारमजयं नाशयत्येष रोगराट् ।।

रोगी को शैया पर चित्त लिटा दें। आंवलों को सिल पर पीसकर लुगदी बनाकर उसे रोगी की टूंडी (नाभि) के चारों ओर २ इन्च व्यास के घेरे में १ इन्च ऊंचा उठा दें, इसमें अदरक का रस गरम करके भर दें। इसके देने के बाद नदी वेग के समान प्रबल घोर अतीसार नष्ट हो जाता है।

(५) पित्तातीसार में दाह और ज्वर के साथ दस्त आते हैं। इसके लिए मोथा, इन्द्र जौ, चिरायता और रसौत का चूर्ण अच्छा काम करता है।

(५) रक्तातीसार में बकरी का दूध हितकर है। अनार और कुटज की छाल से सिद्ध क्वाथ शहद के साथ पिलाने से भी लाभ होता है।

बकरी के दूध में बेलगिरी डालकर क्षीरपाक बनालें, उसमें मिश्री और मोचरस मिलाकर इन्द्रजौ के चूर्ण के साथ पिलावें। यह रक्तातीसारनाशक योग है।

चिरकालानुबन्धिनी प्रवाहिका में पिप्पलीशृत, दूध बहुत लाभदायक होता है।

झरबेरी की जड़ तिलों के साथ पीस बकरी के दूध में घोल दें छानकर रक्तातीसार में पिलाते हैं।

रक्तातीसार पर एक और उत्तम प्राकृतिक योग नीचे दिया जाता है—

क्षीरद्रुमाणां च रसे विपक्वं
तज्जैश्च कल्कैः पयसा च सर्पिः ।
सितापलार्द्धं मधुपादयुक्तं
रक्तातिसारं शमयत्युदीर्णम् ।।

पीपल, बरगद, पाकर आदि किसी भी क्षीरी वृक्ष की छाल का रस और कल्क लेकर दूध डाल घृत सिद्धकर ४ तोले मिश्री और १ तोला शहद के साथ सेवन करने से तीव्र रक्तातीसार दूर होता है।

(७) कफातीसार में हींग, कालानमक, त्रिकटु, छोटी हरड़ और अतीस कडुई तथा वचा का चूर्ण कर गरम-पानी के साथ दिनरात में २-३ बार देने से बहुत लाभ होता है।

अतीसार कैसा ही हो रोगी को जो भी आहार दिया जाय उसमें शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, छोटी कटेरी, बला, गोखरू, बेलगिरी, पाठा, सोंठ, धनियां इनका चूर्ण डालकर ही देना चाहिए।

अतीसार में यवमण्ड (बार्लीवाटर) सदैव उपयोगी माना गया है।

सद्यःकरणीय उपायों में प्रवाहिका में **पिच्छाबस्ति** का बहुत महत्त्व है। इसके लिए ८ तोले (जौ के सत्तू, खीलें, सेमरं के फूल, सेंमर की जड़, बरगद, गूलर, पीपल की जटाएं) ३ प्रस्थ जल, एक प्रस्थ दूध डाल काढ़ा करें। जब चतुर्थांश शेष रह जावे तो उसे छान लें, इसमें मोच-रस, लाजवन्ती, चन्दन, कुमुदनी, इन्द्रजौ, पुष्पप्रियंगु, कमलकेसर सब २-२ तोले की चटनी खूब बारीक पीस मिला दें। १-१ तोला घी, मधु और मिश्री मिलाकर खूब फेंटकर इसकी बस्ति गुदमार्ग में शनैः-शनैः देते हैं। इससे प्रवाहिका, गुदभ्रंश, रक्तस्राव और ज्वर सभी का शमन हो जाता है।

प्रवाहिका में दही और शहद देना उत्तम माना गया है। वंगसेन ने प्रवाहिका के प्रकरण में **पाश्चुराइज्ड दुग्ध** का कैसा सुन्दर प्रयोग लिखा है—

सुतप्तकुप्यक्वथितेन वाऽपि क्षीरेण शीतेन मधुप्लुतेन ।

सुतप्त क्वथित शीतल किए हुए दूध को कूपी में भर शहद मिलाकर देना।

रोग के असाध्य लक्षण—

यदि वैद्य के चिकित्सासदन पर कोई ऐसा अतीसारी आ जाय जिसे शोथ, शूल, ज्वर, मूर्च्छा, श्वास, कास, अरोचक, वमन, तृषा और हिक्का के सभी उपद्रव हों तो उसे उसको असाध्य मानकर ही उपचार करना चाहिए। रोगी के घर वालों को भी बतला देना चाहिए। शोथ, शूलादि को देखकर चिकित्सक को यह ज्ञान करना चाहिए

कि रोग का प्रभाव कहां-कहां पहुंच चुका है। हृदय, वृक्क और सिर ये ३ मर्म कहां तक लिप्त हुए हैं।

असाध्य अतीसारी का यह रूप भी ध्यान देने योग्य है—

हस्तपादांगुली सन्धि प्रपाको मूत्र विड्ग्रहः।
पुरीषस्योष्णतातीव कोष्ठभेदी न जीवति॥

यह वृक्कों की गम्भीर क्षति की ओर निर्देश करता है। अन्य अङ्गों पर प्रभाव तो है ही।

अतीसार और चिकित्साकालीन अनुभव—

(१) ५-५ ग्राम जायफल दक्षिणी और सोंठ पीसकर जल के साथ २ बार दें।

(२) आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी जी ने वैद्य सहचर (वैद्यनाथ प्रकाशन) में अतीसार की उग्रावस्था रोकने हेतु एक प्रयोग यह दिया है कि कठाजामुन और शमी(छोंकर) के कोमल पत्ते २-२ तोले। आम की अन्तर छाल का रस २ तोले लेकर उसमें बुझा हुआ चूना ६ माशे डालें तथा ३ माशे कालीमिर्च मिला दें। इसे सबेरे शाम २ बार दें। देते ही दस्त आना बन्द हो जाता है। दस्त बन्द होते ही पेट में भयंकर दर्द हो सकता है इसलिए इसका कम से कम प्रयोग करना चाहिए।

उनके ही मत से उग्र अतीसार में कपूर रस टंकण युक्त १ से २ गोली भी बहुत लाभ करती है। साथ में संयोगार्क दे सकते हैं।

जब किसी भी दवा से मल न बंधे तो हकीम रामनारायण जी से प्राप्त और यादवजी महाराज द्वारा उद्धृत **संग्राहक चूर्ण** दें।

बिल्वपेशिका, मोचरस, अनार के फूल, तुख्म हुमाझ, जुफ्तबलूत, छोटी मांईं, हब्बुल्लास की पत्ती, आम, जामुन की गुठली सब समभाग कपड़छान चूर्ण करें। मात्रा १॥ से ३ माशा। यह वैद्य बंशीधर त्रिवेदी पुरदिलनगर द्वारा भी गत २० वर्ष से अनुभूत है।

(४) भैषज्य रत्नावली का लवंगाभ्रकयोग जो एक अहिफेनयुक्त योग है। जल के साथ ३-४ बार तक दे सकते हैं।

(५) गोखले जी ने व्याधिप्रत्यनीक दीपन, ग्राहि, पाचन द्रव्य और तक्र (मट्ठे) का उपयोग बतलाया है। मुख्य औषधियों में कुटज, अफीम, भांग, मिलावे और बेलगिरी को महत्ता दी है।

ईसबगोल के बीजों का हिम शर्करा डालकर देना उपयोगी बतलाया है।

(६) जामनगर के आयुर्वेदीय चिकित्सालयों में अहिफेन कल्प और कुटजपर्पटी का प्रयोग अतीसार, प्रवाहिका और ग्रहणी रोगों में किया जाता है।

अहिफेन कल्क—अफीम १ भाग, इमली के बीजों का चूर्ण १ भाग तथा जायफल १ भाग का चूर्ण है। मात्रा १-२ रत्ती कुटजावलेह के साथ देते हैं।

कुटज पर्पटी—सात भाग कुटज की छाल के चूर्ण और एक भाग रसपर्पटी को मिलाकर बनाते हैं। मात्रा—२ रत्ती से ३ माशे तक है।

(७) धातुदौर्बल्य युक्त अतीसार एवं प्रवाहिका में मधु के साथ स्वर्णपर्पटी ¼ भाग, पंचामृत पर्पटी २ भाग घोंटकर २ से ४ रत्ती की मात्रा में मधु से देते हैं।

(८) जीर्णातीसार में बिल्वादि चूर्ण १ से २ माशे तक मट्ठे से पिलाते हैं। योग इस प्रकार है—

बेलगिरी, मोचरस, सोंठ, भांग, धाय के फूल १-१ भाग, धनियां २ भाग और सौंफ ४ भाग।

अतीसारहर प्रमुख शास्त्रोक्त योग—

रसयोगसागर में अनेक योग अतीसारहर गिनाए गये हैं। इनकी एक सूची हमारे राजकीय औषधियोग संग्रह (चौखम्बा प्रकाशन) में है। उससे कुछ नाम नीचे दिये जा रहे हैं जो उत्तरप्रदेशीय राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालयों में प्रयुक्त होते हैं।

१—लाई चूर्ण [भांग युक्त]
२—अगस्तिसूतराज [अफीम युक्त]
३—कर्पूरवटी [अफीम युक्त]
४—कुटजारिष्ट [भैषज्य रत्नावली]
५—अतीसारवारण रस [अफीम युक्त]

अतीसार नाशक मेरी सफल चिकित्सा

श्री वैद्य मुरारीप्रसाद 'केसरी' सन्त विनोवा भावे आयुर्वेद डिस्पेंसरी
शेरवानी, मिर्जापुर

अतीसार में औषधि देने का नियम व चिकित्सा

आमातीसार के प्रारम्भ में संग्राही औषधि नहीं देना चाहिए, क्योंकि अतीसार के शुरू होते ही अति अपक्क अतीसार रोक देने से अनेक रोगों का उत्पत्तिकारक हो जाता है—जैसे शोथ, पाण्डु, प्लीहोदर, कुष्ठ, गुल्म रोग, उदर रोग, अलसक, दण्डक, आध्मान, ग्रहणी तथा अर्श रोग उत्पन्न कर देते हैं।

अतीसार शुरू होते ही ब्राह्मी, अफीम आदि औषधि नहीं देनी चाहिए, परन्तु जहां दोष प्रबल हो, बारम्बार दस्त की अधिकता हो और उसमें रोगी की धातु व मलादि क्रमशःक्षीण होने लगे तब अपक्कावस्था में भी दस्त बन्द करने की दवा (धारक) औषधि देना उचित है।

बच्चे, वृद्ध या दुर्बल मनुष्य को भी अपक्क अतीसार में धारक औषधियां ही देना चाहिए।

पूतकादि क्वाथ—करंज, पीपल, सोंठ, बरियारा, धनियां,बड़ीहरड़ सब बराबर लेकर २ तोला की मात्रा में या अवस्थानुसार इन सबका काढ़ा बनाकर देना चाहिए।

आमातीसार के लिए

वचादि क्वाथ—वच, अतीस, मोथा, इन्द्रयव का काढ़ा वातातीसार की अमूल्य औषधि है।

चव्यादि क्वाथ—चव्य, अतीस, सोंठ, बेल की गिरी, कुरैया की छाल, इन्द्रयव और बड़ी हरड़ का काढ़ा पीने से निश्चय ही कफातीसार में फायदा करता है।

पिप्पल्यादि क्वाथ—पीपल सोंठ, धनियां, अजवाइन, हरीतकी, वच यह सब द्रव्य समभाग अर्थात् सब मिलाकर २ तोला अच्छी तरह कूटकर नियमपूर्वक क्वाथ बना.र पान करने से अतीसार में आराम होता है।

कलङ्गादि क्वाथ—कुरैया की छाल, हींग, बड़ी हरड़, काला नमक और वच इन सबका काढ़ा पीने से शूल का दर्द, स्तम्भ और मल की विबद्धता नाश तथा अग्नि की दीप्ति और आम दोष का परिपाक होता है।

पथ्यादि—प्रबल कफज अतीसार में, बड़ी हरड़, देवदारु, वच, सोंठ, अतीस और गुरुच का काढ़ा देना चाहिए।

मधुकादि—पित्तातीसार में, मुलहठी, कायफल, लोध, कच्चे अनार का फल और छिलका इन सबका चूर्ण के साथ शहद मिलाकर चावल भिगोये पानी के साथ पीना चाहिए।

कटफलादि क्वाथ—कायफल, अतीस, मोथा, कुरैया की छाल और सोंठ इन सबका काढ़ा थोड़ा शहद मिलाकर पीने से पित्तातीसार का नाश होता है।

समगादि—बाराह कांता, अतीस, मोथा, सोंठ, बला, धपई का फूल, कुरैया की छाल, इन्द्र जौ और बेलगिरी इन सबका क्वाथ अगर पान करें तो त्रिदोषज अतीसार आराम हो जाता है।

श्री मुरारीलाल केसरी का इस विशेषांक में यह दूसरा लेख यहाँ दिया जा रहा है। केसरी जी ने प्रस्तुत लेख में अतीसार का शास्त्रीय विवेचन भी दिया था जिसे निकाल कर केवल उनकी सफल चिकित्सा का ज्ञान यहाँ दिया जा रहा है।
—मदनमोहनलाल चरौरे।

आयुर्वेदिक औषधि

क्रम संख्या	नाम औषधि	मात्रा	पुस्तक का नाम	विशेष बातें
१	अगस्ति सूतराज रस	१ गोली सुबह, शाम, जीरे व जायफल चूर्ण व मधु के साथ।	योगरत्नाकर	दिन में तीन बार देना चाहिए।
२	अभयनृसिंह रस	३ रत्ती जीरे के चूर्ण व मधु से।	भैषज्यरत्नावली	,,
३	अश्विनी कुमार रस	१–२ गोली मधु से।	अनुपानतरंगिणी	,,
४	कर्पूर रस (कर्पूरादि वटी)	१ गोली जीरा चूर्ण व मधु के साथ।	भैषज्य रत्नावली	,,
५	गंगाधर रस	१ गोली समान अनुपान से।	रसकामधेनु	भारत भैषज्यरत्नाकर १५००
६	ज्वालानल रस	१ गोली मधु से।	,,	२१८०
७	तृप्तिसागर रस	१ गोली गरम जल से।	रसराजसुन्दर	२७०४
८	नागसुन्दर रस	१ गोली जल से।	,,	दिन में ३ बार।
९	नृसिंह पोटली रस	१ रत्ती गोघृत से।	,,	,,
१०	नृपतिवल्लभ रस	योग २ की विधि से।	भैषज्यरत्नावली	,,
११	भुवनेश्वर रस	२ गोली गरम जल से।	,,	६ घण्टे पर।
१२	महागन्धक रस	२ रत्ती भुने हुए जीरे के चूर्ण व मधु से।	,,	दिन में तीन बार।
१३	शंखोदर रस	२ रत्ती भांग चूर्ण समभाग व मधु से।	रसराजसुन्दर	,,
१४	कुटज घनवटी	२ गोली जल से।	सिद्धयोगसंग्रह	,,
१५	जातिफलादि गुटिका	१ गोली (३ रत्ती) मट्ठा से।	योगरत्नाकर	,,
१६	नागकेशरादि चूर्ण	३ माशा जल से।	सिद्धयोगसंग्रह	,,
१७	बृहत् गंगाधर चूर्ण	२ माशा चावल के धोवन के साथ।	भावप्रकाश	,,
१८	वत्सकादि क्वाथ	४ तोला क्वाथ।	चक्रदत्त	,,
१९	कुटजावलेह	६ ग्राम बकरी के दूध से।	शार्ङ्गधरसंहिता से	,,
२०	कुटजारिष्ट	२५ ग्राम जल के साथ भोजन के बाद।	भैषज्यरत्नावली	,,

पंचमूली बलादि—पंचमूल (पित्त की अधिकता में स्वल्प पंचमूल, वात की अधिकता में बृहत् पंचमूल) बरियारा, बेल की गिरी, गुरुच, मोथा, सोंठ, अम्बष्ठा, चिरायता, वला, कुरैया की छाल और इन्द्रयव का क्वाथ पान करने से सन्निपातातीसार में अनेक उपद्रव सहित शीघ्र आराम होता है।

पृश्निपर्ण्यादि—पिठवन, बरियारा, बेल की गिरी, धनियां, नील कमल, सोंठ, विडंग, अतीस, मोथा, देवदारु, कुरैया की छाल के काढ़े में काली मिर्च का चूर्ण मिलाकर पीने से आगन्तुक अतीसार में आराम होता है। परन्तु संतोष एवं धैर्य के साथ-साथ देना चाहिए।

आयुर्वेदिक योगों की विशेषतायें

(१) अगस्ति सूतराज १ रत्ती, त्रिकटु चूर्ण १ ग्राम, शहद ३ ग्राम १ मात्रा खाने से कफ व वातातीसार में फायदा करता है।

(२) नृपतिबल्लभ रस २ रत्ती की १ गोली, जायफल के साथ पानी में घिसकर आवश्यकतानुसार मधु मिलाकर सेवन करने से समस्त प्रकार के अतीसार ठीक होते हैं।

(३ क) कर्पूर रस ३ गोली (२ रत्ती की)
गंगाधर रस १ गोली (२ रत्ती की)
शंख भस्म २ ग्राम

—मात्रा ६

अनुपान—भुने हुए जीरे के कपड़छान चूर्ण २ ग्राम, मधु के साथ सुबह, शाम, दोपहर तीनों समय दिया जाता है।

नोट—यह युवक की मात्रा है बच्चों एवं कमजोर रोगियों को बलानुसार देना चाहिए।

(३ ख) **भोजन के बाद**—कुटजारिष्ट २० ग्राम जल ५० ग्राम में मिलाकर दोनों समय देना चाहिये।

(३ ग) **रात सोते समय**—नारायण चूर्ण ३ ग्राम गरम जल के साथ दें। निश्चय ही फायदा होता है।

सूचना—एक बार की मेरे जीवन की कहानी है कि मैं स्वयं अतीसार रोग से पीड़ित होकर बहुत परेशान था कि भाग्यवश अपने परम दयालु सहायतार्थ श्रीगुप्तेश्वर द्विवेदी वी० पी० एम० के यहां कुछ कार्यवश गया कि उनके यहां सामर (एक प्रकार का हिरण वर्ग जंगली पशु) का मांस बना था, उन्होंने मुझे खाने के लिए प्रेरित किया मैं अतीसार रोग से पीड़ित होने के कारण भय खा रहा था, क्योंकि औषधि में बृ० शंखवटी २ गोली (धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ अलीगढ़) से निर्मित व कुमारी आसव भोजन के बाद प्रयोग कर रहा था। मल बन्धन के लिए दूसरी औषधि प्रयोग करना उचित उस समय नहीं था, मैंने उनके विशेष आग्रह पर मांस भक्षण किया जबकि रात में लगभग मुझे ८–१० दस्त आते थे लेकिन उस दिन मुझे एक बार भी नहीं हुआ, भोजन पश्चात् उपरोक्त दवा का प्रयोग किया था, पुन: उसके बाद प्रतिदिन सौरी नामक मछली (विधिवत पकाकर) व भात १ मास तक खाया, उपरोक्त दवा कर बराबर नियमानुसार चालू रक्खा, उस दिन के बाद से आज तक मैं पूर्ण रूप से स्वस्थ्य हूँ कोई भी रोग मुझे अभी तक नहीं हुआ।

आयुर्वेदिक आसव अतीसार रोग हितार्थ—अहिफेनासव, बबूलारिष्ट।

एलौपैथिक एवं पेटेन्ट औषधि

टेबलेट—

सल्फाग्वानीडीन	टेबलेट	एम० बी०
सल्फा आयोवेल	,,	मार्त्तण्ड
एन्ट्रोजाईम	,,	स्टेडमेड
एन्ट्रोक्विनाल	,,	ईस्ट इण्डिया
इन्ट्रोवायाफार्म	,,	सीवा
फार्मो सीवाजाल	,,	सीवा
मैक्साफार्म	,,	सीवा
सायोस्टेरान	,,	गायगी कम्पनी
सारिल	,,	टी० सी० एफ०

कैपसूल—

इन्टेस्टोपान	कैपसूल	सैण्डोज
क्लोरोकाल स्टेप्टो	,,	मार्त्तण्ड
टायफोस्टेप	,,	स्टैण्डर्ड
इमेटीन	,,	पार्क डेविड
अतीसारघ्न	आयुर्वेदिक कैपसूल	ज्वाला
स्टेप्टो टैराक्सीन	कैपसूल	बोहरिंग नाल

सीरप—

क्लोरोस्टेप सस्पेंशन	पी० डी०
स्टेप्टोपानफोर्ट सीरप	सैन्ड्रोज
मिवासोडीज सीरप	नेफा
एन्ट्रोस्टेप सस्पेन्शन	डेज
स्टेप्टो ग्वीन पाउडर	डेज
स्टेप्टो पैराक्सीन ड्राई सीरप	नाल
इन्टेरोस्टेरिल ससपेन्शन	बंगाल इमिन्युटी

आयुर्वेदिक औषधि एवं अन्य औषधि

डायरिया टेबलेट होमियोपैथिक—आशारूप रिसर्च लेबोरेटरीज यशोदाभवन।

डायरिया पिन्स — होम्योपैथिक

कुर्चीना टेबलेट — आयुर्वेदिक — हिमालय ड्रग।

आयुर्वेदिक इन्जेक्शन

कनकसुन्दर	१ से २ मि० लि०	मांसपेशीगत
अतीसारान्तक	,,	मांसपेशीगत

—जी० ए० मिश्रा आयुर्वेदिक फार्मेसी, झांसी।

कनकसुन्दर १ मि० लि० मांसपेशीगत सप्ताह में दो बार
गंगाधरा ,, ,, ,, तीन बार

—बुन्देलखण्ड आयुर्वेदिक यूनानी रिसर्च, झांसी।

अतीसाराघ्न पूर्ण आराम के लिए ६ इन्जेक्शन मांसपेशीगत—ए० बी० एम०।

कुर्चीनम एक दिन नागा देकर मांसपेशीगत लगाना चाहिए—मार्त्तण्ड।

सूचना—एलौपैथिक दवाओं के साथ विटामिन का प्रयोग करना अनिवार्य है। जिससे दवा में होने वाली विषमता होने का भय नहीं रहता है।

एक अतीसार नाशक एलोपैथिक योग—

सुबह, शाम, दोपहर	मैक्साफार्म	टेबलेट १
	कैपलीन	,, १
	यूनीजाईम फोर्ट	,, १

भोजन के बाद—डेप्लेक्स इलक्जीर २ चम्मच दोनों समय। साथ-साथ एक दिन नागा देकर, होललिवर एक्सट्रैक्ट विदविमामिन बी १२, २ मि० लि० मांसपेशीगत टी० सी० एफ० लगायें।

पथ्याहार—अपक्व अतीसार में उपवास ही प्रशस्त है दुर्बल रोगी के लिए हल्का पथ्य देना अनिवार्य है।

धान के लावे का सत्तू पानी से पतला कर, वार्ली या पानी का साबूदाना, भात या जौ का मांड़। सरिवन, पिठवन, वनभट्टा, कटेली, बरियारा, बेल की गूदी, आकनादी, सोंठ और धनियां यह नव द्रव्य का काढ़े के साथ यवागू बनाकर सब अतीसार में पथ्य दें। पितश्लेष्मातीसार में सरिवन, बरियारा, बेल की गूदी, पिठवन का काढ़ा दें। बातश्लेष्मातीसार में धनियां, सोंठ, का काढ़ा दें। गरम जल ठण्डा हो जाने के बाद दें। प्यास की अधिकता पर धनियां व वार्ली दोनों को जल में औटाकर ठण्डा हो जाने के बाद दें। पक्वातीसार में पुराने महीन चावल का भात, मसूर की दाल, परवल, बैंगन, गूलर, केला आदि की तरकारी, अंगूर, सिंगी आदि छोटी मछली का रसा, चूना का पानी मिलाकर अथवा अतीसार नाशक औषधि के साथ औटाकर दूध आदि पथ्य देना चाहिए। अति जीर्ण अतीसार में दूध ही उपकारी है। परन्तु बकरी का दूध अतीसार में महत्व रखता है। पुराने अतीसार में भुंजा कच्चा बेल या बेल का मुरब्बा, अनार, कसेरु, सिंघाड़ा भोजन में दे सकते हैं।

अपथ्य—अतीसार रोगी को गर्म पेय शीतल हवा तथा अधिक वादी एवं गरिष्ठ वस्तुओं से बचने से वायु का बराबर अनुलोम होता रहे मैथुन, पैदल यात्रा, पूड़ी, कचौड़ी पकवान, दिवा निद्रा आदि वस्तुओं का परहेज रक्खें।

दीपन पाचन चूर्ण

सोंठ, कालीमिर्च, भुना जीरा, चित्रक, सेंधा नमक ये प्रत्येक समान भाग लेकर चूर्ण करें।

मात्रा—३ माशा। **अनुपान**—तक्र। **समय**—प्रातः मध्याह्न और सायंकाल।

गुण—यह साधारण दीपन पाचन में उत्तम है।

—वैद्यवर श्री मुन्नालाल गुप्त, कानपुर।

ग्रहणी दोष या संग्रहणी

(MAL-ABSORPTION SYNDROME)

आचार्य वेदव्रत शास्त्री कासगंज (एटा)

तुलसीदास के सोरोंवासी होने के पुष्ट प्रमाण खोजने में अपना जीवन सतत लगाने वाले प्राचीन वेष, भाषा, भूषा और भावों में आचूड मण्डित परम आस्तिक विद्वान् आचार्य वेदव्रत शास्त्री, कासगंज (जिला एटा) की विद्वन्मण्डली में शिरोमणि वैद्य हैं। आपने अपनी विद्वत्ता और अनुभव से पूरित एक शोभन और प्रयोग में लाने योग्य व्यावहारिक लेख भेज कर अपने सहज औदार्य का परिचय दिया है।

—मदनमोहनलाल चरौरे।

संग्रहणी या ग्रहणी एक ऐसा रोग है जिसका प्रत्यक्ष कारण मन्दाग्नि है। अग्नि के मन्द हो जाने से अन्न का पाचन ठीक-ठीक नहीं होता। कच्चा रस तैयार होता है जिसका परिपाक ठीक से न होने से धातु परम्परा का पालन ठीक से नहीं हो पाता। आयुर्वेदीय फिजियालोजी के अनुसार अन्न + जाठराग्नि = अन्नरस।

अन्नरस + रसधातु

रसधातु + रसाग्नि = पोषक रक्त धातु।

रक्तधातु + रक्ताग्नि = पोषक मांसधातु।

मांसधातु + मांसाग्नि = पोषक मेदोधातु।

मेदोधातु + मेदसाग्नि = पोषक अस्थिधातु।

अस्थिधातु + अस्थ्याग्नि = पोषक मज्जाधातु।

मज्जाधातु + मज्जाग्नि = पोषक शुक्रधातु।

शुक्रधातु + शुक्राग्नि = ओज।

यह रस से लेकर सर्व धातुसार ओजस् तक सारा खेल जाठराग्नि पर निर्भर करता है क्योंकि जाठराग्नि ही धात्वग्नियों को परिपुष्ट करती है।

आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार उपरोक्त शारीरिक क्रियायें तीन सोपानों में पूर्ण होती हैं जिसमें सबसे पहले अन्न का पाचन होता है जिसको एन्जाइमों द्वारा पूर्ण किया जाता है। त्रिविध पाचक रसों में ये एन्जाइम रहते हैं। जो अलग-अलग प्रकार के होते हैं। कोई कार्बोहाइड्रेट पर काम करता है, कोई प्रोटीन, कोई फैट पर। एक ही प्रकार से अन्न पर कम करने वाले एन्जाइम भी कई प्रकार के होते हैं जैसे—प्रोटीन को पैप्सीन एसिड-मेट्राप्रोटीन और पेप्टोन तक गलाता है। उसके आगे ट्रिप्सीन और सक्कस एन्टरीकस के एनजाइम पेपटोन को पोली पेप्टाइड और एमीनो अम्लों तक बांट देते हैं।

दूसरे सोपान में पाचक रसों के एन्जाइमों द्वारा विगलित और परिपाचित पदार्थ महास्रोत की श्लेष्मल कला और आन्त्रांकुरों द्वारा चूस लिया जाता है और रसायनियों द्वारा रस धारा में मिला दिया जाता है वहां से रक्तादि विविध धातुओं को यह रस परिपुष्ट करता है।

तीसरे सोपान में विविध धातुओं का पोषण और बृंहणन होता है।

ये तीनों सोपान क्रमशः पाचन (डाइजेशन) चूषण (एवं जार्पशन) तथा सात्मीयकरण (मेटाबोलिज्म) कहलाते हैं। इन तीनों ही क्रियाओं से मुख के द्वारा खाया हुआ अन्न शरीर के भिन्न-भिन्न भागों और धातुओं के निर्माण में काम आता है। अन्न ही हमारे शरीर में रस-रक्त, मांस, मेद आदि धातुओं का रूप लेता है और उसी के कारण अनेक प्रकार के मल बनते हैं। अन्न और धातुओं के बीच में जो सबसे महत्वपूर्ण कड़ी है वह है जाठराग्नि या पाचक अग्नि। यदि यह अग्नि किसी कारण दूषित हो जाती है तो न अन्न से अन्नरस बनता है और न रस से शरीर की विविध धातुओं का पोषण होता है। परिणामस्वरूप भूख मारी जाती है। अन्न से रस की कम मात्रा बनती है, कच्चा अन्न मल के अन्दर निकलता है जो थोड़ा बहुत अन्नरस बनता है वह भी कच्चा होता है जो शरीर की विविध धातुओं में पहुँचकर बहुत हानि करता है। इस सबके कारण मनुष्य को अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं और उसकी आयु क्षीण हो जाती है। दुर्बलता निरन्तर बढ़ती जाती है और दोषों का प्रकोप आरम्भ हो जाता है।

इसलिये प्रत्येक चिकित्सक को सब अग्नियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण इस जाठराग्नि को मानकर उसे ठीक रखने का प्रयत्न करना चाहिये। इस विषय में चरक के निम्न लिखित श्लोकों का सहज ही ध्यान आ जाता है:—

इति भौतिकधात्वन्नपक्तॄणां कर्म भाषितम्।
अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मतः॥
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः।
तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः॥
पालयेत्प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः।
—च. सं. चि. स्था. अ. १५

इस जाठराग्नि का अधिष्ठान महास्रोत का नाभि से ऊपर वाला भाग है जिसे ग्रहणी कहा जाता है जो अग्नि के बल से उपबृंहित रहती है और अपक्व अन्न को धारण करके उसे परिपक्व रस रूप बनाकर आगे धकेल देती है—

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता।
नाभेरुपरि सा ह्यग्नि बलोपस्तम्भबृंहिता॥
अपक्व धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः।

जब ग्रहणीस्थ अग्नि विविध कारणों से दूषित हो जाती है तब यह अन्न का परिपाक बिना किये उसे कच्चा (आम) ही मुक्त कर देती है। उस अवस्था में ग्रहणी रोग पैदा हो जाता है जो कई प्रकार का होता है।

दुर्बलाग्निबलाद्दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति।
वातात्पित्तात्कफात्सर्वाद्ग्रहणीदोष उच्यते॥

इनमें बात से, पित्त से, कफ से तथा तीनों दोषों से ग्रहणी रोग होता हुआ देखा जाता है।

वातिक ग्रहणी दोष वात प्रकोपक कारणों से पैत्तिक ग्रहणी दोष पित्त प्रकोपक कारणों से और श्लैष्मिक ग्रहणी दोष कफ प्रकोपक कारणों से बनता है। त्रिदोषज में तीनों दोषों के प्रकोपक कारण एकत्रित होते हैं। आयुर्वेदीय शास्त्रों में इन ग्रहणी दोषों के उत्पन्न होने के कारणों का व्यापक विचार किया है। प्रत्येक ग्रहणी दोष का सटीक वर्णन किया है और ग्रहणी दोष में मल का स्वरूप क्या होता है यह स्पष्ट रूप से दिया है। पूरा ही वर्णन प्राचीन आयुर्वेद ने एनाटोमी, फिजियोलोजी, पैथालोजी, क्लीनिकल मैडीसिन और क्लीनिकल पैथालोजी की दृष्टि से स्पष्ट दिया है।

रोगोत्पत्ति के कारण—

ग्रहणी रोग की उत्पत्ति विविध दोष प्रकोपक कारणों से होती है। वात प्रकोपक कारणों में कटुतिक्त कषाय द्रव्यों का सेवन, रूक्ष और सन्तुष्ट भोजन, अतीतकाल भोजन, अनशन, वेगनिग्रह, मैथुन, पित्तप्रकोपक कारणों में कटु, विदाही, तीक्ष्ण, अम्ल, क्षारादि का सेवन, कफ-प्रकोपक कारणों में गुरु अतिशीत, अतिस्निग्ध, अति मात्रा में भोजन आदि आते हैं इनमें से दो-दो या तीन-तीन दोषप्रकोपक कारण मिलकर संसर्गज या त्रिदोषज ग्रहणी की उत्पत्ति करते हैं।

रोग के लक्षण—

ग्रहणी के विविध प्रकारों में कुछ लक्षण तो भोजन के पचन से सम्बद्ध होते हैं। कुछ सार्वदैहिक और कुछ मल सम्बन्धी देखे जाते हैं। इनका विवरण नीचे तालिका में संक्षेप में दिया जा रहा है—

नाम	पचनसम्बन्धी	सार्वदैहिक	मलसम्बन्धी
वातिक	शुक्तपाक जीर्णेजीर्यति चाध्मानम्	खरांगता, कार्श्य, दौर्बल्य, पार्श्व-उरु-वंक्षण-ग्रीवारुक् गृद्धिः सर्वरसानां, मनसः अवसाद, कास, श्वास, विसूची परिकर्तिका आदि।	द्रव, शुष्क, तनु, आम सशब्द, सफेन पुनः पुनः स्रजेद्वर्चः
पैत्तिक	अग्निमान्द्य	पूत्यम्लोद्गार, हृत्कण्ठदाह, अरुचि, तृषा।	पीताभः सार्यते द्रवम्
श्लैष्मिक	तस्यान्नं पच्यते दुःखम्	मधुर उद्गार, हृल्लास, छर्दि, अरोचक, कास, ष्ठीवन, पीनस, अकृशस्यादि दौर्बल्य मालस्यं च।	भिन्नाम श्लेष्मसंसृष्ट गुरुवर्चः प्रवर्तनम्
संग्रहणी			द्रव शीतं घनं स्निग्धं आमं बहु स पैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम्।

रोग की चिकित्सा के सिद्धान्त—

ग्रहणी रोग एक लम्बे समय तक रहने वाला रोग है। इसमें अग्नि की विकृति के कारण २ प्रकार की गड़बड़ी देखी जाती है। एक गड़बड़ी है अन्न के न पचने के कारण कच्चे रस के सारे शरीर में विविध अंग प्रत्यंगों तक चले जाने के कारण उन अंग प्रत्यंगों पर होने वाला प्रभाव जिसे आमज प्रभाव कह सकते हैं। दूसरी गड़बड़ी होती है, अग्नि की विकृति के फलस्वरूप महास्रोत में कच्चे अन्न के देर तक पड़े रहने के कारण होने वाला प्रभाव।

आम का प्रभाव अलग-अलग अंगों पर भी पड़ता है और सार्वदैहिक भी होता है। लिखा भी है—

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव, देशं विशेषेण विकार जातैः।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैराम समुद्भवैश्च॥
सु. उ. तं. अ. ५६

इसलिए ग्रहणी की चिकित्सा में आमदोष को दूर करने के लिए अग्निवर्द्धक, अग्निसंदीपन द्रव्यों का प्रचुरता से सेवन कराना होता है। अग्नि मन्द हो तो उसे तीक्ष्ण करना चाहिए, तीक्ष्ण हो तो प्राकृत बनाना चाहिए और विषम हो तो सम करना चाहिए। मन्दता कफ से, तीक्ष्णता पित्त से और विषमता वात से होती है। इसलिए आवश्यकतानुसार कफघ्न, पित्तघ्न और वातघ्न चिकित्सा का अवलम्बन आवश्यक होता है। इसके लिए प्रकुपित दोष को सुखोष्ण जल पिलाकर सुधारने की शास्त्राज्ञा है—

ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहार मूर्छितम्।
सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवम्॥
आमलिङ्गान्वितं दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्॥
—च. चि. स्था. अ. १५

आम को पचाने के लिए गरम जल अच्छा काम करता है। यदि आम महास्रोत में लीन हो गई हो तो मदनफल, पिप्पलीसर्षप के प्रयोग से उसका स्रावण कराना चाहिए। शरीरानुगत साम वात को लंघलपाचन द्रव्यों से सुधारते हैं। आमाशय से आम को पचाने हेतु पंचकोलादि युक्त पेया देते हैं। दीपन घृतों (त्र्यूषणादिघृत आदिकों) को देते हैं। जब इस तरह थोड़ी भी अग्निदीप्त हो जाय तो सक्षार एरण्ड तैल देकर स्रस्तदोष को बाहर निकाल देते हैं। फिर रूक्ष हुए आमाशय को अनुवासन देकर स्निग्ध करते हैं। निरूहण, विरेचन, अनुवासन का क्रम चलाते हुए हलका भोजन कराते और घृतपान कराते हैं। इससे वातदोषकृत आमदोष दूर होता और ग्रहणीदोष शान्त होता है।

जब अपने ही स्थान में पित्त के उत्क्लिष्ट हो जाने से ग्रहणी बनती है तब उसे विरेचन या वमन द्वारा निकाल देते हैं—

स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टं अग्निनिर्वापकं भिषक्।
पित्तंज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेन वा॥

फिर अविदाही लघु अन्न तिक्तरस युक्त या जांगल-जीवों का मांस रस, मूंग की दाल का पानी आदि देते

हैं। अनार का रस, अग्निसंदीपक घृत योग जैसे चरक संहिता के चन्दनादि घृत का प्रयोग करके पैत्तिक ग्रहणी रोग को दूर करने का उपाय करते हैं।

श्लैष्मिक ग्रहणी के विषय में चरक का निम्न सूत्र काम देता है—

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथा विधि।
कट्वम्ललवण क्षारैः तिक्तैश्चाग्नि विवर्धयेत्॥

मध्वासव, मधूकासव, द्राक्षासव, खर्जूरासव, दुरालभासव आदि विविध आसवों का चरक ने श्लैष्मिक ग्रहणी में खुलकर प्रयोग करने की सलाह दी है।

पिप्पली, पिप्पलीमूल, यवक्षार, स्वर्जिकाक्षार, पांचों लवण, बिजौरानीबू, अभया, रास्ना, शटी, कालीमिर्च और सोंठ के चूर्ण को सुखोदक से लेने से भी कफज ग्रहणी में बल, वर्ण और अग्नि की वृद्धि होती है। क्षार कफनाशक माने जाते हैं चरक ने क्षारघृत और क्षार के विशेष प्रयोग तथा क्षारगुडिका का उपयोग बतलाया है।

त्रिदोषज ग्रहणी में पंचकर्मों का विधान किया जाता है। जो दोष बढ़ा हो उसे घटाकर और घटे दोष को बढ़ाकर दोष समता लाने का प्रयत्न करना आवश्यक होता है।

अग्निसंदीपन के सम्बन्ध में निम्न वाक्य और भी मार्गदर्शक का काम करता है—

ना भोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात्।
यथा निरिन्धनो बह्निरल्पो वातीन्धनावृतः॥
स्नेहान्नविधिभिश्चित्रैश्चूर्णारिष्ट सुरासवैः।
प्रयुक्तैर्भिषजा सम्यग्बलमग्नेः विवर्धते॥

रोगी की तत्काल करणीय व्यवस्था—

धन्वन्तरि का यह वाक्य कि बालक की ग्रहणी साध्य, युवक की कष्टसाध्य तथा वृद्ध की असाध्य होती है। हम चिकित्सकों को रोग की गम्भीरता की ओर आकृष्ट करता है। बालक की ग्रहणी कला दूषित होकर भी नई-नई पुनः-पुनः बनती रहती है, इसलिए कोई समस्या नहीं है। युवकों और उनमें जिनकी आयु बढ़ती चली जाती है, ग्रहणीकला के पुनर्निर्माण में बहुत बाधा आने से ग्रहणी-रोग दूर करना कठिन होता है।

इसलिए रोगी का निदान करके ग्रहणीरोग से पीड़ित है, ऐसा निश्चित हो जाने पर तत्काल उसकी आयु की ओर ध्यान देना चाहिए। उसके साथ ही रोगी को आश्वासन दे देना चाहिए कि उसे निश्चिन्त होकर इलाज करना चाहिए। आश्वस्त रोगी की चिकित्सा करना बहुत आसान होता है।

इसके बाद रोगी के मल का परीक्षण सावधानी से करना चाहिए। लैबोरेटरी में भी मल भेजकर मालूम कर लेना चाहिए कि उसमें कच्चा अन्न कितना है। क्षारीयता या अम्लता में से क्या है। रक्त तो नहीं आता। पूय तो नहीं है, आदि-आदि।

रोगी के घर वालों को कह देना चाहिए कि इसके इलाज में समय लगेगा तथा यह बिल्कुल अच्छा हो जायगा यदि औषध का सेवन और पथ्य का पालन ठीक-ठीक किया गया हो।

रोगी की चिकित्सा बहुत दृढ़ता से करनी चाहिए। सबसे पहले आमपाचन हेतु पंचकोलचूर्ण, चित्रकादिवटी, महाषट्पलघृत, चित्रकघृत या आर्द्रकघृत जिसके सम्बन्ध में वैद्य का अनुभव हो देना चाहिए। कांजी का प्रयोग करने से भूख बढ़ती है, दस्त साफ आता है, वायु का अनुलोमन होता है। कल्याणगुड के सेवन से शोथयुक्त ग्रहणी दूर होती और पुरुषत्व की वृद्धि होती है।

जीर्णग्रहणी रोगियों में कल्प की व्यवस्था अनिवार्यतः आवश्यक होती है। तक्रकल्प, दुग्धकल्प या फलकल्प में जिसका जैसा या जिस पर अनुभव हो उसे प्रयोग कराना चाहिए। रोगानुसार रसपर्पटी, लोहपर्पटी, ताम्रपर्पटी, पंचामृतपर्पटी, स्वर्णपर्पटी, विजयपर्पटी का प्रयोग अकेले या नृपतिवल्लभ, ग्रहणीकपाट रस, ग्रहणीगजकेशरी, लाई रस में से किसी के साथ करा सकते हैं।

पर्पटी की मात्रा, तक्र, दुग्ध या आम के रस की मात्रा धीरे-धीरे उत्तरोत्तर बढ़ाते जाना चाहिए। १ रत्ती से ७ रत्ती तक पर्पटी बढ़ाते हैं। प्रतिदिन या प्रति दूसरे तीसरे दिन १-१ रत्ती बढ़ाकर ७ रत्ती तक ले जाते हैं। ७ रत्ती की मात्रा तब तक देते हैं जब तक रोगलक्षण दूर न हो जायें। रोगी की अग्नि की खूब वृद्धि न हो जाय या रोगी के शरीर भार की खूब वृद्धि न हो जाय। उसके बाद १-१ या २-२ रत्ती करके पर्पटी घटा देते हैं।

नीचे ४ रोगियों पर कृत प्रयोग का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

रोगी नं० १

प्रातः सायं—ग्रहणीकपाट रस अग्निघृत में ।

भोजन के पश्चात्—रामबाण रस, ऊपर से धान्य-पंचक अर्क ।

रात्रि को—ग्रहणीगजेन्द्र वटिका । पथ्य में तक्र ।

रोगी नं० २

स्वर्णपर्पटी, भुनाजीरा, इलायची छोटी के साथ दाडिम शर्करा से ।

दूध के बाद—चित्रकादि वटी । पथ्य—दुग्ध ।

रोगी नं० ३

नृपतिवल्लभ रस प्रातः सायं आर्द्रक स्वरस मधु के साथ ।

भोजन के बाद—लाई रस मट्ठा के साथ ।

पथ्य में—दाल चावल, तक्र ।

रोगी नं० ४ (शोथयुक्त)

दुग्धवटी ग्राही प्रातः—सायं पुनर्नवा स्वरस मधु के साथ ।

दूध के बाद—कल्पलता वटी । पथ्य—दुग्ध ।

अन्न पर रखे हुए रोगियों पर पंचामृत पर्पटी, ग्रहणी गजकेसरी, पूर्णकला वटी के प्रयोग भी सफल रहे हैं ।

पूर्वरूप—

तृष्णा, आलस्य, बलक्षय से युक्त उस व्यक्ति का अन्न परिपक्व न होने पर विदाह का कारण बन जाता है और शरीर में भारापन ले आता है ।

लक्षण—

जब मल अत्यन्त ढीला या बंधा हुआ अथवा द्रव रूप में हो और अधोमार्ग से अपक्व अथवा पक्व अवस्था में दुर्गन्ध युक्त, बार-बार आवे और उसके साथ तृष्णा, अरुचि, मुखविरसता, प्रसेक, तमक श्वास, हाथ पैरों में शोथ, हड्डी के पोरों में पीड़ा, वमन, ज्वर, अम्लोद्गार, गन्ध लौह समान तिक्त एवं अम्लरस संयुक्त हो तो ग्रहणी रोग को समझना चाहिए ।

परन्तु पाश्चात्य वैज्ञानिक ग्रहणी रोग में जिह्वा का शोथ, अजीर्णता इत्यादि मानते हैं । उनके अनुसार यह उष्ण प्रदेश में अधिक होता है । जब रोगी को दस्त आने लगते हैं और वह बराबर खाना खाता रहता है तो यह रोग बढ़ जाता है । कभी-कभी जब लोग पर्वतों पर सैर करने के वास्ते गर्मियों के मौसम में जाते हैं तो यकायक मैदान में आने पर दस्त लगने लगते हैं । विद्वान् डाक्टर उसके कारणों में न जाकर दस्तों के रोकने की चिकित्सा करते हैं तो रोग और बढ़ता है । ग्रहणी का जीवाणु अभी उनके यहाँ निश्चित नहीं हो पाया है ।

प्राचीन ऋषियों ने वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज ग्रहणी को माना है ।

चिकित्सा—

प्रारम्भ में आम को पचाने के लिए पंचकोल का प्रयोग सुन्दर रहता है । साधारण अवस्था में नागराद्य चूर्ण, चित्रकादि वटी का प्रयोग अच्छा रहता है । घृतों में महाषट्पलक घृत और चित्रक घृत, आर्द्रक घृत आम का पाचन करते है और क्षय, कास, क्रिमि युक्त ग्रहणी में लाभ पहुँचाते हैं । उपाय कांजी का प्रयोग इस देश के साधारण प्राणी को बड़ा हितावह है । इससे भूख लगती है, दस्त साफ आता है, वायु का अनुलोमन होता है और कोष्ठगत आमशूल नष्ट होता है । कल्याणगुड के सेवन से शोथयुक्त ग्रहणी श्वास, कास का विनाश होकर पुरुषत्व की वृद्धि होती है ।



संग्रहणी श्वेतातिसार

मौथा, लौंग, जायफल, इन्द्र जौ, कपूर, और हिंगुल बराबर-बराबर लें जम्बीरी द्राव की भावना दें और ३-३ रत्ती की गोली बनालें । पूर्ण मात्रा २-२ गोली दिन में तीन बार गरम जल से दें, अत्यन्त लाभकारी है ।

—डा० आशानन्द पञ्चरत्न आयुर्वेदाचार्य *M. B. B. S.*

(व्याधि-विज्ञान से)

यकृत विकार चिकित्सा

श्री पुण्यनाथ मिश्र आयुर्वेदाचार्य, रामानन्द दातव्य औषधालय कलकत्ता

यथा नाम तथा गुण के अनुकूल लेखक महोदय श्री पुण्यनाथ मिश्र ने प्राणीमात्र के कल्याण का सूचक आयुर्वेद आचार्य कक्षा तक पढ़ा है स्त्रीरोग तथा बालरोगों में विशेष अध्ययनानुभव प्राप्त किया है। आप अनुसन्धानात्मक दृष्टि बिन्दु रखते हुए चिकित्सा-कार्य में संलग्न रहते हैं। सुधानिधि के प्रति आपका विशेष मोह है। वे चाहते हैं कि सुधानिधि वैद्य-समाज की आकांक्षाएं, खोज, शंकाएं सदैव पूर्ण करता रहे इस दिशा में सतत प्रयत्नशील रहने के लिए उनकी प्रेरणा उनके अपने विद्वत्ता तथा अनुभवपूर्ण लेख के माध्यम से साकार हो उठी है। यकृद्विकार पर यह बड़ा और अच्छा लेख है। इसके कई निर्णय और विचार लेखक के अपने हैं।
—मदनमोहनलाल चरौरे।

यकृत् *(Liver)* ग्रन्थि—रक्त निर्माणक, पाचक-रसोत्पादक, पित्तजनक, निर्विषीकरण की क्रिया को करने वाला "यः क्रयते, सैव यकृतः" जो उपर्युक्त कामों को निरन्तर करता रहता है, वही यकृत् है।

यह प्राणी के उदर में दायें भाग में रहने वाली सबसे बड़ी ग्रन्थि है, यह उदरस्थ (उदर के ऊपरी भाग वक्ष-उदर के मध्य भाग के नीचे पसलियों की आड़ में रहती है।

स्वस्थ मनुष्य के यकृत् दाहिनी ओर वक्ष के ऊपर दहिना भाग में ही एक फुफ्फुस और बायें हृदय रहते हैं। यकृत् का वजन १½ सेर के लगभग होता है। नवजात शिशु के यकृत् का भार उसके शरीरके भार से निशवत १:२० से १:१८ तक होती है। गर्भावस्था में भी अपेक्षाकृत बड़ा होता है।

यकृत् का रङ्ग—गहरा सुर्खी मायल, भूरा *(Brown)* स्पर्श में मुलायम *(Soft)* और कोमल *(Smooth)* होता है।

लम्बाई—८ से १० इंच तक होती है, इसका दाहिना भाग मोटा और कुछ चौड़ा होता है, और बायां भाग पतला एवं चपटा होता है। इसकी ऊंचाई ६ से ७ इंच और चौड़ाई ४ से ६ इंच होती है।

जब इसमें विकार उत्पन्न होता है तो यह पसलियों के निचले भाग तक उतर आता और उदर-दीवार को अंगुलियों से दबा कर सहज रूप में स्पर्श कर लिया जाता है, जैसा कि चिकित्सक लोग करते हैं।

यकृत् का रूप—इसका अधोभाग सबसे चौड़ाहोता है और अवशेष भाग चार पृष्ठों में उभड़े हुए होते हैं,

यकृत् प्रणाली की सामूहिक अवस्थाः—

परिचय—

१—आमाशय, २—प्लीहा, ३—क्लोम, ४—यकृत्, ५—पित्त, का एक संग्रही सम्बन्ध है।

पित्त और यकृत् का अभेद सम्बन्ध है किन्तु पित्त ऊष्मा (गर्मी) से भरपूर रक्त को संचार करता और आमाशय को पाचक रस देकर पूर्ण रूप से आहार को घुलाता है और पित्त की ऊष्मा से भर पूर ताप देकर पाचक पित्त द्वारा आहार को पकाता है।

वही पाचक पित्त सप्तधातुओं का क्रमशः रस से रंजक रक्त, रक्त से मांसधन, मांसघन से स्रवित तरल मेद (चर्बी) तरल मेद से श्वेतसार अस्थि और अस्थि से द्रवित सारतत्व 'मज्जा' एवं मज्जागत पाक होने पर निर्मल एवं शारीरिक सारतत्व शुक्र (वीर्य) का प्रादुर्भाव होता है, इसका मुख्य यन्त्र हमारे शरीर के यकृत् से प्रेरित पित्त है।

यकृत् के कार्य—

१—यकृत् में पित्त का निर्माण होता है।

२—यकृत् अधिक शर्करा रक्त में नहीं जाने देता।

३—शर्करा से शर्कराजन की सृष्टि होती है, यह वस्तु यकृत् के सैलों में रहती है, जब शरीर में शर्करा की कमी होती है तब उक्त शर्कराजन से फिर शर्करा बन जाती है। समझ में यह आता है कि यकृत् शर्करा का सीमित हिसाब रखता है।

४—मूत्र में जो यूरिया और यूरिकाम्ल तैयार होता है, तथा अम्ल नाम का यौगिक स्राव यकृत् से ही होता है।

५—कभी-कभी आहार-विहार की वैकृति से हमारे शरीर में विशेष कर अन्नपाक के मार्ग में कुछ विषैले तरल पदार्थ बनते रहते हैं। जब ये पदार्थ यकृत् में पहुँचते हैं तब यकृत् उनको निर्विष करता है।

यह निश्चित है कि यकृत् शरीर के लिए परमावश्यक अंग है, प्लीहा, हृदय, फुफ्फुस, आमाशय तथा पित्ताशय सभी यकृत् से समन्वित अंग हैं, इसमें रोग होने से यानी यकृत् के विकृति होने से ही इन अंगों में रोग उत्पन्न होते हैं।

यकृत् रोगों का कारण—

आयुर्वेद में यकृत् का ज्यादा जिक्र न कर पित्त का विस्तार रूप से वर्णन किया गया है, जो पित्त के लिए कारण हो सकता है वही यकृत् का भी समझना चाहि[ए] जैसा कि इसके कारण से बोध होता है—अधिक व्याया[म] अधिक अम्ल, या लवण रस भूयिष्ठ (लवण रस यु[क्त] पदार्थ) मद्य, मिट्टी का खाना, अधिक दिन में सोना, तेज-तीक्ष्ण पदार्थ (मिर्च, मसाले, क्षार आदि) का सेवन करने वाले मनुष्य का पित्त दूषित होकर रक्त को दूषि[त] करता हुआ समस्त शरीरगत रोग उत्पन्न कर देता है।

उपर्युक्त कारणों के आधार पर यकृत् खण्ड में उत्ते[]जना होती है और उसमें बाइल (पित्त) का निर्माण ब[न] जाता या उचित मात्रा में नहीं बन पाता, अथवा अधि[क] गर्मी हो जाती किम्बा गर्मी का अभाव हो जाता है जिससे पाचक रस एवं अम्लरस निर्माण यकृत् महाशि[रा] के द्वारा रक्ताणु संचालन से उसमें सूजन आ जाने [के] कारण नहीं हो पाता। अतएव, रक्त की गति में शिथिल[ता] आ जाती है और मनुष्य आलस्य में निरन्तर पड़ा रह[ता] है रक्ताणुओं में जलीयांश के बढ़जाने से यकृत् की कार्यक्षमता की कमी हो जाती है।

यकृत् में सूजन हो जाने से पित्त, धमनी, आमाश[य] आदि स्थानों से उसका सम्बन्धमार्ग स्तब्ध हो जाता और उससे सम्बन्धित रास्ते भी अवरुद्ध हो जाते जिससे यकृत् का आवश्यक कार्य रुक जाता और शरी[र] पोषक रस रक्त दोनों का निर्माण बन्दसा हो जाता है।

विशेषतः—यकृत् रोग का कारण यह होता है असमय में भोजन तीक्ष्ण (तेज) एवं लवण तथा क्षार पदार्थ का निरन्तर सेवन करने से यकृत् में उत्तेजना हो[ती] है और उससे बने याकृतीय पाचक रस दुर्जर, दाहज[नक] तरल का निर्माण करता है जिससे पित्त विशेष उत्ते[जित] होकर रक्ताणुओं में प्रदाहयुक्त पाण्डु वर्ण का रक्त निर्मा[ण] करता और महाशिरा-शिरा और शिराजाल के द्वारा म[] तक पहुँचता हुआ सप्तत्वचान्तर्गत पीताभ हो जाता है उ[से] को हम पाण्डु, कामला, हलीमक आदि यकृत् के कार[ण] भूत रोग समझते हैं।

अधिक उपवास, अल्पाहार, रूखे भोजन के निरन्त[र] सेवन से पराभूत यकृत् में पोषण रस की कमी के कार[ण] अथवा अध्यशन (भोजन पर फिर भोजन) बासी पदा[र्थ] अधिक मीठा या अधिक गरिष्ट (देर से हजम होने वाल[े]) भोजन के निरन्तर सेवन से आध्मान (पेट का फूलना

ज्वर, शोथ (सूजन) अग्निमान्द्य, अरुचि मन्द-मन्द ज्वर होना, रक्ताल्पता, शरीर का रंग पीला पड़ जाना, यकृत् प्लीहा में सूजन, और प्रदाह होना, शीतयुक्त एकाहिक (प्रतिदिन का ज्वर होना) द्वितीयक ज्वर (दूसरे दिन पर) तृतीयक (तीन दिन पर) चातुर्थिक (चार दिन पर) आदि पारी से आने वाला ज्वर का होना, शरीर सूख जाना, पेट बढ़ जाना आदि कारणभूत यकृत् की स्थिति से हो जाती है।

आधुनिक मत—

अर्वाचीन विद्वानों का कहना है कि मनुष्य के बाल्य-काल में यकृत् का विकार ज्यादा इस लिए होता है कि उसका यकृत्कोष अपरिपक्व होता है। उनमें पुनर्जनन (*Regemeration*) की क्षमता कमजोर होती है। अतः बाल्यकाल में यकृत् रोग जोर पकड़ लेता है और यह रोग कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है।

यकृत् में मेद का अन्तः संचरण नामक विकार बच्चे में अधिक मिलता है, अधिक तर भोजन की कमी उपसर्ग एवं विषाक्त भोजन के प्रभाव से होता है। छोटे बालक में यकृत् कोषाणु निष्क्रिय (*Neutra*) मेद के कणों से भर जाता है और यकृत् बढ़ जाता है तथा मृदु (मुलायम) रहता है। इसके आभ्यान्तरिक यकृद्दाल्यूदर *Cirrhosis of Liver)* औपसर्गिक यकृच्छोथ तथा जन्मजात अन्य यकृत्स-म्बन्धी, शिशु कामला, सहज कामला पारिगर्भिक या दोहृद-दुग्धदोषजन्य कामला शरीर में लौह की कमी, केल्सियम के साथ खाद्यपौष्टिक की कमी तथा पाचक रस की कमी के कारण यकृत् अक्सर बिगड़ जाता है और भयानक रोग उत्पन्न करता है। आहार के विषय में प्राचीन अर्वाचीन दोनों का समान ही कारण है।

यकृत् रोगों के मुख्य लक्षणः—

जिस मनुष्य की यकृत् प्रणाली बिगड़ जाती है, उसके पित्त की क्रिया भी बिगड़ जाती है और उससे विकृत पाचकाग्नि मन्द पड़ जाती है, जिससे भोज्य, भक्ष्य, चर्व्य और लेह्य ये चार प्रकार का आहार ठीक से हजम नहीं हो पाता और निरन्तर उदर वायु (पेट का फूलना) कच्चे-पक्के मल का निकलना, पतले दस्त और कब्ज रहना अरुचि, फेनिल, पीले, लाल, सफेद तथा हरे रङ्ग के दस्तों का होना आदि यकृत् (*Liver*) की खराबी का मुख्य लक्षण है।

जिसको यकृत् प्रणाली तेज होकर अधिक पाचक रस का उत्पादन करने लगती और पित्त का तापमान तेजी से बढ़ कर मल को सुखा देती और यहां तक कि रस को भी शोषण कर लेती है। रोगी को हमेशा कब्ज की शिका-यत रहती है। मन्द-मन्द ज्वर होता, शूल, तथा आंतों में मल का जमाव हो जाता है। पेट बड़ा हो जाता है, पेट पर हरे रंग की नसें उभर आतीं, आलस्य, सुस्ती, आंख, नख, मल, मूत्र, पीला हो जाता है, अधिक प्यास लगती, वमन होता, अरुचि, मिट्टी खाने की इच्छा तथा शरीर पीला पड़ जाता है। पीला देखता पित्त का अधिक पीताभ रक्त कण में मिश्रित होकर पीला हो जाता इसी को वैद्य लोग कामला पाण्डु, और हलीमक आदि संज्ञकरोग कहते हैं। जो यकृत् (*Liver*) की उग्रक्रिया से होता है।

ज्वर का अनियमित बढ़ना, घटना, पारी से शीत या जाड़ा देकर बुखार का आना और पसीना देकर चला जाना। हाथ, पांव में सूजन, रक्ताल्पता, अरुचि, मन्दाग्नि या अधिक खाने की इच्छा। पेट का निकल जाना, पेट हृदय हाथ पैर के तलवों का हमेशा गरम रहना, शिर भारी ये लक्षण यकृत् के बढ़ जाने से प्लीहा भी प्रभावित होकर सूज जाती है और दोनों मिलकर शरीर का रक्त चाट जाते हैं।

नये मत के नये लक्षण—

यकृत् विकृत पित्त नलिका के सहज रूप में अवरोध से उत्पन्न कामला शिशु में पाया जाता है, जिसका लक्षण विशेषतः—पाखाना मिट्टी के समान रंग का होता, मूत्र गाढ़ा और पीला, यकृत् बढ़ जाता एवं कड़ा होजाता है।

यकृत् विकृत होकर सूज जाता है जिससे उत्पन्न पाचक रस नहीं बन पाता और पित्त को पाचक रस नहीं मिलने से मन्दाग्नि हो जाती है और रक्ताणुओं में पाचक रस-रंजकपित्त कमजोर होकर रक्ताश्रित जलीयांश बढ़ा देता है और शरीर में सूजन हो जाती है। इसी को शोथ कहते हैं। शोथ (सूजन) शरीर को निःशक्त



बना देता है, अरुचि, मन्दाग्नि आदि की शिकायतें हो जाती हैं, ये लक्षण वृद्ध और बालक दोनों के लिये कष्ट-साध्य या असाध्य माने गये हैं।

यह निश्चित है कि यकृत् पित्त का निर्माण करता है और पित्त सम्बन्धी जितनी बीमारियां होती हैं वे यकृत् दोष से ही होती हैं, जैसे—आमाशय को यकृत् के द्वारा पित्त निर्माणक ऊष्मा से अन्नपाक होता है इसलिये जाठराग्नि सम्बन्धी जितनी बीमारियां होती हैं वे भी विशेषकर बच्चे को ही हुआ करती हैं।

यकृत् दोष बच्चे में ज्यादा होता है इसलिये कि उसमें यकृत् का कार्य बड़ी तेजी से होता रहता है और यकृत् बड़ा नाजुक होता है, थोड़ी सी गबबड़ी होने से बिगड़ जाता है और विकार पैदा कर देता है।

उपसर्गज यकृत् शोथ (*Infective Hepatitis of Catarrhal Joundice)* जो कि ४ वर्ष के बच्चे से १० वर्ष के बच्चे तक में बहुधा देखा गया है। यह रोग अधिक शीतकाल में उमड़ता है, रोग की उत्पत्ति निश्पन्द विषाणु (*Belterble Virus*) अधिक भाग में मिलते हैं। ये विषाणु पीड़ित बच्चे के मल-मूत्र के साथ मिश्रित रक्त निकलता है। बच्चा बार-बार थूक फेंकता रहता है और रक्तवारि (*Serum*) में मिश्रित रक्ताणु पाया जाता है। यह रोग दूषित मल पेय आदि पदार्थ के दूषित होने पर फैलता है और स्कूल तथा परिवार में फैलने वाला वह सांसर्गिक रोग है।

इस रोग में पाचन क्रिया मन्द पड़ जाती है, भूख मिट जाती है जिह्वा, मल-मूत्र दाहयुक्त हो जाता है मन्द-मन्द ज्वर रहता है।

उदर में हल्की पीड़ा होती है, वमन होता, विबन्ध रहता और कभी-कभी पतले दस्त भी हो जाते हैं, मल का रंग मिट्टी के रंग–(*Clay coloured*) के समान होता है। नेत्र, नख, मल-मूत्र, जिह्वा पर पहले ही पीलापन लक्षित होता, और त्वचा भी पीली पड़ जाती है। यहां तक कि कपड़े पर मल-मूत्र का दाग पड़ जाता है। नाड़ी की गति धीमी पड़ जाती है, त्वचा पर खुजली चलती है ये लक्षण प्रगट होने पर यकृत् दो से तीन अंगुल बढ़ जाता है और दबाने से मालूम हो जाता है। यह रोग यकृत् में पाचक रस के अधिक मात्रा में बढ़ जाने से पित्त की मात्रा बढ़ जाती है और रोग भी बढ़ जाता है।

यही लक्षण जब उग्ररूप में दिखाई देता है तो समझ लेना चाहिये कि रोग जटिल है और अन्त में यकृत् संकुचित होने लगता है एवं उसका परिगलन *(Necrosis of the Liver)* के कारण रोगी की मृत्यु भी हो जाती है।

यकृदाल्युदर—

आयुर्वेदानुसार—मनुष्य के दाहिने भाग में यकृत् के बढ़ जाने से यकृदाल्युदर समझना चाहिगे जैसाकि कहा गया है—

"सव्यान्य पार्श्वे यकृति प्रवृद्धे ज्ञेयं यकृदाल्युदरं तदेव"
(चरक चिकित्सा स्थान)

(१) किन्तु नये मतानुसार इस रोग में भी कामला होती है क्योंकि इसमें पित्तवाहिनी निरोधजन्य हो जाती है।

(२) पोर्टल *(Portel)* संवहन की कमी से यह शोथ एवं जलोदर जैसे लक्षण प्रगट होते हैं।

(३) यकृत् कौशिका के व्यपजनन से (*Wilson's disecse*) इनमें वात के लक्षण, मस्तिष्क दौर्बल्य (*Mental Retardation)* और आकर्ष (*Torsion spasm*) आदि की विशेषता रहती है।

इस रोग में यकृत् के प्राकृतिक कोषाणु नष्ट हो जाते हैं और उसके स्थान पर सूत्र बन जाते हैं, ये सूत्र विकार के होने से बनते हैं और जितनी कोषाणु नष्ट होते जायेंगे उसी अनुपात से स्थानिक सूत्र या तन्तु (*Fibrosis*) भी हो जाता है।

बहुखण्डीय यकृदाल्युदर कभी-कभी अविकृत होकर यकृत् कोषाओं के मिलने से इनमें वृद्धि होकर यकृत् गांठ-दार बन जाता है जैसा कि कई रोगियों को देखा गया है। संक्रमणीय यकृच्छोथ के परिणाम में ऐसा हो जाता है।

जिस बालक या युवा को यह रोग होता है उसकी वृद्धि रुक जाती है कद नाटा हो जाता है, उदर बढ़ जाता है, दाहिना भाग यकृत् के बढ़ जाने के कारण दबाने से दर्द नहीं होता, किन्तु उदर के ऊपरी भाग पर शिरायें उभड़ी नजर आती हैं। इस रोग में स्थायी रूप से कामला और जलोदर की शिकायत रहती ही है, यह रोग पुराना होने पर मृत्यु के सिवा कोई चिकित्सा नहीं हो सकती।

उपसंहार—

कामला या पाण्डु आदि यकृत् (*Liver*) दोष के विषयों में आयुर्वेद भाष्यकार ने केवल पित्त का ही जिक्र किया है।

चिकित्सा का सिद्धान्त—

यकृत् रोग के प्रकट होते ही—पित्त शामक पदार्थ का प्रयोग नित्य नियमित करा देना चाहिये। यदि यकृत् में पाचक रस अधिक मात्रा में नहीं बन पाता तो पित्त वर्द्धक उपचार करना चाहिये। और यदि यकृत् का पाचक रस उचित से अधिक बनता है तो शीतल और पौष्टिक उपचार करना आवश्यक होता है। यकृत्शोथ के लक्षण देखते ही अपकर्षण कियायें जैसे तीक्ष्ण और उष्ण क्रियाओं के द्वारा शोथ और ज्वर का समन करना चाहिये। यकृत् का विकार पित्त के द्वारा ही प्रकट होता है स्वयं यकृत् के सक्रिय या निष्क्रिय का लक्षण पित्त के द्वारा अन्नादि पाकक्रिया से ही प्रगट हो जाता है अतः यकृत् रोग से बचने के लिये बच्चे-गर्भवती-स्त्री या पुरुष मिट्टी खाने की यदि चाट हो तो शीघ्र छुड़ा देना आवश्यक होता है। अधिक खट्टा, अधिक नमक, अधिक कटु (कड़ुए) अधिक क्षार, बज्रक्षार, यवक्षार सज्जिक्षार आदि क्षारीय द्रव्य, नौसादर, सोड़ा, शंखद्राव आदि आग्नेय पदार्थ जैसेः—भांग गांजा, अफीम, कुचला, धत्तूरा, तूतिया, मैनशिल, करवीर, सेंहुड़ आदि विषोपविष का अशुद्ध शोधन जनित सेवन से यकृत् रोग का प्रादुर्भाव होता है इससे मिश्रित औषधियां बड़ी सावधानी से यकृत् रोगों में प्रयोग करनी चाहिये जैसे—पेट दर्द पर महाशंखद्राव या शंख-द्राव, अग्नितुण्डीवटी, विषमुष्टिकावटी और क्षार एवं क्षारयुक्त प्रयोग यकृत् रोगी के बालक, वृद्ध, गर्भिणी तथा सुकुमार प्रकृति वालों को कदापि नहीं देना चाहिये।

यदि पित्त की कार्य प्रणाली बढ़ गयी है और कामला कुम्भकामला, हलीमक और यकृदाल्युदर का शिकार हो गया है ऐसे रोगी को, त्रिफला, गोमूत्र और आरग्वधादि काढ़े का प्रतिदिन प्रयोग करना हितकर है, क्योंकि इससे हल्का विरेचन होकर कब्ज दूर हो जाता है।

जिसको यकृत् से पाचकरस की कमी के कारण पित्त का तापमान कम गया है और पाचन प्रणाली खराब हो गई है तो उसे त्रिकटु (सोंठ-मिर्च-पीपल) से युक्त सैन्धव नमक और अर्क अजवायन के साथ देना हितकर होता है।

यकृत् संस्थान में सूजन हो जाने से नित्य प्रातः खाली पेट गोमूत्र का प्रयोग १४ मिलीग्राम तक समान जल के साथ देने से शीघ्र ही यकृत् की सूजन मिट जाती है।

(क) यकृत् के बढ़जाने या पाचकाग्नि की कमी के कारण से होने वाले मन्दाग्नि, अरुचि, आध्मान, तथा वमन (*Bomiting*) आदि विकार में तुरन्त रोगी को नमक छोड़ देना चाहिये, और गिलोय से बने काढ़े के साथ गोमूत्र और जीरा तथा गोलमिर्च का मिश्रण प्रातः सायं ४ से ५ तोला अवस्था और उमर के अनुसार देना चाहिये।

(ख) १ आनाभर ७५० मिलीग्राम भांग, ७५० मिलीग्राम गोलमिर्च ७५० मिलीग्राम जीरा ५० ग्राम जल के साथ पीसकर प्रातः सायं पीने से अग्नि तीक्ष्ण होती है, आहार अच्छी तरह हजम हो जाता है और पित्त की क्रिया सीमित हो जाती है।

यकृत् शोथ पर—

गदहपूरना कच्चा १ तोला, सूखा आधा तोला, हरड़ आधा तोला, दारुहल्दी आधा तोला, गिलोय आधा तोला। आधा सेर जल से काढ़ा बनावें, आधा पाव जल शेष रहने पर उतार लें और उतना ही गोमूत्र मिलाकर मिक्सचर तैयार कर लें सुबह शाम नित्य बनाकर प्रयोग करें सात दिन में सूजन मिट जायगी और रोगी का यकृत् विकार नष्ट हो जायगा।

नं० २ में आइये—

पुनर्नवा (गदहपूरना) कच्चा १ तोला, गोमूत्र के साथ पीसकर ४ तोला प्रातःकाल खालीपेट पीने से यकृत्-शोथ (सूजन) शीघ्र मिट जाती है।

(क) यकृत् विकारजन्य, अधिक पाचक रस बनने के कारण मलबन्ध (कब्ज) भस्मक रोग (भूख पर भूख लगना) पित्त के द्वारा अधिक पीताभ का रक्त में उद्रेक उसके उपद्रव पाण्डु, कामला आदि रोगों पर नमक छोड़ देना चाहिए। प्रातः १ तोला त्रिफला ठण्डा जल या

शर्बत के साथ देना हितकर है। धारोष्ण गोदुग्ध १ पाव में १ पाव ताजा पानी मिलाकर मिश्री के साथ पीना हितकर है।

(ख) दारुहल्दी १ तोला, शिवलिङ्गी १ तोला, बिल्व पत्र १ तोला, मिश्री ३ तोला सिल पर महीन पीस कपड़छानकर शर्बत बनाकर प्रातः सायं पीने से उपर्युक्त रोग मिट जाता है। शर्बत गोदुग्ध के साथ बनाना श्रेय है।

(ग) हर्रे [पांच रेखा वाली अभया], आंवला, गिलोय बला [वरियार] प्रत्येक ½ तोला को कूटकर १ पाव पानी में रात को भीगने दें। सुबह उठते ही उक्त दवा को मलकर छान लें और उतना ही गाय का दूध और इच्छानुसार मिश्री मिलाकर पीलें।

(घ) अमलतास की मज्जा ½ तोला, त्रिकटु चूर्ण ½ तोला, इक्षुरस (गन्ने का रस) १ पाव अथवा आंवला स्वरस १ पाव के साथ नित्य पीने से कुछ दिनों में ही कामला पाण्डु चला जाता है।

१–जैसा कि चि० स्था० अ० १६ में श्लोक ५७ पर चरकाचार्य ने कहा है—

आरग्वधं रसेनेक्षो विदार्यामलकस्य च।
सत्र्यूषणं बिल्वमात्रं पिवेन्ना कामलापहम्॥

दूसरा–बिल्वपत्र २ तोला, त्रिकटु ½ तोला को पीसकर ईख का रस १ पाव के साथ पीने से कामला चला जाता है।

२–चरक चि० स्था० अ० १६ श्लोक ६९ में कृष्णात्रेय ने इस प्रकार कहा है कि—

त्र्यूषणं त्रिफला मुस्त, विडङ्गं चित्रका समाः।
नवायो रजसो भागस्तच्चूर्णं क्षौद्र सर्पिषा॥

अर्थात्—त्र्यूषण (सोंठ, कालीमिर्च, पीपल), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), मोथा, बायविडङ्ग, चित्रक प्रत्येक समान भाग और लौहभस्म ९ भाग मिलाकर १ रत्ती से ४ रत्ती मात्रा में मधु से चाटकर या गौघृत के साथ सेवन करें।

३–पुनः चरकाचार्य के अनुसार चि० स्था० अ० १६ श्लोक ९७ में कामला नाशक योग जो यकृत् रोग नाशक भी है, इस प्रकार कहा है—

तुल्या अयोरजः पथ्या, हरिद्राः क्षौद्रसर्पिषा।
चूर्णिताः कामिली लिह्यात् गुडक्षौद्रेण वाऽभया॥

अर्थात् लौहभस्म, हर्रे, हल्दी समानभाग मिश्रित चूर्ण मधु और गोघृत विषम (कमवेशी) मात्रा में ३ रत्ती से ६ रत्ती दवा मिलाकर सुबह-शाम चाटने से कामला रोग चला जाता है।

आधुनिक मत से कामला (*Jaundice*) की चिकित्सा—

(१) रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए।

(२) 'प्रोटीन' एवं कार्वोहाइड्रेट प्रचुर मात्रा में देना हितकर है।

(३) वार्ली या लेमोनेड मिश्री और ग्लूकोज प्रचुर मात्रा में देना चाहिए।

इन रोगों में चर्वी, घी तथा तेल का प्रयोग भोजन में हानिकारक है। मलाई निकाला दूध, दही, फलों का रस मुरब्बे, फल और हल्के भोजन देना चाहिए।

इस रोग में कब्जियत मिटाने के लिए कैरोमल (⅓ ग्रेन) दिन में तीन चार बार सोडावाई कार्ब मिलाकर देना चाहिए।

बालकों को कामला होने पर गुडूची सत्व ३७५ मिलीग्राम शंखभस्म ६२ मिलीग्राम मिलाकर दिन में तीन चार बार देना चाहिए, मधु या मक्खन के साथ।

अगर पेट साफ न हो तो अमलतास, मुनक्का, गुलकन्द, किसमिस, इनका समभाग १ भर (१२ ग्रा.) कुचलकर ४ भर पानी में काढ़ा बना १ भर पानी शेष रहने पर उतार छान ½ भर सुबह ½ भर साम को देने से उपरोक्त शिकायत मिट जाती है।

दारुहल्दी का चूर्ण ¼ भर (३ ग्राम) मिश्री मिला दूध के साथ सुबह शाम पिलाना हितकर है।

यकृत् शोथ पर—

(क) पुनर्नवा (गदहपूरना) रस १ तोला से ¼ तोला अवस्थानुसार मधु के साथ २ बार दें।

(ख) "शोथारिलौह" १ से २ गोली १ भर गदहपूरना के रस के साथ भी दे सकते हैं।

(ग) पुनर्नवादि लौह, प्रवालभस्म दोनों मिश्रण कर ३७५ मिलीग्राम देना चाहिए। छोटे बच्चे को १ रत्ती मधु या गदहपूरना के रस के साथ दें।

पथ्य—आयुर्वेद और अन्य आधुनिक विचारों का समान ही विचार है—फल, मूली, मूंग की दाल, पुराना चावल का भात, गेहूं, पपीता, करेला, परवल का शाक आदि हल्के सुपाच्य भोजन ही देने चाहिए।

ठीक यही उपचार, औषध और पथ्य 'यकृत्दाल्युदर' में भी होना चाहिए।

यकृत् दोषजन्य विषमज्वर चिकित्सा—

पथ्य—पीपल, त्रिफला, मलाई उतारा हुआ दही, छाछ, गाय का घी और पंचगव्य (गोदुग्ध, दही, घी, मूत्र और गोमय) नियमित रूप से १ तोला से २ तोला बच्चे को ¼ तोला देना हितकर है।

जैसा कि चरकाचार्य ने चि० स्था० अ० ३ पर श्लोक ३०२ में इस प्रकार कहा है :—

"पिप्पल्यास्त्रिफलायाश्च दध्नस्तक्रस्य सर्पिषः।
पञ्चगव्यस्य पयसः प्रयोगो विषमज्वरे ॥"

किन्तु मेरा अनुभव यह है कि मैंने विषमज्वर के इस प्रयोग पर अपूर्व सफलता पाई है :—

विषम ज्वरान्तक लौह (भै० र०)		—३ ग्राम
गिलोय सत्त्व		—३ ग्राम
यकृदरिलौह	(भै० र०)	—३ ग्राम
महा सुदर्शन चूर्ण	(शा० सं०)	–२५ ग्राम

मिश्रण कर पूरी मात्रा–२५ पुड़िया, बनावें बच्चे के लिये सब की ५१ पुड़िया बनावें। मधु से चटाकर ऊपर ४ चम्मच से १ चम्मच गोमूत्र पिला देने से १ हफ्ते में विषमज्वर, यकृत् के विकारजन्य ज्वर चला जाता है।

(२) रोहितकारिष्ट (पा० भै० र०)

४ से २ चम्मच समान जल से भोजन के बाद दिन और रात में—

यकृत् विकार जन्य मन्दाग्नि पर—मेरा अनुभव—

(१) अग्निकुमार रस (पा० भै० र०)

१ से २ गोली जल के साथ सुबह शाम दो बार या भोजन के बाद।

(२) क्रव्यादि रस, शंख भस्म—१ से ४ रत्ती मिश्रण मट्ठा के साथ दो बार।

(३) जीरा पाक—१ तोला से ¼ तोला जल के साथ।

नं० २ अजीर्ण (अफारा) पर—

(१) अजीर्णारि रस (पा० सि० यो० सं०)

नीबू के रस या चुक्र के साथ भोजन के बाद या जब पेट में गैस मालूम हो, १ से २ गोली।

(२) लवणभास्कर, शंख भस्म, शु० कल्मी सोड़ा—½ भरी, ¼ भरी गरम जल से देना हितकर है अथवा दही के मट्ठे के साथ।

नं० ३ अतीसार (पतले दस्त) पर—

(१) रामबाण रस (भै० र०), पीयूषवल्ली रस (यो० र०)—दोनों की १–१ गोली एक साथ सुबह, शाम, दोपहर ठंडा जल या मठ्ठा के साथ।

नं० २ भोजन के बाद—

कुटजारिष्ट—१ से ४ चम्मच समान जल से।

यकृत् में शोथ और रक्ताल्पताजन्य यकृत्-विकार पर—

नं० १–पुनर्नवादि माण्डूर	१ रत्ती
कान्तलौह भस्म	१ रत्ती
प्रवाल भस्म	१ रत्ती

सुबह-शाम दो बार मधु से चाटकर ऊपर से पुनर्नवा-रस १ से ½ तोला दें।

नं० २ पुनर्नवारिष्ट या आसव

४ चम्मच से १ चम्मच समान जल से भोजन के बाद दोनों टाइम।

नवायस माण्डूर (सि० यो० सं०), शोथारि लौह (भै० र०)

दोनों मिश्रित ½ से २ रत्ती सुबह-शाम मधु से चाट-कर ऊपर त्रिफला का काढ़ा १ तोला पिला दें।

पथ्य—

पुराना चावल, मूंग की दाल, यव की रोटी, केला, पटल, फल, गोदुग्ध, पुनर्नवाशाक, पपीता, आदि हल्के सुपाच्य भोजन। दिन में सोना मना है।

आधुनिक मतानुसार—

यकृत्-विकारजन्य किसी भी रोग पर :—

गोमूत्र का सेवन १ चम्मच तीन से चार बार।



(१) कालमेघ (चिरायता), यवतिक्ता (इन्द्रयव)—दोनों को पीसकर स्वरस निकाल लें और १ चम्मच से ४ चम्मच समान जल से सुबह-शाम दें। स्वरस जल के साथ पीसने से निकल आयेगा।

(२) अमृतारिष्ट, कुमारी आसव—दोनों से १ से ४ चम्मच समान जल के साथ भोजनोत्तर।

पथ्य—टमाटर, फल का रस, पपीता, करेला परवल दें।

लौह की कमी (रक्ताल्पता) में—

लोकनाथ रस, यकृदरि लौह—

मात्रा—१२५ से ३७५ मि. लि. ग्राम तथा मधु के साथ दें।

मालिश के लिये—

महावला तेल या पुनर्नवा तेल शोथ (सूजन पर)।

महालाक्षादि तैल—दशमूल तेल विषमज्वर पर दें।

भोजन के साथ—भेड़ या बकरा का कच्चा यकृत् का कीमा बनाकर या उबालकर उसका रस निकाल लें और टमाटर या सन्तरा के रस में मिलाकर १ से ½ तोला रस पिला दीजिये।

पेटेन्ट दवाएं—

एमाइनो जाइम, डोल्फिकाल, विटामिन बी कम्प्लैक्स, थियोनिन, इनासिटाल आदि मिला हुआ मिक्चर और सीरप का उपयोग होता है।

शरपुंखा का चूर्ण या स्वरस अथवा काढ़े का प्रयोग सर्वथा उत्तम कहा गया है।

इस लेख में जो कुछ दिया गया है वह अपना अनुभव तथा १५ वर्षीय चिकित्सा कालिक उपस्थित रोगियों के प्रयोग पर आधारित है। इसके संदर्भ में कुछ औषधियां ऐसी हैं जो नवीन मत के अनुसार दी गई हैं वे भी आयुर्वेद से सामंजस्य रखती हैं।

यकृत् रोगी को कुछ ज्ञातव्य बातें—

व्यसन—मद्य, सिगरेट या बीड़ी, अधिक नमक, अधिक खट्टे, बन्द घर में किसी तेल के जलते टिवड़ी या दीप जलते छोड़ देना। जर्दापान का अधिक सेवन, शीतल जल के बाद गर्म का व्यवहार, गर्म के बाद शीत का प्रयोग हानिकारक होता है।

यकृत् रोगियों की आवश्यक एवं दैनिक क्रियायें—

पूरब मुख द्वार हो, हवादार, प्रकाश जिसमें आता हो, गन्दा न हो और घर एवं रोगी का कपड़ा बिल्कुल साफ-सुथरा हो, आस-पास किसी प्रकार की दुर्गन्ध न आती हो, तीव्र सुगन्ध भी हानिकारक होती है—

रोग का नियमित समय पर शौचक्रिया (पाखाना) जाना आदि।

अपामार्ग, उदुम्बर, नीम की दातुन।

निर्वात (जहां हवा न आती हो) स्थान पर, शीत में गर्म जल और गर्म समय में शीतल जल से स्नान करना स्वास्थ्यकर होता है।

उद्वर्त्तन (उबटन) यकृत् रोगियों के लिये बहुत ही लाभदायक है—

नं० १—पीली सरसों, दारुहल्दी, कचूर, कूठ—एक साथ पीसकर शरीर पर उबटन लगाने से शरीर निर्मल हो जाता है और त्वचागत पीताभ का विलयन हो जाता है, ताकत आकर शरीर सुडौल होता है।

नं० २—हल्दी, यव का आटा, मसूर का वेसन, तेल शुद्ध सरसों—एक साथ मिलाकर उबटन करें।

छोटे बच्चे को—

नं० १—कूठ, नागकेशर, कमलकेशर, दारुहल्दी, पीली सरसों—समान सिल पर पीस बारीक कर लें और उबटन नित्य लगावें, शरीर नीरोग होगा।

नं० २—जाफरान, दारुहल्दी, हल्दी, पीली सरसों—एक साथ बारीक पीसकर उबटन लगावें, शरीर नीरोग हो जायगा।

मैंथी का योग

मैंथी के बीजों का चूर्ण बनालें। **मात्रा**—३ माशा। **अनुपान**—तक्र। **समय**—प्रातः और सायंकाल। **गुण**—अग्नि को दीपन कर मल को बांधता है एवं वायु कफ तथा आम-विकार को दूर करता है।

—**वैद्यवर मुन्नालाल जी गुप्त।**

(आन्त्रिक कृमि) निदान तथा चिकित्सा

डा० एस० सी० गर्ग

M. B. B. S., M. D., D. C. P.

रीडर विकृति विज्ञान

स्टेट आयुर्वेद कालेज, लखनऊ

डा० एन० के० नातू

M. B. B. S., M. D.

लेक्चरर माडर्न मैडीसन

स्टेट आयुर्वेद कालेज, लखनऊ

यद्यपि कृमियों का वर्णन वैदिक काल से उपलब्ध होता है किन्तु बाद में इनके विषय में उपेक्षा बरती गई तथा चिकित्सा जो आज कृमि सापेक्ष है कृमि निरपेक्ष रखी गई है। चरक संहिता में कृमियों का वर्णन उसके श्रेष्णी विभाजन के साथ दिया गया है। उनके अलग-अलग नाम तक दिये गये हैं तथा चिकित्सा की एक विशिष्ट शैलो का प्रतिपादन किया गया है। इतना सब होने पर भी वह आज के कृमि विज्ञान के सामने नगण्य ही है। आन्त्रिक कृमि विषय पर साधिकार प्रकाश डाला गया है स्टेट आयुर्वेद कालेज लखनऊ के २ स्वनामधन्य विद्वानों द्वारा जिनमें एक हैं डा० एस० सी गर्ग० और दूसरे हैं डा० नातू। पहले विकृति-विज्ञान में और दूसरे कायचिकित्सा विभाग में क्रमशः रीडर और लैक्चरर के पदों को अलंकृत करते हैं। आपने इतने बड़े विषय को गागर में सागर के रूप में भरा है। विद्या और विज्ञान के क्षेत्र में कन्धे से कन्धा भिड़ाकर कार्य करने वाले भारतमाता के ये दोनों वरद पुत्र धन्य हैं जो आयुर्वेद और आयुर्वेदज्ञों के प्रति शुद्ध स्नेह प्रदर्शित करते हुए ज्ञानमुक्ताओं को अथाह सागर के तल से निकालने में अग्रणी बने हुए हैं। ---रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

कृमि रोग विश्व की प्रमुखतम एवं महत्त्वपूर्ण स्वास्थ्य समस्याओं में से एक है, जो आज से नहीं वरन् प्राचीन काल से चली आ रही है। यह समस्या उष्ण (ट्रापिकल तथा सब ट्रापिकल) एवं उन्नतिशील राष्ट्रों जैसे भारत, मध्य एशिया, जापान आदि में शीत व टैम्परेट तथा उन्नति वाले देशों जैसे योरुप, इंगलैंड, अमरीका आदि से कहीं अधिक है। शरीर में विभिन्न कृमि पृथक्-पृथक् स्थानों जैसे---रक्त, आंत्र आदि में निवास कर विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं।

आन्त्र में सबसे अधिक कृमि पाये जाते हैं। अनेक बिना अवरोध के तथा स्वास्थ्य को बिना हानि पहुँचाए निवास कर सकते हैं। रोग व रोग के लक्षण जैसे---उदर-शूल, अतीसार, अरक्तता, कुपोषण (*Malnutrition*) आदि सामान्यतया आन्त्र में कृमियों की अधिक संख्या के कारण उत्पन्न होते हैं। सबसे अधिक जटिलता उस समय उत्पन्न होती है जब रोगों के लक्षण गुप्त (*Concealed*) हों अथवा बदलें (*Changed*) एवं दूसरे रोगों जैसे ऐपैण्डिसाइटिस, पित्ताशयशोथ, न्यूमोनिया



आदि का रूप (*Simulate*) करते हैं। ऐसी अवस्था में उपयुक्त निदान आवश्यक है क्योंकि त्रुटिपूर्ण निदान होने से सफल चिकित्सा होना सम्भव नहीं वरन् हानि होने की सम्भावना रहती है।

यह विचार ठीक नहीं है कि कृमि विज्ञान आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की ही देन है। आयुर्वेद ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख निहित है। प्राचीन समय में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दो प्रकार के कृमियों का वर्णन पाया जाता है। अप्रत्यक्ष कृमि उनको माना गया है जो आंखों से नहीं देखे जा सकते थे। परन्तु प्राचीन चिकित्सा शास्त्रियों ने इनका अनुमान युक्ति एवं अनुभव के आधार पर लगाया। सूक्ष्मदर्शी यंत्र के अभाव में इनका प्रत्यक्ष रूप व अध्ययन सम्भव नहीं था। आधुनिक विज्ञान ने इन यंत्रों के आविष्कार के पश्चात् इन कृमियों को पहचाना और अध्ययन किया तथा सूक्ष्म जीवों (*Microbes*) की संज्ञा दी। प्रत्यक्ष कृमि वे थे जो आंखों से देखे जाते थे जैसे लम्बे, फीते के समान चपटे या केंचुए के समान गोल व छोटे अंकुरित धान्यांकुर के समान। ग्रन्थोंमें इनसे उत्पन्न लक्षण रोग व चिकित्सा का उल्लेख भी है।

आज कृमि को वर्म (*Worm*) अथवा हेलमिन्थ (*Helminth*) कहते हैं। (गर्ग सक्सैना माथुर और श्रीवास्तव–१९७५) इनमें एक से अधिक कोशिकाएं होती हैं तथा तीनों बीजांकुर स्तर (*Germ layers*) द्वारा बने होते हैं। इस कारण इनको (*Triphoblastic metazoa*) कहते हैं। कृमियों की तीन श्रेणी (*Class*) होती है। तालिका सं० १ में आंत्र कृमियों में श्रेणी, श्रेणियों विशेषता (*Characters*) व उदाहरण दिये गए हैं।

तालिका सं० १—आंत्रकृमियों की श्रेणी, श्रेणियों की विशेषता तथा उदाहरण :—

	श्रेणी		
	नेमाटोड (*Nematode*)	सेस्टोड (*Cestode*)	ट्रेमेटोड (*Trematode*)
विशेषता	**गोल कृमि**—गोल केंचुए के समान लम्बे शरीर खण्डों (*Segments*) में नहीं, नर-मादा पूर्ण रूप से अलग-अलग, कुछ में मुंह में कैपसूल परन्तु बिना चूषण के (*Suckers*) व अंकुश (*Hooks*) के, बोडी गुहा (*Bodycavity*) पोषण नली (*Alimentry canal*) व गुदा होती है।	**फीता कृमि**—फीते के समान लम्बे व चपटे, शरीर खण्डों में, दोनों लिंग एक ही कृमि में चूषण कभी-कभी, अंकुश भी होते हैं पर गुदा, बोडी गुहा नहीं होती।	**पर्ण कृमि**—पत्ते के समान चपटे, शरीर के खण्ड नहीं, सिस्टोसोमा के अतिरिक्त दोनों लिंग एक ही कृमि में, चूषण होते हैं पर अंकुश बोडी गुहा नहीं होती, पोषण नली होती है पर अधूरी।
	छोटी आंत्र में पाए जाने वाले		
उदाहरण	ऐ० लम्ब्रीकाईडिस (राऊंडवर्म) ऐ० डुओडीनाल (हुकवर्म) नि० अमेरिकेनस (हुकवर्म) स्ट० स्ट्रकोरेलीस ट्रिको० स्ट्रागिलस उपवर्ण ट्रिचिनेला स्पाइरेलिस*	टी० सेजिनाटा (टेपवर्म) टी० सोलियम („) हा० नाना (बोनाटेपवर्म) हा० डिमिन्यूटा डा० लेटम* (मछली टेपवर्म)	फै० बस्काई है० हैटेरोफाइज* मै० योकोगवाई* वाट० वाटसोनाई*

बड़ी आंत्र में पाए जाने वाले		
ए० वर्मिकुलेरिस (सूत्र कृमि) ट्रा० ट्रिचूरा (चाबुक कृमि)		गै० होमिनिस

* ये कृमि भारत में नहीं पाए जाते परन्तु यातायात के आधुनिक साधनों व आप्रवास के कारण भारत में आ सकते हैं। इस कारण इनका भी ध्यान रखना चाहिए।

आन्त्र कृमि की सक्रमी अवस्था (*Infective stege*)—यह अवस्था शरीर के अन्दर दो प्रकार से प्रवेश करती है—

(अ) मुंह के द्वारा प्रवेश—अधिकतर संक्रमण (*Infection*) खाने पीने की वस्तु से होता है। बहुत से कृमियों की संक्रमी अवस्था मुंह के द्वारा शरीर में प्रवेश करती है पर ये कृमि* आन्त्र में नहीं रहते, वरन् दूसरे भाग में रहते हैं।


सूत्रकृमि

[१] **अण्डा** (*Ovum*)—ऐस्कैरिस, एन्टौरौबियस, टाइचूरिस, हाइमैनो, लेपिस, टीनिया, उपवर्ग एकाइनोकोकस*।

[२] **लारवा** (*Larva*)—(*i*) वनस्पति के साथ—ट्रिकेस्ट्रांगिलस उपवर्ग एंकिलोस्टोमा तथा निकेटर (कभी-कभी)

(*ii*) मांस में—गोमांस टीनिया सेजिनाटा (*Cysticercus bovis*), सुअर का—टीनिया सोलियम (*Cysticerces cellulosae*) ट्रि. स्पाइरेलिस*।

(*iii*) मछली में—डे० लेटम,* *C. sinensis**।

(*iv*) क्रैब या क्रैय मछली में—*P. Westermani**

(*v*) साइक्लोप्स में—*D- medinensis**

(*vi*) जल वनस्पति में—फै. हिप्टीका* तथा बस्काई

(ब) खाल व श्लेष्मकला को वेध कर—नंगे पैर घूमने से या हाथों से मिट्टी में काम करने से निम्न कृमियों के लारवा द्वारा संक्रमण होता है।

एंकिलोस्टोमा तथा निकेटर (हुकवर्म) स्ट्र० स्ट्रकोरैलीस, ट्रिकोस्ट्रागिलस उपवर्ग (कभी-कभी) तथा सिस्टोसोमा उपवर्ग*।

निदान—जिस प्रकार अन्य रोगों के निदान, रोग के लक्षण, रोग व रोगी का इतिहास, प्रयोगशाला विधियों की रिपोर्ट आदि का विवेचन करके किया जाता है उसी प्रकार कृमि रोग का निदान भी किया जाता है। इन रोगों का निदान दो प्रकार से किया जाता है—

(अ) लाक्षणिक (*Clinical*) **निदान**—रोग के लक्षण कृमि या उनके लारवा अण्डों द्वारा, भिन्न-भिन्न ऊतकों को हानि पहुंचाने पर निर्भर करते हैं। कृमि अपने रहने या अंडे अथवा लारवा देने के स्थान पर यान्त्रिक चोट द्वारा या उनके उत्सर्जन व स्राव व मरने के बाद के



तत्व द्वारा (*Allergy*) पैदा करके रोग पैदा करते हैं। लारवा स्थानान्तरण (*Migration*) करते समय भी लक्षण पैदा करते हैं। लक्षण दो प्रकार के होते हैं।

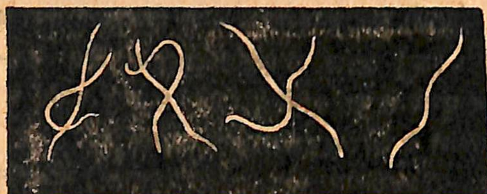
(१) सामान्य—ये लक्षण एक से होते हैं तथा अधिकाधिक क्रमियों में पाये जाते हैं। जैसे–ज्वर, दस्त, पेट में शूल, शीतपित्त उल्टी आदि। इनसे क्रमि रोग होने की सम्भावना रहती है पर समुचित निदान नहीं किया जा सकता है।

(२) विशिष्ट—ये लक्षण सामान्य लक्षणों से अलग होते हैं तथा विशिष्ट क्रमियों में पाये जाते हैं और निदान में सहायक होते हैं। जैसे—

(*i*) हुकवर्म में—खाल पर दाने(*dermetitis*) तथा *creeping eruptions*, श्वसनीय शोथ तथा श्वसनीय फुफ्फुस शोथ, अरक्तता आदि।

(*ii*) राउण्डवर्म में—एसकेरिस निमोनिया, टाइफायड के प्रकार का ज्वर, शीतपित्तान्तक आन्त्र में रुकावट आदि।

(*iii*) सूत्रक्रमि—गुदा में खाज, बिस्तर में मूत्र त्यागना आदि।



दर्भकुसुम सूत्रक्रमि, चूरू क्रमि अथवा चुनूने (Thread worm) बढ़ाकर दिखाये गये हैं।

(*iv*) स्ट्रांजिलाइडिस—हुकवर्म की तरह। अरक्तता नहीं होती।

(ब) प्रयोगशाला द्वारा निदान—क्योंकि लक्षणों द्वारा निश्चित निदान नहीं किया जा सकता इसलिए प्रयोगशाला की मदद लेनी पड़ती है। कभी-कभी प्रयोगशाला भी असफल हो जाती है, इस कारण प्रयोगशाला की विधियों को दो भागों में विभाजित किया जाता है जिससे दोनों की विवेचना करके निदान किया जा सके।

(१) सामान्य विधियां—इन विधियों से क्रमियों का शरीर में रहने का परोक्षसाक्ष्य(*Indirect evidence*) मिलता है। ये निम्न हैं—

(*i*) रक्त परीक्षा—

(अ) इयोसिनोफिल्स का बढ़ जाना जैसे ऐसकेरिस, हुकवर्म आदि।

(ब) अरक्तता जैसे हुकवर्म।

(*ii*) इम्युनोलोजीकल (*Immunological*)विधियां—त्वचा परीक्षा (*Skin Test*) जैसे ऐसकेरिस में।

(२) विशिष्ट (*Specific*) **विधियां**—इनसे प्रत्यक्ष साक्ष्य (*Direct evidence*) क्रमियों का शरीर में रहना पता लगता है। पर कभी-कभी ये भी असफल हो जाती हैं।

(*i*) मल परीक्षा—मल परीक्षा आन्त्र क्रमियों के निदान की सर्वप्रथम तथा सबसे अच्छी विधि है। मल में पूर्ण क्रमि (अपने आप या औषधि द्वारा) या उनके खंडों अथवा लारवा या अण्डे निकलते हैं। जिनको आँखों से या सूक्ष्मदर्शीय यन्त्र से देखकर व विभेद करके निश्चित निदान किया जाता है। मल की निम्न परीक्षा की जाती है।

(क) **सामान्य** (Routine) **परीक्षा**—अगर रोगी को कब्ज हो तो हल्का सा Laxative देकर मल की परीक्षा करवानी चाहिए। ५ बार अलग-अलग दिन मल की जांच पर अगर कोई भी क्रमि का evidence न मिले तब क्रमि का आंत्र में नहीं होना मानना चाहिए।

तालिका संख्या २ में सामान्य परीक्षा पर मिलने वाले क्रमियों की अवस्थाएं (Stages) दी गई है। ये क्रमि जो आंत्र में नहीं रहते पर उस स्थान में होते हैं, जिनका सम्बन्ध (Connection) आन्त्र से है, उनके अण्डे भी मल परीक्षा पर पाये जाते हैं जैसे—यकृत (F. hepatica और C. sinensis) फेफड़े(P. Westermani) और मलाशय (Rectal) और पोर्टल (Portal) शिरातन्त्र (Venous system) में Sistosoma japonicum and mansoni आदि का भी ध्यान रखना चाहिए

तालिका सं० २—मल में पाए जाने वाले क्रमियों की विभिन्न अवस्थाएं :—

श्रेणी	अण्डे	लारवा	पूर्ण क्रमि या खण्ड
नेमाटोड गोलक्रमि	१. राउण्ड वर्म (केंचुवा)	....	राउण्डवर्म (केंचुवा) कभी-कभी मुंह व नाक द्वारा भी
	२. हुकवर्म	हुकवर्म (कभी-कभी)	दवाई के बाद मल छानने पर
	३. चाबुक (*Whip*) क्रमि	....	
	४. सूत्र (*Thread*) क्रमि कभी-कभी अधिकांश (*Anal swab*) से मिलते हैं।	....	सूत्र क्रमि मल पर चलते हुए भी दिखाई पड़ते हैं।
	५.	स्ट्र० स्ट्राकोरेलीस	....
	६. ट्रिकोस्ट्रंगिल्स उपवर्ग (हुकवर्म समान)	....	....
	७.	टिचिनैला स्पाइरेलिस	टिचिनेला स्पाइरेलिस
सैस्टोड (फीता क्रमि)	१. टी० सेजिनाटा	....	टी० सेजिनाटा खण्ड या पूर्ण
	२. टी० सोलियम	....	टी० सोलियम ,,
	३. हा० नाना	....	हा० नाना ,,
	४. हा० डिमियूटा	....	
	५. डा० लेटम	...	डा० लेटम—खण्ड
ट्रेमेटोड (पर्णक्रमि)	१. सिस्टोसोमा मैनसौनाई व जापानी कम	....	....
	२. फै० बस्काई	....	....
	३. फै० ही० पेटीका	....	....
	४. *Clonorchis sinensis.*	....	....
	५. *Parogonimus westermani.*	....	....
	६. गे० होमिनिस		....

मल की विशिष्ट परीक्षा—जब आंत्र में क्रमियों की संख्या कम होती है तब अण्डे मल में कम निकलते हैं तथा सामान्य परीक्षा में नहीं मिलते। कम अण्डे निम्न विधियों द्वारा देखे जा सकते हैं।

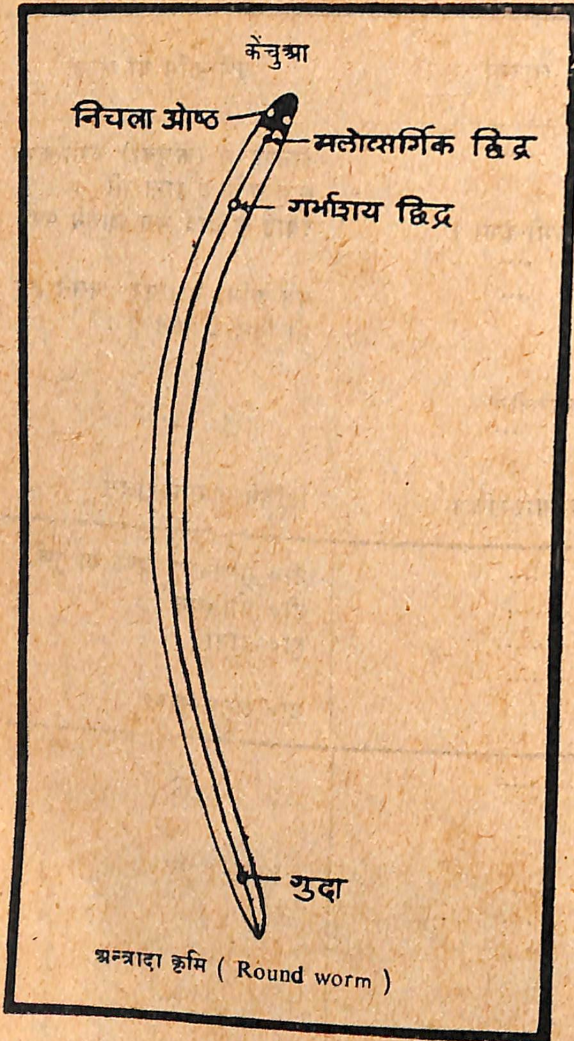
(१) गाढ़ा विधियां (Concentration method)—इन विधियों से मल को गाढ़ा किया जाता है जिससे कम अण्डे इकट्ठे हो जाएं जैसे नमक का अतिबली (Hypertonic) घोल में तैरना व Lane's Direct centrifugal floatation विधि।

(२) कलचर विधि (Culture method)—जब गाढ़ा विधि भी असफल हो जाती है तो कल्चर विधि प्रयोग में लाई जाती है। जैसे हुकवर्म में।

(३) गुदा का Swab—सूत्र क्रमि (Thread worm) के लिए गुदा (Anal) का swab से मल लेकर देखना चाहिए।

चिकित्सा—बहुधा सफल चिकित्सा ठीक निदान से हो जाती है, असफलता उस समय मिलती है जब चिकित्सा अधूरी हो या संक्रमण दुबारा हो जाए अथवा निदान गलत हो। एक से अधिक प्रकार के क्रमियों, आंत्र में अन्य जीव (प्रोटोजुआ) या अधिक अरक्तता (हुकवर्म)

आंत्र में रुकावट (राउण्डवर्म) ऐपोण्डिसाइटिस (राउण्ड-(वर्म आदि से जटिलता हो जाती है।



अन्त्रादा कृमि (Round worm)

इन सब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. सामान्य लक्षणों की चिकित्सा—

ये लक्षण प्रत्येक कृमियों द्वारा हो सकते हैं इस कारण इनकी चिकित्सा लाक्षणिक (Symptomatic) करनी चाहिए जैसे :—

(i) पेट में शूल (Antispasmodic) औषधियां, Baralgan, Unispasmin, Neoctinum, Spasmindon आदि का प्रयोग। रोगी की आयु व लिंग तथा शूल की तीव्रता के अनुसार गोली या injection का प्रयोग करें।

(ii) वमन (Antiemetic) औषधि जैसे Avomine, Sequil आदि।

(iii) अतिसार–Nonspecific औषधि जैसे Bismuth, Kaolin, Pectin आदि।

(iv) शीतपित्त Antihistaminic औषधि जैसे Avil, Synopen Foristal आदि।

(v) ज्वर–Antipyretics जैसे Aspirin, Paracetamol आदि।

(vi) अजीर्ण (अपचन) पाचक औषधियां (Enjymes)।

(vii) अरक्तता–लोह या Vitamin B१२ या दोनों।

(viii) कुपोषण–प्रोटीन, बहुविटामिन आदि।

२. एक ही प्रकार के कृमियों की चिकित्सा—यों तो बहुत सी औषधियां कृमियों को शरीर से निकालने की हैं परन्तु कुछ बहुत हानि पहुँचाती हैं जैसे–Carbon tetrachloride, Santonin, Thymal आदि इस कारण उन औषधियों का ही वर्णन नीचे किया जा रहा है जो कम हानिकारक हैं :—

(I) **हुकवर्म**—विशिष्ट औषधि देने से पहले अरक्तता तथा कुपोषण की चिकित्सा करना आवश्यक है। जहां तक हो सके रोगी में हीमोग्लोबिन का प्रतिशत १० ग्राम तक हो जाने के बाद ही ये औषधियां देनी चाहिए।

(1) Tetra chloretory lene—(Tce–Tetra cap)

मात्रा—वयस्क–३ मि. लि.।

बच्चे –०·१ मि० लि० प्रति कि० ग्रा० शरीर का भार अधिकतम ३ मि० ली०।

सेवन विधि—रात को हल्का वसा विहीन खाना दे सुबह खाली पेट औषधि दें। ४ घन्टे तक खाना तथा २४ घन्टे तक मद्य नहीं दे। एक सप्ताह के बाद दुबारा औषधि दी जा सकती है।

(2) Biphenious hydroxy naphthoate

(Alcopar)—यह ए० डुयोडिनाल (उ० प्र०) में ज्यादा पाया जाता है। पर Tce से ज्यादा सफल है, पर नि० अमेरिकैनस पर कम असर करती है।

मात्रा—५ ग्रा० (वयस्क व बच्चों दोनों के लिए)।

सेवन विधि—सुबह खाली पेट औषधि पानी में घोलकर दें ४ घन्टे तक खाना नहीं, निकेटर में रोज ३ दिन तक देनी चाहिए।

(3) Tetramisole (Decaris)

मात्रा—२.५ मि. ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर का भार।

सेवन विधि—औषधि १२ घन्टे के अन्तर पर दो बार।

(4) Thiabenzdazole (Mintezol)

मात्रा—२५ ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर का भार।

सेवन विधि—औषधि चबाकर रात को सोते समय दो दिन।

रोगियों को नंगे पैर नहीं घूमना चाहिए। मल का ठीक प्रकार से ठिकाने लगाना चाहिए।

(II) राउन्ड वर्म—

(1) Piperazine citrate (Antipar, Helmecid आदि)।

मात्रा—१५० मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर का भार (अधिकतम ३ ग्रा०)।

सेवन विधि—रात को सोते समय Singal doze गुर्दे की बीमारी में मात्रा कम देनी चाहिये।

(2) Vanpar (Combination of Pyrvinium patmolae and Piperazine.

मात्रा—०.५ मि. ली. प्रति कि. ग्रा. शरीर का भार (अधिकतम २५ मि. लि.)।

सेवन विधि—खाना खाने के बाद।

(3) Decaris.

मात्रा—२.५ मि० ग्रा०–५.० मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर का भार।

वयस्क गोली–१५० मि० ग्रा०।

बच्चे गोली–५० मि० ग्रा०।

सेवन विधि—रात को सोते समय Single doze.

(४) Alcopar–जैसे हुकवर्म में।

(५) Mintezol–जैसे हुकवर्म में।

(III) सूत्रकृमि (Thread, Pin, Seat worm)

(1) Vanquin (Pyrvinium pamoate).

मात्रा—५ मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर का भार। मल लाल तथा कपड़े खराब होजाते हैं।

(२) Piperazine citrate.

मात्रा—शरीर के भार के अनुसार

१५ पौंड २५० मि० ग्रा०
१६–३० पौंड ५०० मि० ग्रा०
३१–६० पौंड १ ग्रा०
६० पौंड के ऊपर–२ ग्रा०

सेवन विधि—रोज सुबह के नास्ते के बाद ७ दिन तक।

(३) Vanpar–जैसे राउन्डवर्म में।

(४) Mintezol–जैसे हुकवर्म में।

सूत्र कृमि सामान्यतया वयस्क रोगी में ज्यादा परेशान नहीं करता परन्तु छोटे बच्चों में इनसे गुदा में खाज, बिस्तर में मूत्र निकलना आदि अधिक पाया जाता है। ये कृमि गुदा में अण्डे देते हैं। इस कारण गुदा में खुजली के समय खुजाने से अण्डे नाखून में घुस जाते हैं तथा खाना बनाते, छूते अथवा खाते समय खाने के साथ अन्दर चले जाते हैं। इस कारण चिकित्सा करने के बाद भी रोगी में पाए जाते हैं। इस लिये निम्न सावधानियां प्रयोग में लाना चाहिये।

(i) घर में सब प्राणियों को एक साथ औषधि दें।

(ii) नाखून काट के रखें।

(iii) रात के कपड़ों को गरम पानी में अगले दिन में उबालें।

(iv) गुदा में मलहम लगाएं जिससे खुजली न आए।

(IV) चाबुक कृमि (Whip worm)

(१) Mintezol–रोगी की अनुक्रिया पर औषधि लगातार ४ दिन तक दी जा सकती है।

(२) Piperazine citrate–सूत्र कृमि के समान।

(३) Vanaquin–५ दिन तक।
(४) Vanpar–५ से ७ दिन तक।

(V) **स्टान्जिलाईडस**

(*i*) *Mintezol*–हुकवर्म समान।

(VI) **ट्रिकोस्टागिलस**

(*i*) *Mintezol*–हुकवर्म समान।
(*ii*) *Piperazine citrate*–सूत्र कृमि समान।

हुकवर्म लारवा जब खाल के नीचे चलता है तो खाल पर दाने निकल आते हैं। इस को *Creeping eruption* (*cutaneous larva migraus*) कहते हैं। इसकी चिकित्सा *mintezol* मुंह से खाने तथा १० प्रतिशत घोल दोनों पर लगा कर की जाती है।

(VII) **टीनिया सेजिनाटा सोलियम, नाना, डा. लेटम**

इन कृमियों की सफल औषधि हमारे देश में नहीं है। इनके लिए *Filx mas*, *Tetra chlorethylene Hexylresorcinol* प्रयोग में लाए जाते थे।

आजकल निम्न दो औषधियां प्रयोग की जाती हैं।

(*i*) *Ataberin* (*Mepacrine*)

मात्रा—१ ग्रा० गोलियों के रूप में।

सेवन विधि—शाम को ३० ग्रा० *Sodium* या *Magnesinm sulphate* पानी में, सुबह खाली पेट, गोलियां पानी के साथ, पांच-पांच मिनट बाद लें। दो घंटे बाद *Sodium* या *Magnesium sulphate* की दूसरी मात्रा दें।

(*ii*) *Niclosamide* (*Yomesan–Bayer*) यह भारत में नहीं मिलती पर *Ataberin* से कम विषैली है।

मात्रा—२ ग्राम।

सेवन विधि—१ ग्रा० की दो मात्रा १ घंटे के अन्तर पर।

(VIII) **फेसियोला बस्काई**

यह बंगाल व आसाम में पाया जाता है।

(i) Tetra chlorethylene.
(ii) Hexylresorcinal.

मात्रा—वयस्क १ ग्रा०।

सेवन विधि—खाली पेट पानी के साथ, कोई खाना ४ घंटे तक नहीं दे तथा २४ घंटे के बाद Magnesium या Sodium Sulphate ३० ग्रा० दें।

(IX) **गैस्टो डिस्कोइडीस होमिनिस**

यह बंगाल व आसाम में पाया जाता है।

(i) Tetrachlorethylene.
(ii) Hexylresorcinol.

(३) जब एक से अधिक कृमि आंत्र में हों इस अवस्था में सबसे पहले उस कृमि को आंत्र से निकालें जो दूसरी औषधि से Stimulate नहीं होते जैसे राउंडवर्म।

जिस प्रकार आज Brood spectrum antibiotics औषधियां हैं उसी प्रकार Mintezol भी अनेक कृमियों पर काम करती है। इन रोगियों की चिकित्सा रोगी के सामान्य स्वास्थ्य अवस्था अनुसार करनी चाहिए।

ये सब औषधियां कृमि को हानिकारक प्रभाव डाल कर बाहर निकालती हैं। ये औषधियां रोगी को भी हानि पहुँचा सकती हैं। इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

(1) Garg, S. C., Saxena, R. C., Mathur, S. K., Srivastava.

(2) D. K. Krimi—Vigyan (Parasitology) in Ayrveda–छप रहा है।

सूत्र-कृमि हर बस्ति

नीम की छाल अथवा पत्तों का क्वाथ बनावें। क्वाथ का बीसवां भाग नमक मिलावें और उचित मात्रा में गुदा में प्रविष्ट करें। इसके पश्चात् रुई के फाहे से कुछ देर दबाए रखें। प्रयत्न यह करें कि दवा काफी देर तक भीतर ही रुकी रहे। १ माह बाद पुनः वही बस्ति दें, सूत्र-कृमि निर्मूल हो जावेंगे।

बस्ति के पूर्व अथवा ३ घण्टे पश्चात् रोगी को साबुन लगाकर अच्छी तरह नहाना चाहिए और गुदा के आसपास के भागों को साबुन लगे तौलिये से खूब रगड़ना चाहिए। नाखून अच्छी तरह कटे हुए रखना चाहिए।

—श्री दौथतराम सोनी रसायनाचार्य



चिकित्सा

डा० प्रकाशचन्द्र गंगराडे, B. Sc. D. H. B., D. Pharm., Vidya Ratna
१०/३३ नार्थ टी. टी. नगर, भोपाल-३ म. प्र.

वमन या कै से हमारे सभी चिकित्सक बन्धु भली प्रकार से पूर्व से ही परिचित होंगे, ऐसा मेरा विचार है फिर भी यहां पर मैं पूर्णरूपेण वर्णन कर यही कोशिश कर रहा हूं कि इसके पढ़ने से प्रत्येक चिकित्सक बन्धु को थोड़ा बहुत लाभ अवश्य मिले और यह लाभ कहां तक होगा इसका ज्ञान मुझे उनकी प्रतिक्रिया, सुझाव, त्रुटि आदि का उनके द्वारा प्रेषित पत्रों से होगा।

रोग के पर्याय नाम—वमन, कै, छर्दि, उल्टी, इमेसिस, वोमिटिंग (Vomiting) आदि।

रोग की परिभाषा—वह अवस्था जिसमें आमाशय स्थित पदार्थ आमाशय की विशेष चेष्टा द्वारा अंशतः अथवा सम्पूर्ण रूप से मुखमार्ग द्वारा बाहर निकल जाते हैं, उसे वमन या कै (Vomiting) कहते हैं। कै होने के पूर्व की अवस्था जिसमें केवल जी मिचलाता हो अर्थात् मितली हो किन्तु वमन न हो, डाक्टरी भाषा में नासिया Nausea) कहते हैं।

इस व्याधि के अनेक कारण होते हैं, जिनका निवारण भी कारणों के अनुसार किया जाता है।

रोगोत्पत्ति के कारण—आयुर्वेद मतानुसार द्रव अधिक चिकने, अनचाहे, नमकीन खाद्य पदार्थ, अधिक मात्रा में व बेसमय करना, अजीर्ण व पेट में कृमि होने से छर्दि होती है। इसके अलावा शीघ्रता में दूषित अथवा घृणित भोज्य पदार्थ खाने अथवा देखने से एवं गर्भवती स्त्री को गर्भ के कारण वमन होती है।

ये सभी कारण तीन प्रकार से वमन उत्पन्न करते हैं—

१. रिफलेक्स वोमिटिंग (Reflex Vomiting)
२. सेन्ट्रल वोमिटिंग (Central Vomiting)
३. टाक्जिक वोमिटिंग (Toxic Vomiting)

इनके अलावा निम्नलिखित व्याधियां यदि शरीर में विद्यमान हों तो वमन उत्पन्न होती है—आमाशय प्रदाह, आमाशय कैंसर, आमाशय व्रण, अन्नप्रणाली अवरोध, हैजा, आंत्रगत कृमि होना, आंत्रशोथ, जीर्ण मलावरोध, श्वासयुक्त खांसी, अजीर्ण, यकृत् और जरायु के रोग, हिस्टीरिया, मधुमेह, यूरीमिया, कामला, एडिसन रोग, उदरावरण शोथ, वृक्क तथा पित्ताशय शूल, एपेन्डिसाइटिस, कई प्रकार के ज्वरों में, आधासीसी सरदर्द, टान्सिलाइटिस, बस, मोटर यात्रा जन्य (Travelling Sickness) तथा भय से भी वमन उत्पन्न होती है।

सुधानिधि के स्वनामधन्य युवक लेखक डा० गंगराडे की क्षण-क्षण वर्द्धिनी प्रतिभा के अनुरूप यह सुन्दर लेख हमें प्राप्त हुआ है। इस लेख के तैयार करने में उन्होंने कितना श्रम उठाया है उसे जिज्ञासु पाठक प्रवर लेख को आद्योपान्त पढ़ने पर ही जान सकेंगे। होम्योपैथी पर अधिकार रखते-रखते आपने आयुर्वेद पर भी लेखनी उठाई है। और आयुर्वेद के मर्म स्थलों तक पहुँचने का सफल यत्न किया है। यही गति रही तो नातिदूर भविष्य में चिकित्सा-विषयक लेखकों की विद्वन्मणिमाला में उनका स्थान सुरक्षित हो ही जावेगा। उन्हें गुरुजनों के सतत आशीर्वाद की आवश्यकता है जो मिल भी रहा है। —रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।



इस प्रकार हम देखते हैं कि वमन अनेक रोगों का एकमात्र लक्षण है।

वमन के लक्षण—आयुर्वेद में पांच प्रकार की छर्दि का उल्लेख मिलता है वे हैं—१. वातज छर्दि, २. पित्तज छर्दि, ३. कफज छर्दि, ४. सन्निपातज छर्दि एवं ५. आगन्तुक छर्दि। प्रत्येक के पृथक् २ लक्षण होते हैं। स्थानाभाव के कारण यहां नहीं दे पा रहे हैं। फिलहाल हमें यहां पर उन ही लक्षणों का जानना काफी है जो रोग की जटिलता के कारण उत्पन्न होते हैं। खांसी, श्वास, ज्वर, हिचकी, प्यास, बुद्धिभ्रम, हृदय रोग आदि उपद्रवों से रहित वमन साध्य होती है। इसकी चिकित्सा कराने से रोगी स्वस्थ हो सकता है, किन्तु जिस रोगी को निरन्तर होने वाली वमन, रक्त, पसयुक्त एवं मलयुक्त वमन हो वह असाध्य होती है।

रोग चिकित्सा के सिद्धान्त—यह सिद्धान्त तो प्रत्येक चिकित्सक जानता होगा कि किसी भी रोग को दूर करने के लिए सर्वप्रथम उनको उत्पन्न करने वाले कारणों को दूर करना आवश्यक होता है। बिना कारण को दूर किये चिकित्सा संभव नहीं अर्थात् रोग का स्थायी निवारण असम्भव है। यही बात यहां पर लागू होती है। सर्वप्रथम वमन होने का कारण खोजकर उसके अनुसार ही चिकित्सा की जानी चाहिए। वमन कफप्रकोप के कारण उत्पन्न होने से कफनाशक पथ्य या चिकित्सा की जाती है।

आयुर्वेद चिकित्सा सिद्धान्तानुसार वमन रोग की चिकित्सा में सर्वप्रथम लंघन कराना माना गया है। सभी प्रकार की वमन शरीर में भीतरी दोषों के बहुत बढ़ जाने से ही उत्पन्न होती है। अतः विभिन्न दोषों से उत्पन्न वमन में लंघन कराना लाभकारी होता है। किन्तु रोगी का बल देखकर ही लंघन कराया जाता है।

पश्चात् चिकित्सा सिद्धान्तानुसार वमन में प्रायः शामक (Sedative) एवं ऐंठनविरोधी (Anti spasmodic) औषधियों का प्रयोग किया जाता है। इस वर्ग की औषधियों के प्रयोग से आमाशय की कला का क्षोभ कम होकर वमन में लाभ होता है। वमन में शरीरगत जल निकल जाने के कारण रक्त की जलाल्पता (Dehydration) को तुरन्त दूर करना आवश्यक होता है, जिसके लिए ग्लूकोज सेलाइन देकर यह कमी दूर की जाती है। हैजा, अतीसार (बच्चों के दांत निकलने के समय) सेलाइन की आवश्यकता अधिक पड़ती है।

रोगी की तत्काल करणीय व्यवस्था—

रोगी के चिकित्सालय में आते ही रोग के कारण का तुरन्त पता लगाकर उसे दूर करने के उपाय करना चाहिए। रोगी का परीक्षण करके निष्कर्ष निकालना चाहिए कि कहीं विष खा लेने के कारण तो वमन नहीं आरही है? यदि ऐसा है तो तुरन्त उस विष के प्रभाव को नष्ट करने के लिए उपाय किये जायं। परीक्षण द्वारा यह भी पता लगाना चाहिए कि अधिक वमन होने से शरीरगत जल की कमी तो नहीं हो गयी है? यदि हां, तो शीघ्र सेलाइन लगाकर यह कमी पूरी की जाती चाहिए अन्यथा परिणाम घातक हो सकते हैं।

वमन के रोगी को पूर्ण शैयाविश्राम की आवश्यकता होती है। रोगी का मद्यपान, सिगरेट, गांजा, अफीम आदि का सेवन तुरन्त बन्द करा देना चाहिए। मानसिक कारणों से उत्पन्न वमन में नस्य देने से कै आनी तुरन्त रुक जाती है। रोगी को सान्त्वना देते रहें कि उसका रोग मामूली है और वह शीघ्र स्वस्थ हो जायेगा।

वमन की अवस्था में जहां तक हो सके भोजन नहीं देना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो रोगी की रुचि के अनुसार हल्का हल्का भोजन देना चाहिए। प्यास लगने पर पानी के स्थान पर बर्फ के टुकड़े चूसने के लिए देने चाहिए। शीतल पेय से वमन का शमन होता है अतः जहां तक हो सके शीतल पेय ही दें क्योंकि गर्म पेय देने से वमन की वृद्धि होती है। गर्भवती स्त्री को सूर्योदय से पूर्व हल्का नाश्ता व फलाहार करना चाहिए ताकि प्रातःकालीन वमन से बचा जा सके। नीबू के दो टुकड़े कर एक पर नमक तथा दूसरे पर शक्कर लगाकर क्रमशः चूसना लाभदायक है।

रोग की लाक्षणिक व मूलकारण निवारण हेतु विशेष चिकित्सा—

विभिन्न प्रकार के लक्षणों को दूर करने के लिए विशेष प्रकार के उपाय करने से शीघ्र लाभ पहुंचता है—

(१) घृणित पदार्थ के दर्शन आदि से उत्पन्न हुए

वमन को अत्यन्त प्रिय पदार्थों के उपयोग से दूर करें।

(२) गर्भजन्य वमन को सूर्योदय से पूर्व हल्के भोजन व फलाहार के उपयोग से दूर करें। बिटामिन बी[६] उत्तम है।

(३) कृमिजन्य वमन में कृमिनाशक औषधियां देना चाहिए।

(४) सिरदर्द से उत्पन्न वमन में अमृतधारा का बाह्य प्रयोग करना चाहिए।

(५) बच्चों के दांत निकलते समय या अन्य कारण से वमन हो तो ऐसे समय में ग्राइपवाटर किसी अच्छी कम्पनी द्वारा निर्मित देना चाहिए साथ ही बिटामिन ए एण्ड डी ड्राप्स भी देना लाभकारी होगा।

(६) रेल, मोटर, बैलगाड़ी, हवाई जहाज, यात्रा करते समय या झूलने के कारण कुछ लोगों को वमन होने लगती है, उन्हें यात्रा जहां तक हो सके कम करनी चाहिए। यदि करना आवश्यक हो तो पूर्व ही में दवा लेकर यात्रा करें।

(७) अगर रोगी की हालत ठीक नहीं, कमजोरी हो तो विटामिन-बी-कम्प्लेक्स आवश्यकतानुसार देना चाहिए जिससे पचन-संस्थान को बल मिलता है।

(८) अजीर्ण अथवा दूषित भोजन से उत्पन्न वमन की हालत में अर्क पोदीना या स्वादिष्ट किसी शर्बत का प्रयोग हितकारी है।

(९) उदरशूल के समय वमन होने पर उदर पर तारपीन के तेल से सिकाई करना लाभदायक होगा।

(१०) अगर कब्ज हो तो उचित कब्ज नाशक दवा देनी चाहिए।

रोग के असाध्य लक्षण—कास, श्वास, ज्वर, हिचकी, प्यास, बुद्धिविभ्रम, हृदय रोग तथा तमक श्वास जैसे उपद्रवों से युक्त लक्षणों की वमन असाध्य रोग के अन्तर्गत आती है और उपरोक्त उपद्रवों से रहित लक्षणों की वमन साध्य होती है। यदि रोगी निरन्तर कमजोर होता जाय, उल्टी का बहुत वेग आना, रक्तयुक्त मवाद जैसा कफ निकलना, वमन पदार्थ चमकीले मलयुक्त होना, खांसी आदि भी बनी रहे तो वमन का रोग असाध्य माना जाता है।

रोग पर चिकित्साकालीन अनुभव—मैं यहां पर विशेष रूप से कुछ होम्योपैथिक दवाओं द्वारा प्राप्त अनुभव दे रहा हूं, आशा है चिकित्सकों को लाभप्रद सिद्ध होंगे, विशेषकर जो इस विज्ञान में रुचि रखते हैं। वैसे अन्य चिकित्सा पद्धति का भी मैं अनुभव रखता हूं लेकिन कलेवर वृद्धि के डर से यहां देने में असमर्थ हूं, उन दवाओं का वर्णन मैं आगे लेख में करूंगा। आशा है पाठक, चिकित्सक सन्तुष्ट होंगे।

(१) नाम—अर्चना, वय—६ वर्ष, लक्षण—जिद्दी मिजाज, चिड़चिड़ा स्वभाव, हमेशा नाक में उंगली डालकर कुरेदना, नींद की हालत में दांत पीसना। इन सब लक्षणों से युक्त उपरोक्त बच्चे में वमन की शिकायत पाकर मैंने सिना—३० दिन में तीन बार १ सप्ताह के लिए दिया, बाद में सिना—२०० शक्ति की १ मात्रा दी। इस प्रकार से सभी लक्षण पहले दिन से ही क्रमशः कम होकर कुछ ही दिनों में दूर हो गये।

(२) नाम—साधना, वय—१६ वर्ष, लक्षण—खाने में खाई हुई चीज वमन द्वारा बाहर निकल आती उसके बाद भी आराम नहीं। लगातार मिचली बनी रहती, प्यास का अभाव। इपीकाक ३० की ४ खुराक से पूर्ण आराम आ गया।

(३) नाम—राम, वय—२६ वर्ष, लक्षण—उल्टी होने के बाद अतिशय अस्थिरता, प्यास बहुत किन्तु जैसे ही पानी पीने को दिया जाता, दो घूंट पीकर रख देता। थोड़ी-थोड़ी देर में थोड़ा-थोड़ा पानी पीता। कुछ समय पश्चात् फिर वमन हो जाती, गरम पानी पीने से आराम महसूस करता। इन लक्षणों में आर्सेनिक एल्बम ३० की ४ मात्राएं १-१ घण्टे के अन्तर से दी गई तुरन्त आराम हो गया।

(४) नाम—नारायण, वय—३० वर्ष, शिकायत—रेल अथवा मोटर से सवारी करते समय वमन होना, साथ में अवसन्नता का लक्षण। यात्रा के १ दिन पूर्व से उन्हें कोक्यूलस इंडिका ३० की १-१ मात्रा हर ४ घण्टे से खाने को दी गई। दूसरे दिन उन्होंने रेल यात्रा की और उनके लौटने पर ज्ञात हुआ कि इस बार रेल में वमन की शिकायत नहीं हुई।



रोग पर प्रयुक्त शास्त्रोक्त व अनुभूत औषधियां--

१. कोंच के बीज का चूर्ण और मुलैठी का चूर्ण इन दोनों को चावलों के पानी में मिलाकर शहद के साथ सेवन करने से वमन रोग शांत होता है।

२. कच्चे आम (कैरी) का शर्बत पिलाने से लू से उत्पन्न बैचेनी, प्यास और वमन में लाभ होता है।

३. भुट्टे के दाने निकालकर उसे जलाकर उत्पन्न की गई राख को शहद के साथ चटाने से वमन में लाभ मिलता है।

४. बड़ी इलायची को भूनकर तथा उसके दानों को थोड़े-थोड़े खाने से प्यास और वमन में फायदा होता है।

५. अनारदाना, इमली, अमचूर आदि खट्टे पदार्थ, नमक धनियां और पोदीना की चटनी का सेवन भी वमन को शांत करता है।

६. किसी भी तरह बन्द न होने वाली वमन में राई २ तोले, और कपूर ६ माशे को जल में पीसकर कपड़े पर लगा प्लास्टर के जैसा पेट पर बांधने से कै फौरन बन्द हो जायेगी।

७. कच्चे नारियल का जल अथवा बर्फ सा ठंडा जल पीने से गरमी के कारण उत्पन्न वमन में लाभ होता है।

८. नारियल की जटा को जलाने पर बनी राख को थोड़े से नमक मिले पानी में घोलकर पिलाने से कै तुरन्त बन्द हो जाती है।

९. पीपल का चूर्ण, घी, शहद और मिश्री सभी समान भाग मिलाकर चटाने से वमन में लाभ होता है।

१०. नमक और कालीमिर्च पीसकर उसको कागजी नीबू पर छिड़के और उनका अर्क पीने से फौरन कै उबकाई बन्द हो जाती है।

११. आंवले के स्वरस में चन्दन को घिसकर मूंग की दाल के पानी से पीयें। इसके करने से भी लाभ होगा।

१२. दूध में दिया गया घी वातज छर्दि को दूर करता है। सेंधानमक और घी पीना भी लाभकारी है।

१३. छुहारे की गुठली को जल में घिसकर मिश्री मिलाकर पिलाने से वमन कम होती है।

१४. एलादिचूर्ण को शहद के साथ सेवन कराने से त्रिदोषजन्य वमन में लाभ होता है।

१५. गर्भ जन्य वमन में प्रवालपिष्टी, गर्भपालरस, कामदुधारस को एलादिचूर्ण के साथ दिन में तीन बार देना चाहिए।

संक्षिप्त होम्योपैथिक चिकित्सा--

यहां पर कुछ प्रमुख औषधियों के लक्षण संक्षिप्त रूप से दिये जा रहे हैं, विस्तृत रूप से जानने के लिए किसी अच्छे मटेरिया मेडिका का अध्ययन करना चाहिए।

कोक्यूलस इंडिका ६,३०,२०० शक्ति—मस्तिष्क या स्नायविक दुर्बलता के कारण रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि के सफर में वमन होना, यहां तक कि इन्हें चलती हुई या किसी घूमती हुई चीज को देखने से वमन होने लगना, साथ ही अवसन्नता का लक्षण।

इपीकाक ६,३०—इपीकाक की कै के पहले ओकाई या जी मिचलाने या उबकाई रहती है, जीभ साफ। इस पर भी प्यास नही। खाई हुई चीजें यदि वमन करने पर निकल जायें तो इपीकाक और अन्दर ही जमी रहे तब पल्सेटिला देना चाहिए। पल्सेटिला में वमन है पर मिचली नहीं। इस औषधि का खास लक्षण है—निरन्तर ओकाई और कै।

इथ्यूजा ६×,३०—छोटे बच्चों की वमन, जहां दूध के दही की तरह बड़े-बड़े टुकड़े निकलें, उसके बाद बहुत थकावट में उत्तम है। बच्चा ज्योंही कुछ खाता या दूध पीता है, त्योंही वमन कर अवसन्न हो जाता है। इसके पश्चात् सो जाता है फिर उठते ही दूध की पुनः इच्छा।

एन्टीमोनीयम क्रूड ६,३०—वमन के साथ जीभ पर सफेद रंग का लेप होना इस औषधि का मुख्य लक्षण है। रोगी कुछ भी खाते या पीते वमन कर देता है। जमे हुए दही की तरह वमन। दुष्पाच्य खाद्य पदार्थ खाने या अधिक खाना खाने से उत्पन्न हुए उपद्रव या ग्रीष्म ऋतु की गर्मी लगने तथा बच्चों की वमन पर खास औषधि है।

फास्फोरस ६,३०,२००—अजीर्ण के कारण पुराने वमन में लाभप्रद औषधि है। ठंडा जल पीने की तीव्र

इच्छा किन्तु ज्योंही पक्वाशय में जाकर वह गरम हो जाता है त्योंही तुरन्त कै हो जाती है।

सीना ६,३०,२००—चिड़चिड़े स्वभाव वाले बच्चों की वमन, हमेशा नाक कुरेदते रहना, रात में दांत पीसना आदि लक्षणों में यह लाभदायक है जबकि पेट में कृमि होने की वजह से वमन है।

क्यूप्रम मेट ३०—वमन के साथ पेट में एंठन का दर्द होना जैसा कि हैजा में होता है।

कलचिकम ६,३०—रोगी को भोजन की गंध से या भोजन को देखते ही वमनेच्छा या वमन हो जाती है।

बिस्मथ—खाना खाने के तुरन्त बाद ही वमन, साथ में जलन से कष्ट होना।

आर्सेनिक एल्ब ३०—अस्थिरता के साथ प्यास लेकिन थोड़ा-थोड़ा पानी पिये और कुछ देर बाद वमन कर दे। गरम पेय से आराम।

वेरेट्रम एलबम ६,३०—हैजा की वमन का प्रधान लक्षण—एक दो वमन होते ही माथे पर ठंडा पसीना और अवसन्नता आती है।

उपरोक्त दवाओं के अतिरिक्त केल्केरिया कार्ब, आइरिस वर्स, पल्सेटिला, नक्स वोमिका, कैम्फर, एपोमारफाइन, फोडोफाइलम, कालीफास, आर्निका आदि बहुत सी दवायें लक्षणानुसार वमन में लाभदायक हैं, जिन्हें 'मटेरिया मेडिका' में पढ़ना चाहिए।

एलोपैथिक चिकित्सा—

गर्भवती की कै हो या किसी ऐसी बीमारी में जिसमें खाना हजम न होता हो तो शक्ति प्रदान करने के लिए ग्लेक्सोज डी का एक बड़ा चम्मच दिन में ३ बार पानी में अथवा किसी सुपाच्य ज्यूस में घोलकर दें।

यात्रा के समय वमन होती हो तो उसे रोकने के लिए बार्बीटोन २ ग्रेन फिनासीटिन २ ग्रेन व एण्टीस्टिन १ गोली पीसकर यात्रा प्रारम्भ करने के १ या आधे घंटे पूर्व में देना चाहिए।

अजीर्ण की कै में वाइनम इपिकाक—१ या २ बूंद आधा या १ घंटे के अन्तर से दें। सभी प्रकार की वमन में प्रोस्टिग्मीन १ टेबलेट और एवोमिन १ टेबलेट मिलाकर एक खुराक के रूप में, ऐसी खुराकें दिन में ३-४ बार तक दें।

मानसिक कै में बेलार्गल या कैल्सीब्रोमेट की १ टेबलेट दें।

गोलियों में सामान्य रूप से सीक्विल, स्टेमेटिल, लार्जेक्टिल या एवोमिन की १-१ गोली आवश्यकतानुसार दिन में ३ या ४ बार तक पूर्ण अध्ययन कर दें।

मितली में गेसेक्स की १-२ गोली ४-६ बार दें तथा वाइनम इपीकाक की १-१ बूंद से भी मितली में आराम होता है।

मारजीन टेबलेट से कै, मितली, चक्कर आना, यात्रा के समय वमन का कष्ट आदि ५० मि. ग्रा. १-२ गोली देने से दूर हो जाते हैं।

गर्भावस्था की कै में ग्वेडोक्सीन, न्यूरोट्रासेन्टीन, नियोडाक्सीन, विटामिन बी ६ की गोलियां आवश्यकतानुसार देना लाभदायक है।

बच्चों की मितली में लिव ५२ की १०-२० बूंदें आवश्यकतानुसार दिन में ३-४ बार तक दें।

एट्रोपिन इन्जेक्शन $\frac{1}{300}$ से $\frac{1}{100}$ ग्रेन 'यात्रा से उत्पन्न कष्टों को दूर करने में लाभदायक है।

यहां पर इस प्रकार हमने आयुर्वेदिक, होम्योपैथिक व एलोपैथिक चिकित्सा की संक्षिप्त रूप से किन्तु लगभग पूर्ण जानकारी देने की कोशिश की है आशा है चिकित्सकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगी। इसके अलावा यदि किसी पाठक, चिकित्सक बन्धु की कोई समस्या हो तो जवाबी डाक-व्यय भेजकर मेरे उपरोक्त पते पर पत्र व्यवहार कर समस्या का समाधान करालें, इसमें लेखक को प्रसन्नता होगी। ●●

वमन नाशक शुद्ध गन्धक २ तोला, पलाश बीज १ तोला—प्रथम पलाश (ढाक) के बीजों को कूटकर कपड़े में छान लें। गंधक को आग पर पिघला कर बीजों का चूर्ण उसी में मिलावें और १-१ रत्ती की गोली बनालें। सेवन-विधि—१-१ घंटे के अन्तर से १-१ गोली शहद या चावल के धोवन के साथ देने से तीव्र वमन होना शान्त होता है।

जलोदर कारण तथा निवारण

डा. महक सिंह *B. A. M. S* लैक्चरर, काय चिकित्सा विभाग,
ऋषिकुल राजकीय आयुर्वेदिक कालेज हरद्वार।

जटिल रोगों में जलोदर की गिनती अग्रिम पंक्ति में होती है। इस विषय पर सभी आवश्यक जानकारी से युक्त लेख लिखा है आयुर्वेद के शिरोमणि संस्थान में कार्यरत एक विद्वान् वैद्य ने। लेख छात्रोपयोगी तो है ही चिकित्सकों के लिए भी उपयोगी है इसमें पर्याप्त सामग्री है। नामानुरूप लेख की महक पाठकों के मन मस्तिष्क पर छा जायगी ऐसा विश्वास है! जलोदर में जल निकालने की आवश्यकता बहुत अधिक नहीं पड़ती। पानी रोक कर केवल दूध के पथ्य पर रखकर सविरेचन चिकित्सा करने से भी जल की राशि लगातार घटती जाती है।

—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

जलोदर *(Ascites)*

स्वेद तथा उदकवाही स्रोतों में अवरोध होने एवं उपेक्षित दोषों के द्रवीभूत होने से उदर गुहा में द्रव सञ्चित होने पर जलोदर संज्ञा दी जाती है।

कारण—आयुर्वेद में जलोदर की उत्पत्ति का कारण जलवाही स्रोत का दूषित होना बताया है, तथा सुश्रुत ने कहा है कि जो व्यक्ति स्नेहपान अनुवासन वस्ति, वमन, विरेचन, अथवा निरुह के पश्चात तुरन्त (संसर्जन क्रम के बिनाही) शीतल जल का पान करता है तो उसके जलवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं अथवा स्रोतों के स्नेह से लिप्त होने के कारण जलोदर की उत्पत्ति होती है।

..................दकोदरं कीर्तयतो निबोध।। यः स्नेह पतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथवानिरूढः पिबेज्जलं शीतलमाशुतस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि।। स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु दकोदरं.........।। सु० नि० ७

जलवाही स्रोतों का मूल तालु तथा क्लोम है। "उदक वहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च" यहां पर तालु से मस्तिष्क स्थित जल नियन्त्रक केन्द्र तथा क्लोम से अग्न्याशय का ग्रहण करना चाहिए। इन दोनों की विकृति से शरीर का जलीय नियन्त्रण समाप्त हो जाता है जिससे वह प्राकृत मार्गों से न निकल कर औदरिक कला के मध्य में सञ्चित होकर उदर रोग (जलोदर) उत्पन्न करता है।

प्राकृतावस्था में अन्तरसस्रोत या केशिकाओं की दीवार से चूकर धातुओं का पोषण करने के उपरान्त पुनः लसवाहिनियों के द्वारा रक्त में मिल जाता है। यदि किसी कारण से केशिकाओं की स्रवण क्षमता (*Permiability*) बढ़ जाती है अथवा लसवाहिनियों में जाने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तो वह लस अवकाश युक्त स्थानों में एकत्रित होने लगता है और समीपस्थ अङ्गों में सूजन आ जाती है। इस प्रकार स्रोतों की दुष्टि तथा रक्तभाराधिक्य शोथ के कारण है।

आधुनिक वैज्ञानिक इसके निम्न कारण मानते हैं—

(१) प्रतिहारिणी महासिरा का अवरोध-यकृत् के विकृत होने पर विशेषकर अर्बुद (*Cencer*) या प्रतिहारिणी महासिरा पर यकृत् के अतिरिक्त बाह्य दबाव पड़ने से (जैसे आमाशयार्बुद, बढ़ी हुई कोई ग्रन्थि) सिराओं में रक्त का दाब बढ़ जाता है जिसके फल स्वरूप अर्श या जलोदर कभी-कभी दोनों रोगों की उत्पत्ति होती है।

(२) हृद्रोग—रुग्ण हृदय (जैसे *mitral disease & Cardiac dilation*) जब रक्त को पूर्णतया अपनी ओर खींच नहीं सकता जिससे सिराओं में दबाव बढ़ जाता है परिणाम स्वरूप जलोदर तथा पाद शोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(३) वृक्करोग—रुग्ण वृक्क के द्वारा जब शुक्लि (*Albumin*) का मूत्र द्वारा क्षरण होने लगता है तो रक्त का आसृतीय पीडन (*Osmotic tenion*) बदल जाता और रक्त वाहिनियों की दीवार की प्रवेश्यता (*Permability*) बढ़ जाने से उदरावरण गुहा में जल संचय होकर जलोदर उत्पन्न करता हैं।

(४) क्षयजन्य उदरावरण शोथ—शोथ होने पर रक्त वाहिनियों की दीवार से तरल के क्षरण से भी जलोदर हो सकता है।

(५) चिरकालिक उदरावरण शोथ

(६) (*Chylous Ascites*) या स्नेहोदर यदि (*Thoracic duct*) में किसी रोग विशेष जैसे अबुर्द या चोट लगने के बाद अवरोध उत्पन्न होकर उदरावरण कला में जल के साथ-साथ स्नेह बिन्दु (*Fat globules*) भी उपस्थित रहते हैं। इस प्रकार का द्रव श्लीपद (*Filaria bancrofti*) के कारण भी होता है उसे मिथ्या स्नेहोदर (*Pseudo-chylous ascites*) कहते हैं।

(७) रक्तदोष—रक्त में विकारी जीवाणुओं की उपस्थिति होने पर प्लीहा का कार्य बढ़ जाता है। इससे उसकी तथा साथ में यकृत् की भी वृद्धि होकर जलोदर उत्पन्न होता है।

लक्षण—

सुश्रुत ने निदान स्थान में जलोदर के निम्न लक्षण गिनाये हैं—

स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समाततं पूर्ण मिवाम्बुना च।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत्॥

अर्थात् जलोदर पीड़ित रोगी का उदर चिकना तथा बड़ा हो जाता है। नाभि बाहर को पलट जाती है। उदर बहुत फूला रहता है। जल में भरी हुई मशक में जिस प्रकार क्षोभ कम्पन्न तथा ध्वनि होती है, वैसे ही जलोदर में भी ये सब मिलते हैं। इन्हीं लक्षणों का विस्तृत वर्णन आधुनिक वैज्ञानिकों ने निम्म प्रकार किया है—

(१) उदर में उत्सेध, (२) सपरिवृत्त नाभि (*Everted umbilicus*) (३) दृति (मशक) के समान क्षोभ या कम्प (*Fluid thrill*)।

यह जल की कम्पन एक हाथ से दूसरे हाथ की ओर थपथपाकर जल के तल द्वारा महसूस की जा सकती है। यदि उदर में जल उपस्थित है तो वाम हस्त को एक ओर रखकर दूसरी ओर से दांये हाथ की अंगुली से ताड़न करने पर वाम हस्त द्वारा जल तरंग का अनुभव होता है। यह जलोदर का निश्चयात्मक लक्षण है। इस परीक्षण के लिए नाभि के स्थान पर सहायक के हाथ का एक किनारा रख और अधिक स्पष्ट जाना जा सकता है।

दृतिवत् शब्द (*Percussion Dullness*)—इसे चल मन्द ध्वनि (*Shifting dullness*) भी कहते हैं। यदि रोगी दक्षिण पार्श्व से लेटा हो तो उसके वामपार्श्व से जल हट जाने के कारण उस स्थान पर मन्दता नहीं रहती इसी प्रकार वाम पार्श्व पर लेटने से मन्दता दक्षिण पार्श्व में नहीं रहती।

हृत्स्पन्दनाधिक्य (*Palpitation*) जल हृदय पर अधिक दबाव पड़ने के फल स्वरूप होता है।

(६) श्वासकृच्छ्रता—ऐसा फुफ्फुस पर जल का दबाव पड़ने के कारण होता है।

(७) फुफ्फुस तथा हृदयाग्र की स्थानच्युति भी जल के दबाव के कारण हो जाती है।

८. मूर्च्छा—कभी-कभी मूर्च्छा भी पायी जाती है ऐसा रक्त में विष के प्रभाव के कारण होता है।

९. कास।

१०. अग्निमान्द्य।

११. बुभुक्षानाश।

विशेष लक्षण

१. प्रतिहारिणी महासिरा का अवरोध होने पर—

(क) उदर में अफारा, दर्द तथा मलावरोध तथा कभी-कभी विरेचन भी मिलता है।

(ख) प्रायः भोजन लेने के पूर्व वमन होता है जिसमें आमाशय की श्लेष्मकला तथा रक्त उपस्थित रहता है।

(ग) रक्त वमन। (घ) रक्तार्श। (ङ) यकृत् और प्लीहा वृद्धि।

(च) अन्त में जलोदर के जल का नीचे की शिराओं पर दबाव पड़ने के कारण पैरों पर शोथ भी मिलता है।

(छ) उदर की शिराएं उभर आती हैं।

२. हृद्‌विकारजन्य जलोदर के लक्षण—

(क) सर्वप्रथम पैरों पर सूजन आती है उसके बाद जलोदर होता है।

(ख) हृदय प्रदेश में भारीपन व धड़कन।

३. वृक्क विकार जन्य जलोदर के लक्षण।

(क) सर्वप्रथम अक्षिकूट शोथ होता है जो विशेषतः प्रातः उठते समय मालूम देता है।



जलोदर

(ख) मूत्र की परीक्षा करने पर शुक्लि तथा भग्न-तन्तुओं की उपस्थिति।

४. क्षयजन्य उदावरण शोथ जन्य जलोदर—

रोगी उदर में दर्द का अनुभव करता है। पाचन सम्बन्धी लक्षण नहीं होते परन्तु जलोदर उपस्थित रहता है। सर्वाङ्ग शोथ कुछ महीनों का इतिवृत्त मिलता है जिसमें ज्वर बना रहता है। रोगी कमजोर होता चला जाता है। इस जल की परीक्षा करने पर प्रोटीन तथा श्वेतरक्त कण (*Lymphocytoin*) मिलते हैं।

५. रक्तदोष जन्य जलोदर के लक्षण—

(क) यकृत् व प्लीहा वृद्धि।

(ख) जल की राशि कम होती है।

(ग) रक्त की परीक्षा करने पर विकारी जीवाणु उपस्थित मिलते हैं।

जलोदर का सापेक्ष निदान—इसका सापेक्ष निदान डिम्बकोष की सिस्ट से करते हैं:—

क्र.सं.		जलोदर	डिम्बकोष की सिस्ट
१.	निरीक्षण	पार्श्व फूले तथा सामने का भाग चपटा,	पार्श्व चपटे तथा सामने का भाग फूला हुआ
२.	टेपण	पार्श्वों में मन्द ध्वनि, करवट लेने पर ऊपर के पार्श्व में विनाद ध्वनि होती है।	पार्श्वों में विनाद ध्वनि होती है। करवट लेने पर मन्द ध्वनि में कोई परिवर्त्तन नहीं होता है।
३.	प्रमाणतः (मापने से)	नाभि से जीफायड तक की दूरी, नाभि से भग तक की दूरी से अधिक होती है। इलीयक स्पाईन से नाभि तक का माप दोनों पार्श्वों में बराबर होता है।	नाभि से जीफायड तक की दूरी, नाभि से भग तक की दूरी से कम होती है। इलीयक स्पाईन से नाभि तक का माप एक पार्श्व में बड़ा दूसरे में कम रहता है।

जलोदर की चिकित्सा सिद्धान्त

१. प्रकुपित दोषों से आक्रान्त हो जाने से अग्नि मन्द हो जाती है। अतः अग्नि को उद्दीप्त करने वाला और पच जाने वाला भोजन करना चाहिए।

२. नित्य शोधन कर्म करना चाहिए—इसके लिए एरण्ड तैल गोमूत्र में मिलाकर या गोदुग्ध में मिलाकर पिलाना चाहिए।

३. जल दोष को नष्ट करने वाली चिकित्सा करें। मूत्रल तीक्ष्ण, अनेक प्रकार की क्षार वाली औषधियों का प्रयोग करें, परन्तु पारद से युक्त द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

४. कफनाशक दीपनीय लघ्वाहार सेवन करायें और जल आदि द्रव पदार्थों के सेवन से क्रमशः हटावें।

५. द्रव पुनः संचित न हो उसके लिए नमक रहित भोजन का सेवन करना चाहिए।

६. यदि अधिक जल संचय हो जिसके फलस्वरूप श्वास काठिन्य हो तो तुरन्त शस्त्र कर्म करना चाहिए।

रोगी को श्वास काठिन्य तथा बैठने में कठिनाई होती है और यदि हृदयावसाद एवं हृदय दौर्बल्य के लक्षण भी हो गये हों तो ऐसे रोगी में शस्त्रकर्म करना ही उचित है, ऐसा चरक का मत है। शस्त्रकर्म करने हेतु उदर पर उष्ण वातनाशक तैल से अभ्यंग करके उष्णोदक से स्वेदन करे। उसके पश्चात नाभि के ऊपर वस्त्र से लपेट कर नाभि के बाईं ओर चार अंगुल नीचे व्रीहीमुख यन्त्र (*Trocar canula*) से एक अंगुल गहराई तक वेध



(*Puncture*) कर उसमें द्विमुखी नली लगाकर आधा जल निकालें। फिर नली हटाकर लवण मिश्रित तैल से व्रण को पूरित कर पट बन्धन कर दें। आधुनिक ग्रन्थों में भी इस प्रकार की एक क्रिया का उल्लेख है जिसका उन्होंने *Paracentesis* के रूप में वर्णन किया है। तद् उपरान्त पूरे उदर को वस्त्र से आच्छादित करके रखें और एक-एक सप्ताह के अन्तर से थोड़ा-थोड़ा जल इस विधि द्वारा निकालें। जल निष्कासित किये हुए रोगी को स्निग्ध एवं लवण रहित पेया दिये जाने का विधान है। जलोदर के रोगी में उदर से निकाला हुआ जल पूर्णतः जीवाणुरहित होता है। यदि इस जल में अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा किसी प्रकार के जीवाणु दृष्टिगोचर हों तो वह अत्यन्त घातक अवस्था का सूचक होता है। जलोदर के रोगी को यथा सम्भव लवण एवं लवणयुक्त पदार्थों का सेवन न कराया जाय।

चिकित्सा व्यवस्था

वारिशोषण रस २ रत्ती, पुनर्नवामाण्डूर ६ रत्ती मिश्रित २ मात्रा।

पुनर्नवामूल स्वरस अथवा बिल्वपत्र रस ६ माशा और मधु के साथ १२ बजे और ३ बजे।

आरोग्यवर्धनी २ गोली प्रातः २ गोली सायं गर्म दूध से यदि इससे कोष्ठ शुद्धि ठीक न हो तो जलोदरारि रस ४ रत्ती की मात्रा में प्रातः ठण्डे जल से या अर्क पुनर्नवा के साथ लेना चाहिए।

हृदय की रक्षा के लिए हृदयार्णव रस २ रत्ती, अर्जुन त्वक् चूर्ण ४ रत्ती को मिश्रित कर मधु के साथ दें।

रात्रि को सोते समय इन्द्रायण मूल चूर्ण ३-६ माशा की मात्रा में गर्म दूध के साथ दें।

इस रोग में पुरीष पतला निकलने से रोगी को शीघ्र लाभ होता है। मूत्रल औषधियों का प्रयोग लाभदायक है परन्तु अतिमूत्रल जैसे पारदयुक्त मूत्रल औषधियों के प्रयोग से वृक्क के अतिग्रस्त होने का भय रहता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में Chlorothiazid एवं Chlorothalidone एवं Frusemide आदि औषधियाँ Dinresis के रूप में प्रयोग में लाई जाती हैं। मूत्रल औषधियों के प्रयोग के समय कुछ सावधानियां जैसे रोगी के भार की दैनिक स्थिति, उदर का परिमाण, जल का ग्रहण और निष्कासन तथा Blood Potassin Lavel आदि का ध्यान रक्खें।

रोगी की आहार व्यवस्था—गोदुग्ध या उंटनी दुग्ध अल्प मात्रा में बार-बार पिलाना चाहिए। मुख में मिश्री का छोटा टुकड़ा रखकर ऊपर से दुग्ध पिलाएं। लवण, अन्न व जल तीनों वर्जित हैं। प्यास लगने पर नारियल जल ही देना चाहिए। निरन्तर दूध पीते रहने से

प्यास का वेग नहीं रहता। मोसमी, अंगूर और सन्तरे का रस भी देना चाहिए। परन्तु कठिन फल वर्जित हैं।

शस्त्रकर्मोपरान्त ६ माह तक केवल दूध का ही सेवन करायें। उसके बाद दूध के साथ पेया तीन मास तक दें। तदुपरान्त तीन माह तक पेया के अतिरिक्त विलेपी, दलिया आदि द्रवात्मक भोजन दूध के साथ या खट्टे फल, अनार आदि से शृत मांसरस के साथ खिलाते रहें। इस प्रकार एक वर्ष तक निर्दिष्ट पथ्य के अनुसार चिकित्सा से लाभ होता है। मलानुबन्ध से बचाने के लिए तथा बल की स्थिरता के लिए विरेचन के पश्चात् दूध का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि रक्तादि धातुओं की क्षीणता से आर्त्त विरेचन आदि प्रयोगों से कृश उदर रोगियों के लिए दुग्धपान देवताओं के अमृतपान के समान गुणकारी है।

विशेष चिकित्सा

रोगी के बलाबल एवं आयु के अनुसार निम्न प्रयोगों में से आवश्यकतानुसार प्रयोग करें—

१. यकृदरि लोह ४ रत्ती और प्रवाल पञ्चामृत २ रत्ती यकृत् जन्य जलोदर में प्रयोग करें। इसी प्रकार ४ रत्ती की मात्रा में प्लीहाशार्दुल रस प्लीहोदर जन्य जलोदर में प्रयोग करें।

२. स्वर्णभस्म १ रत्ती, ताम्रभस्म २ रत्ती हृदयजन्य जलोदर में प्रयोग करें।

३. वृक्क विकार जन्य जलोदर में पुनर्नवा मण्डूर १ माशा पुनर्नवामूल स्वरस या मधु के साथ प्रातः सायं सेवन करें।

४. ग्रहणी रोग जन्य जलोदर में स्वर्णपर्पटी का प्रयोग करना चाहिए।

५. सभी प्रकार के जलोदर में पुनर्नवाष्टक क्वाथ ८ तोला प्रातः ८ बजे पिलाने से अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ है।



जलोदर पर एक सफल योग

लोह भस्म	पीपल	पीपलामूल
सौंठ	देवदारु	नागरमोथा
इन्द्र जौ	बायविडंग	कुटकी
हरड़	बहेड़ा	आंवला
स्वर्णमाक्षिक		—हरेक १०–१० ग्राम

—सबको कूट-पीस कर गोमूत्र में पीसकर झरबेर के बराबर गोली बनावें, प्रातः सायंकाल १–१ गोली पुनर्नवा के रस या मधु के साथ दें।

पथ्य—रोगी को पानी पीने के लिये नहीं देना चाहिये। पानी की जगह मकोय तथा पुनर्नवा का अर्क पीने के लिये दें। भोजन में नमक नहीं दें। चने वगैरह की रोटी, दूध, सहिजने की तरकारी (बिना नमक की) दें।

नोट—इस दवा के साथ-साथ कुटकी, त्रिफला व देवदारु का क्वाथ बनाकर प्रतिदिन देना चाहिये।

यह प्रयोग स्व० श्री त्र्यम्बक जी शास्त्री का है।



अर्श विमर्श तथा उपचार

आयुर्वेदरत्नाकर वैद्यरत्न श्री जयनारायण गिरि" इन्दु" धजवा, पो० नूरचक (मधुवनी)
तथा श्री बी. एस. प्रेमी प्रोफे० काय चिकित्सा आयु० तथा तिब्बिया कालेज, नई दिल्ली

अर्श-विमर्श आयुर्वेद रत्नाकर श्री जयनारायण गिरि 'इन्दु' धजवा मधुवनी (मिथिला) की देन हैं तथा अर्श रोगोपचार आचार्य प्रेमी जी नई दिल्ली की कृति हैं। दोनों ही लेख पूरकानुपूरक रूप में अर्श की जटिलता को सुगमता में बदलने में पर्याप्त हैं। दोनों ही सुधानिधि परिवार के प्रौढ़ एवं सुपूजित घटक हैं। हमारा विश्वास है कि अर्श विषयक इतनी सामग्री इन लेखों में संजोई गई है कि केवल अर्श-चिकित्सक के रूप में बैठने वाला वैद्य भी उसमें सब कुछ पा सकता है। ज्ञान अनुभवपूर्ण और शास्त्रीय दोनों ही प्रकार का है। हम दोनों ही विद्वानों का इस हेतु साधुवाद करते हैं। —रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

अर्श त्यागन संस्थान की अति प्रचलित एवं अति-कष्टकर व्याधि है। इसे संस्कृत में अर्श, उर्दू या अरबी भाषा में बवासीर, मैथिली में वायसिर, अंग्रेजी में पाइल्स (*Piles*) या हिमोराइड्स (*Haemorroids*) कहते हैं। यह ऐसी कष्टकर व्याधि है कि मानव शरीर में इसकी उत्पत्ति होना ही जीवित मृत्यु के समान प्रतीत होता है। अर्श का नाम भी दुरनाम माना गया है क्योंकि इसका नामोच्चारण भी त्याज्य है। 'अर्श' नाम पड़ने का एक कारण भी है। इस रोग में मस्से गुदा के मार्ग को अवरुद्ध कर शत्रु के समान क्लेश प्रदान करते हैं इसलिये इन्हें 'अर्श' कहते हैं, क्योंकि—

"अरिवत्प्राणिनो मांस कीलका विशसंति यत्।
अर्शांसि तस्मादुच्यंते गुदमार्ग निरोधतः॥"
—माधव निदान।

वाग्भट के अभिमतानुसार जब वातादि दोष कुपित होते हैं तब वे त्वचा, मांस और मेद को दूषित कर देते हैं और परिणामस्वरूप गुदा के आस-पास किनारे पर अथवा मलद्वार (गुदा) के आभ्यन्तर भिन्न-भिन्न आकृति के मांसांकुर उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं अंकुरों को अर्श या मस्से कहते हैं। यथा—

"दोषास्त्वं मांस मेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन्।
मांसांकुरान्, पानादो कुर्वन्त्यर्शांसि तांजगुः॥"

एक अन्य विद्वान् ने इसकी परिभाषा में उल्लेख किया है कि मलाशय के चतुर्दिक उसके अन्तिम १ या २ इंचों में गई अशुद्ध रक्तवाहनियों (*Haemorrhoidol veins*) पर जब मल या अन्य इन्द्रिय आदि का दबाव पड़ता है तब शिरायें विस्फोट होकर अंकुर के समान लटक जाती हैं जिसे अर्श कहते हैं।

अर्श का अधिष्ठान साढ़े पांच अंगुल के स्थूलान्त्र के अन्तिम भाग को माना गया है।

इसमें डेढ़ अंगुल के अन्तर से प्रवाहणी, संवरणी, विसर्जनी नाम की ये तीन बलियां होती हैं। उन्हीं में अर्श की उत्पत्ति होती है।

अर्श रोग क्यों

दिन भर निठल्ले बैठे रहना और शारीरिक परिश्रम से सर्वथा अलग रहना, स्वल्प परिश्रम करने पर भी अधिक गरिष्ठ पदार्थों का सेवन करना, मिर्च, मसालेदार चटपटी वस्तुओं का अत्यधिक सेवन करना, अत्यधिक मद्यपान, सदैव कोष्ठबद्धता की शिकायत रहना, विरुद्ध भोजन करना, रात्रिजागरण, यकृत् की विकृति, बनिताओं में गर्भ विच्युति (*Uterine displacement*) होना, वृद्धावस्था में *Prostate gland* की वृद्धि, चाय का अत्यधिक सेवन और साइकिल आदि की सवारी इस रोग के प्रधान हेतु होते हैं।

अर्श के पूर्वरूप

जिस अभागे व्यक्ति को इस व्याधि से साक्षात्कार हो जाता है उससे पूर्व उसका क्षुधा नाश हो जाता है, भोजन कर लेने पर भी उसका भलीभांति पाचन नहीं होता, उदर में गुड़गुड़ाहट की आवाज होने लगती है, खट्टी डकारें आने लगती हैं, मलावरोध हो जाता है जिसके कारण अत्यल्प परिमाण में मल का विसर्जन होता है, रोगी अशक्ति अनुभव करता है, शिरःशूल या वक्ष में वेदना होने लगती है, आलस्य का अनुभव होता है, रक्ताल्पता के लक्षण प्रतिभासित होते हैं और शरीर का वर्ण बदलने लगता है।

अर्श के भेद

सुश्रुतानुसार अर्श के छः भेद होते हैं। यथा—
१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. रक्तज. ५. सन्निपातज, और ६. सहज ये छः प्रकार के होते हैं।

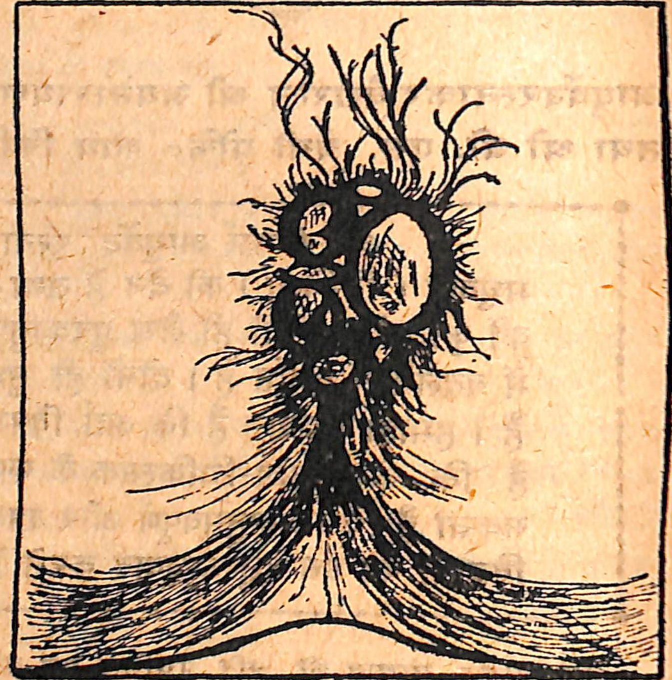
अर्शस्थित दोषों की पहचान

"शूलं दाहोति विष्टम्भो, वाते पित्ते कफे क्रमात्।
सरक्तश्चमलोज्ञेयं सर्वेश्वर्श सुलक्षणम्॥"

रोगी की गुदा में शूल हो अथवा शूलयुक्त मल विसर्जन हो तो वात, दाह हो तो पित्त, मल विसर्जन खुलकर न हो तो कफ की प्रधानता समझना चाहिये। रक्तस्राव तो सभी प्रकार के अर्श में होना स्वाभाविक ही है।

अर्श का अन्य रोगों से सम्बन्ध

यदाकदा नवीन चिकित्सकों को अर्श के रक्तस्राव और आमाशय के रक्तस्राव में भ्रम उत्पन्न हो जाता है इसलिये यह जान लेना परमावश्यक है कि अर्श का रक्तस्राव साधारणतः मल विसर्जन के पूर्व या पश्चात् होता



अर्शांकुर

है, मल के साथ अर्श का रक्तस्राव नहीं होता और न उसका खून मल के साथ मिला ही होता है। बवासीर का रक्त कभी बूंद-बूंद अलग गिरता है और गुदद्वार में कोई वस्तु अटकी प्रतीत होती है लेकिन आमाशय से जो रक्तस्राव होता है उसका निष्कासन मल के साथ ही होता है और गुदद्वार में किसी भी प्रकार की अनुभूति नहीं होती। बहुत से चिकित्सक कैंसर और अर्श का प्रभेद नहीं कर पाते। उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि कैंसर में जलन और दर्द असह्य होता है। कैंसर होने से गिल्टी बड़ी हो जाती है। दीर्घकाल तक अर्श रहने से गुदभ्रंश हो जाता है क्योंकि अत्यन्त मलावरोध के परिणामस्वरूप रोगी को मलविसर्जन करते समय जोर लगाकर मल विसर्जन करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप आंतों पर जोर पड़ते रहने के परिणामस्वरूप कालान्तर में आंतें

दुर्बल हो जाती हैं और गुदभ्रंश रोग हो जाता है। अत्यधिक रक्तस्राव होने से शरीर में रक्त की न्यूनता आ जाती है और इसके परिणामस्वरूप पाण्डुरोग का प्रादुर्भाव हो जाता है। कई अर्श रोगियों को भगन्दर भी हो जाता है।

अर्शरोग का चिकित्सा सूत्र

"शुष्कार्शसां प्रलेपादिक्रिया तीक्ष्णाविधीयते।
स्राविणां रक्तमालोक्य क्रिया कार्याऽस्त्र पैत्तिकी॥"

अर्थात् शुष्क अर्श में प्रलेप आदि तीक्ष्ण क्रिया सम्पादित करना चाहिये और आर्द्रार्श में रक्तपित्त की विधि से चिकित्सा करनी चाहिये।

"निदान परिवर्जनम्" के सिद्धान्तानुसार सर्वप्रथम कारण को दूर करना उचित है। रोगी को मानसिक परिश्रम के साथ शारीरिक परिश्रम करने की भी सलाह देनी चाहिये। मांस, मदिरा, चाय, अत्यधिक साइकिल की सवारी आदि बिल्कुल छोड़ देनी चाहिये। मन्दाग्नि को दूर करना चाहिये और विबन्ध नहीं रहे इसका सदैव ध्यान रखना चाहिये। वादी बवासीर से ग्रस्त रोगी को मट्ठा खूब सेवन करना चाहिये। अर्श के रोगी को कोष्ठबद्धता निवारणार्थ सर्वप्रथम रात्रि में शयन के समय पंचसकार चूर्ण दो से चार चम्मच तक एक पाव गर्म जल से लेना हितकर होगा। इससे प्रातः काल एक दो दस्त हो जायेंगे और पेट का जमा हुआ मल बाहर निकल जायेगा और गुद शिराओं के ऊपर का दबाव हटकर अर्श रोगी को आराम मिलेगा।

अर्श की आयुर्वेदिक चिकित्सा

आयुर्वेद में अर्श रोग चिकित्सार्थ औषधि चिकित्सा, क्षार चिकित्सा, शस्त्र चिकित्सा तथा अग्नि चिकित्सा का विधान है लेकिन पाठकों को सिद्ध एवं अनुभवित चिकित्सानुभव की संक्षिप्त झलक देना ही इस लेख में उचित समझकर व्यर्थ में कागज भरना नहीं चाहता। नीचे अर्शरोगनाशक सफल योग दिये जा रहे हैं:—

१. धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़) द्वारा "अर्शान्तक सैट" में इस रोग की खाने और लगाने वाली दवायें मंगायी जाती हैं जो सभी प्रकार के अर्शों में अत्युपयोगी हैं।

२. रात्रि में शयन के समय त्रिफला चूर्ण ३ चम्मच की मात्रा में उष्णोदक के साथ, दिन में दो बार १-२ गोली अर्शकुठार रस तक्र के साथ और भोजनोपरान्त अभयारिष्ट दिन में दो बार ३-४ चम्मच जल के साथ देने से बवासीर निश्चित रूपेण ठीक हो जाता है। मस्सों पर शास्त्रोक्त बृ. कासीसादि तैल लगायें। मैं अर्श के सभी रोगियों पर यही व्यवस्था करता हूं। खूनी अर्श के रोगियों को कभी-कभी अभयारिष्ट के साथ उशीरासव भी मिलाकर देता हूं और इस व्यवस्था से उन्हें आश्चर्यजनक लाभ मिल जाता है।

३. वातार्श के रोगी को निम्नलिखित अर्शान्तकवटी जो पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा 'अमृतधारा' वाले देहरादून का अनुभूत योग है, उत्तम फलप्रद सिद्ध हुआ है। योग है—

एलुवा ३० ग्राम, रसौत ३० ग्राम, नीम की निबौली ३० ग्राम, रीठे का छिलका ३० ग्राम, शुद्ध गूगल १५ ग्राम, शुद्ध सुहागा चौकी १५ ग्राम और सोनागेरू १५ ग्राम। इसे १॥ बोतल मूली के रस में घोटकर २-२ रत्ती की गोलियां बना लें। इसे २-२ गोली की मात्रा में गर्मजल अथवा तक्र के साथ दें तो कमाल का काम करता है। हमें इस योग पर बहुत ही भरोसा है।

(४) 'भैषज्यरत्नावली' का बहुशालगुड़ भी अर्श रोग की महौषधि है। यह बवासीर के अतिरिक्त अन्य पचीसों रोगों में निर्भयतापूर्वक दिया जाता है लेकिन यह बवासीर की महौषधि के रूप में सुविख्यात है। अवश्य परीक्षा करें।

५. हिमालय ड्रग कम्पनी का *Pilex tab.* विशुद्ध आयुर्वेदीय उपादान है जिसे एलोपैथ डाक्टर भी चलाने का लोभ संवरण नहीं कर पाते। विवरण पत्रानुसार इसका प्रयोग आशाजनक लाभकारी सिद्ध होता है।

६. गर्ग बनौषधि भंडार विजयगढ़ (अलीगढ़) द्वारा निर्मित बावलीघास घनसत्व की टिकिया २-२ की मात्रा में दिन में २-३ बार देने से रक्तार्श में सत्वर लाभ होता है।

७. रसौत ३५ ग्राम, हरड़ ३५ ग्राम, बहेड़ा ३५ ग्राम, आंवला ३५ ग्राम, निबौली की मिंगी ३५ ग्राम और शुद्ध कपूर ३५ ग्राम। इन सबको महीन पीसकर चूर्ण बनाकर

जल के संयोग से २-२ रत्ती की गोलियां बना छाया शुष्क कर सुरक्षित रखें। मात्रा १-१ गोली शीतल जल के साथ प्रातः सायं। यह खूनवी बासीर में अमृत की तरह लाभप्रद है।

८. हल्दी यथावश्यक आक का दूध पर्याप्त। विधि हल्दी को आक के दूध में घोटकर फलवर्ती बनायें। इन्हें छाया में सुखाकर रख लें। आवश्यकता के समय सर्वप्रथम अर्श के आस-पास घी लगाकर इस फलवर्ती को पत्थर पर जल के साथ घिसकर अर्श पर टपकावें। इस प्रकार से एक सप्ताह तक करने से अर्श के मस्से सूखकर गिर पड़ते हैं। तत्पश्चात् रोपणक्रिया करनी चाहिये।

९. "आयुर्वेद विकास" के 'अनुभूत चिकित्सा परिशिष्टाङ्क' में एक योग श्री शांडिल्य जी का प्रकाशित हुआ था जिसे मैंने अनेक अर्श रोगियों पर चलाकर अच्छा यश अर्जन किया है। योग है—एक मन पानी में १ सेर सज्जी, १ सेर बिना बुझा चूना मिट्टी की नाद या घड़े में डाल दें। छः या सात दिन उसे पड़ा रहने दें। सात रोज बाद ऊपर का स्वच्छ जल लोहे की कड़ाही में डालकर जलावें। जब पानी ५ सेर रहे तब आधा सेर लहसुन का रस डाल दें। अब पुनः पानी गर्म करें। जब ३० तोले मात्र शेष रहे तब उतार लें एवं शीतल होने पर त्वचा पर लगाकर देखें। यदि त्वचा जल जाय, तो क्षार पूर्णरूप से तैयार हो गया अन्यथा नहीं। उस क्षार में १६ तोले तिल का तैल एक तोले क्षार में प्रयुक्त कर रख लेवें। यह आपके पास *Injection vial* तैयार हो गया। रोगी के अर्श को विसंक्रमित कर अर्शोयन्त्र की सहायता से अर्श को पकड़कर सिरिंज में औषधि भरकर उपर्युक्त दवा प्रविष्ट कर दें। इससे अर्श मस्से गल जायेंगे। यह अत्यन्त सफल योग है।

११. बुन्देलखण्ड आयुर्वेदिक-यूनानी वर्क्स मानिक चौक झांसी द्वारा निर्मित "स्पेशल बवासीर" १ एम्पुल सप्ताह में २-३ बार मस्से में और इसी कम्पनी का 'जमीकन्द' इजेक्शन सप्ताह में २-३बार *Intramuscular* लगाने से आशातीत लाभ होता है।

अर्श की एलोपैथिक चिकित्सा

1. Adrenelite hydrochloride १ भाग को चौगुने परिश्रुत जल में मिलाकर मासाङ्कुरों के पास इंजेक्ट कर दें। एक बार में दो मस्सों में ही सूई लगायें।

2. Boots कम्पनी का *Cremaffin* २-३ बड़े चम्मच रात को शयन के समय दें। यह कब्ज और बवासीर नाशक है।

३. अर्श की खुजली. तेज दर्द, रक्तस्राव एवं दाह की अवस्था में *Ciba* कम्पनी का *Nupercainal oinlment* प्रतिदिन २ ३ बार प्रयोग करायें।

४. रक्तार्श की अवस्था में *Sandoz* कम्पनी का *Calcium Sandoz* १० सी. सी. शिरान्तर्गत प्रयोग करायें। यह रक्तस्राव को रोकता है और शक्ति भी देता है।

५. रक्ताल्पता की दशा में *Squibb* कम्पनी का *Rubraplex Elixir* या *Tonoferon* का प्रयोग करायें।

६. *Liq. Hazelin*	*2 dram*
Procaine	*12 gn.*
Ung. Hamarmelis	$\frac{1}{2}$ *oz.*

इन तीनों को मिलाकर *Tube* में भरलें। शौच करने के बाद गुदा में *Tube* का मुंह लगाकर पीछे से दवा दें। ऐसा करने से औषधि अन्दर चली जायगी। यह बवासीर के मस्सों का दर्द, जलन और खून आने में उपकारी है।

७. *H. p. ointment, Hedensa ointment Proztosedyl [Franco Idian] ointment* का प्रयोग इस रोग में आशु लाभप्रद सिद्ध होता है।

अर्श रोग की होमियोपैथिक चिकित्सा

१. शुष्कार्श में गुदा पर अधिक खुजली हो, कब्ज रहे, कमर में दर्द हो, रोगी निठल्ला बैठा रहे, रोगी खूब मसालेदार भोजन करना पसन्द करे, ठण्डे पानी के छींटे मारने पर आराम मालूम दे तो *Nux vomica* का प्रयोग लाभकर है। इसके रोगी को हमेशा कब्ज रहता है, कोशिश करने पर भी पाखाना नहीं होता।

२. रोगी को ऐसा प्रतीत हो कि मलद्वार नीचे को सरका जाता, मस्से में जलन, कंपकपी, गरमी प्रतीत होना तन्तनाहट रक्तस्राव, पेट फूलना, पतले दस्त, वायु निक-

लना, काटने पर काले रंग का खून निकलना अगर ये लक्षण पाये जायें तो *Aloes* ३० या २०० हाथों हाथ लाभ करता है।

३. सूर्यास्त के समय *Nuxvomica* ३० और सवेरे *Snlphar* ३० का प्रयोग करने से अर्श में आश्चर्यजनक लाभ होता है।

४. मलत्याग के समय बहुत अधिक वेग हो, रोगी को इतनी अधिक जलन हो मानो किसी ने लाल मिर्च की बुकनी छिड़क दी हो तो *Ratanhia 3X* या *5X* देकर लाभ उठायें।

अर्श रोग में पथ्य

पुराने चावल का भात, गेहूं या मकई की रोटी, मूंग चना, जमीकन्द (ओल), गूलर, परबल, प्याज, पपीता, केला- मूली, चौलाई, पालक, दूध, किशमिश, आम, नींबू, सन्तरा, मट्ठा, छोटी इलायची, आंवला, तुरई, गुड़, गोमूत्र सनाय, हर्रे, नारियल, अंगूर, लहसुन, सरसों का शाक, यवशाक, कचूर, कूष्माण्ड आदि।

अर्श रोग में अपथ्य

मैथुन, ऊंट या साइकिल की सवारी, नवीन अन्न, दिवाशयन, रात्रिजागरण, बार-बार जल पीना, पोई शाक, उड़द, दिन भर बैठे रहना, धूप का अत्यधिक सेवन गुरु पाकी वस्तुओं का सेवन आदि भी सर्वथा निषेध है।

साध्यासाध्यत्व

"हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा।
शोथोहृत्पार्श्व शूलं च यस्यासाध्योऽर्श सो हि सः॥"

अर्थात् जिस अर्श रोगी के हाथ, पैर, मुख, नाभि, गुदा और अण्डकोषों में शोथ हो तथा हृदय और पार्श्व में शूल हो वह असाध्य है। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त रोगी की मुक्ति बिना मृत्यु के नहीं होती है।

अर्श चिकित्सा सिद्धान्त

१—अपान वायु आदि का अनुलोमन होना चाहिए। जठराग्नि को प्रदीप्त किया जाना चाहिए। उक्त दोनों प्रक्रियाओं को करने वाली औषधियों का प्रतिदिन नियमानुसार सेवन किया जाना चाहिए।

२—मलभेद की चिकित्सा की जानी चाहिए।

३—मलबन्ध होने पर उदावर्त रोग वाली चिकित्सा की जानी चाहिए।

४—अर्श चिकित्सा के चारों सिद्धान्तों का अर्थात् (अ) औषधि प्रयोग (ब) क्षार प्रयोग (स) शस्त्र प्रयोग (द) अग्नि प्रयोग। इनका देश-काल, रोगी का बलाबल, आवश्यकता आदि देखकर अनुभवी चिकित्सक प्रयोग करें।

५—प्रत्येक औषधि सेवन के साथ साथ मस्सों पर लगाने की दवा का भी प्रयोग किया जाए। आवश्यकतानुसार धूपन और स्वेदन भी किया जाता है।

६—यदि अर्श के मस्से सूखे हुए हों तो तीक्ष्ण प्रलेपों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

७—यदि मस्से फूलकर कठोर हो गए हों तो जलौका के द्वारा रक्त निर्हरण किया जाना चाहिए।

८—यदि अर्श में स्राव अधिक हो रहा हो तो रक्तपित्त के समान चिकित्सा व्यवस्था की जाती है।

९—वातज अर्श में स्वेदन, पित्तज अर्श में विरेचन, कफज अर्श में वमन आदि का प्रयोग किया जाता है।

१०—रक्तज अर्श में पित्तज अर्श की भी चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है। किन्तु खूनी बवासीर के प्रथम बार हो रहे रक्तस्राव को नहीं रोकना चाहिए, उसके तो बह जाने में ही रोगी का कल्याण होता है।

औषधि प्रयोग नं० १—शुद्ध भिलावा एक भाग, हरड़ एक भाग, तिल एक भाग सबको चूर्ण करके बराबर का गुड़ मिलाकर प्रतिदिन प्रातः सायं सेवन करने से अर्श नष्ट होता है, यह सत्य है। इसके साथ शीतल जल पीना चाहिए।

औषधि प्रयोग नं० २—कालीमिर्च एक भाग, सोंठ चूर्ण दो भाग, चित्रकमूल त्वक्चूर्ण चार भाग, जिमीकन्द का चूर्ण आठ भाग मिलाकर सबके तुल्य अर्थात् पन्द्रह भाग गुड़ मिलाकर एक-एक तोला का मोदक सा बनाकर प्रातः सायं पानी से सेवन करें।

औषधि प्रयोग नं० ३—सोंठ, पीपल छोटी, बड़ी हरड़, अनारदाना इनमें से किसी एक के चूर्ण को (अर्थात् छः-छः माशा) कोई सा चूर्ण तथा गुड़ मिलाकर पानी से प्रातः सायं सेवन करने से मलबद्धता, पीड़ा और मस्से नष्ट हो जाते हैं।



औषधि प्रयोग नं० ४—छोटी इलायची एक भाग, दालचीनी २ भाग, तेजपात तीन भाग, नागकेशर चार भाग, कालीमिर्च पांच भाग, पीपल छः भाग, सोंठ सात भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करलें और बराबर की शक्कर मिलाकर रखलें। प्रातः सायं ६-६ माशा ताजा पानी से सेवन करें। निश्चय सभी अर्श नष्ट होते हैं।

औषधि प्रयोग नं० ५—जवांसा, बेलगिरि, अंजवायन, सौंठ इनको समान मात्रा से लेकर पीसकर ताजा पानी से प्रातः सायं सेवन करने से सर्व प्रकार की बवासीर नष्ट हो जाती है, यह सत्य है।

पथ्यापथ्य—छाछ, जमीकन्द, कुल्थी, जौ, गेहूं, रक्तवर्ण का शालिधान, पुनर्नवा, कपित्थ, मक्खन, बथुआ, बकरी का दूध, बैंगन, कांजी आदि का प्रयोग करने से अर्श रोग का सफाया हो जाता है। किन्तु मल-मूत्रादि के वेगों का रोकना, मैथुन करना, घोड़े, साइकिल आदि की सवारी करना, पूर्ण रूप से वर्जित है।

अर्श पर लेप प्रयोग

१—थोहर के दूध में हल्दी मिलाकर मस्सों पर लगाने से झड़ जाते हैं।

२—हल्दी, कड़वी तोरई के चूर्ण को राई के तेल में मिलाकर लगावें।

३—पीपल, सेंधानमक, कूठ, सिरस के बीजों का चूर्ण, थोहर के दूध या अर्कदुग्ध में मिलाकर लेप करने से मस्से नष्ट होते हैं।

५—मालकांगनी के बीजों का कल्क मस्सों को नष्ट करता है।

२—कासीसादि तैल लगाने से भी मस्सों का पतन हो जाता है।

६—जमीकन्द, हल्दी, चित्रक और सुहागे को गुड़ में मिलाकर कांजी के साथ लेप करने से बवासीर के मस्से गिर जाते हैं।

७—तूतिया, गेरू, नमक, भिलावा शुद्ध, तोरई का चूर्ण इन सबको समान मात्रा में गोमूत्र में पीसकर मस्सों पर लेप करने से शीघ्र ही लाभ होता है।

अर्श रोग नाशक विशेष महत्वपूर्ण अमूल्य प्रयोग

(क) अर्शोहर—[यह अर्श रोग का एक विशेष सफल प्रयोग है] कांकायन वटी दो तोला, प्राणदा गुटिका डेढ़ तोला, जिमीकन्द का चूर्ण चार तोला, सोंठ, सौंफ, कालीमिर्च, पीपल, बड़ी हरड़ का छिलका, दोनों जीरे दो दो तोला, शङ्खभस्म तीन तोला, कालानमक दो तोला, द्राक्षा पांच तोला, दालचीनी एक तोला, तेजपात एक तोला, चव्य दो तोला, अजवायन दो तोला, भिलावा डेढ़ तोला, सिंगरफ की भस्म एक तोला, हरताल वर्की की भस्म छः माशा, नीम के बीजों की गिरी चार तोला, बकायन के बीज दो तोला, एलुवा तीन तोला, भुनी हींग एक तोला, कुटकी दो तोला, बेलगिरी पांच तोला, काली निशोथ तीन तोला इन सबको कूट-पीसकर त्रिफला के काढ़े की समप्रमाण दो भावनाएं दे डालें। फिर विधारा के काढ़े की समप्रमाण एक भावना देवें। फिर दो-दो माशा की वटियां बनालें। कम से कम चार रत्ती की वटी भी काम दे जाती है। दो माशा वाली वटियां शीघ्र लाभ करती हैं। चार रत्ती वाली कुछ अधिक समय लेती हैं। किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि बवासीर के लिए इससे उत्तम दवा मिलनी असम्भव नहीं हो तो कठिन अवश्य है।

अनुपान—छाछ, दूध, पानी, जूस आदि से ले सकते हैं। यह प्रयोग चालीस दिन से सौ दिन के भीतर-भीतर पेंतीस वर्ष तक की पुरानी बवासीर को समूल नष्ट करता है। साथ में भयंकर मन्दाग्नि, पुराना कब्ज, अजीर्ण, पुरानी पेचिश, हर समय टट्टी की हाजत बनी रहना, गुद शोथ, गुद पीड़ा, अन्य शोथ प्लीहा, यकृत्, पुराना दमा, स्वप्नदोष, शीघ्रपतन, नपुंसकता, लिंग की सभी विकृतियां हस्तमैथुन के दोष, स्मरण शक्ति का दुर्बल होना, पागलपन, मैथुन करते समय शीघ्र ही थक जाना या हांफने लगना, सोमरोग, बहुमूत्र, मधुमेह, श्वेतकुष्ठ, कृमिरोग, सिर के बाल झड़ना, कमर दर्द, गठिया, पुराना नजला, खून की कमी, नेत्र रोग, ऊंचा सुनना, इन रोगों को समूल नष्ट करता है। इसमें इतना भी असत्य नहीं कि जितनी उड़द पर सफेदी होती है। यह प्रयोग हमें हमारे प्रातः स्मरणीय श्री गुरुदेव जी महाराज से प्राप्त हुआ था

और हमने अब तक लगभग चार सौ रोगियों पर इसका शत-प्रतिशत अनुभव रिकार्ड किया है। रोगियों को प्रयोग करके लाभ उठाना चाहिए।

(ख) अर्शोघ्नी वटी—रस सिंदूर एक तोला, बायविडङ्ग, कालीमिर्च, अभ्रकभस्म शतपुटी ये प्रत्येक चार-चार तोला लेकर जलपालक के रस में मर्दन करके एक-एक रत्ती की गोलियां बनालें। दो-दो गोलियां प्रातः, दोपहर, सायं और रात्रि को सोते समय गरम पानी से सेवन करने से सभी प्रकार की बवासीर अवश्य ही नष्ट हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं। बहुत ही उत्तम प्रयोग है। निरन्तर इस रस का प्रयोग करने से मन्दाग्नि नष्ट हो जाती है और जठराग्नि खूब तीव्र हो जाती है।

(ग) अर्शोहर रस—पारद भस्म अथवा रससिंदूर अथवा शुद्ध हिंगुल एक भाग, अभ्रकभस्म दो भाग, ताम्रभस्म तीन भाग, लोहभस्म चार भाग, शुद्ध गन्धक पांच भाग, इन सबको परस्पर मर्दन करके इनके समान भाग बंदाल के काढ़े में पाचन करें। पुनः समप्रमाण वत्सनाभ के काढ़े में पकावें। यह पाचन वत्सनाभ में केवल मात्र दो घण्टे तक ही किया जाए। पुनः दो दिन तक त्रिफला काढ़े में पाचन करें। अन्त में त्रिकटु के काढ़े की एक भावना देकर तीन-तीन रत्ती की गोलियाँ बनालें। यह रस सर्वोत्तम गुणकारी है। किसी भी प्रकार की बवासीर एक सप्ताह में नियंत्रण में आ जाती है। यदि पित्त की बवासीर हो तो गिलोय के स्वरस के साथ सेवन करें।

वायु की बवासीर—सोंठ, मिर्च, पीपल इन तीनों का समभाग चूर्ण एक माशा के साथ एरण्ड का तेल मिलाकर सेवन करें। अथवा घृत एवं कालीमिर्च का पाउडर के साथ सेवन करें। वायु की बवासीर दो सप्ताह में अवश्य नियंत्रण में आ जाती है। यदि कफ की बवासीर हो तो चित्रक चूर्ण एक माशा, अदरक स्वरस एक माशा, गुड़ दो माशा के साथ सेवन करने से चौबीस घण्टों में कफ की बवासीर नियन्त्रण में आ जाती है। नियमित रूप से सेवन करने से तीन सप्ताह में कफ की बवासीर समूल नष्ट हो जाती है। यदि त्रिदोषज बवासीर हो तो मुलैठी चूर्ण २ माशा, गुड़ ३ माशा. हरड़ का चूर्ण १ माशा, सोंठ चूर्ण १ माशा के साथ सेवन करना चाहिए। नियमित रूप से सेवन करने से ८ से ६ सप्ताह में समूलनष्ट होगी। सभी प्रकार की बवासीर के लिए यह प्रयोग सौ फीसदी सफल है।

बादी की बवासीर पर

काई	२ पाव	आलू	१ पाव
छोटी इलायची	१ तो०	मुर्दासिंग	४ तो०

—काई निचोड़ कर बारीक कूट लें। आलू का छिलका उतार कर फेंक दें। आलू के गूदे को काई के साथ खूब कूटें। फिर इलायची और मुर्दासिंग को भी अच्छी तरह इन में मिला दें। यह सब गुंदे आटे की तरह बन जायगा। इसे कलई वाले बर्तन में रखदें और रुपये के बराबर की टिकियां बनालें। कागज के एक टुकड़े पर घी लगाकर उस पर एक टिकिया इस दबाई की रख तबे पर इस कागज को जरा गरम कर लें और बादी बवासीर के मस्से पर रख ऊपर से रूई रखकर पट्टी बांध दें। शौचादि के समय इस पट्टी को खोलकर और पिछली के बजाय नई टिकिया रखकर बांध दें। ३ दिन में आराम हो जायगा।

गुण—यह प्रयोग बादी की बवासीर के फूले हुए तथा दर्द करने वाले मस्से के लिये बहुत बार का परीक्षित योग है और शतप्रतिशत लाभ करता है।

—श्री ब्रह्मानन्द जी।



औषधि प्रयोग नं० ४—छोटी इलायची एक भाग, दालचीनी २ भाग, तेजपात तीन भाग, नागकेशर चार भाग, कालीमिर्च पांच भाग, पीपल छः भाग, सोंठ सात भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करलें और बराबर की शक्कर मिलाकर रखलें। प्रातः सायं ६-६ माशा ताजा पानी से सेवन करें। निश्चय सभी अर्श नष्ट होते हैं।

औषधि प्रयोग नं० ५—जवांसा, बेलगिरि, अंजवायन, सौंठ इनको समान मात्रा से लेकर पीसकर ताजा पानी से प्रातः सायं सेवन करने से सर्व प्रकार की बवासीर नष्ट हो जाती है, यह सत्य है।

पथ्यापथ्य—छाछ, जमीकन्द, कुल्थी, जौ, गेहूं, रक्तवर्ण का शालिधान, पुनर्नवा, कपित्थ, मक्खन, बथुआ, बकरी का दूध, बैंगन, कांजी आदि का प्रयोग करने से अर्श रोग का सफाया हो जाता है। किन्तु मल-मूत्रादि के वेगों का रोकना, मैथुन करना, घोड़े, साइकिल आदि की सवारी करना, पूर्ण रूप से वर्जित है।

अर्श पर लेप प्रयोग

१—थोहर के दूध में हल्दी मिलाकर मस्सों पर लगाने से झड़ जाते हैं।

२—हल्दी, कड़वी तोरई के चूर्ण को राई के तेल में मिलाकर लगावें।

३—पीपल, सेंधानमक, कूठ, सिरस के बीजों का चूर्ण, थोहर के दूध या अर्कदुग्ध में मिलाकर लेप करने से मस्से नष्ट होते हैं।

४—मालकांगनी के बीजों का कल्क मस्सों को नष्ट करता है।

५—कासीसादि तैल लगाने से भी मस्सों का पतन हो जाता है।

६—जमीकन्द, हल्दी, चित्रक और सुहागे को गुड़ में मिलाकर कांजी के साथ लेप करने से बवासीर के मस्से गिर जाते हैं।

७—तूतिया, गेरू, नमक, भिलावा शुद्ध, तोरई का चूर्ण इन सबको समान मात्रा में गोमूत्र में पीसकर मस्सों पर लेप करने से शीघ्र ही लाभ होता है।

अर्श रोग नाशक विशेष महत्वपूर्ण अमूल्य प्रयोग

(क) अर्शोहर—[यह अर्श रोग का एक विशेष सफल प्रयोग है] कांकायन वटी दो तोला, प्राणदा गुटिका डेढ़ तोला, जिमीकन्द का चूर्ण चार तोला, सोंठ, सौंफ, कालीमिर्च, पीपल, बड़ी हरड़ का छिलका, दोनों जीरे दो दो तोला, शङ्खभस्म तीन तोला, कालानमक दो तोला, द्राक्षा पांच तोला, दालचीनी एक तोला, तेजपात एक तोला, चव्य दो तोला, अजवायन दो तोला, भिलावा डेढ़ तोला, सिंगरफ की भस्म एक तोला, हरताल वर्की की भस्म छः माशा, नीम के बीजों की गिरी चार तोला, बकायन के बीज दो तोला, एलुवा तीन तोला, भुनी हींग एक तोला, कुटकी दो तोला, बेलगिरी पांच तोला, काली निशोथ तीन तोला इन सबको कूट-पीसकर त्रिफला के काढ़े की समप्रमाण दो भावनाएं दे डालें। फिर विधारा के काढ़े की समप्रमाण एक भावना देवें। फिर दो-दो माशा की वटियां बनालें। कम से कम चार रत्ती की वटी भी काम दे जाती है। दो माशा वाली वटियां शीघ्र लाभ करती हैं। चा... कुछ अधिक समय लेती हैं। किन्तु यह ... सीर के लिए इससे उत्तम दवा ... कठिन अवश्य है। ... दि से ले सकते ... भीतर-भीतर ... र को समूल नष्ट करता ... ग्नि, पुराना कब्ज, अजीर्ण, ... समय टट्टी की हाजत बनी रहना, गुद ... ड़ा, अन्य शोथ प्लीहा, यकृत्, पुराना दमा, ... प, शीघ्रपतन, नपुंसकता, लिंग की सभी विकृतियां हस्तमैथुन के दोष, स्मरण शक्ति का दुर्बल होना, पागलपन, मैथुन करते समय शीघ्र ही थक जाना या हांफने लगना, सोमरोग, बहुमूत्र, मधुमेह, श्वेतकुष्ठ, कृमिरोग, सिर के बाल झड़ना, कमर दर्द, गठिया, पुराना नजला, खून की कमी, नेत्र रोग, ऊंचा सुनना, इन रोगों को समूल नष्ट करता है। इसमें इतना भी असत्य नहीं कि जितनी उड़द पर सफेदी होती है। यह प्रयोग हमें हमारे प्रातः स्मरणीय श्री गुरुदेव जी महाराज से प्राप्त हुआ था



आमाशय कैंसर तथा उसकी चिकित्सा

श्री डा० रामचन्द्र साहू बी०ए०एन०डी० कैंसर विशेषज्ञ,
कैंसर संशोधन केन्द्र, मटेरा बाजार (बहराइच)

सुधानिधि के सम्पादक महोदय के आग्रह के कारण यह लेख पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। वैसे तो मुझे जटिल रोगों की चिकित्सा करने में विशेष आनन्द आता है। लेकिन कैन्सर चूंकि अत्यन्त ही जटिल रोग है, अतः इस ओर ज्यादा ध्यान है। समयाभाव के कारण लेख को संक्षिप्त कर रहे हैं कृपया पाठक क्षमा करें। निकट भविष्य में कठिन रोगों की सफल चिकित्सा पुस्तक प्रकाशित करेंगे।

अत्यधिक मात्रा में शराब पीने से, पुराने अम्लपित्त से, अजीर्ण एवं अग्निमांद्य से, तीखे चटपटे भोजन करने से, सख्त गर्म-गर्म चाय एवं कॉफी दिन में कई-कई बार पीने से, बहुत समय तक विरुद्ध भोजन करने से और अन्य कारणों से इस रोग की उत्पत्ति होती है। कैन्सर रोग चूंकि धीरे-धीरे बढ़ता है इसलिए इसका पूर्वाभास जल्दी नहीं होता और जब रोग काफी बढ़ जाता है तब आकर कहीं इसका पता चलता है। रोग की प्रथमावस्था में चिकित्सक के शरणापन्न होने से कैन्सर रोग से आक्रान्त ८० प्रतिशत रोगी ही इस रोग से अच्छे हो सकते हैं। कुछ ऐसे लक्षण हैं जिनसे इस रोग के आक्रमण का आभास समझा जा सकता है। अगर इन लक्षणों पर पहले ध्यान दे दिया जाय तो इसकी चिकित्सा आसानी से की जा सकती है ये लक्षण निम्न हैं।

१-पुराना अम्लपित्त और अजीर्ण हो।

२-स्त्रियों के गर्भाशय से बार-बार और अधिक मात्रा में रक्त आने लग जाय।

३-बहुत दिनों तक रात में अच्छी नींद का न आना।

४-प्रायः जी मिचलाना और कई बार भोजन के बाद उल्टी होना।

५-स्वर भंग का बहुत दिनों तक रहना, निगलने में कष्ट, बहुत समय तक खांसी आना।

६-पेट के भीतर कठिनता का अनुभव।

७-बहुत दिनों से पेट के भीतर पानी का इकट्ठा होते रहना।

८-भोजन के अनुपात से बहुत अधिक मात्रा में मल त्याग करना।

९-किसी एक विशेष समय में असह्य पीड़ा का होना।

१०-शरीर का वजन दिन प्रतिदिन गिरते जाना।

वैसे इन लक्षणों के होने पर यह आवश्यक नहीं है कि कैन्सर हो रहा है। किन्तु इन लक्षणों के होने पर सावधानी के लिए किसी विशेषज्ञ चिकित्सक से भलीभांति जांच अवश्य करा लेना चाहिए।

पेट के भीतर अनेक प्रकार से कैन्सर रोग की उत्पत्ति होती है। यकृत् प्लीहा क्लोम इत्यादि पाकस्थली के किसी भी अंश में कैन्सर हो सकता है। उदर गह्वर के प्रत्येक अंग में जैसे यकृत्, प्लीहा, पाकस्थजी, मूत्राशय क्षुद्रान्त्र ओर बृहदान्त्र इत्यादि प्रत्यङ्गों के कैंसर के

डा० साहू ने अपना जीवन कैंसर के अनुसन्धान हेतु अर्पण कर रखा है। आप इसकी सफल चिकित्सा खोज निकालने में संलग्न हैं। पूरा लेख अनुभव और ज्ञान की परिधियों में समाया हुआ है तथा सर्वथा मननीय एवं अवलोकनीय है। —मदन मोहनलाल चरौरे

सामान्य लक्षण निम्न प्रकार से होते हैं।

प्रथमावस्था में—भूख कम हो जाती है। भोजन में रुचि नहीं रह जाती। खाने पर प्रायः उल्टी हो जाती है कभी-कभी पाकस्थली में हलका-हलका दर्द होता है धीरे-धीरे यह दर्द बढ़ता जाता है। किसी एक निश्चित समय में यह वेदना उत्पन्न होकर काफी समय तक रोगी को असह्य पीड़ा देती है और कुछ क्षण के लिए पीड़ा शान्त हो जाती है। रोगी को कोष्टबद्धता हो जाती है नाभि के नीचे टटोलने पर छोटी-छोटी गुमड़ियां दिखाई पड़ती हैं पेट को दबा कर देखने से यह गुमड़ी (अर्बुद) टटोली जा सकती है। रोगी की इस पहली अवस्था में अर्बुद इतने लघु आकार में होते हैं कि वे पहले पहचान में नहीं आते हैं। इसलिए कभी-कभी उपरोक्त लक्षणों को देखकर गैस्ट्रिक अल्सर शूल आदि पेट के अन्य रोगों की चिकित्सा करते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि रोग घटता नहीं है बल्कि अर्बुद बढ़कर पेट से बाहर निकल आता है और तब यह कष्ट साध्य हो जाता है।

द्वितीया अवस्था में—इस अवस्था में पेट की मांस पेशियां धीरे-धीरे सख्त हो जाती हैं। अर्बुदों की वृद्धि हो जाती है। कब्ज रहता है, भोजन से अरुचि हो जाती है। ज्वर होने लगता है। पेट में चुभन के साथ अत्यधिक पीड़ा होने लगती है, अजीर्ण हो जाता है। मुंह से लार गिरने लगती है उल्टी होती है, उल्टी में लार अधिक मिली रहती है। रोगी का शरीर क्रमशः दुर्बल हो जाता है।

तृतीय अवस्था में—रक्त मिला हुआ दस्त होता है। खून की उल्टी होती है। हमेशा उल्टी करने की इच्छा होती है। भूख कम हो जाती है। शरीर अत्यन्त कमजोर हो जाता है। हमेशा ज्वर रहता है। अर्बुदों की अत्यन्त वृद्धि हो जाती है। पेट बिल्कुल कड़ा हो जाता है। टट्टी पेशाब करने में कष्ट होता है। आंख में पीलापन, नींद नहीं आती घोर पीड़ा आदि लक्षण होते हैं।

अन्तिम अवस्था में—हाथ पैरों में सूजन हो जाती है। कभी-कभी सारे शरीर में सूजन हो जाती है। टट्टी पेशाब एक दम बन्द हो जाती है। श्वांस लेने में कठिनाई होती है। अस्थिरता अवसन्नता एवं प्रलाप आदि लक्षण हो जाते हैं और रोगी इस अवस्था में प्राण त्याग देता है।

उपचार—

कैन्सर एक कठिन एवं कष्ट साध्य व्याधि है। धैर्य पूर्वक उचित इलाज कराने से ही इस व्याधि से मुक्ति हो सकती है।

सभी प्रकार के पेट के कैन्सर में दोषानुसार तथा अवस्थानुसार स्नेहन, स्वेदन निरूहण और अनुवासन वस्ति, विरेचन, वमन, लंघन, वृंहण, संशमन गुल्म तथा रक्त का अवसेचन कर्म आदि उपाय करना चाहिए। (लेकिन यह कार्य अनुभवी और आयुर्वेद विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। अतः उनकी देख-रेख में यह कार्य करना चाहिए)। औषधि में आरोग्य वर्धनीवटी १ रत्ती रस माणिक्य २ रत्ती, प्रबाल पञ्चामृत २ रत्ती, शहद और सहजन की छाल का रस मिलाकर दिन में ३ बार दें।

दर्द होने पर सोमनाथी ताम्र अदरक रस और मधु मिलाकर दें बहुत ही तीव्र पीड़ा होने पर तारा मण्डूर अथवा गुड़माण्डूर अथवा धात्री लौह मधु और घी के साथ दें।

पेट में जल संचय होने पर पर्पटी कल्प कराये। पर्पटी में थोड़ी मात्रा में मण्डूर भस्म भी मिला लें।

सभी प्रकार के कैंसर पर विशिष्ट उपयोगी

कैंसर विध्वंसकरस

सर्वेश्वर पर्पटी ६ ग्राम, शुद्ध वकिया हरताल ६ ग्राम स्वर्ण भस्म ६ ग्राम, अभ्रक भस्म सहस्र पुटी ६ ग्राम, मुक्तापिष्टी ६ ग्राम, हीरा भस्म उत्तम २५० मि० ग्राम पन्ना पिष्टी ३ ग्राम, अमृतासत्व ६० ग्राम, ताम्र भस्म ३ ग्राम, रस सिन्दूर षड्गुण गन्धक जारित १½ ग्राम।

सबको एकत्रित करके सहजन की छाल के रस की सात भावना देकर खरल करके २ रत्ती की गोलियां बना लें। दिन में २ बार प्रातः सायं-१-१ गोली शहद के साथ देकर सहजन की छाल का रस २ तोला पिलाना चाहिए एवं शोथ स्थान पर सहजन की जड़ की छाल को पीसकर लेप देना चाहिए। एवं दर्द होने पर छाल का रस निकाल कर इसमें चौगुना तेल मिलाकर दर्द की जगह मालिश करें।

गुण—यह कैंसर विध्वंसक रस सभी प्रकार के कैंसर रोग पर अत्यन्त उपयोगी है। अनुपान भेद से सभी प्रकार



के कैंसर रोग पर हम सफलता पूर्वक प्रयोग करते हैं। यह कैंसर की सर्वोत्तम औषधि है। पेट के कैंसर पर तो यह विशिष्ट उपयोगी है। योग,पथ्य, संयम, व्यसन, त्याग, ब्रह्मचर्य पालन आदि नियम पालन करने से पेट के कैंसर की तृतीय अवस्था तक में उपयोगी है।

—पथ्य व्यवस्था प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार ही रहेगी।

प्राकृतिक चिकित्सा

हम इस रोग की प्राकृतिक चिकित्सा लिख रहे हैं। यह चिकित्सा प्रणाली संसार की अन्य चिकित्सा प्रणालियों से सर्वोत्तम है। इस चिकित्सा के द्वारा रोग दबता नहीं है बल्कि जड़मूल से समाप्त हो जाता है।

जिस कारण से कैंसर हुआ हो तो उसे दूर करने के लिए सर्वप्रथम कटि स्नान, मेहन स्नान, एनिमा, पेट की लपेट, भाप स्नान, भीगी चादर की लपेट, अधिक पानी पीना, उपवास करना एवं खुली वायु का सेवन करना परम आवश्यक है। प्रत्येक दिन स्नान के पहले एक घंटे के लिए पैर की पट्टी लगाना चाहिए और कटि स्नान लेने के समय दोनों पैरों को गर्म पानी में डुबोकर माथे पर पानी से भीगा हुआ तौलिया या कपड़ा रखना चाहिए। रोगी को हफ्ते में दो बार भीगी चादर की लपेट एवं महीने में दो बार भाप स्नान लेना चाहिए। इस समय कैंसर के ऊपर मोटी और कुछ बड़ी पानी की पट्टी रखना आवश्यक है। प्रत्येक दिन स्नान के पहले धूप स्नान लेकर शरीर को गर्म कर लेना चाहिए इन सभी उपायों से कैंसर के विष को शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है।

साथ ही स्थानीय चिकित्सा में प्रथम अवस्था की ग्रन्थि के ऊपर दिन में दो बार गर्म सेक देकर मिट्टी से ढंकी हुई पट्टी या ठंडे पानी से भीगे हुए मोटे कपड़े की पट्टी का प्रयोग करना चाहिए और प्रत्येक एक या दो घंटे के अन्तर से प्रयोग किया जावे तो आशातीत लाभ दृष्टिगोचर होता है। यदि रोग आन्तरिक भाग में हो तो भी इस प्रकार प्रयोग करने से आशातीत लाभ दिखाई पड़ता है।

कैंसर की वेदना शमन करने के लिए बर्फ सबसे उत्तम है बर्फ के उपलब्ध न होने पर खूब ठंडे पानी की पट्टी लगानी चाहिए अथवा कांदो मिट्टी की पट्टी लगाना चाहिए तथा गर्म होने पर उसे बदल दिया जावे। घाव से खून निकलने पर सेक बन्द कर देना चाहिए। अगर घाव से खून निकलता हो तो उपरोक्त पट्टी व्यवस्था तब तक करनी चाहिए जब तक खून बन्द न हो। घाव में नीबू के रस में कपड़े को भिगोकर रखने से तुरन्त दर्द दूर हो जायेगा। कैंसर रोग में उपवास अत्यन्त ही लाभदायक है। इस रोग को दूर करने के लिए लम्बे उपवास की कई बार आवश्यकता होती है। उपवास इस रोग की विशेष एवं अचूक चिकित्सा है। उपवास काल में नीबू के साथ काफी पानी पीना चाहिए तथा अन्य अतिरिक्त समयों में भी प्रतिदिन नीबू के रस के साथ कम से कम ३ किलो पानी अवश्य पीना चाहिए।

रोगी का भोजन—रोगी के सहज पथ्य अनुत्तेजक पुष्टकर और क्षार धर्मी भोजन देना चाहिए। इस रोग के प्रारम्भ होने के साथ ही चावल और रोटी बन्द करके फलों का रस मट्ठा पानी के साथ मधु ताजा और सूखे फल तथा कच्ची तरकारियों का सलाद एवं रस देना चाहिए जब तक रोग दूर न हो जाय तब तक यही पथ्य चलाना चाहिए।

रोगी को हमेशा भूख से कम खाना चाहिए। प्रतिदिन नवीन खाद्य फल, सलाद इत्यादि खाना उचित है।

अपथ्य—

मांस, मछली, चाय, कॉफी, तम्बाकू, शराब, सरसों का तेल, लालमिर्च, मसाले गर्म, सिंघाड़ा एवं तली भुनी चीजें छोड़ देनी चाहिए।

प्राकृतिक चिकित्सा की प्रयोग विधियां

प्राकृतिक चिकित्सा करने के पहले विभिन्न प्रयोग विधियों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

एनिमा—एनिमा सैट बाजार में मेडिकल स्टोर्स के यहां से प्राप्त किया जा सकता है यह लगभग २½ सेर पानी आ जाने वाला लेना चाहिए, एनिमा लेने के लिए किसी तख्ते या खाट पर उसके पैरों की तरफ से ३-४ इंच ऊंचा रखकर सीधे लेटकर लेना चाहिए। एनिमा पात्र में गुनगुने पानी को भर लेना चाहिए। उस पानी में कागजी नीबू का रस ८-१० बूंद मिला लेना चाहिए।



एनीमा लगाते समय रोगी की सही स्थिति

एनिमा पात्र को लेटने की जगह से चार फुट की ऊंचाई से अधिक नहीं होना चाहिए। एनिमा लेने के पहले नोजल को खोलकर थोड़ा सा पानी निकाल दें ताकि वायु निकल जाये। फिर नोजल में थोड़ा सा घी या वैसलीन लगाकर गुदा में धीरे-धीरे प्रविष्ट करके टोंटी खोल दें पानी आंतों में धीरे-धीरे चढ़ जायेगा। पानी भीतर जाते समय पेड़ू की धीरे-धीरे बायें से दायें मालिश करनी चाहिए। जब पूरा पानी अन्दर जा सके तो कुछ समय रुककर इसी प्रकार की मालिश दायें से बायें करनी चाहिए। एनिमा लेने के बाद ५ से २० मिनट तक दायें बायें करवट लेना चाहिए शौच जाते समय जोर नहीं लगाना चाहिए। पानी अपने आप मल के साथ निकल जायेगा। पेट फूला हो या बुखार हो तब साधारणतः एनिमा नहीं लेना चाहिए। एनिमा दाहिनी करवट लिटाकर, पट्ट लिटाकर छाती तथा घुटने झुकाकर भी लिया जा सकता है।

कटि स्नान—एक टब या बड़ी नांद में ताजा जल इतना भर लें कि उसमें बैठने पर पानी नाभि तक आ जाय फिर उसमें इस प्रकार बैठना चाहिए कि जल से सिर और पैर न भीगने पायें और उसके आस पास का भाग पानी में रहना चाहिए। पैर टब के बाहर किसी छोटी चौकी या ईंट पर रख लेना चाहिए। रोगी की पीठ टब के पिछले भाग से लगी रहनी चाहिए। फिर एक मोटे खुरदरे तौलिए से दायें से बायें १०-१५ मिनट तक रगड़िये। आरम्भ में ५ मिनट ही पर्याप्त है। १५ मिनट से अधिक जल में न बैठे। सर्दियों में टब में बैठने के समय घुटनों के नीचे टांगों और नाभि के ऊपर के भाग को कपड़े से ढक लेना चाहिए। कटि स्नान के बाद यदि आवश्यक समझें तो स्नान कर लें। फिर स्नान के बाद भीगे हुए स्थान को सूखे तौलिए से पोंछकर तुरन्त कपड़े पहनकर टहलने के लिए निकल जाना चाहिए अथवा कोई हल्का व्यायाम करना चाहिए अथवा कम्बल ओढ़कर आधे घंटे तक लेटे रहना चाहिए। जो रोगी अधिक कमज़ोर हो वह कटि स्नान के बाद एक गर्म कपड़ा पेड़ू के चारों ओर लपेट ले। भोजन के ३-४ घंटे बाद यह स्नान करना चाहिए अथवा सुबह बिना भोजन किये यह स्नान लेवें। इसके बाद एक घंटे तक कुछ नहीं खाना चाहिए।

मेहन स्नान--कटि स्नान के टब में एक चौकी या तख्ता रखना चाहिए फिर टब में ठण्डा पानी इतना भरना चाहिए कि पानी चौकी या तख्ते के बराबर आ जाय। जल जितना ठण्डा हो उतना ही लाभदायक है। पानी भर लेने के बाद नंगे होकर चौकी पर बैठना चाहिए। पैरों को अगल-बगल टब के बाहर रखना चाहिए फिर लिंग की खाल को बांये हाथ के अंगूठे और उसके पास

की उंगली से इस प्रकार खींचले कि सुपारी छूट जावे फिर उस खाल को दाहिने हाथ के अंगूठे और उसके पास की उंगली से खुरदरा तौलिया लेकर १५ मिनट तक रगड़े, बहुत तेज नहीं रगड़ना चाहिए। जिन पुरुषों के लिंग की खाल छोटी हो अथवा जिन मुसलमान भाइयों का खतना हुआ हो वे अण्डकोष और गुदा के बीच के भाग में जो सीवन हो उसको भीगे हुए कपड़े से रगड़ना चाहिए। औरतें भी उपर्युक्त विधि के अनुसार बैठकर योनि के दोनों ओष्ठों पर मुलायम कपड़े से ठण्डे पानी का स्पर्श करना चाहिए। इस स्नान के पश्चात् कटि स्नान की तरह शरीर को गर्म करने के लिए टहलना या व्यायाम करना या कम्बल ओढ़कर आधे घण्टे लेटना चाहिए।

पेट की लपेट—पेट की लपेट के लिए १ फुट चौड़ा तथा ५ फुट लम्बा सूती कपड़ा एवं १ फुट चौड़ा तथा ७ फुट लम्बा कपड़ा लेना चाहिए। सबसे पहले सूती कपड़े को ठण्डे पानी में भिगोकर पेट पर लपेटना चाहिए एवं उसके ऊपर उसी तरह ऊनी कपड़ा लपेट लेना चाहिए। इस लपेट को रोगी के स्तन के नीचे से लेकर नाभि पर्यन्त स्थान के चारों तरफ तक लपेटना चाहिए।

भाप स्नान—पूरे शरीर के लिए एक बेंत की बनी कुर्सी पर या मामूली मूंज की खाट पर नंगे होकर लेटना चाहिए तथा उपर से कम्बल डाल लेना चाहिए। बेंच या खाट के नीचे हिस्से को इस तरह चारों ओर कम्बल से ढक देना चाहिए कि भाप बाहर नहीं निकल सके। इसके पश्चात् स्टोव, चूल्हा या अंगीठी के ऊपर एक मुंह की टीन की केतली रखकर रबड़ की नली की सहायता से कुर्सी के नीचे भाप लाना चाहिए। भाप स्नान के बाद सारा शरीर भीगे तौलिए से पौंछ कर शरीर की गर्मी को खींच लेना चाहिए। भाप स्नान लेते समय सिर पर ठंडे जल से भीगा हुआ कपड़ा रखना चाहिए और उसे थोड़ी थोड़ी देर बाद भिगोते रहना चाहिए।

सारे शरीर में गीली पट्टी—भूमि पर या तख्त पर दो कम्बल बिछा दें। उसके ऊपर एक पानी की भीगी चादर थोड़ी निचोड़ कर बिछा दें। इसके बाद रोगी को इस पर लिटा दें। पहले रोगी के शरीर पर भीगी चादर भली-भांति लपेट दें। इसके बाद दोनों कम्बल लपेट दें। सिर खुला रखना चाहिए। इस अवस्था में आधे से लेकर एक घण्टा तक लेटे रहना चाहिए। इसके बाद रोगी के सारे शरीर को गर्म जल में भीगी तौलिया द्वारा पोंछना चाहिए।

पैर की पट्टी—पैर की फिल्ली से लेकर जानुसंधि तक अलग-अलग दोनों पैरों को निचोड़े हुए भीगे कपड़े के द्वारा लपेट कर बाद में फलालैन द्वारा मोटा करके ढक देना चाहिए। इस समय दोनों पैर गरम होने चाहिए। पैरों के गरम न रहने पर बीच-बीच में पांव के ऊपर गर्म पानी की बोतल रखकर दोनों पैरों को हमेशा गरम रखना चाहिए। पैरों के ठण्डे रहने पर पट्टी नीचे के पैरों में देकर घुटनों के ऊपर देना चाहिए। पट्टी देने के बाद रोगी का सारा शरीर गले तक कम्बल द्वारा ढक देना चाहिए एवं सिर को भीगी तौलिया द्वारा ठंडा रखना चाहिए।

पानी की पट्टी—खूब शीतल जल में कपड़ा भिगोकर आवश्यक स्थान पर कपड़ा रखना चाहिए। इस भिगोये हुए कपड़े को गरम होते ही बदल देना चाहिए। शरीर के जिस स्थान पर जल पट्टी का प्रयोग किया जाय उस स्थान के चारों ओर काफी दूर तक पट्टी द्वारा ढके रखना चाहिए।

मिट्टी की पट्टी—मिट्टी की पट्टी लेने के लिए अच्छी चिकनी स्वच्छ मिट्टी ऐसे स्थान से लानी चाहिए जहां कोई शौच और पेशाब के लिए न जाता हो। काली मिट्टी सबसे बढ़िया होती है। यदि इस प्रकार की मिट्टी न मिल सके तो जो भी मिट्टी उपलब्ध हो उसे ले लेना चाहिए। मिट्टी लेने के बाद उसको महीन कूटकर बारीक चलनी से छानकर रखना चाहिए। मिट्टी एक-दो हाथ नीचे को खोदकर प्रयोग में लानी चाहिए। आवश्यकता के समय बारीक छनी हुई मिट्टी में पानी छोड़कर गीला कर लेना चाहिए और इसको किसी लकड़ी से चलाकर हलवा जैसी बना लेनी चाहिए। मिट्टी न अधिक गीली रहे न अधिक सूखी ही रहे, इसका ध्यान रखना चाहिए। मिट्टी की पट्टी लगाने के स्थान से बड़ा एवं मोटा कपड़ा लेकर उपरोक्त गीली मिट्टी की दो अंगुल मोटी तह जमा देनी चाहिए। इसके पश्चात् मिट्टी को यथास्थान लगाकर ऊनी कपड़ा उसके ऊपर लपेट देना चाहिए। ठण्डी पट्टी जहां पर लिखा हो वहां पर ऊनी कपड़ा न लपेट कर

वैसे ही पट्टी देना चाहिए। पौन घण्टे से लेकर दो घण्टे तक यह पट्टी रखी जा सकती है। दुबारा आवश्यकता पड़ने पर मिट्टी की पट्टी को फिर दे सकते हैं। हटाई हुई मिट्टी इस्तेमाल न करनी चाहिए, इसे फेंक देना चाहिए।

उपवास—

शारीरिक दोषों-रोगों तथा विजातीय द्रव्यों को नष्ट करने का उपवास एक अति सुन्दर उपाय है। रोग को दूर करने के लिए उपवास अत्यधिक उपयोगी साबित हुआ है। साधारण रोगों में केवल दो या एक दिन का उपवास करना चाहिए। प्रारम्भ में लम्बा उपवास नहीं करना चाहिए। पहले छोटे उपवास के बाद लम्बा उपवास करना चाहिए। उपवास में सादे पानी के सिवाय दूसरी वस्तु नहीं देनी चाहिए। कोई-कोई चिकित्सक नीबू संतरे का रस या शहद को जल में मिलाकर देते हैं। परन्तु यह आदर्श उपवास नहीं कहा जा सकता है। लम्बे उपवास में नीबू के रस मिले हुए जल को ग्रहण करना चाहिए। उपवास काल में पानी अधिक से अधिक पीना चाहिए। कम से कम ३ किलो पानी अवश्य पीना चाहिए। उपवास काल में एनिमा अवश्य लेना चाहिए उपवास तोड़ने के पश्चात् सावधानी की अत्यन्त आवश्यकता है उपवास को सन्तरे या अन्य किसी फल के रस से तोड़ना चाहिए और पहले दिन केवल फलों के रस पर रहना चाहिए। फलों के रस के बाद फलों पर रहना चाहिए बाद में साग सब्जी पर रहना चाहिए अन्त में अन्न लें। ४ दिन से लेकर २१ दिन के उपवास को लम्बा कहते हैं। यह उपवास किसी विशेषज्ञ की देख-रेख में करना चाहिए।

सूर्य स्नान—सूर्य स्नान के लिए एकान्त स्थान रहना चाहिए। सूर्य स्नान करते समय सारे शरीर पर कपड़े नहीं रहने चाहिए। आवश्यकता होने पर लंगोटी पहन सकते हैं। सूर्य स्नान पहले चित्त लेट कर लेना चाहिए सूर्य स्नान लेने से पहले सिर को धो लेना चाहिए या भीगी तौलिया सिर पर रख लेना चाहिए। सिर पर सौम्य धूप होने पर सूखा कपड़ा रख सकते हैं। सूर्य स्नान लेते समय आंखें बन्द रखनी चाहिए सूर्य स्नान गर्मी में साढ़े सात बजे से पहले सुबह एवं शाम साढ़े ५ बजे से ६ बजे के पश्चात् लेना चाहिए। सरदी के मौसम में सूर्य स्नान सुबह साढ़े नौ बजे के पहले एवं शाम को ४ बजे के पश्चात् लेना चाहिए। सूर्य स्नान गर्मी में १० मिनट से लेकर तीस मिनट तक लेना चाहिए। एवं सर्दी के मौसम में २० मिनट से ६० मिनट तक लेना चाहिए। सूर्य स्नान से विटामिन डी की प्राप्ति होती है, रक्त संचालन की व्यवस्था उन्नत होती है एवं शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

(प्राकृतिक चिकित्सा की विशेष जानकारी के लिए पढ़िए मेरे द्वारा सम्पादित अनुभूत योग माला बरालोकपुर इटावा का जनवरी ७५ का विशेषांक प्राकृतिक चिकित्सांक इसमें सभी रोगों की सफल चिकित्सा का वर्णन है)

जड़ी बूटी चिकित्सा— कैंसर पत्र मि: लेख:

धमासा जड़ी बूटी कैंसर के इलाज के लिए पाकिस्तान में काफी मशहूर है। पेट के कैंसर में यह बूटी अपना विशिष्ट स्थान रखती है। हैदराबाद, पाकिस्तान, में लतीफ आबाद यूनियन कमेटी के एक सदस्य चौधरी अलीहुसेन की माता के पेट में कैंसर था। लियाकत मेडिकल अस्पताल में आपरेशन किया गया बाद में डाक्टरों ने जबाब दे दिया। लेकिन जब उन्होंने इस औषधि का सेवन किया तो बिल्कुल ठीक हो गयीं। नूरमुहम्मद की पत्नी को भी कैंसर था कई योग्य डाक्टरों की चिकित्सा हुई बाद में डाक्टरों ने असाध्य कह कर चिकित्सा बन्द करदी। बाद में उनको इस बूटी का सेवन कराया गया इससे वह बिल्कुल ठीक हो गयीं। अन्ननलिका के कैंसर में हमने इसे बहुत उपयोगी पाया है।

सेवन विधि—

कैंसर के उपचार में प्रतिदिन दो तोला के करीब हरे या सूखे पौधों को पीसकर रस निकालकर रोगी को पिलाना चाहिये। दो सप्ताहों में रोगी आश्चर्यजनक लाभ प्राप्त कर सकता है।

स्वमूत्र द्वारा चिकित्सा—कुछ चिकित्सक मूत्र द्वारा चिकित्सा करते हैं और कई असाध्य रोगों में सफलता प्राप्त करते हैं। प्रत्येक प्रकार के कैंसर की चिकित्सा मूत्र

द्वारा की जा सकती है लेकिन यहां केवल उदर कैंसर की चिकित्सा वर्णन है। अतः इसी के बारे में लिख रहे हैं।

श्री मफतलाल चन्दूलालशाह पालनपुर म्यूनिसिपैल्टी के सदस्य हैं। सन् १९६१में उनका ३ वर्ष का छोटा बालक सुभाष पेट के कैंसर का शिकार हो गया। उसके पेट में गाँठ थी और अण्डकोष में पीव पड़ गयी थी। पीव को आपरेशन से निकलवाना पड़ा था। आपरेशन का जख्म न भरने पर वे लड़के को लेकर बम्बई गये और कई अनुभवी डाक्टरों को दिखाया और अन्त में परेल पर स्थित टाटामैमोरियल के डाक्टर बोरजी ने उसकी जांच की और एक्सरे करके बताया कि उसके पेट में कैंसर की गांठ है और सूचित किया कि पेट तथा अण्ड कोष पर डीप-एक्सरेज लेनी पडेगीं। उन्होंने डा० वालिगा और डा० भड़साली तथा अन्य अनेक डाक्टरों की सलाह ली पर किसी ने आशा न दिलाई। फिर उन्होंने तीन वर्ष के बच्चे को भगवान् के सहारे छोड़ कर स्वमूत्र चिकित्सा पोपटलाल झवेरी की सलाह से प्रारम्भ की। उन्होंने बच्चे को दो दिन का उपवास रखवाया। उपवास के दौरान उसे केवल उबला हुआ पानी और उसी का मूत्र पिलाकर और सुबह शाम अपने पेशाव से उसके सारे शरीर की मालिश की जाने लगी; शाम की मालिश का असर रात भर होने देते और सुबह गर्म पानी से नहलाते। चार दिन के बाद उसके शरीर और सिर पर फोड़े निकल आये और उनमें से पीव निकलने लगी। फोड़ों पर मूत्र से भीगी पट्टियां रखी जाती थीं जिससे सात दिन बाद फोड़ों का जख्म ठीक हो गया। उसे खाने के लिए बहुत ही हल्का भोजन दिया जाता था। रोजाना मूत्रपान और मूत्र मालिश से अण्डकोष का जख्म कम होता गया। इससे आराम की आशा बंधी और उसे अपनी मां के साथ दक्षिण में अपने मामा के यहां भेज दिया। १ माह तक यह प्रयोग चला और वह पूर्ण स्वस्थ हो गया जख्म भर गया गांठ का निशान तक भी न रहा फिर उसे अमरावती के डाक्टर को दिखाया उन्होंने कहा इसे कोई रोग नही है। फिर भी मूत्र चिकित्सा होती रही। आठ दिन बाद उन्होंने एक डाक्टर को साथ लेकर नागपुर के जनरल हास्पीटल में बच्चे को दिखाया। वहां उसके खून और पेशाब की जांच की गई एवं उसके जांघ में से आपरेशन करके टेस्ट करने के लिए हड्डी निकाली गयी और फिर उन्होंने फैसला किया। अब कैंसर नहीं है' फिर उसे किसी आरोग्यप्रद स्थान में कुछ समय रखकर वापस फिर लाया गया अब वह स्वस्थ तथा नीरोग है और बाल मन्दिर में पढ़ता है। स्वमूत्र के प्रयोग से उनका लड़का मौत के मुंह से बाल-बाल बच गया अतः वे स्वमूत्र चिकित्सा का गुणगान करते हैं। कैंसर के रोगी झिझक त्याग मूत्रचिकित्सा का प्रयोग धैर्य रखकर संयम पूर्वक करें। उनका रोग अवश्य दूर हो जायगा।

मूत्र लेने की विधि—उत्तम विचारों वाला बुद्धिमान व्यक्ति रात्रि के चौथे भाग के शेष रह जाने पर जागे और पूर्व की ओर मुंह करके मूत्र त्यागे।

मूत्र त्याग करते समय शुरू की धार तथा अन्त की धार का मूत्र वर्तन में न लेवे बीच की धारा का मूत्र उपयोग में लाये। यह मूत्र लेने की उत्तम विधि है।

प्रयोग विधि—सुबह शौच तथा दातौन कुल्ला आदि करने के बाद मूत्रपान करना चाहिए।

मात्रा—इसकी मात्रा बड़े व्यक्ति को दो सौ ग्राम व छोटे व्यक्ति को सौ ग्राम उम्र के अनुसार कम वेश लेना चाहिए। बीमार व्यक्ति को इसी प्रकार संध्या के ५ बजे भी लेना चाहिए।

गुण—मूत्र चिकित्सा कैंसर के अलावा शरीर के सभी जटिल रोगों पर बहुत ही उपयोगी सावित हुयी है विशेष जानकारी व सलाह के लिए पत्र लिखें।



आमाशयव्रण से ग्रसित रोगी की चिकित्सा

श्री पं० शिवकुमार वैद्यशास्त्री रावतपाड़ा आगरा।

वैध शिवकुमार जी आगरा क्षेत्र के यशस्वी और सिद्ध चिकित्सक हैं। आपने एक सत्य घटना का वर्णन कर अपनी चिकित्सा द्वारा आमाशयव्रण पर सफलता प्राप्त की है। वर्णन स्वाभाविक रूप से किया गया है। आपने आमाशयव्रण के भयंकर शूल को कितने सरल उपचार से और कितनी जल्दी दूर कर दिया यह समझने की आवश्कता है। वैद्य के गुणों में विद्या, वितर्क विज्ञान और क्रियातत्परता का उल्लेख किया गया है। शास्त्री जी इन सभी में अपना कोई सानी नहीं रखते आयुर्वेद का आधुनिक स्नातक कई सामान्य वस्तुओं की उपेक्षा कर डाक्टरी की उग्रवीर्या दवाओं को बहुत महत्त्व देता है। इनसे तो आज सारा पश्चिमी संसार ऊब चुका है। और बैक टू नेचर जाना चाहता है। शास्त्रीजी ने ऐलोपैथों के द्वारा सर्वथा असिद्ध केस को अपने गोघृत के प्रयोग से ही ठीक कर दिया और वह भी कुछ ही दिनों या घंटों में। इससे हमारे नवीन वैद्यों में आयुर्वेद के प्रति विश्वास जमना चाहिये। लेख की अन्तिम पंतियाँ धन की दृष्टि से हैं। वह अपना गन्तव्य नहीं होना चाहिए वह तो मिल ही जाता है यदि चिकित्सक अपनी कला में निपुण और सफल है तो।

—रघुबीरप्रसाद त्रिवेदी।

मेरी पुत्रवधु लज्जारानी एम० ए०, के चाचाजी का फर्रुखाबाद से मेरे पास पत्र आया कि हमारे पुत्र विनयकुमार की दो मास से जिला फर्रुखाबाद एवं फतहगढ़ के कई डाक्टरों की चिकित्सा हो चुकी है। किन्तु लाभ न होकर उलटा रोग बढ़ता ही जा रहा है। अतः हम चिकित्सा हेतु दो दिन पश्चात् आपके पास इलाज के लिए बच्चे को लेकर आ रहे हैं। किन्तु ३—४ दिन तक उनके न आने से मैंने समझा कि शायद आगरा आने का उत्पन्न विचार स्थगित होने के कारण नहीं आये हैं। परन्तु चौथे या पांचवें दिन सायंकाल वे आकर मुझसे मिले और कहने लगे कि हम आ तो अपने लिखे अनुसार दिन ही गये थे किंतु हमारे रिश्तेदारों के दो लड़के आगरा मैडीकलकालेज में डाक्टरी पढ़ रहे हैं। उनके कहने से हमने बड़े अस्पताल के दो बड़े डाक्टरों को दिखलाया है, उन्हीं की चिकित्सा भी शुरू कर दी है, हम राजामण्डी उन्हीं के पास ठहरे हुए हैं, किन्तु कल प्रातःकाल राजामण्डी आकर बच्चे को आप भी देख लेवें। मैंने उनके चाहे अनुसार आने का समय उन्हें दे दिया।

प्रातःकाल जाकर देखने पर मैंने उन्हें कहा कि जो चिकित्सा आपने शुरू कर दी है उसे ४—५ दिन जरूर देखें, उसके पश्चात् यदि आवश्यक होगा तो चिकित्सा के विषय में कुछ विचार किया जायेगा। यह भी निश्चय किया गया कि प्रति तीसरे दिन हालत मुझे भी बतलाते अवश्य रहें। फिर भी वे ४—५ दिन तक मेरे पास न आकर लगभग पांचवें या छठवें दिन सायंकाल आकर बोले—कि डाक्टरों की सम्मति के अनुसार हमने बच्चे को हास्पीटल में भरती कर दिया है किन्तु अभी तक उसे लाभ बिल्कुल भी नहीं है। आप किसी भी समय कमरा नं० अमुक पर कल अस्पताल में ही देख लेने का कष्ट करें।

सम्बन्धी होने के कारण मुझे देखने जाना आवश्यक था, किन्तु चिकित्सा हेतु जाना नहीं होने से मैं दूसरे दिन सायंकाल अस्पताल गया। देखने से ज्ञात हुआ कि उदरशूल से बच्चा अति व्याकुल था। किसी भी फल का स्वरस या जल लेना भी सम्भव नहीं हो रहा था क्योंकि पेट में किंचिन्मात्र भी स्वरस पहुँचते ही पेट में बड़ी तीव्र गति से कष्ट बढ़ जाता था। डाक्टरों को सर्व प्रकार से टेस्ट कर लेने के पश्चात् भी रोग का कोई विशेष कारण ज्ञात नहीं हो पाया था। अतः उन्होंने यह निर्णय किया कि बच्चे को यह वहम हो गया है कि किसी भी प्रकार का स्वरस आदि पहुंचते ही मुझे पेट में शूल बढ़ जाता है। अतः उन्होंने उसके माता-पिता से यह कह दिया कि कुछ समय के लिए बच्चे के पास से आप लोग चले जाइये ताकि हम रबर की नली के द्वारा गरम दूध एवं फलों का रस इसके अन्दर पहुँचावेंगे। बच्चा आप लोगों के सामने नली आदि हमें ठीक प्रकार से कण्ठ में नहीं डालने देगा। इस वास्ते माता-पिता को मेरे जाने से पूर्व की रात्रि को हटा दिया गया था किन्तु नली द्वारा आहार पहुंचाने का भी परिणाम उल्टा ही हुआ था। बालक के नली कण्ठ में डालकर गरम दूध और फलों का रस पहुँचाने के कारण उदर पीड़ा एवं कण्ठ छिल जाने से तड़पना अत्यधिक बढ़ गया था तथा वह अति ही कृश भी हो चुका था। मुझे भी दशा देखकर बड़ी चिन्ता प्रतीत हुई। किन्तु अस्पताल में अधिक रुकना या बातचीत करना सम्भव न होने से मैं यह कहकर कि रात्रि की दशा प्रातःकाल मुझे भी बतला दें, चला आया।

दूसरे दिन लगभग ११ बजे बच्चे के पिताजी तांगे से उतर कर अपने ११-१२ वर्ष की आयु वाले बालक को दोनों हाथों पर लिटाकर आये, चिकित्सालय में बच्चे को लिटाकर नमस्ते करके बैठ गये। रोगी मेरे पास अधिक होने से मैं यही पूछ सकता कि आप अपस्ताल से बच्चे को क्यों ले आये। उत्तर में उन्होंने कहा कि बच्चे की दशा गिरती ही जा रही है। अतः हमने घर ले जाना ही उचित समझा है क्योंकि हमारे भाग्य में जो होना है वही होवेगा। किन्तु हमने आपसे कह कर एवं दिखलाते हुए जाना आवश्यक समझा। अतः आप इसे समय निकाल कर देख लीजिये।

मैंने अत्यावश्यक २-४ रोगियों को देखने ही बालक को देखकर कहा कि दशा इसकी अधिक बढ़ गयी है. यदि इसकी आयुर्वेदीय चिकित्सा की गई होती तो इतनी दशा खराब नहीं हो पाती। अब आपका मेरे विचार में भी घर ले जाना ही उचित है। उत्तर में उन्होंने कहा कि हमारी इच्छा यह है कि एक बार आपकी भी औषध देकर देख लें। मैंने उनसे कहा कि प्रथम तो इसकी दशा अधिक गिर चुकी है फिर औषध सेवन कराने के लिये ऐसी वस्तुयें आवश्यक हैं जिन्हें आप यहां तैयार नहीं कर सकेंगे। अतः अब आपका घर ले जाना ही ठीक होगा। वे बोले, हम आपका अभिप्राय समझ रहे हैं कि आप बदनामी के भय से चिकित्सा शुरू करना नहीं चाहते हैं। किन्तु हम यह जानते हैं कि बच्चा हमारा इस समय लोहे का पैसा हो गया है। आप विश्वास रखिये, कुछ भी बुरा यदि हो जावेगा तो हम आपको दोष कदापि नहीं देंगे। अतः आप हमारी इच्छानुसार एक बार चिकित्सा अवश्य प्रारम्भ कर दें।

मैंने कहा मुझे औषध देने के लिए थोड़ा सा गोघृत चाहिए आप कैसे यहां तैयार कर पायेंगे। इसका उत्तर साहसी एवं लगनशील ला० सूरजप्रसाद जी ने दिया कि गोघृत हम आपको निकाल कर देंगे आपको चिकित्सा अवश्य करनी होगी। इस प्रकार मुझे चिकित्सा प्रारम्भ करना आवश्यक हो गया। अतः वे पूर्व ठहरने वाले स्थान राजा मंडी बच्चे को लेकर पुनः लौट गये थे। मैंने रोग का निदान आमाशय का क्षत (जख्म) निश्चय किया। अतः क्षत के लिए औषध दी गई, किन्तु घृत न होने से औषध गुण हीन रही। दूसरे दिन प्रातः करीब १ तोला गोघृत लाकर उन्होंने दिया। पूंछने पर बताया कि गोदुग्ध जमाकर घृत हमने स्वयं निकाला है। मैंने अपने निदान के अनुसार गोघृत में मिलाकर औषध सेवन कराई। इसके दूसरे दिन भी वही औषध पूर्ववत सेवन कराई गई। तीसरे दिन बालक के पितजी मेरे पास कुछ विलम्ब से आये। आते ही अन्य रोगियों को छोड़कर प्रथम मैंने उनसे बच्चे की हालत पूंछी। वे बोले आप

शांति से रोगियों को देख लीजिए। बच्चा हमारा ठीक हो गया है। मेरे पास जब कुछ भीड़ कम हो गई, तब मैंने उन्हें अपने पास बुलाकर सब वृतान्त पूंछा जिसे उन्होंने निम्न प्रकार से बताया।

रात्रि को उसे नींद अच्छे प्रकार से आई, प्रातःकाल जागकर वह बोला पिताजी हमारी तबियत अब ठीक हो गई है, भूख लग रही है, आप मुझे दूध दीजिए। मैंने और उसकी माता ने कहा कि तुम दुध पीते ही दर्द की वजह से स्वयं रोओगे और चिल्लाओगे, साथ ही हमें भी रुलाओगे, हम तुम्हें दुध नहीं देगें, फिर हम बिना वैद्य जी के पूछे दूध कैसे दे सकते हैं। उसने कहा मेरी तबियत आज ठीक हो गयी है, भूख लग रही है, आप दूध दीजिये दर्द बढ़ेगा नहीं। उसके बाद हम जो हमारे दो भानजे अस्पताल में डाक्टरी पढ़ रहे थे उन्हें बुलाकर लाये, ताकि दूध देने के विषय में उनसे भी सलाह कर सकें, उन्होंने भी सब बात देखकर यही परामर्श दिया कि मामाजी गाय का दूध लाकर औटा छानकर दो चम्मच दूध देकर देख लीजिए। अतः गौ दूध लाकर औटा छान हमने दो चम्मच दूध कप में देने को तैयार किया, जब हम देने लगे, तब कप में अंगूली डालकर वह बोला, यह तो बहुत ही कम है कम से कम आधा कप दीजिये। हमने उसके आग्रह से थोड़ा सा दूध बढ़ाकर पिलाया जिसके पीने के पश्चात् उसे पेट में कोई भी कष्ट नहीं हुआ। बालक पुनः अधिक पीने के लिए आग्रह करने लगा। विवश होकर हमने पुनः दो बार आधा-आधा कप दे दिया, जिसे पीने पर भी उसे कोई कष्ट नहीं हुआ है। अतः आप वही दवा दे दीजिये तथा समय मिलते ही मकान पर आकर देख भी लीजीये मैंने औषध देकर दो घंटे बाद देखने आने के लिए कह दिया। दो घंटे पश्चात् जाकर देखने पर मैंने प्रथम अपने सामने अनार का रस दिलवाया। उसके १०-१५ मिनट पश्चात् एक कप दूध पिलवा के देखा। दोनों को लेने के पश्चात् बालक को कोई कष्ट नहीं हुआ तथा दिन प्रतिदिन मरणासन्न बालक उस परम प्रभु सर्व शक्तिमान की अनुकम्पा से बड़ी तीव्र गति से स्वस्थ होता चला गया।

रोग निदान तथा औषधों के चमत्कार के रहस्य का वर्णन

सर्व प्रथम उक्त बालक के पेट में साधारण रूप से दर्द की उत्पत्ति हुई, जिसकी साधारण रूप से चिकित्सा प्रारम्भ की गई किन्तु लाभ न मिलने से उत्तरोत्तर तीव्र तर औषधें बड़े-बड़े एलोपैथ डाक्टरों के द्वारा फर्रुखाबाद फतेहगढ़, तथा आगरा में लगभग दो ढाई मास तक सेवन कराई गई जिनसे मूल रोग तो हल्का हो गया होगा। परन्तु तीव्र औषधों के प्रभाव से आमाशय की तथा उसके आस-पास की त्वचा छिलकर क्षत हो जाने के कारण कोई सा भी खाद्य पदार्थ दूध एवं फलों का स्वरस आमाशय तक पहुँचते ही तीव्र शूल उत्पन्न कर देता था, जिसके कष्ट के कारण बच्चा बहुत ही बुरी तरह तड़फता चिल्लाता था, इस कारण से ही डाक्टरों द्वारा रबर के ट्यूब के द्वारा दूध और फलों का स्वरस पहुँचाने पर भी बच्चे का कष्ट बढ़ गया था। अनुभव के आधार से तथा परमपिता परमात्मादेव की कृपा से यह निदान हो जाने पर कि इसके पेट की पीड़ा का कारण आमाशय का क्षत है। सर्व प्रथम औषध गौघृत था, साथ में प्रवाल पिष्टी, वराटिका भस्म, अमृतासत्व तथा शूल वज्रिणी रस वटी अल्प मात्रा में गौघृत में घोलकर दिन में तीन बार पिलायी गयी। जिससे आमाशय की त्वचा छिल जाने से बने हुए क्षतों में घृत की स्निग्धता एवं क्षतों को भरने वाले गुण से बड़ा भारी लाभ हुआ, साथ में अन्य औषधों की क्षतों को लाभ करने वाली तथा यदि उदर शूल साथ में हो तो उसे दूर कर देने वाली सिद्ध फिर भी प्रधान गुण गौघृत का ही मानना चाहिए। इस मृत्यु मुख में जाने वाले रोगी का जीवन बच जाने से मेरा यश पर्याप्त अवश्य हुआ था किन्तु पुत्र वधु के ताऊजी का बच्चा होने से आर्थिक कोई विशेष लाभ नहीं हो पाया था। अन्य जटिल रोगियों की चिकित्सा के पश्चात् कई रोगियों के घर वालों ने अपने यहां मेरे द्वारा यज्ञ कराने के पश्चात् यथा सामर्थ्य धन देकर तथा अनेकों ने अन्य प्रकार से नगद देकर मुक्त होते रहे थे किन्तु निकटतम सम्बन्धी होने से यहां से धन लेना सम्भव नहीं हो सका।



पित्ताश्मरी

आचार्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी सम्पादक "सुधानिधि"

कारण—जो स्त्री या पुरुष अधिक आराम का जीवन व्यतीत करते हैं उनके भोजन में स्निग्ध पदार्थों की बहुलता रहने पर पित्ताश्मरी की उत्पत्ति हुआ करती है। गालब्लैंडर या पित्ताशय में किसी कारण से शोथ हो जाने पर अम्लपित्त के उसमें रुके रहने से पित्ताश्मरी बनती है।

पित्ताश्मरी कैसे बनती है यह कहना कठिन है। ऐसा लगता है कि सगर्भता, मधुमेह और हृच्छूल ऐसे विकार हैं जो रक्तरस में कोलैस्टरौल कीम त्रा बढ़ा देते हैं। बाइल में कौलैस्टरौल और बाइलसाल्ट्स के अनुपात में परिवर्तन होने से कोलैस्टरौल प्रक्षिप्त होकर गॉलस्टोन या पित्ताश्मरी की उत्पत्ति करता है। बाइललवणों की कमी इसका प्रमुख कारण होता है।

(i) उपसर्ग की उपस्थिति।

(ii) यकृत् में बाइल अम्लों के निर्माण की कमी।

(iii) आस्यासुख।

(iv) पित्ताशय में पित्त का रुका रहना।

वे अन्य कारण हैं जो पित्ताश्मरी उत्पन्न करते हैं।

पित्ताशय में पित्त के ३ प्रकार की अश्ममरियां बनती हैं। एक कोलैस्टरौल की, दूसरी वर्णक या बाइलपिगमेंट की और तीसरी दोनों के सम्मिश्रण से। प्रायः मोटी अधेड़ या प्रौढ़ आयु की स्त्रियों को यह रोग विशेष करके देखा जाता है।

लक्षण—जब तक अश्मरियां पित्ताशय तक सीमित रहती हैं तब तक कोई रोग लक्षण प्रायः नहीं मिलता। पर जब अश्मरी पित्तवाहिनी में आ जाती है और हिलने डुलने लगती है तब बिलियरी कालिक या पित्तशूल उत्पन्न होता है। यह शूल सहसा उत्पन्न होता है थोड़ा अजीर्ण या शारीरिक श्रम या सर्दी इसे उत्पन्न करने में कारण हो सकते हैं। आमाशय क्षेत्र में सहसा तीव्रशूल उत्पन्न होता है। शूल की लहर सी रह-रह कर उठती है। यह शूल दाहिनी ओर को भी चलता सा प्रतीत होता है। दाहिने कन्धे तक यह आभासित होता है। शूल के साथ हृल्लास और छर्दि भी रहती है। कई घण्टे दर्द रहकर सहसा बंद होता हुआ भी पाया जाता है। यदि अश्मरी ने पित्त-वाहिनी का अवरोध कर रखा हो तो वेदना बहुत बढ़ जाती है और रोगी को कामला भी हो जाता है। उसका मूत्र पीला हो जाता है। अवरोधात्मक कामला के लक्षण भी मिल सकते हैं। शीतपूर्वी ज्वर भी पाया जाता है।

किसी-किसी रोगी को एक अजीर्ण होता है जिसमें कभी मलवद्धता और कभी अतीसार मिलता है। इसे गॉलब्लैंडर डिस्पैप्सिया कहते हैं।

रोग का निदान लक्षणों से ही किया जाता है। दौरा समाप्त होने पर एक सामान्य ऐक्सरे चित्र लेकर अश्मरी का पता लगाया जा सकता है या कोलीसिस्टोग्राफी की जानी चाहिए।

चिकित्सा—पित्ताश्मरी चिकित्सा शल्यतन्त्रीय जितनी अधिक है उतनी कायचिकित्सात्मक नहीं मानी जाती। फिर भी एक कायचिकित्सक पित्ताश्मरी में निम्नांकित स्थितियों में चिकित्सा किया करता है—

(१) तीव्र पैत्तिकशूल की चिकित्सा।

(२) पित्ताशय के उपसर्ग की चिकित्सा।

(३) अजीर्ण और स्थौल्य की चिकित्सा।

(४) पित्तवाहिनी की नॉनसर्जीकल सफाई।

पैत्तिकशूल या बिलियरी कॉलिक को दूर करने के लिए १५ से २० मि० ग्रा० की मात्रा में मार्फीन सल्फेट

त्वचा के नीचे सूचीवेध से देना परमाऽवश्यक है। हर ३० से ६० मिनट पर ०.५ मि० ग्रा० गिलिसरिल ट्राईनाइट्रेट की गोली जीभ के नीचे रखी जानी चाहिए इससे पित्ताशय की ऐंठन दूर हो जाती है। यदि रोग अति भयंकर न हो तो १०० मि० ग्रा० पेथीडीन पेशी में सूचीवेध द्वारा दी जा सकती है। उसे २ घण्टे बाद पुनः दिया जा सकता है।

उपसर्ग दूर करने हेतु एण्टीबायोटिक दवाएं दी जा सकती हैं।

अजीर्ण और स्थौल्य के लिए आहार से स्निग्ध पदार्थों का दूर करना आवश्यक होता है। दूध और मक्खन चल सकते हैं। प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट्स पर्याप्त मात्रा में देते हैं। अजीर्ण के लिए मैगनेसिया ट्राईसिलीकेट १–२ चाय के चम्मच भर कर भोजन के बाद देते हैं। भोजन के बाद ३ बार प्रतिदिन बाइल साल्ट्स देने से पित्त का स्राव होने लगता है और अवरोध घट जाता है।

पित्ताशय की सफाई के लिए पहले मैग्नेशियम सल्फेट का प्रयोग होता था किन्तु पित्ताश्मरी होने पर मैग्नेशियम साल्ट नहीं देते। उसके स्थान पर जैतून या मूंगफली का तेल थोड़ी मात्रा में देने से उससे पित्तविरेचन का कार्य लिया जा सकता है।

आजकल पित्ताश्मरी के कष्टों से बचने के लिए सर्जीकल आपरेशन को अधिक महत्त्व दिया जाता है। आपरेशन से जल तथा इलैक्ट्रोलाइटिक बैलैन्स की पूर्ति हेतु ५ प्रतिशत ग्लूकोज सैलाइन की बोतल चढ़ाना, उपसर्ग नाशक दवाएं टैरामाइसीन, पेनिसिलीन तथा स्ट्रेप्टोमाइसीन का प्रयोग आदि करते हैं। आपरेशन के लिए रोगी को ६० मिनट पूर्व बार्बीट्यूरेट देते हैं। पैरासिम्पैथैटिक सिस्टम के ब्लौकेड के लिए एट्रोपीन तथा स्कोपोलैमीन देते हैं। अनीस्थीसिया कण्ठनाड़ी के अन्दर ट्यूब डालकर करते हैं। आपरेशन कौलीसिस्टैक्टोमी का किया जाता है। जिनको औपरेशन कराना खतरनाक होता है उन्हें पूर्ण विश्राम, जललवणसन्तुलन समान रखना।

प्रायः पित्ताश्मरी के रोगी वैद्यों की भी टटोल करते हैं। कई आयुर्वेदज्ञ पित्ताश्मरी की सफल चिकित्सा कर अमित यश का अर्जन कर चुके है। पित्ताश्मरी में तीव्र शूल की रोक-थाम के लिए शूलवज्रिणी और कर्पूर रस का प्रयोग जहां किया जाता है वहीं पित्ताश्मरी को दूर करने के लिए—

तिल क्षार	४ रत्ती
कटुकाचूर्ण	२ रत्ती
शिलाजतु	१ रत्ती

गरम पानी के साथ हर समय हर २ घण्टे पर देते रहने से आशातीत लाभ होता है।

हजरूलयहूद भस्म	१½ रत्ती
बड़ी इलायची के बीजों का चूर्ण	३ रत्ती
और नौसादर	१½ रत्ती

अदल-बदल कर देने से भी लाभ होता है।

लोहासव, कुमार्यासव और द्राक्षासव २–२ तोला १ गिलास जल में मिला ३–४ बार पिलाते हैं।

पित्ताश्मरी के अन्य उपद्रवों की लाक्षणिक चिकित्सा भी यथाविधि की जानी चाहिए।

पित्त के जम जाने से उत्पन्न अश्मरी में पित्तवर्द्धक, कफघ्न स्थौल्यहर उपचार बहुत लाभकारी सिद्ध होते हैं।

★★

पित्ताश्मरी पर कुशादि घृत

कुश, काश, शर (सरकण्डे की जड़) गिलोय, उत्कर (लाल गन्ना) गन्ने की जड़, पाषाण भेद, दर्भ की जड़, विदारी कन्द, वाराही कन्द, शालि की जड़, गोखरू, श्योनाक, पाढल, पाठा, शालिञ्च, पीलोझिण्टी, लाल पुनर्नवा तथा सिरस छाल इसके क्वाथ से तथा शिलाजीत, मुलहठी, कमलबीज, खीरे के बीज, ककड़ी के बीज, इसके कल्क से यथाविधि घृत सिद्ध कर सेवन करने से पैत्तिक अश्मरी नष्ट होती है। उपर्युक्त पित्तनाशक औषधों से क्षार, यवागू, पेया क्वाथ, दूध तथा अन्य द्रव्यों को सिद्ध कर पित्ताश्मरी के नाश के लिये सेवन कराना चाहिये। घृत की मात्रा आधा तोला है।

—भैषज्य रत्नावली, अश्मर्यधिकार।

अन्त्रपुच्छशोथ या अपैण्डीसाइटिस

आचार्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी सम्पादक "सुधानिधि'

पित्ताश्मरी या पित्ताशयशोथ जिस प्रकार आज एक सर्जीकल उपचार द्वारा सिद्ध रोग माना जाता है वैसे ही अन्त्रपुच्छ शोथ भी एक सर्जीकल व्याधि स्वीकार करली गई है। यह तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकार की व्याधि है।

कारण—यह स्त्री-पुरुष दोनों में तथा नवयुवकों में अधिक मिलता है। इसका वास्तविक कारण क्या है कहना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब आन्त्रपुच्छ मुख में मल या अन्न या जीवाणु प्रविष्ट होकर उसके मुख को बन्द कर देते हैं तब उसमें शोथ होकर रोग लक्षण तीव्र या जीर्ण रूप के प्रकट होते हैं।

लक्षण—उदर में नाभि के पास तीव्र शूल उत्पन्न होता है साथ में हृल्लास और छर्दि भी होती है। थोड़े समय में शूल का स्थान नाभि के दाहिनी ओर सरक जाता है। दबाने से दक्षिण इलियक फौसा में दर्द होता है यह स्थान समीपस्थ उदर्याकला में शोथ होने से कड़ा भी हो जाता है। नाड़ी की गति बढ़ जाती है और रोगी ज्वरग्रस्त भी हो जाता है। तापमान १००° तक जाता है यदि उससे अधिक या उच्च तापमान हो तो रोग आन्त्रपुच्छ शोथ न होकर अन्य कोई हो सकता है ऐसा मानना चाहिए।

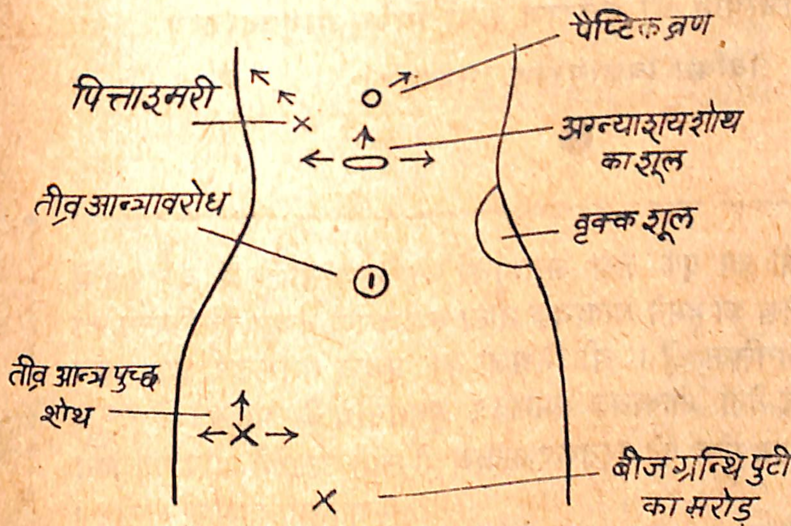
यद्यपि इतने लक्षणों से रोग का निदान किया जा सकता है, परन्तु कभी-कभी आन्त्रपुच्छ विषम स्थिति में होकर उसे तीव्र उदरावस्था (Acute abdomen) के किसी भी रूप को प्रकट कर सकती है। अगर वह उण्डुक के पीछे हो और रोग उत्पन्न हुआ हो तो वृक्करोग की शंका हो सकती है। यदि वह सुआस पेशी पर स्थिति हुई तो नितम्बास्थि सन्धि शोथ का भ्रम हो सकता है। यकृत् के पीछे स्थित होने पर पित्ताशय शोथ की शंका मूर्तरूप ले सकती है या ऐसा भ्रम भी सम्भव है जिसमें पँप्टिकव्रण का विदार होता है। महिलाओं में गनात शोथ (देखें आचार्य त्रिवेदीकृत–स्त्रियों के रोग और उनकी आधुनिक चिकित्सा) या सालिंजाइटिस का भ्रम होना सम्भव हो जाता है। इन्हीं सब से आन्त्रपुच्छ शोथ का संक्षिप्त निदान भी बनता है। सापेक्ष निदान की दृष्टि से तीव्र औदरिक व्याधियों में शूल के मुख्य स्थान तीर द्वारा शूल के फैलने की दिशा का बोध होता है।

किसी भी चिकित्सक को सर्जीकल चिकित्सा या आपरेशन करने के पूर्व अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए कि रोग है भी या नहीं। कभी-कभी रोगी का उदर खोल दिया जाता है और आन्त्रपुच्छ स्वस्थ पाई जाती है तथा उदरपाटनादि से रोगी की मृत्यु तक हो सकती है। इसी प्रकार यदि सर्जीकल उपचार आवश्यक हुआ और वह समय पर न किया गया तो भी रोगी मृत्यु के गाल में समा सकता है। इस कारण इस रोग के सही-सही निदान में चिकित्सक की विद्या, शिक्षा और अनुभव सभी कसौटी पर चढ़ जाते हैं। इसलिए रोग का निदान सावधानी और विश्वास के साथ चिकित्सक को अवश्य करके अपना निर्णय करना चाहिए।

तीव्र आन्त्रपुच्छपाक के सम्बन्ध में निम्नलिखित ज्ञान होना ही चाहिए—

i. रोग किसी भी आयु पर हो सकता है २० से ४० वर्ष की आयु में दोनों लिंगों में अधिकतर होता है।

ii. रोग या दर्द का आरम्भ धीरे-धीरे होता है जबकि पित्ताश्मरी और अन्त्रावरोध का शूल सहसा उत्पन्न होता है। छिद्रोदर तथा अस्थानिक गर्भता का विदार सहसा और तीव्र स्वरूप का होता है।



जाता है। रोगी पीठ के बल लेटकर दाहिने पैर को थोड़ा सिकोड़ लेता है। दर्द के बाद उलटियां शुरू होती हैं। दर्द से पहले नहीं। इस रोग से पीड़ित रोगी को थोड़ी उलटियां ही आती हैं जब कि पित्ताश्मरी के रोगी को बार-बार उलटियां आती हैं।

iii. इस रोग में दर्द तेज (कालिकी) होकर फिर स्थानीय (लोकलाइज्ड) हो जाता है यह आन्त्रपुच्छ के क्षेत्र में बाद में सीमित हो जाता है। पित्ताश्मरी का शूल भी तेज होता है पर वह आमाशय क्षेत्र में होता है। अग्न्याशय का शूल लगातार होता है और उदर के ऊर्ध्व-भाग में ही सीमित रहता है।

iv. इस रोग में दक्षिण श्रोणिखात (Right iliac fossa) क्षेत्र में दबाने से दर्द होता है साथ में मिचली और उलटियां होती हैं जबकि पित्ताश्मरी या पित्ताशय-शोथ में उलटियां एवं कामला दोनों मिलते हैं। अग्न्याशय के शूल के साथ स्तब्धता (शॉक) अवश्य होता है।

v. आन्त्रपुच्छशोथ के क्षेत्र में पेट कड़ा (Rigid) हो जाता है।

चिकित्सा—ठीक-ठीक और शीघ्रातिशीघ्र रोग का निदान करना तथा तत्काल आपरेशन कर डालना ये दो प्रथम आवश्यकताएं हैं जिन्हें चिकित्सक को याद रखना चाहिए। आपरेशन केवल वही करे जो शल्यशास्त्र में निष्णात हो वह भी अस्पताल या सर्जीकल नसिंगहोम में किया जाना चाहिए। यदि तत्काल आपरेशन न किया गया तो आन्त्रपुच्छ (अपेंडिक्स) फट जाती है और रोगी मर जाता है।

इस रोग में शूल सहसा भी उठता है तथा बहुत तीव्र नहीं भी होता तथा शीघ्र आन्त्रपुच्छ क्षेत्र में सीमित हो

यदि रोग से कोई खास उपद्रव न हो तो जनरल एनी-स्थीसिया के साथ उदर विपाटन (मैकबर्नी विन्दु पर) करके आन्त्रपुच्छ को काटकर निकाल देते हैं। कटे हुए भाग को अच्छी तरह सी देते हैं सीने में सूक्ष्म कैटगट का प्रयोग किया जाता है। उसमें नीचे पर्सस्ट्रिंग स्यूचर और लगाते हैं। बाद में उदर को पर्त-पर्त कर सीते हैं। उसमें निकासिका लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। आपरेशन काल में और बाद में भी ड्रिप पद्धति से ५ प्रतिशत ग्लू-कोज एक से डेढ़ लिटर चढ़ाते रहते हैं। मिचली बन्द होने पर मुख से भी द्रव पदार्थ देते हैं। द्रव प्रयोग उदरा-वरणशोथ होने पर तब तक नहीं देते जब तक कि श्रवण-यन्त्र से पेट की आवाजें पुनः न सुनाई देने लगें। पेनिसि-लीन तथा स्ट्रैप्टोमायसीन के इंजैक्शन लगाए जाते हैं।

आजकल आन्त्रपुच्छपाक में एक मिश्र पद्धति भी चलाई जाती है। इसमें—

१. सिद्धमकरध्वज १ रत्ती, कस्तूरीभैरव १ रत्ती, लघुवसन्तमालती रस १ रत्ती, अभ्रकभस्म शतपुटी या सहस्रपुटी १ रत्ती।

तुलसीपत्र स्वरस से ३ बार।

२. टैरामाइसीन (औक्सीटैट्रासाइक्लीन) २५० मिग्रा हर ६ घंटे पर।

३. हलका-हलका सेक पेट पर कराते हैं।

४. मृगमदासव ५ से १० बूंद १-२ बार।

यदि औषधि से लाभ न हो तो शल्य चिकित्सा रोगारम्भ के २४ घंटे के अन्दर कराई जाने के लिए सर्जन से परामर्श कर लेना चाहिए।

क्षुद्रान्त्रपुच्छ प्रदाह या उपान्त्र प्रदाह (Appendicitic)

लेखक—वैद्य वाचस्पति श्री गुलराज शर्मा मिश्र आयुर्वेदाचार्य,
विविध विद्याधुरीण, नागपुर

माननीय मिश्र जी का एक लेख अन्त्रपुच्छ पर धन्वन्तरि में वर्ष ४७ में प्रकाशित हुआ था उस लेख का हमने आवश्यक छोटा रूप करके केवल चिकित्सा का स्वानुभूत थोड़ा ही भाग लिया है। श्री मिश्रजी का प्रसाद समझकर इस पचन संस्थान में आन्त्रपुच्छ पर देना आवश्यक समझकर सुधानिधि के पाठकों के समक्ष रखा है आशा है पाठक इस योग को वरतकर अवश्य ही लाभ उठावेंगे और आयुर्वेद का चमत्कार देखेंगे।

—मदनमोहनलाल चरोरे।

अन्य शारीरिक अवयवों के समान आन्त्रपुच्छ की विकृति होने पर भी प्रदाह (असह्य) हो जाता है। यह वेदना पेट के दक्षिण भाग में नाभि से नीचे बृहदन्त्र के अन्तिम छोर पर होती है। यों तो रोगी को सारे पेट में ही प्रतीत होती है किन्तु उस भाग को दबाने से यह प्रकट होता है कि रोग की जड़ यही है, इसे 'अन्त्र-पुच्छ प्रदाह' कहते हैं। प्रायः यह रोग मध्यम आयु वालों को ही होता है।

कारण भेद से अन्त्रपुच्छ प्रदाह ६ प्रकार का होता है :—

(१) मलाश्मरी जन्य प्रदाह, (२) अन्त्राश्मरी जन्य प्रदाह, (३) विजातीय शल्यज प्रवाह, (४) वृत्तिनाशक प्रदाह, (५) दाहयुक्त प्रदाह और (६) अन्त्रपुच्छ कोष।

तीव्र आशुकारी अन्त्रपुच्छ प्रदाह में रोग के आरम्भ काल से ही अकस्मात् उदर के दक्षिण वंक्षणोत्तरिक प्रदेश में तीव्र वेदना होती है। साथ ही साथ सामान्य रूप से मृदु ज्वर १०० से १०२ डिग्री तक हो जाता है। वैसे तो इसके अनेक लक्षण हैं साध्यासाध्य आदि पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है पर यहां केवल इसकी सफल चिकित्सा ही लिख देना पर्याप्त है।

स्वानुभूत चिकित्सा

योग——४० तोला सोंठ अच्छी बजनदार लेकर कूट कपड़ छानकर एक शीशी में रखें फिर उसमें से ५ तोला, १० तोला मिश्री, ५ तोला गाय का अच्छा घी और बादाम, पिस्ता आदि डालकर सबको एकत्रित कर गरम करके हलवा जैसा बनालें। यह याद रखें अग्नि पर रखते ही जब घी तपकर सब दवा में एकजीव मिल जाता है तभी उसे आग पर से उतार तैयार समझ लेना चाहिये, ज्यादा देर अग्नि पर रख देने से गुणहीन होने की सम्भावना है। तैयार होते ही उतार कर प्रातःकाल निरन्न पेट इसे खिलावें और ऊपर से मिश्री मिला दूध यथारुचि यथाशक्ति दें। दवा केवल दिन में एक बार। यदि कदाचित् सोंठ का हलवा एक समय में न खाया जा सके तो दो बार में लें, किन्तु ५ तो० सोंठ दिन भर में खा लेना चाहिए। यह प्रयोग आठ दिन का है——भोजन में केवल दूध तथा अनार, मौसम्बी, पपीता और सेव दें। यदि अन्न के बिना न रहा जावे तो बहुत हल्का और और अल्प मात्रा में गेहूँ का दलिया घी में तला हुआ (थूली) दूध के साथ दें। अधिक तीव्र और पुरानी व्याधि में हम एक सेर सोंठ तक खिला देते हैं। यह योग देखने में अति साधारण सा है किन्तु गुणों में अत्यन्त असाधारण है। वे लिखते हैं मैंने स्वयं इसे खाया है और अनेक रोगियों पर प्रयोग किया है अतः चिकित्सक अपने रोगियों पर प्रयोग कर लाभ पहुँचायें।

सुधानिधि

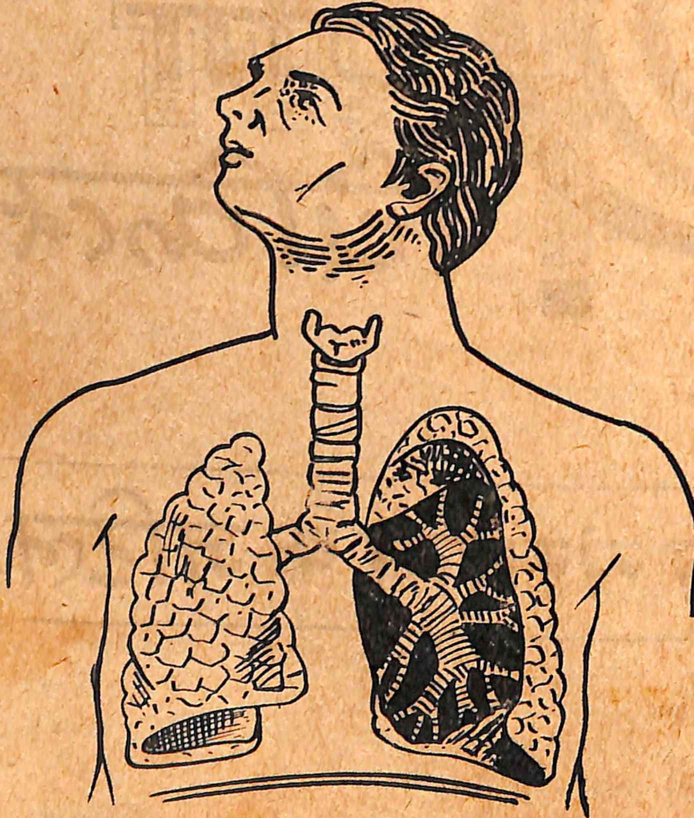


जटिल रोग चिकित्सांक

श्वसन संस्थान के जटिल रोग

इस खण्ड में









आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी सम्पादक "सुधानिधि"

रोग का नाम तथा परिभाषा

जीर्ण प्रतिश्याय दो शब्दों से बना है, जीर्ण अर्थात् चिरकालीन तथा प्रतिश्याय इसके सम्बन्ध में लिखा है—

प्रतिश्याय इति वातं प्रत्यभिमुखं श्यायो गमनं कफादीनां यत्र स प्रतिश्यायः । शैङ् गतौ इत्यस्य प्रयोगः ।।

कफादि का वात के प्रति अभिमुख होकर बहना प्रतिश्याय कहलाता है ।—

घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा ।
मारुताध्माताशिरसः श्यायते मारुतं प्रति ।।

—च० चि० अ० ८

इसे सामान्य भाषा में पुराना नजला या जुकाम कहते हैं । यह बहुत तंग करता है । इसके सम्बन्ध में आयुर्वेद में जो विवरण मिलता है, उससे कहीं अधिक यूनानी चिकित्सा ग्रन्थों में मिलता है । जीर्णता के साथ दुष्टता भी मिलती है जो उसे जटिल बना देती है ।

रोगोत्पत्ति के कारण

वेग साधारण, अजीर्ण, धूल, आर्द्रता, धूम, शीत, ऋतुवैषम्य, भाषणाधिक्य, क्रोध, रात्रिजागरण, दिवास्वप्न, तुषार, ओस, ऐक्सपोजर, नारीप्रसंगाधिक्य, शिरसोऽभिताप इन कारणों से जब वात, पित्त, कफ, रक्त का अलग-अलग या मिलकर जब सिर में संचय होने लगता है तब प्रतिश्याय बनता है । संचित दोषों का उसी प्रकार प्रसर होता है जैसे किण्वजल और पिष्टमय पदार्थों के एक जगह संचित करने से जैसे सन्धान होकर उफान या प्रसरण होता है वैसे ही दोषों का सिर में प्रसरण होकर प्रतिश्याय बनता है । यह अधिक दिन तक रहने से जीर्ण रूप धारण कर लेता है ।

आधुनिक चिकित्साशास्त्रवेत्ता इस रोग को एक निःस्राव्य विषाणु से उत्पन्न मानते हैं जो नासा या नासाग्रसनिका पर आक्रमण करता है । विषाणु के द्वारा रोगोत्पत्ति होने के बाद जीवाणुओं के आक्रमण से रोग जीर्ण रूप धारण कर लेता है । भीड़भाड़ के स्थानों पर जाने से बिन्दूत्क्षेपण से एक से दूसरे को रोग आता है । सिनेमाघर, मेले, बसों या रेलगाड़ियों में यात्रा से रोग फैलता है । एक ऋतु के बाद जब दूसरी ऋतु आती है तब ऋतु के सन्धिकाल में रोग चालू हो सकता है । कुछ लोग इसे शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं ।

लक्षण—नाक से आरम्भ में जलीयस्राव आता है जो बाद में गाढ़ा और सपूय हो जाता है । गले में खराश और आंखों से भी पानी आता है । आरम्भ में थोड़ा ज्वर भी हो जाता है । आयुर्वेद में तो दोषानुसार रोग का श्रेणी विभाजन एक ऐसी सुन्दर परम्परा है जो अन्यत्र उतनी स्पष्ट नहीं है ।

वातिक प्रतिश्याय—छींकें बहुत आती हैं, नाक से पतला स्राव आता है । नाक भरी रहती है, गला, तालु, ओष्ठ सूख जाते हैं । कनपटियों में तोद होता है ।

पैत्तिक प्रतिश्याय—गरम पीला पानी नाक से आता है, नाक गरम रहती है ।

श्लैष्मिक प्रतिश्याय—सिर भारी-भारी सा, गाढ़ा सफेद ठण्डा स्राव नाक से आता है । गले में खुजली उठती है ।

सन्निपातज प्रतिश्याय—बार-बार प्रतिश्याय होता है, सभी दोषों के लक्षण मिलते हैं, जुकाम कभी पक जाता है कभी अपक्व रहता है।

रक्तज प्रतिश्याय—में नाक से स्राव के साथ रक्त भी आता है। उच्छ्वास दुर्गन्धयुक्त होता है।

दुष्ट प्रतिश्याय—यह सर्वज या सन्निपातज है। यह ही वास्तव में जटिलरोग है, विदेह ने तो इसे असाध्य* ही माना है—नृणां दुष्टप्रतिश्यायः असाध्यः सर्वजः स्मृतः।

सुश्रुत ने दुष्टप्रतिश्याय का शब्द चित्र प्रस्तुत किया है—

प्रक्लिद्यते पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति।
पुनरानह्यते वाऽपि पुनर्विव्रियते तथा॥
निःश्वासो वाऽति दुर्गन्धो नरोगंधान् न वेत्ति च।
एवं दुष्ट प्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्र साधनम्॥

इसमें रोगी को गन्ध का अनुभव नहीं होता। नाक कभी गीली, कभी सूखी, कभी भर जाती है कभी खुल जाती है। यह क्रम चलता ही रहता है।

रोग चिकित्सा के सिद्धान्त

प्रतिश्याय नासा रोग है, इसके सिद्धान्त इस प्रकार बतलाये गये हैं—

सर्वेषु पीनसेषु आदौ निर्वातागारगो भवेत्।
स्नेहस्वेद प्रधमनं धूमगण्डूषधारणम्॥
वासो गुरूष्णं शिरसः सुघनं परिवेष्टनम्।
लघूष्णं लवणस्निग्धमुष्णं भोजनमद्रवम्॥

निर्वातस्थान (एयर कण्डीशण्ड) स्थान, स्नेहन, स्वेदन, प्रधमननस्य, धूम्रपान, गण्डूषधारण, भारी और गरम वस्त्र, सिर पर साफा या मफलर, हलका स्निग्ध सुपाच्य भोजन जिसमें तरल कम हों ये सभी आवश्यक हैं।

पित्तज और रक्तज प्रतिश्याय में मधुरगण से सिद्ध घृतपान, कफज में कफनाशक पेया तथा दारुहरिद्रा, हिंगोट फल, दन्ती, अपामार्ग, तुलसी को पीस वर्ति बना उसका धूम्रपान कराने का विधान है।

और जब प्रतिश्याय में कफ पक जाता है तब शिरोविरेचन कराने का विधान है। साथ ही शिरोभ्यंग, स्वेदन, कटुअम्ल द्रव्यों का सेवन कराया जाता है। वमन और घृतपान जैसी जिसकी आवश्यकता हो उसका प्रयोग करना चाहिए। सहँजना के बीजों का नस्य भी लाभ करता है।

भैषज्य रत्नावली में चिरकालीन प्रतिश्याय के लिए उबाले हुए उड़द को सेवन कराने का विधान है—

भक्षये त्तु भुक्तमात्रे सलवणसुस्विन्नमाषमत्युषणम्।
स जयति सर्वसमुत्थं चिरजातञ्च प्रतिश्यायम्॥

उत्तर भारत में जाड़ों में राजमाष (रमास) खूब उबले हुए, नमक, हरीमिर्च डालकर थालों में बेचने का रिवाज है। सम्भवतः वह प्रतिश्याय नाशक होने से प्रचलित हुआ है।

रोगी की तत्काल करणीय चिकित्सा

दुष्टप्रतिश्याय एक जटिल व्याधि है, वह समझकर ही वैद्य को रोगी की ओर ध्यान देना चाहिए तथा उसे सामान्य रोग मानकर न टाल देना चाहिए।

रोगी को गरम कपड़ों तथा कमरे में रखने की व्यवस्था करनी चाहिए। फिर एक पतीली में पानी भरकर गरम करें। उसमें कपूर या अमृतधारा या विक्स-वेपोरब १० बूंद डाल दें। एक तौलिया उढ़ाकर रोगी को इसकी भाप सूंघने दें। तिब्ब अकबर में कपूर को चिनगारियों पर रखकर उसका धूआं सुंघाने के लिए भी लिखा है।

भैषज्य रत्नावली की चित्रकहरीतकी (योग परिशिष्टांक में देखें) ६ माशे से १ तोले तक २-३ बार गरम जल से देनी चाहिए। इसी ग्रन्थ का महात्रिफला घृत (नेत्राधिकार का) बहुत उपादेय सिद्ध हुआ है। मात्रा ६ माशे से १ तोले तक दो बार दुग्ध के अनुपान के साथ।

तिब्ब अकबर का शर्बत खशखश भी इस रोग में अच्छा काम करता है।

हकीम लोग इस रोग में जौ का दलिया या यवमण्ड को लाभप्रद बतलाते हैं। मूंग की दाल और पालक भी देते हैं मांस का सेवन वर्जित है। बादाम की मींगी, खीरा

---

* सुश्रुत ने सभी प्रतिश्यायों का सम्यक् उपचार न होने पर उनकी दुष्टता तथा असाध्यता की ओर इंगित किया है।—

सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः।
दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति हि॥
—सु, उ. तं. अ. २४

के बीजों की मींगी, निशास्ता, बादाम तेल और मक्खन इस रोग में पथ्य माने जाते हैं। मसूर के पानी के कुल्ले इस रोग में उत्तम होते हैं।

केवल सिद्धमकरध्वज का प्रयोग भी रोग से मुक्ति दिलाता है।

पुरदिल नगर के सुप्रसिद्ध वैद्यराज पं. बंशीधर त्रिवेदी जीर्ण प्रतिश्याम के रोगी को पथ्य में उड़द की दाल घी और आम का अचार मय गुठली के दिलाते हैं। उन्नाव ५ दाना खतमी १।। माषे खुब्बाजी १।। माषे लसोड़ा ५ दाना सोंठ या अदरक कालीमिर्च और पिप्पली तथा जावित्री १-१ माशा पावसेर पानी में औटा कर एक छटांक शेष रहने पर एक तोला शहद और ६ माषे बादामरोगन के साथ देते हैं।

आधुनिक विज्ञानवादी इस रोग में कोटरपाक या साइ-नूसाइटिस का उपद्रव भी पाते हैं। माथे में भारीपन तथा सिर में दर्द इस रोग में प्रायः मिलता है। ऊर्ध्वहनु की अस्थि के कोटर में शोथ भी मिलता है। कान में भारीपन बाधिर्य, स्वरयन्त्रशोथ, कण्ठनाड़ी शोथ आदि भी उपद्रव रूप में मिलता है। नेत्राभिष्यन्द, नासाशोथ, पीनस तथा अलर्जी के लक्षण छींक, खुजली कोठोत्पत्ति प्रायः मिल सकती है।

इस रोग में उपसर्ग नाशक ऐन्टीबायोटिक्स, अलर्जी नाशक-एण्टीहेस्टैमिनिक्स तथा शामक या सैडेटिव औष-धियों का प्रयोग किया जाता है। नासा के स्राव में जिस प्रकार के जीवाणु मिलें तदनुसार औषधि प्रयोग की नई परम्परा है। जीर्ण प्रतिश्याय में कुछ लोग एण्टी-हिस्टै-मिनिक द्रव्यों की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। कफ-कुठार रस, नुसार, अभ्रकभस्म पान में रखकर लेना, अदरक, तुलसी की चाय तथा संजीवनी वटी का प्रयोग भी अच्छा काम करता है।

प्रतिश्याय में दोषों के क़ोप का ठीक-ठीक ज्ञान कर कुपित दोषों की शान्ति हेतु आयुर्वेदीय प्रचलित विधान का उपयोग ठीक रहता है।

सुखोष्ण जल में थोड़ा नमक मिलाकर एक टोंटीदार पात्र में भरकर एक नासारन्ध्र में पानी की धारा चुवाने पर वह दूसरे नासारन्ध्र से निकल जाती है। इस प्रकार थोड़ी देर करने से नासा की शुद्धि प्रक्षालन और सेक हो जाता है। यह विधि प्रतिदिन करने से कुछ दिनों में ही प्रतिश्याय से मुक्ति मिल जाती है।

वातज कास में पथ्य द्रव्य

वास्तुको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम्। स्नेहास्तैलादयो भक्ष्याः क्षीरेक्षुरस गौडिका ।।
दध्यारनालाम्लफलं प्रसन्नापानमेव च। शस्यते वातकासे तु स्वाद्वम्ल लवणानि च ।।
ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान्। रसैः मांसात्म गुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान् ।।

बथुआ, मकोय, कच्ची मूली, चौपतिया, घी, तैल आदि स्नेह दूध गन्ने का रस, गुडविकार (खांड मिश्री आदि) दही, कांजी, खट्टे फल प्रसन्ना (सुरामण्ड) तथा मधुर अम्ल लवण रसयुक्त पदार्थ वातकास में हितकर हैं। गाम्य, आनूप तथा औदक (जल में होने वाले) पशु पक्षियों के मांसरस के साथ अथवा उड़द तथा कौंच के बीज के यूष के साथ शालि जौ, गेहूँ तथा साठी चावलों का सेवन करना हितकर है।

जीर्ण कास (chronic cough)

आचार्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी, सम्पादक-सुधानिधि

खांसी एक महाव्याधि है तथा महाव्याधियों की जनक भी है। आयुर्वेद इसके ५ भेद मानता है—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, क्षयज और क्षतज। इन भेदों में से प्रत्येक जीर्णता को प्राप्त हो सकती है। वातिक कास सूखी होती है। ठण्डक से बढ़ती है। इसका क्षेत्र गला और कण्ठनाली प्रायः होते हैं। श्वासनलिकाओं में शोथ भी इसे उत्पन्न करता है। जिन कारणों से गले, टॉन्सिल, कण्ठ,-नाड़ी, श्वासनाल में शोथ होता है यदि वे कारण बराबर चालू रहते हैं तो वातिककास जीर्ण हो सकती है। सज्वर कास प्रायः पैत्तिक होती है। इसमें शोथ पाक का रूप ले लेता है कण्ठ, कण्ठनाड़ी, श्वासनाल और श्वसनिकाओं में शोथ, शूल, ऊष्मा और लालिमा बढ़कर कष्ट उत्पन्न होता है। यह कास आरम्भ में सूखी होती है इसमें उपसर्गकारी जीवाणु रोग का कारण होते हैं। वातिक में धूल, धूम आदि भी कारण होते हैं। श्लैष्मिक कास में कफ निकलने लगता है कफ गाढ़ा श्वेत और लसदार होता है। वातिक में थूक और पैत्तिक में रक्त भी आ सकता है। क्षयज कास का प्रमुख कारण यक्ष्मादण्डाणुओं के द्वारा फुफ्फुसों में विक्षत उत्पन्न करना होता है। यक्ष्मादण्डाणु के चारों ओर एक वलय का निर्माण होता है उसमें आगे चलकर किलाटीयन होता है। किलाट फूटता है उसका स्राव फुफ्फुस में कासोत्पत्ति और क्षय जन्य कफ को उत्पन्न करता है। कफ में एसिड फास्ट बैसिलाइ देखे जाते हैं। क्षयज कास में यक्ष्मा के उपसर्ग के अन्य लक्षण भी मिलते हैं। क्षतजकास फुफ्फुस में क्षत या व्रण उत्पन्न होने से बनती है। दुर्बल और अल्पप्राण व्यक्ति जब अपनी शक्ति से अधिक दम लगाता है तो उसके फुफ्फुसों में वातायन या ऐल्वियोलाई की प्राचीरों में अधिक हवा भर जाती है वे अधिक फूल जाती हैं इतनी कि वे अपनी प्रत्यास्थता तक खो बैठती हैं और पुनः अपने स्वरूप पर वापस नहीं आतीं जिसके कारण उनमें स्थान बढ़ जाता है जिसमें रक्त का रस चू जाता है जिसमें कई प्रकार के बैक्टीरिया संवर्धित हो जाते हैं और गाढ़ा कफ निकलने लगता है। उसके साथ पूय और रक्त भी निकलता है। पांचों प्रकार के कास जीर्णता को प्राप्त हो सकते हैं।

'कस' गतौ इत्यस्मात् कसनात्कासः यह कास की व्युत्पत्ति है। धूंआ या गैस, आमरस, व्यायामाधिक्य, रूक्षान्न सेवन, भोजन का विमार्गगमन, छींक के वेग को रोकना आदि वे सामान्य कारण हैं जो कास की उत्पत्ति करते हैं। आयुर्वेदीय वाक्यावलि में उदानानुगत प्राणवायु ही कास उत्पादक मुख्य कारण है। शास्त्र वातिक से पैत्तिक, पैत्तिक से श्लैष्मिक, श्लैष्मिक से क्षतज और क्षतज से क्षयज को अधिक बलवान् मानता है। क्षतज कास पहले शुष्क होती है फिर उसमें रक्त आता है। इसमें छाती में भयंकर पीड़ा होती है। क्षयजकास त्रिदोषज होती है रोगी की धातुएं क्षीण होती हुई चली जाती हैं। कफ में रक्त और पूय दोनों आते हैं—

सगात्रशूलज्वरदाहमोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी।
शुष्यन्विनीष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम्॥
तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति॥
—सु. उ. तं. अ. ५२

जीर्णकास में जटिलता क्षतज और क्षयज में ही प्रायः मिलती है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से क्षतजकास में ब्रांकिऐक्टैसिस का समावेश होता है।

जीर्णकास में कफ बहुत मात्रा में बनता है और वह श्वसनमार्गों का अवरोध कर श्वासक्रिया में बाधा उत्पन्न

करता है। इस रोग में वह सब प्रयत्न किया जाना आवश्यक है जिससे कफ बराबर निकलता रहे और स्वसनमार्ग बराबर खुले रहें। इसके लिए विविध स्थितियों या करवटों में रोगी को रखना पड़ता है। कफ निकालने के लिए ब्रोंकोस्कोपिक प्रचूषण उतना आवश्यक नहीं होता। कफ निकालने और पतला करने के लिए पोटाशियम आयोडाइड का सन्तृप्त घोल बनाकर उसकी १०-२० बूंदें दिन में ३-४ बार तक देते हैं। खूब जल पिलाने से भी कफ पतला पड़ता है। क्षतजकास में रोग कारक जीवाणुओं का ज्ञान करना और जीवाणु नाशक द्रव्यों जैसे पेनिसिलीन, स्ट्रैप्टोमायसीन तथा अथवा टैरामायसीन आदि ब्रांडस्पैक्ट्रम एण्टीबायोटिक्स देना चाहिए। फुफ्फुसों के उपसर्ग में पेनिसिलीन तथा डाइक्रिस्टीसीन का उपयोग सदैव लाभप्रद देखा जाता है बशर्ते कि उससे कोई प्रतिक्रिया न हो।

क्षयजकास में यक्ष्मानाशक द्रव्य स्ट्रैप्टोमायसीन, आइसोनिकोटिनिक एसिड हाइड्रैजाइड, पास कैल्शियम और रुदन्ती का भरपूर प्रयोग किया जाना चाहिए। धातुक्षयहर ड्यूराबोलीन भी देना चाहिए।

फेरिंजाइटिस, ट्रैकियाइटिस, ब्रोंकाइटिस में गरम सेक, गरम गण्डूष नमक के पानी को गरम कर उसका प्रयोग, छाती को गरम रुई से सेकना, विक्स या अमृतांजन मलना। यदि कोई अलर्जी का कारण हो तो उसे दूर करना आवश्यक है। कॉर्टीकोस्टराइड्स का प्रयोग किया जा सकता है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा के लिए दोषानुसार रोग का निदान करना आवश्यक होता है। कफ कैसा निकलता है इसे भी देखना होगा। वातिक में कफ नहीं निकलता। खांसी सूखी रहती है वहां कचूर, काकड़ासिंगी, पिप्पली, भारंगी, मोंथा जवासे का चूर्ण गुड़ मिलाकर और थोड़ा तैल डाल गोली बनाकर चुसावें ऊपर से कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखुरू, शालपर्णी, पृश्निपर्णी का फाण्ट पिलादें। दिन में २-३ बार ऐसा करने से रोग बिदा हो जाता है। पैत्तिककास में विरेचन द्वारा पित्त का निर्हरण कराया जाता है। यदि कफ गाढ़ा है तो तिक्तद्रव्यों के साथ निशोथ दें यदि पतला हो तो मधुर द्रव्यों के क्वाथ के साथ निशोथ दें। मुनक्का, खजूर, मुलहठी के क्वाथ में निशोथ डालकर दे सकते हैं। बला, वासा और बृहती के क्वाथ के साथ भी निशोथ दी जा सकती है। कफजकास में पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और शुण्ठी के साथ पकाया दूध २-३ बार पिलाते हैं।

कोई भी खांसी हो कटेरी छोटी के पंचांग के साथ बनाई चाय में छोटी पीपली का चूर्ण डाल देना सदा उपकारक रहता है।

जिस कास में रक्त भी कफ के साथ आता हो वहां अड़ूसे का शर्बत अच्छा काम करता है। क्षतज कास में लाख, राल, सेलखड़ी तथा दम्युलखवेन, गेरू १-१ रत्ती का चूर्ण अड़ूसे के शर्बत के साथ देना चाहिए।

दुष्टकास में इमली के पत्तों की चाय बनाकर भुनी-हींग का धुमार दें और सेंधा नमक डालकर पिलावें। वैद्यनाथ के पं. रामनारायण शर्मा वासावलेह में कटेरी पंचांग मिलाकर प्रयोग करते हैं और उसे सभी कासों में हितावह बतलाते हैं। आर्द्रक का स्वरस मधु मिलाकर भी कासरोगियों में हितकारी होता है।

भैषज्यरत्नावली में कई धूम प्रयोग लिखे हैं इनमें कालीमिर्च, मेन्सिल, आक का दूध, आक की जड़ की छाल को एकत्र पीस शुष्क चूर्ण कर रखलें। इसे थोड़ा अंगार पर बुरक धूम्रपान करने से कफ ढीला हो जाता है और चैन पड़ता है। रसों में चन्द्रामृतरस १-२ रत्ती पिप्पली चूर्ण और मधु से या अदरक के रस के साथ २-३ बार देते हैं ऊपर से वासा गुडूची भारंगी मोथा तथा कटेरी की चाय या क्वाथ बनाकर पिलाते हैं। क्षयजकास में तथा शेष सभी प्रकार की खांसियों में जब कष्ट बहुत अधिक हो और छाती में दर्द भी हो अहिफेनयुक्त वासादिवटिका (भै. र.) का प्रयोग बहुत लाभ करता है।

जीर्णकास में छागलाद्यघृत, वासाचन्दनादि तैल तथा वासकारिष्ट दिये जाते हैं।

कास रोग में लघु सुपाच्य भोजन देना चाहिए। बथुआ, मकोय, बैंगन, कच्चीमूली, लहसुन, त्रिकटु और उष्णजल पथ्य हैं। मछली, कन्द के शाक, सरसों, गुरु-शीत अन्नपान कुपथ्य हैं। ●●



श्वास रोग निदान व चिकित्सा

डा० श्री गजेन्द्रसिंह छोंकर ए.एम.बी.एस. आयुर्वेदाचार्य
प्रवक्ता आयुर्वेद महाविद्यालय हाथरस ।

डा० छोंकर एक क्रियावान् और मनीषी चिकित्सक हैं आपने सुप्रसिद्ध ऋषि-कुल आयुर्वेद कालेज से पञ्चवर्षीय आयुर्वेद शिक्षा ग्रहण की है। गुरुकुल कांगड़ी के यौगिक केन्द्र से ५ वर्ष की योगक्रिया विज्ञान की शिक्षा भी ग्रहण की है।

आप सरल स्वभाव के निष्ठावान् आर्यसमाजी विचारधारा से ओतप्रोत व्यक्ति हैं। आप आजकल सादाबाद में ओ३म् आयु-रक्षक फार्मेसी का संचालन करते हैं।

आपने श्वास रोग पर एक बहुत विद्वत्तापूर्ण और अनुभवात्मक लेख प्रस्तुत किया है जो इनकी योग्यता को प्रमाणित करता है। --रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

प्राणवायु का अधिक मात्रा में ऊर्ध्वगामी होना जिसमें वक्षस्थल चमड़े की फूकनी की तरह या धोकनी के समान गति करे वह श्वास कहलाता है। इसे व्यवहार में दम फूलना या दमा कहते हैं। शारीरिक क्रिया की दृष्टि से आधुनिक वाङ्मय में श्वास शब्द का अर्थ श्वासकृच्छ्रता या Dyspnoea की एक अवस्था है यह लक्षण अनेक व्याधियों में देखने में मिलता है। इसलिए इसको Symptom complex लक्षण समूह तक ही समझ करके चिकित्सा में सहायता ली जाती है परन्तु आयुर्वेद में यह रोग स्वतन्त्र व्याधि के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस रोग के प्रत्यात्म-नियम लक्षण मिलते हैं उसे रोग संज्ञा प्रदान की जाती है। यद्यपि यह रोग अनेक रोगों का लक्षण भी है और इस रोग के अनेक लक्षण देखने को भी मिलते हैं। "श्वासस्तु भस्मिकाध्मान सम-वातोर्ध्व गामिता" इस सूत्र की स्पष्टता से श्वास का उर्ध्व-गामी होना और धौकनी के समान वक्षस्थल का होना यह कफ प्रधान वायु के विकार से अवस्था होती है। आयुर्वेद शास्त्र में इस रोग का अलग निदान, पूर्वरूप, रूप, सम्प्राप्ति, एवं साध्यासाध्यता दी गई है।

आधुनिक विकृति विज्ञान की दृष्टि से भी श्वास प्रणा-लियों की श्लेष्मकला में शोथ हो जाने से वायुपथ संकीर्ण हो जाता है और प्राणदा नाड़ी सूत्रों के उत्तेजित हो जाने से श्वास प्रणालीय पेशियां संकुचित हो जाती हैं जिससे वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और श्वास में कष्ट उत्पन्न हो जाता है।

जब आकाश में बादल छा गये हों बिजली चमक रही हो और अन्धकार शीत तथा वर्षा का प्राबल्य पृथ्वी पर उमड़ आया हो तब रुग्णालयों में जाकर देखा जाय तो उन दिनों अधिक से अधिक श्वास रोगों में से भी "तमक श्वास" से पीड़ित रोगी ही देखे जाते हैं तमस् से तथा

मेघाम्बु शीतवायु तथा कफज निदानों से इस रोग से पीड़ित व्यक्तियों का कष्ट बढ़ जाता है। यह रोग वेगों के स्वरूप से अत्यन्त कष्ट देता है। महर्षि आत्रेय ने कहा है कि जो प्राणनाशक रोग हैं उनमें श्वास और हिक्का रोग ही सबसे अधिक शीघ्रता से प्राणनाश करते हैं अन्य किसी रोग में आक्रान्त पुरुष जब मरने वाला होता है तो अधिक कष्टकारी हिक्का या श्वास अवश्य उत्पन्न होती है। महर्षि चरक ने इस रोग के लिए हजारों वर्ष पूर्व कह दिया कि रोग अगर नवीन है तो साध्य या कष्टसाध्य नहीं तो असाध्य या (आप्य) इस ठोस सत्य में आज तक परिवर्तन नहीं हो सका। श्वास रोग में दोषानुसार भेद नहीं किया गया है यह एक वैशिष्ट्य है।

श्वास के विशिष्ट अंगों पर ध्यान देने से भी सत्यता सामने आयेगी इन्हें श्वासोच्छ्वास के अवयव भी कहते हैं।

१. उद्भव = पित्त स्थान (आमाशय)।
२. संचार = रसायनी।
३. अधिष्ठान = उर: (फुफ्फुस)।
४. दोष = वात + कफ दोष।
५. दूष्य = रस।
६. स्रोतस् = प्राणवह स्रोत और अन्नवह स्रोत।
७. आम = रस गत।
८. अग्निमान्द्य = जाठराग्नि।
९. प्रधानता = स्रोतोरोध।
१०. वातदोष + कफदोष = उदान + प्राणवात + अपान वात व क्लेदक कफ।

प्राणवह स्रोत कफावृत होने पर वायु के गमनागमन में बाधा उत्पन्न हो जाती हैं। और संकीर्णता के कारण श्वास की उत्पत्ति होती है। वाग्भट ने प्राणवह स्रोतों की दुष्टि के साथ-साथ ही उदक वह तथा अन्नवह स्रोतों की दुष्टि का भी निर्देश किया है। वृद्ध पिपासा, तालु, क्लोम, ओष्ठ, जिह्वा आदि के सूखने से उदकवह स्रोतो की दुष्टि का अनुमान लगाया जाता है। अन्नवह स्रोत की दुष्टि होकर फिर प्राणवह स्रोत की दुष्टि होती है।

दोषः—सभी संहिताकार श्वास रोग में वात और कफ को श्वास का आरम्भिक दोष मानते हैं।

"कफ वातात्मकावेतौ" च० चि० अ० १७/७

जिस प्रकार से ज्वर में पित्तदोष तथा गुल्म में वात दोष आरम्भिक कारण माना जाता है। उसी प्रकार ये दोनों हिक्का और श्वास रोग कफ और वात से उत्पन्न होते हैं। परन्तु इनकी उत्पत्ति पित्त स्थान से होती है। ये दोनों रोग हृदय के रस आदि धातुओं को सुखा डालते हैं। इसी प्रकार सम्मिलित कफ और वात दोष श्वास के प्रारम्भिक कारण हैं। शास्त्रों में श्वास रोग का दोषानुसार वर्गीकरण नहीं किया गया है। रोग के स्वरूप और उसकी गम्भीरता के आधार पर महाश्वास, उर्ध्व-श्वास, छिन्नश्वास, तमकश्वास तथा क्षुद्रश्वास के नामकरण कर दिये हैं। श्वास भेदों में किस में किस दोष की प्रधानता रहती है इसका उल्लेख चरक एवं सुश्रुत आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। सुश्रुत के टीकाकार श्री डल्हण के तंत्रान्तर का एक श्लोक अंकित है जिसमें तमकश्वास कफदोष का प्रधान, छिन्नश्वास पित्तदोष तथा अन्य तीन वातदोष प्रधान माने हैं।

क्षुद्रको वातिकः श्लेष्म भूयिष्ठी तमकस्मृतः।
छिन्नः पित्त प्रधानस्यादन्यौ मारुतः कोपजौ॥

सुश्रुत ३-५१-४ डल्हण

आयुर्वेद में रोगों के नामकरण की विशिष्ट शैली है जैसे वर्णानुसार नामकरण, पाण्डु, कामला, रोग अवयव नामानुसार ग्रहणी और हृद्रोग आदि इसी प्रकार श्वास रोग नामकरण का यह कारण है कि इस व्याधि में रोगी को श्वासोच्छ्वास की क्रिया में कष्ट होता है। इस व्याधि की एक और विशेषता यह है कि उसके ही समान कास रोग में श्वास एक लक्षण के रूप में हो सकता है। परन्तु इस व्याधि के साथ कास लक्षण स्वरूप कदापि नहीं होता।

"इस व्याधि में श्वसन की गति बढ़ जाती है। और रोगी को कष्ट से श्वासोच्छ्वास करना पड़ता है। अब श्वसन गति बढ़ जाना यह विकृति है। तब यह जानना आवश्यक है कि प्रकृति क्या है—श्वसन की प्रकृति प्राकृतावस्था को जान लेने पर ही विकृति सरलतया समझी जा सकती है।" श्वसन एक ऐसी प्रक्रिया है जो निरन्तर होती रहती है जीवित पुरुषों में यह जीवन की साक्षी बताने वाला लक्षण है। श्वसन-क्रिया आत्मा का



मुख्य गुण और जीवन का मुख्य चिह्न रूप होती है वायु के सामान्यकर्मों में भी चरक ने श्वसन कर्म बताया है। अतः श्वसन क्रिया में आत्मा और वायु प्रधान कारण हैं। शार्ङ्गधर संहिताकार ने श्वसन क्रिया को बड़े ही अलंकारिक शब्दों में वर्णित किया है। "नाभिस्थ प्राणपवन ....जठरानलम् ।" शा० सं० पूर्व ५/४२ नाभि में स्थित प्राण संज्ञक वायु प्रथम हृदय कमल को स्पर्श कर कंठ से बाहर विष्णुपदामृत पीने के लिए आता है और बाह्याकाश स्थित पीयूष का पान कर पुनः वेग पूर्वक शरीर में प्रवेश कर स्वस्थान में जाकर सारे शरीर का पीणन करता है।

यहां पर नाभि शब्द से हृदय को ग्रहण करना चाहिए। नाभि शब्द अनेक बार हृदय के लिए प्रयुक्त हुआ है। "हृत्कमलान्तर" शब्द से हृदय के दोनों पार्श्व में स्थिति फुफ्फुसों का ग्रहण करना चाहिए। इस तरह हृदय स्थित प्राणवायु फुफ्फुस में आकर कण्ठ द्वारा बाहर आता है यह उच्छ्वास की क्रिया का वर्णन लगता है। फिर आकाश का अमृत बाह्य वायु का सेवन करके पुनः अन्दर फुफ्फुसों में प्रविष्ट होता है। यह क्रिया निःश्वास की प्रतीत होती है। यह बाह्य वायु फुफ्फुस में आने पर यहां से हृदय में जाकर सारे शरीर में जाकर रक्त तथा सर्व शरीर का पीणयन करता है। इस तरह यह अन्तः-श्वसन है।

शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में श्वसन की दर बतायी है। एक अहोरात्रि २४ घण्टों में प्राणवायु की १०×१००० +८००=१०८०० तथा १०×१०००+८००= १०८०० अपानवायु की दर होती है दोनों मिलाकर २१,६०० प्राणापान या श्वसन एक अहोरात्र में होते हैं २१६००÷२४=९०० श्वसन १ घन्टे में होते हैं। तो एक मिनट में (९००÷६०) १५ श्वसन होते हैं जो नव्यन्याय के अनुसार हैं।

"शतशतानि पुरुषः शतेनाष्टौ शतायन्त्रित वदन्ति।" अहो रात्र्याभ्यां पुरुषः समेन तावकृत्यः प्राणिति-च पानिति॥

शा० ब्रा० १२/३/२/८

श्वास रोग यह प्राणवह स्रोतस का रोग है। इस स्रोतस के मूल हृदय और महास्रोतस् हैं। इस स्रोतस् की दुष्टि के कारण चरक ने बताये हैं कि क्षय से, वेग धारण से, रूक्षता से, व्यायाम से, और अन्य दारुण कर्म से प्राणवह स्रोतस दूषित होते हैं।

"प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च"

(च० वि० ५)

दारुण कर्म का अर्थ है अपनी शक्ति से अधिक कर्म जो परिणाम में वातवर्धक हो इन हेतुओं का मुख्यतः दो प्रकारों के स्वभाव हैं।

१. वात प्रकोप संग या आवरण द्वारा और दो धातुक्षय कारक पोषणाभाव से शरीर में रिक्त स्थान में वात प्रकोप होता है। प्रायः प्राणवह स्रोतो-दुष्टि निदानों में वात प्रकोप भावों का ही निर्देश हुआ है। किन्तु श्वास रोग सम्प्राप्ति में "कफवातात्मक" आधार पर यथोक्त कफ जनक हेतुओं का भी समावेश करना चाहिए। चक्रपाणि इस विषय में कहते हैं कि वातजनक और कफजनक हेतुओं को दो वर्गों में विभक्त कर वर्णन किया गया है। अतः यह वात और कफ का स्वहेतु कुपित होने से स्वातन्त्र्य प्रकट होता है उनका परस्पर अनुबन्धत्व नहीं समझना चाहिए। यह सही है कि वायु से प्राणवह स्रोतस की दुष्टि हो सकती है परन्तु कफ से श्वास की साक्षात् उत्पत्ति की उपपत्ति संगत नहीं होती वह वातप्रकोप पूर्वक श्वासोत्पत्ति में हेतु होता है।

दूष्य—प्रकुपित दोष दूष्य के साथ मिलकर मूर्च्छित हो जाते हैं। लक्षणों का प्रादुर्भाव दूष्य सम्मूर्च्छना के बाद ही होता है। अतः व्याधि उत्पत्ति में दूष्य अपना विशिष्ट स्थान रखता है। श्वास रोग में रसादि धातुओं का उपशोषण होता है।

हृदयस्थ रसादीनां धातूनां चोपशोषणो"

यह ठीक ही है कि रसधातु की दुष्टि ही इस रोग में सर्व प्रथम होती है। पूर्वरूप और रूप में रसदुष्टि के लक्षण देखे जाते हैं। "भक्तद्वेष, वक्त्रवैरस्य हृत्पीड़ा" आदि श्वास के पूर्वरूप हैं जो रस प्रदोषज व्याधियों में भी पाये जाते हैं। श्वास रोग में कफ का प्राधान्य है और रसदुष्टि के बाद ही कफ का अधिक निर्माण सम्भव है। क्योंकि कफ रसधातु का मल है। "श्रोतसांरोध" भी रसदुष्टि जन्य लक्षण है। अरुचि, अग्निमांद्य एवं तम भी श्वास रोगियों में देखा जाता है।

उद्भव—चरक और वाग्भट ने श्वास को पित्त-स्थान समुद्भव तथा आमाशय समुद्भव कहा है।

"पित्त स्थान समुद्भवौ" च० चि० अ० १७

तथा—

"उदरस्थः कुरुते श्वासमामाशय समुद्भवम्"
अ० हृ० नि० अ० ४

वातकफ दोनों श्वास के प्रारम्भिक कारण और पित्त स्थान के साथ इस रोग का सम्बन्ध है। पित्त प्रारम्भिक दोष न होते हुए भी पित्त स्थान में इस रोग में अवश्यमेव दुष्टि रहती है। आमाशय में ही आहार का पाचन चरक ने बताया है।

आमाशय गतः पाकमाहारः प्राच्य केवलम्।
पल्वः सर्वाशयम् पश्चाद् धमनीभिः प्रपद्यते॥
च० वि० २-२५

ऊर्ध्व आमाशय कफ का स्थान और अधो आमाशय पित्त का स्थान माना गया है। अरुणदत्त ने दीपन पाचन औषधियों का विशेष महत्व इस रोग के लिए बताया है। अतएव यह प्रमाणित है कि श्वास रोग में अग्नि की मन्दता होती है और उसी को दूर करने के लिए दीपन पाचन औषधियां प्रशस्त हैं। आमाशय के उर्ध्वभाग में क्लेदक कफ रहता है और अधोभाग में पाचक पित्त जिसमें हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड भी है क्लेदक कफ के बढ़ने पर इस पाचक पित्त हाइड्रोक्लोरिक एसिड की न्यूनता हो जाती है। श्वास रोग में लवणाम्ल की कमी पाई जाती है।

"As the Commonest Cause of Indigestion in an Asthmatic is a dificient secreation of Hydrochloric Acid. (British Encyclopedia of M. Prec.) प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित किया गया है कि ६५ प्रतिशत रोगियों में भोजन के आधे घन्टे बाद तक भी लवणाम्ल की उपस्थिति नहीं होती ४८%रोगियों में अत्यल्प मात्रा में लवणाम्ल की उपस्थिति पाई गई है और २३ प्रतिशत रोगियों में सामान्य मात्रा से अल्प है। इस प्रकार श्वास के प्रति पांच रोगियों में से ४ रोगियों के आमाशय में लवणाम्ल की उपस्थिति अल्प देखी गई है। लवणाम्ल की कमी के साथ क्लेदक कफ (म्यूकस) की मात्रा का आधिक्य पाया गया है। ब्रै नायक श्वास रोग विशेषज्ञ ने अनेक रोगियों पर तरल लवणाम्ल का प्रयोग करके लाभ देखा था। इससे स्पष्ट निष्कर्ष है कि श्वास रोगियों की पाचनशक्ति मन्द हो जाती है अनेक रोगियों में आमाशयिक अन्तःकला का शोथ हो जाता है। आमाशयिक लवणांम्ल के स्राव की कमी हो जाती है पाचक रसों की इस प्रकार अल्पता होने पर पाचन क्रिया भी ठीक प्रकार से नहीं हो पाती और फलस्वरूप आम रस की उत्पत्ति होती है। यह आमाशय श्वास के वेगों को उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण योगदान देता है। श्वास के रोगियों में यह देखा गया है। कि यदि उन्हें गरिष्ट अथवा मात्राधिक्य में भोजन दिया जावे तो अरुचि सी होने लगती है और श्वास के वेग बढ़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त यदि सुपाच्य और दीपन पाचन भोजन दिया जावे और मल क्रिया ठीक प्रकार से चलती रहे तो लाभ होता है। श्वास के रोगियों में प्रायः मलबद्धता और अग्नि-मांद्य रहता है। अतः सामान्य पाचन क्रिया से इस रोग का महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

होमियोपैथी चिकित्सा पद्धति—का प्रधान लक्ष्य श्वास रोग में लवणाम्ल की पूर्ति करना ही मुख्य उपाय है। जैसे—जर्मन के डाक्टर शुस्लर की जीव रासायनिक चिकित्सा प्रणाली का उल्लेख इसलिए करना आवश्यक है कि उसमें उपर्युक्त चिकित्सा का सूत्र सन्निहित है। इस चिकित्सा पद्धति को बारह रसायनी लवण कहते हैं जिनमें से एक या अधिक लवणों की कमी के कारण रोग उत्पन्न होता है। डा० शुस्लर का विश्वास था कि लवणों की इस कमी को भर देने से रोग में आराम आता है। उनके तथा उनके हिमायतियों के अनुभव से यह लवण पूर्ति का सिद्धान्त इतना अचूक प्रमाणित हुआ कि संयुक्त राज्य अमरीका देश के अनेक नामी एलोपैथिक चिकित्सकों को इसका परमभक्त बना दिया और आज देखा जाय तो वही देश इसका एव जर्मनी प्रसूत होमियोपैथी चिकित्सा पद्धतियों का प्रधान क्रीड़ा स्थल है। वहां की बनी दवायें असंदिग्ध प्रामाणिक मानी जाती हैं। इन दोनों ही चिकित्सा पद्धतियों से श्वास रोग की चिकित्सा लक्षणों को देखकर लवणों से की जाती हैं। श्वास रोग में श्वास

का फूलना तो सर्व सामान्य लक्षण है। परन्तु उपलक्षण अनेक हो सकते हैं। केकनाड़ी मंगलोर के जर्मन पादरी मूलर स्थापित होम्योपैथी चिकित्सालय द्वारा प्रकाशित पुस्तक "दी वेलव शुस्लर टिस्यू रेमीडीज" के अन्त में दी हुई पुराने श्वास रोग की चिकित्सा का औषधि निर्णय तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि श्वास रोग की उचित औषधि "नैट्रम (सोडियम क्लोराइड)" ही है। परन्तु इसके साथ-साथ कभी-कभी कैलकेरियाफास, कालीफास, और नैट्रम सल्फ देना उपयोगी हो सकता है।

अमरीका के सुप्रसिद्ध वायोकैमिक चिकित्सक—और इस चिकित्सा की प्रमुख पुस्तक के लेखक डा० चैपमैन ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि श्वास रोग के कारण अनेक हैं। जैसे कि छाती में रक्त की संकुचितता, ऋतुस्राव, कमभोग, धूलि का सासों के साथ प्रवेश, भावावेश के दौरे, हिस्टीरिया, दमित नजला, पेट में हवा, दमित बवासीर, शारीरिक रचना में अव्यवस्था, परन्तु कारण श्वास का कुछ भी हो **नैट्रमम्यूर** आदि लवणों के लेते रहने से श्वास रोग पर काबू पाया जा सकता है। ऐसा वायोकैमिक चिकित्सकों का अनुभव है। परन्तु पोलैण्ड के डा. स्कलीमोवस्की एम० डी० को छः वर्ष के अनुसंधान से अकस्मात् यह पता चला कि माइक्रोसाल्ट की खान जिसमें उसके परिवार के पुरुषगण वर्षों से काम करते रहे थे, श्वास नली के दमा से पीड़ित लोगों पर एवं श्वसनमार्ग के अन्य एलर्जीण्य रोगों पर चिकित्सीय प्रभाव डालता है। डा० स्कलीमोवस्की आन्तरिक रोगों के विशेषज्ञ हैं। उनका कहना है कि नमक गुफा में रहने से रक्त में आक्सीजन का अंश बढ़ जाता है और एलर्जी के चिह्न कम हो जाते हैं। क्योंकि डा० स्कलीमोवस्की का विश्वास है कि इन गुफाओं की नमकीन कणों वाली सूक्ष्म धूल से श्वास नली से दमे के निवारण का अत्यन्त मितव्ययितापूर्ण एवं सीधा-साधा प्रावधान है।

आमाशय, ग्रहणी, हृदय, फुफ्फुस आदि अङ्गों में प्राणदा (Vagus) नाम की नाड़ी की शाखायें आती हैं। यदि आमाशय में स्थित प्राणदा नाड़ी में क्षोभ होता है तो उसका प्रभाव फुफ्फुस स्थिति नाड़ियों पर होना स्वाभाविक है और इस प्रकार प्राणदा नाड़ी के क्षोभ से श्वास रोग उत्पन्न हो जाता है। "Since the stomach and upper Intestinal trac are supplied by the Vagus nerve. Gostrice distinction may irritate the vagus and so set up a reflex Bronchial sposm." (British Encyclopaedia of M. P.) प्राणदा नाड़ी एक और विधि से उत्तेजित होती है जिसे अलर्जी" कहते हैं। बाह्य शल्य के पहुँचने पर Vagus nerve इसे सहन नहीं कर सकती और क्रिया स्वरूप श्वासोत्पत्ति होती है। अतः इस दृष्टिकोण से आमाशय समुद्रव का अत्यन्त महत्व है। यकृत् पचनसंस्थान के अन्तर्गत आता है अथवा विशिष्ट महत्व रखता है। यकृत् के अनेक महत्वपूर्ण कार्यों में विष निर्हरण तथा Protein Digestion है, भोजन के सात्म्यकरण में यकृत् का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है Protien का पाचन जब ठीक प्रकार से नहीं होता तो विजातीय प्रोटीन रक्त में उपस्थित हो जाती है जिससे अनूर्जता की स्थिति पैदा हो जाती है जो आधुनिक दृष्टिकोण से श्वास रोग का महत्वपूर्ण कारण माना जाता है, यकृत् का कार्य यदि ठीक हो तो अलर्जी की उत्पत्ति नहीं हो पाती। आयुर्वेद में धातु लेविल की अग्नि का पोषण भी पाचक पित द्वारा माना गया है।

"स्वस्यानस्थैव कायाग्नेरंशाः धातुषुसंस्थिता।"

इस प्रकार धातुओं में अन्य मार्ग से पहुँचे हुए Protien सदृश्य पदार्थों का पाचन भी पाचकाग्नि अंशों से ही होता है। धातु पाक की प्रक्रियाकाल में उत्पन्न विष स्थिति को दूर करने का कार्य भी यकृत् का ही है और यदि विष की स्थिति दूर नहीं हो सकती तो श्वास की सम्भावना रहती है। हैसिल्टीन नामक पाश्चात्य श्वास रोग विशेषज्ञ ने भी सभी श्वास रोगियों में विष स्थिति को पाया था और यह विष स्थिति दो कारणों से थी।

१—धातुपाक की प्रक्रियाकाल में उत्पन्न।

२—उपसर्ग के स्थान में प्रसारित।

एलोपैथी एनाटोमी में शारीरशास्त्र में दशमी नाड़ी का नाम डाक्टर लोग Vagus nerve कहते हैं, इसीका पुनः उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि शारीरशास्त्र में हृदय के लिए फुफ्फुस एवं श्वास सम्बन्धी क्रियाएं विशेष हैं। इस Vagus nerve के द्वारा मस्तिष्क से हृदय, फुफ्फुस,

और आमाशय, ग्रहणी तक चेष्टा मिलती है। वायु प्राण (Oxygen) जिसे विष्णुपदामृत्त भी शाङ्गधर मिश्र ने कहा है और सुरेशनाथ नें 'Oxygen' या अम्लजन भी कहा है। श्वास नामक रोग में इसी Vagus nerve की क्रिया में विकृति आती है। प्राण वायु की स्थिति मस्तिष्कस्थित Nerve senter आज्ञाचक्र और उरोगुहा स्थित हृदय के अनाहत चक्र भी हैं। विद्युत के प्रकाश के लिए जैसे एक पावर हाउस होता है उसी तरह nerveus symtom center में मस्तिष्क में नाड़ी के लिए और विद्युत धारा के प्रवाहण के लिए जैसे तांबे के तार होते हैं उसी तरह नाड़ी होती है प्राण की धारा के प्रवाह के लिए। विद्युत के प्रकटी भवन में जैसा आधार बल्व का है उसी तरह प्राण के कार्य प्रख्यापन के लिए हृदय है। हृदय के २४ घण्टे अनवरत लुप ड्प शब्द के नाड़ी में प्रतिघात सुनकर या स्टैथिस्कोप यन्त्र से उरोभाग में अनहदनाद श्रवण करके हम जीवन के अस्तित्व का निश्चय करते हैं। हृदय रक्त को सर्वाङ्ग में प्रवाहित कराने का यन्त्र है, प्रवाहित करने में रक्त में एक गैस पैदा होती है जिसे गणनाथ सैन ने आङ्गारिक वाष्प कहा है, अर्थात् डाक्टरी मत से उसे कार्बनडाईऔक्साइड कहते हैं। विसृति के लिए शरीर रचियता ने दो फैफड़े भी बना दिये हैं। रक्त के कण से सौ भाग में सात भाग लोहा होता है। कार्बनडाईऔक्साइड से अशुद्ध हुआ नीला रक्त शिराओं से हृदय में और फुफ्फुसीयाधमनी से फुफ्फुस में वाष्प के विनमय के लिए जाता है फुफ्फुस का काम रक्त से कार्बनडाईऔक्साइड के प्रश्वास के द्वारा बाहर फैंकना और बाह्य संसार की वायु (Oxygen, Nitrogen, Corbon आर्गन के सम्मिश्रण) से औक्सीजन प्राप्त करके रक्त के लालकणों के सौवां भाग से लोह को प्रदान करके लोहभस्म का निर्माण करना होता है। Iron oxide का परमाणु ला लहोता है, लौह भस्म लाल होती है तो रक्त कण भी लाल होते हैं रक्तकण रक्त में रहता है और रक्त धमनी में रहता है ये सब लाल होते हैं यह लालिमा शुद्ध श्वास के द्वारा प्राप्त Oxygen के कारण होती है यदि श्वास के द्वारा Oxygen प्राप्त न हो तो मृत्यु हो जायेगी अर्थात रक्तकण सब निष्प्राण हो जायेंगे और रक्त के द्वारा पोषण के अभाव में मस्तिष्क क्रियारहित हो जायेंगे इनके क्रियारहित होने का ही नाम श्वासनिरोध और मृत्यु है।

"यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
विष्वक् प्रजाति संरुद्धः तदा श्वासान् करोतिमः॥"

आमाशय में यदि अपच हो या ग्रहणी तथा क्षुद्रान्त्र में अन्न का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ हो उस अवस्था में उन स्थानों में स्वतन्त्ररूप से अनुप्रेरणा देने वाली Vagus nerve में उत्तेजना आ जाती है। तथा यदि यकृत् दुर्बल हो गया है और यकृत् स्थित पित्ताशय का पित्तपूर्णतः ग्रहणी में नहीं पहुंच रहा है तो उस दशा में अन्न का पूर्णतया परिपाक न होकर अन्न में आमरस यानी रसशेष नामक अजीर्ण हो जाता है। रस शेष होते रहने से और उस अवस्था में मैथुन या हस्तमैथुन या अतिक्रान्त मैथुन या अप्राकृतिक मैथुन या शुक्रमेह रहने से या मानसिक चिन्ता रहने से या अव्यवस्थित आहार–विहार रहने से यह आमरस रक्त सम्बहन में प्रतिहारिणी के द्वारा अधरा महाशिरा में होकर हृदय से सम्बहित होकर उरोगुहा स्थित श्वास नली के दोनों ओर में रहने वाली अधिक्लोमक नामक लसिका ग्रन्थि में एकत्र होकर श्वास नलिका पर दबाव देती है। अत्यधिक एकत्र होकर श्वास नाल में दीवालों की आभ्यन्तरिक सतह में भी चिपक कर नली के मार्ग को संकीर्ण कर देती है। उस श्वास नली से जहां स्वस्थावस्था में एक मिनट में १५ से १८ बार श्वास लेते छोड़ते हैं। अब आमरस रूपी कफ से श्वास स्रोत के अवरुद्ध हो जाने पर वह कफपूर्वक वायु स्वयं भी अवरोध प्राप्त कर एक मिनट में ३०–४०–५० बार श्वासनली से श्वास प्रश्वास के रूप में रक्त से पूर्व संशोधन के लिए आवागमन करने लगती है। उसे ही हम श्वासरोग कहते हैं; इस तरह से यकृत्दौर्बल्य के कारण आमरस सवृति हो जाने से कफ का सम्वर्धन होकर श्वासरोग होता है।
"वायोर्धातु क्षयाकोषो मार्गस्था वरणेन च"

परिवर्तन

(१) इसमें श्वासनली में कई परिवर्तन होते है, श्वास नली की मांसपेशियां सिकुड़ जाती हैं जिससे मार्ग संकुचित हो जाता है। इस छोटे मार्ग से वायु का आनाजाना कठिन हो जाता है। इसको निश्वास दीर्घता कहते हैं।



(२) वायु के कठिनता से निकलने से कुछ वायु अन्दर रह जाती है और ज्यों-ज्यों वायु रुकती जाती है, त्यों-त्यों फैफड़ा फैलता जाता है ।

(३) अन्तःकला फैल जाती है जिससे मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । इस अन्तःकला में पहले से स्राव नहीं निकलता परन्तु कुछ समय बाद लेसदार पदार्थ निकलने लगता है ।

श्वास रोग के कारण—

पाश्चात्य मतानुसार तीन मुख्य कारण माने गये हैं । जो आयुर्वेद निदान के अन्तर्गत ही आ जाते हैं ।

१—श्वास नली के स्थानीय कारण, २—वात नाड़ी जन्य कारण, ३—रक्तजन्य कारण ।

१—श्वास नली के स्थानीय कारण १-बाहर क्षोभक पदार्थ पहुंच कर श्वास नली को उत्तेजित कर सकते हैं । २—कई प्रकार के वाष्प जो फैक्टरी आदि में काम करने वालों के सम्पर्क में आते हैं यथा क्लोरीन, आयोडीन फोस्फेट आदि की दुर्गन्धि, ३—जब वायुमण्डल गीला या ठंडा हो तो उसके अन्दर जाने से भी श्वास नली क्षोभ युक्त हो जाती है ४—धुंएें में श्वास नली उत्तेजित होती है, ५—वाह्य शल्य फूलों के पराग, रज धूल, आटा, व रूई के कण उड़ने से, अन्य पदार्थ अनाज आदिके कण ।

अ. आहार पाक—जैसे माष, पिण्ड, तिल तैल, दही, आमक्षीर, गुरु विदाही-विष्टम्भी, रूक्ष, श्लेष्मल पदार्थों का सेवन, शीत वाताधिक्य भोजन, विष नाशक शीतासन आदि ।

ब. विहार परक—रज, धूलि, धूम, वायु, शीत स्थान, ग्राम्य धर्म, अपतर्पण, पंचकर्म, अतियोग, व्यायाम, द्वन्द्व युद्ध ।

स. मानसिक कारण—मानस क्षोभ, उत्तेजना, शोक, क्रोध, भय, भावावेश, मानसिक आघात ।

द. निदानार्थ रोग—कास, ज्वर, आमातीसार, छर्दी, विष, पाण्डु, मर्मोपघात,उरोघात, आनाह, प्रतिश्याय, क्षय, रक्तपित्त, उदावर्त, अलसक, क्षत, विसूचिका आदि रोगों में श्वास रोग का उद्भव होता है ।

(१) आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार इस रोग में "प्राणवह स्रोतस" एवं उदकवह स्रोतस की विकृति देखने को मिलती है । इनकी विकृति से ही श्वास रोग होता है । (२) प्राणवह स्रोतस की विकृति का अर्थ है श्वसन नलिका में रुकावट हो जाना (३) उदकवह स्रोतस की विकृति से दूषित कफाधिक्य का ग्रहण करना चाहिए इस सन्दर्भ में यदि आधुनिक विकृति का अवलोकन करें तो इस प्रक्रिया में यही विकृति मिलती है अर्थात् इस अवस्था में Mucus निकालने वाले गाब्लेट सेल्स जो ब्रांकस एवं ब्रान्कियोल्स में विद्यमान होते हैं की क्रिया का अतिरेक हो जाता है इस तरह अधिक Mucus निकल कर ब्रांक्स की भित्तियों पर जमा हो जाते हैं तथा ब्रांकियोल्स का मार्ग अवरोध कर देते हैं । इस लिए विभिन्न उपद्रवों के साथ श्वास का जन्म होता है । श्वास, कास, हिक्का के तीनों रोगों का निदान एक साथ सुश्रुत ने किया है । इन्हें चार प्रकार में बांटा गया है। रासायनिक chemical causes) २. उष्णतापरक (Tharmol cause) ३. ३. यान्त्रिक (Mechenical causes) ४. आँपसर्गिक (Injective causes) इन कारणों से प्राणवह स्रोतस में क्रियात्मक व रचनात्मक विकृति बनती है ।

२. वातनाड़ीजन्य कारण—(Nerve) के रिफलेक्स से क्षोभ उत्पन्न हो जाता है जिससे प्राणदा (Vagus nerve) का उत्तेजित होना स्वाभाविक है जो अलर्जी तथा उन स्थानों के आक्रान्त होने से होता है जहां जहां प्राणदा नाड़ी जाती है जैसे आमाशय, गर्भाशय तथा हृदय । इस स्रोतस का नियन्त्रण करने वाली प्राणदा नाड़ी (Vagus nevve) जिसके कार्य और आयुर्वेद के प्राणवायु के कार्य समान हैं तो तथा अन्नदा नाड़ी(pharygeal nerve) तथा आयुर्वेद के उदान वायु के कार्य समान हैं। इन दोनों की विकृति उपरोक्त कारणों से होती है । प्राकृतावस्था में प्राणवायु नासा के द्वारा कंठ में जाता है वहां इपिग्लोटिस श्वासनलिका से हटकर अन्न नलिका पर ढक जाता है तो वायु श्वासनलिका द्वारा फुफ्फुस के अन्त तक पहुँच जाती है और वहां हृदय से आये अशुद्ध रक्त शुद्धकर रक्त को अशुद्ध (Carbondioxide) ग्रहण कर पुनः कुछ वेग से उदान वायु के रूप में बाहर आती है । यह प्राकृतावस्था में किसी कारण से उदाहरण स्वरूप जल्दी से खाना खाने पर (Epiglotis) अन्ननलिका से न हटने पर अन्न श्वास नली में चले जाने पर प्राण वायु

उदानवायु अनुगत होने से कास उत्पन्न होती है प्राणवह स्रोतस में इस प्रकार सूक्ष्म ग्रन्थियां हैं जो एक प्रकार का स्राव छोड़ती रहती हैं। जिससे स्रोतस मृदु और स्निग्ध रहे। स्राव न होने पर रूक्षता उत्पन्न होने से वायु का

१. वह बाहर से एलर्जन प्रोटीन प्रति जनक (Antigen) लाता है तो एलर्जी करता है।

२. बाहर से न आकर परिवर्तित क्रिया द्वारा होना (Altered reaction) कहलाता है।

Allergy

- अवधानता Anaphylectc
  यह शीघ्रकारी है इसकी व्याधियां हैं
  Anaphylectic Shock
  Asthma
- Tuber culine
  यह चिरकारी है इसकी व्याधियां हैं।
  Tuber c uline. Syphilis, rheumatic Arthritis.

प्रकोप होता है निदान से इन ग्रन्थियों का स्राव प्रमाण से अधिक होता है तो वहां पर कफवत् पदार्थ बनता है जो रोग उत्पन्न करता है। कालान्तर में स्रोतसों पर एक प्रकार के पर्त से बनते रहते हैं इनकी जीर्णावस्था में जब वायु कोषों में स्राव अधिक भर जाता है वे टूट जाते हैं। ऐसे संक्रमण बढ़ता है इस प्रकार श्वास रोग होता है।

३. रक्त जन्य कारण—रक्त द्वारा शरीर के विष आकर श्वास नली की मांसपेशियों को संकुचित कर देते हैं। जैसे आमवात, सिफलिस मलेरिया, यक्ष्मा, वृक्कजन्य बीमारियां आदि। पाश्चात्य मतानुसार एलर्जी भी श्वास का कारण माना जाता है। साथ ही एक विशेष श्वेत रक्त कणों में (Eosinophilia) के ३ प्रतिशत से अधिक बढ़ जाने पर (Tropicol Eosinophilia) रोग हो जाता है। क्षय रोग, दमा, आन्त्रिक ज्वर, उदरकृमि, श्वास, शीतपित्त, इयोसिनोफीलिया, संक्रमण, त्वकविकार हाफकिन्स रोग, ल्यूकोमिया तथा चिरकारी आन्त्र यक्ष्मा में पाया जाता है ७० प्रतिशत से भी अधिक बढ़े होते हैं।

अलर्जी—

कोई इसे अनूर्जता, दूषी विष तथा आम विष मानता है। Allos = other ergy = Energy एनर्जी इसका विरुद्ध अलर्जी होता है। अर्थात् एनर्जी न होना। इसका पर्याय अति संवेदन शीलता (Hyper sensitivity) है शरीर क्षमता (Immunity) को (wisdon of the body) कहते हैं तथा (Allergy is the foolishness of the body.)

अलर्जी क्या है–(1) Antigen (2) Antibody (3) Shock tissue (4) Substance Heperine Sirotine (5) Reaction Immunity. शरीर क्षमता में बाहर से जो एन्टीजन आता है उसका सात्मीकरण (Neutralization) हो जाता है। एलर्जी में नहीं हो पाता, आमविष, दूषीविष, अथवा प्रकोपक कारण एलर्जन है जैसा एन्टीजन होगा उसी के अनुकूल (Antibody) उत्पन्न होगा यदि सात्मीकरण नहीं होगा तो एलर्जी उत्पन्न होगी पहली बार एन्टीजन आया तो प्रतिक्रिया नहीं होगी यदि दुबारा एन्टीजन अधिक-अधिक परिणाम में आगये तो प्रतिक्रिया हो जाती है परस्पर प्रतिक्रिया होने के सम्बन्ध में कई विचार हैं। (१)Shock tissue में Antibody रहते हैं वहां जब Antigen आते हैं तो एलर्जी प्रतिक्रिया होती है। (२) एन्टीजन धूमता है और एन्टीबांडी से मिलता है।

३. दोनों धूमते रहते हैं तथा जहां Shock tissuse मिल जाता है वहां अटक जाते हैं अलर्जिकल प्रतिक्रिया जहां होती है वहां इयोसिनोफिल्स Eosinophils आकर घुस जाते हैं। Antigen बाहर से आते हैं यह प्रोटीन होगा या नानप्रोटीन होगा तो प्रोटीन से मिलेगा जहां Shock tissue मिला वहीं प्रतिक्रिया करते हैं इस प्रकार Antigen से पोषक दोष का प्रकोप होता है। जब फुफ्फुस स्थान संश्रय करता है तथा पोष्य दोष का विकार होता है इस अवस्था में श्वास होता है यदि अन्य स्थान पर संग करेगा तो अन्य एलर्जी के लक्षण पैदा करेगा

तथा त्वचा में शीतपित्त उदर्द आदि विकार पैदा करता है। Antigen में जीवित व अजीवित दो विभाग होते हैं जीवित में बैक्टेरिया वाइरस आदि। अजीवित में कोई भी प्रोभूजन द्रव्य जैसे Antigen है वैसा ही Antibody उत्पन्न होता है और वैसी ही प्रतिक्रिया होती है, इसी विष तथा आमविष में Antibody पैदा होगा वह दोष में या रस में पैदा हो सकता है। अपनी ही धातु में आप उत्पन्न हुआ तो कोटरी एन्टीजन कहलाता है। साम दोष या साम रस की tissue में ही प्रतिक्रिया होती है सीरम में यह प्रतिक्रिया नहीं होती इस प्रकार एलर्जी व्याधि की सम्प्राप्ति है।

प्राणवह स्रोतस की दुष्टि में श्वास होता है चरक चि० तथा सुश्रुत उत्तर अ० में अधिक है तथा अतीसार ज्वर, छर्दि, प्रतिश्याय क्षत, क्षय, रक्तपित्त, उदावर्त, विशुचि, अलसक, पाण्डुरोग, विष तथा वाग्भट के अनुसार कास और लिखा है। "कास वृद्ध्याभवेत् श्वासः" प्राणवह स्रोत दुष्टि लक्षणों में से श्वास रोग में कई लक्षण देखने में मिलते हैं जिसमें आतसृष्ट निश्वास दीर्घता तथा अतिबद्ध श्वास लेने में कुछ कठिनाई प्रमुख रूप से देखने में मिलती है।

वातप्रकोप कारण—रूक्ष अन्न का सेवन, विषमाशन अध्यशन, समशन, शीताम्बु सेवन, रजः सेवन, धूप सेवन, वात सेवन, शीत स्थान सेवन, शीतासन, ग्राम्यधर्म व्यायाम, अध्य सेवन, भार वहन, वेगधारण, मर्माघात, दौर्बल्य, अपतर्पण, वमन, शुद्ध अतियोग, अतीसार, अलसक, आमदोष, आनाह, आमातीसार, उदर रोग, उदावर्त, कास, प्रतिश्याय, गुल्म, ज्वर, पांडुरोग, रक्तपित्त, विशूचिका, बालग्रह, रोक्ष्य, शोथशोष, क्षत, क्षय।

कफप्रकोप कारण—गुरु सेवन, अभिष्यन्दी सेवन, विष्टम्भि सेवन, विदाहि सेवन, तिल सेवन, निष्पाव सेवन, पिष्ट सेवन, मांस सेवन, वालूक सेवन, श्लेष्मल सेवन, आमक्षीर सेवन, दधि सेवन, आनूपमांस सेवन, जल सेवन, कण्ठप्रतिवात, उरस प्रतिश्याय, क्षयरोग, विवन्ध आमदोष; ये कारण चरक, सुश्रुत, माधव, अष्टांग हृदय, काश्यप में अंकित हैं।

श्वास रोग के पूर्वरूप

श्वास रोगी जब उपचारार्थ चिकित्सक के पास आता है तब पूर्वरूप की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि श्वास रोग वाले रोगियों में श्वास का वेग श्वास की उत्पत्ति के बाद वर्षों, महीनों एवं दिनों के अन्तर से वेग आता है और सामान्य व्यक्ति यह जान नहीं सकता कि उत्पन्न चिह्न यह श्वास रोग का पूर्वरूप है। शास्त्र में दिये गये पूर्व रूपों को ही दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) श्वासरोग उत्पन्न होने से पूर्व के लक्षण—आनाह, पार्श्वशूल, अन्नद्वेष, अरति, मुखविरसता, ग्लानि, शंख वेदना।

(२) श्वासवेग पूर्व लक्षण—प्रतिश्याय, अरुचि, शिरःशूल, कंठोध्वंस. ग्लानि, विबन्ध, उरःशूल, हृत्पीड़ा, त्वककंडू, पार्श्वशूल, कास, प्राणविलोमता आदि।

सम्प्राप्ति—विविध विशेष कारणों से पहले वातदोष कुपित होता है। कफ का अनुबन्ध रहता है। वात और कफ दोनों प्राणवाही मार्गों को संकुचित कर देते हैं। इस कारण बड़े वेग पूर्वक श्वास-प्रश्वास चलने लगता है वही श्वास रोग का आरम्भ है।

श्वास रोग के प्रकार

(१) महाश्वास, (२) ऊर्ध्वश्वास, (३) छिन्नश्वास, (४) तमकश्वास, (५) क्षुद्रश्वास।

१. महाश्वास के लक्षण

ऊर्ध्वगति से प्रेरित जो वात वाला दुखित व्यक्ति रोके हुए मत्त सांड की तरह निरन्तर उच्च शब्द के साथ श्वास लेता है। नष्ट हुए ज्ञान-विज्ञान वाला नेत्र जिसके घबराहट के कारण चंचल हो गये हैं। आंख मुख की भाव भंगी जिसकी विकृति है, मल, मूत्रवद्ध, वाणी टूटी-फूटी, देखने में दीन तथा जिसे दूर से ही बहुत वेग पूर्वक श्वास लेता हुआ जाना जा सकता है। वह महाश्वास से पीड़ित है और शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। बहुत वेग से श्वास चलती है,रोगी चेतनाहीन होने लगता है, आकृति बिगड़ती चलती है और कुछ घण्टों में रोगी मर जाता है। यह रोगी असाध्य है।

२. ऊर्ध्वश्वास के कारण

(१) ऊर्ध्वश्वास श्वास की वह अवस्था है जबकि श्वसन

दीर्घ रोगी का श्वास उरस्थल (Thoroeic) तक ही सीमित रहता है नीचे अन्तःश्वास नहीं होता। (२) रोगी की दृष्टि ऊपर रहती है। नेत्र चंचल, (३) वेदना, (४) मूर्च्छा, (५) कष्टसाध्य या असाध्य।

कफावृत मुख और प्राणवह स्रोतों वाला कुपित वात से पीड़ित रोगी देर तक ऊर्ध्वश्वास (Expiraction) लेता है और नीचे श्वास(Inspiration)नहीं लेता। ऊर्ध्व है दृष्टि जिसकी चंचल (विभ्रान्त) नेत्रों वाला इधर-उधर आंखें घुमाता हुआ वेदना से दुःखी, मोह को प्राप्त होता हुआ, सूखा मुख और बेचैनी से पीड़ित वह ऊर्ध्व-श्वास के प्रकुपित होने पर अधः श्वास रुक जाता है तब मोह से युक्त ग्लानि वाले सब रोगों का ऊर्ध्वश्वास को नष्ट कर देता है। ऊर्ध्वश्वास वह अवस्था है जब रोगी की श्वास–प्रश्वास की क्रिया उसकी जीवनलीला को समाप्त करने की अवस्था को प्रगट करती है। न्यूमोनिया में मृत्यु ऊर्ध्वश्वासावस्था में ही हुआ करती है।

३. छिन्न श्वास के लक्षण

(१) रुक रुक कर श्वास लेना,वेदनायुक्त श्वास मर्म च्छेदवत, (२) आनाह (३) स्वेद,(४) मूर्च्छा, (५) सप्रलाप, (६) मुखशुष्कता (७)रोगी असाध्य है शीघ्र प्राण छोड़ देता है। सब प्राणों से पीड़ित विच्छिन्न श्वास लेता है या दुख से पीड़ित होकर मर्म भेद की सी पीड़ा से पीडित होकर श्वास नहीं लेता। वह व्यक्ति, आनाह, स्वेद, मूर्च्छा से पीड़ित, वस्ति प्रदेश जलता हुआ सा, अश्रुपूर्ण नेत्र वाला बहुत दुर्बल जिसका एक नेत्र लाल हो गया हो, चेतना-हीन, सूखे हुए मुख वाला, विवर्ण, प्रलाप करता हुआ, छिन्न श्वास से पीड़ित विच्छिन्न प्राणों को शीघ्र त्याग देता है।

४. तमक श्वास के लक्षण

(१) घोषवान श्वास, सकास श्वास, सकफ श्वास, मुहुश्वास, श्वासवृद्धि, (२) ललाट स्वेद, (३) उच्छ्रिता क्षता, (४) पीनस प्रतिश्याय, (५) विशुष्क कास, (६) कंठोध्वंस, (७) घुर्घुरक शब्द कण्ठे, (८) वेगवान कास, (९) कासनात् मुहुर्मुहु प्रमोह, (१०) कफ निक-लने में कष्ट (११) कफ निकलजाने पर क्षणिक सुखानुभूति (१२) बोलने में कठिनाई (१३) बैठने में नींद न आना, (१४) बैठने में चैन प्राप्त (१५) उष्णवस्तु की चाह, (१६) उष्णवस्तु से लाभ, (१७) शोथ, (१८) अरुचि,(१९) मेघा-म्बुनाश्वास वृद्धि, (२०) शीत से श्वास वृद्धि (२१) श्लै-ष्मलं श्वास वृद्धि (२२) दुर्दिने श्वास वृद्धि, (२३) प्राग्वा-तेन श्वास वृद्धि (२४) अन्नद्वेष (२५) पिपासा, जलवायु प्रतिलोम होकर स्रोतों को प्राप्त करता है। तब वह ग्रीवा और शिर को पकड़कर कफ को और भी उदीर्ण करके प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है तथा उसके कफ के द्वारा अवरुद्ध हुआ वात घुर्र-घुर्र शब्द से युक्त, अत्यन्त तीव्र वेग युक्त प्राण को पीड़ा देने वाले श्वास को उत्पन्न कर देता है। रोगी अंधकार में प्रविष्ट हुआ सा तड़पता है, वेग पूर्वक खांसता है। कुछ देर के लिए श्वासावरोध हो जाता है, खांसता हुआ वह बार-बार मोह को प्राप्त होता है। कफ के न निकलने पर तो वह दुखी होता है। वह कफ के निकलने पर ही क्षण भर को सुख प्राप्त करता है।

इसका कण्ठ एक विशेष सारंगी के स्वर जैसा शब्द करता है। वह कठिनाई से बोलने के लिए समर्थ होता है। सोते हुए भी श्वास के पीड़ित होकर निद्रा को प्राप्त नहीं करता और वायु सोते हुए उस रोगी के पार्श्वों को जकड़ लेता है। बैठने पर उसे सुख मिलता है और वह उष्ण द्रव्यों का ही स्वागत करता है। माथे या ललाट पर पसीना या स्वेद आता है। निकली हुई आंखों वाला, अत्यन्त पीड़ा वाला, मुख सूख गया है, बार–बार श्वास लेता है और बार–बार फूत्कारों द्वारा श्वास छोड़ता है। मेघ शीत ऋतु में बरसे, पूर्व की हवा से तथा कफ कारक द्रव्यों से यह तमक श्वास बढ़ती है। यह तमक श्वास याप्य होता है। अथवा नया ही उत्पन्न होने पर साध्य है। मेघ शीतल वातावरण और कफ कारक पदार्थ इसकी उत्पत्ति में प्रमुख भाग लेते हैं।

तमक श्वास के दो भेद हैं—

(१) प्रतमक श्वास।

(२) सन्तमक श्वास।

(१) प्रतमक श्वास—यदि तमकश्वास ज्वर, मूर्छा युक्त हो तो प्रतमक श्वास कहलाती है। यह उदावर्त, धूल, अजीर्ण और शरीर का अधिक काल तक गीला रहना तथा प्राप्त वेगों को रोकने से होता है।



(२) सन्तमक श्वास—यह श्वास तम से बढ़ता है और शीतोपचार से शीघ्र शान्त होता है। अन्धकार या मानसिक दोषों से सन्तमक श्वास बढ़ती है और जिसका रोगी अन्धकार में डूबे हुए के समान मानता है उसको सन्तमक श्वास कहते हैं।

५. क्षुद्र श्वास के लक्षण

रूक्ष अन्नपान से, परिश्रम से उत्पन्न क्षुद्रवात कोष्ठ में उदीर्ण होता हुआ क्षुद्र श्वास कहलाता है। यह अत्यधिक दुखपूर्वक शरीराङ्गों का बाधक नहीं है। यह शरीराङ्गों को नष्ट नहीं करता है और श्वासों की अपेक्षा उतना दुख नहीं होता है। खान-पान की उचित गति को नहीं रोकता न इन्द्रियों को कोई पीड़ा और किसी प्रकार का रोग नहीं करता, वह साध्य कहा गया है।

साध्यासाध्यता

महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास प्रायः असाध्य हैं, तमक श्वास कष्टसाध्य और यह भी अधिक बलवान होने पर याप्य है या असाध्य है। क्षुद्र श्वास साध्य है।

श्वास रोग की चिकित्सा

चिकित्सा सूत्र—आमाशय समुद्भव होने से-लंघन, दीपन, पाचन।

अधिष्ठान—उरः फुफ्फुस (कफ स्थान) वमन, स्वेदन।

व्यक्ति—फुफ्फुस (कफ स्थान) अभ्यंग-लवण तैल स्वेदन, वमन, उष्ण द्रव।

स्रोतस-प्राणवह—स्रोतो शुद्धि, लीन होने पर धूम।

अन्नवह—लंघन, लघु भोजन।

दोष दुष्टि से—प्राण-कफ वातघ्न, उष्ण, वातानुलोमन।

क्लेदक के लिए—वमन कफवातघ्न।

व्यान के लिए—स्निग्ध, स्वेदन, विश्राम।

उदान के लिए—वृंहण, शक्तिवर्धक रसायन।

दूष्य दृष्टि से—लंघन, लघु भोजन।

आम रस गत होने से—पाचन।

अग्निमान्द्य होने से—जाठराग्नि में दीपन।

यह स्रोतारोध प्रधान व्याधि है अतः स्रोतोशुद्धि का विशेष महत्व है।

१. श्वास से पीड़ित को प्रारम्भ में स्नेहन तथा स्वेदन द्वारा उपचार करे, नमक युक्त तैल द्वारा अभ्यङ्ग करके नाड़ी स्वेद, प्रस्तरस्वेद या सकरस्वेद से उपचार करे उनसे इसका गांठदार कफ पतला होकर स्रोतों में जो विलीन हो जाता है। स्रोतस मृदु हो जाते हैं तत्पश्चात् वायु का अनुलोमन हो जाता है। जिस प्रकार पर्वत कुन्जों स्थित बर्फ सूर्य की किरणों से तपकर पिघलती है उसी प्रकार शरीर में स्वेदों से तपकर जमा हुआ गांठदार कफ भी पिघलता है।

२. तत्पश्चात् स्वेदन से युक्त स्विन्न जानकर शीघ्र दही की मलाई के साथ घी से स्निग्ध भात को खिलाये। अथवा मछली या सुअर के मांस से स्निग्ध चावल खाने को दें।

३. जब कफ बढ़ने पर वात का जो विरोधी न अर्थात् कफ का उत्क्लेश हो तो वमनकारक औषधि दें इसमें भी जो औषधि हो वह वायु का अविरोधी हो उसमें सैंधव नमक पिप्पली और मधु मिलाकर देना चाहिए। वमनोपरान्त यदि स्रोतों में कफ़ विद्यमान रहे या दुष्ट कफ के निर्हरण होने पर वह सुख पाता है और स्रोतों के विशुद्ध होने पर वायु बिना रोक-टोक चलता रहता है। यदि कुछ दोष शरीर में ही विलीन हो जाय तो उसको शुष्क श्योनाक, एरण्ड की लकड़ी को घृत से तर करके धुंआ पीना चाहिए। यह एक प्रकार से शोधन चिकित्सा है। श्वास में कफ का निर्हरण करना ही मुख्य उद्देश्य रहता है। क्योंकि कफ ही प्राणोदानवाही स्रोतसों को अवरुद्ध करके प्रकुपित हुए वात से श्वासोत्पत्ति में समर्थ होता है।

श्वास के रोगी दो प्रकार के होते हैं

१. दुर्बल वाताधिक्य युक्त।

२. बलवान् कफाधिक्य युक्त।

शोधन बलवान में ही किया जाता है। दुर्बल रोगी की वृंहण चिकित्सा करे। इसके लिए तीतर, मोर, मुर्गा, जङ्गल के पशु पक्षियों के मांस को दशमूल के क्वाथ में सिद्ध करके देना चाहिए। ऐसे रोगी को संशमन चिकित्सा से पुष्टि करे। इसके लिए "निदिग्धिकादि" यूष (चरक) रास्नादि यूष (चरक) क्षार यूष, कासमर्द यूष का सेवन करायें। चरक में वर्णित यवागू प्रयोग श्रेयस्कर है। श्वास

के रोगी को दशमूल का अर्धश्रृत क्वाथ या देवदारु का क्वाथ पान करना चाहिए।

प्रायशः सब प्रकार के श्वास रोगियों की चिकित्सा शमन और वृंहण विधि से करनी चाहिए क्योंकि वृंहण चिकित्सा करते समय प्रथम तो कोई उपाय होता नहीं और यदि हो भी जाय तो सुगमता से साध्य होता है। कर्षण चिकित्सा में उपाय बहुत होता है। जो प्रायः असाध्य होता है। इस प्रकार वमन विरेचनादि से शुद्ध या अशुद्ध सब प्रकार के श्वास रोगियों की शमन और वृंहण चिकित्सा ही करनी चाहिए।

शमन चिकित्सा—१. अर्क, २. धत्तूर, ३. मल्ल, ४. अभ्रक, ५. पिप्पली, ६. कुष्ठ कुलिंजन, ७. मरिच, ८. हरमल।

महाश्वास और उर्ध्वश्वास की चिकित्सा—हेमगर्भ पोटली रस २ रत्ती, अभ्रकभस्म १ र०, रससिन्दूर १ र०।

मात्रा—४ रत्ती बार-बार, अनुपान-मधु तुलसी स्वरस से दें।

छिन्नश्वास की चिकित्सा—श्लेष्मान्तक मिश्रण श्लेष्मान्तक १ रत्ती, नाग गुटिका १ र० सूतशेखर रस १ र०, २ से ४ रत्ती बार-बार मधु से दें।

तमकश्वास की चिकित्सा—श्रृंग्यादि कषाय-कर्कटश्रृंगी १ तो०, गुडूची १ तो०, मधुयष्ठी १ तो०, चित्रक १ तो०, विडंग १ तो०, हरीतकी १ तो०, भारंगी १ तो०, रोहितक १ तो०, कषाय विधि से तैयार करें।

मात्रा—२ से ४ तोला।

अनुपान—प्रातः सायं मधु से दें।

भृङ्गी कषाया तिक्तोष्णा कफ वात क्षय ज्वरान्।
श्वासोर्ध्ववात तृट्कास हिक्का रुचि वमीन हरेत्॥
—भाव प्रकाश.

श्वास रोग की चिकित्सा में प्रमुख द्रव्य निम्न हैं। १. चिरचिटा या अपामार्ग, २. कपूर या कर्पूर, ३. कस्तूरी, ४. काकड़ाश्रृंगी, ५. कूठ या कुष्ठ, ६. कंकोल, ७. कायफल, ८. देवदारु, ९. पोहकरमूल, पोष्करं कटुकं तिक्तं शोथान्वातकफज्वरान्। १०. भांगरा या भृंगराज, ११. भारंगी, १२. कालीमिर्च, १३. लहसुन, १४. अद्रक, हन्ति श्वासारुचीतिञ्च विशेषात्पार्श्वशूलनुत्। (भाव प्रकाश) १५. सौंठ, १६. पिप्पली, १७. दालचीनी त्वक्, १८. अंगूर, १९. हींग, २०. द्राक्षा।

अष्टांग हृदय में श्वास रोग में दशमूल, कचूर, रास्ना, भार्गी, बिल्क, पुष्करमूल, काकड़ाश्रृंगी, पिप्पली, भुई आंवला, गिलोय इन ओषधियों से बना कषाय श्वास रोग में देने से लाभ होता है। तथा श्वास रोगी को साठी शालि, गेहूं, जौ, मूंग कुलथी का भोजन देना चाहिए।

चिरचिटा, काकड़ाश्रृंगी, कूठ, कायफल, देवदारु, पुष्करमूल, भारङ्गी, इलायची, दालचीनी, नागकेशर, कालीमिर्च, पिप्पली, सौंठ, व त्रिफला इन द्रव्यों से बनी औषधि श्वास रोग में विश्वसनीय एवं उपयोगी सिद्ध होगी।

कास-श्वास नाशक योग—लौंग ८ तो०, बहेड़ा ४ तो०, छोटी पीपल ४ तो०, शक्करतिगाल ४ तो०, काकड़ासिङ्गी ४ तो०, अनार का सूखा छिलका १ तो०, दालचीनी १ तो०, खैरसार (कत्था) १० तो०, मुलहठी का घनसत्व २० तो०, मुनक्का १० तो०, आक के फूल ५ तो०, नवसादर २ तो०, कपूर १ तो०, शुद्ध सुहागा १ तो०, उपर्युक्त द्रव्यों को एकत्र कर लें पहले मुनक्का और आक के फूलों को खूब कूटकर चौगुने जल में क्वाथ कर लें जब चौथाई जल शेष रहे तब छानकर उसमें उपर्युक्त द्रव्यों में से मुलैठी सत्व, नौसादर, कपूर और शुद्ध टंकण या सुहागा मिलायें, पश्चात् अन्य द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण कर कपड़छान करके और मिलाकर अच्छी तरह मर्दन कर ४-४ रत्ती की गोलियां बनाकर छाया में सुखा लें।

अनुपान—अडूसा, कण्टकारी, कनकपत्र, चिरचिटा, सांठी, भारङ्गी, नागरमोथा, रास्ना सौंठ, गिलोय इन सब द्रव्यों को समान लेकर २½ तोला के प्रमाण में आधा सेर जल में क्वाथ करें। चतुर्थांश २ छ० शेष रहने पर मधु मिलाकर उपर्युक्त २ वटी मुंह में डालकर ऊपर से इस क्वाथ को पीयें, अत्यन्त ही अभूतपूर्व लाभ होता है यह प्रातः सायं दोनों समय लेना है।

तमकश्वास में Eosinophilia **के बढ़ने पर**—घी में हल्दी का चूर्ण भूनकर प्रातः दोपहर एवं सायं मधु

से या दूध से लेने पर लाभ करता है।

तमकश्वास में—हीरा वासा पर्पटी १ रत्ती को नवनीत या मलाई से लेकर १ घन्टे पश्चात् तक का सेवन करने से अत्यन्त लाभ होता है।

० श्वासरोग की सफल चिकित्सा—सितोपलादि चूर्ण ५० ग्राम, अभ्रकभस्म १० ग्राम, प्रवालभस्म १० ग्राम, लोहभस्म १६ ग्राम, सोमकल्प चूर्ण ५० ग्राम, रससिन्दूर १० ग्राम, ये सब एकत्र मिलाकर चूर्ण कर सुरक्षित रख लें।

मात्रा—५ से १० रत्ती तक।

अनुपान—"बृहत् आर्द्रक अवलेह" १० ग्राम से ५ ग्राम तक तथा गर्म जल अथवा दूध व चाय से अचूक लाभ करता है। श्वासकुठार रस १ रत्ती, सूतशेखर रस १ रत्ती, तथा स्वर्णवसन्तमालती ४ रत्ती, को च्यवनप्राश के अनुपान से दें।

श्वासरोग या दमा अनेक कारणों से होता है। इन कारणों के दमन से दमा का दौरा भी दबता है। पहले यह देखलें कि रोग अलर्जी के कारण है या अलर्जी रहित है।

अलर्जी वाले श्वास रोग का ज्ञान त्वचा पर सेंसीटाइजेशन परीक्षणों से किया जा सकता है। एक बात याद रखनी होगी कि एण्टीहिस्टैमिनिक द्रव्य श्वास नलिकाओं को संकुचित करते हैं जिससे श्वासरोग का कष्ट घटने के बजाय बढ़ सकता है यह ध्यान रखें। सोमकल्प या इफेड्रीन हाइड्रोक्लोराइड १५ से ५० मिली ग्राम मुख से या सूचीवेध से देते हैं। श्वास का कारण यदि हृदय है(कार्डियक एस्थमा) तो एमाइनोफाइलीन का सिरा में इञ्जेक्शन देते हैं। डैरीफाइलीन का इञ्जेक्शन पेशी में दिया जाता है। रात्रि में फीनोबार्बीटोन १५ से ३० मिलीग्राम देने से शान्ति रहती है। मार्फीन या अफीम इस रोग में सर्वथा निषिद्ध है। कार्टीजोन, हाइड्रोकार्टीजोन, डैकाड्रोन, बैटनेसोल आदि का प्रयोग लाभप्रद होता है।

श्वास का रोग यदि गम्भीर रूप धारण करे तो एड्रीनलीन, हाइड्रोक्लोराइड १:१००० शक्ति का १ मि. लि. त्वचा के नीचे देने से तत्काल आराम मिलता है। स्टेटस ऐस्थमैटिकस इस रोग की महाभयानक अवस्था है। इसमें डैकाड्रोन या बैटनैसोल या अन्य कार्टीकोस्टराइड का प्रयोग शिरा द्वारा करना पड़ता है। जलाभाव होने पर यदि फुफ्फुसों में शोफ हो तो इसे न दें। हृदय को बल देने के लिए डिजीटैलिस का प्रयोग किया जा सकता है। एनौक्सिया की स्थिति आने के पूर्व रोगी को आक्सीजन के टेंट में रख देना आवश्यक होता है। यदि कोई उपसर्ग श्वास के साथ मिले तो उसे दूर करने के लिए एन्टीबायोटिक्स का प्रयोग भी किया जा सकता है। ●●

कासिने च्छर्दनं दद्यात् स्वरभङ्गे च बुद्धिमान्।
वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम्॥

उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद् बृहज्जलम्।
यथा तथानिलस्तस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत्॥

—चरक संहिता चि० स्था० अ० १७।

तमक श्वास और अनुभूत चिकित्सा

कविराज बी०एस० प्रेमी एम.ए.एम.एस प्रोफेसर तिब्बिया कालेज
करौलबाग नई दिल्ली-५

आदरीणय प्रोफेसर प्रेमी की प्राणवन्त लेखनी के चमत्कार से सुधानिधि के पाठक उसके जन्मकाल से ही परिचित हैं। श्वास रोग(तमक श्वास)की चिकित्सा के ३ सोपान देकर आपने संक्षेप में चिकित्सा का जो विवरण दिया है वह सर्वथा उपादेय है। विशेष कर श्वास रोगारि का जटिल नुस्खा परम दुर्लभ और उपयोगी सिद्ध होगा ऐसा विश्वास है। प्रेमीजी आयुर्वेद के अभिनव अध्याय लिखने हेतु स्वस्थ रहें तथा दीर्घायु को प्राप्त करें साथ ही पर्याप्त काल तक दिल्ली के सुप्रसिद्ध आयुर्वेद यूनानी प्रतिष्ठान की श्रीवृद्धि करते रहें यह कामना है। —रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

आयुर्वेद में श्वास रोग को समस्त व्याधियों में अतिभयंकर प्राण संहारक माना है। यद्यपि सभी रोग मिथ्या आहार—विहार के कारण दोष प्रकोपजन्य होते हैं। सभी रोगों में असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग प्रज्ञापराध और परिणाम मूल हेतु निर्दिष्ट किए गए हैं, तथापि श्वासरोग शारीरिक, मानसिक एवं मृत्युतुल्य कष्टप्रदायक होता है कि अन्य व्याधियां इसके समकक्ष नहीं ठहरतीं। श्वासरोग कफ वातात्मक माना जाता है। जबकि पित्तसंस्थान श्वास की उत्पत्ति का केन्द्र माना गया है। श्वास पर्याप्त प्राणहर है। यह शास्त्रों में स्पष्ट लिखित है—

"कामं प्राणहरा रोगाः बहवो न तु ते तथा।
यथा श्वासाश्च हिक्काश्च प्राणानाशुविकृन्तनः।।"

अर्थात् अन्य सभी रोगों में श्वास और हिक्का अधिक शीघ्रता से प्राणनाशक होते हैं। अतः हिक्का और श्वास के कारण भी समान ही कथित हैं। यथा—

"यैरेव कारणैः हिक्का बहुभिः संप्रवर्तते।
तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम्।।"
—सुश्रुत उत्तरतन्त्र अध्याय ५१

अर्थात् जिन विदाही आदि प्रबल कारणों से हिक्का का जन्म होता है। ठीक उन्हीं कारणों से मनुष्यों में भयंकर श्वास रोग की उत्पत्ति होती है। सारांश यही है कि प्राणवायु स्वस्थ प्रकृति का त्याग करके कफ के साथ सम्पृक्त होकर श्वास रोग को उत्पन्न करता है। क्योंकि प्राण संस्थानों में चारों ओर से कफावृत होने पर प्राणवायु की प्रक्रिया एवं तिक्रिया में अस्वाभाविकता आ जाने से ही यह श्वास रोग (Dyspnoea) माना जाता है। आयुर्वेद में यह श्वासरोग वायुगति के अनुसार महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास, तमकश्वास और क्षुद्रश्वास के नाम पांच प्रकार का ही माना गया है। इन सबमें प्रमुख रूप से पाया जाने वाला तमकश्वास ही आजकल चिकित्सकों का ध्यानाकर्षण केन्द्र बना हुआ है।

तमकश्वास (Asthma)—आयुर्वेद की महान् संहिता चरक में तमक श्वास का वर्णन निम्न प्रकार से दिया है—

"प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च।।

करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरुकं तथा ।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राण प्रपीडकम् ।।
प्रताम्यत्यतिवेगाच्च कासते सन्निरुध्यते ।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ।।
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः ।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ।।
अथास्योद्ध्वंसते कंठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् ।
न चापि लभते निद्रां शयानः श्वास पीडितः ।।
पार्श्वेतस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः ।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ।।
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान् ।
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ।।
मेघाम्बु शीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्चापि वर्धते ।
स याप्यस्तमकः श्वासःसाध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ।।"

इस प्रकार से स्पष्ट है कि यह तमक श्वास पर्याप्त कठिन तथा संघर्षशील रोग है । क्योंकि श्वासनली के अन्तर्गत पेशी सूत्रों के आक्षेपण तथा संकोचन होते रहने के कारण श्वास प्रणालिका में अत्यधिक पीड़ा का अनुभव होता है । श्वास का फूलना, दौरा पड़ना, श्वास लेते समय कष्ट होना पाया जाता है । इस रोग की उत्पत्ति में पैतृकदोष भी सम्मिलित है । उन्माद, अपस्मार, योषापस्मार (हिस्टीरिया) आदि रोग जन्य कारण भी इसका होता है । देश-काल यदि शीतल एवं आर्द्र हो तो भी यह रोग हो सकता है । वैसे तो सभी प्रकार के देश-काल में यह रोग पाया जाता है ।

तमक श्वास के रोगी की चिकित्सा का सिद्धान्त प्रमुख रूप से तीन प्रकार का है—

१—श्वास-यंत्रणा-निवारक चिकित्सा ।

२—दौरा रोकने का उपाय ।

३—तमक श्वास की निवृत्ति के लिए यथार्थ चिकित्सा ।

चिकित्सा सिद्धान्त में यह बात भी ध्यान रखने की है कि जो औषधि तथा आहार—विहार कफवात नाशक उष्णवीर्य एवं वायु का अनुलोमन करने वाले होते हैं वे श्वासरोगनाश कहो सकते हैं । केवल मात्र कफ या वायु का विनाश अथवा कफ नाशक किन्तु वातवर्धक, अथवा वातनाशक किन्तु कफवर्धक उपक्रम कभी भी सफल नहीं हो सकता । श्वास रोगी को सर्वप्रथम उसके बलाबल को देखकर देश कालानुसार शोधन विधान किया जाना चाहिए । प्रथम स्वेद देना अत्यन्त अवश्यक है । एतदर्थ लवण मिश्रित तैल से नाडी स्वेद अथवा हलुआ बनाकर स्वेद देना चाहिए । वमन के लिए तुरन्त ही दहीभात खिलाकर वमन कारक दवा पिला देनी चाहिए । एतदर्थ मैनफल चार तोला को आधा सेर पानी में पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर सेंधानमक, पिप्पली, मधु मिलाकर देना चाहिए । यदि इस प्रकार सेभी पूरा कफ न निकले तो धूम्रपान करना चाहिए । एतदर्थ धतूरे के पत्ते, फल शाखा को कूट कर सुखाकर चिलम में पीने से तत्काल कफ निकल कर दौरा रुक जाता है ।

श्वास रोगारि—इस प्रयोग की प्रशंसा करना व्यर्थ है यही कहना पर्याप्त रहेगा कि जब श्वासका रोगी सब प्रकार के इलाज करा चुके और लाभ न होता हो, तब श्वासरोगरि का सेवन करें ।

प्रयोग निम्न प्रकार से है—मल्लसिंदूर एक भाग, प्रवालपिष्टी दो भाग, वंगभस्म तीन भाग, गंधक जारित ताम्रभस्म दो भाग, शतपुटी अभ्रकभस्म तीन भाग, सुवर्ण माक्षिकभस्म चार भाग, अष्टसंस्कारित पारद एवं विशेष शोधितगंधक की कज्जली एक भाग [यदि पारद कसौदी स्वरस पाचित एवं च अग्निस्थायी हो तो क्या कहने) शंख भस्म तीन भाग, कुचला सत्व दो भाग, सतसिलाजीत तीन भाग, हरिताल सत्व तीन भाग, भारंगी का घनसत्व चार भाग, धतूरे का घनसत्व पांच भाग, त्रिफला क्षार एक भाग, पीपल घनसत्व दो भाग, भूम्यामलकी घनसत्व चार भाग, गुडूची घनसत्व या सत चार भाग, काकड़ासिंगी का घनसत्व चार भाग, कचूर चूर्ण तीन भाग, जवाखार तीन भाग, सज्जीखार तीन भाग, वासाघनसत्व तीन भाग, शुद्ध वत्सनाभ एक भाग, छोटी इलायची चूर्ण एक भाग, नागकेशर एक भाग इन सबको मिश्रित करके खरल में डालकर एक दिन-रात सूखी ही घुटाई करनी चाहिए । तदनन्तर मुलैठी क्वाथ, ताम्बूल स्वरस, वासास्वरस, छोटी कटेरी स्वरस, इन चारों स्वरसों में पृथक्-पृथक् रूप से समभाग में एक-एक भावना अच्छी प्रकार से

देवें। अन्त में एक भावना बकरी के दूध की देकर एक-एक रत्ती की गोलियां बना लेवें। फिर इनका प्रयोग निम्न प्रकार से कीजिए। तुरन्त लाभ की महौषधि है परम दुर्लभ है।

(क) तमकश्वास में—प्रातः सायं एक-एक गोली मिश्री और पान में।

(ख) सभी खांसी में—एक गोली सत मुलैठी और मिश्री के साथ।

(ग) राजयक्ष्मा में—एक गोली बकरी के दूध से प्रातः सायं।

(घ) दुर्बलता में—एक गोली प्रातः सायं दूध मलाई से।

(ङ) बुढ़ापे की कमजोरी में—एक गोली रात को दूध से खावें।

(च) सभी नपुंसकताओं में—एक-एक गोली प्रातः सायं मक्खन तथा दूध से।

(छ) हस्तमैथुन के विकार में—जायफल, जावित्री दो-दो रत्ती तथा मक्खन व दूध से प्रातः सायं।

(ज) शीघ्रपतन में—मुनक्का, पिश्ता के साथ दूध से प्रातः सायं।

(झ) लिंग के विकारों में—भांग के बीज दो रत्ती के साथ पान में खावें।

(ञ) मैथुन की थकावट में—वंशलोचन व मधु के साथ, दूध के साथ।

(ट) [illegible] और शुक्रप्रणालियों की दुर्बलता में तथा प्रमेह, मधुमेह, शुक्रक्षय की अवस्था में—मधु और अनन्तमूल के काढ़े से।

(ठ) आतशक व सुजाकजन्य विकारों में—मधु और मंजिष्ठादि क्वाथ के साथ एक एक गोली प्रातः सायं देवें। नमक बन्द कर दें।

(ड) न्यूमोनिया आदि कफ रोगों में—मधु और पान के रस के साथ।

(ण) कफवातजन्य सन्निपात ज्वरों में—अदरक के स्वरस तथा मधु के साथ देवें। पीने को पानी नहीं देना चाहिए। कुछ समय पश्चात् आवश्यक हो तो देवें।

(त) मलेरिया और विषम ज्वर में—तुलसी के रस और मधु के साथ दिन में दो बार एक-एक गोली सेवन करें।

(थ) पक्षाघात में—मधु और दशमूल के क्वाथ से।

(द) पोलियो में—मधु और भेड़ के दूध के साथ सेवन करें। यदि रोगी मांसाहारी हो तो यह दवा गारंटी की है क्योंकि मांसरस के साथ सेवन करने से निश्चय ही लाभ करती है। हमने ऐसे सत्ताईस वालकों को पूर्ण स्वस्थ किया है।

(ध) बलवीर्य वृद्धि के लिए—दूध व मलाई से खावें।

(न) आमवात [गठिया] में—त्रिकटु के काढ़े तथा दो रत्ती चित्रक चूर्ण के साथ दिन में तीन बार सेवन करने से निश्चय गठिया रोग नष्ट होता है, इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं।

(प) हिस्टीरिया में—लोध चूर्ण के साथ मधु से सेवन करें तो इसका तुरन्त प्रभाव पड़ता है और रोग समूल नष्ट होता है।

(फ) गरम प्रकृति के विविध रोगियों को—प्रवालपिष्टी चार रत्ती, सत गिलोय चार रत्ती, शीतल दूध के साथ सेवन करने से परम पौष्टिक और उत्तेजक रसायन का काम करता है। थोड़े ही दिनों में चेहरे को सुर्ख बनाकर मैथुन शक्ति और क्रियाकाल को बढ़ा देता है। यह सैकड़ों हीं रोगियों पर अनुभूत शत-प्रतिशत प्रयोग है।

राजयक्ष्मा एक जटिल रोग

डा० भूपेन्द्रकुमार गुप्त रीडर ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज हरद्वार

विद्वान् लेखक ने संक्षेप में राजयक्ष्मा और उसकी चिकित्सा पर अच्छा प्रकाश डाला है। लेख में अंगरेजी शब्दों का बाहुल्य है और लेखन बहुत दुर्बोध है। विद्वान् और मित्र लेखक यह भूल गये कि सुधानिधि के पाठकों का बड़ा वर्ग हिन्दी और संस्कृत भाषा से सम्बद्ध है। राजयक्ष्मा स्वयं जटिल रोग तो है ही कुछ और भी जटिलताएं इस रोग में उत्पन्न हो जाती हैं उनकी ओर भी लेख में प्रकाश डालना चाहिए था। चरक संहिता में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्य इस प्रकार है---

स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात्। धातूष्मणां चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥

उस ओर हमारे प्राध्यापकों का भी ध्यान जाना चाहिए। आयुर्वेद कालेजों में प्रोफेसर, रीडर, लैक्चरर और डिमोंस्ट्रेटर ये पद विद्या और अनुभव के आधार पर व्यक्ति के स्टेटस को बतलाने वाले होते हैं लेख में भी उस स्टेटस की गरिमा परिलक्षित होनी चाहिए। विषय की महत्ता असन्दिग्ध है और जो कुछ लिखा है वह स्वागतार्ह है। आगे उनसे और उत्तम लेखों की आशा है।

---रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

पर्याय—यक्ष्मा, शोष, राजरोग, क्षय, Pulmonay Tuberculosis, Koch's disease, phthiasis एवं तपैदिक आदि।

उपर्युक्त रोग का वर्णन वैदिक काल में भी उपलब्ध होता है। अथर्ववेद संहिता में द्वितीय काण्ड के अध्याय ६ सूक्त ३३/६८ में निम्न प्रकार मिलता है---

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यंऽमस्तिष्का जिह्वाया विवृहमिते ॥

जिसका अर्थ है! हे यक्ष्मा रोग से ग्रस्त पुरुष मैं तेरे नेत्रों से यक्ष्मा को अलग करता हूं और तेरी नाक, कान, ठोड़ी में से भी यक्ष्मा रोग को दूर करता हूँ और तेरी जिह्वा से भी मैं यक्ष्मा रोग को निकालता हुं।

इस जीवाणु का नाम Tubercle Bacillus रक्खा गया आविष्कारक के नाम पर ही इसको Koch's Bacillus तथा इससे उत्पन्न होने वाले रोग को Koch's रोग कहा गया है। यह जीवाणु इस रोग में एक Tuberculin (a small swelling) का निर्माण करता है। जिससे इस रोग को Tuberculosis कहते हैं। इस रोग में रस रक्त आदि धातुओं का शोषण होने से शोष कहा जाता है। शरीर की सम्पूर्ण आन्तरिक एवं बाह्य क्रियाओं का क्षय करने के कारण इसे क्षय नाम दिया गया है।

गम्भीर रोग होने के कारण इसे रोगों का राजा अर्थात् राजरोग और वाग्भट के अनुसार राजयक्ष्मा कहा गया है।

निदान—

प्राचीन ग्रन्थकारों ने एक मत से इस रोग के चार कारण बताये हैं।

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतु चतुष्टयात्॥

चरक ने इन्हीं चार कारणों से उत्पन्न हुए क्षय को ४ प्रकार का माना है। अर्थात् वेगों के अवरोध से (तेरह प्रकार के अधारणीय वेग) राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति का निर्देश है जिसे वेगावरोधजन्य राजयक्ष्मा कहा गया है, क्षय के कारण जो यक्ष्मा होता है उसे क्षयज, यहां क्षय शब्द से "क्षीयतेऽनेनेति क्षयः" का ग्रहण किया जाना चाहिए। आयुर्वेद में क्षय उत्पादक हेतु अतिव्यवाय, अनशन रक्तस्राव आदि शारीरिक कारण एवं मानसिक भावों के अन्तर्गत ईर्ष्या एवं विशाद आदि का समावेश है। साहस जन्य राजयक्ष्मा का कारण साधारणतया अभिमानवश अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने के (जैसे अपने से अधिक बलवान् से युद्ध करना, प्रदर्शनार्थ हाथी, घोड़े मोटर आदि को बलात् रोकना),फलस्वरूप उरःक्षत होकर राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विषमाशनजन्य राजयक्ष्मा का कारण चरकोक्त प्रकृति संयोग आदि के विरुद्ध आहार के उपयोग से उत्पन्न होता है क्योंकि विषमाशन से प्रकुपित वातादि दोष स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करके राजयक्ष्मा उत्पन्न करते हैं। सारांश यह है कि उपरोक्त चारों कारण राजयक्ष्मा के विप्रकृष्ट निदान के अन्तर्गत आते हैं और सन्निकृष्ट निदान के अन्तर्गत ट्यूबर्किल बैसिलाय को इसका कारण मानना चाहिए। वेगावरोधात् कारणचतुष्टय से रस रक्त आदि धातुओं का क्षय होता है अन्ततोगत्वा राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है।

आधुनिक चिकित्सा उपायों का भी यही मत है कि शारीरिक बल का ह्रास हुए बिना यक्ष्माजीवाणुजन्य राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि रोग-प्रतिरोध क्षमता (Immunity & Resistence) यदि बनी रहे तो इस रोग का जीवाणु रोगोत्पत्ति में समर्थ नहीं हो सकता और यदि किसी भी कारण से इस शक्ति का ह्रास होता है तो जीवाणु रोगोत्पत्ति में समर्थ हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि आयुर्वेद में वर्णित कारणचतुष्टय राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति में प्रधान और जीवाणु गौण है। आर्ष ग्रन्थों में शोष की उत्पत्ति को औपसर्गिक माना है—

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि गन्धमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च 'शोषश्च' नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥

उपरोक्त श्लोक से यह स्पष्ट है कि कुष्ठ, ज्वर, शोथ नेत्राभिष्यन्द औपसर्गिक रोग हैं और संक्रमण से होते हैं।

रोगोत्पत्ति में सहायक कारण—

[१] वंश या जाति—कुछ वंशो में यह परम्परागत पाया जाता है।

[२] आयु—१६ से ३० वर्ष की अवस्था में इस रोग का प्रसार होते देखा गया है वैसे किसी भी आयु में हो सकता है।

[३] दैनिक व्यवसाय—जो व्यक्ति धूल एवं धूम्र से व्याप्त वायु मण्डल में कार्य करते हैं उनमें इस रोग की सम्भावना अधिक होती है।

[४] परिस्थिति एवं वातावरण—अस्वच्छ एवं घनी आबादी वाले स्थानों में रहने वालो में रोग का प्रसार अधिक होता है।

[५] दारिद्रय—धन एवं सुविधाओं के आधार से शरीर को प्रोटीन, जीवनीयवस्तु (Vitamin) आदि के न मिलने से तथा (Vitamin A & D) की भोजन में कमी होने से शरीर की जीवनीय शक्ति कम होकर रोग उत्पन्न होता हैं।

[६] श्रमाधिक्य—अधिक परिश्रम करने से तथा पोषण की कमी से बल का ह्रास होकर रोग की उत्पत्ति होती है।

[७] उपद्रव स्वरूप—कुकुरकास, लघुमसूरिका, मधुमेह, वातश्लैष्मिक ज्वर (Influenza) आदि रोगों के उपद्रव स्वरूप भी राजयक्ष्मा होता है।

सम्प्राप्ति—

राजयक्ष्मा धातु क्षयजन्य व्याधि है और यह व्याधि अनुलोम व प्रतिलोम कारणों से धातुक्षय होने के कारण



उत्पन्न होती है। कफ प्रधान दोषों से रस वाहिनी स्रोतों के अवरुद्ध होने से उत्पन्न क्षय को अनुलोम क्षय कहते हैं क्योंकि इससे प्रथम धातु रस धातु के क्षय होने पर उत्तरोत्तर धातु का क्षय होता चला जाता है। इसके विपरीत अतिमैथुन करने से होने वाला क्षय प्रतिलोम क्षय कहलाता है क्योंकि इसमें अन्तिम धातु शुक्र का क्षय होने से पूर्व पूर्व धातुओं का प्रतिलोम रूप से क्षय होता चला जाता है। यह रोग त्रिदोषज होते हुए भी कफ प्रधान है—

कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु ।
अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तराः ।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ।।

आधुनिक मतानुसार राजयक्ष्मा की विकृति की चार अवस्थायें वर्णित हैं—

१. Stage of tupercle formation यक्ष्मिका निर्माण।

2. Stage of caseation किलाटावस्था।

३. Stage of Softening मृदुता की अवस्था

४. Stage of cavitation गह्वरनिर्माणावस्था।

इन चारों अवस्थाओं के उपरान्त उपशम होने पर चूर्णीयन होता है ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस जीवाणु का उपसर्ग आमाशय में हाइड्रोक्लोरिक एसिड की उपस्थिति के कारण नहीं होता है।

लक्षण—

अंशपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः ।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ।।
—च० चि० ८

कन्धे तथा पार्श्व में पीड़ा, हाथ पैरों में दाह और सम्पूर्ण शरीर में ज्वर की उपस्थिति यह राजयक्ष्मा का लक्षण है। इसके अतिरिक्त कास, ज्वर, रक्तपित्त भी राजयक्ष्मा का त्ररूप है।

कासो ज्वरो रक्तपितं त्रिरूपे राजयक्ष्मणि ।

सुश्रुत के अनुसार षड्रूप राजयक्ष्मा के निम्न लक्षण हैं—

भक्त द्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणित दर्शनम् ।
स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपं राजयक्ष्मणि ।।

षड्रूप राजयक्ष्मा (Pulmonary tuberculosis) ज्ञापक है। चरक ने षड्रूप राजयक्ष्मा का वर्णन निम्न रूप से किया है—

"कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोग्रहोऽरुचिः ।"

सुश्रुत ने अन्य स्थान पर दोषों से उत्पन्न एकादश लक्षणों का वर्णन किया है—

स्वर भेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोः ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ।।
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च ।
कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफ कोपतः ।।
—सु० उ० ४१

अर्थात् वात के कारण स्वरभेद, कन्धे तथा पार्श्व में शूल एवं संकोच, पित्त के कारण ज्वर, दाह, अतीसार तथा रक्तष्ठीवन, कफ के कारण सिर का भारीपन, भोजन में अरुचि, कास तथा कण्ठ में पीड़ा या (धसका) इन लक्षणों की उत्पत्ति होती है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी राजयक्ष्मा का वर्णन आयुर्वेद के समान ही किया है आधुनिक विधि से रोग का निदान लक्षणों के अतिरिक्त क्ष० किरण (X-ray) रक्तपरीक्षा एवं ष्ठीवन परीक्षा के द्वारा किया जाता है राजयक्ष्मा के लक्षणों को वर्णन की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. फुफ्फुसीय लक्षण—(Pulmonary Sympem)

२. सार्वदैहिक—(Systemic Symptoms)

१. फुफ्फुसीय लक्षण—(Pulmonay Symptoms)

१. कास —प्रारम्भिकावस्था में शुष्क कास होता है विशेषकर प्रातः काल में। इसके साथ-साथ प्रतिश्याय भी मिलता है। बाद की अवस्था में यह कास रात और दिन बना रहता है।

२. ष्ठीवन (Sputum)—

प्रारम्भिक अवस्था में नहीं होता और रोगी की उत्तरोत्तर वृद्धि में ष्ठीवन की मात्रा बढ़ती जाती है। बच्चे इस ष्ठीवन को निकाल नहीं पाते बल्कि निगल जाते हैं जिससे रोग का प्रसार आन्त्रादि में भी हो जाता है। अन्तिम अवस्था में ष्ठीवन Coprious & numnular होजाता है जो कि cseation & Cavitation की अवस्था का निर्देश करता है। इसी ष्ठीवन की

परीक्षा की जाती है। परीक्षा के लिए ष्ठीवन प्रातःकाल एकत्र किया जाना चाहिए। यह ष्ठीवन जब जलयुक्त पात्र में इकट्ठा किया जाता है यह उसमें ऊपरी सतह पर तैरता है। यह एक mucopurulent पदार्थ है जो Coins की आकृति के समान होता है। परन्तु ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है जैसे Bronchiectasies या Secondary infection में यह ष्ठीवन purulent तथा कभी कभी दुर्गन्ध युक्त भी हो जाता है।

३. रक्तष्ठीवन (Haemoptysis)—

यह एक ऐसा प्रारम्भिक लक्षण हो सकता है जिससे कि रोगी का ध्यान यक्ष्मा की और आकर्षित होता है। कभी-कभी रक्त थोड़ी मात्रा में कभी-कभी २ या ३ Pint की मात्रा में भी आ सकता है। इसी के लिए सुश्रुत ने 'शोणित दर्शनम्' शब्द का प्रयोग किया है इसका कारण Blood vessels की walls का weak होना या Cavity में aneurysm की उत्पत्ति है। यह रक्तष्ठीवन घातक भी हो सकता है।

४. उरःशूल—

इसका कारण Localised dry pleurisy या lymphocytic pleural effusion हो सकता है। इसी को आयुर्वेद में अंश पार्श्वभितापश्च' कहा गया है। यह एक फुफ्फुसीय राजयक्ष्मा का विशिष्ट लक्षण है।

५. श्वास कृच्छ्रता—

राजयक्ष्मा का यह अधिक पाया जाने वाला लक्षण है विवरी भवन होने के पश्चात् फुफ्फुस का वात संचरण मार्ग कम हो जाता है। वायु का आदान प्रदान बनाए रखने के लिए फुफ्फुस के अवशिष्ट कोशिकाओं को यह कार्य करना पड़ता है। जिसके कारण श्वासकृच्छ्र होता है।

२. सार्वदैहिक लक्षण —

१. रोगी सायंकाल में थकावट तथा कभी-कभी Frontal Headache की अनुभूति करता है।

२. रात्रि स्वेद (Night sweats)–इसे विश्राम स्वेद भी कहते हैं। रोगी की विश्राम की अवस्था में रोग से उत्पन्न बिष को निकालने के लिए स्वेद आता है। अतः रात्रि में इसकी प्रवृति देखी जाती है।

३. भार में हानि (Loss of weight)—यह भी एक निदानात्मक लक्षण है। यह वृद्धिकाल में अधिक स्पष्ट रहता है।

४. भूख का न लगना (Dyspepsia) जिससे निरन्तर भार में कमी होती चली जाती है।

५. रोगी को घबराहट महसूस होती है।

६. आर्तवादर्शन—कदाचित् स्त्रियों में आर्तव प्रवृति रुक जाती है। जिससे गर्भ धारण की भ्रान्ति हो सकती है। रोग की अवस्था में भी स्त्री गर्भ धारण कर सकती है।

७. रक्तभार में कमी तथा नाड़ी मृदु तथा तीव्र गति से चलती है Low Blood pressure feeble & rapid pulse)।

शारीरिक परीक्षण—

प्रारम्भिक अवस्था में लक्षणों के आधार पर रोग का निदान करना कठिन होता है। अतः क्ष–किरण (X-rays) परीक्षा के साथ साथ निम्न परीक्षणों से भी निदान में सहायता मिलती है।

१. दर्शन (Inspection)—प्रारम्भ की अवस्था में जत्रुकास्थि (Clavicle) के नीचे का स्थान Flat (चपटा) और ऊपर का स्थान खाली दिखाई पड़ता है। यदि उरः के पीछे के भाग की परीक्षा की जाय तो Spine of the Scapula के ऊपर की Trapezius muscle शोष के कारण पतली हो जाती है। परन्तु रोग की अन्तिम अवस्था में जबकि (संघनन), (तन्तूत्कर्ष), तथा (गह्वरीकरण) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है तो वक्ष की समस्त मांसपेशियों में शोष (Wasting) देखने को मिलता है और उरः प्राचीर सिकुड़ जाती है यहां तक कि गम्भीर अन्तः श्वास लेने पर फुफ्फुस का प्रसार भी कम हो जाता है।

२. स्पर्शन (Palpation)—स्पर्शन करने से ज्ञात होता है कि वक्ष के दोनों ओर या एक ओर ऊपरी भाग पूर्ण रूपेण प्रसार नहीं करता। अन्तिम अवस्था में वक्ष की गति कम Phremitus जाती हैं।

३. अंगुलिताड़न (Percusston)–प्रारम्भिक अवस्था में प्रभावित स्थान पर Resonant कम हो जाता है। उग्रा-



वस्था में अंगुलिताड़न करने पर विशेष कर upper lobe में Risonant और अधिक कम हो जाती है। यहां तक कि कभी ध्वनि Dull भी मिलती है। इसी प्रकार Arcibe (?) की Innerwall के apex पर भी ध्वनि मिलती है। इसका कारण Consolidation है।

४. श्रवण—रोग की प्रारम्भिकावस्था में फुफ्फुस के शीर्ष पर श्वसन मर्मट की ध्वनि सुनाई पड़ती है। परन्तु यदि रोगी को खांसने के लिए कहें उसके बाद ध्वनि सुनें तो आर्द्र शब्द राल्स तथा कर्कर ध्वनि सुनाई पड़ती है। रोग की उग्रावस्था में श्वसन गतियों का स्थान रूक्ष राल्स ले लेते हैं। विस्फोटी या मैकलिंग प्रकार के होते हैं। जब फुफ्फुस के एक पार्श्व में तन्तूत्कर्ष हो जाता है उस अवस्था में शारीरिक लक्षणों के साथ-साथ कण्ठ नाड़ी तथा हृदय भी उस ओर को झुक जाते हैं।

विशेष परीक्षण—राजयक्ष्मा का निदान करने के लिए निम्न चार प्रकार के विशेष परीक्षण करने चाहिए।

१. तापक्रम तालिका—प्रत्येक ४-४ घण्टे पर रोगी का तापक्रम लेते रहना चाहिए। प्रातःकाल में तापक्रम सामान्य या सामान्य से कम मिलता है और मध्यान और सायं में बढ़ा हुआ मिलता है। परन्तु कभी-कभी इसके विपरीत भी मिलता है।

२. ष्ठीवन परीक्षा—बार-बार ष्ठीवन की परीक्षा राजयक्ष्मादण्डाणु के लिए करनी चाहिए। प्रातःकाल का ष्ठीवन साफ वर्तन में एकत्रित करना चाहिए। कई बार के परीक्षण में जीवाणु के न मिलने पर आमाशय का प्रक्षालन करके या मल का परीक्षण करके भी जीवाणु का पता लगाया जाता है। ष्ठीवन परीक्षण झील नेलसन रंजक विधि से किया जाता है। जीवाणु को संवर्ध करके भी निदान किया जा सकता है।

३. क्ष-किरण परीक्षा—जिन रोगियों में रक्तष्ठीवन हुआ हो अथवा तीन सप्ताह से अधिक समय से खांसी रहती हो उनमें वक्ष का क्ष-किरण परीक्षण कराकर फुफ्फुस में होने वाली विकृतियों का ज्ञान किया जाता है।

४. ऐरिथ्रोसाइटिक सेडिमेंटेशन रेट(E. S. R.) यह गति राजयक्ष्मा में बढ़ जाती है। प्रायः १० मि. मी. प्रति ६ घण्टा साधारण होती है।

चिकित्सा—

आयुर्वेद में राजयक्ष्मा की चिकित्सा के लिए निम्न लिखित सिद्धान्त बताये गये हैं :—

१. सब प्रकार का राजयक्ष्मा त्रिदोषज होता है अतः दोषों का बलाबल देखकर चिकित्सा करनी चाहिए।

२. मनुष्य का बल शुक्र के और मल के अधीन है अतः यक्ष्मा के रोगी के शुक्र और मल की रक्षा करनी चाहिए।

शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तञ्च जीवनम्।
तस्माद्यत्नेन संरक्षेद् यक्ष्मिणो मलरेतसी ॥
—चरक

३. पुरीष क्षय में यक्ष्मा के रोगी के शरीर का अन्त हो जाता है। क्योंकि रस रक्तादि धातुओं की क्षीणता से आक्रान्त रहते हुए उस समय पुरीष ही उसके लिए बल है।

४. शोधन कर्म का विधान—यदि यक्ष्मा का रोगी बहुत मल वाला है और बलवान् है तब तो पंचकर्म करके मल का शोधन करना चाहिए। किन्तु यदि उसका शरीर क्षीण व दुर्बल है तब नहीं कराना चाहिए अन्यथा वह विधिवत् हानिकर होगा। अधिक मल वाले यक्ष्मी को स्नेहन और स्वेदन करने के बाद ही वमन या विरेचन औषधि खिलाना चाहिए। यह औषधि स्निग्ध हो और अपतर्पण करने वाली न हो।

शोधन द्रव्य—

१. मदनफल के चूर्ण को गाय के दूध के साथ या मधुर रस के साथ खिलाकर अथवा वामक द्रव्यों के साथ पकाई हुई घृत युक्त यवागुओं के द्वारा वमन कराना चाहिए।

२. त्रिवृत् या निशोथ के चूर्ण को या श्यामलता के चूर्ण की अथवा अमलतास के गूदे को घृत मधु व शर्करा के साथ अथवा गोदुग्ध के साथ अथवा द्राक्षाक्वाथ या मांस रस में मिलाकर पिलाना चाहिए।

इन दोनों के चूर्ण की मात्रा रोगी के अनुसार ६ मा० से १ तो० तथा क्वाथ की मात्रा ८ से १० तो० तक है।

[३] कोष्ठ की शुद्धि हो जाने पर दीपन व बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए। पथ्य के रूप में बृंहण, हृद्य,

वात नाशक तथा लघु भोजन देना चाहिए ।

शुद्धकोष्ठस्य युञ्जीत विधि बृंहण दीपनम् ।
हृद्यानि चान्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च ॥
—चरक.

अनुभव में निम्न चिकित्सा को अत्यन्त उपयोगी पाया गया है ।

१. राजमृगांक रस की १ रत्ती की मात्रा में प्रवाल एवं शुक्ति १-१ रत्ती की मात्रा में मधु एवं गो घृत में मिलाकर प्रातः खाली पेट देना चाहिए । इसके उपरांत च्यवनप्राश १ तोला श्रृंगभस्म तथा लोहभस्म १-१ रत्ती की मात्रा में मिलाकर उष्ण अजादुग्ध के साथ देना चाहिए । परम कष्टदायक कास की निवृत्ति के लिए चन्द्रामृत ४ रत्ती सितोपलादि चूर्ण ६ माशा शुक्तिभस्म २ रत्ती को वासाशर्बत या मधु में मिलाकर रख लें और पुनः-पुनः दिन में कई बार चटाएं । भोजनोत्तर द्राक्षारिष्ट १ तोला या मृद्वीकासव १ तोला के साथ अश्वगन्धारिष्ट १ तोला समभाग जल मिलाकर देने से रोगी की पाचकाग्नि तीव्र होती है ।

यदि रोगी को ज्वर का विशेषानुबन्ध हो तो बृहत् सर्वज्वरहर लोह १ रत्ती यक्ष्मारिलोह १ रत्ती गुडूचीसत्व ४ रत्ती मधु तथा अदरक स्वरस के साथ अपराह्न में देना चाहिए ।

२. यदि रोगी धनी है तो निम्न चिकित्सा से अधिक लाभ होता है । मुक्तापञ्चामृत १ रत्ती, बसन्तमालती १ रत्ती, पिप्पलीचूर्ण २ रत्ती, प्रातः सायं मिलाकर मधु के साथ चटाकर गो या अजादुग्ध का सेवन करायें ।

महालक्ष्मीविलास रस, बृहत् कान्चनाभ्र १-१ रत्ती, मुलैठी चूर्ण ३ माशा, गो घृत ६ माशा, व मधु १ तोला, को रात्रि में सोते समय दें ।

पथ्य व्यवस्था—

अन्न—एक वर्ष पुराना साठी का चावल, शालि, जौ, गेहूं तथा सभी दालें विशेष रूप से मसूर, चना, मूंग तथा लघु शाक जो रोगी को प्रिय हों जैसे परवल, पालक, चौलाई, करेला, वास्तुक, अत्यन्त ही हितकर है ।

यह क्षयजन्य रोग है अतः मांसरस का प्रयोग बृंहण चिकित्सा में अत्यन्त लाभकर है । इसलिए लावा तित्तर, बटेर, खरगोश, जंगली हिरन, मुर्गा, मोर के मांस रस का प्रयोग घी के साथ संस्कृत करके प्रयोग करना चाहिए । बकरे के मांस का रस अत्युत्तम है—

छागमांसं पयश्छागं सर्पिश्छागं सशर्करम् ।
छागोपसेवा सततं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत् ॥

अर्थात् बकरे का मांस, शक्कर सहित बकरी का दूध बकरी का घी और सदा बकरी और बकरों के बीच में निवास करना अर्थात् हर प्रकार से छाग का सेवन करना यक्ष्मा नाशक है ।

राजयक्ष्मा के रोगी के लिए पथ्य चिकित्सा विशेष महत्व रखती है । अतः रोगी को पौष्टिक आहार का सेवन करना चाहिए । अण्डा, दूध, घी, फल आदि का प्रचुर मात्रा में सेवन करना चाहिए और खाये हुए अन्न का भलीभांति पाचन हो और भोजन को रुचिपूर्वक सेवन करें उसके लिए दीपन पाचन औषधियों का सेवन करें । राजयक्ष्मा के रोगी को मात्रापूर्वक मद्य, आसव व अरिष्ट का प्रयोग कराना लाभदायक है । आसव, अरिष्ट, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, सूक्ष्म व प्रमाथि होने से स्रोतोवरोध को दूर करते हैं और धातुओं के पुष्ट होने में सुगमता होती है ।

अपथ्य—धातु क्षय के कारण इस रोग में स्त्री प्रसंग पूर्णतया वर्जित होना चाहिए । साहस (दुःसाहस) क्रोध, चिन्तन, मानसिक एवं शारीरिक श्रम, वेग विधारण, स्वेदन, अंजन, प्रजागरण, दिवाशयन आदि भी त्याज्य हैं ।

यक्ष्मा रोगी को रूक्ष अन्नपान, विरुद्ध भोजन, विषमाशन, विदाही, पदार्थ, राई, बैंगन, कुन्दरु, ताम्बूल, अम्ल तिक्त, कषाय, रस वाले पदार्थ, तैल, हिंग, तरबूज, बेल, उड़द की दाल और क्षारयुक्त पदार्थ त्याज्य हैं ।

नवीन चिकित्सा विज्ञान के वेत्ता इस रोग में यक्ष्मा (B. Tubercle) को मुख्य कारण मानते हुये जीवाणु नाशक चिकित्सा का विधान करते हैं । यक्ष्मादण्डाणु स्ट्रेप्टोमायसीन के लिए विशेष रूप से सेंजीटिव हैं । पैरा अमीनो सेलिसिलास (P. A, S.) आइसोनियाजिड थियासीटाजोन आदि अन्य भी दण्डाणु नाशक औषधियां हैं । परन्तु चिकित्सा में एक साथ केवल दो एण्टीट्यूबर्किल औषधियों का प्रयोग करना चाहिए । इस जीवाणु नाशक



चिकित्सा के साथ–साथ रोगी के बल को संचित करने के लिए जीवनीय द्रव्य (विटामिनों) मुख्य रूप से विटामिन ए और डी तथा मल्टी विटामिनों, काडलिवर, हैलीबट लिवर तैल विशेष रूप से उपयोगी हैं। राजयक्ष्मा के रोगी के लिए हाईप्रोटीन आहार की भी व्यवस्था करना चाहिए। इसके लिए अण्डा मांस तथा ऐसेन्स आफ चिकिन्स का प्रयोग किया जाता है। राजयक्ष्मा के रोगी को सदा स्वच्छ वातावरण में रखना चाहिए।

× × × ×

चरक संहिता के इन्द्रिय स्थान के नवम अध्याय में एक रोगी सूची दी है जिसमें रोगी के बल और मांस के अधिक क्षीण हो जाने पर उसकी चिकित्सा करना संभव नहीं होता। ऐसे रोगी के परित्याग का भी इङ्गित है—

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी ब्रध्नी चिरज्वरी।
गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः॥
अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांस परिक्षयात्।
स्वल्पेष्वपि विकारेषु भिषगेतान् विवर्जयेत्॥

यह मार्गदर्शक वाक्य है। इससे चिकित्सक को दो प्रकार का मार्गदर्शन मिलता है। एक यह कि इन रोगों में रोगी को बल और मांस की रक्षा हेतु प्रबल प्रयत्न करना चाहिए। आज जो यक्ष्मा की चिकित्सा में प्रभूत मात्रा में विटामिनों और एनाबोलिक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है उसके पीछे इस आयुर्वेदिक तथ्य का रहस्य छिपा हुआ है। दूसरे, यदि सब कुछ प्रयत्न करने पर भी यक्ष्मी का बल तथा मांस उत्तरोत्तर घटता ही जाय तो उस रोगी को अन्य अनुभवी एवं कुशल चिकित्सक तथा साधन सम्पन्न चिकित्सालय को भेज देने में देर नहीं करनी चाहिए।

नये चिकित्सकों को सुश्रुत की ये पंक्तियां भी मार्गदर्शिका होंगी—

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम्॥

इस श्लोक से भी कुछ फलश्रुतियां निकाली जा सकती हैं—

१. यक्ष्मा में ज्वर आवे ही यह आवश्यक नहीं है। आन्त्रिक क्षय तो ज्वर रहित प्रायः होती है।

२. यक्ष्मी की अग्नि बराबर दीप्त रखने का यत्न करना चाहिए।

डा० गुडविन ने राजयक्ष्मा चिकित्सा का उद्देश्य इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"The aim of treatment is maximum resolution of exudate, closure of all cavities, persistent conversion of sputum to negative, leaving a reasonable minimum of well healed necrotic residuals."

कफ या बहिःनिःस्राव का अधिकतम उपशम, फुफ्फुसीय गह्वरों की बन्दी, ष्ठीव से यक्ष्मादण्डाणु का अभाव और फुफ्फुस में रोग की पूर्ण शान्ति तथा बहुत कम खराबी का अवशेष रह जाना ही इस चिकित्सा का उद्देश्य है।

यक्ष्मानाशक चिकित्सा के पहले राजयक्ष्मा की भयंकरता बहुत अधिक थी। आयुर्वेद चिकित्सक बहुत व्ययसाध्य स्वर्ण योगों से इलाज करने पर भी रोगी की जीवन रक्षा नहीं कर पाते थे। एक परिवार में एक रोगी की मृत्यु के बाद दूसरा रोगी पड़ता था और जब तक पूरा परिवार साफ नहीं हो जाता तब तक पिण्ड नहीं छूटता था।

आधुनिक यक्ष्मानाशक द्रव्यों के उपयोग से तथा यक्ष्माहर शल्यकर्म के प्रयोग से यह रोग अब मारक नहीं रह गया है। मृत्यु का केवल एक ही कारण है—उत्तरोत्तर रोगी के बल और मांस का पूर्ण प्रयत्न करने पर भी क्षीण होते चले जाना।

फुफ्फुस में गह्वर हो जाने पर न्यूमोपेरिटोनियम द्वारा उसका अवपात करते हैं। थोरैकोप्लास्टी तथा रिसैक्शन की अन्य शाल्यिक क्रियायें प्रचलित हैं। जिन्हें शल्य क्रिया न करानी हो या कराना सम्भव न हो उन्हें मेडिकल उपचार अच्छी तरह करना चाहिए। एक योग इस प्रकार है—

कैपिना कम्पाउण्ड (हिमालय ड्रग) ३ गोली, ताप्यादि लोह ३ रत्ती, स्वर्णबसन्तमालती १ रत्ती, सोनागेरू ३ रत्ती, दुग्धपाषाण ३ रत्ती, प्रोटीनैक्स १ तोला, लाख ३ रत्ती, बीकाडैक्स २ गोली; सब मिलाकर ४ मात्रा करलें। ६–६ घण्टे पर दूध या जल के साथ देते रहें। स्ट्रैप्टोमायसीन सल्फेट के पेशी में इन्जेक्शन १० दिन तक प्रतिदिन, फिर हर तीसरे दिन १० बार। फिर हर चौथे दिन १० बार दें।

राजयक्ष्मा एक अध्ययन

वैद्य ओ० पी० वर्मा बी० ए०, आयुर्वेदरत्न, सरदारशहर (राज०)

यह लेख एक चिकित्सारत वैद्य द्वारा लिखा गया है और जो कुछ पीछे छूट गया है उसे एक चिकित्सक के इष्टबिन्दु से उन्होंने प्रगट किया है। लेख बहुत ही सावधानी से और विशेष अध्ययनपूर्वक लिखा गया है। अनुभव की पुट भी यत्रतत्र है। आधुनिक ज्ञान का समावेश करके उसे युगानुरूप बनाया है। सारी सामग्री उपयोगी और लेखक के अनुभवों से पूरित है। अंगरेजी शब्दों की लेख में भरमार है उन्हें देवनागरीलिपि में देना चाहिए था। --मदनमोहन लाल चरौरे।

इस रोग को अंग्रेजी में Tuberculosis कहते हैं। आम भाषा में क्षय व T. B. के नाम से जाना जाता है। इसके अलावा राजरोग, तपेदिक आदि नामों से जाना जाता है। यक्ष्मा एक संक्रामक रोग है। इस रोग के दण्डाणु (M. tuberculosis) का उपसर्ग अन्न प्रणाली व श्वसनमार्ग से होता है। इस रोग के दण्डाणुओं का अन्वेषण जर्मनी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक काक ने सन् १८८२ में किया। भारतीय साहित्य की ओर दृष्टि डालें तो हमें इस रोग के बारे में २-३ हजार वर्ष ईसा पूर्व की रचनाओं में उल्लेख मिलता है।

यह रोग देश-काल आदि से प्रभावित नहीं है। यह प्रायः सभी देशों में पाया जाता है। इस रोग का प्रकोप-काल १५ वर्ष से ४५ वर्ष तक माना गया है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में यह रोग विशेष रूप में देखने को मिलता है। स्वच्छ वातावरण तथा आदर्श गांवों की अपेक्षा यह घनी आबादी वाले क्षेत्रों में अधिक होता है। धूल, धूआं गर्द आदि के वातावरण में कार्य करने वाले मजदूरों में यह रोग अधिक देखा गया है। वासस्थान की अस्वास्थ्यकर स्थिति, सूर्य का प्रकाश न आना, वायु का अभाव, ज्यादाव्यक्ति और कम मकान होने से भी इस रोग की वृद्धि में सहायता मिलती है।

प्रायः यह रोग दुर्बल मनुष्यों में अधिक फैलता है। प्रसार की दृष्टि से यह तीव्र रूप का उपसर्ग नहीं है एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में धीरे-धीरे कुछ काल में फैलती है। एक बार रोग ग्रस्त हो जाने के बाद छुटकारा बहुत साधन सम्पन्न प्रयत्नों के द्वारा ही हो सकता है।

कुछ व्याधियों से मुक्त होने के बाद भी शरीर में एक विशेष प्रकार की हीन क्षमता हो जाती है, जिससे यक्ष्मा मूलक जीवाणुओं को सबलता मिलने पर रोग की उत्पत्ति हो सकती है। वात श्लैष्मिक ज्वर, रोमान्तिका, कुकर खांसी, मदात्यय, उन्माद, हृदयरोग, फिरंग, श्वसन फुफ्फुसपाक इन व्याधियों के होने के बाद राजयक्ष्मा का प्रकोप अधिक मिलता है। बार-बार गर्भ धारण करने वाली स्त्रियों के तथा प्रसव के बाद अधिक दिनों तक स्थापना वाली स्त्रियों में भी इसका प्रकोप हो सकता है।

राजयक्ष्मा दो साधनों से फैलता है। वे निम्नलिखित हैं—

१. मानवीय, २. गव्य।

१. मानवीय—राजयक्ष्मा के रोगी छींकने तथा खांसी तथा थूक के माध्यम से वे कीटाणु मुंह या नाक के द्वारा कमरे में इधर-उधर फर्श, आंगन, धूल, वस्त्र आदि में चिपके रह जाते हैं और वे कई दिनों तक



जीवित रहते हैं, जब कोई नीरोग व्यक्ति ऐसे वातावरण में श्वास लेता है तो ये जीवाणु उसके शरीर में संचित हो जाते हैं। अगर रोगी कमजोर है तो ये जीवाणु अपना असर दिखाना चालू कर देते हैं तथा बहुत कम काल में ही वह आदमी राजयक्ष्मा से पीड़ित हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य कमजोर नहीं होते हैं उनके शरीर में रोग शामक करने की शक्ति रहती है तब भी ये कीटाणु उसके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। तथा एक स्थान पर संचित हो जाते हैं। जब रोगी कमजोर होगा तो इन्हें उपयुक्त वातावरण मिल जायेगा तथा वही आदमी राजयक्ष्मा से पीड़ित हो जायेगा।

इसके अतिरिक्त जल, संसर्ग के द्वारा भी यह रोग फैलता है लेकिन अधिक मात्रा में वायु के द्वारा ही यह रोग फैलते हुए देखा गया है।

२. गव्य—गव्य दण्डाणुओं का प्रसार दूध से होता है। यह प्रायः भारतवर्ष में कम ही पाया जाता हैं क्योंकि यहां पर देश भर में दूध प्रायः गर्म करके ही काम में लाया जाता है। विदेशों में अधिकतर लोग दूध को गर्म करके प्रयोग में नहीं लाते तथा वहां पर दूध के माध्यम से राजयक्ष्मा के कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं। दूध देने वाले पशुओं के भी राजयक्ष्मा होती है। दूध के माध्यम से वे हमारे शरीर में पहुँच जाते हैं। इसलिए हमेशा दूध को गर्म करने के बाद ही प्रयोग में लाना चाहिये।

लक्षण—राजयक्ष्मा के रोगियों में हमें निम्नलिखित लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं—

कास—राजयक्ष्मा के रोगी को खांसी बहुत आती है। कभी-कभी गाढ़ा श्लेश्म बहुत खांसने पर निकलता है। कभी-कभी रोगी को वमन भी हो जाता है। ज्वर के बढ़ने पर प्रायः कास का कष्ट भी बढ़ जाता है।

रक्तष्ठीवन—प्रायः राजयक्ष्मा के ५०%रोगियों में यह लक्षण मिलता है। प्रारम्भ में रक्तष्ठीवन के साथ पतली लकीर के रूप में रक्त लगा आता है। राजयक्ष्मा के जीर्ण रूप होने से रक्त की मात्रा बढ़ जाती है। रक्तष्ठीबन के पहले रोगी का मुख नमकीन हो जाता है तथा बाद में खून आता है।

ज्वर—राजयक्ष्मा के रोगी में ज्वर प्रधान लक्षण है। कभी ज्वर तेज तथा कभी कम होता रहता है। शरीर में हल्की झुरझुरी, नेत्रों में जलन हाथ पैरों के तलवों में दाह रहती है।

क्षीण नाड़ी—रोगी की नाड़ी कमजोर चलती है। प्रायः ज्वर के साथ-साथ नाड़ी की गति भी घटती बढ़ती रहती है।

अन्य लक्षण—रोगी में अन्य निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं—

१. रोग की मध्यमावस्था तक रोगी में संयोग की आकांक्षा बढ़ जाती है।

२. रात्रि में स्वेद व दुःस्वप्न आते हैं।

३. रोगी को निद्रा नहीं आती है।

४. शरीर का भार धीरे-धीरे घटता है।

५. शरीर धीरे-धीरे कमजोर होकर भ्रम व चक्कर आने लगते हैं।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेदानुसार इस रोग के निम्नलिखित लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं—

अंसपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणः राजयक्ष्मणः॥

अर्थात् कन्धों पसलियों में पीड़ा, हाथ पांव में जलन और ज्वर में ही राजयक्ष्मा के प्रधान लक्षण हैं।

भेद—राजयक्ष्मा के निम्नलिखित भेद देखने को मिलते हैं—

१. तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा (Acute Miliary Tuberculosis)।

२. जीर्ण श्यामाकीय यक्ष्मा (Chronic Miliary Tuberculosis)।

३. तीव्र किलाटीय प्रकार (Acute Caseous Tuberculosis)।

४. तन्तु किलाटीय प्रकार (Fibro Caseous Tuberculosis)।

५. तान्त्वीय यक्ष्मा (Fibroid Tuberculosis)।

१. तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा—यक्ष्मा के दण्डाणु सम्पूर्ण फुफ्फुस में उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी शरीर के दूसरे अंगों में भी छोटे-छोटे Tubercles हो जाते हैं। Tubercles का आकार बहुत छोटा तथा व्यापक प्रसार होने के कारण इसको श्यामाकीय संज्ञा दी गई है।

२. जीर्ण श्यामाकीय यक्ष्मा—फुफ्फुस में ६ से ७ मि० मि० के कड़े भिन्न आकार वाले ट्यूबर्किल असंख्य संख्या में उत्पन्न हो जाते हैं। इनका प्रसार कभी-कभी प्लीहा, वृक्क, मस्तिष्क आदि अंगों में हो जाता है।

३. तीव्र किलाटीय प्रकार—व्यापक रूप में फुफ्फुस के किसी खण्ड में या अनेक खण्डों में कोषाओं का अपजनन होकर बड़े-बड़े किलाट उत्पन्न होकर फैल जाते हैं जिनमें कि व्यापक मात्रा में यक्ष्मा के कीटाणु पाये जाते हैं।

४. तन्तु किलाटीय प्रकार—व्याधि का प्रारम्भ श्यामाकीय या यक्ष्मज फुफ्फुसपाक के रूप में होता है।

५. तान्त्वीय यक्ष्मा—यह जीर्ण प्रकार की स्थिति में मिलती है। एक पार्श्व या फुफ्फुस के एक खण्ड में विकृति मिलती है। तान्त्वीय धातु के बीच-बीच में किलाट या विवरमूलक विकार भी मिल सकते हैं।

कफप्रधान वातादि दोष जब प्रकुपित हो जाते हैं तो वे रक्तवाहिनी नाड़ी के मार्ग में अवरोध पैदा कर शरीर की सप्तधातुओं को क्षीण करने लग जाते हैं। अति मैथुन वाले मनुष्य में वीर्य की कमी होकर वह कमजोरी को प्राप्त होकर क्षय रोगी हो जाता है। जैसे कहा है—

> कफ प्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु ।
> अति व्यवायिनो वाऽपिक्षीणे रेतस्यनन्तराः ।।
> क्षीयन्ते धातव; सर्वे ततः शुष्यति मानवः ।।

कल कारखानों में कार्य करने वाले मजदूर जब धूल भरे या धूंआ भरे वातावरण में श्वास लेते हैं तो अन्तोगत्वा वे क्षय से पीड़ित हो जाते हैं। गन्दी बस्तियों में सूर्य का पर्याप्त प्रकाश नहीं आ पाता तथा खुली हवा नहीं मिल पाती है। सूर्य के प्रकाश में विटामिन डी होता है, जिसमें कि कीटाणुओं को मारने या नष्ट करने की शक्ति होती है। ज्यादातर मनुष्य भोजन का ध्यान नहीं रखते तथा भारतवर्ष की जनता गरीब होने की बजह से सभी प्रकार से संतुलित भोजन नहीं कर पाती तथा उनको श्रमाधिक्य करना पड़ता है, जिससे उनके फैफड़े अधिक कार्य करते हैं और अन्त में वे राजयक्ष्मा से पीड़ित हो जाते हैं। छाती में कभी-कभी चोट लगने से भी क्षय रोग की उत्पत्ति देखी गई है। कभी-इस रोग में वंशानुक्रम भी देखा गया है। कुछ भी हो! अनिवार्य यह है कि इस रोग से हमारे शरीर को बचाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्षय के बारे में जैसे कहा है—

आदमी के प्राणों का बैरी है क्षय। क्षय के चार बैरी हैं—खुली हवा, संतुलित भोजन, धूप और व्यायाम। इसलिए ज्यादा से ज्यादा मात्रा में शरीर को खुली हवा संतुलित भोजन, धूप और व्यायाम देना चाहिए।

चिकित्सा का सामान्य सिद्धान्त

सर्वप्रथम रोगी की पारवारिक स्थिति का पता लगाना चाहिए। उसके उपरान्त यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि रोगी इस बीमारी से पहले किस रोग से पीड़ित था। कभी भी रोगी को यह नहीं बताना चाहिए कि उसके क्षय हो चुका है। क्योंकि इससे रोगी के मन पर बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ेगा और उसके मन में एक बात बैठ जायेगी कि मैं क्षय से पीड़ित हूँ।

कफ परीक्षा—जब चिकित्सक को यह शंका हो जाय कि रोग क्षय से पीड़ित है तो उसको कफ परीक्षा करनी चाहिए। अगर साधन उपलब्ध न हों तो किसी पास के अस्पताल में कफ परीक्षा करवा लेनी चाहिए। कभी-कभी क्षय दण्डाणु भीतरी कोषाओं में अवरुद्ध होते हैं, इसलिए परीक्षा करने पर नहीं मिलते हैं। अतः कफ परीक्षा ३-४ बार कर लेना उचित है।

किरण परीक्षा (X-ray)—सभी प्रकार के क्षयों में X-ray परीक्षा करवा लेनी चहिए। कई स्वस्थ दीखने वाले मनुष्यों में भी क्षय के कीटाणु मिलते हैं। अन्य परीक्षाओं में अगर क्षय दण्डाणु की उपलब्धि नहीं मिले तो क्ष-किरण से अवश्य उसकी जानकारी हो जायेगी। इसलिए थोड़ा भी संदेह होने पर सर्व प्रथम क्ष परीक्षा करवा ही लेनी चाहिये।

रक्त परीक्षा—रक्त परीक्षा रोगी को करा लेनी चाहिये। लेकिन इसीको ही अन्तिम निर्णय नहीं मान लेना चाहिये क्योंकि कभी कभी क्षय दण्डाणु होने पर भी कोई स्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता है।

जब यह निश्चय हो जाये कि रोगी के क्षय रोग है तो रोगी को धैर्य दिलाना चाहिये तथा



उसे विश्राम की सलाह देनी चाहिये। शुद्ध वातावरण, पोषक आहार, निश्चित जीवन, खुले वातावरण में रोगी को निवास की सलाह देकर बाद में औषधि की व्यवस्था करनी चाहिए। रोगी के घर वालों को तथा परिचारक को वैद्य या डाक्टर जैसी सलाह दे उसका पालन करना चाहिए। इससे रोगी के रोग में कमी होगी और इसके विपरीत वैद्य या डाक्टर की सलाह के विरुद्ध कार्य किया जायेगा तो रोगी का जीवन खतरे में पड़ सकता है।

क्षय चिकित्सा

क्षय रोगी को निम्नलिखित औषधियों की मात्रा सुबह शाम मधु के साथ देनी चाहिए, उसके उपरान्त रोगी को दूध पीने की सलाह देनी चाहिए।

स्वर्ण वसन्तमालती रस १ रत्ती, प्रवाल पंचामृत रस १ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण ३ माशा, लोह भस्म १ रत्ती।

—१ मात्रा

उपरोक्त औषधि रोगी को एक माह तक देनी चाहिए, उसके उपरान्त रोगी को एक माह के लिए निम्नलिखित औषधियों का सेवन कराना चाहिए—

चन्द्रप्रभा वटी १ रत्ती, चन्द्रामृत रस १ रत्ती, स्वर्ण भूपति रस १ रत्ती, लक्ष्मी विलास रस १ रत्ती, हरताल भस्म ¼ रत्ती।

—१ मात्रा

उपर्युक्त औषधि के साथ-साथ रोगी को च्यवनप्राश तथा वासकासव देना चाहिए। इससे रोगी की कास में कमी होगी। हरताल भस्म गर्म होती है, इसलिए इसके साथ दूध की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। अगर रोगी ज्यादा कमजोर हो और गरम प्रकृति हो, सहन नहीं कर सके तो इसके साथ-साथ प्रवालपिष्टी, मुक्ताशुक्तिपिष्टी या गिलोय सत्व का प्रयोग करना चाहिए।

इसके बाद उपर्युक्त औषधियों के सेवन कराने के बाद रोगी को निम्नलिखित औषधियां एक माह तक सेवन करनी चाहिए।

अभ्रकभस्म १ रत्ती, शिलाजत्वादि लौह २ रत्ती, त्रिभुवनकीर्ति रस २ रत्ती, मुक्ताभस्म ¼ रत्ती, शृङ्गभस्म १ रत्ती।

—१ मात्रा

इसके साथ-साथ रोगी को भोजन के बाद मृतसंजीवनी सुरा व अश्वगन्धारिष्ट दोनों को मिलाकर रोगी को देनी चाहिए।

परीक्षित प्रयोग

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़) का रुदन्तीफल क्षय में बहुत ही अच्छा लाभ करती है। यह रुदन्तीफल चूर्ण तथा टेबलेट दोनों में ही मिलता है।

इस रुदन्तीफल के साथ-साथ रोगी को धन्वन्तरि कार्यालय का स्वर्णवसन्तमालती रस का प्रयोग कराया जाय तो बहुत शीघ्र लाभ करता है।

रुदन्तीफल ३ रत्ती, स्वर्णबसन्त मालती रस नं० १ ½ रत्ती।

—१ मात्रा

उपर्युक्त मात्राओं को रोगी को दिन में चार बार तक सेवन करायें।

अनुपान—गाय व बकरी के दूध के साथ सेवन करायें। दूध को गर्म करके ही प्रयोग में लें। समागमन न करें।

अन्य आयुर्वेदिक औषधियां

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित औषधियां क्षय में लाभकारी हैं—

(१) आनन्दभैरव रस	(१०) वैक्रान्त भस्म
(२) जातिफलादि चूर्ण	(११) शृङ्गाराभ्र
(३) महाद्राक्षारिष्ट	(१२) हेमगर्भपोटली रस
(४) बलादिघृत	(१३) मकरध्वज
(५) जीवनीयकृत्	(१४) पिप्पली चूर्ण
(६) दशमूलारिष्ट	(१५) चतुर्मुख रस
(७) शिवागुटिका	(१६) लोहासव
(८) आरोग्यवर्द्धनी वटी	(१७) स्वर्णभस्म आदि।
(९) नृपतिबल्लभ रस	

शर्करामधुसंयुक्तं नवनीतं लिहन्क्षयी।
क्षीराशी लभते पुष्टिमतुल्ये राजयक्ष्मिके॥

शक्कर मधु मिलाकर मक्खन के साथ सेवन करें विषम मात्रा में मधु तथा घी का सेवन करने से भी राजयक्ष्मा में लाभ होता है।

एलोपैथिक चिकित्सा—

स्ट्रैप्टोमाइसिन (Streptomycin)—क्षय रोगी को स्ट्रैप्टोमाइसिन का सूचिवेध लाभकारी है। आजकल स्ट्रैप्टोमाइसिन व डाइहाइड्रोस्ट्रैप्टोमाइसिन के सम्मिलित प्रयोगों को कार्य में लाया जाता है। प्रमुख संयुक्तयुक्त

औषधियां-एम्बिस्ट्रिन (Ambistryn), डुप्लोमाइसिन (Duplomycin), कोमाइसिन (Comycin) आदि का प्रयोग लाभकारी है।

आइसोनियाजिड—यह क्षय के लिए सर्व सुलभ व लाभकारी औषधि है। जिसको स्ट्रेप्टोमाइसिन के साथ प्रयोग में लाने से शीघ्र लाभ करती है।

एनाजिड—(Anazid), आइसोपार (Isopar) सैलिनेजिड (Salynazid) आदि औषधियां इस वर्ग में आती हैं।

टेरामाइसिन (Terramycin)—टेरामाइसिन भी क्षय में अत्यन्त लाभकारी औषधि है। यह कैपसूलों तथा सूचीवेध दोनों में ही बाजार में उपलब्ध है। इसकी २५० mg. तथा ५०० mg. की मात्राएं प्रयोग में लायी जाती हैं।

नियोमाइसिन (Neomycin)—शीघ्र विषाक्त परिणाम होने की वजह से इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। क्षयज लस ग्रन्थियों के भेदन के बाद इसका प्रयोग किया जाता है।

अन्य औषधियां—

एलोपैथिक औषधि के रूप में निम्नलिखित औषधियां भी लाभकारी हैं—

(1) Vitamin-D (विटामिन-डी)।
(2) Vitamin-C (विटामिन-सी)।
(3) Vitamin-A (विटामिन-ए)।
(4) Calcium (कैलशियम)।

बी. सी. जी. (B. C. G.)—क्षय रोग न हो, इसके लिए बच्चे के जन्म के समय ही B. C. G. का टीका लगा लेना चाहिये। बी. सी. जी. टीका क्षय के रोकथाम में बहुत ही लाभकारी है। बी. सी. जी. का टीका अस्पतालों में उपलब्ध है। बी. सी. जी. के टीके का टेस्ट करके ही लगाना चाहिये अगर रोगी के अलर्जिक हो जाये, तो उसको बी. सी. जी का टीक नही लगाना चाहिये।

इन औषधियों के अतिरिक्त रोगी को ताकत के लिए निम्नलिखित औषधियां दी जा सकती हैं :—

Syrup. Ledrplax Syrup. Ambiplax
Syrup. Macalvit Syrup. Dexorange
Syrup. Heptoglobin.

उक्त पेय भोजन के बाद दोनों समय रोगी को २-२ चम्मच देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त रोगी को निम्नलिखित B.complex युक्त औषधियां देने से लाभ होता है :—

Cap. Surbex-T Cap. Becosule
Cap. Fesovit Cap. Basiton Forte

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित औषधियां भी दी जा सकती हैं :—

Cap. Demasulls.
Tab. Microfolin with Folic Acid.
Tab. Ibrol. etc.

निम्नलिखित औषधियां क्षय में लाभकारी हैं :—

Avil EXPT. Tab. Betnesol
Tab. Isonex Tab. Deriphyllin
Syrup Benapryle Tab. Estopen
Multi Vitaplex fort Theragran Cap.
Inj Cal. Gluconate.

¼ चम्मच Syrup. Collosol iodine.
+
३ चम्मच Syrup. Pulmo Cod.
+
२ चम्मच Syrup. Vit. B Complex.

कालोसोल ¼ चम्मच, पूलमो ३ चम्मच तथा विटामिन बी० कम्पलैक्स की २ चम्मच तीनों को मिलाकर भोजन के बाद रोगी को देना चाहिये। इससे रोगी के शरीर में रक्त वृद्धि के साथ-साथ स्फूर्ति भी आयेगी।

साध्यसाध्यता :—रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिये, पोषक आहार शुद्ध हवा का सेवन करना चाहिये, रोगी को औषधि सेवन करते समय वैद्य के निर्देशानुसार ही पथ्यों का ध्यान रखना चाहिये। १ वर्ष तक पूर्ण विश्राम का विधान है।

सुपथ्य—बकरी व गाय के दूध का सेवन करना चाहिये। घी, खजूर, नारियल, मौसमी, किशमिश, बादाम, गेहूँ, मूंग, मक्खन, पका हुआ कटहल आदि।

कुपथ्य—स्त्री समागमन जितने दिन औषधि चल रही हो नहीं करना चाहिये। उड़द, लहसुन, तैल, खटाई, गुड़, मिर्च, क्रोध, दिन में शयन, मेहनत के कार्य, पान, तरबूज, सेम, बैंगन आदि कुपथ्य माने गये हैं।

इस प्रकार रोगी की पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये तथा रोगी को धैर्य रखते हुए चिकित्सा जितने दिन तक वैद्य चलायें औषधि लेते रहना चाहिये। **

यक्ष्मा-विविध प्रकार और अनुभूत योग

वैद्यविद्यानिकेत श्री जगदम्बाप्रसाद श्रीवास्तव पो० अरौल जि० कानपुर

वास्तविक श्री से सम्पन्न जगदम्बा के साक्षात् प्रसाद स्वरूप श्री श्रीवास्तव ने कुछ योग भेजे हैं जिन्हें उपयोगी मान कर पाठकों के लाभार्थ नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है, आशा है उनका अनुभव कर सुधानिधि के पाठकगण हमें भी परिचित करायेंगे। —गोपालशरण गर्ग।

शुक्रक्षीणतायुक्त यक्ष्मा—स्वर्णमालिनीवसन्त आधी रत्ती, शिलाजत्यादि लौह १ रत्ती, वसन्तकुसुमाकर रस १ रत्ती, चन्द्रामृत रस २ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण ४ रत्ती, रुदन्ती चूर्ण ४ रत्ती। —मात्रा ३।

सबको खरल कर रखें। १ तो. बताशे + १ माखन में १ मात्रा मिलाकर खिलावें। ऊपर से बकरी का शीतल किया हुआ दूध १-२ पाव पिलावें।

गुण—इसके प्रयोग से शुक्रक्षय जनित यक्ष्मा ठीक हो जाती है रोगी को निशादोष होना बन्द हो जाता है। प्रमेह और मधुमेह युक्त क्षयरोग में भी लाभ होता है। अशक्ति कास ज्वर शमन होता है। पथ्य के सहित २-३ मास तक प्रयोग करते रहना चाहिए। चन्द्रामृत के बिना भी प्रयोग कर सकते हैं यदि वसन्तकुसुमाकर इसके साथ न मिलावें तो अलग से रात्रि में २ रत्ती मात्रा से मधु चटा दिया करें। सहयोग रूप से शक्तिवर्द्धन के लिए बालादि घृत, जीवनीय घृत १-१ तोला और च्यवनप्राश ६ माशे प्रति दिन देना चाहिए।

रक्त-कासयुक्त यक्ष्मा—जयमंगल रस चौथाई रत्ती, कामदुधा रस १ रत्ती, रक्तपित्तान्तक रस १ रत्ती, लाक्षा चूर्ण २ रत्ती, नागकेसर चूर्ण २ रत्ती, बावलीघास घनसत्त्व २ रत्ती। —मात्रा २।

सबको खरल कर चौलाई स्वरस ३ माशे या दूर्वारस ३० बूंद में ३० बूंद मधु मिलाकर उसी में १ पुड़िया मिलाकर चटाना चाहिए। दूध या माखन मिश्री में मिलाकर भी दे सकते हैं। उक्त योग में १ रत्ती रक्तपित्त कुलकण्डनरस १ रत्ती, चन्द्रकला रस भी मिला सकते हैं। या स्वर्णमालिनीवसन्त १ रत्ती, मिलावें या रक्तपित्तान्तक निकाल कर शेष का प्रयोग करें। दिन भर में ५-७ मात्राएं देनी चाहिए।

यक्ष्मान्तक—जयमंगल रस (स्वर्णयुक्त) आधी रत्ती. यक्ष्मान्तकलौह १ रत्ती, मुक्ताशुक्तिभस्म २ रत्ती, रुदन्ती चूर्ण २ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण ४ रत्ती, —मात्रा १।

सबको खरल कर १ प्याली में डालें। उसी में १ तोला मक्खन या साढ़ी (मलाई) और ६ माशा मिश्री पीसकर मिला दें। इसकी २-३ मात्राएं दिन भर में देवें।

गुण—इसके प्रयोग से यक्ष्मा का दाह, ज्वर, पार्श्वशूल, कास शमन होती है। यदि रक्त वमन होती है तो इसी में १ रत्ती चन्द्रकला रस और १ रत्ती रक्तपित्त कुलकण्डन रस मिलाकर देना चाहिए।

पथ्य में—बकरी का दूध और बकरी का घी देना चाहिए। भैंस का दूध नहीं देना चाहिए।

नोट—मुक्ताशुक्तिभस्म के स्थान पर प्रवालपञ्चामृत २ रत्ती देने से इस योग में गुणवृद्धि हो जाती है। इसके प्रयोग से द्वितीय श्रेणी के रोगी भी ठीक हो जाते हैं।

श्वसनक या न्यूमोनिया

वैद्यराज आयुर्वेदाचार्य पं० मदनमोहन लाल चरौरे

रोग का नाम तथा परिभाषा

फुफ्फुसों का शोथ या पाक न्यूमोनिया कहलाता है। इसमें एक लक्षण श्वास की वृद्धि का होता है। श्वसन-क्रिया की अभिवृद्धि होने से यह श्वसनक कहलाता है। श्वसन सम्बन्धी व्यथा होने से भी इसे श्वसनक कहने का रिवाज पड़ गया है।

रोगोत्पत्ति में कारण

श्वसनक के २ बड़े प्रकार हैं। एक विशिष्ट श्वसनक वर्ग [Specific Pneumonias] और दूसरा आचूषण श्वसनक वर्ग [aspiration Pneumonias]। विशिष्ट श्वसनक किसी विशेष रोगोत्पादक जीवाणु या विषाणु के आक्रमण से होता है। आचूषक श्वसनक में किसी भी कारण से फुफ्फुसों में कोई बाहरी चीज चूसी जाना रोग का कारण बनता है।

विशिष्ट श्वसन की उत्पत्ति, न्यूमोकोकाय (फुफ्फुस गोलाणुओं) स्टैफिलोकोकस पायोजीनस (गुच्छ पूयजनक गोलाणुओं), क्लैबसीला न्यूमोनी, और यक्ष्मादण्डाणु (माइको बैक्टीरियम ट्यूबर्क्युलोसिस) के द्वारा उत्पन्न होता है। इनमें फुफ्फुस गोलाणुओं के द्वारा अधिकतर श्वसनक देखा जाता है।

आयुर्वेदीय दृष्टि से जब किसी भी कारण से मलकफ प्राणवाही स्रोतों में थोड़े स्थान पर या बहुत स्थान पर भर जाता है और श्वासोच्छ्वास क्रिया में बिगाड़ पैदा करता है तब वह स्थिति श्वसनक या न्यूमोनिया कहलाती है।

रोग के लक्षण

फुफ्फुसगोलाणुज श्वसनक सहसा उत्पन्न होता है। साथ में शीत आता है। उलटियां भी होती हैं और बच्चों में प्रकम्प या कन्वल्जन्स भी हो सकते हैं। तापमान १०२ से १०४° फै तक चला जाता है। ग्लानि, क्षुधानाश, शिरःशूल तथा शरीर में हड़फूटन या अङ्गमर्द मिलता है। यदि प्लूरा पर भी प्रभाव हुआ तो पार्श्वशूल या छाती में दर्द इतस्ततः खूब मिलता है। खांसी तेज थोड़ी देर रहने वाली और दर्द के साथ उठती है जो आरम्भ में सूखी पर शीघ्र ही गीली हो जाती है जिसमें बहुत चिपकना कफ निकलता है जो हलके मोरचा जैसे रङ्ग का भी होता है जिसमें कभी-कभी रक्त के धब्बे भी देखे जाते हैं। श्वास की गति ३० से ४० प्रतिमिनट होती है। श्वास उथला और कष्ट के साथ लिया जाता है। नाड़ी की गति तेज हो जाती है, दबाने से वह मृदु होती है। व्यानबल (रक्त-दाब) घट जाता है। चहरा तमक जाता है, त्वचा उष्ण और शुष्क हो जाती है। रक्त की परीक्षा करने पर श्वेत कणों की गणना १५ से ३० हजार प्रति घन मिलीमीटर तक पाई जाती।

इस रोग में ३ अवस्थाएं पाई जा सकती हैं। एक अधिरक्तता की अवस्था (Stage of congestion)जिसमें प्रभावित फुफ्फुस पर क्रिपिटेशन तथा प्लूरलरब श्रवण-परीक्षा पर सुने जाते हैं। दूसरी संघनन की अवस्था (Stage of consolldation) जो २ दिन के अन्दर उत्पन्न हो जाती है जिससे श्वसनध्वनियां सीटी देती हुई (ट्यूब्यूलर) सुनी जाती हैं। इसमें छाती के प्रभावित भाग की गति घट जाती है, परिताडन मन्द होता है। क्रिपिटेशन शुरू में सूक्ष्म फिर कर्कश हो जाते हैं। फ्लूरलरब मिलता है। वोकस रेसोनेंस तेज हो जाती है। फुसफुसाकर रोगी द्वारा बोला हुआ शब्द स्टैथिस्कोप से सुनने पर स्पष्ट और तेज सुनाई पड़ता है। तीसरी उपशमावस्था (Stage of resolution) कहलाती है। फैफड़े की



सीटियां वन्द हो जाती हैं। सूक्ष्म और कर्कश ध्वनियां मिट जाती हैं और कफ पतला पड़ जाता है एवं ज्वर घट जाता है। परिताड़न और छाती की गतियां अपनी प्राकृतावस्था के अनुसार परिलक्षित होती हैं।

क्ष किरण चित्र यदि १२ से १८ घण्टे में लिया जावे तो प्रभावित फुफ्फुस का भाग पारान्ध (ओपेक) देखने में आता है।

इस रोग में फुफ्फुस सम्बन्धी, प्लूरासम्बन्धी, हृदय और संवहन सम्बन्धी तथा स्नायुरोग (वातनाड़ी संस्थान) सम्बन्धी उपद्रव होने की सम्भावना भी रहती है।

फुफ्फुसगोलाणुज श्वसनक के अतिरिक्त अन्य निम्न लिखित प्रकार के विशिष्ट या अविशिष्ट श्वसनक और मिलते हैं—

स्टैफिलोकोकस न्यूमोनिया [प्रायः हो जाता है]

फ्रीडलैण्डर्स न्यूमोनिया [यह विरल रोग है]

ट्यूबर्क्युलोसिस न्यूमोनिया

विषाणुजन्य [वाइरस] न्यूमोनिया

अचूषणजन्य [ऐस्पिरेशन] न्यूमोनिया

इसके विषय में आधुनिक चिकित्सा के वृहद् ग्रन्थों सेअवलोकन किया जाना चाहिए क्योंकि विशेषांक टैक्स्ट बुक की पूर्ति नहीं कर सकता।

रोग की चिकित्सा के सिद्धान्त

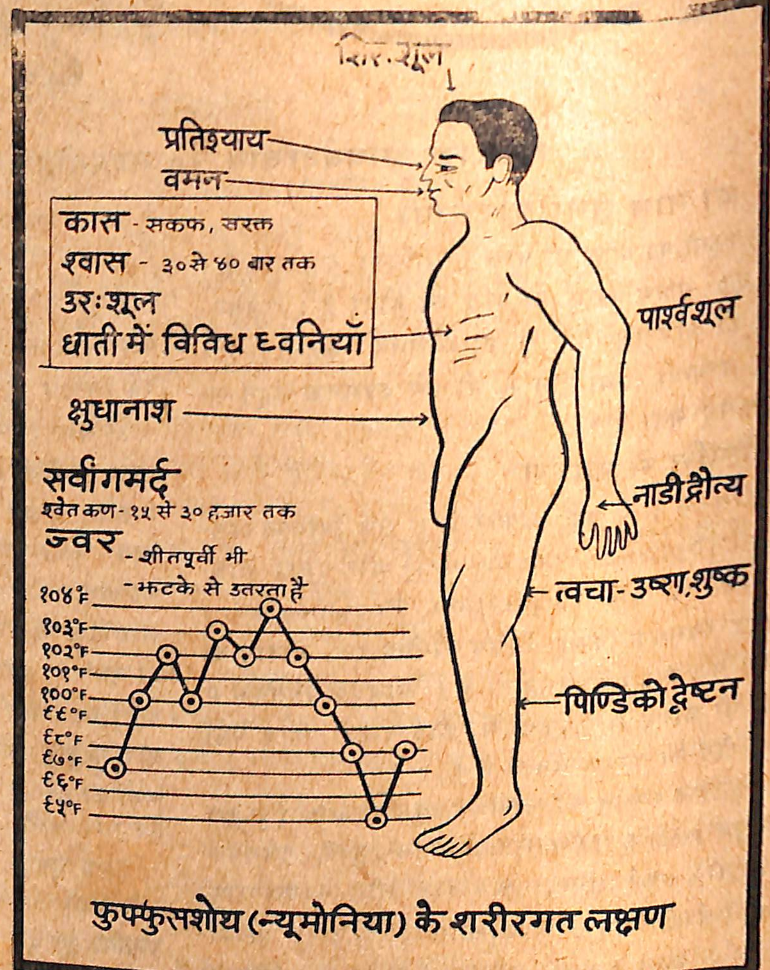
आयुर्वेद की दृष्टि से न्यूमोनिमा को क्या माना जाय यह समस्या है। चरक के काश्मीर पाठ में कई प्रकार के सन्निपात गिनाए हैं, इनमें कईयों में न्यूमोनिया जैसे लक्षण मिलते हैं—

i. छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना।
मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिंग पित्तकफोल्बणे ॥

ii. शिरोरुग्वेपथुश्वासप्रलापच्छर्द्य रोचकाः ।
हीनपित्ते वातमध्ये लिंगं श्लेष्माधिके विदुः ॥

iii. श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक्।
कफहीने पित्तमध्ये लिंगं वाताधिके मतम् ॥

इन तीनों प्रकारों में तीसरा प्रकार जिसमें श्वास, कास और पार्श्वशूल का स्पष्ट वर्णन है, अधिक निकट बैठता है। इसके अनुसार वात की प्रबलता के साथ पित्त का इन्फ्लेमेटरी रिऐक्शन और कफ की हीनता मिलती



फुफ्फुसशोथ (न्यूमोनिया) के शरीरगत लक्षण

है। रसधातु से मल कफ बनकर वह फैफड़ों और प्राण वाहीस्रोतों को भरता है और तीव्र वेदनाएं मिलती हैं। इससे कफक्षय और वातप्राबल्य की पुष्टि होती है। फुफ्फुस में पाक का होते रहना इस रोग में पित्त की भूमिका को स्पष्ट करता है। इसलिए चिकित्सा के सिद्धान्तों की दृष्टि से वातहर, शैत्यहर, पित्तशामक चिकित्सा उपयोगी सिद्ध होंगी। अतः यह जीवाणु जन्य और घातक रोग है इसलिए जीवाणुनाशक—ब्राड स्पैक्ट्रम

एण्टीवायोटिक ड्रग्स का प्रयोग परमावश्यक मानकर किया जाना चाहिए।

श्वासरोग के अन्तर्गत चरक ने जो प्रतमक श्वास बतलाई है वह ज्वर और मूर्च्छा से युक्त होने से न्यूमोनिया की ओर संकेत करता है—

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तम् ।
उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥

—चरक संहिता चि. स्था. अ. २१

रोगोत्पादकजीवाणुओं के नाश का पूरा प्रबन्ध उस काल में न होने से ज्वर, मूर्च्छा और श्वास ये ३ लक्षण उग्रस्वरूप के हो जाते हैं। तमकः कृच्छ्र उच्यते के अनुसार यह कष्टसाध्य तो है ही यदि व्यक्ति दुर्बल हो जाय तो 'तमको दुर्बलस्य च' के आधार पर प्रतमक असाध्य हो ही जाता है। अतः श्वासहर, कासहर और ज्वरहर चिकित्सा का भी इसमें महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसमें मृदुवातानुलोमनम्, शक्ते ऊर्ध्वाधः कायशोधनम् तथा दुर्बले शमनं मतम् के चिकित्सासूत्र लगते हैं।

रोगी की तत्कालकरणीय चिकित्सा

रोगी के आते ही उसे आतुरालय के निर्वातकक्ष में स्वच्छ पलङ्ग पर रखना चाहिए। आते ही उसे दशमूल के क्वाथ में शहद तथा पिप्पली चूर्ण डालकर तथा चाय के रूप में देना चाहिए—

पार्श्वशूले ज्वरे श्वासे कासे श्लेष्म समुद्भवे ।
पिप्पलीचूर्णसंयुक्तं दशमूलीरसं पिबेत् ॥

—भैषज्य रत्नावली कासाधिकार

मैं तो रोगी को लघुपंचमूल या अकेले छोटी कटेरी की चाय बनाकर जिसमें दूध भी डालता हूँ तथा थोड़ी चाय की पत्ती डालकर देता हूं। पहले २-३ रत्ती पिप्पली शहद में चटाकर ऊपर से पिलाता हूँ। हर ३-४ घण्टे पर यह चाय चलती रहती है।

छोटे बच्चे को न्यूमोनिया होने पर जैसे ही वह चिकित्सालय में लाया जाय उसे पानी पिलाना चाहिए। कभी-कभी श्वासाधिक्य के कारण शरीर में जलाभाव होकर वह ओजोहीन हो जाता है और यदि तत्काल जल न पिलाया जाय तो वह प्राणतक त्याग देता है। क्योंकि छोटा बालक बोल सकता नहीं, इस ओर की लापरवाही सद्यः प्राणविनाशनी हो जाती है। पानी तत्काल देना चाहिए ताजा शुद्ध जल देना भी हानिकारक नहीं होता, उसे गरम कर ठण्डा करने में कभी इतना टाइम लग जाता है कि बच्चा दम तोड़ देता है।

चक्रदत्त के अनुसार प्रत्येक न्यूमोनिया के रोगी को पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी) चूर्ण से शृत दूध देते रहना चाहिए—

पञ्चकोलैः शृतं क्षीरं कफघ्नं लघु शस्यते ।
श्वासकासज्वरहरं बलवर्णाग्निवर्धनम् ॥

कफ के अधिक निकलने पर तथा कास, श्वास-हृद्ग्रह होने पर पुष्करमूल (Inula racemosa) कायफल, भारंगी सोंठ, पीपल से सिद्ध क्वाथ १-२ बार देना उत्तम है—

पौष्करं कट्फलं भार्गी विश्वपिप्पलिसाधितम् ।
पिबेत्क्वाथं कफोद्रेके कासे श्वासे च हृद्ग्रहे ॥—चक्रदत्त

न्यूमोनिया के रोगी को सर्वप्रथम स्ट्रेप्टोमायसीन आधा ग्राम तथा प्रोकेन पेनिसिलीन १ लाख यूनिट की एक सुई (डाईक्रिस्टीसीन या बिस्ट्रापैन या स्ट्रेप्टोपेनिसिलीन) पेशी में दी जानी चाहिए। जिनको पेनिसिलीन से प्रतिक्रिया होती हो उनको औक्सीट्रैट्रासाइक्लीन (टैरामायसीन, औक्सीस्ट्रिक्लीन) का तैलीय इञ्जेक्शन २ मि. लि. का लगा देना चाहिए। कैपसूल से भी टैरामायसीन या अन्य औक्सीटैट्रासायक्लीन की ड्रैंगी २५० मिलीग्राम हर ६ घण्टे पर या ५०० मिलीग्राम हर १२ घण्टे पर देना चाहिए। बच्चों को मिस्टैक्लीन वी इम्प्रूब्ड पीडियाट्रिक ड्राप्स ४ से १० बूंद तक भार के अनुसार हर ४ से ६ घण्टे पर देते हैं। छाती पर सभी रोगियों को विक्स मलते हैं या विक्स वैपोरब की भाप देते हैं।

सितोपलादि चूर्ण १ माशा, शृङ्गभस्म २ रत्ती, तृसार १ रत्ती, अभ्रकभस्म १ रत्ती, लघुकस्तूरीभैरव १ रत्ती, कफकेतु १ रत्ती मिलाकर २ मात्राओं में ६-६ घण्टे पर अदरक के रस और पान के रस में देते हैं। बल कम हो रहा हो तो इसमें सिद्धमकरध्वज १ रत्ती और मिलाते हैं।

अधिक सावधानी से बुद्धिमत्तापूर्वक चिकित्सा की जानी चाहिए। यदि गम्भीर लक्षण दिखाई दे और कफ ने मार्ग रोकने का यत्न किया हो तो सक्शन द्वारा कफ का आहरण करते हैं। कोरामिन (निकैथेमाइड) देते हैं। गम्भीर रोगियों को योग्य चिकित्सार्थ बड़े अस्पताल में भेजना या अन्य चिकित्सक से परामर्श लेना भी आवश्यक होता।

★★

उरस्तोय (कांस्य या क्रोड) प्लूरिसी

भिषक्शिरोमणि श्री पं० अम्बालाल जोशी वैद्य, जोधपुर (राज०)



भारतीय परिवेश में सदा मण्डित, स्मित-वदन, उत्साहपूर्ण वातावरण के सर्जक, विद्वद्वृन्द समादृत, श्री पं० अम्बालाल जोशी, जोधपुर के प्रतिष्ठित वैद्य हैं, जो श्रेष्ठ चिकित्सक तथा योग्य संगठक हैं। पत्रकार और साहित्यकार तो आप एक युग से हैं। आपके लेखों में काफी नया और पुराना मसाला रहता है जिसे वे बड़े परि-श्रम से अपने व्यस्त जीवन में से समय निकाल कर प्रस्तुत करते हैं। सुधानिधि पर उनकी कृपा सतत रहती है और वे पाठकों में बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त किये हुए रहते हैं। इस क्षेत्र में उन का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत विशेषांक हेतु उन्होंने श्वसनसंस्थान के सर्वाधिक जटिलरोग प्लूरिसी को चुना है।

---गोपालशरण गर्ग

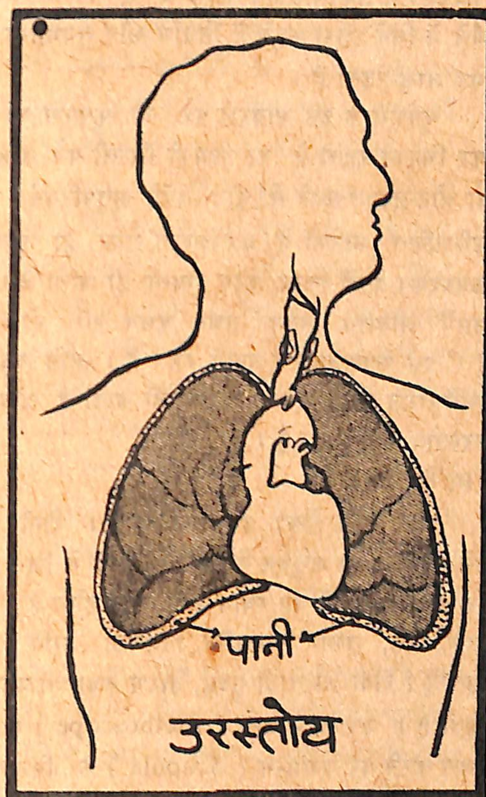
मेरे एक परिचित व्यक्ति मेरे औषधालय में आये। बातों में उन्होंने बताया कि उन्हें Wet प्लूरिसी होगई है और नगर के अमुक सुप्रसिद्ध डाक्टर की चिकित्सा चालू है। उन्होंने पानी निकालने का परामर्श दिया है। मैंने उन्हें कहा कि डाक्टर साहब से निवेदन करें कि देशी उपचार से यह पानी (प्लूरा) सूख सकता है और मैंने उनसे एक माह की अवधि प्लूरा सुखाने के लिये माँगी है। रोगी वहां से चला गया। आगामी दिन वह डाक्टर साहब से मिलकर लौटा तो उसने डाक्टर साहब का उत्तर बतलाया "फिर हम यहां किसलिये हैं" डाक्टर साहब का

तात्पर्य था कि प्लूरिसी जैसे जटिल रोगों की चिकित्सा के लिये ही तो हमारी उपयोगिता है।

वास्तव में किसी हद तक यह बात ठीक भी है, हो सकती है परन्तु इसके अपवाद के अवसर भी आते हैं। यदि रोग सर्वथा शल्य साध्य नहीं हो गया हो तो आयुर्वेद की काय चिकित्सा और औषधियां इस रोग पर विजय प्राप्त कर सकती हैं। मेरी चिकित्सा में अनेक रोगी आये हैं जिनके प्लूरा का पानी सूख कर विलीन हो गया।

आर्ष ग्रन्थों में उरस्तोय या फुफ्फुसावरण शोथ का उल्लेख नहीं है। संभवतः उस समय इस रोग का प्रचलन न हो। कालान्तर में माधवनिदान के परिशिष्ट भाग में तथा भैषज्यरत्नावली में इसका निदान तथा चिकित्सा लिखी गई है। ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि विषम ज्वर, अतीसार, प्रवाहिका, प्लीहावृद्धि, पाण्डुशोथ, अर्बुद, हृदय-रोग, उदररोग, यकृत्दोष, वृक्करोग आदि की जीर्ण अवस्था में उरस्तोय नामक विकार उपद्रव रूप में हो जाता है। बाह्य आघात तथा अन्य आगन्तुक कारण आदि द्वारा कीटाणु फुफ्फुसावरण में जाकर इस रोग को पैदा कर देते हैं। फिरंग आदि रोगों के फलस्वरूप भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है न्यूमोनिया और क्षय रोग से इस रोग का निकट सम्बन्ध है।

भैषज्यरत्नावली में शीत लगने से, छाती पर चोट लगने से—ज्वर, मंथर ज्वर, सन्निपातिक ज्वर, राजयक्ष्मा, अन्य विविध प्रकार के फुफ्फुस रोग, जैसे श्वसनक ज्वर Pneumonia श्वास (ऐस्थमा) यकृत्रोग के कारण उत्पन्न हुए पाण्डु एवं शोथ के कारण तथा अन्य ऐसे कारणों को इस रोग के उत्पादक कारण माने हैं। सर्वप्रथम फुफ्फुसावरण शोथ होता है फिर फुफ्फुस में तरल भरकर उरस्तोय बन जाता है। कभी-कभी शोथ स्वतः ही या औषधि उपचार द्वारा धीरे-धीरे कम पड़ता जाता है और रोगी स्वस्थ हो जाता है या रोग आगे नहीं बढ़ता। परन्तु कभी-कभी रोग आगे बढ़ता रहता है और फुफ्फुसावरण में पीले रंग का, श्वेत रंग का या लालिमा लिये श्वेत रंग का जैसा भी अवसर हो पानी भर जाता है। इसके लक्षणरूप तीव्र ज्वर होने लगता है।



शारीर—

इस रोग के पूर्व में फुफ्फुसावरण शोथ होता है कालान्तर में फुफ्फुस के पार्श्व की आवरण कला के एक भाग में या इससे अधिक भाग में तरल पदार्थ भर जाता है। रोग की उग्रता अथवा मन्दता इस तरल की मात्रा पर निर्भर है। दोनों पार्श्वों में जल संचित होने से मृत्युभय रहता है। यूनानी मत भी इस रोग में सुस्पष्ट नहीं है।

मानवदेह में दो फुफ्फुस हैं उनका काम श्वास प्रश्वास क्रिया को स्पष्ट करना है। ये श्वास द्वारा वायु को ग्रहण कर प्रश्वास द्वारा छोड़ते हैं। दोनों फुफ्फुस एक श्लैष्मिक झिल्ली से आवृत रहते हैं। यह आवरण फुफ्फुसों की रक्षा करता है। इस आवरण की झिल्ली द्वारा दोनों फुफ्फुस दोनों ओर से सुरक्षित रहते हैं। दाहिना फुफ्फुस कुछ चौड़ा और भारी तथा बांया कुछ लम्बा। यह दाहिने से कुछ हल्का होता है। फुफ्फुस स्निग्धनरम तथा मृदु होते हैं। फुफ्फुस में अनन्त वायुकोष होते हैं जिनमें वायु भरी रहती है।



फुफ्फुसों में संकोच प्रसार का कार्य प्लूरा के दो पर्तों वाले थैले में जिसे प्लूरा कहते हैं निर्वाध और सुगमतया जीवन भर चालू रहता है।

फुफ्फुस के इस आवरण पर जो फुफ्फुस की सतह पर चिपका रहता है या उसकी झिल्ली पर बाह्याघात या चोट-झटका लगने से शीत, सर्दी, ऋतुपरिवर्तन आदि उल्लिखित कारणों से यह झिल्ली क्षुब्ध हो जाती है। फलस्वरूप इसमें प्रदाह, शोथ उत्पन्न हो जाता है। इससे उसमें अतिशय वेदना तथा चुभन सी हो जाती है। इसे फुफ्फुसावरण प्रदाह कहते हैं। आगे बढ़ने पर इसमें तरल पदार्थ भरना प्रारम्भ हो जाता है और इसे उरस्तोय कहा जाता है।

रोग के लक्षण—

उरस्तोय में ज्वर प्रधान लक्षण है। रोगी श्वास लेने पर कष्ट का अनुभव करता है। पार्श्व में जिस स्थान पर तरल संचित है वह स्थान ऊपर उठा होता है। पीड़ा, शुष्क, कास, तृष्णा, मन्दाग्नि, निर्बलता आदि लक्षण रहते हैं। रोगी की नाड़ी सूक्ष्म, तीक्ष्ण तथा शीघ्रगामिनी रहती है। उरःप्रेक्षण यन्त्र (Stethoscope) से शब्द श्रवण करने पर असास्थि (Scapula) के निम्न कोण पर एक या आधा इंच स्थल पर शुष्क प्लूरिसी में घर्षण (Friction) शब्द सुनाई देता है। उरस्तोय के स्थान पर फुफ्फुस में कोई आवाज सुनाई नहीं देती। फुफ्फुस की संकोच विकासात्मक गति कुछ मन्द रहती है क्योंकि फुफ्फुस तरल बोझ से दबा रहता है। तरल संचित स्थान पर ठेपण क्रिया करने से शब्द मन्द आता है। अधिक तरल एकत्रित हो जाने से फुफ्फुस की संकुचन विकासात्मक शक्ति सर्वथा नहीं रहती है। सूखी प्लूरिसी में रोगी को काम करते ही शूल का अनुभव होता है अतः वह काम करना नहीं चाहता तथा काम को रोकने का प्रयास करता है।

इस रोग के निदान तथा लक्षणों का स्पष्ट अध्ययन करने के लिये आधुनिक मत का अवलोकन करना आवश्यक है। इस मत से फुफ्फुसों का शोथयुक्त होना प्रधान लक्षण है। यह प्रायः राजयक्ष्मा के जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होता है। युवा आयु वालों को अधिक होता है। ये कीटाणु पहले नीचे के भाग में चिपकते हैं वहां शोथ उत्पन्न करते हैं। इसके दो भेद हैं। (१) शुष्क (Dry) प्लूरिसी तथा तरल प्लूरिसी (Wetpleurisy) सूखा प्रकार आरम्भिक प्रकार है। कुछ समय बाद उसमें तरल भरना आरम्भ हो जाता है। जब तरल थोड़ा व जल्दी जमने वाला हो तो जमकर तन्तुमय फुफ्फुसावरण प्रदाह हो जाता है। इसका समावेश शुष्क फुफ्फुस प्रदाह में होता है। इसमें बाहरी दीवार के भीतरी भाग में कभी सब जगह या कभी एक जगह शोथ हो जाता है। इससे नसें व वाहिनियां फट जाती हैं। लचीली धातु की मात्रा थोड़ी होकर उसमें जमने की शक्ति ज्यादा होती है। अतः वह बहकर ऊपरी तह पर जम जाती है। उसमें लाल कणिकायें, श्वेत कणिकायें और आवरण के कटे लच्छे फंस जाते हैं। यह तन्तुमय अवस्था है। इसमें ऊपर की सतह चिकनी चमकदार, रूखी होकर खरखरी हो जाती है।

तरल प्रकार में लसीका की मात्रा अधिक तथा तन्तु की मात्रा कम होती है यह दोनों अवस्थाओं में होना संभव है यानी प्रारम्भिक अवस्था में तथा तदनन्तर भी इसमें द्रव की मात्रा अधिक होती है। इस रोग की चिकित्सा करते समय हमें कुछ रोगियों पर सफलता प्राप्त हुई उसका विवरण हम नीचे प्रस्तुत करेंगे परन्तु प्रसंगवश इसकी एलोपैथिक चिकित्सा भी अति संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं। तरल अवस्था में सूचिका द्वारा तरल निकाला जाता है परन्तु एक ही बार सम्पूर्ण तरल नहीं निकाला जाता। आधा-आधा कर तीन चार बार में तरल निकाला जाता है। तरल निकालते समय यदि रोगी को अधिक पीड़ा या घबराहट आदि का भय हो तो उसे निकालना बन्द कर देना चाहिए तथा कालान्तर में फिर निकालने का प्रयास करना चाहिए। महर्षि सुश्रुत द्वारा बताये गये त्रिकूचर्क शस्त्र से भी यह क्रिया संभव है परन्तु यह लघुहस्त शल्य चिकित्सक द्वारा की जानी चाहिये।

आयुर्वेदीय चिकित्सा में इस रोग में कफनाशक, मूत्र प्रवर्तक औषधि देनी चाहिये। शुष्क फुफ्फुस प्रदाह के लिये वृहद् शृंगाराभ्र रस, शृंगभस्म अभ्रकभस्म आदि अकेले या मिश्रण कर वासा स्वरस के साथ दिया जाता है। साथ में पुनर्नवासव, पुनर्नवा स्वरस यवक्षार मिलाकर

पुनर्नवाष्टक क्वाथ देवें। कासाधिक्य होने पर तालीसादि चूर्ण (चरक) का प्रयोग करें। पीड़ा शान्ति के लिये राई का प्रलेप करें। दशांग लेप किया जा सकता है। वेदना शामक औषधि भी दी जा सकती है। अधिक प्यास लगने पर तृष्णाहर औषधि सृत जल देना चाहिये।

प्रयोग—

तरल उरस्तोय के लिये निम्न प्रयोग उद्धरित किये जा रहे हैं—

(१) षड्गुण बलि जारित मकरध्वज १० ग्राम, महालक्ष्मीविलास रस १० ग्राम, सु. यु मृगश्रृंगभस्म १० ग्राम, कफकेतु रस १० ग्राम, सबको मिलाकर खरल कर मिश्रण कर ले। मात्रा १-१ रत्ती आर्द्रक स्वरस, तथा शहद के साथ। दिन में चार बार। वै. शा. ही. शास्त्री।

(२) शुद्ध पारद तथा शुद्ध आंवलासार गन्धक को समान भाग लेकर कज्जली बना लें फिर शतपुटी अभ्रक सत्वभस्म, शतपुटी नागभस्म, सोमनाथी ताम्रभस्म, रससिन्दूर (शिगरफ) लौहभस्म शतपुटी समान भाग। सबको थूहर के दूध में तथा जम्बीरी स्वरस, वासापत्र स्वरस, चित्रक क्वाथ, करवीरपत्र स्वरस, दन्तीमूल स्वरस, कृष्णामिरच क्वाथ, कुचला क्वाथ, की ४-४ भावना दें। फिर टिकिया बनाकर सुखाकर शराब सम्पुट करें। बालुकायन्त्र में ३ प्रहर अग्नि दें। शीतल होने पर खरल करलें।

फिर त्रिकटु या षड्षण, बच, शु. विष, हरिद्रा ४-४ माशा मिलाकर अदरस स्वरस में वटी बनावें १-१ रत्ती की। मात्रा १-२ बटी, अनुपान—शहद अदरक स्वरस।

(वै. बी. एस)

(३) अभ्रकसहस्त्रपुटी, चन्द्रोदय, मुक्ताभस्म, स्वर्णभस्म, बृहद् शृंगाराभ्र रस, शृंगभस्म समान मात्रा लेकर खरल करें। मात्रा २ रत्ती अनुपान तुलसीपत्र मधु सह (संशोधित)।

(४) पंचसूत रस इस रोग में उपयोगी है।

(५) सुधानिधि रस (भैषज्य रत्नावली)।

(६) **क्वाथ**—बादाम पेटी का ५० ग्राम, काली जीरी १२ ग्राम, रजनी २५ ग्राम, वासापत्र (श्याम) ५० ग्राम यह क्वाथ स्वयं में अथवा अनुपान रूप में लाभदायक है। (हमारा अनुभूत है)

(७) पिप्पलीमूल चूर्ण मात्रा ३ ग्राम दूध के साथ देना लाभदायक है। इसमें पथ्य केवल दूध ही देवें।

एक रोगी जिसको प्लूरिसी थी। केवल यही चूर्ण दिया गया इससे १ मास में पानी सूख गया। तरल की मात्रा भी पर्याप्त थी। पूर्व X-ray भी लिया जा चुका था। तरल सूख कर रह गया। पुनः X-ray लेने पर यह बताया गया कि तरल तो सूख गया परन्तु एक हार्डबोर्ड जैसी पपड़ी जमी हुई है जो शल्य क्रिया के बिना हटनी सम्भव नहीं। परन्तु कुछ दिन बाद यह बताया गया कि पपड़ी में Creck (तेड़ें) आ गई हैं और वह टूट रही है। थोड़े दिन औषधि के प्रयोग से पपड़ी विलीन हो गई और रुग्णा स्वस्थ थी।

इसी प्रकार क्वाथ का प्रयोग भी हमने अन्य रसों के साथ तथा अलग भी किया और लाभ पाया। शुष्क उरस्तोय में तो बृ० शृङ्गाराभ्ररस उत्तम कार्य करता है। इसके साथ अन्य समान धर्मी औषधियां दी जा सकती हैं।

इस रोग के प्रगट होते ही रोगी को चारपाई पर गद्देदार बिस्तर लगाकर आराम से लिटा देना चाहिये। रोगी के लेटने के कमरे में वायु का आवागमन नियमित होता रहना चाहिये। छाती पर गर्म वस्त्र लपेट कर रखना अनिवार्य है। आवश्यकता होने पर अलसी की पुल्टिस का हल्का सेक करें। टिंचर आयोडीन तथा अन्य तत्सदृश औषधियां आयोडेक्स लिनिमेन्ट केम्फर तैल, यूकलिप्टिस तैल की मालिश हल्की-हल्की करें।

पथ्य में द्रवपदार्थों का सेवन अधिक रखें। दूध, साबूदाना, अंगूर का रस, पौष्टिक सुपाच्य एवं मूत्रल आहार दिया जाय। पीने के लिये हर समय गर्म जल दिया जाय। थोड़ा रोगी ठीक होने पर दलिया, थूली, खिचड़ी दी जा सकती है।

अपथ्य—शीतल जल, शीत वायु, दही, कफवर्धक पदार्थ का बलपूर्वक त्याग करना चाहिये।

इस रोग से रोगी को निवृत हो जाने के बाद भी एक वर्ष पर्यन्त पथ्य का सेवन किया जाय। आहारविहार दोनों ही नियमित रखे जावें। स्त्री-प्रसंग, मार्गगमन, अधिक श्रम, शीतल जलपान, दिवास्वाव, निरन्तर स्नान, क्रोध, वाक् विवाद, संगीत तथा मुखवाद्य (बांसुरी



आदि बजाना) सर्वथा त्याग दें। अन्यथा ऐसे व्यक्ति का या तो यक्ष्मा का दौरा प्रारम्भ हो जाता है या वह पुनः इसी रोग से पीड़ित होकर ग्रसित हो जाता है।

इस लेख में उपरोक्त प्रयोग पूर्ण अनुभूत हैं तथा निरापद भी हैं। पाठक रोगियों पर इनका प्रयोग नि शंक होकर कर सकते हैं। अन्त में यहां यह लिख देना आवश्यक है कि उरस्तोय का रोग अपनी प्रारम्भिक अवस्था में औषधि द्वारा सुचिकित्स्य है। परन्तु रोग की उग्र अवस्था में जब जल अधिक संचय हो जाता है तब तरल निष्कासन ही उपयुक्त उपचार है इसके साथ ही तरल की वृद्धि को रोकने के लिये यह औषधियां प्रयोग में ली जा सकती हैं। यहां यह भी लिख देना आवश्यक है कि मैंने अपने रोगियों का तरल नहीं निकलवाया औषधि सेवन कराकर ही विलीन किया। आशा है पाठक इससे लाभ उठावेंगे।

फुफ्फुसावरण शोथ और आधुनिक उपचार

हमारे फुफ्फुस दो पर्त वाले एक श्लेष्मल थैले के अन्दर बन्द रहते हैं। इस थैले का एक पर्त पसलियों के पिंजड़े के अन्दर की दीवाल के साथ चिपका रहता है और दूसरा फुफ्फुसों की बाहरी दीवाल पर चिपका रहता है। बाहरी पर्त को पैरायटल लेयर और फैफड़ों पर चढ़े हुए पर्त को विसरल लेयर कहा जाता है। दोनों को क्रमशः परिसरीय पटल तथा कोष्ठांगीय पटल नाम भी दिये जा सकते हैं। दोनों पटलों के बीच एक सूक्ष्म अवकाश होता है और वे एक चिकने पदार्थ से सुचिक्कण रखे जाते हैं ताकि फैफड़ों के फैलने सिकुड़ने की क्रिया अबाध गति से जन्म से मृत्युपर्यन्त चलती रहे।

जब इन पटलों में से किसी में कोई जीवाणु या बाह्य वस्तु प्रवेश करती है तो वहां फ्रिक्शन उत्पन्न हो जाता है। दोनों की रगड़ में यह वस्तु बाधक बनती है। इसके कारण वहां पीड़ा उत्पन्न होती है। फैफड़ों के फैलने और सिकुड़ने के कारण जो क्षण-क्षण पर घर्षण होता रहता है उससे यह पीड़ा और भी बढ़ जाती है। रोगी पार्श्वशूल से चिल्लाने लगता है, उसे श्वास लेने में कष्ट उत्पन्न हो जाता है इस कारण वह डर-डर कर धीरे-धीरे श्वास लेने लगता है। श्वासकष्ट, उथली श्वास और छाती में पीड़ा ये ३ लक्षण शुष्क प्लूरिसी में पाये जाते हैं। जो वस्तु इन पटलों के बीच आकर शुष्क प्लूरिसी उत्पन्न करती है वह कोई जीवाणु होता है। रोगकारक जीवाणु जो फैफड़ों में रोग उत्पन्न करता हुआ यहां तक पहुंच जाता है। फैफड़े, छाती का मध्यभाग, उरः प्राचीर, उदर का ऊर्ध्वभाग, कहीं भी उपसर्ग हो वह प्लूरा (फुफ्फुसावरण) तक पहुँच सकता है। राजयक्ष्मा, सभी प्रकार के न्यूमोनिया, उरःक्षत, उरःक्षेत्र में पूयसंचय, फैफड़ों का कैंसर, मध्य उरस् की लसग्रन्थियों का शोथ, परिहृत्कलापाक, पसली या पर्शुकास्थि का पाक, यकृत्विद्रधि, महाप्राचीरापेशी के नीचे की विद्रधि, पर्शुकास्थि का टूटकर प्लूरा को आघातयुक्त करना या किसी विषाणु का प्लूरल-कैविटी में प्रवेश वे कारण हैं जो प्लूरिसी को पैदा करते रहते हैं।

उपसर्ग या प्रक्षोभ के कारण प्लूरा के पटलों पर एक स्राव उत्पन्न होने लगता है जो वहां अधिरक्तता पैदा कर देता है और इन पटलों की चमक दमक को खतम कर देता है। इस स्राव के कारण दोनों पटलों में संसक्ति (adhesion) भी हो सकती है। या वहां तरल बनने और संचित होने लगता है। इस स्थिति को उरस्तोय या प्लूरल ऐफ्यूजन (Pleurae Effusion) कहते हैं। इसी तरल में यदि पूयजनक जीवाणुओं ने प्रवेश कर लिया तो यह पूय में भी परिणत हो जाता है जिसे ऐम्पायमा थोरेसिस उरःपूय कह सकते हैं।

न्यूमोनिया के कारण बनी हुई प्लूरिसी या तो शुष्क रहती है या पूययुक्त हो जाती है। राजयक्ष्मा के उपसर्ग के कारण उत्पन्न प्लूरिसी उरस्तोय का प्रायः रूप ले लेती है। यक्ष्माजन्य उरस्तोय (ट्यूबर्क्युलस प्लूरिसी) का जल कभी-कभी बिल्कुल सूख जाता है। पर यदि किसी दुर्दम अर्बुद के कारण प्लूरिसी बनी है तो उसका जल कभी सूखने नहीं पाता। एक बार सूख कर फिर संचित हो जाता है और आजीवन रोगी को परेशान रखता है।

शुष्क प्लूरिसी को कुछ ग्रन्थकार फाइब्रिनस प्लूरिसी भी कहते हैं। इसमें सूखी खांसी, छाती में दर्द, उथला श्वसन ये ३ लक्षण खासतौर पर मिलते हैं। श्रवण

परीक्षा पर फैफड़ों में एक घर्षणध्वनि मिलती है जिसे **प्लूरलरब** (Pleuralrub) कहते हैं। शुष्क प्लूरिसी किस कारण हुई है उसकी खोज चिकित्सक को करनी चाहिए, ये कारण ३ हो सकते हैं—

i. राजयक्ष्मा (Tuberculosis)
ii. कैंसर (Carcinoma)
iii. उरःक्षत (Bronchiectasis)

ऐक्सरे से इनका पता लग जाता है। ऐक्सरे चित्र यदि नास्त्यात्मक हो तो प्लूरिसी नहीं है ऐसा नहीं माना जा सकता।

शुष्कफुफ्फुसावरण शोथ का बाह्य और आभ्यन्तरिक दो प्रकार का उपचार होता है। बाह्य में गर्म पानी की बोतलों से सेंक, उपनाह (पुल्टिस) लगाना तथा दर्द वाले भाग पर ३ इन्च चौड़े अधीजिव प्लास्टर की पट्टी एक के ऊपर एक चढ़ाते हुए लगाकर फैफड़े के दर्द वाले भाग की क्रिया या गति घटा देना या दर्द बन्द करने के लिए इण्टरकॉस्टलनर्व का ब्लाक करना पड़ सकता है। पर इसका उपयोग अस्पताल में ही करना चाहिए। इसकी आवश्यकता भी केवल कैंसर के कारण होने वाली शुष्क प्लूरिसी में पड़ती है। उस स्थिति में नर्व ब्लाक के लिए प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड २% या एब्सोल्यून अल्कोहल की आवश्यकता पड़ती है।

शुष्कप्लूरिसी में औषध द्रव्यों का प्रयोग वेदना शमन के लिए और कास दूर करने के लिये किया जाता है। वेदना या पार्श्वशूल दूर करने के लिए यदि दर्द भयंकर हो तो ५०–१०० मिलीग्राम पैथीडीन मुख द्वारा या पेशी में इन्जेक्शन द्वारा देते हैं। केवल ऐस्प्रो भी देते हैं। दर्दहर, अवेदन, कोडीन की गोलियां, सैरीडोन आदि देते हैं टैंडरिल का प्रयोग भी किया जाता है। खांसी दूर करने के लिए सीरप कोडीन फास्फेट, ग्लायकोडीन टर्प वसाका, चैस्टन, बैनाड्रिल ऐक्सपैक्टोरेंट आदि आवश्यकतानुसार दे सकते हैं।

जब शुष्कप्लूरिसी कुछ दिन चलती रहती है तब वहां तरल उत्पन्न हो जाता है। कभी–कभी सीधे तरल युक्त प्लूरिसी ही बनती है। तरल प्लूरिसी में ज्वर बराबर बना रहता है। यक्ष्माजन्य उरस्तोय में ज्वर एक अवश्यंभावी लक्षण होता है। ज्यों–ज्यों तरल बढ़ता जाता है, फैफड़ा संकुचित होता जाता है जिससे श्वासकृच्छ्रता (Dyspnoea) बढ़ जाती है। आरम्भ में परिश्रम करने पर श्वासकृच्छ्रता बढ़ती है। बाद में यह बराबर बनी रहती है। इस रोग का निदान क्ष–किरण चित्रण से होता है।

उरस्तोय में श्रवणयन्त्र से सुनने पर श्वास-प्रश्वास की आवाज मन्द या बिल्कुल ही नहीं सुनाई देती। हृदयाग्र का शब्द अपने स्थान से हटा हुआ सुना जाता है। परिताड़न करने पर जलीय क्षेत्र बहुत मन्द ध्वनि करता है, उसके ऊपर ध्वनि तेज होती है।

राजयक्ष्माजन्य उरस्तोय में प्रतिदिन शाम को ज्वर १०१ से १०३° फै. तक चढ़ता है, शरीर से प्रस्वेद निकलता है। भूख गिर जाती है। रक्त की परीक्षा करने पर श्वेतकण प्राकृत संख्या में ही रहते हैं जबकि न्यूमोनिया में या न्यूमोनियाजन्य उरस्तोय में इनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है। यक्ष्माजन्य उरस्तोय के तरल में ४ प्रतिशत प्रोटीन मिलती है उसका विशिष्ट घनत्व १०१८ होता है। इसमें कोशिकाएं लिम्फोसाइट्स होती हैं जबकि न्यूमोनियाजन्य प्लूरिसी में वे पॉलीमार्फोन्युक्लियर होती है। दुर्दम अर्बुदजन्य उरस्तोय ४० वर्ष से ऊपर की आयुवालों को मिलता है। इसमें तरल बहुत अधिक होता है तथा उसके कारण श्वासकृच्छ्रता भी बहुत अधिक होती है। तरल सरक्त होता है जिसमें कैंसर कोशिकाएं मुण्डों में पाई जाती हैं जिन्हें विशेष रंजन पद्धति से जाना जाता है।

उरस्तोय की चिकित्सा उसी आधार पर की जानी चाहिए जिस पर शरीर की अन्यश्लेष्मलकलाओं में जल के संचय की (जलोदर, जल मस्तिष्क, जल हृदय) की जाती है। अर्थात् अग्निसंदीपक, जलशोषक, बल्य एवं हृद्य चिकित्सा।

इस दृष्टि से आरोग्यवर्द्धिनी गुटिका का प्रयोग सर्वोत्तम रहता है। इसमें निम्बपत्र का प्रयोग जीवाणु नाशक है। गुग्गुल वात और वेदनाहर है। कटुका हृद्य, जलनिर्हरण करने वाली, शोथनाशक और भेदन है। शिलाजीत बल्य और ओजोवर्द्धक है। लोह और ताम्र रक्तवर्द्धक और जलसंशोषक हैं। अन्य द्रव्य अग्निवर्द्धक एवं बल्य हैं। यह जलोदर, पैरिकार्डाइटिस विद ऐफ्यूजन



संधियों और मस्तिष्क की कलाओं में संचित तरल को भी कम करती हैं। उरस्तोय के लिए भी उत्तम है। इसे रोगकारण के अनुसार और लक्षणोपशम की दृष्टि से इस प्रकार के योग के रूप में दे सकते हैं—

आरोग्यवर्द्धिनी ३ रत्ती, शृङ्गभस्म ३ रत्ती, रुदन्ती या कैपिना ३ गोलियां, स्वर्णवसन्तमालती ३ रत्ती, कनक बीज चूर्ण १ रत्ती की ३ मात्रा बनालें। ८-८ घंटे पर एक एक मात्रा दूध के साथ दें। राजयक्ष्मा हो तो स्ट्रैप्टोमायसीन १ ग्राम प्रतिदिन का इन्जैक्शन तथा ३०० मिलीग्राम आइसोनैक्स प्रतिदिन देते रहें। न्यूमोनिया हो तो स्ट्रैप्टोपेनिसिलीन आधा ग्राम का इन्जैक्शन दें। इन इन्जैक्शनों में बीकम्प्लेक्सफोर्ट बी१२ तथा कॉलोयड कैल्शियम क्रमशः १, ०.५, १.५ मिली लिटर कभी-कभी मिलाकर दें। कैंसरजन्य उरस्तोय में हीराभस्म पाव रत्ती या वैक्रान्त, माणिक्य, नीलम भस्म पाव-पाव रत्ती उपर्युक्त नुस्खे में और मिलाते हैं या वारिशोषण रस हीरा युक्त ठीक बनाया हुआ १ रत्ती मिलाकर दें। जल और नमक न दें या बहुत कम दें। कस्तूरीभैरव, मृगमदासव या कस्तूरीयुक्त दशमूलारिष्ट का प्रयोग भी किया जा सकता है।

यदि इन उपायों से जल न घटे और बढ़ता ही जाय तो एक शुद्ध बड़ी सिरिंज में लम्बी सुई लगाकर उसे जल संचय के स्थान पर दो पर्शुकाओं के बीच डालकर जल खींचते रहते हैं, जब तक कि पूरा जल न निकल जाय। रोगी को बिठाकर या लिटाकर इस प्रकार रखते हैं कि जल आसानी से निकल जावे। इससे रोगी की श्वासकृच्छ्रता घट जाती है और उसे आराम मिलता है। जल-निर्हरण क्रिया अनुभवी चिकित्सक द्वारा ही कराई जानी चाहिए तथा उसके कारण होने वाले उपद्रव यदि कोई हों तो उन्हें दूर करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

रोगी को चाय, दूध, फलों का रस, अण्डा दे सकते हैं। केवल दूध और फलों के रस पर भी रख सकते हैं। अकेली आरोग्यवर्द्धिनी १ रत्ती से १० रत्ती तक बढ़ाते हुए दुग्धाहार पर कल्प करा सकते हैं।

उरःक्षत या ब्रांकिऐक्टैसिस

उरःक्षत, इसमें छाती में फोड़ा हो जाता है। अधिक बेतहाशा परिश्रम और जोर लगाने से फैफड़ों में वातायन खिंचकर फैल जाते हैं और सिकुड़ते नहीं। इनके बड़े अवकाशों में तरल संचित होकर जम जाता है जिसमें पूयजनक जीवाणु संवर्धित होकर गाढ़ा बदबूदार रक्तयुक्त कफ निकालते हैं—

दुष्टः श्वावः सदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः।
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्तते॥

इस व्याधि का शब्दचित्र चरक ने इन शब्दों में दिया है—

उरो विभज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विरुज्यते।
प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते॥
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिराग्निश्च हीयते।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदाग्निवधावपि॥
स क्षती क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसो क्षयात्।

रोगी का बल वर्ण अग्नि बराबर क्षीण होते रहते हैं। मनोदौर्बल्य (न्यूरैस्थीनिया) पार्श्वशूल, सरक्त दुर्गन्धित ग्रथित कफ का सवेरे सवेरे बड़ी मात्रा में निकलना, खाँसी, ज्वर कम्पन और अंगशोष हाथी से शरीर को बकरी बना देता है। अन्य असाधारण लक्षण ये हैं।—

उरोरुक्शोणितः च्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते।
क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटीग्रहः॥

निरन्तर धातु क्षय से वात प्रकोप होकर विविध शरीरांगों में शूल, हड़फूटन और श्वास का फूलना पाया जाता है। क्ष-किरण द्वारा चित्र लेने पर छाती में व्रणस्थान देखा जा सकता है। प्रयोगशाला में कफ के अन्दर सूत्र और रक्त मिलता है।

चिकित्सा में रोगी को ऐसी स्थिति में रखना चाहिए कि कफ आसानी से निकल जाय अधिक खांसना न पड़े। क्योंकि कफ रुकने से ज्वर, उलटी आदि विषरक्तता के लक्षण और बढ़ते हैं। कभी कभी जब निचले फुफ्फुसखण्ड में गह्वर होता है तब रोगी को खाट की पाटी के नीचे लटकाकर हाथों को जमीन पर टिका कर उलटा सा करके कफ निकलवाते हैं। ऐसा एक बार में ५ से १० मिनट ही करना चाहिए। बाद में शक्ति आने पर २०-३० मिनट तक दिनरात में ३ बार तक कराते हैं। ऊपरीखण्ड में गह्वर होने पर पहले सीधे बैठकर और बाद में करवट से लेटाकर कफ निकलवाते हैं। जब कफ मार्गों को रोकने लगे तो ब्राँकोस्कौपिक आचूषण यन्त्र का प्रयोग भी किया जाना चाहिए, यदि उपयोग करना आता हो तो।

सुधानिधि



अखिल रोग चिकित्सांक

रक्तोत्पादक अंगों के रोग

परिसरीय रक्त-परीक्षण और रक्त-घटकों का प्राकृतमान

●

परिसरीय रक्त में रक्त के प्राकृत मान निम्नांकित रहने चाहिए—

हीमोग्लोबिन—पुरुष में-१०० से ११० प्रतिशत (१४.८ ग्राम प्रति १०० मि० लि० रक्त का १०० प्रतिशत होता है)।

स्त्री में—९५ से १०५ प्रतिशत।

लालकण—पुरुष-५० लाख से ६० लाख प्र० घ० मि० मी०।

स्त्री-४५ लाख से ५५ लाख प्र० घ० मि० मी०।

रैटिक्युलोसाइट्स—१ प्रतिशत तक।

कलरइण्डैक्स—०.९ से १.०९ तक।

मीन सैल वौल्यूम (M. C. V.)—७८ से ९४ क्यूबिक माइक्रोन्स।

पैक्ड सैल वौल्यूम (P. C. V.)—पुरुष-४० से ५४ प्रतिशत।

स्त्री-३६ से ४७ प्रतिशत।

मीन सैल व्यास—७.२ म्यू।

मीन कार्पस्क्युलर हीमो. कंसेंट्रेशन (M. C. H. C.)—३२ से ३८ प्रतिशत।

श्वेतकण

सकल गणन—५ हजार से १० हजार तक।

मैटामायलोसाइट्स—४ प्रतिशत।

बहुन्यष्टि या न्यूट्रोफिल या कणात्मक कोशिका—६० से ७० प्रतिशत।

क्षारीय (बेसोफिल) कणात्मक कोशिका—० से १ प्रतिशत।

उषसिप्रिय (ईओसिनोफिल) कणात्मक कोशिका—१ से ४ प्रतिशत।

लसीकोशिकाएं (लिम्फोसाइट्स)—२५ से ३५ प्रतिशत।

एकन्यष्टि (मोनोसाइट्स)—४ से ८ प्रतिशत।

बिम्बाणु (प्लेटलैट्स)—ढाई लाख से ५ लाख तक।

रक्तक्षय या अनीमिया

आयुर्वेदबृहस्पति श्री मोहरसिंह वैद्य, स्थान–मिसरी
पो० चरखीदादरी, जिला भिमानी (हरियाणा)

आयुर्वेद-जगत् में अपने अध्यवसाय और व्यवसायात्मिका सद्बुद्धि का उपयोग करके श्री मोहरसिंह वैद्य ने अपना गौरवपूर्ण स्थान बना लिया है। आपने सुधानिधि के अमृतघट को अपने पीयूषबिन्दुओं से भरने में विद्वज्जनमण्डित सुधानिधि लेखक समुदाय के साथ पूर्ण सहयोग किया है। आपके लेखों में प्राचीनता का बोलबाला रहता है पर आधुनिकता से भी वे ओतप्रोत रहते हैं। आपका कैपसूलांक जिस मनोयोग के साथ लिखा गया उसी गरिमा के साथ वह समादृत हुआ है। आपका प्रस्तुत लेख आपकी स्वाध्यायशीलता, विद्वत्ता और अनुभव की त्रिवेणी का तीर्थराजीय संयोग है। —गोपालशरण गर्ग।



टिप्पणी—रक्तोत्पत्ती के सम्बन्ध में आयुर्वेद की जो मान्यता है प्रस्तुत लेख में वैद्य जी ने उसे अच्छी प्रकार समझाया है। आयुर्वेद धातुपोषणक्रम में विश्वास करता है। रस से रक्त, रक्त से मांस आदि धातुएं केदारीकुल्यान्याय, खले कपोतन्याय, क्षीरदधिन्याय, एककालधातुपोषण सिद्धान्त में से किसी का या सभी का आधार लेकर एक धातु दूसरी धातु का निर्माण करती या परिणत होती है।

अन्न को वर्ण्य माना है। अन्न में वे सभी पोषक तत्व रहते हैं जो रक्त का निर्माण करते हैं। उनमें से किसी की भी कमी रक्त के निर्माण में बाधक हो सकती है। सुश्रुत लिखता है—

दोषधातुमलक्षीणे बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्द्धनं यत्तदन्नपानं प्रकांक्षति॥

दोषों, धातुओं, मलों और बल में से किसी का भी जब क्षय या क्षीणता हो जाती है तब उसी क्षीणता की पूर्ति के लिए आवश्यक पदार्थों के सेवन की इच्छा उस क्षीणता प्राप्त व्यक्ति को होती है और जब उसकी इच्छापूर्ति हो जाती है तभी उसकी वह क्षीणता दूर हो जाती है—

यद् यदाहारजातं हि क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति॥



इस सिद्धान्त से क्षीणताजन्य रोगों (Deficiency Diseases) का आयुर्वेदीय आधार सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान के पन्द्रहवें अध्याय में स्पष्ट रूप से मिल जाता है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने तो इस पर ऐसी टीका की है कि इस विषय के सारे सन्देह दूर हो जाते हैं। रक्तक्षीण व्यक्ति रक्तसेवन की इच्छा करता है ऐसा उसने स्वीकार किया है।

प्रस्तुत आधुनिकों के अनीमिया के प्रकारों में लोहे की कमी या यकृदंश की कमी से होने वाले दो रोगों का वर्णन मिलता है जो रक्तक्षीणता या रक्तक्षय के कारण हैं।

एनीमिया में पैलॉर (Pallor) मिलता है। रङ्ग का पेल (Pale) होना। पेल का अर्थ है पीलाई लिए सफेद। कामला का पीलापन हल्दी जैसा होता है। पाण्डुरोग का पीलापन रेतकीधूलिसन्निभः होता है। पाण्डुरोग में वर्ण, बल और स्नेह क्षीण हो जाते हैं—

ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः।
व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोष दूष्यप्रदूषणात् ॥

तथा मृज्जपाण्डु का—

इन्द्रियाणां बलं तेज ओजो वीर्यं निहत्य च।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥

तथा—सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः। वैवर्ण्यं भजते

साथ ही—हृदयस्पन्दनं, रौक्ष्यं, श्वासकासौ तथालस्यम्, श्वयथुः, शूनगण्डाक्षिकूटभ्रू आदि लक्षण वही हैं जो हीमोग्लोबिन की कमी होने से जो लोहे की कमी के कारण पाई जाती है, के द्वारा उत्पन्न माइक्रोसाइटिक हाइपोक्रोमिक अनीमिया में देखी जाती है।

रक्तक्षय में यकृदाजमामं भक्षयेत् की सुश्रुतीय उक्ति कि बकरे के यकृत् को कच्चा ही भक्षण कराया जाय यह यकृदंश की कमी की ओर इङ्गित करती है जिसके कारण मैक्रोसाइटिक हाइपर क्रामिक अनीमिया होता है।

पाण्डुरोग के वर्णन में अल्पमेद रक्तता, रौक्ष्य, स्नेहाल्पता बार–बार आते हैं। हमारे शरीर में दो ही चिकनी धातुएं हैं। एक मेदोधातु और दूसरी अस्थिगत मज्जधातु। जब इन चिकनी धातुओं में कोई विकार होगा तभी न पाण्डु रोग बनेगा। इनकी क्षीणता जो दोष–दूष्य–प्रदूषणात् उत्पन्न होती है इन धातुओं के रक्तनिर्माण के कार्य में भाग लेने की ओर सीधा–सीधा नहीं तो अप्रत्यक्ष (Indirect) इङ्गित तो करती ही है। पाण्डुरोग की चिकित्सा में दाडिमादि घृत, कटुकादि घृत, पथ्याघृत, दन्तीघृत, द्राक्षाघृत, हरिद्रादिघृत का उल्लेख ही मेदोधातु और मज्जाधातु को आप्यायित करने का रहा है जो हमारे आचार्यों की कुशाग्रबुद्धिता तथा अनुसन्धानात्मक सूझ का दिव्य उदाहरण है।

रक्त का एक विशेषण लोहित भी है। अर्थात् रक्त में लोहे की उपस्थिति स्वीकार की गई है। साथ ही पाण्डुरोग में नवायस चूर्ण, मण्डूरवटक, योगराज, शिलाजतुवटक, पुनर्नवामण्डूर का प्रयोग सबसे पहले चरक संहिता में किया गया है जिनमें लोहा किसी न किसी रूप में उपस्थित है जो पाण्डु रोग में लोहे की कमी की पूर्ति को चिकित्सा की प्रमुख आवश्यकता को प्रमाणित करता है। इतर शास्त्रकारों में भैषज्य रत्नावलीकार ने तो स्पष्ट लिखा है—

सप्तरात्रं गवांमूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः।
पाण्डुरोग प्रशान्त्यर्थं पयसाऽथ पिबेन्नरः ॥

उसके अयस्तिलादिमोदक, लौहपात्रे श्रृत दुग्धपानोपदेश, अयोमलप्रयोग, निशालोह, धात्रीलोह, विडंगादि लौह, अष्टादशांग लौह, दार्व्यादि लौह, त्रिकत्रयादि लौह, पंचामृत लौह, वज्रवटक मण्डूर, त्र्यूषणादि

मण्डूर आदि पग-पग पर लोहे की कमी की पूर्ति का उद्घोष करते हैं।

यह सब यह सिद्ध करता है कि हमारे प्राचीन आचार्य मानते थे कि—

१—पाण्डुरोग होता है।

२—पाण्डुरोग में बल, वर्ण, स्नेह और ओजांश घट जाता है।

३—पाण्डुरोगी के मेदोधातु एवं मज्जाधातु में कमी आ जाती है।

४—शरीर में लोहांश कम हो जाता है।

५—इनकी पूर्ति के लिए यकृत् का और लोहे का उपयोग करना चाहिए। आवश्यकता पड़े तो रक्त भी देना (या चढ़ाना) चाहिए।

इस रोग में श्वासवृद्धि, हृदयस्पन्दन और शैथिल्य हो जाते हैं जो हीमोग्लोबिन की कमी की ओर स्पष्ट निर्देश करते हैं।

इस रोग में धात्र्यरिष्ट, धात्र्यादि लौह, आमलक्यवलेह का प्रयोग विटामिन सी के उपयोग की ओर इंगित है।

जीवन्ती, तण्डुलीयक, पटोलपत्र आदि पत्तियों के शाक की ओर इंगित लोहांश तथा फौलिक ऐसिड की ओर निर्देश है।

पर्पटाद्यरिष्ट, लोहासव का प्रयोग यीस्ट से प्राप्त विटामिन बी कम्प्लैक्स की प्राप्ति की ओर संकेत है।

इस प्रकार आधुनिक अनीमिया में जिन पदार्थों का प्रयोग करते हैं लोहा, यकृदंश (सायनोकोबैले-मीन), रक्त, विटामिन सी, विटामिन बी कम्प्लैक्स, फालिक ऐसिड उनका उपयोग और प्रयोग हम अनन्तकाल से बेधड़क करते चले आ रहे हैं।

इसका निष्कर्ष यह नहीं निकला कि पाण्डुरोग अनीमिया का पर्यायवाची है पर यह अवश्य निकलता है कि पाण्डुरोग एक ऐसी व्याधि है जिसमें धातुगौरव और रक्तक्षीणता या अनीमिया भी पाया जाता है।

एक नई बात सामने और आ रही है और वह है रक्तपित्त (Haemorrhage) में पित्त की भूमिका और पाण्डुरोग में भी पित्त की भूमिका। रक्त और पित्त का अटूट सम्बन्ध भी सभी आयुर्वेदज्ञ मानते हैं। इस पित्त का माडर्न फिजियोलौजी में रिसर्च करके सम्बन्ध खोजना होगा। —रघुबीरप्रसाद त्रिवेदी।

पाश्चात्य अनुसन्धान कर्त्ताओं ने 'एनीमिया' के मुख्यतः तीन कारण बतलाये हैं।

१. रक्तस्राव—Haemerrhage। २. रक्त के निर्माण में न्यूनता Deficient Formation of R. B. C. ३. रोगजन्यरक्तकणों का नाश Excessive Break down of R. B. C।

इस रोग का सर्व प्रमुख कारण रक्तस्राव माना है। इसमें भी प्रकट अथवा अप्रकट हो सकता है। प्रत्येक रक्त-स्राव में चोट, शस्त्रादि से कट जाना, रक्त वमन, रक्तमेह, नासा रक्तस्राव, रक्तार्श, रक्तप्रदर, आदि माने जाते हैं।

यदि 'एनीमिया' का कारण शरीर में रक्तस्राव के हेतु रक्त का प्रमाण कम होने से है, तो नारी संसार तो बच ही नहीं सकता क्योंकि १४ वर्ष से ४५ वर्ष पर्यन्त की आयु वाली प्रायः प्रत्येक स्त्री को 'एनीमिया' होना चाहिए। स्त्री के मासिकधर्म के दिनों में न्यून से न्यून ५०० मिली-लिटर रक्तस्राव होता है। परन्तु इस रक्तस्राव के कारण से किसी स्त्री को 'एनीमिया' से पीड़ित नहीं देखा है।

इसी प्रकार कट जाने पर भी कम से कम ५००-६०० मिलिलिटर रक्तस्राव हो ही जाता है। कई बार तो १-२ लिटर रक्तस्रवित होते देखा है। परन्तु 'एनीमिया' नहीं हुआ। और न ही 'एनीमिया' की चिकित्सा की गई अपि तु साधारण व्रणवत् उपचार किया गया है और रोगी अच्छा हो गया है।

क्यों ? स्वस्थ शरीर रक्तस्राव होने के पश्चात् उस

रिक्त स्थान को शीघ्र भर देता है। यदि ऐसा न हो, तो स्त्री मासिक धर्मों में ही पीली पड़ जाए, परन्तु ऐसा होता नहीं, इसका कारण यही है कि जितना रक्तस्रुत होता है, उतना २-३ दिन में ही पूरा हो जाता है। अतः रक्तस्राव से पाण्डु होना मानना युक्ति संगत नहीं। सभी रक्त निकल जायेगा, तो शरीर ही नष्ट हो जावेगा।

रक्तार्श एवं रक्तपित्त आदि में बारम्बार रक्तस्राव होता रहता है और शरीर पाण्डुर (पीत) हो जाता है, यह ठीक है क्योंकि इन रोगों के उपद्रव स्वरूप पाण्डु होता है। परन्तु यह मानना संगत नहीं कि शरीर से रक्त का कुछ प्रमाण कम हुआ और रक्ताल्पता या पाण्डु हो गया। रक्तार्श में भी वर्षों के बाद पाण्डुत्व की स्थिति जायमान होती है।

द्वितीय कारण रक्त के निर्माण में कमी कहा है। इसमें प्रमुख रूप से लौह की कमी खाद्य पदार्थों में मानी गई है। अर्थात् रक्त में लौह का प्रमाण कम होने से रक्तक्षय होता है। यह कारण लिखने वाले गौरांग महाप्रभुओं के मस्तिष्क में यह बात नहीं थी कि एक समय इस संसार में ऐसा भी युग आयेगा कि घी भी लौह की भैंस दिया करेंगी। केवल इतना कह देना ही पर्याप्त नहीं कि 'लौह' रहित भोजन सेवन से ही रक्तक्षय हो गया। कितने दिन लौह रहित भोजन सेवन किया गया, जिसके फलस्वरूप रक्तक्षय को प्राप्त हुआ। कोई रोगी से इतिवृत्त जानने का कष्ट नहीं उठाता।

खाद्य पदार्थों में लौह की कमी के कारण एनीमिया माना है। यह भी गौरांग महाप्रभुओं की बात पूर्णतः सत्य सिद्ध नहीं 'पाण्डुरोग' में आम, ज्वर एवं अतीसार न हो, तो भोजन में अधिक दूध देना उचित है। परन्तु गौरांग बाबा तो दूध में लौह का अंश ही नहीं बताते, तब फिर तो एनीमिया से कोई बच ही नहीं सकता क्योंकि जन्म से दो तीन वर्ष की आयु पर्यन्त बच्चे दूध ही तो पीते हैं। और शारीरिक-मानसिक विकास भी अधिक से अधिक प्राप्त होता है। अतः लौह रहित आहार से भी एनीमिया नहीं होता अपि तु पाण्डु में दूध पर्याप्त मात्रा में देना लिखा है। एवं प्रकार 'रोगांग महाप्रभु वाक्यं प्रमाणं' भी सिद्ध नहीं होता। यदि लौह रहित भोजन से ही एनीमिया होता, तो सम्पूर्ण सृष्टि ही शिकार हो जाती। जब तीन वर्ष पर्यन्त लौह रहित दुग्ध बालक पीता है और एनीमिया नहीं होता, तो यह सिद्धान्त भी युक्ति-युक्त नहीं।

अतः हमारे विचार से एनीमिया कोई स्वतन्त्र व्याधि नहीं, हां, जैसे इसके लक्षण बताए हैं 'एनीमिया' स्वयं पाण्डु का एक रूप है।

तीसरा कारण—रोगों के कारण लालकणों का विनाश कहा है। कालमेह ज्वर, विषम ज्वर, आदि अनेक रोग ऐसे हैं, जिनमें उपद्रव रूप से रक्ताल्पता पाई जाती है। यथा—'श्वयथुं मधुरास्यत्वमिति पाण्ड्वामयः कफात्।' कफज पाण्डु में शोफ होना।

एनीमिया क्या है ?

एनीमिया दो शब्दों का समूह है—एन+एमिया An+Aemia (Anaemia) जिसका अर्थ है अ+रक्तता=अरक्तता अर्थात् 'रक्त न होना' ध्यान से देखिये, इस अर्थ की संगत न इसके कारणों से है और न ही रोग से है। यदि रक्तहीनता ही पहले से विद्यमान है, तो रक्तस्राव कहां से होगा ? रक्त है ही नहीं तो 'रक्तक्षय' कैसा ?

पाश्चात्य रंग में रंगे हुए वैद्य भी एनीमिया का अर्थ पाण्डु करते हैं। ऐसा अनेक निबन्ध, लेख तथा पुस्तकों के अनुवाद में पढ़ा है। आओ, पाण्डु शब्द पर विचारणा करें—

पाण्डु शब्द की निरुक्ति—

पाण्डु 'पडि नाशने' धातु से कुप्रत्यय करने पर निपात से 'पाण्डु' शब्द बनता है। अमर कोषकार ने केतकी पुष्प के पराग के साथ पाण्डु की तुलना की है, पाण्डु का अर्थ केतकी पुष्प के पराग के समान श्वेतता लिए हुए पीताभ अर्थात् शुक्ल समन्वित पीत लिखा है। तात्पर्य यह है 'पाण्डु का अर्थ पीत-पीला नहीं है और श्वेत भी नहीं है—पीत और श्वेत के मिश्रण से उत्पन्न श्वेतता युक्त पीत होता है। यथाः—'पाण्डुस्तु पीतभागार्धः केतकी धूलि सन्निभः।' और इस वर्ण-पाण्डु रंग से उपलक्षित व्याधि को ही पाण्डु कहा है। यथाः—'पाण्डुत्वेनोपलक्षितोरोगः पाण्डुरोगः।' इस वर्ण (पाण्डु) में होने वाले हरित पीत वर्ण को भी पाण्डु माना है। यथाः—पाण्डुना वक्ष्यमाणः हरितादिवर्णा अपि गृह्यन्ते।' एवं प्रकार पाण्डु रोग में वे सभी रोग आ जाते हैं, जिनमें शरीर का वर्ण हरित-पीत

आदि होता है और जिनका प्रधान लक्षण 'रक्ताल्पता' है। पाण्डु रोग में तीनों दोषों का प्रकोप होता है। परन्तु पित्त की विशेषता होती है। अतः पित्त की विशेषता से चमड़ी-त्वक पीत-हरित आभा वाली, कफाधिक्य होने से श्वेतता और वात का मिश्रण होने से त्वक् कृष्ण आभा-युक्त बन जाती है।

हेतुसह सम्प्राप्ति—

व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव्र तीक्ष्णम्।
निषेवमाणास्य प्रदूष्य रक्तं दोषाः त्वयं पाण्डुरतां नयन्ति॥

१. व्यायामम्—अति व्यायाम वातवर्द्धक है। अति व्यायाम से वात प्रकुपित होकर अग्नि दुष्टि, पाचन तथा शोषण के अभाव से रक्त की कमी हो वह शरीर पाण्डुत्व को प्राप्त हो जाता है।

२. अम्लम्—अधिक अम्लरस भूयिष्ट पदार्थ भी वात-वर्द्धक होते हैं।

३. लवणानि—अधिक लवण वाले द्रव्य भी वात-वर्द्धक होते हैं। लवण का विपाक मधुर होता है; अतः कफ प्रकोप।

४. मद्यम्—अति मद्यपान अपनी उष्णता के कारण पित्तवर्द्धक है।

५. मृदम्—मिट्टी से ही तीनों दोष कुपित हो जाते हैं। जैसाकि रोगी ने मिट्टी खाई और वह पाण्डु रोग से पीड़ित हो गया। परन्तु देखना यह है कि कौन सी मिट्टी रोगी ने खाई है। परीक्षा कीजिए—

१—मधुर मृत्तिका सेवन करने से कफ की वृद्धि होती है।

२—कषाय मृत्तिका सेवन करने से वात की वृद्धि होती है।

३—उषर मृत्तिका सेवन करने से पित्त की वृद्धि होती है।

६. दिवास्वप्नम्—दिन में सोने से कफ की वृद्धि होती है।

७. तीक्ष्णम्—मिर्च मसाले आदि तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन पित्तवर्द्धक है।

एवं प्रकार प्रकुपित वात आदि दोष रक्त को दूषित करके त्वचा को पाण्डुर वर्ण का कर देते हैं।

चरकाचार्य और भी लिखते हैं—

८. विरुद्धासात्म्य भोजनात्—विरोधी तथा असात्म्य आहारों के सेवन से अथवा प्रकृति विरुद्ध अपथ्य भोजन से।

९. मैथुनात्—अधिक मैथुन करने से ओज की कमी हो जाती है।

१०. प्रकृत कर्म वैषम्य—अनियमित कर्म करने से।

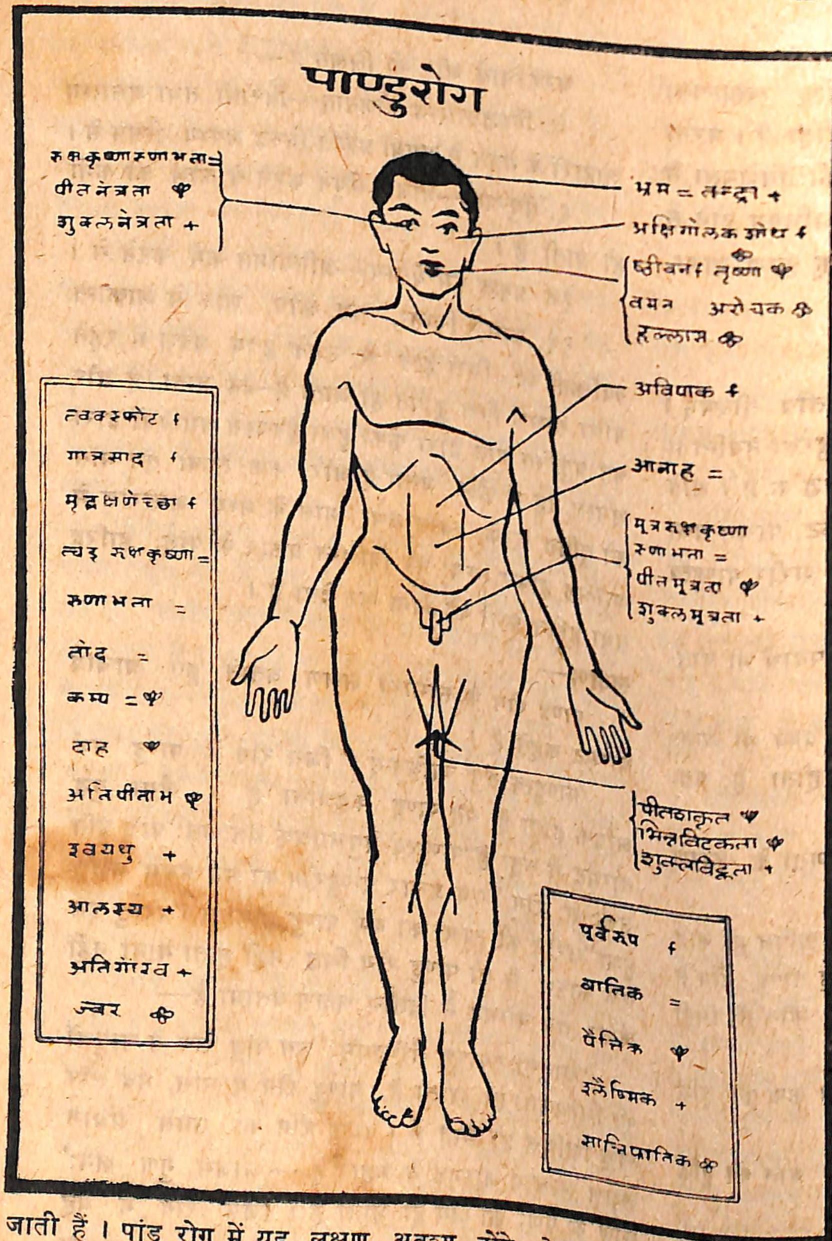
११. काम, चिन्ता, भय, क्रोध, शोक से आक्रान्त व्यक्तियों का चित्त होने से, उसके हृदय प्रदेश में रहने वाला साधक पित्त कुपित हो जाता है—बढ़ जाता है और वह प्रकुपित वात द्वारा फेंका हुआ हृदयस्थ धमनियों द्वारा समस्त देह में फैल जाता है और कफ, त्वचा एवं मांस को दूषित करके त्वचा तथा मांस के मध्य अन्तराल में आश्रित होकर त्वचा पर बिभिन्न प्रकार के पांडु, हारिद्र तथा हरित वर्णों को व्यक्त कर देता है।

लक्षण—

पाण्डु रोग के सामान्य लक्षण बताते हुए आचार्य वाग्भट कहते हैं।

'पाण्डुत्वं तेषु चाधिकम्।' जिस रोग में पाण्डु वर्ण अधिक होता है, वह पाण्डु कहलाता है। जैसा वृद्ध वाग्भट ने कहा है:'पाण्डुत्वं तेषुचाधिकं यतःअतः पांडु इति उक्तः सः रोगः' एवं प्रकार पाण्डुरोग का सर्व प्रथम लक्षण हुआ'शरीर की त्वचा का वर्ण पाण्डु होजाना।'परन्तु इस एक कारण से तो पाण्डु रोग सिद्ध नहीं होता माना नहीं जाता, तब वाग्भट ने द्वितीय लक्षण बताया है—

"धातूनां स्याच्च शैथिल्यम्" उस पांडु रोग में धातुओं की शिथिलता हो जाती है, पाण्डु रोग में मांस, मेद और त्वक् शिथिल हो जाते हैं। पाण्डु रोग का सबसे प्रधान लक्षण आचार्य वाग्भट ने कहा है:—'ओजसः गुण क्षयः' ओज के गुणों का क्षय हो जाता है। जिस रोग में यह तीन लक्षण विद्यमान होंगे, वह पाण्डु रोग कहा जा सकता है। फिर वह मानव जिसमें उपरोक्त तीनों लक्षण लक्षित होते हैं, रक्त और मेद की अल्पता के कारण निःसार और शिथिल इन्द्रियों वाला हो जाता है। ऐसा आचार्य वाग्भट ने कहा है, यथाः—ततोऽल्प रक्तमेदस्को निःसारः स्याच्छ्लथेन्द्रियः।' रक्त और मेद में दो धातु घट जाते हैं, सार-बल निकल जाता है, ज्ञान कर्मेन्द्रियां शिथिल हो



जाती हैं। पांडु रोग में यह लक्षण अवश्य होंगे, केवल पांडु से पांडु रोग सिद्ध नहीं हो सकता। इस रोग में पित्त की प्रधानता रहती है। और इस रोग में हृदय में स्थित पित्त क्षिप्त हो जाता है। जैसा कि वृद्ध वाग्भट ने कहा है:—हृदि स्थितं पित्तं क्षिप्तम्' वृ० वा० 'हृदयस्थ साधक पित्त विकृत होकर प्रबल कुपित वात द्वारा फेंका जाकर हृदय स्थित दश स्रोतों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है तथा त्वचा और मांस के मध्य में स्थान संश्रय कर कफ वात, रक्त, त्वचा, मांस को दूषित कर त्वचा के ऊपर विविध वर्ण उत्पन्न करता है। रोगी को इस रोग में अपना शरीर तथा अङ्ग मर्दन किये हुए से प्रतीत होते हैं हृदय में द्रवता की प्रतीति होती है। दोनों अक्षिकूटों पर सूजन, अङ्गों का मर्दन, चिड़चिड़ापन, मुख से लार गिरना बोलने की शक्ति कम होनी, अन्न से द्वेष, शीतल चीजों से द्वेष, रोमों का गिर जाना, जाठराग्नि का मन्द पड़ जाना, दोनों शक्थियों का अकड़ जाना, ज्वर, श्वास, कर्ण क्ष्वेड, भ्रम, और श्रम का प्रतीत होना आदि।

लक्षणों से निदान की ओर–

आचार्य सुश्रुत ने सर्व प्रथम हेतु व्यायाम कहा है। अति व्यायाम से निःसारता, शिथिलेन्द्रियता, अल्परक्त मेदस्त्व और ओज के गुणों का क्षय होता है। वायु का अत्यन्त प्रकोप होता है। जो मनुष्य स्निग्ध भोजन करता है उसे भी अर्धशक्ति तक ही व्यायाम करने का उपदेश आचार्य सुश्रुत ने दिया है। यथाः अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु व्यायामः स्निग्धभोजिभिः।' यद्यपि मानव के लिए व्यायाम आदि उचित है तथा अधिक सेवन उचित नहीं है। अति व्यायाम से रक्ताल्पता होती है, रक्त ही से मांस आदि अन्य धातुओं का पोषण होता है। जब रक्त की ही कमी होगी तो मांस, मेद, अस्थि मज्जा तथा शुक्र धातु का क्षय होना स्वाभाविक है, ओज के गुणों का क्षय होने का कारण है,

रक्ताल्पता और रक्ताल्पता का एक कारण अति व्यायाम है। रक्ताल्पता के अन्य कारण अपथ्य आहार विहार आदि हैं। कहा भी है:—'आहारस्य सारो रसः' आहार का शुद्ध सारभूत द्रव रस होता है और 'रसाद्रक्तं' उस रस से रक्त बनता है।

पाण्डु रोगों में पांच प्रकार का वात कुपित होता है। यह विकृत वात पांच प्रकार के पित्त को विकृत कर देता है पाचक पित्त की विकृति से मन्दानल, भ्राजक पित्त की विकृति से विविध वर्ण, आलोचक पित्त की विकृति से पीतदर्शन, रंजक पित्त के विकार से रक्त रस का रंगा नहीं जाना। पांडु में पित्त प्रधान माना है। परन्तु स्वेद नहीं आता, पूर्वरूप में त्वचि रौक्ष्यं कहा है। ऐसा क्यों होता है। यह वात के प्रबल प्रकोप के कारण है।

यह रोग दुष्टि-वृद्धि-क्षयात्मक है। दुष्टि-पित्त की होती है। पित्त रक्त की दुष्टि करता है। रक्त की दुष्टि के कारण विवर्णता की अभिव्यक्ति त्वचागत रक्त वाहिनियों के कारण त्वचा में होती है रक्ताल्पता से पाण्डु रोग होता है। परन्तु पोषणाभाव ही मुख्य कारण है। रंजक पित्त का क्षय पाण्डु का कारण है। यह सब पाण्डु रोग के कारण हैं अथवा यह पढ़िये इन कारण समूह को ही पाण्डु रोग कहा जाता है। इसमें वातादि दोष, त्वचा, मांस और रक्त दूष्यों को विकृत कर देते हैं।

रक्तोत्पत्तिक्रम—

रक्तक्षय से पूर्व रक्तोत्पत्ति पर विचारणा करना आवश्यक है। रक्त क्या है, कैसे उत्पन्न होता है।

शुद्ध आहार का भोजन करने पर इसके सम्यक् परिपाक होने से जो तेजोभूत परम सूक्ष्मसार निर्मल श्रेष्ठ अंश है, वह रस कहा जाता है।'उपयुक्ताहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते।' (सू० सू० १४) और भी पढ़िये 'शुद्ध आहारस्य सारो रसः' शुद्ध आहार का सारभूत द्रव 'रस' होता है। उस रस से रक्त रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थियां, अस्थियों से मज्जा, मज्जा से शुक्र यह धातुएं क्रमशः पित्त के तेज से परिपक्व होकर और शुद्ध वात से परिणत विभक्त होकर कफ से स्नेह भाव को प्राप्त होते हुए सात धातुएं बनती हैं। केवल रस धातु ही अन्य धातुओं का सिंचन कर के पोषण करती है। यह रस द्रव्य (पतला) श्वेत, शीतल, स्वादिष्ट, स्निग्ध और गमनशील होता है। यथा शार्ङ्गधर में कहा है—'स तु द्रवः सितः शीतः स्वादुः आदि।'

'दोषधातु मल मूलं हि शरीरम्' सुश्रुत बचनानुसार वात पित्त कफ और रसरक्तादि धातु एवं सूक्ष्म स्थूल रूप से नेत्र नासादि के मल शरीर में गर्भ से ही रहते हैं अर्थात् यही शरीर के मूल हैं। दोष धातु मल को साम्यावस्था में रखने के लिए षड्रसात्मक आहार की आवश्यकता होती है। षड्रसात्मक आहार से ही दोषधातुमल स्थिर रहते हैं।

भोजन किये गये आहार का भलीभांति परिपाक होने के पश्चात् जो सार भाग होता है, उसे रस कहा जाता है, 'आधुनिकों का 'श्वेत कण' भी यही है।' जब यह (रस) यकृत् में जाता है, तब वहां पर रंजक पित्त के द्वारा रंजित होता है—रंगा जाता है। अर्थात यकृत् इस को लाल बना देता है। जब यह लाल हो जाता है, तो इस की 'रक्त' संज्ञा होती है।

यह-(रस) यकृत् में कैसे पहुंचता है, लीजिए, इस रहस्य को भी जान लीजिए—भोजन को चबा-चबा कर खाने से मुख में ही बोधक कफ के द्वारा पाचनक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यहीं से मधुर विपाक का निर्माण प्रारम्भ होने लगता है। जब खाद्य द्रव्य आमाशय में पहुंचता है, तो वहां क्लेदक कफरूप आमाशय रस के संयोग में पूर्ण मधुर विपाक हो जाता है। जब खाद्य पदार्थ में वहीं पर पाचकपित्त के मिल जाने से अम्ल विपाक का निर्माण होने लगता है। जब खाद्य द्रव्य ग्रहणी में जाता है, तो वहां एक ओर दक्षिण से याकृत् पित्त का पित्तस्रोत से स्राव और बायीं ओर से अग्न्याशयिक स्राव होता है, बस ग्रहणी में पूर्ण अम्लविपाक हो जाता है। ग्रहणी के पश्चात् खाद्य पदार्थ क्षुद्रान्त्र में पहुंचता है; यहां कटु विपाक का निर्माण होता है। विचार कीजिए—मधुरविपाक के द्वारा आमाशय में कफ, अम्ल-विपाक के द्वारा ग्रहणी में पित्त और कटु विपाक के द्वारा क्षुद्र या बृहदन्त्र में वात का स्थान कहा है। आहार रस तीनों विपाकों के रूप में क्षुद्रान्त्र में पहुंचता है। जब यह (आहार रस) क्षुद्रान्त्र के उण्डुक भाग में पहुंचता है, तब समान



वायु के द्वारा मधुर विपाक (जो शीत है) कटु विपाक (जो उष्ण है)तथा अम्लविपाक (जो उष्ण-शीत है) विभाजित होते हैं। अम्ल का उष्णांश और कटु मिलकर समान वायु द्वारा सम्बहन प्रतिहारणी महाशिरा द्वारा आग्नेयरस के रूप में होता है। अम्लविपाक के शीतांश संवहन रसस्रोत के द्वारा सौम्य रस के रूप में रसप्रया में होता हुआ उत्तरा महाशिरा में होकर हृदय में पहुंचता है। रसप्रया में ही श्वेत कणों की उत्पत्ति होती है। आग्नेयरस प्रतिहारिणी के द्वारा यकृत् में पहुंचता है। यकृत् में विभाजन पाचन एवं निर्मलीकरण होकर याकृति शिराओं द्वारा अधरा महाशिरा द्वारा हृदय में ही पहुंच जाता है। यकृत् में रंजक पित्त के द्वारा रस रंगा जाता है। यथा—

'तेजो रसानां सर्वेषामम्बुजानां यदुच्यते।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति।'

अर्थात् सौम्य रस ही यकृत् गत रंजक पित्त के संयोग से रक्त बनाता है। (चरक)

'स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति।'
(सुश्रुत)

यह जलीय श्वेत रस यकृत्प्लीहा में पहुँच कर लाल हो जाता है। यकृत् रक्तनिर्माण में प्रमुख भाग लेता है।

रक्तकण विशिष्ट पित्त का रूप ही आग्नेय रस है और सौम्य रस श्वेत कण विशिष्ट कफ का रूप है। इन दोनों के मध्य वातप्रेरक है। साम्यावस्था में अम्लविपाक द्वारा पांचों पित्तों का पोषण होता है।

रक्तकण विशिष्ट पित्त का रूप ही आग्नेय रस है और सौम्य रस श्वेत कण विशिष्ट कफ का रूप है। इन दोनों के मध्य वातप्रेरक है। साम्यावस्था में अम्लविपाक द्वारा पांचों पित्तों का पोषण होता है।

ऐसे आहार-विहार जो अम्लविपाक का निर्माण अधिक करें, तथा मधुर एवं कटु विपाक अल्प मात्रा में निर्माण हो; यथा—तीक्ष्ण, मिर्च मसाले पदार्थों का अति सेवन, धूप में रहना, अग्नि के समीप अधिक रहना, क्रोध करना आदि से अम्लविपाक अधिक मात्रा में बनेगा तो अधिक पित्त भी यकृत् से याकृति शिराओं द्वारा अधरा महाशिरा में सम्बहन कर हृदय में पहुँचेगा, हृदयस्थ रक्त को पतला कर देगा क्योंकि पित्त उष्ण होता है। रक्त पतला होने से नाना प्रकार के विकार जायमान होंगे। महाधमनी एवं उसकी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा सम्पूर्ण देह में पित्त फैलकर शरीर के वर्ण को पीला कर देगा। यही तो पाण्डु की सम्प्राप्ति है।

अब पाण्डु के भेदों पर भी दृष्टिपात कीजिए :—

आचार्य अग्निवेश ने पाण्डु पांच प्रकार का लिखा है। यथा—

पाण्डु रोगाः स्मृता पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः।

सुश्रुत ने चार भेद माने हैं। यथा—

'पाण्ड्वामयोऽष्टार्धविधः प्रदिष्टः
पृथक् समस्तैर्युग पच्च दोषैः।'

आचार्य वाग्भट ने भी पांच ही भेद माने हैं। दोष भेद से चार प्रकार का पांडु सभी मानते हैं। आचार्य अग्निवेश ने पांचवां भेद 'मृद्भक्षण' जन्य पृथक् माना है, जबकि सुश्रुत ने दोष भेद में ही माना है।

पाण्डुरोग के वर्णन की शास्त्रीय पद्धति

१. सम्प्राप्ति घटक—

१. दोष—वात, पित्त, कफ एवं प्रकार त्रिदोषज व्याधि है। पित्त प्रधान है।

२. दूष्य—रस, रक्त, मेद, ओज इन में रक्तप्रधान दूष्य है।

३. अग्नि—जाठराग्नि, धात्वग्नि, रंजकाग्नि इन में रंजकाग्नि दुष्ट होती है।

४. स्रोतस—रसवाही एवं रक्तवाही।

५. व्यक्ति—त्वक्, नख, नेत्र, मूत्र, पुरीष मेद।

६. भेद—चरक के मतानुसार पांच (वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज एवं मृदभक्षणजन्य) सश्रुत के मतानुसार चार (वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज)।

७. प्रधान लक्षण—पांडुरोग का प्रधान लक्षण रक्ताल्पता है।

पांडु रोग का वर्णन वेद में भी है। अथर्व वेद में पांडु, कामला, हलीमक कहा है। जन-साधारण में यह पीलिया नाम से प्रसिद्ध है। यूनानी वाले यरकान कहते हैं।

परिभाषा—इस रोग में रोगी के शरीर का वर्ण श्वेताभ पीत हो जाता है। अतः इसे पांडु कहते हैं। आयुर्वेद में रक्ताल्पताजन्य रोगों को पांडु रोग कहा है। यथा :—

सर्वेषु चैतेषु हि पाण्डुभावां
यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डु रोगः।
(सुश्रुत)

पाण्डु शब्द से पाण्डु रोग में होने वाले हरित,हरिद्रादि-वर्ण भी गृहीत होता है।

रक्तक्षय के कारण—

१. प्रधान हेतु 'यकृत्-विकार' है। यकृत्प्लीहा की वाहिनियों में अवरोध हो जाना।

२. यकृत् को विकृत करने वाले मिथ्या आहार-विहार उष्ण एवं तीक्ष्ण वस्तुओं का अति सेवन।

३. पौष्टिक खाद्य का अभाव, रक्तक्षयान्तक द्रव्यों की भोजन में न्यूनता, शोणितिक द्रव्य की कमी।

४. रक्तरंजक पित्त का विनाश हो जाना या रक्त-कण की संख्या अत्यधिक कम हो जाना।

५. रक्त की मात्रा न्यून हो जाना।

६. रक्त में जलीयांश की अधिकता।

७. रक्तकण, रक्तवारि, रक्तरंजन एवं रक्तरस में विकार आ जाना।

८. अग्नि का अभाव, जाठराग्नि का विकृत हो जाना।

इन सब का मूल कारण यकृत् की विकृति ही प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में है। पाण्डु रोग में कथित सभी कारण रक्तक्षय के भी हैं।

रक्तक्षय के विशेष लक्षण—

१. त्वचा में रूक्षता, २. नाड़ियों में शिथिलता, ३. दुर्बलता, ४. कान्ति-ओज आभाहीनता, ५. श्रान्त-क्लान्त ६. पाण्डु रोग में वर्णित सभी लक्षण पढ़ें।

पाण्डु रोग का प्रधान लक्षण रक्ताल्पता ही है।

चिकित्सा-सूत्र—

१. यकृत्स्थ पाचकाऽग्नि की रक्षा करें। मन्दाग्नि को दूर करें।

२. कोष्ठ शुद्धि करें। स्नेहन, के पश्चात् वमन विरे-चन कराएं।

३. पित्तशामक उपचार करें। बलप्रद सिद्ध योगों का सेवन कराएं।

४. सुपाच्य एवं साम्य पथ्यान्न दें। यथा—पुराना शालि चावल, जौ, गेहूं, मूंग, मसूर।

५. चाय तो भूल कर भी न दें।

६. तली हुई वस्तु, मिठाई खोया-मेदा से बनी न दें।

७. व्यायाम इतना ही करें, जिस से श्रान्ति क्लान्ति उत्पन्न न हो।

८. प्रातःकाल अल्प भ्रमण अवश्य करें।

९. सम्पूर्ण शरीर पर महालाक्षादि तैलाभ्यङ्ग अमृत-वत् है।

१०. मलावरोध की हालत में अनुवासन व निरुहण वस्ति करें।

११. स्नेहन क्रिया में औषधि घृत दें।

१२. प्रवृद्ध पाण्डवावस्था में वमन न करायें।

१३. सिद्ध किये घृत योगों द्वारा ही विरेचन करायें। यथा—त्रिवृत् जयपाल आदि द्रव्यों से सिद्ध घृत दें।

चरकसंहिता में पढ़ा है :—

तत्रपाण्डवामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरुर्ध्वानुलोमिकैः।
संशोध्यो मृदुमिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः॥

चिकित्सा क्रियाक्रम—

१. सामान्य चिकित्सा—इसमें रोगी के शरीर का शोधन किया जाता है। संशोधन से पूर्व स्नेहन आवश्यक है। स्नेहन कर्म में घृत का प्रयोग किया जाता है। स्नेहा-ल्पता से शरीर में रूक्षता उत्पन्न हो कर रक्त, मेद एवं ओज अल्प हो जाते हैं। शाखाओं में लीन दोष एवं मल स्नेहन कर्म से कोष्ठ में प्राप्त हो जाते हैं।

स्नेहन घृत—

१. कल्याण घृत (चरक), २. पञ्चगव्य घृत (च०), ३. महातिक्त घृत (च०), ४. दाधिक घृत (सु०), ५. रजनी घृत (सु०), ६. त्रिफला घृत, (सु०), ७. तैल्वक घृत (सु०), ८. पञ्चतिक्त घृत (च० द०) ये घृत प्रचुर मात्रा में वैद्यों द्वारा प्रयुक्त हैं।

२. संशोधन कर्म—

१. ऊर्ध्वशोधन—मृदुवमन करायें।



२. अधःशोधन–विरेचन (इस रोग में सर्वोत्तम क्रिया-क्रम है)।

विशेष मन्तव्य—चरक चिकित्सा के १६ वें अध्याय में दोषानुसार विरेचन चिकित्सा वर्णन की है, वहां देख लें।

पाण्डु रोग और शास्त्रीय योग–

१. मानस चिन्ताजन्य—रौप्य भस्म, अभ्रक भस्म, नाग भस्म, कामधेनु रस, सुवर्णभूपति रस, अभ्र पर्पटी।

२. पित्तप्रकोपज पाण्डु—लौह भस्म, पन्ना भस्म, तार्क्ष्य भस्म, यशद भस्म, मण्डूर भस्म, त्रिफलारिष्ट, ताप्यादि लौह, बोल पर्पटी।

३. कफप्रधान पाण्डु—पीतल भस्म, ताम्र भस्म, त्रैलोक्य चिन्तामणि रस, नवायस चूर्ण, लक्ष्मीविलास रस, दशमूल क्वाथ।

४. धातुपरिपोषण में न्यूनता से—नाग भस्म, प्रवाल पिष्टी, लोह सिन्दूर, नारायण मण्डूर, लोहासव, हेमाभ्र सिन्दूर, रजतादि लोह, धात्री लोह, यकृत्प्लीहारि लोह, मूसली पाक, महामृगांक, लक्ष्मीविलास, त्रिफलारिष्ट, द्राक्षासव।

५. रक्तस्रावज—लोह भस्म, कासीस भस्म, गोमेद-मणि, त्रिफलारिष्ट।

६. रस विकृति जन्य—यशद भस्म, नारायण मण्डूर, हरीतकी रसायन।

७. अर्शोजन्य—लोहासव, अभ्रक भस्म, पित्तजपाण्डु में लिखे योग।

८. कृमिज पाण्डु—लोह भस्म, ताप्यादि लोह, लोह-सिन्दूर, नारायण मण्डूर, योगराज रस, लोहासव, कृमि-मुद्गर रस।

९. शुक्रक्षयज—वंग भस्म, लोह सिन्दूर, रसराज रस, रजतादि लोह, मूसली पाक, बृहद् स्वर्णमालिनी वसन्त, लोह भस्म, वज्र भस्म, वैक्रान्त भस्म, महामृगाङ्क, लक्ष्मीविलास, त्रिफलारिष्ट, द्राक्षासव।

१०. विष प्रकोपज—पन्ना भस्म, नारायण मण्डूर, आरोग्यवर्द्धिनी, चविकासव, अभयारिष्ट।

११. मलावरोधावस्था—नारायण मण्डूर, योगराज रस, विशालादि चूर्ण, हरीतकी रसायन।

१२. त्रिदोषज पाण्डु—पञ्चानन वटी।

१३. अग्निमान्द्यसह—लोहासव, हेमाभ्र सिन्दूर पञ्चामृत मण्डूर, गोमूत्रादि क्षार।

१४. ज्वरजन्य—कालमेघनवायस, लोह सिन्दूर योगराज रस, ताप्यादि लोह, लघुमालिनी वसन्त।

१५. श्वेताणु वृद्धिजन्य—पञ्चानन वटी, योगराज रस, प्लीहारि, लोह गुग्गुल, शृङ्गाराभ्र।

१६. मांसक्षयज—लोह सिन्दूर, अभ्रक भस्म।

१७. उपवृक्कविकारज—शतावरी घृत, बृहत् स्वर्ण-मालिनी वसन्त।

१८. शोथमय पाण्डु—पञ्चानन वटी, नारायण मण्डूर, तक्र मण्डूर, पुनर्नवा मण्डूर, दुग्ध वटी।

१९. मृदभक्षण जन्य—लोह भस्म, ताप्यादि लोह, माण्डूर भस्म, लघु मालिनी वसन्त, मृदु विरेचन रस।

२०. अतीसार जन्य—लोह पर्पटी, सुवर्ण पर्पटी,

और इन को भी सेवन करा सकते हैं—

१. चन्द्रसूर्यात्मक रस (भै० र०) २. पाण्डुसूदन रस (भै० र०) ३. योगराज रस (भै० र०) ४. आमलकावलेह भै० र०) ५. पाण्डुव्यथाशेष रस (र० यो० सा०) ६. पाण्डु-गजकेशरी रस (र० यो० सा०) ७. पाण्डुदलन रस (र० यो० सा०) ८. व्योषादि लोह (चरक) ९. पाण्डुरोगविध्वंसन रस (र० म०) १०. हितप्रभा गुटिका (र० यो० सा०) ११. धात्री लोह १२. अष्टादशांग लोह मण्डूर १३. कासीस भस्म १४. मधु मण्डूर आदि आयुर्वेदीय प्रयोग सदैव उप-योगी है।

विशिष्ट औषधियां–

१. धातु—शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध मण्डूर, शुद्ध कासीस, शुद्ध लौह आदि।

२. भस्म—मण्डूर भस्म, लौह भस्म, कासीस भस्म, ताम्र भस्म, अभ्रक भस्म आदि।

३. कल्क—मागधिका कल्क, विशालादि कल्क।

४. क्वाथ—पुनर्नवाष्टक क्वाथ, फलत्रिकादि क्वाथ, दशमूल क्वाथ आदि।

५. चूर्ण—नवायस चूर्ण, विशालादि चूर्ण।

६. गुटिका—माण्डूर वटक, शिलाजतु वटक, पञ्चा-नन वटी।

७. रस—पाण्डु कुठार रस पाण्डुनाशन रस, पाण्डु-

रोगान्तक रस 'शेष पूर्व कथित'।

८. आ-व—लोहासव, विभीतिकासव, लोध्रासव, कुमार्यासव आदि।

औषधि व्यवस्था

[१] स्नेहन विरेचन—रोगी पांडु रोग से पीड़ित हो, पांचों भेदों में से किसी भेद से आक्रान्त हो, सर्वप्रथम एक सप्ताह तक प्रातःकाल कल्याणक घृत १० ग्राम से ५० ग्राम तक रोगी के बल आदि को देखकर दें।

इससे एक पंथ दो काज सिद्ध होंगे। स्नेहन तो होगा ही, साथ-साथ विरेचन भी होगा। विरेचन से पित्त का स्राव भी होगा, जिससे पांडुत्व कम हो जायेगा।

अनेक रुग्ण मात्र विरेचन से ठीक हो गये है। विरेचन का सेवन करते हुए भी रोगी कभी दुर्बल नहीं होते देखा। इससे बढ़ा हुआ पित्त नष्ट हो जाता है। 'विरेचनं पित्तहराणां प्रशस्तेऽपि प्रशस्ततमम्।' पित्तनाशक उपायों में विरेचन का अपना स्थान है।

[२] वमन—स्नेहन कराने के पश्चात् तीक्ष्ण वमन कराएं। हम जिसे वमन को सेवन कराते हैं—मदनफल ६० ग्राम लेकर २ लिटर जल में उबाल लें। जब आधा जल शेष रह जाए तो उसको उतार छान लें। फिर इसमें मधु ६० ग्राम तथा पीपल चूर्ण ६० ग्राम मिला रोगी को थोड़ा-थोड़ा करके पिला दें। इससे रोगी को आधा घंटा के पश्चात् वमन प्रारम्भ होगी। यदि वमन न आए तो मुंह में अंगुली डालकर वमन कराएं।

विशेष मन्तव्य—पांडु अस्वेद व्याधि है। अतः स्वेदन नहीं कराना चाहिए।

पांडु में तीक्ष्ण वमन का उल्लेख पाया जाता है। 'स्नेहहितं वामयेत् तीक्ष्णं' तीक्ष्ण वमन कराने वाले द्रव्य पिप्पली, राई, सेंधव, सर्षप, मरिच आदि हैं। इन द्रव्यों का यथाविधि क्वाथ कर पिलावें।

एक सप्ताह 'कल्याणक घृत' देने के पश्चात् एक दिन, दिन में दो बार फलत्रिकादि क्वाथ दें। नौवें दिन वमन कराएं। इस प्रकार काय संशोधन कराएं, फिर औषधि दें—

(१) नवायस लौह—

मात्रा—प्रतिदिन २५० मिलीग्राम से प्रारम्भ करके प्रतिदिन १२५-१२५ मिलीग्राम बढ़ाते हुए १२५० मिली ग्राम तक दें। यदि इतनी मात्रा से रोगी अत्यधिक उष्णता अनुभव करे तो औषधि देते रहें। यदि उष्णता प्रतीत हो पांच दिन के पश्चात् फलत्रिकादि क्वाथ दिन में दो बार दें। यह चिकित्साक्रम दो मास तक चालू रखें। रोग तो १५-२० दिन में नष्ट हो जाता है।

भोजनोपरान्त दोनों समय—लौहासव भी देते रहें। यह अग्निदीपक, पाचक तथा रक्तवर्द्धक उत्तम योग है। लौहभस्म युक्त 'कुमार्यासव' भी भोजनोत्तर दे सकते हैं। अनुपान—गोमूत्र।

(२) पाण्ड्वान्तक—

लौहभस्म शतपुटी, प्रवालपिष्टी, सुवर्णमाक्षिक भस्म, अमृतासत्व १२५-१२५ मिलीग्राम, प्रातः सायं मधु के साथ दें। इससे रक्त की कमी, रक्त में श्वेताणुवृद्धि, निस्तेजता, दाह आदि शमन होकर रक्तवृद्धि होती है। यदि दाह न हो तो अमृतासत्व के स्थान पर ६४ प्रहरी पीपल समान भाग मिलाएं।

(३) मण्डूर गोमूत्र योग—

गोमूत्र भावित मण्डूर भस्म २५० मिलीग्राम प्रतिदिन प्रातः सायं गोमूत्र १०० मिलीलिटर के साथ देते रहने से पांडु शीघ्र दूर हो जाता है। इससे सशोथ पांडु नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार गोमूत्र को गोदुग्ध में मिलाकर पिलाने से भी पूर्ण लाभप्रद सिद्ध हुआ है।

दोषानुसार उपचार

(१) वातज पांडु में—सस्नेह विरेचन दें। कल्याण घृत-पञ्चगव्य घृत दें।

(२) पित्तज पांडु में—गोमूत्र के साथ त्रिवृतचूर्ण दें। महातिक्त घृत दें।

(३) कफज पांडु में—गोमूत्र सिद्ध हरीतकी दें।

(४) सब प्रकार के पांडु में—नवायस लौह, लोहासव, कुमार्यासव, विडङ्गासव दें।

विद्वान् वैद्यों के अनुभूत योग

(१) कुटकी १० ग्राम, खीरे के बीज ५ ग्राम लें। दोनों को २५० मिलीलिटर जल में डाल मिट्टी के पात्र में भिगो दें। प्रातःकाल ठण्डाई की भांति घोटकर २० ग्राम मिश्री मिलाकर पी लें। पांडु की अचूक दवा है।

—वैद्य गुगनराम यादव, मिश्री, भिवानी



(२) **षटसम चूर्ण**—आंवला, लौह भस्म, सोंठ, पीपल, कालीमरिच एवं हल्दी इन सबको समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर लें। मात्रा–१॥ ग्राम। अनुपान–मधु। सहपान–आंवला, अडूसा, गिलोय, हरड़, बहेड़ा, निम्बत्वक्,कुटकी,चिरायता समानभाग लेकर यवकुट करें। उसमें से १५ ग्राम लें, क्वाथ बना दोनों समय पिलावें।

पथ्य—यव, गेहूं, मूंग, हरी पत्ती की शाक, टमाटर, आंवला दें। —वैद्यभूषण मंगलचन्द्र आर्य, हिण्डोल

(४) **अद्भुत एवं अनुभूत चिकित्सा**—एक किलोग्राम मण्डूर को तीव्र आंच में गरम करके २१ बार गोमूत्र में बुझाएं। फिर २१ बार तक्र में बुझाकर गरम जल से धोकर लोहे के इमाम दस्ते में कूट लें। इस चूर्ण को गरम कर ७ बार गोमूत्र में बुझाकर गरम पानी से धोएं कि चमकने लगे। फिर लोहे के खरल में पीसें। पीछे मुंडी के स्वरस में १ दिन खरल कर त्रिफला के पानी में भिगो दें। शुष्क होने पर हाथीसुंडी के रस में भिगो दें। पीछे शुष्क होने पर खरल करें। फिर एक बार हाथीसुंडी के रस में भिगो दें, सूखने पर खरल कर तीक्ष्ण सिरका में तर करें। शुष्क होने पर एक हांडी में भर शराव सम्पुट कर कुम्हार की भट्टी में कच्चे बरतनों के साथ रख दें। स्वांगशीतल होने पर निकाल, खरलकर गन्धकाम्ल से तर कर पुनः आंच दें। स्वांगशीतल होने पर निकाल लें।

मात्रा—२५० मिलीग्राम। अनुपान—मक्खन या मलाई। प्रातः सायंकाल। गुण—क्षुधावर्द्धक है। रक्ताल्पता (पांडु) की विशेष अनुभूत औषधि है।

—वैद्य दलीपसिंह यादव, मिश्री, भिवानी

अञ्जन तथा नस्य द्वारा चिकित्सा

(१) द्रोणपुष्पी का रस नाक में टपकाने से पांडु रोग शमन हो जाता है।

(२) हरे आंवलों का रस दिन में २-३ बार दो-चार बिन्दु नेत्रों में डालने से लाभ होता है।

—वैद्य कृष्णदयाल

(३) हल्दी, गेरू, आंवले की सूखी कली प्रत्येक समभाग ले एकत्र पीस वस्त्रपूत कर गोभी [जङ्गली] के रस में घोट, वस्त्र से निचोड़ नेत्रों में अञ्जन करने से पांडु एक सप्ताह में अवश्य नष्ट हो जाता है।

—पं० बेनीप्रसाद शर्मा, "सराय आकिल"

(५) कड़वी तुम्बी स्वरस स्वच्छ छानकर प्रातः ४-५ बिन्दु नाक के दोनों छिद्रों में डाल जोर से सूंघकर चढ़ा लें और एक घूंट पी लें। इससे नाक द्वारा पीला पानी टपक-टपक कर निकल जायेगा, रोग दूर हो जायेगा।

—आचार्य खूबचन्द मिश्र, झुंझुनू

नस्य-अंजन तथा विरेचन से पांडु कैसे नष्ट होता है? आओ, इसको भी समझें। जैसा कि आपने सम्प्राप्ति में पढ़ा है। 'प्रबलवात किस प्रकार कुपित पित्त को सम्पूर्ण शरीर में फैलाता है।' बस उसी प्रकार 'विरेचन द्रव्यों का रस' रक्तादि धातुओं में प्रविष्ट हो बढ़े हुए पित्त को वापस लाता है।

अर्थात् विरेचक द्रव्य पचकर, रस बनकर रक्त में मिल, रक्त प्रवाह के साथ बढ़े हुए पित्त के पास पहुंचकर अपने गुण की शक्ति के साथ उन पित्तों को कोष्ठ की ओर लाते हैं। विरेचक द्रव्य रसायनिकों से शिराओं में होकर हृदय में पहुंचकर महाधमनी की शाखा-प्रशाखाओं से क्षुद्रान्त्र में ला गुदमार्ग से पित्तों को बाहर निकाल देते हैं। इसी प्रकार नस्य तथा अंजन भी कार्य करते हैं। अतः 'एनीमिया' को एक स्वतन्त्र व्याधि कहना युक्तिमुक्त नहीं। रक्ताल्पता मात्र से तो पांडु एक ही प्रकार का होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। पाण्डु हिस्टेरिया की भांति एक विचित्र रोग है। इसका निदान विचित्र है, लक्षण विचित्र हैं, फिर चिकित्सा विचित्र क्यों न हो? पाश्चात्य वैद्यक में 'एनीमिया' के निदान में 'रक्त मात्र की कमी, रक्तगत लाल कणों की संख्याल्पता अथवा विकृतस्वरूपता ही Anaemia कहा है।' नस्य अंजन से न रक्त बढ़ेगा, न लालकणों की वृद्धि होगी और न ही स्वरूपता आयेगी। इसीलिए तो यह विचित्र रोग है।

पथ्यापथ्य विचार—

१. **आहार**—पुरानेशालि,यव, गोधूम, मूंग का यूष, अरहर यूष, मसूर यूष, जांगल मांस रस। सत्तु आंवला रस,इक्षु रस या मधु के साथ। परवल, कूष्मांड, पुनर्नवा, गिलोय, प्याज, लहसुन। आम, आंवला, सन्तरा, द्राक्षा, खजूर, चीकू, केला। गोदुग्ध, तक्र, नवनीत, घृत आदि। ब्रह्मचर्य, विश्राम, अल्पकाम, मनःशान्ति।

अपथ्य—जो आहार निदान में कहे हैं छोड़दें,यथा—अम्ल, क्षार, लवण, अतिउष्ण, अतितीक्ष्ण, विरुद्धाहार, माष, तिल, मृत्तिकादि।



रोग का नाम तथा परिभाषा—

आतंकदर्पणकार—'उपेक्षितः पांडुरोगः कामलायै भवति' लिखकर कामला का परिचय देते हैं। पांडुरोग के बाद अपथ्यकर पदार्थों के सेवन से जो रोग बनता है वह कामला कहलाता है। पित्तल पदार्थों का अधिक सेवन ही वह अपथ्य है जो इस रोग को उत्पन्न करता है। ये पित्तलद्रव्य उसके पित्त, असृक् और मांस जलाकर कामला रोग को पैदा करते हैं—

पांडुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते॥
—च० सं० चि० स्था० अ० १६

रोगोत्पत्ति में कारण—

यद्यपि ऊपर परिभाषा में पांडुरोगी के पित्तवर्द्धक द्रव्यों के अतिशय सेवन के साथ कामला रोग की उत्पत्ति आयुर्वेदज्ञों ने जोड़ी है किन्तु आयुर्वेदीय वात, पित्त और कफ की परिधि से सर्वथा पृथक् अपना स्वतन्त्र अनुसन्धान कार्य करने वाले पश्चिमी विद्वानों ने कामला रोग की उत्पत्ति में बिलीरुबीन की बहुलता को महत्व दिया है। बिलीरुबीन एक वर्णक या पिगमेंण्ट है जो पीले रंग का होता है। जब यह रक्त में अपनी मर्यादा से अधिक हो जाता है तब यह शरीर को पीला रंग देता है। यह पीलिया कामला कहलाता है जिसे अंगरेजी में जॉण्डिस (Jaundice) कहते हैं। बिलीरुबीन की रसधातु में प्रकृत मात्रा ०.१ से १.० मिग्रा प्रति १०० मिलि. की मानी जाती है। सामान्यतः जब इसमें थोड़ी ही वृद्धि होती है—२ मिग्रा प्रति १०० मिलि तब तक शरीर पीला नहीं हो पाता पर उसका ज्ञान रसधातु के विश्लेषण (सीरम एनालाइसिस) से कर लिया जाता है। यह स्थिति पाश्चात्य चिकित्सकों में गुप्तकामला (लेटेंट जॉण्डिस) के नाम से जानी जाती है। जब यह मात्रा और बढ़ती है तो उसके कारण शरीर में पीलापन जगह-जगह प्रगट हो जाता है—

हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः।

आधुनिक आचार्यों ने इसके ३ प्रकार स्वीकार किये हैं—

१. अवरोधात्मक कामला, २. शोणांशी कामला, ३. विषाक्त कामला।

अवरोधात्मक में पित्तप्रणालियों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। यह अवरोध पित्ताश्मरियों द्वारा भी हो सकता है और दुर्दम अर्बुद द्वारा भी। अवरोध के कारण ग्रहणी में पित्त आता नहीं पित्त ही घी तैल वसा मज्जा आदि स्निग्ध भोज्य द्रव्यों को पचाने और प्रचूषण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वही मल को रंगता है। जब पित्त ग्रहणी में नहीं आता तो स्निग्ध द्रव्यों का पाचन और प्रचूषण दोनों ही रुक जाने से मल में चिकनाई आती रहती है और मल का रंग सफेद हो जाता है। पीलापन कोष्ठ को छोड़ देता है। शास्त्रकार इस रोग में तिलपिष्टनिभवर्चस् को स्वीकार करते हैं। तिल की पीठी सफेद होती है और तैलीय होती है। इस रोग में मल चिकना और सफेद मिलने से उपमा सटीक बैठती है जो आचार्यों की अवलोकन और शब्द क्षमता को प्रकट करती है। यही शाखाश्रित कामला है। क्योंकि इसमें पीलापन शाखा रक्तादयो धातवः में ही पाया जाता है मल में नहीं। पित्ताश्मरियों के कारण या कैंसर के कारण पित्तवाही स्रोतों का अवरोध शाखाश्रित अवरोधक कामला को जन्म देता है।

शोणांशीकामला या हीमोलाइटिक जॉण्डिस आधु-



निकों द्वारा स्वीकृत दूसरा प्रकार है। रक्त के लालकणों का किसी भी कारण से गलाव होने पर गले हुए लालकणों से बहुत अधिक मात्रा में बिलीरुबीन बनता है और शरीर को पीला कर देता है। यकृत् इस बिलीरुबीन को पित्तप्रणाली द्वारा बहुत अधिक मात्रा में निकालता है। वह ग्रहणी में पहुँच कर आंतों में संचित होकर मल को बहुत पीला कर देती है। यही आचार्यों का कोष्ठाश्रित कामला है। मलेरिया, ब्लैकवाटर फीवर, घातक रक्तक्षय आदि रोगों में या गलत वर्ग के रक्त का आधान कर देने से भी रक्त के लालकण गलने लगते हैं। मलेरिया के बाद का कामला कोष्ठाश्रित ही होता है। नवजात शिशु का कामला भी इसी वर्ग में आता है। कभी-कभी लालकणों की भंगुरता (फ्रैजिलिटी) सहज रूप से बढ़कर या रक्त में शोणांशीतत्व (हीमोलायसीन) की वृद्धि किसी अज्ञात कारण से हो जाने से भी यह रोग बनता है।

रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः।

इसका चित्र होता है।

तीसरा औपसर्गिक और विषजन्य कारणों से उत्पन्न कामला होता है इसे हिपैटोसैल्युलर जांडिस कहते हैं। इसी के अन्य नाम टॉक्जिक जॉडिस तथा इन्फैक्टिव जॉडिस भी हैं। विषाणुजन्य यकृत्पाक वाइरस इन्फैक्टिव हिपैराइटिस भी इस रोग को पैदा करती है। यह तीसरा प्रकार यकृत् की स्वतन्त्र व्याधि के परिणामस्वरूप बनता है। पहले प्रकार में अवरोध दूसरे में रक्तकणों का गलाव ये दो कारण प्रायः यकृत् बाह्य कारण हैं पर तीसरे में रोग की सीट सीधे यकृत् में ही होती है। इसमें पहले पांडुरोग हो और पित्तलद्रव्यों का अपथ्य किया जाय यह कारण-मीमांसा अनुपस्थित रहती है। विजयरक्षित ने इन तीनों प्रकारों की सत्ता स्वीकार करते हुए लिखा है—

कोष्ठशाखाश्रयेति एका कोष्ठाश्रयाः, अपरा शाखाश्रयाः, शाखा रक्तादयो धातवः। स्वतन्त्राऽपि कामला भवति, यथा राजयक्ष्मा स्वतन्त्र उपेक्षितेष्वपि कासेषु भवतीत्याहुः। उसका उदाहरण राजयक्ष्मा का सटीक है। जैसे प्रतिश्यायात् कासः कासात्क्षयः और क्षयात् शोषरूप राजयक्ष्मा परतन्त्ररूप में उत्पन्न होती तथा स्वतन्त्र भी होती है वैसे ही कामला भी परतन्त्र अवरोधात्मक शोणांशिक तथा स्वतन्त्र औपसर्गिक, विषाक्त, विषाणुजन्य आदि हो सकता है।

आचार्यों ने कामलाओं की ३ स्थितियां एक के बाद एक और स्वीकार की हैं—

१—कामला।

२—कुम्भ कामला कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भ कामला।

३—हलीमक।

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः॥

एक और स्थिति पान की माधवनिदान में और दी है—

सन्तापोभिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता।
पाण्डुतानेत्रयोर्यस्य पानकीलक्षणं भवेत्॥

कुम्भ का अर्थ कोष्ठ होने से इसे कोष्ठग या कोष्ठाश्रयी कामला भी कहते हैं। पर यह परतन्त्रकोष्ठग कामला है जो स्वतन्त्र कामला से कालान्तर में खरीभूत होने पर बनता है।

रोग के लक्षण—

दाहाविपाकदौर्बल्य सदनारुचिकर्षितः।

शरीर में दाह, भोजन का अविपाक, शरीर की दुर्बलता, शरीर का अवसाद और अरुचि ये ५ लक्षण तो प्रत्येक कामली में पाये जाते हैं।

तीनों प्रकार के कामलाओं में रोगलक्षण इस प्रकार मिलते हैं—

अवरोधात्मक शाखाश्रित कामला—

i. त्वचा और नेत्रकला का पीला हो जाना।

ii. तिलपिष्टनिभवर्चस्—सफेद या मटियाले रंग का चिकना मल आना।

iii. मूत्र में बिलीरुबीन का मिलना तथा यूरोबिलीनोजन का अभाव होना।

iv. खुजली, क्षुधानाश (अरोचक) और मुख में धातु (Metal) का स्वाद आना।

v. रक्त में बाइल लवणों के संचरण करने के कारण नाड़ी का मन्द हो जाना।

vi. स्नेहविद्राव्य विटामिन के (K) के बाइल के अभाव में प्रचूषित न होने के कारण उत्पन्न अभाव के

कारण यकृत् में प्रोथ्राम्बीन के निर्माण में कमी आने से रक्त जमने (कोएग्यूलेशन) का काल बढ़ जाता है जिससे रक्तस्राव या रक्तपित्त की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

vii. कालान्तर (Long standing) के द्वारा खरीभूत हुए कामली में यकृत् की कोशिकाओं का आघात हो जाने से चयापचयिक क्रियाएं जो यकृत् का मुख्य व्यापार है घट जाती हैं जिसके कारण कामली तन्द्राग्रस्त, अर्धचेतनायुक्त (Semi stuperose state) स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसे कोलीमिया या हिपैटिक कोमा कहते हैं जिसके बाद मृत्यु आती है—

प्रनष्टाग्निर्विसंज्ञश्च निर्यात्याशु स कामली।

—चरक चि. स्था. अ. १६ श्लो. ३७

शोणांशिक कामला—

i. कामला प्रकट या गुप्त (Latent) दोनों में से किसी भी प्रकार का मिल सकता है।

ii. प्लीहा बढ़ जाती है।

iii. रक्तक्षय के लक्षण मिलते हैं।

iv. रक्त में जालककोशिकाओं (रेटिक्युलो साइट्स) की अतिशय वृद्धि हो जाती है।

v. मल का वर्ण ब्राउन अथवा नारंगी (ऑरेंज) हो जाता है तथा उसमें यूरोबिलीनोजन की अधिक मात्रा पाई जाती है।

vi. मूत्र का वर्ण प्राकृत रहता है पर यदि इसे देर तक रखा रहने दें तो उसमें स्थिति यूरोबिलीनोजन ऑक्सीडाइज होकर यूरोबिलीन बन जाती है जो मूत्र को गहरे वर्ण का (Dark) बना देती है।

vii. इसमें न खुजली मिलती है और न यकृत् कोशिकाओं का आघात ही पाया जाता है।

विषाक्त औपसर्गिक कामला—

i. इसके लक्षणों में कारण के अनुरूप बहुत विषमता पाई जाती है। पीलिया किसी में कम किसी में गहरा मिलता है।

ii. मूत्र में यूरोबिलीनोजन तब तक अतिशय पाया जाता है जब तक यकृत् के भीतर की पित्तप्रणालियों में अवरोध के कारण रक्त से बिलीरुबीन को पित्तप्रणालियों तक पहुँचाने की शक्ति नष्ट न हो जाय। ऐसा होते ही मल से भी यूरोबिलीनोजन और यूरोबिलीन दोनों ही हट जाती हैं। मल का वर्ण श्वेत हो जाता है। मूत्र भी यूरोबिलिनोजन रहित हो जाता है।

iii. मूत्र में (यकृत् में आंशिक आघात होने पर) बिलीरुबीन पाई जाती है।

iv. शरीर में कण्डू, अक्षुधा, नाड़ीमान्द्य और रक्तस्राव उत्पन्न हो जाता है।

v. अन्त में रोगी मूर्च्छित (Comatose) होकर मर जाता है।

कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशंशूनश्च मानवः।
संरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति॥
दाहारुचितृषानाहतन्द्रामोहसमन्वितः।
प्रनष्टाग्निर्विसंज्ञश्च निर्यात्याशु स कामली॥

—च. चि. स्था. अ. १६

रोग की चिकित्सा के सिद्धान्त—

चरक ने पांडु एवं कामला की चिकित्सा के सिद्धान्तों के विषय में निम्नांकित वाक्य दिये हैं—

तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धस्तीक्ष्णै रूर्ध्वानुलोमिकैः।
संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः॥
ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत्।
शालयो यवगोधूमपुराणा यूषसंस्कृताः॥
मुद्गाढकमसूरैश्च जांगलैश्च रसैर्हिताः।
यथादोषं विशिष्टं च तयोर्भैषज्यमाचरेत्॥
पंचगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा।
स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापांडुरोगिणे॥

—च. चि. स्था. अ. १६

भैषज्य रत्नावलीकार ने इसे संक्षेप में यों दिया है—

साध्यन्तु पांड्वामयिनं समीक्ष्य
स्निग्धं घृतेनोर्ध्वमधश्च शुद्धम्।
सम्पादयेत् क्षौद्रघृतप्रगाढै
र्हरीतकीचूर्णमयैः प्रयोगैः॥

अर्थात् पांडु हो या कामली जो साध्य हो उसकी चिकित्सा में प्रवृत्त होवे। स्निग्ध तीक्ष्ण ऊर्ध्व (वमन) अनुलोमन (विरेचन) क्रियाओं से रोगी को शुद्ध करे। कामली को केवल मृदु और तिक्त योगों द्वारा विरेचन कर्म कराके शुद्ध करे। जब पांडु या कामला के रोगी पूर्ण शुद्ध





हो जाएं तब उन्हें पथ्यकर शालि, गेहूं, जौ ये सभी पुराने लेकर (रुच्यनुकूल जो हो) उसका यूष या दलिया बनाकर दें, साथ में मूंग, अरहर या मसूर की दाल अथवा जांगल जीवों के मांस का सिद्ध रस दें। उसके बाद जो दोष प्रकुपित हो उसका ध्यान करते हुए भेषजोपचार करें। इन रोगों में शहद, घी, (सिद्धघृत जैसे पंचगव्यघृत, महातिक्तघृत, कल्याणघृत या अन्य ग्रन्थोक्त—दाडिमादिघृत, कटुकाद्यघृत, पथ्याघृत, दन्तीघृत, द्राक्षाघृत, हरिद्राघृत) हरीतकी तथा लोहे के योग अच्छी मात्रा में दें।

चिकित्सा का सिद्धान्त है रोगी का स्नेहन कराके शोधन कराना फिर लौह योगों का प्रयोग करना। शोधन ऊर्ध्व वमन द्वारा और अधः विरेचन द्वारा बतलाया जाता है।

कुछ शास्त्रकार पांडु रोगी को वमन का निषेध करते हैं—

न वामयेत् तैमिरिकं गुल्मिनं न चापि पांडुदररोग पीडितम्।

पर साथ में यह निषेध भी मिलता है—

अवाम्या अपि ये प्रोक्तास्तेऽप्यजीर्णव्यथातुराः।
विषार्त्ताश्चोल्बणकफा वामनीयाः प्रयत्नतः॥

साथ ही—

कालर्त्तुदोषप्रकृति शरीरं समीक्ष्य दद्यात् वमनं विधिज्ञः।

ये सिद्धान्त पांडुरोग में जितने उपयोगी हैं उतने ही कामला में भी। कामला का सूत्र यह है—

रेचनं कामलार्त्तस्य स्निग्धस्यादौ प्रयोजयेत्।
ततः प्रशमनी कार्या क्रिया वैद्येन जानता॥

स्नेहन देकर रेचन और फिर प्रशमन चिकित्सा करनी चाहिए।

रोगी की तत्काल करणीय व्यवस्था—

जैसे ही कामला का रोगी वैद्य के पास आता है उसे यह ज्ञात करना चाहिए कि रोग स्वतन्त्र है या परतन्त्र, कोष्ठाश्रित है या शाखाश्रित, सामान्य है या कुम्भकामला या हलीमक और तदनुसार—

त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसः।
प्रातर्माक्षिकसंयुक्तः शीलितः कामलापहः॥

उक्त स्वरसों में से जो उपयुक्त हो शहद डालकर पिला देना चाहिए। नेत्रों में द्रोणपुष्पी स्वरस की बूंदें टपका देनी चाहिए। कुछ लोग नाक में बन्दाल के भीगे पानी की २-२ बूंदें डाल देते हैं। यह प्रयोग खतरनाक भी है और लाभदायक भी। इससे नाक से बहुत मात्रा में पानी टपकता है जो कभी-कभी बन्द न होने से जीवन खतरे में डाल देता है।

कामला की चिकित्सा में फलत्रिकामृतातिक्ता निम्बकैरातवासकाः—त्रिफला, गिलोय, कुटकी, नीम की छाल, चिरायता और वासा इन ८ द्रव्यों को ३-३ से ६-६ माशे तक लेकर चौगुने पानी में उबाल चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर १ तोले शहद डाल सवेरे शाम पिलाते हैं। साथ में मण्डूरवटक दिया जाता है। २१ दिन के प्रयोग से कामला रोग प्रायः शान्त हो जाता है।

भैषज्य रत्नावली का धात्रीलोह भी कामला रोग की उत्तम दवा मानी जाती है—

धात्रीलोह रजोव्योष निशाक्षौद्राज्यशर्करा।
लेहो निवारयत्याशु कामलामुद्धतामपि॥

आमले, लोहभस्म, सोंठ, मिर्च, पीपल, हल्दी इन सभी का चूर्ण शहद, घी और मिश्री मिलाकर देने से भयंकर कामला रोग भी दूर हो जाता है।

इसमें धात्री के स्थान पर विडङ्ग चूर्ण डालकर पुराने गुड़ से चटाने से हलीमक रोग दूर होता है।

योगरत्नाकर का आमलक्यवलेह भी अच्छा है। आंवलों का रस १० किलो लें उसे स्टेनलैस स्टील के भगोने में उबालें और गाढ़ा करके उसमें पिप्पलीचूर्ण ५०० ग्राम, मुलैठी चूर्ण १०० ग्राम, मुनक्कों का कल्क ५० ग्राम, अदरक १०० ग्राम, वंशलोचन १०० ग्राम, चीनी २॥ किलो डाल अवलेह बनालें। स्वांगशीतल होने पर ५०० ग्राम असली शहद डाल बरनी में भरकर रखें। इसे ५० ग्राम की मात्रा में सवेरे-शाम दूध के अनुपान से देने से पांडुरोग, कामला और हलीमक तीनों ही दूर हो जाते हैं।

यकृद्वृद्धिजन्य कामला में पर्पटाद्यरिष्ट प्लीहावृद्धि के साथ कामला में धान्यरिष्ट बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। तथा लोहासव, कुमार्यासव तथा द्राक्षासव तीनों मिलाकर किसी भी प्रकार के कामला कुम्भकामला और हलीमक तथा पांडुरोग में लाभदायक पाया जाता है।

घृतों में हरिद्रादि घृत उत्तम है—

हरिद्रात्रिफला निम्बबलामधुकसाधितम् ।
सक्षीरं माहिषं सर्पिः कामलाहरमुत्तमम् ॥

रोगी के आवश्यक परीक्षण—

कामला होने पर यकृत्क्रियापरीक्षण करने का आधुनिक विधान है। इन परीक्षणों से कौन कामला है, इसका ज्ञान होता है, यकृत् के रोगों का पता लगता है और यकृत्क्रिया कितनी है इसका ज्ञान होता है। इनसे यह भी अनुमान हो जाता है कि रोग कायचिकित्सा क्षेत्र का है या शल्य चिकित्सा क्षेत्र का।

ये परीक्षण कई प्रकार के होते हैं। इनमें चयापचय-क्रियाओं सम्बन्धी ३ परीक्षण किये जाते हैं—

पहला—परीक्षण कार्बोहाइड्रेट चयापचय का किया जाता है लीवूलोज या गैलैक्टोज खिलाकर। इनसे यकृत् ग्लायकोजन बनाता है या नहीं यह जांचा जाता है।

दूसरा—परीक्षण प्रोटीन चयापचय के ज्ञान के लिए किया जाता है, इसके लिए रसधातु से ऐल्ब्यूमिन तथा ग्लोब्यूलिन की मात्रा जांची जाती है। यकृत् के जीवितक कोशिकाओं से आघात होने से अल्ब्यूमिन का अनुपात घट जाता है। जीर्ण यकृद्रोग में अल्ब्यूमिन ग्लोब्यूलिन का प्राकृतिक जो अनुपात २:१ रहता है वह उलट जाता है। सीरम अल्ब्यूमिन की मात्रा घट जाने से बीटा और गामा ग्लोब्यूलिनों पर प्रभाव पड़ता है जिससे फ्लौक्युलेशन परीक्षण करना आसान हो जाता है—ये परीक्षण थायगोल टर्बिटिडी तथा कैफलीन कोलैस्टरौल फ्लौक्युलेशन कहलाते हैं। यकृत् में फाइब्रीनोजन की कमी से E. S. R. बढ़ जाता है।

तीसरा—परीक्षण हिप्पूरिक ऐसिड टैस्ट कहलाता है। यकृत् और वृक्कों में सोडियम बेंजोट ग्लायसीन से मिलकर मूत्र में हिप्पूरिकाम्ल की मात्रा बढ़ा देता है। यदि मुख या सिरा द्वारा सोडियम बेंजोट दिया जावे और वृक्क स्वस्थ हों तो कितना हिप्पूरिकाम्ल मूत्र में उत्सर्गित हुआ इससे यकृत् के रोग का पता चलता है।

कुछ परीक्षण यह जांचने के लिए किये जाते हैं कि पित्तप्रणाली खुली हुई है या अवरुद्ध है। इनमें निम्न परीक्षण महत्वपूर्ण हैं—

(१) सीरम अल्कलाइन फास्फेटेज कन्सेंट्रेशन परीक्षण—

अल्कलाइन फास्फेटेज एक ऐसा ऐंझाइम है जिसे यकृत् द्वारा रक्त से बाहर कर दिया जाता है और जो पित्त प्रणालिकाओं द्वारा उत्सर्गित होकर ग्रहणी में पहुंचा दिया जाता है। रक्तरस में इस ऐंझाइम की मात्रा २ से १० यूनिट प्रति १०० मिलि. सीरम प्राकृत रूप में रहती है। पर जब यकृत् की जीवितक (पैरेंकाइमल) कोशिकाओं में थोड़ा सा भी आघात हो जाता है तो इसकी मात्रा ३० यूनिट तक हो जाती है। अवरोधात्मक कामला में प्रति १०० मिलि. सीरम में इसकी मात्रा ३० से ७० यूनिट तक पाई जाती है। यह नहीं भूलना चाहिए कि फक्करोग, हाइपरपैराथायरायडिज्म तथा अस्थियों के सुदम या दुर्दम अर्बुदों की उपस्थिति में भी यह मात्रा बहुत बढ़ जाती है।

(२) ब्रोमसल्फाथैलीन एक्सक्रीशन परीक्षण—

ब्रोमसल्फाथैलीन एक रंग है। जब इसे सिरा द्वारा प्रविष्ट किया जाता है तो उसे यकृत् की जीवितक कोशिकाएं पकड़कर पित्त में उत्सर्जित कर देती हैं। इसे रक्त में प्रविष्ट करने के आधे घंटे बाद रक्त में इसके संकेन्द्रण का ज्ञान किया जाता है। यह परीक्षण विषाक्त कामला के ८० प्रतिशत रुग्णों में अस्त्यात्मक होता है। अधिक कामला उत्पन्न होने पर बिलीरुबीन की उपस्थिति में यह निरर्थक हो जाता है। अवरोधात्मक कामला में भी इसका कोई उपयोग नहीं है।

पित्तोत्सर्जन सम्बन्धी परीक्षण

यद्यपि ये परीक्षण यकृत् कोशिकाओं के आघात द्वारा भी प्रभावित होते हैं फिर भी इनसे पित्तप्रणालियों के अवरोध का पता चलता है। ४ परीक्षण इसके लिए किए जाते हैं—

टोटल सीरम बिलीरुबीन

रक्तरस में बिलीरुबीन की टोटल मात्रा चौथाई से एक मिलिग्राम प्रति १०० मिलि. रक्तरस प्राकृतरूप में रहती है। जब यह मात्रा २ मिग्रा प्रति १०० मिलि. सीरम या इससे ऊपर हो जाती है तो कामला है इसका ज्ञान होता है और अवरोध होने पर यह मात्रा बढ़ जाती है। शाखा-



श्रित कामला में तो रक्त में बिलीरुबीन की मात्रा निरन्तर बढ़ती जाती है जो पित्तप्रणाली के अवरोध को प्रमाणित करती है।

इक्टैरिक इन्डैक्स

यह पोटाशियम डाईक्रोमेट विलयन १.१०००० के साथ रोगी के सीरम के रंग का तुलनात्मक अध्ययन है। प्राकृतिक रूप में यह ३ से ६ यूनिट होता है। कामला में बढ़ जाता है। कैरोटीन रक्त में होने से यह परीक्षण अविश्वसनीय हो जाता है।

मूत्रगत बिलीरुबीन

मूत्र में बिलीरुबीन अवरोधात्मक तथा विषाक्त कामलाओं में मिलती है। इसकी उपस्थिति के लिए फौशट टैस्ट (Fouchet's Test) करते हैं।

मूत्रगत यूरोबिलीनोजन

यकृत् के सभी रोगों और कामला में मूत्रगत यूरोबिलीनोजन का ज्ञान बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। अवरोधात्मक कामला में बिलीरुबीन आन्त्र में नहीं पहुँचती इस कारण मूत्र में यूरोबिलीनोजन का पूर्णतः अभाव हो जाता है। पर जब पित्तप्रणालियों में कहीं कोई अवरोध नहीं होता तो यूरोबिलीनोजन की मात्रा मूत्र में बढ़ जाती है। चाहे शोणांशिक कामला हो या विषाक्त दोनों में ही मूत्र में यूरोबिलीनोजन की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। कभी-कभी जब कामला न हो पर मूत्र में इसकी मात्रा बढ़ी हुई हो तो समझना चाहिए कि यकृत् की कोशिकाओं में आघात उपस्थित है।

उपर्युक्त परीक्षण न केवल एक डाक्टर के लिए अपि तु एक हकीम और वैद्य दोनों के ही लिए इनकी बहुत उपयोगिता है इसे कदापि न भूलना चाहिए। इन परीक्षणों को बड़ी पैथालोजीकल प्रयोगशालाओं में ही सम्पादित किया जाता है।

आधुनिक चिकित्सा

कामला या जॉण्डिस के प्रत्येक रोगी को सिरा द्वारा ड्रिप विधि से ५ प्रतिशत ग्लूकोज जिसमें ५०० से २००० मिग्रा तक बिटामिन सी (रिडौक्शन-रौश) मिला दी गई हो देना आवश्यक होता है। १ से ३ बोतल तक दे सकते हैं। कौलिमिया में तो इसे निरन्तर दिये चले जाते हैं। औपसर्गिक कामला में पेनिसिलीन, क्लोरेम्फेनिकाल या टैट्रासायक्लीनवर्ग की दवाओं का इंजेक्शन या मुख द्वारा प्रयोग करना अनिवार्य होता है।

सिरोसिस आफलिवर के कारण उत्पन्न कामला असाध्यस्वरूप का होता है। इसमें हिमालयड्रग का लिव ५२ का शर्बत या बूंदें या गोलियों का अच्छी मात्रा में व्यवहार करना चाहिए। यह देशी दवा है जो सभी प्रकार के कामलाओं में उपयोगी है। विषाक्त कामला की यह अमोघ औषधि है।

कैंसरजन्य कामला के लिए बज्रभस्म माणिक्यभस्म और कुटकी १,४,३२ की क्रमशः मात्राओं में मिला १-१ रत्ती पुनर्नवा स्वरस में देते हैं। वज्र के स्थान पर वैक्रान्त भी ले सकते हैं।

इन रोगों की गम्भीरता का सदैव ध्यान रखना चाहिए—

छर्द्यरोचकहृल्लास ज्वरक्लम निपीडितः।
नश्यति श्वास कासार्तो विड्भेदी कुम्भकामली ॥

परिचर्या और पथ्यापथ्य निरूपण

पांडु और कामला रोग में पथ्यापथ्य का यह क्रम स्वीकारा गया है—

पथ्य—वमन, विरेचन, पुराने धान्य (शालि, गेहूँ, जौ) मूंग, मसूर, अरहर, जंगली जीवों के मांसरस, परबल, पुराना काशीफल, कच्चा केला, जीवन्ती, तालमखाना, मछेछी, गिलोय, चौलाई, सोंठ, द्रोणपुष्पी, बैंगन, लशुन, आम, हरड़, कुन्दरू, शृंगी मछली, गोमूत्र, आमले, मट्ठा, घृत, तैल, कांजी, नवनीत, चन्दन, हल्दी, नागकेसर, यवक्षार, लौहभस्म, केशर, यथादोष दें।

अपथ्य—रक्तमोक्षण, धूम्रपान, वमन के वेग का रोकना, स्वेदनकर्म, मैथुन, सेम की फली, पत्रशाक, हींग, उड़द, जल अधिक पीना, तिल पीठी, पान, सुरा, मिट्टी खाना, दिन में सोना, तीक्ष्ण पदार्थ, नदी जल, अम्लरस, विरुद्धाशन, गुरु अन्न, विदाही पदार्थ, अग्नि-धूप परिश्रम और पित्तवर्धक द्रव्य, क्रोध, पैदल यात्रा।

घातक रक्तरोग या ल्यूकीमिया

रोग का नाम तथा परिभाषा—

ल्यूकीमिया दो शब्दों से मिलकर बना है एक ल्यूको और दूसरा ईमिया। ल्यूको ल्यूकोसाइटों का संक्षिप्त रूप है जिसका अर्थ है रक्त के श्वेतकण; ईमिया हीमिया या रक्तता का वाची है। शाब्दिक अर्थ हुआ श्वेतरक्तता जिसका तात्पर्य होगा ऐसा रोग जिसमें रक्त के श्वेतकणों के उत्पादन करने वाले अंगों में बहुत अधिक क्रिया का होना जिससे रक्त में श्वेतकणों (ल्यूकोसाइट्स) की बाढ़ आजाय। प्लीहा भी उनमें एक श्वेतकणोत्पादक अंग होने से उसमें क्रिया-वृद्धि के साथ उसकी भी अतिशय वृद्धि हो जाती है। इसे आजकल रक्तकर्कट या ब्लडकैन्सर का नाम भी दिया जाता है।

रोगोत्पत्ति में कारण—

इस की उत्पत्ति किस कारण से होती है यह अभी तक अज्ञात है। इस रोग का समस्त व्यवहार दुर्दम अर्बुद जैसा ही होता है। इसमें अस्थिमज्जा और लसीका-ग्रन्थियों को छोड़ कर शेष भागों में जहां श्वेतकणों का निर्माण होता है वहां अनियन्त्रित रूप में कच्चे पक्के श्वेतकणों का बेशुमार उत्पादन होता है। दुर्दम अर्बुदों और ल्यूकीमिया की उत्पत्ति में अन्तर यह है कि दुर्दम अर्बुदों में जो आक्रमणात्मक प्रक्रिया रहती है जिसमें एक स्थान से रोग उठ कर अन्य अंगों में जाकर अर्बुदोत्पत्ति करता है वह यहां नहीं होता। यहां तो अस्थिमज्जा और लसीकाग्रन्थियों को छोड़ शेष श्वेतकणोत्पादक ऊतकों में एक साथ अगणित श्वेतकणों (ल्यूकोसाइट्स) का निर्माण होने लगता है। प्लीहा खूब बढ़ जाती है और यकृत् की भी वृद्धि होने लगती है। आगे चल कर लसीका ग्रन्थियों और अस्थिमज्जा में भी विकार उत्पन्न हो जाता है।

आयुर्वेद में कोशिकाओं का प्रगुणन वायु करता है। स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता और कर्त्ता चाऽऽकृतीनां भी यही है। ये आकृतियां सूक्ष्म कोशिकाओं से लेकर बड़े बड़े कोष्ठांग तक हो सकते हैं। गर्भकाल में और बाद में भी स्थूल और सूक्ष्म केशिकाओं और कोशिकाओं को तोड़-तोड़ कर विविध स्रोतसों और कणों के निर्माण में इसका योगदान बड़ा होता है। इस कारण यह महाव्याधि वातज है। वायु कफ और पित्त दोनों को नचाता-रहता है। श्वेतकण रक्त या पित्तस्थान में बनने वाले कफज अंश हैं क्यों कि श्वेत कण रंग से श्वेत होने से कफज ही हो सकते हैं। रक्त का निर्माण जिन अंगों में होता है उनमें यकृत् प्लीहा अस्थि-मज्जा तक आते हैं। रक्त के एक अंग श्वेतकण जो पांच प्रकार के होते हैं उनमें एक प्रकार लसीका ग्रन्थियों में बनता है। वायु सर्वत्र व्यप्त है यह कोशिकाओं का विभाजन करके कोशिकाओं की संख्या बढ़ाता है। कोशिका कफज और पित्तज अथवा पांच भौतिक द्रव्य से तैयार होती हैं इन पंचभूतों के समूह से बने पदार्थ से कोशिकाओं और अंगावयवों का निर्माण आत्मा की सन्निधि में मन की प्रेरणा से वायु द्वारा किया जाता है विना चेष्टा कोई व्यापार सम्पादित नहीं होता। कोशिकाओं का प्रगुणन भी चेष्टा या क्रिया द्वारा ही होता है। जिसे वायु करती है वायु प्रकुपित होकर इन क्रियाओं को अतिशय बढ़ा देती है जिससे श्वेतकणों का जो निर्माण सामान्यतया होता था वह बेहताशा बढ़ जाता है। वायु क्रिया की नियामक शक्ति खतम हो जाती है। यही कैन्सर की उत्पत्ति का हेतु है यही ल्यूकीमिया पैदा करता है। जिस दिन इस नियामक शक्ति का ज्ञान हो जायगा तभी इन दुर्दम (मैलिग्नेंट) अर्बुदों के प्रतीकार का सफल मार्ग प्रशस्त हो जायगा। रक्तपित्त की उपस्थिति से पित्त का प्रकोप भी स्पष्ट मिलता है।



रोग के लक्षण—

रोग शनैः-शनैः भी बढ़ सकता है पर उसके लक्षण सहसा उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं इस रोग में ३ लक्षण खास करके पाये जाते हैं :—

१. ज्वर, २. बेचैनी और अशक्ति तथा ३. रक्तक्षय।

रक्तक्षय बहुत तेजी से पैदा होता है। क्योंकि इस रोग में रक्त के बिम्बाणुओं की संख्या घटती चली जाती है जिससे रोगी को रक्तस्राव होने लगता है। कभी नाक से रक्तस्राव होता है कभी मसूड़ों से और कभी अन्य भागों से त्वचा में रक्तस्राव के बिन्दुक (पर्प्यूरिक हैमोरेजैज) पाये जाते हैं।

i. गला पक जाता है (Sore throat)
ii. मुख व्रणों से भर जाता है।
iii. पेशीशूल (Myalgia) होता है।
iv. अस्थिसन्धियों (Joints) में दर्द होता है।
v. प्लीहोदर हो जाता है।
vi. यकृत्वृद्धि होती है।
vii. यकृत्प्लीहोदर रोग की भी अन्तिमअवस्था का सूचक होता है।

viii. उपसर्गरोधी श्वेतकण पौलीमार्फोन्युक्लियर ल्यूकोसाइटों की कमी होने के फलस्वरूप गले और मुख में उपसर्गकारी जीवाणु अड्डा जमा लेते हैं।

ix. लसीका ग्रन्थियों में भी उपसर्गकारी जीवाणु भर जाते हैं।

x. रक्त की परीक्षा करने पर लालकणों (ऐरिथ्रो-साइट्स) के पूर्वज नॉर्मोब्लास्ट्स काफी मात्रा में देखे जाते हैं। अस्थिमज्जा में श्वेतकणों की भरमार से क्षुब्ध हुई अस्थिमज्जा से रेटिक्युलोसाइट्स भी बड़ी तादाद में बन-कर रक्तधारा में मिलते रहते हैं। बिम्बाणुओं की संख्या घट जाती है जिससे रक्तस्रावकाल बढ़ जाता है।

xi. रक्त के श्वेतकणों की संख्या में अपार वृद्धि होती है। यह प्रायः २०००० से ५०००० प्रतिघन मिलीमीटर तक चली जाती है जिसमें ल्यूकोसाइट्स की पूर्ववर्ती या जनक कोशिकाओं का प्रतिशत ३० से ९० तक रहता है।

रक्त के श्वेतकण ३ प्रकार के होते हैं। बहुन्यष्टीय एकन्यष्टीय और लसीकोशा। बहुन्यष्टीय या कणात्मक के कारण मायलॉयड ल्यूकीमिया बनता है। इसमें मायलो-साइट्स तथा ग्रेन्युलोसाइट्स इन दोनों की बहुलता होती है। दूसरे एकन्यष्टीय ल्यूकीमिया में मौनोसाइट्स की बहुतायत पाई जाती है। लसीकोशिकीय ल्यूकीमिया में लिम्फोसाइट्स की अतिवृद्धि पायी जाती है। कभी-कभी इन विविध श्वेतकणों और उनके पूर्ववर्ती कोशिकाओं को पहचानना सरल नहीं हो पाता।

इन लक्षणों के प्रकाश में यदि हम आयुर्वेद ज्ञान का उपयोग करें तो ज्ञात होगा कि यह एक ऐसा रोग है जिसमें रक्तक्षय या पांडुरोग, रक्तस्राव या रक्तपित्त, ज्वर, यकृत्प्लीहोदर और व्रणात्मक मुखपाक एक साथ प्राप्त होते हैं।

रक्तपित्त के विविध कारणों में से सब या कुछ के कारण प्रकुपित हुआ पित्त रक्त में चला जाता है और उसके प्रमाण को बढ़ा देता है वही यकृत्प्लीहास्थ रक्त-वहस्रोतों में पहुँच कर उनको अवरुद्ध करके तत्रस्थ रक्त दूषित कर देता है—

(विविधहेतुभिः) पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते। तस्मिन् प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनु सर्पद्देव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात् तदैव लोहितंदूषयति संसर्गात्। इस विवरण से इस रोग में प्रकुपित पित्त की भूमिका भी स्पष्ट हो जाती है।

रक्तपित्त का आगे का वर्णन भी ल्यूकीमिया के वर्णन के साथ मेल खाता है।

मार्गौ पुनरस्य द्वौ ऊर्ध्वं च धश्च तद्बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसंसर्गादूर्ध्वं प्रपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते। बहुवाते तु शरीरे वातसंसर्गादधः प्रपद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते बहुवातश्लेष्मणि तु शरीरे श्लेष्मवातसंसर्गात्द्वावपि मार्गौ प्रपद्यते, तौ मार्गौ प्रपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य।

इस रक्तपित्त के २ मार्ग हैं। एक ऊर्ध्व और दूसरा अधः। जब यह श्लेष्मा की बहुलता से युक्त होता है तब ऊर्ध्व मार्गों से रक्त का स्राव होने लगता है। कान, नाक, नेत्र और मुख से निकलता है। वायु की अधिकता से इसका गमन नीचे की ओर होने से मूत्र और पुरीषमार्गों से रक्तस्राव होता है। जब वात और कफ दोनों प्रकुपित हो जाते हैं तब दोनों मार्गों से ही रक्त का स्राव होने लगता है यही नहीं सभी छिद्रों से (त्वचा से भी) रक्त-स्राव होता है। ल्यूकीमिया की दृष्टि से यह उपपत्ति सटीक बैठती है।

चरक ने रक्तपित्त की उत्पत्ति दक्ष-यज्ञ रुद्रद्वारा किये गये विध्वंस के साथ जोड़ी है। उस विध्वंस में ऐटोमिक शक्ति का उपयोग हुआ था। आज जो ल्यूकीमिया रोग बढ़ रहा है सम्भव है कि विविध परमाणु-परीक्षणों के फलस्वरूप वातावरण में बढ़े हुए विकिरण (रेडिएशन) ही इसका कारण हो।

रक्तपित्त प्रकोपस्तु खलु पुरा दक्षयज्ञोद्ध्वंसे रुद्रकोपामर्षाग्निना प्राणिनां परिगतशरीरप्राणानां अभवत् ज्वरं अनु।
—च० सं० नि० स्था० अ० २।

इस रोग की वृद्धि का क्रम भी उतना ही उग्र और आशु होता है जितना कि रेडियेशन प्रभूत रोगों का देखा जाता है।

इसके उपद्रवों में चरक ने—

दौर्बल्य, अरोचक, अविपाक, श्वास, कास, ज्वर, अतीसार, शोफ, शोष और पाण्डुरोग को गिनाया है जो सभी ल्यूकीमिया में लक्षण या उपद्रव रूप में मिलते हैं।

आरम्भ में रोग कौनसा है पहचानना कठिन होता है। अनेक उग्र और तीव्र रोगों के साथ ल्यूकीमिया का साहश्य देखा जाता है। जैसे मिलियरी ट्यूबर्क्युलोसिस, तीव्र आमवातज ज्वर, औपसर्गिक एकन्यष्ट्युत्कर्ष (एक्यूट मोनोन्युक्लिओसिस)। इनके अतिरिक्त अप्लास्टिक रक्तक्षय और शोणांशी रक्तक्षय के साथ भी साहश्य पाया जाता है। इस रोग को पहचानने में निम्न लक्षण बहुत सहायक सिद्ध होते हैं :—

उत्तरोत्तर वृद्धिगत पाण्डुरोग।

प्लीहा की अभिवृद्धि जो बहुत बाद में होती है।

यकृत् की अभिवृद्धि।

लसीका ग्रन्थियों की अभिवृद्धि।

परिसरीय रक्त में अपरिपक्व श्वेत कणों की अति बहुलता।

अस्थिमज्जा में प्राकृत कोशिकाओं के स्थान पर श्वेत कणों के पूर्वजों (अपरिपक्व श्वेत कणों) का बाहुल्य।

इस रोग की एक सबल्यूकीमिक फॉर्म भी होती है जिसमें श्वेतकण गणना में तो प्राकृत संख्या में ही रहते हैं पर उनमें अपरिपक्व श्वेतकण बहुत अधिक होते हैं। अस्थिमज्जा की बायोप्सी स्पष्ट तीव्र ल्यूकीमिया को प्रकट कर देती है।

यह रोग प्राणघातक होता है। मृत्यु रक्तक्षय, उपसर्ग या रक्तस्राव के कारण होती है। एकन्यष्टिजन्य ल्यूकीमिया कुछ देर लेता है। इस रोग में मृत्यु कुछ सप्ताहों से लेकर डेढ़ वर्ष तक हो ही जाती है। कुछ रोगियों में वैद्यों ने सफलता का भी दावा किया है। रोगी ३ से ५ वर्ष तक जिलाया जा सकता है।

रोग की चिकित्सा के सिद्धान्त—

इस रोग में रक्त के चित्र को प्राकृत गणना में रखने का यत्न किया जाता है।

रोगी को तत्काल करणीय व्यवस्था——

जैसे ही वैद्य के पास रोगी लाया जाता है उसे शान्ति से देखना चाहिए। रोग मारक है यह जानते हुए भी उसे बजाय डर दिखाने के आश्वासन देना चाहिए कि उसकी रक्षा की जा सकती है। उसे सुप्रकाशित, स्वच्छ, वातानुकूलित प्रकोष्ठ में रख देना चाहिए। यदि उसे रक्तस्राव हो रहा है तो आदि में उसे रोकना निषिद्ध बतलाया गया है क्योंकि वही ल्यूकीमिया का जनक और मृत्यु कारक हो सकता है—

नोद्रिक्तमादौ संग्राह्यं बलिनोऽप्यश्नतश्च यत्।
हृत्पांडुग्रहणीरोगप्लीहकण्डू ज्वरादिकृत्॥

यदि रोगी बलवान् ही हो आरम्भ में हुए रक्तस्राव को रोकना नहीं चाहिए क्योंकि रोक देने से हृद्रोग, पांडुरोग, ग्रहणीरोग, प्लीहोदर, खुजली और ज्वर हो जाते हैं। ये सभी मिलकर ल्यूकीमिया का लक्षण समुच्चय बनाते हैं।

जितना रक्त निकल जाय [यह दूषित रक्त होता है जिसमें अपरिपक्व श्वेतकण भरे होते हैं] उसकी पूर्ति ठीक ठीक मैच करके किए गये रक्ताधान [ब्लड ट्रान्सफ्यूजन] से की जानी चाहिए।

इस रोग में सन्तर्पणज चिकित्सा का निषेध है। अपतर्पणज चिकित्सा का विधान किया जाता है—

ऊर्ध्वं प्रवृद्धदोषस्य पूर्वं लोहित पित्तिनः।
अक्षीणबलमांसाग्नेः कर्त्तव्यमपतर्पणम्॥
—भै० र०



अपतर्पण लंघनों से आरम्भ होता हैं। रोगी को दोष और बल का ध्यान देते हुए ३ या ५ दिन तक लंघन करावें।

यदि रोगी इस काबिल नहीं हो कि उसे लंघन कराया जा सके तो उसे क्षुद्रधान्य [सवां, कामनी, कोदों] का सेवन कराया जावे साथ में मसूर, अरहर, मूंग की दाल दी जा सकती हैं। पत्रशाकों का प्रयोग किया जा सकता है।

रक्तस्रावकाल में गूलर, अंजीर, पीपल, वरगद इनमें जिसके कच्चे पक्के फल मिल जाएं उन्हें कूटकर पानी डालकर रस निकाल लें। इस रस को शहद डालकर बार बार पिलावें। रोगी को अंगूरों का रस १-२ गिलास भरकर प्रतिदिन देना चाहिए।

टट्टी बराबर आती रहे इसके लिए काली निशोथ का चूर्ण या अविपत्तिकर चूर्ण उचित मात्रा में सोने से पूर्व जल के साथ अवश्य देना चाहिए।

नाक से रक्तस्राव होने पर आम की गुटली की मींगी का ताजी रस या सूखी में पानी डालकर बनाए रस की बूंदें टपकाना चाहिए। आमले की लुगदी को घी में छोंक-कर उसे ठण्डाकर माथे पर मोटा-मोटा लेप कर देना चाहिए। पियाबांसे या अडूसे के पत्रों का पुटपाक विधि से रस निकलवाकर सवेरे शाम १-१ छटांक अवश्य पिलाना चाहिए।

आधुनिक रोगों में कौनसा आयुर्वेदीय योग काम आ सकता है, उसे खोजने के लिए वैद्य को चाहे जिस योग को नहीं दे देना चाहिए, चाहे वह इसी अधिकार का क्यों न हो। शास्त्र में सभी स्थितियों से निपटने के लिए योग दिये गये हैं। ल्यूकीमिया में रक्तपित्त और प्लीहोदर तथा पांडुरोग इनको दूर करने वाला भैषज्य रत्नावली के रक्तपित्त प्रकरण में एक ही रसयोग है और वह है खण्ड-काद्यलौह इसके गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है—

यथाकालं प्रयुञ्जीत बिडालपदकं ततः।
गव्यक्षीरानुपानं च सेव्यं मासरसं पयः॥
रक्तपित्तं क्षयं कासं पक्तिशूलं विशेषतः।
वातरक्तं प्रमेहं च शीतपित्तं वमिं क्लमम्॥
श्वयथुं पाण्डुरोगञ्च कुष्ठप्लीहोदरन्तथा।
आनाहं रक्तमाश्वेवमम्लपित्तं निहन्ति च॥

इसी प्रकार पाण्डुरोगाधिकार का त्रिकत्रयादिलौह प्लीहवृद्धि, अम्लपित्त, कास, ज्वर, पाण्डु रोग, कामला, हलीमक नाशक है पर इसमें रक्तपित्त को दूर करने के विषय में कुछ भी नहीं लिखा इस लिए इसे रक्तस्राव के पूर्व की अवस्था में दे सकते हैं।

भैषज्यरत्नावली का चन्द्रसूर्यात्मक रस जीर्ण ज्वर रक्तपित्त, अरोचक, शूल, प्लीहोदर, हिक्का, वमि, भ्रम सभी में उपयोगी है। इसे जल से देना चाहिए।

जिस ल्यूकीमिया में लसीका ग्रन्थियां भी सूज जांय वहां पाण्डु रोगाधिकार का प्राणवल्लभ रस दिया जाना चाहिए।

यदि प्लीहा की वृद्धि होने लगी हो तो सहंजन की छाल का क्वाथ बनाकर अम्लवेतस और सैंधव डालकर पिलाते रहना चाहिए। अम्लवेतस के लिए थैकल (गार्सी-निया पेडंक्युलैटा) का व्यवहार करना चाहिए बाजार में जो नकली वेणी रूप गुंथी हुई रेवन्द्रचीनी की जड़ें आती हैं उन्हें न दें। पिप्पली वर्द्धमान क्षीरपाक देना भी उचित माना गया है। दूध में प्रतिदिन १ पिप्पली बढ़ाते जायं २१ तक बढ़ाकर घटावें यही क्रम चालू रखें। रसेन्द्रसार संग्रह का प्लीहारि रस शहद के साथ देना चाहिए—

असाध्यमपि प्लीहानं हन्त्यवश्यं न संशयः।
यकृतं पाण्डुरोगञ्च गुल्मादिभगन्दरम्॥

भै० र० के प्लीहशार्दूलरस, प्लीहार्णवरस, प्लीहारि-वटिका में से जो मिले दें।

यदि ज्वर साथ में रहे तो महामृत्युंजय लौह दें। सर्वेश्वरलौह अदरक के रस के साथ वैक्रान्तभस्म या हीरा की भस्म के साथ देने से बहुत लाभ होता है—

चूर्णं सर्वेश्वरं नाम सर्वरोगहरं भवेत्।
कठोरप्लीहनाशाय गुल्मोदरहरं तथा॥
कामलां पाण्डुमानाहं यकृत्क्रिमिकृतामयान्।
प्लीहानमस्रपित्तञ्च ह्यग्निमान्द्यं सुदुस्तरम्॥
श्रीकरंकान्तिजननं शक्रायुर्बलवर्द्धनः॥

इन योगों के मुरब्बे योग खण्ड में अलग से दिये जावेंगे।

आधुनिक चिकित्सा में क्ष-किरणों के स्थान पर रेडियोफांस्फोरस (P 32) का प्रयोग किया जाता है। कणात्मकल्युकीमिया में मायलैरन (mylaran) के प्रयोग

से बहुन्यष्टीय श्वेतकणों की संख्या कम रखी जाती है। जिनमें रेडियोफास्फोरस के प्रति प्रतिरोध हो उन्हें इसे देते हैं। रेडियोफास्फोरस को सोडियम एसिड फास्फेट के रूप में तैयार करके सवेरे के कलेऊ के ३ घंटे बाद खिला देते हैं। घण्टे भर कोई भोजन नहीं देते। इसकी मात्रा का निर्धारण विशेष विधि से किया जाता है। सकल श्वेत कण गणन यदि ५०००० तक हो तो इसे आरम्भ में ४ से ७ मिलीक्यूरी की मात्रा में देते हैं। २००००० से ऊपर होने पर आरम्भ में ७ से ९ मिलीक्यूरी देते हैं। हर महीने रक्त का परीक्षण करते रहते हैं। साल में ३ या ४ मात्रायें काफी होती हैं।

माइलैरन भी मुख द्वारा दिया जाता है। मात्रा सामान्यतः आरम्भ में ४ से ६ मिग्रा रहती है। अधिक श्वेतकण गणन मिलने पर इसे आरम्भ में ८ से १० मिग्रा तक भी देते हैं। रक्तगणन हर हफ्ते करना पड़ता है। इसे प्रति दिन देते हैं। रक्त का सकल गणन जब १५००० रह जाता है तो इसे बन्द कर देते हैं। कणात्मक ल्यूकीमिया में यह दिया जाता है।

जीर्ण लिम्फोसायटिक ल्यूकीमिया में पहले रक्त में लसीका कोशिकाएं बढ़ती हैं फिर लसग्रन्थियों में वृद्धि होती है साथ ही प्लीहोदर भी हो जाता है। तिल्ली बढ़ने लगती है। जब सकल गणन ५०००० से ऊपर जाता है तब चिकित्सा की जाती है। आरम्भ में TEM से लाभ होता है। कलेऊ से १ घंटे पूर्व ५ मिग्रा TEM पानी के साथ दिया जाता है। यदि सकल गणन न घटे तो दो सप्ताह बाद इसे फिर देते हैं। महीने में १ या २ बार ५ मिग्रा देने से ही रक्त के श्वेत कणों का सकल गणन १० से २० हजार रखा जा सकता है। जब TEM फेल हो जाता है तब विकिरण द्वारा चिकित्सा करते हैं इसमें रेडियोफास्फोरस का प्रयोग नहीं किया जाता है। इस रोग में आगे चलकर कार्टीकोस्टराइड्स का प्रयोग भी किया जाता है। २५ मिग्रा प्रेडनीसोन प्रतिदिन तक देते हैं।

तीव्र ल्यूकीमिया में एमीनोप्टैरिन बच्चों को ०.५ से १ मिग्रा तक तथा बड़ों को १ से २ मिग्रा तक देते हैं। इसके स्थान पर ५ गुनी मात्रा तक ए-मेथोप्टैरिन का भी प्रयोग किया जाता है। जब श्वेतकण गणन प्राकृत हो जाता है तब इन द्रव्यों की मात्रा चौथाई से आधी तक करके दी जाती है। इन द्रव्यों से मुखपाक होने का डर रहता है ये एण्टी फालिकाम्ल द्रव्य जिन्हें फॉलिकऐसिड एण्टागोनिस्ट भी कहते हैं इस रोग में प्रयुक्त होते हैं। एक प्यूरीन एण्टागोनिस्ट ६-मर्कैप्टो यूरीन (6 MP) उन्हें दिया जाता है जो एमीनोप्टैरिन या ए-मैथोप्टैरीन द्वारा ठीक नहीं होते। यह २.५ मिग्रा प्रतिकिलो शरीर भार के अनुसार ५० मिग्रा तक मुख द्वारा दी जाती है। प्रति दूसरे तीसरे दिन रक्त के श्वेतकणों का गणन किया जाता है। तब तक प्रतिदिन दवा दी जाती है जब तक प्राकृत से नीचे गणन न पहुँच जावे। तीव्र लसात्मक ल्यूकीमिया में कार्टिकोस्टरोइड्स (ए. सी. टी. एच. कार्टीजन, डैकाड्रोन, प्रेडनीसोन, प्रेडनीसोलोन) भी अच्छा काम करते हैं।

कुछ लोग मिश्रित आधुनिक चिकित्सा का प्रयोग करते हैं ३०० मिग्रा कार्टीकोस्टराइड तथा ३०० से ४०० मिग्रा ६-मर्कैप्टोप्यूरिन आरम्भ में देते हैं प्रतिदिन। बाद में घटा देते हैं। इस विधि से ६ महीने से २ वर्ष तक रोगी का जीवन खींचा जा सकता है। यदि साथ में आयुर्वेदीय योग तथा पथ्यापथ्य और दिया जावे तो ५ वर्ष तक भी रोगी जिन्दा रखा जा सकता है।

रोगी के उपद्रवों की चिकित्सा बराबर की जानी चाहिए। यदि पांडु या रक्तक्षय के लक्षण प्रगट हों तभी रक्ताधान कराना चाहिए। वैसे ५ से ८ ग्राम हीमोग्लोबिन रहने तक आवश्यकता नहीं होती।

इस रोग में पित्तप्रकोप बहुत होता है। अंगरेजी दवाएं सभी बहुत गरम हैं इस कारण हानि होने की सदैव सम्भावना रहती है। रक्त के बिम्बाणु रक्ताधानी रक्त में कांच की बोतलों में सुरक्षित नहीं रहते उनके लिए रक्त को प्लास्टिक बैग या सिलीकोनाइज्ड कांच की बोतलों में रखा हुआ ही प्रयोग में लाना चाहिए। पैत्तिक प्रकृति के रोगियों में अंगरेजी दवाओं की मात्रा कम से कम प्रयुक्त करनी चाहिए।

इस रोग में उपसर्ग खतरनाक रूप ले सकते हैं इसलिए उन्हें बचाने तथा होने पर सशक्त इलाज करने की आवश्यकता है।

पथ्यापथ्य—

विरेचन, लंघन, पुराने शालि, सवां, कोदों, शहद, मूंग, मसूर, जौ, गोघृत, गो दुग्ध, केला, अंगूर, मिश्री, वातानुकूलित प्रकोष्ठ, प्राकृतिक वातावरण पथ्य हैं।

ट्रॉपीकल ईओसीनोफिलिया

रोग का नाम तथा परिभाषा—

इस रोग का नाम २ शब्दों से मिलकर बना है जिसमें एक है ट्रापीकल जिसका अर्थ है उष्णकटि बन्धीय और दूसरा है ईओसिनोफिलिया जिसका अर्थ होता है रक्त के ईओसिनोफिल (उषसिप्रिय) प्रकार के श्वेतकणों (ल्यूकोसाइट्स) की अभिवृद्धि होना।

इस प्रकरण के दूसरे पृष्ठ पर रक्त के सम्बन्ध की नार्मल वैल्यूज (प्राकृतमान) का विवरण (डाटा) दिया गया है। उस विवरण के अनुसार ईओसीनोफिल नामक श्वेतकणों का सापेक्षगणन (डिफरेंशियल काउण्ट) १ से ४ प्रतिशत तक प्राकृत रहता है जब उससे यह ऊपर चला जाता है तब रोग बनता है। यह इस रोग का ज्ञान रक्त के सापेक्षगणन से ही सम्भव है इसलिए इसका नाम भी इस गणन के आधार पर ही डाला गया है। साथ ही रक्तोत्पादक अंगों में ईओसीनोफिल कोशिकाओं का अपने प्राकृतमान से अधिक संख्या में बनना ही रोग का ज्ञान कराता है इसलिए इस रोग को रक्तोत्पादक अंग के प्रकरण में ही इस विशेषांक में समाविष्ट किया जा रहा है।

रोगोत्पत्ति में कारण—

गणन—इस पर प्रकाश डालने के पूर्व रक्त के श्वेत कणों का सकलगणन और सापेक्षगणन किस प्रकार किया जाता है इसे स्पष्ट किया जा रहा है। इसके लिए अंगुली की सूक्ष्मसिरा का रक्त काम में लिया जाता है। पहले अंगुली के अग्रपोर को स्पिरिट लगी रुई से साफ कर लेते हैं। फिर जब स्पिरिट सूख जाती है तब किसी सुई से या यन्त्र से अंगुली को कोंच देते हैं। जिससे रक्त की बूंद आ जाती है जिसे स्वच्छ रुई से पोंछ डालते हैं तथा अंगुली को दबा दबाकर एक बड़ी बूंद रक्त क्षत स्थान से पिपट द्वारा ०.५ के निशान तक खींच लेते हैं। इसके बाद श्वेतकण द्रव (W. B. C. fluid) इसी पिपट में १०१ के निशान तक खींचकर पिपट को कई बार हिलाया जाता है ताकि रक्त और द्रव दोनों मिल जायं। इस रक्त मिश्रित द्रव से एक बूंद काउण्टिग चैम्बर में इस प्रकार डालते हैं कि गणना के खाने भर जायं। इस चैम्बर में १ मिलीमीटर का केन्द्रिय भाग छोटे-छोटे खानों में बंटा होता है। इसीमें इसे डालते हैं। थोड़ी देर (१ मिनट) रुक कर जबकि द्रव की कोशिकाएं स्थिर हो जायं इसे माइक्रोस्कोप के नीचे रखकर पढ़ते हैं। गणना सोलहों खानों में की जाती है। बांये और ऊपर की ओर के श्वेत-कणों को गिनते हैं दांये ओर नीचे के नहीं। थोमाजीस काउण्टर प्रयोग में लाने पर इस गणना को २,३ से गुणा कर देने पर सकलगणन (टोटल काउण्ट) श्वेत कणों का आ जाता है। न्यूबावर काउण्टर में कुल ४ वर्गों को गिनकर ५० से गुणा किया जाता है। सापेक्षगणन (डिफरेंशियल काउण्ट)—कांच के एक स्वच्छ स्लाइड पर अंगुली से एक छोटी बूंद रक्त की रखकर दूसरे स्लाइड के किनारे से उसे पहले स्लाइड पर एकसा फैला देते हैं। ध्यान यह रखते हैं कि रक्त का यह प्रलेप बहुत पतला न बने।

रंजन (१) ईओसीन तथा हीमेटोफायलीन द्वारा या (२) राइट अथवा लीशमेन रंग से करते हैं। पहले में ईओसीन के अल्कोहोलिक घोल की बोतल में स्लाइड को १-२ मिनट के लिए डुबो देते हैं फिर निकालकर पानी से धो डालते हैं फिर जब अच्छी तरह धुल जाता है तो स्लाइड को ३-५ मिनट तक ही मैटोक्षायलिन के घोल की बोतल में डुबो देते हैं। फिर निकालकर इस पर धीरे-धीरे पानी खूब डाल डालकर धो देते हैं। अब इसे सुखाते हैं।

दूसरी विधि में स्लाइड के ऊपर जिस पर रक्त का प्रलेप चढ़ा हुआ हो १० से १५ बूंदें राइट या लीशमेन

के रंग के घोल को डाल देते हैं २ मिनट रखकर स्लाइड पर डिस्टिल्ड वाटर डालकर रंग को पतला कर देते हैं और इसके बाद ३-५ मिनट तक रखे रहने देते हैं। इसके बाद धीरे से पानी की धार छोड़कर उसे धो देते हैं और फिर सुखाते हैं।

सूखे और रंगे हुए स्लाइड को आइलइमर्शन लेंस के नीचे माइक्रोस्कोप में पढ़ते हैं। कुल २०० श्वेतकणों की गणना की जाती है। इन २०० में कितने श्वेतकण किस प्रकार के हैं उन्हें गिन लिया जाता है गिनकर आधा कर देते हैं तो उनमें से प्रत्येक का प्रतिशत निकल आता है।

श्वेतकणों का सकलगणन १०००० तक प्राकृत माना जा सकता है उससे ऊपर रोग का द्योतक होता है।

सापेक्षगणन में रक्त के ईओसीनोफिल नामक श्वेतकणों की वृद्धि निम्नलिखित १३ अवस्थाओं में संभव है।

१. **स्वाभाविक वृद्धि**—भारतीयों में शैशवकाल में उषसिप्रिय (ईओसीनोफिल) कोशिका १० प्रतिशत तक पाये जाते हैं। स्त्रियों में मासिक स्राव होने के समय भी इनकी वृद्धि पाई जा सकती है।

२. **अलर्जीजन्य वृद्धि**—अलर्जी के कारण शरीर में अनेक रोग पाये जाते हैं। इनमें श्वासरोग (ब्रॉंकियल ऐस्थमा) अलर्जीजन्य ज्वर (हे फीवर) शीतपित्त (अर्टीकेरिया) छाजन, अर्द्धावभेदक आदि आते हैं। सभी में उषसिप्रियों की वृद्धि पाई जाती है। अलर्जिक श्वास में २० प्रतिशत तक वृद्धि पाई जा सकती है। हेफीवर में १० प्रतिशत तक मिलता है।

३. **पैरासाइटों की वृद्धि**—पैरासाइट (गण्डूपद कृमि, सूत्रकृमि, अंकुशमुख कृमि, स्फीत कृमि, अमीबा) आदि के उपसर्गों में सम्भवतः अलर्जी की वृद्धि होने के कारण उषसिप्रियों की वृद्धि हो जाती है। अंकुशमुख कृमि के उपसर्ग में १५ प्रतिशत तक वृद्धि पाई जाती है। ऊतकों में पैरासाइटों का जमाव होने पर भी काफी वृद्धि पाई जाती है। श्लीपद में १५ प्रतिशत तक मिलती है। ट्राइकीनर में २० प्रतिशत और ऐकीनोकोकस में ५० प्रतिशत तक वृद्धि पाई जा सकती है।

४. **त्वचा के रोग**—त्वचा के कई रोगों में उषसिप्रियों की बहुत वृद्धि तक पाई जाती है। उदाहरण के लिए ऐंजिओन्यूरोटिक शोफ में ८५ प्रतिशत तक वृद्धि होती है सकलगणन भी चोपड़ा के अनुसार चवालीस हजार तक पहुँच सकता है। सामान्य पामा में भी ५ से १५ प्रतिशत तक बढ़ जाते हैं। पेम्फीगस में ६० प्रतिशत तक वृद्धि होती है। हर्पीज या कक्षारोग में भी वृद्धि पाई जाती है।

५. **अस्थि के रोग**—अस्थिमार्दव, संकटार्बुद, कर्कटार्बुद, अस्थिमज्जापाक, अस्थिशोथादि में उषसिप्रिय श्वेतकणों की वृद्धि पाई जाती है।

६. **अर्बुद**—अनेक अर्बुदों में सामान्यतया वृद्धि नहीं होती पर होने पर ३० प्रतिशत तक पाई जाती है।

७. **अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रोग**—विशेषकर ऐडीसन की व्याधि में ६ से १० प्रतिशत की वृद्धि हो सकती है।

८. **रक्तोत्पादक संस्थान के रोग**—विविध ल्यूकीमियाओं में जैसे ईओसिनोफिलिक ल्यूकीमिया में सकलगणन १००००० में ८० प्रतिशत तक सापेक्षगणन में ईओसीनोफिल बढ़े हुए मिलते हैं। इसी प्रकार मायलोसाइटिक ल्यूकीमिया में १ से ५ प्रतिशत तक हाजकिनामय में ५५ प्रतिशत तक वृद्धि मिल सकती है।

९. **औपसर्गिक रोग**—निम्नांकित औपसर्गिक रोगों में वृद्धि इस प्रकार मिलती है—

लोहितज्वर—५ से १० प्रतिशत सकलगणन २०००० तक।

श्वसनज्वर के बाद—१३ प्रतिशत तक।

पूयमेह—१२ प्रतिशत तक।

हैजा—४ से १६ प्रतिशत तक।

रोमान्तिका—स्वल्पवृद्धि।

आमवातज्वर—स्वल्पवृद्धि।

मलेरिया—,, ,,

१०. **प्लीहोच्छेद**—१ माह के बाद १५ प्रतिशत तक वृद्धि पाई जाती है।

११. **विकिरण**—इर्रेडियेशन के २-३ सप्ताह बाद २० प्रतिशत तक वृद्धि हो सकती है।

१२. **द्रव्यसेवन**—कपूर, यकृत्, तूतिया, फास्फोरस के सेवन से या ताम्र की विषता या पाइलोकार्पीन के



प्रयोग से वृद्धि हो सकती है।

१३. कुलज उषसिप्रियता—कुछ कुलों या परिवारों के सदस्यों में स्वाभाविकरूप से उषसिप्रियों का सापेक्षगणन बढ़ा हुआ मिलता है जो चिकित्सा के बाद भी कम नहीं होती।

रोग के लक्षण—उषसिप्रिय कोशिकाएं बढ़ी हुई हैं रक्त के श्वेत कणों के सापेक्षगणन से यह सिद्ध होना ही इस रोग का निदान है। वास्तविकता तो यह है कि ईओसिनोफिलिया कोई रोग नहीं है अपि तु अनेक रोगों में पाया जाने वाला रक्त की परीक्षा द्वारा ज्ञात तथ्य है। ऊपर जो अनेक रोग दिये गये हैं उनमें रक्त के श्वेत-कणों का सकलगणन और सापेक्षगणन करने से इनका ज्ञान होता है। पेट के कृमि, श्वास रोग, औपसर्गिक रोग त्वचा के रोग, अलर्जी इन सभी में ईओसिनोफिला की जानी चाहिए। स्वाभाविक कारणों को भी दृष्टिपथ से ओझल नहीं किया जाना चाहिए।

रोग की चिकित्सा के सिद्धान्त—

उषसिप्रियता की चिकित्सा का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है उस रोग का इलाज जिसके कारण उषसिप्रिय श्वेत कणों की रक्त में वृद्धि हुई है। औपसर्गिक रोग हो तो उपसर्गनाशक द्रव्यों का प्रयोग, त्वचा में रोग हो तो उसका उपचार, अलर्जी हो तो उसका विनाश किया जाना चाहिए।

रोगी की तत्काल करणीय व्यवस्था—

रोग लक्षणों का ज्ञान कर और श्वेत कणों के सकल और सापेक्ष गणना का अवलोकन कर आवश्यक उपचार की तत्काल व्यवस्था की जानी चाहिए। यदि रोगी को श्वास हो तो श्वासहर दवाएं दें। कृमियों के लिए मल-परीक्षण कराना चाहिए। अलर्जी का ध्यान देना चाहिए।

i. यदि सापेक्षगणन ५ प्रतिशत से थोड़ा ही ऊपर हो तो श्वासकुठार रस १-१ रत्ती ३ बार छोटी कटेरी की चाय के साथ देना चाहिए।

ii. १० प्रतिशत में शुद्ध मनःसिला १ रत्ती या रसमाणिक्य १ रत्ती बारीक पीसकर अदरक के रस और शहद के साथ २ बार प्रतिदिन देना चाहिए।

iii. २० प्रतिशत और ऊपर में निम्नांकित विधान किया जाना चाहिए।

१. रसमाणिक्य ½ रत्ती, शुद्ध मनःशिला ½ रत्ती, आरोग्यवर्द्धिनी वटी २ रत्ती, गन्धक रसायन २ रत्ती प्रातः सायम् मधु से, अनुपान में छोटी कटेरी ६ माशा, तुलसीपत्र ३ माशा, भारंगी ३ माशा, की चाय पिलावें।

२. भुनी हल्दी और पीसी हुई चीनी १-१ तोला, या हरिद्राखण्ड १-१ तोला, २ बार दूध से दें।

३. भोजन के बाद द्राक्षारिष्ट १ तोला, मृतसंजीवनी सुरा ३० बूंद, दशमूलारिष्ट ½ तोला कस्तूरी युक्त दो बार दें।

iv. अधिक प्रतिशत होने में भी उपर्युक्त औषधियां देते रहें। साथ में रोग का मूलकारण ढूंढ कर उसकी चिकित्सा भी करते रहें।

कार्बार्सन या हैट्राजन १-१ गोली २-३ बार प्रतिदिन ऐविल या डैकाड्रोन १-१ गोली उचित मात्रा में साथ-साथ या एक मात्रा भी दे सकते हैं।

मल्ल के योग इस रोग में अच्छा काम करते हैं। मल्लसिन्दूर, रसमाणिक्य, मनःसिला आदि का प्रयोग इसी दृष्टि से किया जाता है। ऐसिटिलार्सन (मे एण्ड बेकर) के इन्जैक्शन भी मल्लयोग होने से पर्याप्त काल से प्रयुक्त होते रहे हैं।

v. हल्दी इस रोग में विशेष उपयोगी सिद्ध हुई है। जामनगर में इस विषय पर तथा गवालियर में भी इसका प्रयोग भूनकर या चूने में रखकर (सुधाहरिद्रा) दिया गया था। हल्दी को भूनकर बूरा मिलाकर देने से पहले २-३ हफ्ते तो ईओसीनोफिलिया बढ़ता प्रतीत होता है फिर बाद में वह घटने लगता है और ४ से १० हफ्ते के सतत प्रयोग से प्राकृत हो जाता है।

जो लोग आयुर्वेद और ऐलोपैथिक दोनों ही उषसिप्रियताहर दवाएं साथ-साथ प्रयोग करते हैं उनमें जल्दी लाभ हो जाता है।

हैट्राजन के अधिक प्रयोग से हमारे एक मित्र जोशीजी की आंखों की रोशनी घट गयी थी जो काफी इलाज के बाद ठीक हुई थी अतः किसी भी हिन्दुस्तानी या अंग्रेजी दवा का प्रयोग उचित मात्रा में और सावधानी के साथ ही करनी चाहिए सतर्कता पूर्वक।



सुधानिधि



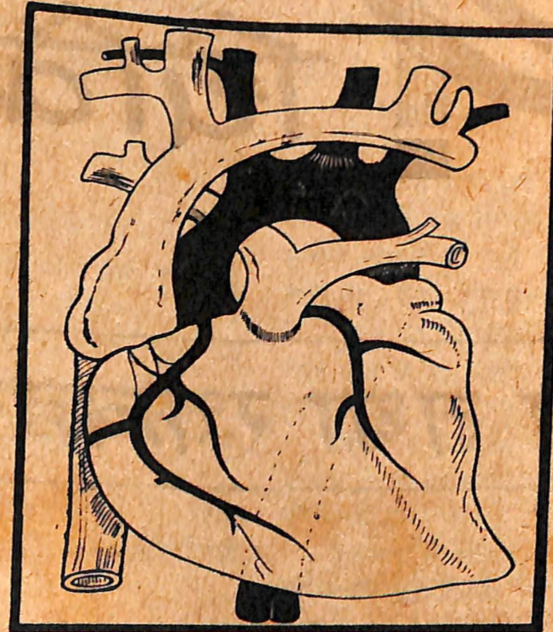
जटिल रोग चिकित्सांक

हृदय तथा रक्तवहसंस्थान

इस खण्ड में

हृदय तथा रक्तवह संस्थान के जटिल रोग

☆



रक्तपित्त एक
आत्ययिक व्याधि

आचार्य प्रवर श्री डा० सुरेशानन्द थपलियाल अध्यक्ष रसशास्त्र विभाग
ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज, हरिद्वार

राजकीय ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज में आजकल जो आचार्यगण अध्यापन कार्य कर रहे हैं उनमें रसशास्त्र विभागाध्यक्ष सुरेशानन्द थपलियाल जी का एक विशेष स्थान है। आप पर्वतीय होने के नाते पर्वत जैसे ऊँचे विचार रखते हैं। संस्कृत, न्याय, दर्शन, वैशेषिक पदार्थ विज्ञान के धुरन्धर विद्वान् तो हैं ही आयुर्वेद के मौलिक चिन्तन के क्षेत्र में बड़ा अधिकार रखते हैं। आपने रक्तपित्त या रक्त-स्राव विषय पर जो लेख भेजा है उसमें विद्वत्ता के साथ सरल भाषा में विषय का प्रतिपादन करने की अद्भुत क्षमता आप में सन्निहित है। रक्तपित्त पर आपका यह लेख साङ्गोपाङ्ग एवं सटीक है तथा चिकित्सक के लिए बड़े काम का है। स्फटिकाभ्रष्ट (भुनी फिटकिरी) स्वर्ण गैरिक, दुग्धपाषाण तथा दमुल्लखबेन (खून-खराबा) इनका उपयोग रक्तपित्त में प्रचुरता से चलाया जाता है। आशा है पाठकगण इस लेख से लाभान्वित होंगे।

—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

प्राणिमात्र का जीवन रक्त के आश्रित है यथा—...नं जीविनां जीवो' यह उक्ति निश्चित रूप से सार्थक ...है, रक्त पांच भौतिक आहार द्रव्यों का सार है अतः ...भौतिक है। निश्चय ही यह तीनों दोषों(वात, पित्त, ...) का आधार है। इसलिए रक्त ही जीवन है।

रक्त दोषों द्वारा दूषित होकर दस प्रकार की व्याधियां ...न करता है, यथा १. गौरव २. रक्तात्पता ३. रक्त-... ४. रक्तमूत्रता, ५. रक्त निष्ठीवन ६. रक्तपिडिका ... ७. उष्णता ८. पूतिगन्धित्व ९. वेदना १०. पाक।

रत्त में यह औपचारिक व्यपदेश है, क्योंकि रक्तदोषों से दूषित होकर ही रोग उत्पन्न करता है। यह तो चिकित्सा भेद के कारण ही पृथक् निर्देश है।

रक्तपित्त—रक्तपित्त एक प्रधान तथा आत्ययिक व्याधि है जिसकी उपेक्षा करना प्राणों को संकट में डालना है, अतः इस व्याधि के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट जानकारी इस लेख में प्रस्तुत की जा रही है।

रक्तपित्त नामकरण—पित्त रक्त का मल है, दोनों समान धर्मी होने से परस्पर मिल जाते हैं और रक्त पित्त



से शीघ्र दूषित हो जाता है। साथ ही रक्त के गन्ध तथा वर्ण पित्त में आ जाते हैं, इसलिए पित्त को रक्त से कहा जाता है। यथा—

पित्तं रक्तस्य विकृतेः संसर्गाद् दूषणादपि।
गन्धवर्णानुवृत्तेश्च रक्तेन व्यपदिश्यते ॥
(अष्टाङ्गहृदय)

निरुक्ति—पित्त की ऊष्मा के कारण सम्पूर्ण धातुएं स्वेदित होकर उनका द्रवीभूत अंश रक्त में मिल जाता है, रक्त पित्ततुल्य स्वभावयुक्त होने से स्वयं भी वृद्धि को प्राप्त होता हुआ पित्त संयोग से तथा रक्त के गन्ध एवं वर्ण के तुल्य होने से उस दूषित रक्तपित्त के संयोग से उत्पन्न रोग को बुद्धिमान् रक्तपित्त कहते हैं। यथा—

'संयोगाद् दूषणात्तत्तुसामान्याद्गन्धवर्णयोः।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तंमनीषिभिः॥
(चरक चि० ४)

इसी प्रकार चरक निदान में भी रक्तपित्त नामकरण का कारण इस प्रकार दिया है कि रक्त के साथ पित्त का संसर्ग होने से तथा दूषित रक्त से रक्त की गन्ध एवं वर्ण होने के कारण वह रक्तयुक्त-पित्त रक्तपित्त के नाम से कहा जाता है। जैसे—

"तल्लोहित संसर्गाल्लोहित प्रदूषणाल्लोहित गन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितपित्तमित्याचक्षते"
(चरक नि० अ० २)

अथवा 'रक्तं (रागप्राप्तं च) तत् पित्तं च रक्तपित्तम्' इस रोग में रक्त और पित्त दोनों की विकृति होते हुए भी प्रधानतः पित्त की विकृति होती है किन्तु कुछ कारणों से रक्त शब्द से पित्त या "रक्तपित्त" का निर्देश होता है। यथा—'अधोगं मापयेद्रक्तम्' इत्यादि वास्तव में पित्त ही रक्त से मिलकर उसी रंग का हो जाता है। इसलिए उपरोक्त रक्तं (रागप्राप्तं) च तत् पित्तं च रक्तपित्तम् यह उक्ति सत्य है। अथवा 'रक्तगतं पित्तं रक्तपित्तम्' 'रक्ते दूष्ये पित्तं रक्तपित्तम्' व्युत्पत्ति भी की जा सकती है।

रक्तदुष्टि के कारण—जब मनुष्य जौ, उद्दालक, कोद्रव आदि द्रव्यों का निरन्तर सेवन करता है और तीक्ष्णान्नपान का सेवन करता है, अथवा निष्पाव, उड़द, कुल्थी की दाल में दधिमण्ड उदश्वित मिलाकर सेवन करता है। अथवा कटु, अम्ल रसों का नित्याभ्यास, वराह महिष, मेष, मत्स्य, गोमांस का सेवन, तिलपिष्ट, पिण्डालुक, पक्वमूली, सरसों, लहसुन, सहिजन, षड्यूष, भूतृण, सुमुख, सुरस, कुठेर, गण्डीरक, फणिज्जक, कालमालक शाक आदि एवं सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, बेर, तथा अन्य अम्ल पदार्थ का अधिक सेवन, मिष्ठान्न सेवन, उष्णाभितप्त होकर अधिक भोजन, कालातीत भोजन, रोहिणी नामक मछली एवं कालकपोत मांस एवं दूध के साथ, कालकपोत मांस, सरसों के तेल तथा क्षार से सिद्ध पदार्थों को पित्त प्रकृति मनुष्य निरन्तर सेवन करता है उसके शरीर में पित्त प्रकुपित हो जाता है तथा रक्त अपने प्रमाण को छोड़कर वृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

अष्टाङ्गसंग्रहकार रक्तपित्त का निदान इस प्रकार वर्णित करते हैं—

भृषोष्ण तीक्ष्ण कट्वम्ल लवणादि विदाहिभिः।
कोद्रवोद्दालकैश्चान्नैस्तद्युक्तैरतिसेवितैः ॥
कुपितं पित्तलैः पित्तं द्रवं रक्तं च मूर्च्छिते।
ते मिथस्तुल्यरूपत्वमागम्य व्याप्नुतस्तनुम् ॥
(अ० हृ० नि० अ० ३)

सम्प्राप्ति—उपरोक्त कारणों से विदग्ध पित्त रक्तमिश्रित होकर ऊर्ध्व अधः तिर्यक अथवा सम्पूर्ण मार्गों से प्रवृत होने लगता है। अन्य रोगों के समान रक्तपित्त में शरीर से रक्त द्रव्य प्रवृत होता है, भेद यह है कि इसमें पित्त द्वारा रक्त विदग्ध एवं द्रव रूप होने के कारण रक्त मार्गों से चूकर निकलता है। भीतरी त्वचा कोमल होने से प्रायः आमाशय एवं पक्वाशय में एकत्र हुआ रक्त ऊर्ध्व एवं अधः मार्ग से निकलता है। जब अत्यन्त विदग्ध एवं द्रव हो जाता है तो रोमकूपों से भी प्रवृत्त होने लगता है। इस प्रसङ्ग को समझने के लिए—

कुपितं पित्तलैः पित्तं द्रवं रक्तं च मूर्च्छिते।
ते मिथस्तुल्यरूपत्वंमागत्य व्याप्नुतस्तनुम् ॥
(वा० नि० अ० ३)

इसको समझना आवश्यक है।

अधिष्ठान—रक्तपित्त के अधिष्ठान यकृत् एवं प्लीहा हैं ऐसा चरक का कथन है, क्योंकि सम्पूर्ण देहधारियों के रक्तवाही स्रोतों के मूल प्लीहा और यकृत् ही हैं। आयुर्वेद में रक्तोत्पत्ति का स्थान यकृत् तथा प्लीहा

माना गया है इसलिए रक्तवह स्रोतसों का मूल यकृत्, प्लीहा और तद्गत धमनियां अर्थात् यकृत् प्लीहागत केशिकाएं होनी चाहिए। आधुनिक कल्पनानुसार यकृद्गत रक्तपरिभ्रमण (Portal Circulation) स्वतन्त्र माना जाता है, इस मत से रक्तवह स्रोतसों को पोर्टलकैपिलरीज मान सकते हैं।

पूर्वरूप—अंगों में शिथिलता, शीतलपदार्थों के सेवन की इच्छा, कण्ठ से धूम निकलने जैसा अनुभव, वमन एवं श्वास में लोहे को अग्नि में तपाकर जल में बुझाने जैसी लोहगन्ध आती है, क्योंकि रक्त में लौहतत्व होता है, इसीलिए रक्त को 'लोहित' नाम दिया गया है। यथा—

'सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः।
लोहगन्धिश्च निश्वासो भवत्यस्मिन्भविष्यति ॥'

(सु० उ० अ० ४५)

चरकमतानुसार रक्तपित्त के पूर्वरूप इस प्रकार हैं—जैसे अन्न में अरुचि, भोजन का विदाही परिपाक, शुक्ताम्लरस एवं गन्धयुक्त उद्गार वमन, छर्दि अधिक मात्रा में होना, स्वरभेद, अंगों में शोथ, अन्तर्दाह, धूम्रनिभ श्वास, लौह-रुधिर-आम्र एवं मत्स्यगन्धी निःश्वास, हारिद्रवर्णनेत्रता, मल, मूत्र, नाक, कान तथा लालास्राव, स्वेद का पीलापन, अङ्गमर्द, स्वप्न में नीले, पीले, काले, लाल प्रकाशयुक्त रूपों को देखना आदि रक्तपित्त के पूर्वरूप हैं।

मार्गभेद से रक्तपित्त के भेद—कफ संसर्ग से ऊपरी मार्गों से, वात संसर्ग से अधोभागों से एवं कफवात संसर्ग से उभय मार्गों से रक्तपित्त निकलता है, इस सम्बन्ध में माधवाचार्य चरक सम्मत वर्णन देते हैं कि 'उर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्। द्विमार्गं कफ वाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते ॥'

मार्गौ पुनरस्य द्वौ ऊर्ध्वञ्चाधश्च तद् बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसंसर्गादूर्ध्वं प्रपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते। बहुवाते तु शरीरे वात संसर्गादधः प्रपद्यमानं मूत्रपुरीष मार्गाभ्यां प्रच्यवते। बहुवातश्लेष्मणि तु शरीरे श्लेष्मवातसंसर्गात् द्वावपि मार्गौ प्रपद्येते। द्वौ मार्गौ प्रपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य। (च० नि० अ० २)

उपरोक्त भेद मार्गानुसार प्रवृत्त होने से किये गये हैं। किन्तु दोषानुसार रक्तपित्त में प्रधान दोष पित्त ही है, किन्तु जब कफ को प्रवृद्ध करने वाले कारणों से कफ अपनी मात्रा से अधिक हो जाता है तब पित्त के साथ कफ का भी संसर्ग हो जाता है, यही श्लेष्मसंसर्गज रक्तपित्त ऊर्ध्व मार्गों से प्रवृत्त होता है। कफ के संसर्ग से रक्तपित्त गाढ़ा, कुछ श्वेत चिकनापन लिये हुये होता है। वातोल्बण आहार विहार से वायु प्रकुपित होकर पित्त से संसर्गित हो वातसंसर्गज रक्तपित्त उत्पन्न करता है। वातयुक्त रक्तपित्त का रक्त कृष्णवर्ण, गहरालाल तथा झागयुक्त होता है, यह रूक्ष अर्थात् स्नेहन विहीन रहता है। केवल पैत्तिक रक्तपित्त का रक्त क्वाथ के वर्ण का, गोमूत्र के समान, मोरपंख के समान, चित्रविचित्र वर्णयुक्त, गृहधूम अथवा काले सुरमे के समान वर्ण का होता है। उपर्युक्त दो लक्षणों वाला द्वन्द्वज एवं तीनों लक्षणों के संसर्ग से सन्निपातज हो जाता है।

साध्यासाध्यत्व—मार्गानुसार ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य, अधोगामी याप्य तथा उभय मार्गगामी असाध्य होता है। सुखसाध्यतानुसार बलवान रोगी का रक्तपित्त यदि एक ही मार्ग से प्रवृत्त हो (ऊर्ध्वगामी) वेगरहित, नवीन, उपद्रवविहीन, शीतकाल अर्थात् हेमन्त-शिशिर ऋतुओं से साध्य होता है। यथा—

(१) "ऊर्ध्वं साध्यमधोयाप्यमसाध्यं युगपद्गतम् ।"
(सुश्रुत)

(२) एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् ।
रक्तपित्तं सुखेकाले साध्यंस्यान्निरुपद्रवम् ॥
(च० चि० अ० ४)

इसीप्रकार दोषभेद से साध्यासाध्यता के सम्बन्ध में महर्षि चरक का मत इस प्रकार है कि एक दोषज रक्तपित्त साध्य, द्विदोषज याप्य एवं त्रिदोषज असाध्य होता है। साथ ही मन्दाग्नि युक्त रोगी अन्य रोगग्रस्त, वृद्ध, भोजन न करने वाला रोगी अत्यन्त वेगयुक्त रक्तपित्त असाध्य होता है। यथा—

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ।
यत्त्रिदोषमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्चयत् ॥
(च० चि० अ० ४)



उपरोक्त साध्यासाध्यता में हेतु—ऊर्ध्वंग रक्तपित्त इसलिये साध्य है कि "प्रतिमार्गंहरणं रक्तपित्ते विधीयते" इस सिद्धान्तानुसार ऊर्ध्वंग में विरेचन कराना चाहिये, क्योंकि विरेचन से पित्त का निर्हरण हो जाता है और दूसरी बात यह है कि विरेचनीय औषधियां प्राप्य हैं। यथा—

साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते।
विरेचनस्य योगित्वाद् बहुत्वाद् भेषजस्य च ॥
(च. नि. अ. २)

अधोगत रक्तपित्त के याप्य होने का कारण यह है कि पित्त निर्हरण के लिये वमन कराना श्रेष्ठ नहीं होता एवं अधोगामी रक्तपित्त में वात का भी संसर्ग होने से उसकी शान्ति के लिये वमन कराना उचित है किन्तु तिक्त, कषाय पदार्थों द्वारा पित्त की शान्ति तो होगी परन्तु वायु की शान्ति नहीं होगी। अथवा अधोगामी रक्तपित्त के लिये यथोचित् विधान से वमन भी नहीं कराया जा सकता अतः अधोगत रक्तपित्त याप्य होता है। इस सम्बन्ध में चरक की यह उक्ति युक्तियुक्त है कि–

वमनं नहि पित्तस्य हरणे श्रेष्ठमुच्यते।
यश्च तत्रानुगो वायुस्तच्छान्तौ चावरं मतम् ॥
स्याच्चयोगावहं तत्र कषायं तिक्तकानि च।
तस्याद्याप्यं समाख्यातं यद्रक्तमनुलोमगम् ॥
(च० नि० अ० २)

इसके अतिरिक्त जिस रक्तपित्त में सम्पूर्ण शरीर के छिद्रों तथा रोमकूपों से रक्तस्राव हो रहा हो एसे असंख्येय गति वाले रक्तपित्त को प्राणघातक समझना चाहिये।

उपद्रव—चरकसंहिता में रक्तपित्त के उपद्रवों के सम्बन्ध में वर्णन इस प्रकार है कि –शरीर में दुर्बलता, अरुचि, अन्न का न पचना, श्वास, कास, ज्वर, अतीसार, शोथ, शोष, पांडु और स्वरभंग ये रक्तपित्त के उपद्रव हैं। "उपद्रवास्तुखलु दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातीसारशोफशोष पांडुरोग स्वरभेदाः" इसी प्रकार सुश्रुत उत्तरतन्त्र अ० ४५ में – दौर्बल्य श्वास कास, वमन, मद, पांडुता दाह, मूर्च्छा, भोजनोपरान्त उदर में अत्यन्त दाह हृत्पीड़ा, तृष्णा, अतीसार, शिरस्ताप, दुर्गन्धि, निष्ठीवन, अरुचि, अपचन ये रक्तपित्त के उपद्रव गिनाये हैं। प्राचीन ग्रन्थों में रक्तपित्त की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सारगर्भित वर्णन मिलता है, यथा—दक्षप्रजापति के यज्ञ का विध्वंस होने के समय महादेव की क्रोधरूपी अग्नि द्वारा प्रथम ज्वर उत्पन्न हुआ पश्चात् रक्तपित्त की उत्पत्ति हुई, यह रक्तपित्त शरीरधारियों के प्राणों को दावाग्नि के समान सर्वतः प्रवेश करता हुआ शीघ्र नष्ट करता है। अतः ऐसे शीघ्रकारी रोग की शान्ति भी शीघ्र ही करनी चाहिये।

रक्तपित्त का चिकित्सा क्रम—बुद्धिमान वैद्य का कर्त्तव्य है कि बलवान अर्थात् जिस रोगी का मांस एवं बलक्षीण न हुआ हो ऐसे मनुष्य के प्रवृत्त रक्तपित्त को तत्काल ही रोकने की चेष्टा न करें क्योंकि शरीर में भ्रमणशील रक्त आमदोष से ही वृद्धि को प्राप्त होता है अतः प्रथम लंघन अथवा तर्पण करना हितकर है। यदि आमदोषयुक्त वेग को रोका जायगा तो गलग्रह, नासा से दुर्गन्ध, मूर्च्छा, अरुचि, ज्वर, मूत्रावरोध, अर्श, भगन्दर, बुद्धीन्द्रिय अवरोध आदि उपद्रव हो जायेंगे। महर्षि चरक ने भी दूषित रक्त को रोकने के सम्बन्ध में कहा है कि— "रक्तेप्रदुष्टेह्यवपीड बन्धे दुष्टप्रतिश्याय शिरोविकाराः रक्तंसपूयंकुणपश्च गन्धः स्याद्घ्राणनाशःक्रिमयश्चदुष्टाः"।

रक्तपित्त में निदान, मार्ग, अनुबन्धितदोष कफ और वायु, रोग तथा रोगी दोनों की शक्ति, शारीर एवं भूमि देश, नित्यग तथा आवस्थिक काल, अग्नि, आहार सत्व, सात्म्य आदि और अवस्था का ज्ञानकर लंघन या बृंहण, शोधन या शमन प्रारम्भ करना चाहिये। बृंहणोत्थ रक्तपित्त में लंघन तथा लंघनजन्य में बृंहण निदान का परित्याग करना—यथा 'यत् किञ्चिद्रक्तपित्तस्य निदानं तच्चवर्जयेत्, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में लंघन, अधोगामी में बृंहण अथवा ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में प्रथम तर्पण देना। गले में जमा हुआ ग्रथित कफयुक्त पिच्छिल रक्तस्राव हो तो कमलनाल क्षार मधु घृत के साथ दें। अनबल-कफ में लंघन वात में बृंहण अथवा—"रक्तपित्तं न चेच्छाम्येत्तत्र वातोल्वणे पयः युञ्ज्याच्छागम्"।

बलानुसार सम्पूर्ण बल में लंघन, अल्पबल में बृंहण, अथवा-'यथास्वं मन्थपेयादिः प्रयोज्यो रक्षता बलम्। देशानुसार आनूपदेश में लंघन, जाङ्गल में बृंहण कालानुसार विसर्गकाल में लंघन, आदानकाल में बृंहण तथा यौवन में लंघन वृद्धावस्था में बृंहण। अवस्थाज्ञान में

अपक्वावस्था में लंघन और पक्वावस्था में बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये ।

इसी प्रकार बलवान एवं प्रवृद्धदोषयुक्त पुरुष में यदि रक्तपित्त संतर्पणजन्य हो तो ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में विरेचन से चिकित्सा और अधोगामी रक्तपित्त में वमन से चिकित्सा करनी चाहिये । दुर्बल एवं अल्पदोषयुक्त पुरुष में अपतर्पणजन्य रक्तपित्त यदि ऊर्ध्वगामी हो तो शमन चिकित्सा अधोगामी हो तो बृंहण चिकित्सा लाभकारी होती है । शुद्ध कोष्ठयुक्त पुरुष के ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में तर्पण अर्थात् शर्बत पिलाना और अधोगत रक्तपित्त में यदि वायु प्रबल न हो तो यवागू आदि क्रम हितकारी होता है ।

"ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादि क्रमोहितः ।
अधोवहे यवाग्वादिर्नचेत्स्यान्मारुतोबली ॥
(च० चि० अ० ४)

जिन रोगियों का मांस एवं बल क्षीण हो गया हो अथवा शोक तथा भार से व्याकुल, घर्मसंतप्त, चलने से थका हुआ, गर्भवती, बालक, रूक्षशरीर, मन्दाग्नियुक्त, वमन विरेचन के अयोग्य, रक्तपित्त शोष संसर्गज हो तो ऐसे रोगियों का संशमनीय चिकित्सा द्वारा उपचार करना चाहिये ।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त की संशमन चिकित्सा—वासा, मुनक्का और हरीतकी कषाय खांड और मधु मिलाकर पिलायें, अथवा अडूसे के क्वाथ में प्रियंगु, गेरू, रसौत, लोध्र तथा मधु मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये । इसी प्रकार पद्माख, कमलकेसर, दूर्वा, बथुए के पत्र, नागकेसर और लोध्रकल्क मिलाकर मधुयुक्त अडूसे के कषाय को पीने से रक्तपित्त शान्त हो जाता है । संक्षेप में ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में तिक्त तथा कषाय ये दो शामक रस देने चाहिये और उपवास कराना चाहिये ।

अधोगामी रक्तपित्त में—इसमें बृंहण चिकित्सा एवं मधुर रस का प्रयोग हितकर है । मैनफल मिश्रित सक्तुमन्थ शर्करा एवं मधु मिलाकर वमनार्थ प्रयोग करें अथवा शर्करा मिश्रित जल, मदनफल से, मधु मिश्रित जल मदनफल से, मधुयष्टी जल को मदनफल से, दूध या इक्षुरस को मदनफल के साथ देवें, अथवा प्रथम गाय अथवा बकरी का दूध पांच गुने जल में सिद्ध कर खांड तथा मधु मिलाकर पिलायें, या शालपर्ण्यादि गण से सिद्ध दूध, द्राक्षा एवं नागरमोंथे के जल से सिद्ध दूध, अथवा गोखरू, ऋषभक, मिश्री, शतावर इनसे सिद्ध दूध रक्तपित्त को शान्त करता है विशेषतया मूत्रमार्ग से प्रवृत्त रक्त को शान्त करता है । यदि गुदमार्ग से अधिक रक्तस्राव हो रहा हो तो मोचरस सिद्ध दूध अथवा बटांकुर सिद्ध दुग्ध, नेत्रवाला, नीलकमल और नागरमोथा से सिद्ध दुग्ध का प्रयोग करना चाहिये ।

उपरोक्त कषायों का विधिवत् प्रयोग करने पर तथा जाठराग्नि के बलवान होने पर, कफ के क्षीण हो जाने पर भी रक्तपित्त शान्त न हो तो उसमें वातानुबन्ध समझना चाहिये । इसी अवस्था में क्षीर का प्रयोग लाभकारी होता है ।

रक्तपित्त में विरेचक अवलेह—निशोथ, अनन्तमूल के कषाय तथा इन्हीं के कल्क द्वारा शर्करा मिलाकर विधिवत् अवलेह बनाकर इसमें से २ तोले से चार तोले तक रोगी को चटाये । विरेचन हो जाने पर निशोथ त्रिफला, अनन्तमूल पिप्पली, शर्करा और मधु मिलाकर मोदक बनाकर रोगी को खिलाने से सन्निपातजन्य रक्तपित्त में भी लाभ होता है ।

कफानुबन्धी रक्तपित्त में रक्तपित्तनाशक घृत तथा मधु मिलाकर देना चाहिये । जैसे—शतावर्यादि घृत, पंचमूल घृत अथवा मध्यम पंचमूल और जीवनीय पंचमूल से सिद्ध घृत का प्रयोग करना हितकर होता है । यदि नासामार्ग से रक्त की अधिक प्रवृत्ति हो तो रक्तपित्तनाशक औषधियों के कल्क से अवपीड नस्य का प्रयोग करना चाहिये । तथा—पलास के बीज २½ तोले की मात्रा में लेकर सिल पर जल के साथ पीसकर जल में घोलकर कपड़े से छान लें मिश्री मिलाकर २ छटांक शर्बत तीन दिन प्रातः पीने से नासागत रक्तस्राव (नकसीर) सर्वदा के लिये बन्द हो जाती है, यह मेरा अनुभूत योग है ।

महर्षि चरक ने रक्तपित्त की चिकित्सा में विशेषरूप से रत्न, खनिज द्रव्यों का प्रयोग किया है । जैसे—वैदूर्य, मुक्ता, माणिक्य, गैरिक अथवा पीली मृत्तिका, शंख और सुवर्ण को आमलकी के स्वरस में धोकर उस जल को,



मधु के शर्बत को या इक्षुरस पीने से रक्तपित्त शान्त होता है। यथा—

वैदूर्यं मुक्तामणि गैरिकाणां मृच्छंखहेमामलकोदकानाम्।
मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम् ॥
(च० चि० अ० ४)

मेरा स्वतन्त्र अनुभव है कि शु० स्वर्ण गैरिक एवं शु० खटिका दोनों को महीन चूर्ण कर समान मात्रा में मिलाकर इसमें से १ माशा मात्रा में जल के साथ तीन-तीन घण्टे के अन्तर से देने पर रक्तपित्त, रक्तप्रदर आदि में अच्छा लाभ होता है।

रक्तपित्तनाशक योग—प्रवालपिष्टी १ रत्ती, कहरवापिष्टी १ रत्ती, गुडूचीसत्व ४ रत्ती। १ मात्रा।

दिन में तीन बार शीतल जल से अथवा आंवले के मुरब्बे के साथ।

भोजनोत्तर—अरविन्दासव २½ तो०, बराबर जल से।

रात्रि में—शु० गैरिक चूर्ण आधा माशा, शु० खटिका चूर्ण आधा माशा। जल अथवा नीबू के शर्बत से।

रक्तपित्त नाशक घृत—अडूसे का पञ्चाङ्ग (शाखा, फल, मूल, पत्र, पुष्प) लेकर इनका क्वाथ बनायें पुनः वासा पुष्पों का कल्क करके इस क्वाथ और कल्क से घृत सिद्ध करें इस घृत में विषम भाग मधु मिलाकर चटाने से रक्तपित्त शान्त होता है। इसी प्रकार पलास के पत्तों का क्वाथ एवं कल्क बनाकर इसमें घृत सिद्ध करें इस घृत को मधु के साथ देने से भी रक्तपित्त शान्त होता है।

रक्तपित्त में आचार एवं पथ्य—रक्तपित्त के रोगी को जहां शीतल जल के झरनों की फुहार चलती हो जैसे हरेभरे बगीचे में जिसमें जल के फुहारे चल रहे हों ऐसे स्थान पर अथवा, मकान के नीचे की मंजिल के शीतल घर में, निवास करना चाहिये, जलयुक्त शीतल-पवन का सेवन, शीतल जल, वैदूर्य मुक्ता आदि के बने पात्रों का स्पर्श, जल में भीगे हुये कमल के पत्तों को शरीर में लगाना, रेशमी वस्त्र अथवा कदली पत्रों के आसन अथवा शय्या पर विश्राम करना, चन्दन, प्रियंगु आदि शीतल पदार्थों से सुशोभित सुन्दर स्त्री का स्पर्श, कमल, खस आदि के बने पंखे को जल में भिगोकर पवन करना यह सब रक्तपित्त में होने वाली दाह को शान्त करते हैं, साथ ही नदी, तालाब, हिमालय की गुफा, चन्द्रमा की चांदनी, कमलों से शोभायमान जलाशय, मन के अनुकूल शीतल द्रव्य एवं कहानियां भी रक्तपित्त की दाह को शान्त करने में उपयुक्त हैं।

पथ्यापथ्य—रक्तपित्ती के लिये शालि चावल, साठी चावल, नीवार, प्रशान्तिक कंगुनी का भात उत्तम होता है, दालों में मूंग, मसूर, चना, मोंठ, और अरहर की दाल का यूष रक्तपित्त में हितकारी है। शाकों में पटोलपत्र, मीठे निम्बपत्र, बेंत की कोंपल, पिलखुन के पत्र, चिरायते के पत्रों का शाक, करेला, कंचनार की फली, कन्नेर के पुष्प और सेंमल की कलियों का शाक शाकप्रिय रोगी को स्वेदितकर घृत में भर्जित अथवा दाल के समान पकाकर देना चाहिये। मांसाहारी रोगी को पारावत, कपोत, लावा, चकोर, वटेर, खरगोश, तीतर, एण हिरण और कालपुच्छ हिरण इनका मांसरस अनार के खट्टे रस से युक्त अथवा मिश्री युक्त कर देना चाहिये। जो रोगी मन्दाग्नि वाला हो और उसको खट्टा सात्म्य हो तो रक्त-पित्त में अनार तथा आंवले का रस प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार रक्तपित्तनाशक पेया एवं यवागू सिद्ध कर प्रयोग करने चाहिये।

रक्तपित्त में रसों की विशेष कल्पना—यदि रक्त-पित्ती को मल का विबन्ध हो जाय तो बथुये के शाक से सिद्ध जल में बना हुआ खरगोश का मांसरस पिलायें, वात प्रधान रक्तपित्त में गूलर से सिद्ध जल में बनाया तीतर का मांसरस अथवा बटांकुर या वट की त्वचा से सिद्ध जल में कुक्कुटमांस रस अथवा बिल्व एवं नील कमलादि के कषाय में सिद्ध किया वटेर अथवा बकरे का मांसरस वातप्रधान रक्तपित्त में हितकर है।

यच्च पित्तज्वरे प्रोक्तं वहिरन्तश्च भेषजम्।
रक्तपित्ते हितं तच्च क्षतक्षीणे हितञ्च तत् ॥

हृत्प्रसार और हृद्वृद्धि

आचार्य डा० तेजबहादुर चौधरी, नवागढ़ जिला दुर्ग (म०प्र०)

आयुर्वेद की आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं को अपनी विद्वत्तासिक्त सुरभि से सुवासित करते हुए इन्हें ऐसी सामग्री प्रदान करने का शुभसंकल्प करके जो व्यक्ति इन पत्रिकाओं की गौरव-वृद्धि में साझीदार होता है वही हमारे डा० चौधरी साहब हैं। अत्यधिक परिश्रम और खोज का मूर्त्त रूप होता है इनका लेख जिसकी भाषा प्रांजल भाव स्पष्ट और सामग्री यथार्थ होती है। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभवता के दोषों से मुक्त निर्दुष्टलक्षणयुक्त इतना मैटर आप दे देते हैं कि जिज्ञासु की भूख, ज्ञान, विज्ञान, क्षुधा शान्त होकर वह तृप्ति का अनुभव करे। ऐसे हैं हमारे डा० तेजबहादुर जिनकी सतत कृपा सुधानिधि पर चलती चली आरही है। अपनी जन्म-भूमि से काफी दूर आपने छत्तीसगढ़ को अपना जीवन और सेवाएं समर्पित की हुई हैं और उस भूमि ने उन्हें पर्याप्त प्यार और सम्मान प्रदान किया है 'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए।

—गोपालशरण गर्ग।

शिथिलन दाब

प्रकुंचन दाब (Systolic Pressure)—

यद्यपि हृत्प्रसार (Dilatation of Heart) अथवा हृत्वृद्धि (Hypertrophy of the heart) दो अलग-अलग हृदय के विकार हैं, फिर भी इन दोनों की प्रायः एक ही स्थान पर चर्चा की जाती है।

अभिशिथिलन दाब (Diastolic pressure), **विस्फारक दाब**—

आयुर्वेद मतानुसार हृत्प्रसार या हृद्वृद्धि को क्या संज्ञा दी जा सकती है, या क्या नाम दिया गया है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चरक सुश्रुत में हृद्रोगाधिकार में हृदय के आकार-प्रकार के अनुसार यद्यपि चर्चाएं की गई हैं, परन्तु विस्तार से ऐसा उल्लेख कम ही मिलता है जो आधुनिक विवरण से इस प्रकार ठीक बैठे कि उसके अनुसार कोई विशेष नाम उपरोक्त विकारों का गढ़ा जा सके।

परिगलन (Nacrosis)—

हां यह अवश्य है कि आयुर्वेद के विविध ग्रन्थों में



अन्यत्र सूत्र स्थान, निदान स्थान आदि में विविध रोगों, आहार-विहार इत्यादि विकारों के कारण जो भी हृदय के सम्बन्ध में विशद वर्णन मिलता है, उसके आधार पर हम उपरोक्त बिकृतावस्थाओं का कोई विशेष नाम निर्धारित कर सकते हैं, वैसे सभी विकारों का नामकरण सम्भव नहीं है।

हृद्व्रणास्त्रण या हृत्पेशी का रोधगलन (Infarction)—

"नहि सर्वं विकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवास्थितिः"
—च० सू० १८-४६।

अतः हमें यह देखना होगा कि किस दोष विशेष के कारण अथवा किन-किन विकारों, अवस्थाओं, गड़बड़ी के कारण हृत्प्रसार या वृद्धि की अवस्थाएं पैदा हो सकती हैं, ताकि उन दोषों इत्यादि की उचित चिकित्सा इत्यादि से हम हृत्प्रसार की चिकित्सा कर सकें।

हृत्प्रसार और हृत्वृद्धि दो भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हो सकती हैं। हृदय की रचना केवल मांसपेशियों से है, तथा हृदय मांस की एक ऐसी रचना है, जो जीवन पर्यन्त फैलता और सिकुड़ता रहता है, इसका कार्य शरीर से आये अशुद्ध रक्त को ग्रहण करके, उसे शुद्ध होने के लिये फैफड़ों में भेजना तथा फेफड़ों से लौटे हुए रक्त को, ग्रहण करके शरीर में पोषणार्थ भेजना।

'हृदय के फैल जाने' को हम आगे से 'हृत्प्रसार' के नाम से लेंगे। इसके कारणों, लक्षणों, रचना विकृति इत्यादि को सम्यक् रूप से जानने, समझने के लिए सर्वप्रथम संक्षेप में हृदय की रचना, उसकी कार्य-प्रणाली एवं कार्य करने के विशेष क्रम का उल्लेख करना आवश्यक है।

हृदय को मांसपेशियों द्वारा निर्मित ऐसा अंग मान लें, जिसके अन्दर चार कोष्ठक या खाने हों। दो खाने या कोष्ठक ऊपर के, जिन्हें दायां अलिन्द (Right Auricle) तथा बायां अलिन्द (Left Auricle) कहा जाता है तथा दो नीचे के कोष्ठक जिन्हें दायां निलय (Right Ventricle) तथा वाम निलय (Left Ventricle) कहते हैं।

इन खानों में रक्त एक खाने से दूसरे खाने में इस प्रकार भ्रमण करता है कि आगे गया रक्त पीछे को नहीं लौट सकता, जैसे साईकिल में पम्प से हवा भरते समय हवा ट्यूब में तो जाती रहती है, पर एक नन्हें वाल्व के कारण पीछे नहीं लौट सकती या ट्यूब से वापस लौट कर पम्प में नहीं आ सकती, इसी प्रकार एक कोष्ठक से दूसरे कोष्टक के बीच में ऐसी ही वाल्वों की रचना बनी हुई रहती है जो आगे गए रक्त को पीछे नहीं आने देती।

हृदय में रक्तभ्रमण—

शरीर का दूषित रक्त शिराओं में बहता है, अन्त में महाशिरा (Venacava) अपने अशुद्ध रक्त को ऊपर के दा० अलि० (R. A.) में भेजती है। जब रक्त उसमें आता है तो वह (दा० अलि०) फैलकर उसे ग्रहण कर लेता है। अब दाहिना अलिन्द संकुचित होकर उस अशुद्ध रक्त को नीचे वाले दा० निल० (R. V.) में भेज देता है।

इस अशुद्ध रक्त को यही (दा० अलि०) एक रक्त-नलिका द्वारा फैफड़ों में शुद्ध होने के लिए भेजने के लिये संकुचित होता है, इसी समय ऊपर तथा नीचे के दाहिने अलिन्द और दा० निल० के बीच के वाल्व बन्द हो जाते हैं, तो रक्त ऊपर के कोष्ठ (दा० अ०) में न जाकर सीधा फेफड़ों में चला जाता है।

फेफड़ों में शुद्ध होकर वही रक्त अब बांए अलि० (L. A.) में आ जाता है, जो कि प्रसारित होकर उस रक्त को ग्रहण कर लेता है, अब यह बा० अलि० संकुचित होता है तो यह शुद्ध रक्त नीचे वाले बा० नि० (L. V.) में आ जाता है।

जब यह वा० नि० (L. V.) संकुचित होता है तो बाएं ओर के दोनों (वा० अलि० एवं वा० निलय के मध्य का वाल्व बन्द हो जाता है, रक्त ऊपर के अलिन्द में न जाकर महा धमनी (Aorta) में चल देता है, और वहां से

संकेत—

दा० अलि०—दाहिना अलिन्द (R. A.–Right Auricle)।

बा० अलि०—बामालिन्द (L. A.–Left Auricle)।

दा० नि०—दाहिना निलय (R. V.–Right Ventricle)।

बा० नि०—वाम निलय (L. V.–Left Ventricle)।

सारे शरीर में शुद्ध रक्त भ्रमण करने लगता है।

वही शुद्ध रक्त जब शरीर में भ्रमण कर चुकता है तो अशुद्ध होकर फिर शिराओं द्वारा आगे बढ़ते-बढ़ते महाशिरा में आकर पुनः हृदय के दाहिने अलिन्द में आता है, यही क्रम जो हमने ऊपर दिया है पुनः चालू हो जाता है, और जीवन पर्यन्त ऐसा होता रहता है।

दोनों ऊपर के दा० अ० और वा० अ० एक साथ संकुचित होते हैं, तथा खुलते या प्रसारित होते हैं, ऐसे ही नीचे के दोनों दा० नि० एवं वा० नि० एक साथ प्रसारित और संकुचित होते हैं।

स्पष्ट हुआ कि जब ऊपर के दोनों अलिन्द संकुचित होंगे तो अशुद्ध एवं शुद्ध रक्त नीचे के दा० नि० एवं बा० निलय में आ जाएगा। और जब नीचे के दोनों निलय, दाहिना एवं वाम संकुचित होगा तो अशुद्ध रक्त फैफड़ों को एवं शुद्ध रक्त महाधमनी (Aorta) को भेजा जाएगा।

यह संक्षेप में हृदय की कार्यप्रणाली और विधि है।

हृत्प्रसार में हमें पाश्चात्य मतानुसार दो अवस्थाएं मिलती हैं एक है हृत्वृद्धि (Hypertrophy of the Heart) और दूसरी है हृत्प्रसार (Dilatation of the Heart.) यद्यपि दोनों ही अवस्थाएं हृदय के बढ़ जाने या फैल जाने के लक्षणों से युक्त हैं परन्तु उनमें कुछ थोड़ा बहुत भेद भी है।

हृत्वृद्धि (Hypertrophy)—यह सिद्धान्त पाश्चात्य मत का है कि अगर किसी व्यक्ति को हृद्रोग है तो उसके हृदय की दीवारें या तो मोटी सूजी हुई होंगी, या पतली हो जाएंगी। तथा हृदय के कोष्ठक (Cavity) या तो साधारण सामान्यावस्था से तंग होगी या फिर बड़ी होगी। हृद्रोगों में हृदय की मांसरचना बहुत कम सामान्य मोटाई की होती है।

हृत्प्रसार (Dilatation) में—हृदय की मांस की दीवारें पतली पड़ जाती हैं, तथा फलस्वरूप अन्दर का स्थान बड़ा और फैला हुआ बन जाता है, इसके विपरीत हृत्वृद्धि (Hypertrophy) में हृत्मांस मोटा, सूजा हुआ सा अन्दर का स्थान संकुचित और तंग हो जाता है।

एक अवस्था और भी है जो बहुत कम देखने में आती है हृत्प्रसार के साथ-साथ हृत्वृद्धि, इसे Eccentric type कहते हैं। जब हृत्मांस सूजा या मोटा हो और अन्दर का स्थान तंग हो तो उस अवस्था को Concentric Type कहते हैं।

उपरोक्त वर्णन को पाठकों को भलीभांति समझ लेना चाहिए ताकि आगे के सिद्धान्त आसानी से समझ में आते चले जाएं; इसी लिए साधारण भाषा में साधारण पाठक के लिये हम हृत्प्रसार हृत्वृद्धि के विवेचन को ले रहे हैं।

हृत्प्रसार के साधारण कारण—

अब संक्षेप में हम एक सामान्य कारण को पाठकों के सन्मुख रखते हैं कि ये कोष्ठक किस प्रकार प्रसारित होने पर बाध्य हो जाते हैं। अगर आगे रास्ता बन्द हो, या पूरे रक्त को आगे बढ़ने में रुकावट, अड़चन पड़ती हो, अथवा जहां रक्त को पहुंचना हो वहां अपेक्षाकृत स्थान तंग हो तो पीछे से पेलने, या पम्प करने वाले कोष्ठक को सामान्य से ज्यादा जोर तो लगाना ही पड़ेगा साथ में, अपने अन्दर पीछे से निरन्तर आते रहने वाले रक्त को सम्पूर्णतया, पूरा का पूरा रक्त आगे अड़ास या रुकावट वाले भाग में भेजना सम्भव नहीं होगा, और अपने अन्दर जितना रक्त समा सकता, रख सकता है, उससे अधिक रक्त रोके रखने पर मजबूर होना पड़ेगा। फलतः वह कोष्ठ धीरे-धीरे फैलने पर मजबूर होने लगेगा।

दूसरा कारण कोष्ठकों के फैल जाने पर दो कोष्ठकों के बीच के वाल्व दूर-दूर जा पड़ेंगे, ' तब लौटते हुए रक्त को पीछे लौटने से रोकने में ये वाल्व भी अधिक समर्थ नहीं हो सकेंगे ऐसी स्थिति में प्रसार और ज्यादा जल्दी से बढ़ते रहने में सहायता मिलेगी।

तीसरा कारण जहां स्वयं हृदय की मांस निर्मित दीवारें अनेक रोगों, या रक्ताल्पता (Anaemia) इत्यादि के कारण कमजोर और शक्तिहीन हो जाएंगी तो वे पतली और क्षीण होकर अपनी शक्ति से अधिक शक्ति लगाते रहने के कारण, ज्यादा आए हुए रक्त को पूर्णतया कोष्ठक से बाहर निकाल देने में असमर्थ होकर हृत्प्रसार का एक कारण बन सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जन्मजात कुछ विकारों के कारण भी हृदय की सामान्य कार्यप्रणाली बिगड़ जाती है और



हृत्प्रसार के लक्षण पैदा होने लगते हैं।

हृत्वृद्धि Hypertrophy of the heart तथा हृत्प्रसार Dilatation of the heart में अन्तर—

हमने पहले संकेत किया था कि हृत्प्रसार और हृत्वृद्धि में कुछ अन्तर होता है, यहां उसे और भी स्पष्ट किये देते हैं ताकि आगे चल कर पाठकों को दोनों को अलग-अलग अवस्थाओं का ठीक पता लग सके और उनके कारणों की चिकित्सा ठीक प्रकार से की जा सके।

हृत्वृद्धि (Hypertrophy of the heart)—

यदि हृदय के किसी कोष्ठक (अलिन्द या निलय) को अपनी क्षमता से (जितना कि उसमें रक्त समा सकता है) अधिक रक्त रोकना या भर लेने पर बाध्य होना पड़े (जैसे कि वाल्व की खराबी से रक्त फिर पीछे लौट-लौट आये इत्यादि) तो पहले तो वह कोष्ठ अपनी लचीली प्रकृति और स्वाभाविक गुण के कारण उसे कुछ काल तक सहन कर सकेगा, यदि रोगी स्वस्थ है और उसके हृदय की मांसपेशियों का पोषण भी यथावत् उचित है और कार्यभार अधिक होने से भी हृदय की मांसपेशी की शक्ति दृढ़ता Tone भी विकृत न हुआ हो तो हृदय का वह भाग फूलकर बड़ा आकार वाला हो जाएगा और रोगी को कुछ समय तक विशेष कष्ट भी नहीं अनुभव होगा। परन्तु यदि, जैसा कि रक्तचापाधिक्य (High blood pressure, hypertention) में जो कि धीरे-धीरे बढ़ता ही जाता है, इसके कारण वामनिलय को उस अधिक रक्तचाप युक्त धमनियों में रक्त को पम्प करने पर बाध्य होना पड़े, (आगे ब्लड प्रेशर से रक्त बहने में रुकावट या तंगी तो है ही, उधर वामनिलय (L. Ventricle), को संकुचित होकर पूरा जोर लगाकर उसी में रक्त भेजना पड़े) तो जब हृत्प्रसार या वृद्धि की अपनी क्षमता से भी ज्यादा प्रसारित होना पड़े तो हृदय प्रसारित हो जाता है और इसमें हृदय की कार्यक्षमता में भी गड़बड़ी और विकार आ जाता है। वामनिलय (Left Ventricle) दायें निलय (Right Ventricle) की अपेक्षा अधिक प्रसारित होने के अवसर में होता है। उससे कम प्रसारित होने की सम्भावना वायें अलिन्द और सबसे कम सम्भावना दाहिने अलिन्द की होती है। कभी-कभी दोनों निलय प्रसारित हो जाते हैं, परन्तु वैकारिक रूप से बाम निलय ही में विकार के कारण दाहिने निलय में प्रसारण होता है। यह कहना या पता लगाना कठिन है कि कितने भार या कार्याधिक्य के परिणामस्वरूप यह प्रसारण कितने अनुपात से होता है।

हृत्प्रसार (Dilatation)—

हृत्प्रसार आरम्भ में हृदय की मांसपेशियों के संकुचन शक्ति या Tone की कमी के कारण होती है जिसके कारण कोष्ठ पूरा जोर न लगाकर, पूर्णतया संकुचित न होकर, कोष्ठ सम्पूर्ण रक्त को खाली करने में असमर्थ हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि रक्त का प्रवाह अपेक्षाकृत कम और धीमा हो जाता है तथा अंगों का पोषण भी अपर्याप्त हो जाता है। देखा गया है कि यदि प्रवाह की गति आधी रह जाए तो शोथ (अङ्गों में) के लक्षण पैदा हो जाते हैं। शिराओं में रक्तदाब (Venous pressure) बढ़ जाता है तथा सभी कोष्ठों में न्यूनाधिक इसका प्रभाव पड़ने लगता है। प्रसारण के रूप में यह प्रभाव और भी अधिक तब पड़ता है जब रुकावट वाम निलय में ही हो।

कोष्ठकों का प्रसारित होने का साधारण कारण—

वैसे यों तो हृदय के सभी कोष्ठक अलिन्द, निलय प्रसारित हो सकते हैं, परन्तु विशेष करके बांया निलय अधिकतर और दाहिना निलय अधिक प्रसारित प्रभावित होता है अतः प्रथम हम इन्हीं के प्रसारित होने के कारणों को लेते हैं।

यह तो हम ऊपर बता आए हैं कि हृदय के प्रत्येक कोष्ठ को रक्त ग्रहण करकेउ से आगे या तो संलग्न कोष्ठ में या फिर फैफड़ों अथवा (महाधमनी aorta द्वारा) शरीर में भेजने के लिए संकुचित होकर आगे भेजने का प्रयास करना पड़ता है।

अगर आगे किसी भी कारण से कुछ रुकावट हो तो पीछे से पेलने या पम्प करने वाले कोष्ठ पर जोर पड़ेगा और वह पूरे का पूरा रक्त आगे बढ़ाने में असमर्थ होकर फैलने पर मजबूर हो जाएगा। इन आगे पड़ने वाली अड़ास, अड़चनों को जो किसी विशेष रोग या अवस्थाओं के कारण उत्पन्न हो जाते हैं, हमें अब लेना है तथा यह

भी दिखाना है कि किस कोष्ठ पर आगे के किस रोग द्वारा उत्पन्न अवरोध में प्रसारण होकर क्या-क्या लक्षण पैदा हो सकते हैं।

वाम निलय (Left Ventricle)—

सर्वप्रथम हम वामनिलय (Left Ventricle) को लेते हैं क्योंकि सबसे ज्यादा यह प्रभावित होकर प्रसारित होता है, रक्त वृद्धि को प्राप्त होता है।

वाम निलय को वाम अलिन्द (L. Auricle) से प्राप्त शुद्ध रक्त महाधमनी में भेजना होता है, अतः अगर महाधमनी में ही कोई रुकावट हो, Aortic Stenosis (महाधमनी संकुचन) अथवा Aortic regurgitation, रक्त का महाधमनी से किसी विकार (वातव इत्यादि) के कारण पीछे को लौटने की कोशिश अथवा जन्मजात Aortic Stenosis (महाधमनी सकुंचन) अथवा धमनी-शिरा नाड़ीव्रण Arterio Venous Fistula (हृदय के समीप) हों, तो इस अवरोध का भार वाम निलय (L. Vent.) पर सीधा पड़ता है। उधर यदि हृदय मांस व्रण (Cardiac Infarction) हो और हृदय को पोषण करने वाली धमनियों में अवरोध हो तो ये दशाएं हृदय की मांसपेशियों की शक्ति को और भी दुर्बल बना देती हैं।

ऐसी दशा में यदि यही वा. नि. इस अतिरिक्त भार या कार्य को सहन करने योग्य हुआ तो यह कोष्ठ बड़ा हो जाता है, मांसपेशियां मोटी (Hypertrophy) होने लगती हैं, तब हृदय के ऊपरी भाग में सुनाई देने वाला (Apex beat) शब्द नीचे और बाहर की तरफ सुनाई देने लगता है। ऐसी दशा में यह निलय या तो बढ़ते-बढ़ते फेल हो जाए या सहसा ठप्प होकर फेल हो जाए। चूंकि इस निलय का मांस पहले ही काफी मोटा होता है, अतः अधिक से अधिक प्रसारित होता जाता है, यहां तक कि इसमें लगी रक्त को वापस लौटने से रोकने वाली वाल्व दूर आ पड़ती हैं और लौटे हुए रक्त को रोक सकने में असमर्थ होने लगती हैं, तब वाल्व की कमी Mitral Insufficiency तथा रक्त लौटने (Regurtitation) जैसे उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

अब क्या होता है, जब यह वाम निलय (L. Vent.) इस कार्याधिक्य या भाराधिक्य को और बर्दाश्त नहीं कर सकता तो यह थोड़ा बहुत भार ऊपर के कोष्ठ [जहाँ से उसमें शुद्ध रक्त आता है] में वाम अलिन्द (L. V.) की ओर बढ़ा देता है। परन्तु यह वाम अलिन्द पहले ही प्राकृतिक रूप से पतली मांसपेशियों से बना हुआ होता है, अतः इस भार को सहन कर लेने की इसमें क्षमता अधिक नहीं होती, फिर परिणाम यह होता है कि वाम अलिन्द (जो कि फुफ्फुस से आये शुद्ध रक्त को) ग्रहण करता है, अपने भार को सहन करने में असमर्थ होने के कारण इस भार को फैफड़ों की ओर बढ़ा देता है, फलतः फैफड़ों में रक्ताधिक्य (रक्त अधिक जमा) होने लगता है और फैफड़ों में रक्तभाराधिक्य हो जाता है। Pulmonary engorgement and pulmonary hypertension हो जाता है।

पाठकों ने समझ लिया कि वाम निलय (L. Ventricle) का बोझ या भार अब फैफड़ों तक आ गया है।

अब चूंकि दाहिने निलय (L. Ventricle) को ही फैफड़ों को अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने के लिए अपने संकोचन क्रिया द्वारा भेजना पड़ता है, मगर वहाँ पर रक्त-भाराधिक्य है और रक्त भी अधिक एकत्रित हो गया है तो इस दा. अ. (Rt. Vent.) को भी यह भार ग्रसित कर लेता है। कुछ काल तक तो यह भी उसे सहन करता रहता है, अथवा अगर वाम निलय (Left Ventricle) यदि इस बीच में स्वस्थ हो गया या चिकित्सा द्वारा ठीक हो गया तो भार धीरे-धीरे लौटता हुआ पुनः वाम निलय में आकर समाप्त हो जाता है अन्यथा दाहिना निलय भी प्रसारित होने लगता है और प्रसारित होकर फेल भी हो सकता है।

यदि दशा सुधरी नहीं तो, यह भार दा. नि. से चलकर दा. अलिन्द में पहुँच कर उन महाशिराओं में भी पहुंच जाता है जो अशुद्ध रक्त को दाहिने अलिन्द में लाती हैं। फिर क्रमशः शरीर की समस्त शिराजाल ग्रसित हो जाती है। इसीको Congestive heart failure (रक्ताधिक्यजन्य हार्टफेल होना) कहते हैं।

इस प्रकार ध्यान से इसको पढ़ने से यह सिद्ध हो जाता है कि दाहिने निलय के फेल होने का सामान्य कारण वाम निलय (L. Vent.) का फेल होना है।



कोष्ठकों या फेफड़ों में रक्ताधिक्य से ही हृदय के प्रसारित होने का क्रम चलता है। इसी सिद्धान्त को सुश्रुत ने अपने एक ही वाक्य में पूरा किया है—

"तेषां क्षयवृद्धि शोणित निमत्ते"

जब रक्त कम या सामान्य हो तो हृत्क्षय (Atrophy) होगी और रक्त की वृद्धि में वृद्धि Hypetrophy होगी।

आयुर्वेद के सिद्धान्त त्रिदोष सिद्धान्त पर आधारित हैं और आजकल के वैज्ञानिक कहे जाने वाले एलोपैथिक दृष्टिकोण से हमें अपनी हठधर्मी को त्यागकर, तोड़-मरोड़कर उन सिद्धान्तों से आयुर्वेद के सिद्धान्तों के साथ तालमेल बैठाना कुछ हद तक उचित नहीं है, इसीलिए समन्वयात्मक दृष्टिकोण वहीं तक उचित है जहां तक निष्पक्ष रूप से दोनों के सिद्धान्तों में एक रूपता हो, जहां पर ऐसा नहीं है वहां आयुर्वेदीय दृष्टिकोण ही अपनाकर उसे समझाना श्रेयस्कर होगा।

चूंकि हृदय के प्रसारण या वृद्धि रोगों में एलोपैथी वातव्याधि (Rheumatic) रोगों को प्रमुख कारणों में माना ही है और उसी के उपद्रव स्वरूप हृदय प्रभावित होता है, उधर आयुर्वेद में वातदोष को वृद्धि रोगों के प्रमुख कारणों में लिया है, "वृद्धि वात समुत्ये" तो हमें सुश्रुत के मतानुसार—

"तेषां क्षयवृद्धि शोणित निमित्ते" के साथ-साथ वातज विकारों को भी शोणित के साथ अनुबन्धित मानकर अर्थात् 'वातशोणित' दोषगत उसे मानना चाहिये। आचार्य घाणेकर ने सुश्रुत की टीका में वात व्याधि के निदान में एक स्थान पर—

'कुर्यात् सिरागतःशूलं सिराकुञ्चन पूरणम्'

की सुन्दर व्याख्या करके, "सिराकुञ्चन को सिरा-पूरण करें' शिराओं में रक्तपूर्णता अर्थात् Venous Pressure जिसका उल्लेख हम पीछे कर आए हैं, किया है।

इन व्याख्याओं की विस्तार से चर्चा हम आगे करेंगे, अभी अपने मूल विषय पर पुनः आते हैं।

तो हमने देख लिया कि वाम निलय के प्रसारण का अंतिम प्रभाव उपद्रव के रूप में शरीरगत सिराओं के कुञ्चन, या पूरण Venous Blood pressure के रूप में पड़ने लगता है। वाम निलय के प्रसारण का कारण जैसा पीछे कहा गया है, होता है। अब इनके कारणों को पृथक्-पृथक् लेते हैं।

वाम निलय (Left Ventricle)—

कारण—वाम निलय के प्रसारण या वृद्धि के कारण महाधमनी संकुचन (Aortic Stenosis), रक्त का किसी कारण से (वातव की खराबी इत्यादि) वा. नि. में लौटने को बाध्य होना, अत्यधिक रक्ताल्पता (Severe Anaemia) हृत्मांस गलन (Infarction Myocardium) (जब हृदय के मांस को पोषण करने वाली कोई धमनी अवरुद्ध हो जाए तो इससे पोषित भाग को रक्त न मिलने से वह मांस का भाग सूखने गलने या मृत्प्रायः होजाता है, उसे Infarction हृदव्रणाक्रमण या हृत्पेशीरोध गलन कहते हैं) (Hyper-thyoridism); गले में उपचुल्लिका ग्रन्थि बेरीबेरी (Beriberi), हृत्मांस का किसी कारण से परस्पर जुड़-जाना, तथा हृत्कार्य में ह्रास, रक्तचापाधिक्य Hyper tension (हाईब्लडप्रेशर) इत्यादि।

लक्षण—जब शरीर स्वस्थ हो तो विशेष कोई लक्षण अनुभव नहीं होता परन्तु कालान्तर में सिर में भारी-पन और सिर भरा-भरा सा लगना शिरःशूल, चक्कर से आना, आंखों के आगे कभी-कभी, अंधेरा सा छाना, कानों में शब्द होना, आंखों के आगे चिन्गारियां सी उड़ती दिखाई देना, हृत्स्थान पर बेचैनी, जैसे कोई हृद्स्थान पर किसी भारी वस्तु पत्थर इत्यादि से आघात कर रहा हो, और कभी-कभी धकधकी, नाड़ीगति तीव्र हृदय का स्पन्दन धक्-धक् करना इत्यादि।

नाड़ीगति—यद्यपि नाड़ी धीमे चलती है फिर भी भरी हुई और कठोर सी इसमें रक्तचाप, ब्लडप्रेशर बढ़ा हुआ रहता है।

हृदय अपेक्षाकृत उभरा हुआ, ऊपर का शब्द कुछ नीचे और छठी बाएं पसली के नीचे बाहर (बगल) की ओर सुनाई देता है ज्यादा प्रसारित होने की दशा में बगल तक शब्द सुना जा सकता है। हृदय को स्टेथोस्कोप से परीक्षा करने पर वह बाईं ओर कुछ नीचे की ओर अनुभव होता है। हृत्शब्द प्रथम शब्द (वाल्व के स्थान पर) देर तक रहकर घूमा हुआ सा तथा Systolic murmur के साथ कभी-कभी महाधमनी का शब्द एक

रुककर (रक्त के लौटने, या महाधमनी के संकुचित होने के कारण) सुनाई देता है।

दायां निलय (Right Ventricle)—

चूंकि वाम नि. के बाद ज्यादा प्रसारित और वृद्धि होने वाला कोष्ठ दाहिना निलय होता है, हम इसका वर्णन लेते हैं। उसके प्रसारित होने के कारणों में प्रधानतया वही कारण हो सकते हैं जिनका सम्बन्ध फैफड़ों से होगा क्योंकि इस निलय (R. V.) को अपना अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिये फैफड़ों को भेजना पड़ता है, अतः अगर फैफड़ों में सूजन, कोई शोथ युक्त रोग के कारण रक्त को पूरे का पूरा पहुंचने में रुकावट होगी तो उसका प्रभाव इस दा. नि. पर पड़े बिना नहीं रहेगा, अतः इसके प्रमुख कारण शोथयुक्त हृदय के कार्य का ह्रास (Congestive heart failure) तीव्र हृत्मांस शोथ (Acute Myocarditis) घोर रक्ताल्पता, फुफ्फुस जन्य हृद्रोग (Acute Cor. Pulmonale) अलिन्द निलय के मध्यभागीय वाल्व की खराबी, फैफड़ों में संकुचितावस्था (Pulmonary Stenosis) जीर्ण फौफ्फुसीय रक्तभाराधिक्य (Chronic pulmonary Hypertention), फौफ्फुसीय तन्तवीकरण (Pulmonary fibrosis) तथा (Thyrotoxicosis) अवटुविषाक्तता, यदि फैफड़ों में कोई वसा या मांस का अर्बुद उत्पन्न हो जाए (Pulmonary atheroma) (इस दशा में दायां निलय (R. V.) प्रसारित होने लगता है, कालान्तर में दा० अलिन्द, भी ग्रसित होकर प्रसारित हो जाता है) उपदंश जनित हृदय रक्तवाहिनियों में भी विकार आकर हृत्शोथ होकर दाहिना निलय प्रसारित हो जाता है।

लक्षण—चूंकि इसमें फैफड़े से सम्बन्धित कारण होते हैं, अतः अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने में विलम्ब और बाधा पड़ती है अतः रोगी का रक्त सम्यक् रूप से शुद्ध न हो सकने के कारण उसे श्याम रक्तता (Cyanosis) हो जाता है। श्वास फूलना, दमा (Asthma), होने के समय ज्यादा श्वास का फूलना, थोड़े परिश्रम में ही दम फूलने लगना, रक्त को फैफड़ों में सम्यक् मात्रा में आक्सीजन न मिलने के कारण रक्तश्यामता (Cyanosis) की दशा में देखा जाता है खांसी प्रायः रहती है, कभी-कभी फैफड़ों से रक्त मिश्रित कफ आ जाता है। इतना होते हुए रक्त में लालकणों की गणना अधिक पाई जाती है। (X-ray) लेने पर दाहिना निलय तो बढ़ा हुआ मिलता है साथ में फौफ्फुसीय धमनी भी (Pulmonary artery) भी दृष्टिगोचर होती है।

वक्ष की परीक्षा (Precardium)—में प्रायः बच्चों में इस बा० निलय का निचला भाग आगे निकला हुआ (Bulging) होता है। ऊपर (Apex) की धमन ध्वनि सामान्य हो सकती है, बिखरी हुई या अत्यल्प बेमालुम भी हो सकती है। बाईं ओर के तीसरी से पाचवीं पसली के बीच में इस निलय का प्रसार काफी देखा जा सकता है, जब यह निलय संकुचित होकर (Systolic) दशा में होता है तब वक्षास्थि (Sternum) के दाहिनी ओर भी तथा आमाशय के ऊपर भी अनुभव किया जा सकता है। जब इस दा० निलय (R. V.) का प्रसार या वृद्धि ज्यादा हो जाती है तो हृदय का अवरुद्ध स्पन्दन (Cardiac dullness), बढ़ कर वक्षास्थि (Sternum) के दाहिनी ओर तक बढ़ जाता है। स्टेथिस्कोप (Stethoscope) से परीक्षा करने पर उपरोक्त के अतिरिक्त हृत्शब्द त्रिक् वाल्व (Tricuspid) क्षेत्र में प्रथम हृत्शब्द सामान्य शब्द से उच्च होगा, और दूसरा फुफ्फुसीय शब्द (Pulmonary Second Sound) कट कटकर या बाधा पड़-पड़ कर accentuated रूप में सुनाई पड़ता है और अधिक परीक्षा करके ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इलैक्ट्रोकार्डिओग्राम (Electrocardiogram) की सहायता ली जाती है, इसमें—

वाम निलय (Left Ventricle) **में**—

Q. R. S. की ऊंचाई के साथ (Amplitude of Q. R. S.) या हिसाब से बांई ओर धकेला या झुका हुआ होता है जिसमें २.५ मिली वोल्ट से ज्यादा अथवा R_1 तरंग 15 m.m. से ज्यादा होगी तथा S. T. का झुकाव या T का झुकाव 1 m.m. से भी कम होगा। बढ़ा हुआ Q. R. S. बाएं निलय के मांस भाग की वृद्धि के कारण होगा तथा S. T. तथा T तरंग (wave) में परिवर्तन उसी निलय के आभ्यन्तरिक मांस तन्तुओं में रक्ताल्पता के कारण होता है।

दाएं निलय (Right Ventricle)—

इसमें S T तथा S T_2 के अधोगति Depression के साथ साथ हृदय दाहिनी ओर को एंठा या मुड़ा हुआ होगा। T_1, T_2 उलटे झुके होंगे।

वाम अलिन्द (Left Auricle)—

कारण—अब तीसरा नम्बर वाम अलिन्द (Left Auricle) का आता है। इसमें प्रायः वाल्व (Mitral Stenosis) जो कि ऊपर के अलिन्द और निलय के बीच में होते हैं, उनके सिकुड़ जाने के कारण पूरी तरह रक्त प्रवाह को रोकने में असमर्थ हो जाने की दशा के कारण जन्मजात उपरोक्त विकार अथवा वाम या दाएं ओर के वाल्वों के अपूर्ण कार्य के कारण इस अलिन्द का प्रसार होता है। वैसे तो इस अलिन्द को हृदय से आया शुद्ध रक्त नीचे के वाम नि. (L. V.) को ही भेजना है, परन्तु बहुधा वाल्व की खराबी या पीछे कह आए, वाम निलय के प्रसार के कारणों से भी इस पर प्रभाव पड़ता है।

इसके लक्षणों में प्रायः कम या ज्यादा वे ही लक्षण मिलते हैं जो वाम निलय (L. V.) के लक्षणों के हैं। विशेषता यही है कि यह कोष्ठ फैफड़ों और वाम निलय के बीच में पड़ जाने के कारण दोनों ओर के विकारों से प्रभावित हो सकता है।

दायां अलिन्द (Right Auricle)—

इसी प्रकार दाहिने अलिन्द (Rt. Auricle) का प्रसार बहुत हद तक नीचे के दाहिने निलय (Rt. Vent.) के प्रसार या उसमें रुकावट उत्पन्न हो जाने के परिणाम स्वरूप हो जाता है। शेष कारण हम पीछे दे आए हैं। यह अलिन्द (R. A.) क्रमानुसार सबसे कम प्रसारित होने वाला कोष्ठ होता है। फैफड़ों की शोथयुक्त अवस्थाएं एवं शिराओं में रक्तदोष इसके प्रसारण के परिणाम स्वरूप अथवा कारण रूप में देखे जा सकते हैं।

इन आधुनिक सिद्धान्तों को अब यहां छोड़कर हम आयुर्वेदीय मतानुसार इन लक्षणों, अवस्थाओं और कारणों की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं।

हृदय रक्तस्थान माना गया है। आयुर्वेद मतानुसार हृद्रोगों में तथा अन्य रोगों में भी प्रायः वृद्धि का कारण वातदोष माना गया है। "वृद्धि वात समुत्थे" परन्तु रस जो कालान्तर में रंजक पित्त से रंजित होकर रक्त का लाल वर्ण रूप ले लेता है, हृदय से अत्यधिक सम्बन्धित होने से हृदय की रचना, कार्यशैली इत्यादि पर गहरा प्रभाव डालता है। सुश्रुत ने सूत्रस्थान में रस के वर्णन में स्पष्ट किया है कि—

'यस्तेजोभूतः सारः परम सूक्ष्मःस रसः इत्युच्यते, तस्य हृदयंस्थानम्..........तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद्गति रूप लक्षयितव्या क्षयवृद्धि वैकृतैः।'

इस रस या रक्त का स्थान हृदय है और इसकी गति को रक्त की क्षय वृद्धि के विकारों द्वारा जानना चाहिए। यहां हम क्षय को रक्तक्षय (Anaemia) वृद्धि को क्या मानें? रक्तवृद्धि को हमें रक्त भाराधिक्य, हाईब्लड प्रैशर या Hypertension लेना होगा।

रसक्षय या रक्तक्षय सुश्रुत—

रस या रक्त क्षय के लक्षणों को लेते हुए सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है कि—

रसक्षये हृत्पीड़ा कम्पः शून्यता तृष्णा च
शोणित क्षये त्वक् पारुष्यमम्लीशीत प्रार्थना
शिरा शैथिल्यं च। (सु० सू० अ० १५–६)

जब रक्तक्षय होगा तो शिरा शैथिल्य (Venous low pressure) होगा, हमने पीछे आधुनिक मतानुसार देखा है रक्तभाराधिक्य High blood pressure (रक्तवृद्धि) के परिणाम स्वरूप हृदय का वाम निलय प्रसारित होकर क्रमशः दा. अलिन्द को प्रसारित कर देता है, तदुपरान्त उपद्रव रूप में शिराओं का रक्तदाब बढ़ जाता है। अतः रक्तक्षय में शिराओं का रक्तदाब कम ही होगा।

रसक्षय चरक—

अब चरक के मतानुसार–रस, रक्त के क्षय के लक्षणों को लेते हैं—

घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति शूल्यते।
हृदयं ताम्यतिस्वल्प चेष्टस्यापि रसक्षये॥
(च० सू० १७–६१)

रसक्षय होने पर हड़बड़ी सी होना, ऊंचा शब्द न सहा जाना, खड़े होने की शक्ति न होना, हौलदिली, हृदय का धक्-धक् करना, अल्प परिश्रम करने से मन व्याकुल हो उठे, आंखों के आगे अंधेरा छा जाना।

परुषास्फुटितास्म्लाना त्वग्रूक्षारक्त संक्षये।

रस, रक्त क्षीण होने पर एवं मांस क्षीण होने पर जो दशा होती है वह सभी जानते हैं, अतः इस अवस्था में शरीर के सभी अङ्ग विशेषकर मांसपेशियां सूखकर दुर्बल हो जाती हैं। इसका प्रभाव हृदय पर व्यापक रूप से पड़े बिना नहीं रहता। 'रसक्षये' या 'रक्तसंक्षये' एक ही बात है, दोनों के क्षय होने का अर्थ Anaemia है। रक्ताल्पता में हृदय में प्रसारित होने के उपद्रव पैदा होंगे ही जैसे हम पीछे लिख आए हैं।

क्रम से वातज, पित्तज, कफज हृद्रोगों के वर्णन सविस्तार पाठक चरकादि ग्रन्थों में देखें, यहां संकेतमात्र करते हुए हम यह देखने और स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि हृत्प्रसार का उपद्रव किस दोष, कारण इत्यादि के अन्तर्गत आता है।

चरक मतानुसार वात विकारजन्य हृद्रोग को ही हमें सविस्तार लेना है क्योंकि "वृद्धि वात समुत्थे" माना गया है, अतः वातज हृद्रोग में हम अपने मतलब के लक्षण ढूंढने का प्रयास करते हैं।

वातज हृद्रोग चरक—

वातज हृद्रोग के कारणों और लक्षणों का वर्णन सूत्र-स्थान में चरकाचार्य ने इस प्रकार किया है।

शोकोपवास व्यायाम शुष्क रूक्षाल्प भोजनैः।
वायुराविश्य हृदय जनयत्युत्तमां रुजम्॥
वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः प्रमोहः शून्यता द्रवः।
हृदि वातातुरे रूपं जीर्णे चात्यर्थं वेदना॥
—चरक सूत्र. १७-२९

शोक उपवास, व्यायाम, सूखे, रूखे, अल्प भोजन करने से, वायु हृदय में प्रवेश करके अन्यन्त पीड़ा पैदा कर देता है, उस समय हृत्कम्प लपेटने, जकड़न, स्तम्भ, मोह, शून्यता, घबराहट या हौलदिली (द्रव) भी होती है वात हृद्रोग में अन्न जीर्ण होने के बाद विशेषता से पीड़ा होती है।

इसमें जो मुख्य कारण दिये गए हैं वे मानसिक, एवं आहार विहार से सम्बन्धित हैं। जब उपरोक्त कारणों से वायु हृदय में प्रवेश करेगा तब ये लक्षण और उपद्रव होंगे, इसी में हमें प्रसंगवश एक और रोग वातगुल्म में भी चिकित्सा स्थान में एक ऐसा ही विवरण मिलता है।

"रूक्षान्नपानं शोषो''' मिथातोऽ''''चानिल गुल्महेतुः।"
हृत्कुक्षि पार्श्वांस शिरा रूजं च
फिर, करोति जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं मुक्ते मृदुत्वं समुपैतियश्च। —चरक चि० ५-९-१०

तो भोजन के जीर्ण होने पर हृदय पार्श्व इत्यादि में रोग लक्षण होते हैं, वैसे नहीं, परन्तु हृत्प्रसार के रोग में लक्षण निरंतर बने रहते हैं। हां यह अवश्य है कि भोजन के जीर्ण होने पर लक्षणों की वृद्धि होती है।

वातज हृद्रोग को पृथक् चिकित्सा स्थान में जब उल्लेख किया गया तो वहां भी (Psychosimatic) कारण (वात दोषवर्धक कारणों) के साथ-साथ अन्य कारण आहार विहार के इस प्रकार दिये हैं।

वातज हृद्रोग चरक—

शोकोपवासे''''। वायुराविश्यहृदयं''''। वे पथुर्वेष्टनं''''
स्तम्भः प्रमोहः शून्यता द्रवः''''

यद्यपि वातज विकारों में सामान्यतया रोगी क्षीण और दुर्बल हो जाता है, परन्तु जब वात का अनुबंध रक्त या कफ इत्यादि दोषों से होता है तथा कारण ऐसे होते हैं कि रोगी दुर्बल तो होता ही है परन्तु देखने में, बाह्य दर्शन से दुर्बल नहीं दिखाई देता, तब अन्य दोषों के अनुबन्ध से निदान में सहायता मिलती है।

सामान्यतया पाश्चात्य मतानुसार स्थूलता (Obesity) मेदाधिक्य से हृद्रोग विशेषकर (Hypertension) रक्तचापाधिक्य होता है, वहां भी वातानुबन्ध न्यूनाधिक अवश्य होता है। क्योंकि 'वृद्धि वात समुत्थे' का सिद्धान्त सामने आ जाता है।

दूसरी बात 'विद्रधि' प्रसंगान्तर्गत आती है जिसका उल्लेख दो एक बातों को लेकर करना पड़ता है विद्रधि और गुल्म के कारण और दोष एक से ही हैं।

गुल्म दोष समुत्थाना विद्रधि गुल्म कस्य च।
—सु. नि. ९-२८

विद्रधि का एक स्थान हृदय भी माना गया है।
गुदे''''''प्लीहा हृदये''''''वा तथा
सु० नि० ९-१७

हम हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि को गुल्म या विद्रधि में भी नहीं ले सकते क्योंकि यह न पकने वाला (विद्रधि प्रायः पाक को प्राप्त होती है) रोग है। हृत्प्रसार पाक को प्राप्त

नहीं होता । परन्तु चूंकि गुल्म और विद्रधि दोनों में ही उनके (गुल्म और विद्रधि के) वृद्धि या प्रसार का मुख्य कारण वायु माना गया है—

गुल्मिनानिलशान्ति रूपायै…………

मारुते ह्यविजनेऽन्यमुदीर्ण….कर्म निहन्यात्

—चरक

तो हृत्वृद्धि, हृत्प्रसार, गुल्म, विद्रधि इत्यादि जितने भी वृद्धि रोग हैं, उनमें प्रायः वायु का अनुबन्ध होता ही है।

अस्तु मूल विषय में हम चरकानुसार वातज हृद्रोग को ले रहे हैं।

वातज हृद्रोग में अत्यन्त पीड़ा, फलतः हृत्कम्प (Palpitation Angina), स्तम्भ, मोह (Unconcious ness, Faiutness) शून्यता(Coma), होलदिली इत्यादि।

कफज हृद्रोग चरक में—

हृदयं कफ हृद्रोगे सुप्तस्तिमित भारिकम्।
तन्द्रारुचिपरीतस्य भवत्यश्मावृतंयथा ।

—चरक. सूत्र. १७-३३

फिर कहा है—

स्तब्धं गुरुस्यात्स्तिमितं च मर्म, कफात् प्रेसक ज्वर कास तन्द्राः….

—चरक. चि. २६-७६

सुश्रुत कफज—

गौरवं कफ संस्रावोऽरुचि स्तम्भोऽग्निमार्दवम्।
माधुर्यमपि चाऽऽस्यस्य बलासावर्तते हृदि ॥

—सु० उ० अ० ४३ हृद्रोग

इनमें कफ के हृद्रोग में हृदय सोया हुआ सा (सुप्त) लगे, गीला सा, और भारी प्रतीत हो तथा तन्द्रा, अरुचि, तथा ऐसा लगे जैसे दिल पर पत्थर रखा हुआ है।

दिल स्तब्ध, भारीपन, गुरुता, सैमित्य, (गीले कपड़े से लपेटा हुआ) प्रसेक ज्वर, कास तन्द्रा इत्यादि। यहां अवश्य हमें एक लक्षण मिलता है भारीपन, स्तब्ध यह भारीपन अन्य कारणों शोथ इत्यादि [illegible] अनुभव होता है, तथा शोथ तभी होगी जब हृत्वृद्धि का रूप होगा।

अस्तु सुश्रुत ने यही बात दुहराई है—

भारीपन, कफ का स्राव, अरुचि, जड़ता, अग्निमान्द्य मुख में मधुरता, कफ से हृदय आवृत्त होने पर ऐसा होता है।

पैत्तिक हृद्रोग चरक—

पैतिक हृद्रोग में—

हृद्दाह…………पित्तहृद्रोगलक्षणम्।

—चरक. सूत्र. १७-३१

तथा—

पित्तात्तमोद्यन…. .. ….पीत भावा

—चरक. चि. हृद्रोग

पित्तज हृद्रोग सुश्रुत—

तृष्णोदाहा चोषाःस्युः………स्वेदः शोषो मुखस्यच।

—सु० उ० अ० ४३ हृद्रोग चिकि०।

पैत्तिक हृद्रोग में पित्त के कारण अंधेरा सा लगना, दूयन (उपताप) जलन, मोह, घबराहट, ज्वर एवं शरीर का पीला पड़ जाना, दाह, मुख में कड़वाहट, अम्ल, कड़वी डकारें आना, प्यास, मूर्च्छा, भ्रम इत्यादि। (चरक)

प्यास, ऊषा (प्रादेशिक दाह, हृदय के स्थान पर दाह), हृदय में क्लम (थकान) वमन सी प्रतीत होना, मूर्च्छा, मुख का सूखना इत्यादि होता है। (सुश्रुत)

उपरोक्त कथनों एवं दिल के विकारों के लक्षणों से हमारे हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि के विवेचन, या लक्षणों की पुष्टि अभी नहीं हो पाई है, अतः अब सन्निपातज हृद्रोग को लेते हैं, क्योंकि हृत्शोथ, हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि में तीनों दोषों का प्रकोप होता है और कुछ लक्षण ऐसे मिलते हैं जो हमारे मतलब के हैं।

जिसको पहले से ही हृद्रोग साधारण रूप में है, यदि वह रोगी कुपथ्य करता है, उस युग में (चरक काल में) यदि वह तिल, गुड़, दूध ज्यादा खाता है तो उसके हृदय में 'ग्रन्थि' (अर्बुद, गुल्म, विद्रधि या फिर Hypertrophy of the myocardium हृत्मांस का शोथ या वृद्धि) भी हो 'ग्रन्थि' सम होकर तब हृदय मर्म में किसी एक स्थान पर किसी एक कोष्ठ में चाहे वह अलिन्द हो चाहे निलय (Auricle or ventricle) वहां पर रस संक्लेदित हो जाता है; [अर्थात् रस यानी रक्त की अधिक मात्रा वहां पर एकत्रित होने लगती है] कालान्तर में वहाँ हृत्मांस में उत्क्लेद होकर कृमि या सड़न या गलन Infarction भी हो सकता है।

हृत्मांस में उत्क्लेद होकर………इसका अर्थ हम क्या लगाएं, उत्क्लेद, क्लेदित……होकर थकान, चाहे कार्य

माराधिक्य से अथवा रक्त अधिक भरने से वह मांस भग्ग मोटा या स्थूल रूप धारण कर लेता है Hypertrophy, Myocarditis के रूप में उत्क्लेदित होता है, यही हृत्वृद्धि या हृत्प्रसार का स्वरूप हमें सन्निपातिक हृद्रोग में मिलता है—आगे के विवरण में हम इसे और खुलासा लेते हैं।

हृदय में सूई सी चुभन होना, पीड़ा, काटने जैसी पीड़ा, Angina, खुजली, भारी शूल (कृमिजन्य हृद्रोग) Infective Carditis के लक्षण हैं। हमारा मतलब ऊपर के कथन से कुछ हल हो जाता है।

हेतुलक्षण संसर्गादुच्यते सान्निपातिकः ।
त्रिदोषजेतु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते ।।
तिलक्षार गुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योप जायते ।
मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योप गच्छति ।।
संक्लेदात्क्रिमयश्चास्यभवन्त्युपहतात्मनः ।
—चरक सूत्र १७–३४–३६ ।

चरक मतानुसार मिथ्याचार से सन्निपातजन्य हृद्रोग में कृमि होते हैं। अस्तु हमें कृमिजन्य हृद्रोग से प्रयोजन नहीं है, अतः हृदय स्थान में ग्रन्थि संक्लेद —

वैसे गुल्म के पांच आश्रय हैं।

पंचगुल्माश्रया नृणां पार्श्वे हृन्नाभि वस्तयः ।
—सुश्रुत ।

हृदय, नाभि, वस्ति और दो पार्श्व ये गुल्म के स्थान हैं, मगर हृदय के गुल्म के बारे में पृथक् विवेचन सविस्तार नहीं मिलता। केवल हृत्शूल को गुल्म प्रकरण में देकर यही सिद्ध किया गया प्रतीत होता है कि हृदय का गुल्म ऐसा नहीं है जिसके लक्षण हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि से मेल खाते हों, परन्तु दोषों को जिस क्रम से लिया गया है और उनके अनुबंध की जो व्याख्या की गई है उससे यह स्पष्ट होता है कि हृदय में रस के कफपित्त से अवरुद्ध होकर फिर उसमें वायु मिश्रित हो तभी शूल होगा। "रस का अवरोध" क्या अर्थ रखता है।

सुश्रुत ने,

यस्तेजो भूतः सारः परमसूक्ष्मः स "रसः" इत्युच्यते तस्य हृदस्थानं—फिर वही रस,

रञ्जितास्तेजसः त्वाप·······रक्तमित्यभिधीयते ।
—सुश्रु० सूत्र० १४-३-५

तो रस एक प्रकार से रक्त ही का पूर्वरूप है, कोई-कोई विद्वान् इसे Plasma मानते हैं। जो भी हो,

कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रस मूर्च्छितः ।
हृदस्थः कुरुते शूलमुच्छ्वासावरोधकं परम् ।।
हृच्छूल इति ख्यातो "रसमारुत सम्भव !"

यहाँ 'रस मारुत' शब्द देकर चरक ने हमें एक सुन्दर सा शब्द, और अवस्था बताई है, इसे रस वात भी कह सकते थे। मगर "रस मारुत" के संयोग में रस (Plasma) या रक्त हृदय में अवरुद्ध होकर अर्थात् कोष्ठों में रक्त जमा होकर या रसमांस में जमा होकर शूल करता है, प्रसार वृद्धि का जिक्र नहीं किया गया। इतना हम जान गए कि रस मारुत संयोग से रस या रक्त का अवरोध हृदय में होता है।

फिर गुल्म के विषय में एक बात और भी ध्यान देने की है कि—

स (गुल्म) यस्मादात्म निचयं गच्छत्यश्चिव बुद्बुदः ।

अर्थात् गुल्म अपने में ही (अर्थात् अपने अवयव अपने ही अंग विशेष में) निचय (बढ़ता, प्रसारित या वृद्धि) को प्राप्त होती है। जैसे पानी का बुलबुला, पानी से बढ़ता है और यह पकता भी नहीं।

हृत्वृद्धि या प्रसार हृदय में ही, विशेष अंग हृदय से भी उत्पन्न होता है और पाक को प्राप्त नहीं होता। यद्यपि हृत्गुल्म का विशेष उल्लेख नहीं है, पर गुल्म के आश्रयों में पांच स्थानों में एक हृदय भी माना गया है।

तो हमने देखा कि हृत्वृद्धि या हृत्प्रसार में न तो विद्रधि (अन्तर्विद्रधि), और न गुल्म का प्रकार प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है, मगर दशा इनसे (आयुर्वेद मतानुसार) कुछ-कुछ मिलती-जुलती है। हां यह अवश्य है कि अनुबन्ध रूप में रस, मारुत (रक्त) एवं कफ पित्त से दूषित होकर ही अवरोध उत्पन्न होता है, जो कि त्रिदोषज होने के साथ-साथ रस को भी अपने साथ ले लेता है।

जिस प्रकार ऐलोपैथी में हमने देखा था कि बांए निलय के प्रसार में सिलसिला चलता हुआ शिराओं के रक्तचाप को बढ़ा देता है, और हृद्रोगों का कारण प्रायः अन्य कारणों के साथ विशेषकर Rheumatic Fevers या Rheumatic रोग है। उसी प्रकार सुश्रुत ने बात-



व्याधि के कारणों पर प्रकाश डालते हुए स्पष्टया लिखा है कि शिरागत वायु होने से हृद्रोग एवं रक्तभ्रमण सम्बन्धी जो भी लक्षण Pathological हैं उनके लिए निदान स्थान में—

कुर्यात् सिरागतः शूलं, सिरा कुञ्चन पूरणम् ।

वही वायु जिसने हृदय में विकार किया था शिराओं का कुञ्चन या पूरण *Venous Blood pressnre* कर देता है। यहां एक बात को और स्पष्ट करते हैं, हृदय का प्रसार प्रायः दिल की मांसपेशियों के क्षीण, दुर्बल, अशक्त होने के कारण होता है, तथा वृद्धि मांसपेशियों के सूज जाने, मोटी हो जाने के परिणाम स्वरूप होती है। यहां भी सुश्रुत के सूत्र स्थान में रस की गति (शरीर में फैलने या भ्रमण करने की प्रक्रिया) को क्षय–Atrophy, या वृद्धि Hypertropixy विकारों से जानना चाहिये।

तस्य शरीरस्युनुसरतो·······क्षयवृद्धिवैकृतैः ।

—सूत्र १४–३

रसक्षय—के लक्षणों में भी स्पष्ट दिया है कि—

रसक्षये हृत्पीड़ा कम्पः शून्यता तृष्णा च ।

—(हृत्पीड़ा) ।

रक्तक्षय—

शोणितक्षये त्वक् ·········शिरा शैथिल्यं च ।

शिराओं में शैथिल्य (*Venous Low pressure*)—

यह तभी होगा जब *Dialatiaion* जो *Anaemia* इत्यादि से होगा।

मांसक्षय—

मांसक्षये ·········धमनी शैथिल्यं च ।

धमनी शैथिल्य (*Arterial low blood pressure*)—

यह मांसक्षय *Atrophy of the Myocardium*—हम समस्त शरीर के रस, रक्त, मांसक्षय के साथ से हृदय के ऊपर इसके पड़ने वाले प्रभाव के अन्तर्गत ऐसा लिख रहे हैं कि जब शरीर का रस, रक्त, मांस कम होगा तो हृदय मर्म जो रक्त, रस और मांस से अधिक सम्बन्धित है उससे भी उपरोक्त विकार आकर शिरा शैथिल्य और धमनी शैथिल्य हो जाएगा।

इन सभी उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम अन्त में यही नतीजा निकालते हैं कि हृत्प्रसार रस, रक्त, मांस, क्षय जनित त्रिदोषज हृद्रोग है, और हृत्वृद्धि रस, मारुत, कफ, पित्त द्वारा अवरोधजनित त्रिदोषज वृद्धि रूप में दूसरा हृद्रोग का स्वरूप है।

दोनों को एक ही नाम देने के लिए अच्छा यही होगा कि रसानुबंध त्रिदोषज हृद्रोग, जिसमें वायु की प्रधानता हो वही हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि रोग माना जाना चाहिये।

यह तो हुआ दिलके फैल जाने और बढ़ जाने का अलग-अलग ऐलोपैथिक एवं आयुर्वेदीय विवेचन अब कुछ प्रमुख बातें इन दोनों फैल जाने, और बढ़ जाने के विषय में और देते हैं जिनकी जानकारी चिकित्सा में तथा रोग को समझने में सरलता पैदा कर देगी।

i. दाहिना निलय(*Rt. Ventricle*) जब बढ़ता है तो पहले ऊपर और आगे की ओर बढ़ेगा, चूंकि दिल का यह भाग एक ओर तो महाशिरा से बंधा सा रहता है, दूसरे Diaphragm से सिरा कसी हुई पकड़ में होती है, तो इस भाग के बढ़ने पर दिल का दाहिना भाग बढ़ने की दशा में, (महाशिरा और डायाफ्राम की जकड़ पकड़ के कारण) वाएं ओर को ऐंठता हुआ वृद्धि को प्राप्त होगा। जब वृद्धि और ज्यादा होगी तो दाहिना अलिन्द मध्य रेखा से जहां वह सामान्यतया रहता है और भी दाहिनी ओर धकिल जाएगा।

ii. दिल के वाएं निलय के प्रसार के फेल होने पर दाहिने निलय को भार संभालना पड़ता है, फलतः फैफड़ों में जाने वाली रक्त नलिकाएं रक्त से ज्यादा भरी रहने लगती हैं, और फैफड़े पर जोर पड़ता है, फैफड़ों में रक्त भार, रक्ताधिक्य के कारण श्वास फूलने लगती है, और फलस्वरूप रोगी को प्रायः रात के समय अधिक दम फूलने का उपद्रव हो जाता है। इस दम फूलने का (रात को ही) कारण होता है। (१) दिन में जो शोथ रोगी के हाथों पांवों पर आ गई थी रात को लेटने के बाद पुनः शोथ का द्रव रक्त में मिल जाता है और रक्त की मात्रा बढ़कर दिल के अलिन्द निलय को अधिक जोर लगाकर काम करना पड़ता है, तथा फैफड़ों में रक्ताधिक्य हो जाता है, तब श्वास दम फूलने लगता है।

दोनों अलिन्द के मध्य मांस वाल्व के विकार जन्य उपद्रव (Arterial Septal Defect)—

iii चूंकि दिल के बाएं अलिन्द में दाहिने अलिन्द से

ज्यादा रक्तभार रहता है, तो रक्त का प्रवाह भी बाएं से दाएं ओर होगा, और रक्त को त्रिक् वाल्व (Tricuspid Valve) में तीव्रता से गुजरना पड़ेगा, तब दाहिने निलय की वृद्धि होने लगेगी, साथ में फलस्वरूप फैफड़ों की रक्त नलिकाएं प्रसारित (Dilatation of Pulmonary Trunk) हो जायगी, इसके कारण (Pulmonary artery) में रक्त के अधिक प्रवाहित होने से फैफड़ों के क्षेत्र में (Systolic murmur) (दिल के संकुचन के समय सरसराता शब्द) सुना जा सकेगा उसे (Pulmonary Esection Murmer) कहते हैं।

दाहिने अलिन्द पर भार पड़ने पर अलिन्द में कम्पन सा शब्द (Auricular Fibrillation) सुना जा सकेगा, तथा दाहिने निलय के प्रसारित होने पर फैफड़ों में सुना जाने वाला शब्द कट कट कर (एक सा नहीं) सुना जा सकेगा—

अगर यह विकार ठीक न किया गया तो दाहिना अलिन्द फेल हो सकता है, और रक्त दवाब से रक्त का प्रवाह दाहिने से बाएं को होने लगेगा, तब रक्त नीलिमा (Cyanosis) और दम फूलना, अत्यधिक बढ़ जाएगा, इसमें शल्यक्रिया से दशा सुधरने की आशा की जा सकती है।

कभी-कभी हृदय को विकृत दशाओं को और अच्छी प्रकार से समझने के लिए कुछ विधियां अपनाई जाती हैं, वैसे अगर चिकित्सक को हृदय सम्बन्धी कार्य प्रणाली का एवं उसके विकारों का (विकृति विज्ञान) का, तथा तत्सम्बन्धी लक्षणों कारणों का अच्छा और पूर्ण ज्ञान हो, तो चिकित्सक लक्षणों इत्यादि के आधार पर किसी निश्चित नतीजे पर पहुँच सकता है, फिर भी अपने निदान (जांच) रोग निश्चित की पुष्टि के लिए अन्य विधियों का भी सहारा लिया जाता है; इनमें से विशेष विधियां हैं, प्रत्याघात (Percussion) जिसमें हृदय की सीमाओं पर उगलियां रखकर दूसरे हाथ की उंगलियों से उन रखी हुई उगलियों पर हलकी चोट देकर, उत्पन्न धमक या शब्द के प्रकार से कुछ और रोग जांचा जाता है, दूसरे श्रवण से जैसे सीधे हृदय के स्थान पर कान रखकर या स्टेथिस्कोप द्वारा हृत्स्थान में उत्पन्न शब्दों को सुनकर कुछ विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सकती है, तीसरे एक्सरे तथा एलेक्ट्रोकार्डिओग्राम द्वारा और भी सही जांच और जानकारी मिल सकती है।

प्रत्याघात (Percussion)—

चूंकि, हृदय टेढ़ा स्थित रहता है, और सांस की प्रत्येक गति के साथ-साथ उनकी स्थिति भी हटती बदलती है, तथा हृदय का निचला भाग यकृत् (Liver) से कुछ-कुछ दबा सा या 'धकिला' रहता है (जहां शब्द ध्वनि प्रायः नहीं सुनी जा सकती, और दाहिना किनारा वक्षोस्थि (Sternum) से नीचे होता है (जहां ठोकने से, शब्द ज्यादा धमक से सुना जा सकता है, (अस्थि का) तथा स्त्रियों में बाएं ओर का स्तन हृदय पर आ जाता है इन उपरोक्त कारणों या बाधाओं से हृदय का शब्द सुनने में कठिनाई होती है फिर भी जो भी सुनाई देता है उसी के आधार पर कुछ निर्णय चिकित्सक को करना होता है।

(केवल हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि में ही इन शब्दों को हम लेंगे)।

ऊपरी मंद धमक (Superficial dullness) के लिये धीमे-धीमे उंगलियों को ठोकते हैं, जहां पर धमक मन्द होगी, वहां समझना चाहिये कि उपरोक्त कारण, या हृदय के ऊपर फैफड़ों का आवरण होगा, मगर जब यदि दिल का प्रसार या वृद्धि होगी तो यह शब्द या धमक कुछ ज्यादा स्पष्ट हो जाती है। साथ में या उरस्तोय या फैफड़ों की सूजन होगी तो भी बढ़ी सी अनुभव होगी।

जब और ज्यादा जोर से ठोका जाएगा तो फैफड़ों के दिल की धमक कुछ और स्पष्ट हो सकती है, अतः हृदय की सीमाओं को जांचने के लिये, गहरी धमक सुनने के लिये, कुछ जोर से ही ठोकना आवश्यक होता है। इससे दिल का ऊपर कोण या (Apax) एवं दूसरी और तीसरी बाएं पसलियों के मध्य में दिल की बांयीं सीमा ज्ञात होती है, जो कि अगर और भी बाएं की ओर सुनाई दे तो समझना चाहिये कि दिल के वातव में विकार (Mitral Stenosis) अथवा, हृदय के ऊपरी कोण का प्रसार दाहिने निलय (*R.V.*), फुफ्फुस की धमनी का प्रसार एवं दाहिने अलिन्द (*R.A.*) के प्रसार की धमक स्पष्ट सुनाई देंगी।



दाहिने अलिन्द (*R.A.*) को दिल के दाहिने किनारों पर ठोंककर जाना जाता है, साधारणतया सामान्य (Normal Auricle) में (dullness) मन्द धनक नहीं होती। यदि यह (Dullness) या धमक हीनता एक सेन्टीमीटर से अधिक, वक्षास्थि (Sternum) से और भी दाहिने ओर तीसरी और चौथी पसलियों के मध्य में बढ़-जाए या फैल जाए तो समझना चाहिये कि समूचा दिल बढ़ गया है, या विशेष कर दाहिने कोष्ठ (R.A.) (R.V.) वृद्धि को प्राप्त हो गए हैं। अर्थात् दिल प्रसारित होकर या वृद्धि करके और दाहिने ओर बढ़ गया है।

दिल के दाहिने किनारे के ऊपरी आधे भाग में यदि (Dullness) धमक हीनता होगी तो जानना चाहिये कि महाधमनी (Aorta) के ऊर्ध्वगत (Ascending Aorta) के प्रसार और उसके लम्बा हो जाने के परिणाम स्वरूप ऐसा होता है।

बाईं ओर की दिल की सीमा को ठोंककर जांचने के लिए बाएं ओर की दूसरी फिर तीसरी और चौथी पस-लियों के स्थान पर ठोंक कर जांच करनी चाहिये। बगल की ओर से ठोंकते हुए, दाहिनी ओर बढ़ते हुए, धमक सुनते हुए उस सीमा तक आ जाना चाहिए जब धमक अस्पष्ट असंतुलित (Impaired resonance) धमक सुनाई देने लगे। इसमें यह सावधानी रखनी चाहिए कि उंगलियों के अग्र भाग के पोर (Tip of finger) ही छाती पर टेकनी चाहिए तथा धमक सुनने के लिए चोट नाखून से पीछे वाले स्थान पर ही देनी चाहिए। वाएं किनारे पर महाधमनी का मोड़ फुफ्फुसीय धमनी, बायां अलिन्द एवं हृदय का Apex का कुछ भाग होता है।

परिणाम—यदि दिल काफी बढ़ गया है या फैल गया है विशेषकर आधे भाग में, Transversly तो दिल का ऊपरी भाग फुफ्फुस के और अन्दर प्रविष्ट होता हुआ आगे की ओर उभर आता है, अतः ऐसी दशा में ठोंककर जांचने में धमक ज्यादा स्पष्ट सुनाई देती है। जब फुफ्फुस शोथ युक्त होंगे तो धमक में ज्यादा मन्दी नहीं होगी ऐसी दशा में अच्छा है कि X-ray कराकर जांच होनी चाहिए।

दिल के क्षेत्र में Dullness (धमक का कम होना) यदि—वाएं ओर कुछ नीचे तथा आगे की ओर हो तो यह दाहिने निलय (R. V.) तथा कुछ अंश में बाएं निलय (L. V.) के प्रसार या वृद्धि का सूचक है।

—ज्यादा नीचे की ओर और कुछ बाहर की ओर मंद धमक Dullness बाएं निलय के प्रसार या वृद्धि का सूचक है।

—दाएं एवं वाएं दोनों ओर बाहर की ओर तथा नीचे की ओर मन्द धमक से दाहिने एवं बाएं निलय तथा दाहिने अलिन्द के प्रसार या वृद्धि का सूचक है।

यकृत् के स्थान पर, कुछ ऊपर मन्द धमक दाहिने कोष्ठों के प्रसार का सूचक होता है।

श्रवण विधि(Auscultation)—

यह भी दो प्रकार से प्रायः सुना जाता है। प्रथम सीधे कान को छाती या हृदय के स्थान पर रखकर Direct Auscultation सीधे कान द्वारा सुनना—यद्यपि इस विधि का व्यवहार कम हो गया है, परन्तु जब रक्त की गति महाधमनी से वाम निलय की ओर होती है तब कान लगाकर सुनने से उस रक्त का सरसराहट Murmur अधिक स्पष्ट सुनाई देता है जो कि वाम निलय के प्रसार का एक कारण होता है।

अन्य श्रवण विधि (Indirect Auscultation)—

यह स्टेथिस्कोप द्वारा सुनी जाती है, जो सभी जानते हैं।

ये ध्वनियां जो हृत्क्षेत्र पर सुनी जाती हैं प्रायः दो प्रकार की मानी गई हैं, प्रथम ध्वनि तथा द्वितीय ध्वनि

प्रथम ध्वनि—प्रायः वाल्व (Mitral तथा Tri-cuspid valves), के बन्द होने एवं वाम निलय के मांस के तीव्र संकोच या कामाधिक्य के अनुसार तीव्र भी हो जाती है इस ध्वनि की अवधि का महत्व हृत्मांस की कार्यक्षमता को जानने के लिए विशेष होता है तथा यह दोनों वाल्व की दशा का भी बोध करती है।

द्वितीय ध्वनि—यह महाधमनी एवं फैफड़ों की वाल्व के बन्द होने तथा इन धमनियों के तनाव के फल-स्वरूप भी प्रायः सुनी जाती है। इसकी उच्चता (ध्वनि का ज्यादा स्पष्ट और ऊंचा होना) अधिकतर विस्फारक दाब या Diastolic पर अधिक निर्भर करता है तथा महाधमनी के प्रकुंचन या Systolic aortic अथवा

फुफ्फुसीय रक्तदाव में कम जोर से सुना जा सकता है।

एक तीसरी और चौथी ध्वनि भी होती है पर उससे हमें प्रयोजन कम है। अतः हृत्प्रसार की दशा में इन ध्वनियों को हम लेते हैं। चूंकि दोनों निलय साथ-साथ संकुचित और प्रसारित होते हैं, उनसे संकुचन और प्रसारण के समय प्रकुंचन एवं विस्फारक Systolic तथा Diastolic ध्वनियां क्रमशः एक नपे तुले समय के लिए थोड़ी देर तथा अधिक देर तक के लिए सुना जाता है (साधारण अवस्था में) परन्तु जब हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि या दिल के अन्य विकार होंगे तो इन ध्वनियों, इनके समय एवं प्रकार में अन्तर आ जाता है।

उच्च प्रथम ध्वनि (First sound Intensified)—

i. थोड़ी देर के लिए तथा खंडित या असाधारण (Abrupt)—ध्वनि, वाल्व जो कि वाम अलिन्द एवं वाम निलय के मार्ग में होती है, उसके संकुचित होने के कारण फलस्वरूप वाम निलय के प्रसारित होने पर सुनी जा सकती है।

ii. छोटी (थोड़ी देर के लिए) तेज एवं साफ स्पष्ट (Distinct)—यह हृत्प्रसारण के प्रारम्भिक दशा में सुनी जाती है। इस समय हृत्मांस अपना कार्य करने में पूर्णतया कुशल और पुष्ट होते हैं।

iii. दीर्घ तथा खोखली (Prolonged & booming sound)—यह तब सुनी जायेगी जब वृद्धि को प्राप्त वाम निलय को अधिक मात्रा में रक्त को वाल्व के सामने (विरुद्ध वाल्व) फेंकना या पम्प करना होता है। वृद्धि को प्राप्त मोटे हृत्मांस से टकराकर जो शब्द होगा वह Dull मन्द धक्के जैसा होगा तथा विशेषकर जब हृत्मांसवृद्धि रक्तचापाधिक्य के कारण हो।

धीमी तथा अल्पकालिक प्रथम ध्वनि
(SHORT & WEAK SOUND)

उच्च द्वितीय ध्वनि (Intensified second sound)—

यह ध्वनि प्रायः फैफड़ों में रक्तसंचार की वृद्धि में स्पष्ट सुनी जाती है। परिणामस्वरूप दाहिने अलिन्द के प्रसार की सम्भावना रहती है।

अदृश्य अथवा दुर्बल अस्पष्ट
(ABSENT or WEAK SECOND SOUND)

यह Mitral stenosis, वाल्व की खराबी, जो कि महाधमनी में थोड़ा रक्त पहुँचने के परिणामस्वरूप होता है एवं दाहिने अलिन्द के प्रसारित होने की दशा में जब दाहिना निलय (*R. V.*) हृदय के सम्पूर्ण आगे के क्षेत्र को घेर लेता है और अपने (दाहिने निलय के अत्यधिक प्रसारित या वृद्धि होने के कारण) फैलने प्रसारित होने के कारण बाएं अलिन्द एवं निलय को पीछे धकेल देता है। फलतः दूसरी ध्वनि अस्पष्ट एवं अदृश अथवा सुनी नहीं जा सकती।

ऊपर का वर्णन हमने प्रायः उन अवस्थाओं के संदर्भ में किया है, जहां हृत्वृद्धि प्रायः होती है (Hypertrophy of heart) परन्तु एक ऐसी भी दशा हृदय प्रसार की होती है (जैसा हम पहले कह आये हैं) जिसमें हृदय फैल जाता है परन्तु उसकी मांसपेशियों से निर्मित दीवारें पतली और बलहीन (Toneless) दुर्बल हो जाती हैं, अतः इस विशेष दशा में जो शब्द या ध्वनि सुनी जाएगी वह प्रायः ऐसी होगी जैसे कि कोई घोड़ा सरपट भाग रहा हो इसे Gallop sound कहते हैं। उस ध्वनि की गम्भीरता एवं उच्च स्पष्ट सुनाई देना, हृत्मांस की दुर्बलता एवं अधिक रक्तचाप पर निर्भर करता है, यह प्रायः जीर्ण प्रमेहजन्य हृद्रोग (Nephritis) में होता है।

यह घोड़े की सी चाल ध्वनि (Gallop) तब और भी ज्यादा स्पष्ट होती है जब बायां निलय बलहीन (Atonic) और प्रसारित हो तथा दोनों अलिन्द (Auricles) तथा शिराएं अधिक रक्त भर जाने से प्रसारित हों, यही—

हृच्छून्यभावद्रवशोषभेदस्तम्भाः समोहाः पवनाद्विशेषः ।
—चरक चि० २६–७८

यहां "हृदय द्रव" का अर्थ कुछ टीकाकारों ने धड़कन (Palpitation) या Tachycardia लिया है। जो भी हो यही धड़कन जो ज्यादा बढ़ जाए और हर समय रहे Gallop है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत के बचन यहां ठीक बैठते हैं।

"कुर्यात् सिरागतं शूलं सिरा कुञ्चन पूरणम्"

वायु शिराओं में प्राप्त होकर *Venous pressure* कर देता है "शिरा कुञ्चन, शिरा पूरण" यह टीका आचार्य घाणेकर जी ने की है, और ठीक भी है।



अतः यह धड़कन तभी होती है जब रक्त अपने प्रवाह के तथा कोष्ठ के तीव्र संकुचन के कारण जोर से निलयों (*Ventricles*) में प्रविष्ट होता है, परिणामस्वरूप पतली और दुर्बल हृत्मांस की रचना में आघात पहुंचता है।

विस्फारक पूर्ण धड़कन *Protodiastolic gallop.* हृदय के ऊपरी भाग *Apex* में स्पष्टतया जब सुना जायगा तो यह जानना चाहिये कि वाम निलय का तीव्र एवं शोष या कार्य कुशलता का भयंकर अभाव हो गया है, परन्तु जब यही धड़कन वक्षास्थि (*Sternum*) के बांए ओर नीचे की ओर ज्यादा स्पष्ट सुनाई दे तो निश्चय ही बांए निलय का प्रसार (*Dilatation*) ही है तथा (*Hypertrophy*) वृद्धि नहीं है।

***Murmer* सरसराहट या रगड़ जैसी ध्वनि—**

हृदय के क्षेत्र में कभी-कभी ऐसी ध्वनि भी सुनाई देती है जैसे कि सरसराहट या सनसनाहट फूकने की सी होती है, ये शब्द वाल्व की खराबी विशेषकर दो कोष्ठों के छिद्रों की खराबी (तंग या चौड़ा होने के कारण) हृत्मांस के जोर लगाने, अथवा बड़ी रक्तवाहिनियों के जो हृदय के समीप हैं उनके अन्दर रक्त प्रवाह के शब्द के कारण, कभी-कभी बिना कारण के भी ऐसे शब्द सुनाई दे जाते हैं। परन्तु बहुधा विशेष कारण यह होता है कि जब ज्यादा रक्त एक संकुचित या तंग रास्ते या (छिद्र) से आगे को फैले या प्रसारित कोष्ठक में जाता है खासकर जब जोर लगाकर जाता है, अतः जब तक जोर लगाकर जाएगा या गुजरेगा तो शुद्ध ऊंचा और स्पष्ट होगा। जब धीमे जाने में गुजरेगा तो धीमी सरसराहट होगी।

ये सरसराहट के शब्द *Murmur* या तो प्रकुञ्चनीय *Systolic* या विस्फारकीय *Diastolic* होंगे; यदि ये वाल्व के रोगों में होंगे तो तो सदैव या तो हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि की दशा में होंगे। जिनके कारण हृदय का आकार और दिल के ऊपरी भाग में परिवर्तन ज्ञात किया जाता है। इनमें विशेषता यह है कि इनमें अकुञ्चनीय सरसराहट किसी विशेष हृदय रचना सम्बन्धी विकार या रोग के कारण नहीं होता, परन्तु *Diastolic Murmur* विस्फारकीय सरसराहट हमेशा हृदय के अंग विकार से सम्बन्धित रहता है।

प्रकुञ्चक सरसराहट (*Systolic Murmur*)—

सुविधानुसार इन सरसराहटों को ६ दशाओं में बांटा गया। प्रथम और द्वितीय साधारण सरसराहट होती हैं तथा तीसरी से छठी सरसाहट हमेशा रोगसूचक होती हैं। चूंकि सरसराहट की दशा में रक्त के एक कोष्ठ से दूसरे कोष्ठ में जाने के मार्ग छिद्र छोटे होते हैं अतः रक्त को वापस लौटने की सम्भावना भी कम होती है परन्तु दाहिने निलय के प्रसारित होने एवं उसमें रक्त के थोड़ी देर रुकने के कारण सरसराहट होती है। वाम निलय के प्रसारित होने की दशा में भी जब रक्त ऊपर के वाम आलिन्द से नीचे प्रसारित निलयों में आता है तब भी यह सरसराहट सुनी जा सकती है।

विस्फारक सरसराहट (*Diastolic Murmur*)—

Mitral Stenosis के क्षेत्र की सरसराहट—यह सरसराहट हल्की और खड़खड़ाती सी होती है (*Low-pitch & Rumbling*) और यह हृदय के ऊपरी भाग में अच्छी तरह सुनी जा सकती है, और प्रायः एक ही स्थान पर होती है, खड़े होने की दशा की अपेक्षा जब रोगी बांए करवट पड़ा हो तब और भी अच्छी सुनी जा सकती है।

दाहिने निलय (*R. V.*) के प्रसारित (*Dialatation*) दशा में यह सरासराहट वक्षास्थि के या तो नीचे के बांए ओर अथवा इस अस्थि के और दिल के ऊपरी भाग *Apex* के बीच में सुनी जाएगी।

इस सरसराहट में उच्चता या स्पष्टतया तब ज्यादा सुनी जा सकती है जब रक्त फैले हुए वामालिन्द से ढीले और प्रसारित वाम निलय (*L. V.*) में तीव्रता से प्रवेश करता है। ऐसा जानना चाहिए—

महाधमनी *Aorta* के क्षेत्र में जब प्रसारित हो गई हो तब यह प्रकुञ्चनीय सरसराहट और भी स्पष्ट होजाती है।

त्रिवातव (*Tricuspic*) क्षेत्र में जब दाहिना निलय (*R. V.*) प्रसारित होगा। साथ में फैफड़ों में सूजन होगी, और वाल्व की खराबी से रक्त वापस लौटने की दशा में हो, एवं उरस्तोय (*Plurisy*) एवं यकृत् विकार के साथ शिराओं में रक्तभ्रमण धीमा हो, शिरायें रक्त से परिपूर्ण हों तब यह सरसराहट और भी स्पष्ट हो जाती है।

गले की शिराएं *Jugulal veins* उभरी हुई होती हैं तथा उनमें थोड़ा-थोड़ा स्पन्दन भी होने लगता है, ऐसी दशा में क्षय *Tuberculosis* भी हो सकता है। ऊपर का वर्णन इस क्षेत्र में प्रकुञ्चन सरसराहट (*Systolic Murmur*) के विषय में है।

इसी क्षेत्र में विस्फारक सरसाहट (*Distolic Murmur*) हृत्मांस शोथ में प्रायः होती है।

फौफ्फुसीय क्षेत्र (*Pulmonary area*) **में प्रकुञ्चन सरसराहट—**

दाहिने हृदय के प्रसारित होने पर नहीं होती, ये प्रायः रक्तहीनता, ज्वरावस्था में होता है परन्तु यदि फुफ्फुस में रक्त ज्यादा भरने लगे, या सूजन ज्यादा हो जाय तब दाहिनी ओर के दिल का प्रसार होने की दशा में यहां पर भी सरसराहट सुनाई देगी।

Electrocardiogram—चूंकि साधारण चिकित्सकों को प्रायः *E. C. G.* के चित्र में अंकित तरंगों *Waves* के चित्रों को समझने का या तो ज्ञान अल्प होता है अथवा नहीं होता है, अतः इन हृत्प्रसार या वृद्धि से सम्बन्धित चित्रों को यहां देना तर्क संगत नहीं है क्योंकि अनेकों कारणों से हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि के एक ही अलिन्द या निलय के अनेकों नमूने होते हैं, एक-एक सैट के १२ चित्र होते हैं, और चारों कोष्ठों के चित्र कम से कम ४८ होंगे, फिर उनके अलग-अलग प्रकार के हिसाब से अगर चित्र प्रस्तुत किये जाएं तो सौ से भी अधिक चित्र हो जाएंगे, अतः उन चित्रों को न देकर हम इस प्रसंग को नहीं लेते हैं, पाठक इन के लिये दो विशेष पुस्तकों को देखें और उन्हें समझने का प्रयास करें।

1—A primer of Electrocardiography.
—George Burch, And Travis winsor.

2—An Approach to Electrocardiography.
—Natoo Bhai J. Shah.

दोनों उपरोक्त पुस्तकें एलेक्ट्रोकार्डओग्राफी को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी और सरल हैं।

चिकित्सा—

हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि की चिकित्सा के कुछ विशेष सिद्धान्त होते हैं, तथा दिल के रोगों की विशेष अवस्थाओं के अनुसार भी चिकित्सा के अलग-अलग सिद्धान्त होते हैं। अतः जब हृत्वृद्धि हो और हृत्प्रसार न हो, तो वृद्धि के कारणों का सर्व प्रथम पता लगाना चाहिये, इसमें मुख्यतया रक्तभार या रक्तदाब की उपस्थिति एवं फैफड़ों के शोथयुक्त रोग जैसे (*Emphysema*), श्वास, निमोनियां, इत्यादि होंगे या फिर वृक्करोग जिसमें पेशाब कम आने के कारण रक्त में जलीयांश अधिक होता है, तब भी हृदय पर पड़ने वाले कार्य भार के कारण हृदय प्रसारित होगा या वृद्धि को प्राप्त होगा। अगर रक्तदाबाधिक्य हो तो उसके कारणों का पता लगाना चाहिये, यह नहीं कि हाई-ब्लडप्रेशर की दवा का प्रयोग यूं ही आरम्भ कर देने से लाभ की आशा कर लेना। अतः अगर रक्तदाब का कारण रोगी के आहार विहार (तम्बाकू, सिगरेट, अधिक नमक सेवन करना, चिन्ता भय शोक इत्यादि हो) तो चिकित्सा करने के साथ-साथ इन्हें भी दूर करने का प्रयास करना चाहिये।

रोगी को विश्राम के समय पूर्ण विश्राम (शारीरिक एवं मानसिक) दोनों प्रकार का विश्राम देने की कोशिश होनी चाहिये। फिर यह भी सिद्धान्त है कि स्थूलता एवं आलस्य, सदैव बैठे रहने की आदत से भी रक्त का परिभ्रमण उचित नहीं होता ऐसे में किसी प्रकार आसनों (योग आसनों) को धीरे-धीरे करना आरम्भ करके इतना बढ़ाना चाहिये ताकि रोगी को कष्ट न हो, शरीर की सभी मांस पेशियों को एक बार गतिशीलता एवं उत्तेजना प्रदान करने से धीरे-धीरे लाभ होता है। सबसे अच्छा व्यायाम टहलना, पंजों के बल कुछ दूर चलना। या साईकिल पर बैठकर, (खड़ी साईकिल पर) इसके पैडिलों को धीरे-धीरे सीधा, कभी उल्टा चलाना, ताकि पिंडलियों की मांस पेशी गतिशील होकर रक्त को ऊपर भेजें, कुछ दिनो के बाद साईकिल से धीमी रफ्तार से फर्लांग दो फर्लांग या मील दो मील चलना। इन व्यायामों में जल्दी नहीं करनी चाहिये।

प्राणायाम, लम्बा सांस लेना, यह भी धीरे-धीरे, ताकि बिना जोर पड़े रक्त में आक्सीजन की मात्रा बढ़े। बाएं ओर के हृदय के भागों के प्रसार में दाहिने करवट लेटने का अभ्यास करना चाहिये ताकि वे कोष्ठ स्वयं,



बिना अधिक परिश्रम के स्वयं ही खाली होने का प्रयास करें।

रक्त की परीक्षा कराकर (*V. D. R. L.*), या (*Vassermon Reaction*) जांच कराकर अगर उपदेशीय अंश (*Sybliletic*) रक्त में हों तो पेनिसिलीन का प्रयोग तब तक करें जब तक रक्त (*Negative*) नकारात्मक न हो जाएं। आयुर्वेदीय योगों में गुग्गुल (शुद्ध गुग्गुल) का प्रयोग रक्तगत (*Cholesterol*) को दूर करने में आश्चर्यजनक लाभ करता है; महायोगराज गुग्गुल में चूंकि धातुओं की भस्में होती हैं, अतः उसे सहसा एकदम प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसके लिए—

गुग्गुल को प्रथम गरम पानी में डालकर रातभर भीगने दें। प्रातः पुनः गरम करके किसी बारीक वस्त्र से छान लें और (*Water Bath*), या भाप पर पात्र को रखकर गुग्गुल का जलीयांश उड़ने दें जब गाढ़ा हो जाए तो उसमें लाल कनेर की जड़ का क्वाथ प्रति औंस गुग्गुल में ५०० *ml.* (आधा किलो) क्वाथ डालकर पुनः पकाएं जब गाढ़ा हो जाए तो शोभाञ्जन क्वाथ आधा किलो डालकर पकाएं गाढ़ा होने पर उतार लें और इसे (*Water Bath*), भाप पर और गाढ़ा कर सकें तो गोली बनाने लायक बना लें। और ४-४ रत्ती की गोली बनालें दिन में तीन बार दें। अनुपान हरिद्रा क्वाथ। इसके सेवन से यदि (*Allergic*) या (*Eosinophelia*) शोथ, (*Nephritis*) प्रमेह या वृक्क रोगजन्य हृत्शोथ होगा तो कुछ दिनों के प्रयोग से आशातीत लाभ होने लगेगा।

चूंकि इस रोग में प्रायः रक्तदाब अधिक रहता है अतः आयुर्वेदिक मतानुसार वातव्याधि की चिकित्सानुसार चिकित्सा ज्यादा अच्छी बैठती है, परन्तु जहां तक हो घृत का उपयोग, कम या बिलकुल नहीं करना चाहिये, कारण कि (Cholesterol) की मात्रा रक्त में बढ़ने पर रोग ठीक होने में शंका रहेगी।

रक्त पीडाधिकं कुर्यात्क्रिया वातविर्वद्धिनी।
रौक्ष्यक्षोमहरी चैव स्रोतोरोध विनाशिनी॥

चरकोक्त वाजत हृद्रोग की चिकित्सा, अथवा हृद्रोग में जिस किसी भी दोष का बाहुल्य हो उसी के अनुसार बलाबल देखकर चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये। यद्यपि इसमें घृत तेल इत्यादि, का पीना बताया गया है, फिर भी आजकल के युग में रक्तदाब युक्त रोगी को जिसमें स्थूलता मुटापा, मेद वृद्धि हो, उनमें (Cholesterol) का ध्यान रखते हुए स्नेहन क्रिया को बड़ी सावधानी से करना चाहिये। हां जब हृत्वृद्धि न हो और शोषयुक्त मांस क्षीण होने के अथवा रक्तादि की कमी के कारण रोग हो तब बृंहण चिकित्सा लाभ करती है, यह (Dialatation) में लाभ करेगा, रोगी केवल Tone, मांस इत्यादि की वृद्धि से हृत्मांस वृद्धि भी होगी।

हमने देखा है कि कभी-कभी हृद्रोगी को जो भी हृदय सम्बन्धी तीव्र लक्षण कभी-कभी अचानक हो जाते हैं, X-ray में दिल का वाम भाग बढ़ा हुआ होता है, साथ में छींकें, नाक से अत्यधिक पानी आता है, दिल पर भारीपन, और साथ में यकृत् स्थान पर भी पीड़ा या बोझ होता है, भूख कम हो जाती है, आलस्य, श्वास में कठिनता एवं कास होती है, तब हम नहीं समझते हैं कि या तो रोगी के रक्त में (Eosinophelia) की मात्रा बढ़ गई है, या अलर्जी है, अथवा उसके यकृत् में शोथ होकर समीपस्थ अंगों पर भी शोथ का प्रभाव पड़ने लगा है. आंतों में विषमता (Septic Intestines) है. जब (Eosinophelia) के लिए (Unicarbazan forte), साथ में (Metronidazole). एवं आंतों के लिए (Comycin) की गोलियां या महागन्धक रस, हरिद्रा क्वाथ से देते हैं, दो तीन दिनों में यकृत्, फेंफड़े, हृदय में हलकापन आ जाता है आंतें शुद्ध होकर भूख लगने लगती है, पेशाब भी साफ खुलकर आने लगता है। तात्पर्य यह है कि हृद्रोग के लक्षण अन्य रोगों के उपद्रव स्वरूप पैदा हो जाते हैं, तब अन्य रोगों को ठीक कर देने से पुनः हृदय की स्थिति सामान्य हो जाती है। अगर ऐसी दशा में हृदय की चिकित्सा ही केवल की जाए तो लाभ नहीं होता। कारण का पता लगाना परमावश्यक होता है

हृद्रोग चिकित्सा अन्तर्गत चरकोक्त त्र्यूषणादि घृत का प्रयोग कोई-कोई वैद्य सफलता के साथ करते हैं, हमने नहीं किया। हृदय के रोगों में, विशेषकर हृत्वृद्धि में रोग धीरे-धीरे बढ़ता रहता है, अर्थात् वृद्धि धीरे-धीरे बढ़ती ही रहती है, अतः चिकित्सा क्रम बहुत दिनों तक चालू रखना आवश्यक है।

हमने पीछे इन हृदय के कोष्ठों अर्थात् अलिन्द और निलयों के प्रसारित एवं वृद्धि होने के कारणों को दिया है, दोनों अलिम्द एवं दोनों निलयों के प्रसार एवं वृद्धि के जो–जो कारण दे आए हैं, उन–उन कारणों की ओर विशेष ध्यान देकर, उन्हें ध्यान में रखकर चिकित्सा की जानी चाहिए।

उदाहरणार्थ जैसे दाहिने निलय (*R. V.*) के कारणों में हमने दिया है, हृत्शोथ जन्य हार्टफेल होना, तीव्र हृत्मांस शोथ, तीव्र रक्ताल्पता, फुफ्फुसीय रोगों की तीव्रता जन्य हृद्रोग, फुफ्फुसीय रक्तक्षयाधिक्य या फैफड़ों में अधिक रक्त का भर जाना, जीर्ण फुफ्फुसीय रक्तचापाधिक्य, फुफ्फुसीय तन्त्वीकरणावस्था (Pulmonery fibrosis) एवं Thyrotoxicosis अवटुविषक्तता इत्यादि।

अतः इन उपरोक्त रोगों को जो दाहिने निलय के प्रसार या वृद्धि के कारण हो सकते हैं, बिना ठीक किए इस निलय की चिकित्सा अपूर्ण होगी। इसी प्रकार अन्य कोष्ठों के कारणों को भी लेना चाहिए।

वृद्धि या प्रसार जो कुछ भी हो इनमें साधारण नियम यही होता है कि रोगी को कम से कम नमक खाने को दिया जाए। मूत्रल दवाओं से जैसे Fursemide,(Lasix), Esidrex, Merselyl, Neptal, पुनर्नवा, वरुण–शोभाञ्जन क्वाथ, पुनर्नवाष्टक क्वाथ इत्यादि से प्रचुर मात्रा में पेशाब करा देने से शोथ या वृद्धि कुछ कम हो जाती है, फिर थोड़ी-थोड़ी मात्रा इतनी देते रहना चाहिए जिससे पुनः वृद्धि न हो सके। Dexamethasone, Prednisolone, Millicorten, Efcorlin, Betnesol, Decadron इत्यादि इसी श्रेणी की औषधियां रोगी की दशा और रोग की स्थिति देखकर १५-२० मिलीग्राम देकर इसी क्रम से कम करते हुए उस निश्चित मात्रा पर ले आना चाहिए जितने से रोगी का रोग रुका रहे, मूलकारण को दूर करने का उपाय भी करते रहना चाहिये।

हमारे अनुभव में पुनर्नवाष्टक क्वाथ के साथ प्रातः सायं एवं रात्रि को एक-एक गोली Millicorten, दो-दो गोली एवं उठते ही प्रातः ½ से १ गोली Esidrex तथा दो गोली साधारण योगराज गुग्गुल की देते रहने से पर्याप्त लाभ होता है। महायोगराज गुग्गुल नहीं देना चाहिए।

अगर Eosinophelia एवं Allergy भी हो तो हरिद्रा क्वाथ के साथ Unicarbazan forte की एक गोली रात को सोते समय तथा प्रातः हरिद्रा क्षीरपाक (हरिद्रा चूर्ण ३ माशा, दूध १ पाव, गुड़ १ तोला उबाल आ जाने के बाद) गरम-गरम पीना चाहिए।

मुक्ताशुक्तिभस्म या मुक्ताभस्म देते समय Disitalis नहीं देना चाहिए। ये Calcium के योग हैं, फिर प्रसार या वृद्धि में Disitalis (हृत्पत्री) विशेष लाभ भी नहीं करता।

रोगी को चाय, कॉफी, शराब, तम्बाकू, अधिक परिश्रम, ज्यादा पेट भर खाने, मोटापा बढ़ाने वाले आहार, घी Cholesterol वाले तेल नहीं लेने चाहिए तथा ऐसे वातावरण से बचने का प्रयास करना चाहिए जिससे मानसिक विकार पैदा हों (शोक, क्रोध, चिन्ता, द्वेष इत्यादि)

चरक ने इन्हीं कारणों को बहुत सुन्दर ढंग से हृद्रोगों की चिकित्सा में दिया है—

व्यायाम तीक्ष्णाति विरेकवस्ति
चिन्ताभयत्रासमदातिचाराः।
छर्द्यामसन्धारणकर्षणानि-
हृद्रोगकर्तृ पि तथाभिघातः॥

(अति) व्यायाम, तीक्ष्णविरेचन, तीक्ष्णवस्ति, वमन मल के वेग को रोकना, उपवास आदि, कर्षण, अभिघात, चिन्ता, भय, त्रास जैसे रोगों का अनुचित उपचार हृद्रोग पैदा करते हैं, अतः इन कारणों से भी बचना चाहिए।

संक्षेप में चिकित्सा के सारांश को पाठकों को यही समझ लेना चाहिए कि हृत्प्रसार या हृत्वृद्धि कोई स्वतन्त्र रोग अपने में नहीं है, बल्कि पीछे बताए गए अनेक कारणों एवं रोगों के उपद्रव स्वरूप है जो हृदय के अन्य विकारों के अतिरिक्त वृद्धि या प्रसार रूप में विकार पैदा कर देते हैं, अतः जब तक उन-उन कारणों या रोगों की चिकित्सा की ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक हृदय के प्रसारित हो जाने या वृद्धि हो जाने के उपद्रव की चिकित्सा नहीं की जा सकती।

चूंकि फैफड़ों के रोग जिनमें फैफड़ों के अन्दर सूजन पैदा हो जाती है और हृदय से आये अशुद्ध रक्त को पूर्णतया फैफड़ों में आ जाने के लिए स्थान नहीं होता, फलतः



दाहिना निलय प्रसारित होने के साथ-साथ दाहिने अलिन्द को भी प्रभावित करता है, ऐसे समय में यदि चिकित्सक अपने विवेक और ज्ञान से काम लेकर फैफड़ों की शोथ, उसके रोग को दूर करने में सफल हो गया तो निश्चय ही उससे सम्बन्धित निलय और अलिन्द की शोथ प्रसार वृद्धि पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा, और ये विकार दूर हो सकते हैं। कभी-कभी जब कारण और विकार जन्मजात हों, वाल्व की खराबी हो तब शल्य चिकित्सा से ही लाभ हो सकता है। औषधियां उपद्रवजन्य कष्टों को कुछ काल तक दूर करती रहेंगी। परन्तु जो स्थायी रचना सम्बन्धी विकार हृदय में आ जाता है उसे दूर नहीं कर सकतीं।

वैसे हृद्रोग विशेषज्ञों का मत यह है कि हृदय के प्रायः सभी रोगों में हृदय के उन विकारों को जो प्राण लेवा का रूप धारण कर लेते हैं, जान बचाने के लिए पहले उपद्रव शामक उपाय तुरन्त करके, तब या साथ-साथ उन कारणों की भी चिकित्सा करते रहना चाहिए जिनके कारण हृदय के ये उपद्रव पैदा हुए हैं हृदय के मांस क्षीण होने पर अल्प मात्रा Insulin की लगभग १० यूनिट देकर ग्लूकोज या तो मुख द्वारा या शिरा द्वारा कभी-कभी देना, दिल के मांस को बल और सहारा देगा, प्रायः सभी इस राय के हैं कि अगर रोगी को पेनिसिलीन माफिक सात्म्य हो तो अवश्य ही पेनिसिलीन का कोई योग कुछ दिनों तक देते रहने से अनेकों कारणों की चिकित्सा हो जाती है।

सबसे अन्त में एक सलाह चिकित्सक के लिए परमावश्यक यह है कि, चूंकि हृद्रोगी का जीवन सदैव संकट और मृत्यु के निकट रहता है, कभी भी उसका हृदय फेल हो सकता है और दशा भी गम्भीर हो सकती है, अतः जहां भी चिकित्सक को रोगी के हृदय सम्बन्धी गड़बड़ी की शंका हो, रोगी को तुरन्त बिना लोभ किये किसी हृद्रोग विशेषज्ञ के पास ले जाकर उसकी जांच और उचित सलाह लेकर उसी के आधार पर कुछ दिन चलने का आदेश देना चाहिए, इससे रोगी को उचित मार्ग दर्शन तो होता ही है साथ में चिकित्सक अपयश से बचकर रोगी का विश्वास प्राप्त भी कर लेता है। हृद्रोगी के लिए चिकित्सा एवं रोग की जांच में विलम्ब कभी-कभी घातक सिद्ध हो जाता है, जब देशी आयुर्वेदिक चिकित्सा से लाभ न दिखाई दे तब आधुनिक उपकरणों द्वारा आधुनिक विधि का सहारा लेने का आदेश देने में संकोच या अपमानित होने की भावना नहीं होनी चाहिए।

हृदय रोगों में प्रशस्त कस्तूरीभूषण मिश्रण

कविराज श्री सतीन्द्रनाथ वसु

घटक—मकरध्वज (षड्गुणवलिजारित) $\frac{1}{2}$ रत्ती, कस्तूरी $\frac{1}{4}$ रत्ती, देशी कर्पूर २ रत्ती, *Strychnine Sulphate* या *Hydrochlore* $\frac{1}{60}$ ग्रेन, *Caffine citras* १ से १॥ रत्ती मिलाकर एक खुराक बनानी चाहिए।

प्रयोग—किसी भी प्रकार के हृद्दौर्बल्य में आशुफलप्रद महौषधि है। हृद्दौर्बल्य-जनित शोथ (*Cardiac Dropsy*) में गोक्षुरयुक्त तृणपंचमूल क्वाथ अथवा गोक्षुरयुक्त पुनर्नवाष्टक क्वाथ के साथ हृद्यावसाद (*Cardiac Failure*) में अर्जुनत्वक के क्वाथ अथवा क्षीरपाक के साथ और कैशिकीय रक्ताभिसरणावसाद (*Periphral Circulory Failure*) में शहद के साथ बार-बार प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है। —संकलित।

हृद् अलिन्द विकम्पन

लेखक—डा० आर. सी. गर्ग. ए. एम. एस. (बी. एच. यू.) एम. ए.असिस्टेंट डाइरेक्टर (मैडिकल) सेन्ट्रल हिन्दी डाइरेक्टोरेट सी. ६/१७ आर. पी. बाग, दिल्ली-७

कुछ माह पूर्व मेरे एक निकट सम्बन्धी को दिल्ली के अस्पताल में हृद्‌रोग से पीड़ित रोग समझ कर प्रवेश कराया गया। पूर्ण परीक्षाओं के उपरान्त निदान था—हृद्‌अलिन्द विकम्पन। चूंकि रोगी से मेरा अधिक निकट का सम्बन्ध था, इस कारण मुझे उसके पास प्रतिदिन जाना पड़ता था। मैं भी चिकित्सक होने के नाते इस रोग के बारे में दिन-प्रतिदिन रुचि लेता रहा औ: स्वयं अनेक क्रियात्मक पहलुओं पर सोचता रहा। वैसे हृदय के रोगों में अलिन्द विकम्पन (Auricular fibrillation) जैसे रोग को पहचानना क्रियात्मक दृष्टि से अत्यावश्यक है, कारण इस रोग का निदान, साध्यासाध्यता तथा चिकित्सा रोग के पहचानने पर ही निर्भर करती है। यह एक विशिष्ट नैदानिक अवस्था है जिसको निश्चय पूर्वक पहचाना जा सकता है। इस रोग की विशिष्टताओं में (१) अलिन्द के आकुंचन (Contractions) के चिह्नों का पूर्णतः अभाव तथा (२) नाड़ी (Pulse) का अनियमित रूप से चलना सम्मिलित है। ५० प्रतिशत रोगियों में हृदय का स्थिर रूप से अनियमित चलना पाया जाता है। ६० से ७० प्रतिशत ऐसे रोगी भी देखने को मिलते हैं जिनको शोफ (oedema) सहित हृद्‌पात (Cardiac failure) होता है। मेरे सम्बन्धी की दूसरी अवस्था थी, अर्थात् उनका शोफ मुंह तथा पैरों पर था और अंगुली से दबाने पर शोफ स्थान पर गड्ढा (Pit on pressure) पड़ जाता था। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त दोनों विशिष्टताएं भी पाई जाती थीं।

पहले मैं यहां इस रोग के बारे में बिस्तार से बताना ठीक समझता हूं। अलिन्द विकम्पन से तात्पर्य उस अवस्था से है जिसमें हृदय के नियमित आकुंचन (Regular contractions) अनियमित आकुंचन (Irregular contractions) में परिवर्तित हो जाते हैं। हृदय के एक अथवा सम्पूर्ण तन्तु (One or whole fibres) नियमित रूप से आकुंचन न करके इतनी तेजी से आकुंचन करते हैं कि सम्पूर्ण कोष्ठ (Chamber) का प्रकुंचन (Systole) कभी हो ही नहीं पाता। एक बार यदि व्यक्ति में अलिन्द विकम्पन की अवस्था उत्पन्न हो गई तो अधिकतर रोगियों में यह अवस्था स्थायी रूप धारण कर लेती है। परन्तु यह विकम्पन प्रवेगी (Paroxysmal) भी हो सकता है। बार-बार ऐसी अवस्था हो जाने की एक आदत सी हो जाती है और दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है। अन्त में यह अवस्था स्थिरता को प्राप्त हो जाती है।

अलिन्द विकम्पन के कारण हृदय के कार्य में तीन प्रकार का प्रभाव पड़ता है—

(१) अलिन्द के प्रकुंचन के समय रक्त का अलिन्द-निलय द्वार (Atrio-ventricular opening) में से होकर बल (Force) के साथ जाने वाला प्रकुंचन प्रभाव समाप्त हो जाता है, परिणाम स्वरूप निलय *(Ventricle)* पूर्ण रूप से रक्त से भर नहीं पाता।

(२) निलय को अलिन्द से नियमित रूप से आने



वाले आवेग *(Impulses)* अनियमित रूप से आते हैं।

(३) अधिकतर रोगियों में निलय प्रकुंचन दर बढ़ जाती है।

उपर्युक्त तीनों कारणों के परिणामस्वरूप महाधमनी कपाटिक *(Aortic valve)* पूरी तरह से खुल नहीं पाती तथा नाड़ी की गति धीमी पड़ जाती है।

अलिन्द विकम्पन के कारणों *(Causes)* को दो समूहों में बांटा जा सकता है---(१) आमवात *(Rheumatism)* का इतिहास तथा (२) रोगी चिरकारी हृद्-पेशी रोग, हृद्धमनी रोग या अतिरक्तदाब से पीड़ित हों।

endocarditis) तथा डिफ्थीरिया एवं हृद्धमनी अन्तरोध *(Coronary occlusion)* आदि में भी देखने को मिलता है।

यह रोग इस बात का द्योतक है कि हृदय की पेशी में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं और आमतौर पर तन्तुमयता *(Fibrosis)* उत्पन्न हो गई है। विद्वानों का मत है कि हृदय के कोष्ठों *(Chambers of the heart)* में एक पेशी वलय के साथ-साथ उत्तेजना की एक लहर परिसंचरण *(Circulate)* करती है जो अलिन्द विकम्पन की अवस्था को उत्पन्न करती है। कुछ निश्चित वाता-

हृद् अलिन्द विकम्पन (ऑरिक्युलर फिब्रिलेशन) पर यह सुलेख केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के सहायक निदेशक भिषक् रमेशचन्द्र गर्ग की अमूल्य कृति है। आपने इस लेख में जो पूर्णतः आंग्ल शब्दों से परिपूर्ण है उन्हीं हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया गया है जो शिक्षा मन्त्रालय के वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग ने जिसकी आयुर्विज्ञान शाखा के आप सहायक निदेशक हैं। आपने अपना सारा जीवन बड़ी प्रतिभापूर्वक राष्ट्रभाषा हिन्दी के रिक्त कोषागारों की पूर्ति हेतु नम्रतापूर्वक समर्पित कर रखा है। मालवीय मन्दिर की विभूतियों का यह सद्गुण रहा है कि वे जिस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति में जुट जाते हैं उसमें तन्मय और तल्लीन होकर अपना सर्वस्व उस पर निछावर कर देते हैं। लेख उपयोगी होने से सर्वथा ग्राह्य है। काश, आर. सी., ए. एम. एस. आदि अक्षरों के स्थान पर कोई नई हिन्दी परम्परा हेतु आयोग कदम उठावे। गर्गजी इसमें अग्रणी बनें इस आशा से। --म० मो० ला० चरौरे।

पहले समूह के अन्तर्गत यह अवस्था मध्यम आयु तथा स्त्रियों में देखी जाती है। इस समूह के रोगियों में बहुधा चिरकारी कपाटिका रोग *(Chronic valvular disease)*, अधिकतर द्विकपर्दी कपाटिका *(Mitral valve)* के रोग महाधमनी कपाटिका की अपेक्षा अधिक होते हैं।

दूसरे समूह में अधिक आयु के व्यक्ति आते हैं। पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा यह समूह अधिक सामान्य है। अक्सर अवटु-विषज *(Thyrotoxic)* अवस्थाएं तथा सिफिलिस इस समूह के रोगों में मुख्यतया सामान्य है। अलिन्द विकम्पन रोग कभी-कभी तीव्र संक्रामक रोगों, जैसे---न्यूमोनियां, संक्रमी अन्तर्हृद्शोथ *(Infective*

वरण में ही इस प्रकार की उत्तेजना की लहर परिसंचरण कर सकती है। इस लहर का पेशी आकुंचन पर प्रभाव पड़ता है। अनुसरण प्रावस्था, जो आकुंचन के तुरन्त बाद होती है और लहर के ओन के बीच का समय उचित रूपेण नियमित रहना चाहिए। इस बीच के समय की लम्बाई निम्न तीन बातों से प्रभावित होती है---

(१) चक्री पथ *(Circular path)* की लम्बाई।

(२) दर जिस पर लहर परिसंचरित है, तथा

(३) पेशी का अनुसरणकाल *Refrectary period)*

पुरोहृद भाग में रोगी कुछ काम करने के बाद अक्सर स्फुरण की संवेदना *(Sensation of fluttering)* या हृदय का अनियमित कार्य या दोनों ही को महसूस करता

है। अधिकतर रोगियों में हृदयपात के लक्षण उपस्थित होते हैं। ऐसे रोगियों में विरले ही प्रयेगी कष्टश्वास या तीव्र फुफ्फुस शोफ की शिकायत हुई होती है। कभी-कभी अलिन्द विकम्पन के रोगी को हृद्शूल *Angins pectoris*) के विशिष्ट दौरे भी पड़ जाते हैं। अन्तः-शल्यता (*Embolism*) भी कभी-कभी देखने को मिलती है। रोग के लक्षण धीरे-धीरे दृष्टिगोचर होते हैं, लेकिन तेजी के साथ भी लक्षण देखने को मिलते हैं जिससे रोगी कुछ ही सप्ताह अथवा दिनों अथवा घंटों में बहुत अधिक बीमार हो जाता है। यह सब निलय की दर (*Ventricular rate*), कारण, कोई विकृति को उत्पन्न करने वाली अवस्था तथा हृद्पेशी के स्वयं के बल पर निर्भर करता है। निलय दर में भिन्नता देखने को अधिक मिलती है। यह दर पूर्ण अलिन्द निलय हृद् रोध में १४० या १८० से ४० या ३० प्रति मिनट भी होती है। अधिकतर रोगियों में निलय दर बढ़ी होती है, अर्थात् ९० और १४० के बीच और औसतन ११० और १२० के बीच होती है।

कलाई पर नाड़ी स्पंद (*Pulse beat*) द्वारा निलय स्पंद (*Ventricular beat*) को ठीक प्रकार से नहीं गिना जा सकता, कारण बहुत सी निलय स्पंद कलाई तक नहीं पहुंच पातीं, विशेष रूप से उस समय जब निलय का स्पन्दन जल्दी-जल्दी हो रहा हो। इसीलिये निलय स्पन्द को वक्ष पर स्टेथिस्कोप द्वारा, हृदय अग्र (*Apex of the heart*) पर रखकर गिनना चाहिये। निलय के अतिरिक्त प्रकुंचन (*Extra-systoles*) मिल सकते हैं। ग्रीवा शिरायें इतनी अधिक विस्फारित हो जाती हैं कि उनका स्पन्दन दिखाई नहीं दे सकता।

अलिन्द विकम्पन का निदान तो निश्चय रूप या विद्युतहृद्लेखी (*Electocardiograph*) द्वारा ही हो सकता है, परन्तु नाड़ी की पूर्ण अनियमितता (*Irregularity of the pulse*) को पहचान कर रोग का आभास अवश्य कर लिया जा सकता है।

रोगी का सुधार निलय दर, रोग का कारण, अन्य विकृतियों की प्रकृति, हृद्पेशी का बल तथा औषधियों का हृदय पर प्रभाव ठीक पड़ रहा है या नहीं, इस पर आधारित है। यह हृद्-क्षिप्रता (*Tachy cardia*) का अभाव है या नहीं, इस पर आधारित है। यदि यह कुछ ही अधिक है या बहुत अधिक है, परन्तु औषधि द्वारा नियंत्रित है तथा हृद्पेशी का बल अपेक्षाकृत ठीक है, तो रोगी वर्षों तक जीवित रह सकता है। अधिकतर रोगियों में यह बातें देखने को नहीं मिलतीं। यदि निलय दर १२० या इससे ऊपर पर स्थायी हो गई है तो रोग कष्ट-साध्य ही समझना चाहिये। कभी-कभी रोग के साथ-साथ हृद् पात (*Cardiac failure*) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, तब मृत्यु की सम्भावना कुछ सप्ताह या कुछ ही समय में हो जाने की बनी रहती है।

अलिन्द विकम्पन के रोगी की कारणानुसार चिकित्सा की जाती है। यदि रोग के साथ अन्य उपद्रव भी हैं तो उपद्रवों को शान्त करने के लिये चिकित्सा करते हैं। आयुर्वेद में हृदय को बल प्रदान करने के कई योग हैं, विशेषतः मकरध्वज का प्रयोग, परन्तु आजकल ऐसे रोगी को डिजिटेलिस वर्ग की औषधियों या क्विनिडीन का प्रयोग लाभप्रद सिद्ध हुआ है। उपर्युक्त दोनों ही बातों का ध्येय एक जैसा ही है अर्थात् हृदय की उस पर्याप्तता (*Sufficiency*) को प्राप्त करना जो अपसामान्य ताल (*Abnormal rhythm*) से पहले थी। तात्पर्य यह है कि निलय दर को सामान्य अवस्था के समान स्थिर रखना है। वास्तव में डिजिटेलिस वर्ग की औषधियों का कार्य निलय दर को कम करना और बाद में इस दर को सामान्य सीमा तक बनाये रखना है। स्वयं अलिन्द विकम्पन पर इस औषधि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्विनिडीन औषधि का प्राथमिक ध्येय बढ़ी हुई अवस्था को नियंत्रण में लाना है, अर्थात् सामान्य हृद् ताल (*Normal cardiac rhythm*) को स्थिर करना है। अधिकतर आजकल डिजिटेलिस वर्ग की औषधियों का ही प्रयोग करते हैं। कुछ विशिष्ट रोगियों में क्विनिडीन का प्रयोग करते हैं। रोग की अनिश्चितता को देखकर रोगी के मित्रों एवं सम्बन्धियों को सचेत कर देना श्रेयस्कर है। क्विनिडीन औषधि यदि किसी प्रकार काम नहीं करती है तो डिजिटेलिस वर्ग की औषधियों को रोगी को दिया जा सकता है।

—शेषांश पृष्ठ २९१ पर

विविध हृदयरोग और उनका सफल उपचार

आयुर्वेद वारिध श्री चाँदप्रकाश मेहरा B.Sc.
५५७ मन्टोला स्ट्रीट, नई दिल्ली-५५

हृदय रोगी प्रत्येक चिकित्सक के लिए प्रायः एक जटिल समस्या ही होता है, जिसके सफल निकाकरण के लिए स्वयं चिकित्सक में पर्याप्त साहस और दृढ़ मनोबल का होना नितान्त आवश्यक है, जो चिकित्सक हृदय रोगी को पसीने से लतपथ देख स्वयं पसीने-पसीने हो जाय वह उसका उपचार क्या करेगा। कहने का आशय यही है कि रोगी की चिन्ताजनक स्थिति होने पर भी चिकित्सक को घबराना नहीं चाहिए बल्कि उसे चाहिए कि वह रोगी तथा उसके रिश्तेदारों को धैर्य बंधाये तथा अपने दृढ़ बचनों द्वारा उसके शीघ्र स्वस्थ हो जाने की आशा बंधाये।

सम्प्राप्ति (*Pathogenisis*)—

किसी भी रोग में दोष-दूष्य संमूर्छना जनित सेवन से लेकर रोग उत्पत्ति तक का जो व्यापार होता है उसे सम्प्राप्ति कहते हैं। हृदय में गये हुए विगुण दोष रस को दूषित कर हृदय में पीड़ा, वेदना या शूल आदि विकार उत्पन्न करते हैं उसको हृदय रोग कहते हैं।

सामान्य लक्षण (*Symptoms*)—

शरीर की विवर्णता, मूर्छा, हृत्कम्प, ज्वर, कास, हिक्का, श्वास, आस्य, वैरस्य, प्यास, मोह, वमन, कफ का प्रकोप, उत्क्लैश, अरुचि इत्यादि लक्षण हृदय रोग में प्रायः देखने में आते हैं।

हृदय रोग के विभिन्न हेतु (Etiology)

[१] अत्यन्त गर्म, भारी, खट्टे, कषैले और तीक्ष्ण पदार्थों का अत्यन्त सेवन करने से।

[२] अत्यन्त मेहनत करने से, अपनी सामर्थ्य से ज्यादा मानसिक, शारीरिक व बौद्धिक कार्य करने से, अपनी शक्ति से अधिक बोझा ढोने से, उठाने से या अपनी ताकत से अधिक कार्य करके आते ही या दौड़ कर आते ही, बहुत परिश्रम के तुरन्त बाद ठण्डा पानी या गर्म चाय के पीने से, वात के अत्यधिक कुपित हो जाने से अनेक व्यक्ति हृदय रोग की चपेट में आ जाते हैं।

[३] छाती में किसी भी तरह की चोट लगने से उदाहरणार्थ कभी-कभी तांगे, रेढ़े से टक्कर हो जाती है तो उसका बम छाती पर जबरस्त चोट कर जाता है जिससे शोथ हो जाता है।

[४] भोजन पर भोजन करने से।

[५] अति स्त्री प्रसङ्ग या हस्तमैथुन या प्रकृति विरुद्ध मैथुन करने से या कराने से। अत्यधिक मैथुन से निर्बलता आकर धड़कन, खफखान रोग पैदा हो जाता है।

[६] कोई स्तम्भक व बाजीकरण औषधि का सेवन कर दीर्घकाल तक (घण्टे दो घण्टे) मैथुन करने से या किसी विशेष क्रिया के द्वारा ऐसा करने से या संभोग में सामर्थ्य से अधिक जोर अजमाई करने से या अत्यन्त उत्तेजक आसनों में संभोग करने से, अति हर्ष मिलने पर अत्यन्त वेगयुक्त रफ्तार से बिना रुके जोर-जोर से परिरम्भण करने से हृदय फैल जाता है अथवा हृदय अवरोध होकर मृत्यु हो जाती है।

[७] बहुत चिंता करने से।

[८] मल-मूत्रादि वेगों को रोकने से।

[९] तीक्ष्ण विरेचन होने से।

[१०] तीक्ष्ण वस्ति कर्म करने से।

[११] वमन की अधिकता से।

[१२] विशेष उपवासादि के करने से।

[१३] अकार्यक डर जाने से।



भक्ति भागीरथी में पूर्ण निमग्न, मां शक्ति के परमोपासक विद्याविनय वैभव की प्रतिमूर्ति, कल्याणकांक्षी श्री चांदप्रकाश मेहरा जिस विषय को लेते हैं उस पर कलमतोड़ लिखते हैं। अपार और अगाध दोनों प्रकार का। बड़े पक्के खोजी हैं। खोज-खोज कर इतनी सामग्री आपने इस लेख में जुटा दी कि हमारी इस प्रकरण की पूरी योजना ही रुकजाती। अपने हृदय के विविध विकारों पर भरपूर प्रकाश डाला है। आयुर्वेद एवं चिकित्सा-विज्ञान के आप शौकिया लेखक हैं। व्यावसायिक लेखक नहीं। 'शौक दर हर दिल के बाशद रहबरी दरकार नेस्त' की उक्ति चरितार्थ करते हैं दिल में शौक हो तो पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता नहीं पड़ती। रास्ता स्वतः मिलता हुआ चला जाता है। विद्वत्प्रवर मेहराजी का चिकित्सा-विज्ञान के पाठकों द्वारा कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा। ---रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

[१४] मद्यादि के अत्यन्त सेवन से।

[१५] विशेष उन्मत्तता के कारण।

[१६] अभिचार (टोना, टोटका) से।

[१७]प्राणायाम में जबरदस्ती कुंभक करना भी हृदय-गतिअवरोध का कारण बन जाता है। कुंभक का समय सदैव क्रमशः धीरे-धीरे अभ्यास से बढ़ाया जाता है। कुंभक उतने समय ही करना ठीक होता है जितने समय तक सहज भाव से बिना कष्ट के कर सके। जबरदस्ती श्वास रोकना खतरनाक होता है।

[१८] मेदो वृद्धि, चिंता, भय, आशंका, शारीरिक मानसिक आघात, रस, रक्त धातुक्षय भी हृदय रोग के कारण होते हैं।

हृदय रोग के भेद

आयुर्वेद के अनुसार हृदय रोग पांच प्रकार के माने गये हैं। (१) वातज (२) पित्तज (३) कफज (४) त्रिदोषज [सन्निपातिक] (५) कृमिज[हृदय ग्रन्थि या विद्रधि]

(१) वातज हृदय रोग—हृत्कम्प, हृच्छूल अत्यधिक होता है। उद्वेष्टन, स्तम्भ, द्रवता, वेदना तथा मूर्च्छा आदि वातज रोग के लक्षण हैं। ये प्रायः शीघ्रता से दौरे के रूप में आते हैं और बिना किसी चिकित्सा के या स्वल्प उपचार से भी शान्त हो जाते हैं। प्रायः यह मारक नहीं होता। इसमें प्राणवह स्रोतों का विकार नहीं होता। वात विकार होता है लेकिन यह संन्यास रोग नहीं है। संन्यास की चिकित्सा तो दुस्साध्य है ही।

(२) पित्तज हृदय रोग—अन्दर से गर्मी ज्यादा मालूम होती है, पसीना ज्यादा आता है और रोगी को थकान अधिक होती है। छाती में जलन, मुंह में खटास तथा कभी-कभी उल्टी भी हो जाती है। हृदय प्रदेश में दाह, चोष, ताप, स्वेद, धुंआ जैसा घुटना आदि लक्षण देखने में आते हैं। यह अधिकतर पाचन संस्थान की विकृति से ही होते हैं। पित के स्निग्ध, द्रव, अम्ल अंशों से कोलेस्टीरोल (*Cholesterol*) के तत्व पैदा होते हैं और यही कालान्तर में कफ की भी वृद्धि करते हैं।

(३) कफज हृदय रोग—हृत्प्रदेश में भारीपन तथा जकड़ाहट अधिक होती है। ऐसा लगता है जैसे छाती पर भारी पत्थर रखा हो। कफ और मुंह में पानी भी





... इस लेख में जुटा दी कि अपने प्रकरण की पूरी योजना ही रुकजाती। हृदय के विविध विकारों पर भरपूर प्रकाश डाला है। आयुर्वेद एवं चिकित्सा-विज्ञान के आप शौकिया लेखक हैं। व्यावसायिक लेखक नहीं। 'शौक दर हर दिल के बाशद रहबरी दरकार नेस्त' की उक्ति चरितार्थ करते हैं दिल में शौक हो तो पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता नहीं पड़ती। रास्ता स्वतः मिलता हुआ चला जाता है। विद्वत्प्रवर मेहराजी का चिकित्सा-विज्ञान के पाठकों द्वारा कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।

---रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

[१४] मद्यादि के अत्यन्त सेवन से।

[१५] विशेष उन्मत्तता के कारण।

[१६] अभिचार (टोना, टोटका) से।

[१७]प्राणायाम में जबरदस्ती कुंभक करना भी हृदय-गतिअवरोध का कारण बन जाता है। कुंभक का समय सदैव क्रमशः धीरे-धीरे अभ्यास से बढ़ाया जाता है। कुंभक उतने समय ही करना ठीक होता है जितने समय तक ... जबरदस्ती श्वास

... शारीरिक

... रोग के

... र के माने

... ४) त्रिदो-

... विद्रधि]

... शूल अत्य-

... दना तथा

... : शीघ्रता

... चिकित्सा के

... प्रायः यह

... कार नहीं

... रोग नहीं

होता। वात विकार ... दुस्साध्य है ही।

है। संन्यास की चिकित्सा तो दुस्साध्य है ही।

(२) **पित्तज हृदय रोग**—अन्दर से गर्मी ज्यादा मालूम होती है, पसीना ज्यादा आता है और रोगी को थकान अधिक होती है। छाती में जलन, मुंह में खटास तथा कभी-कभी उल्टी भी हो जाती है। हृदय प्रदेश में दाह, चोष, ताप, स्वेद, धुंआ जैसा घुटना आदि लक्षण देखने में आते हैं। यह अधिकतर पाचन संस्थान की विकृति से ही होते हैं। पित के स्निग्ध, द्रव, अम्ल अंशों से कोलेस्टीरोल (*Cholesterol*) के तत्व पैदा होते हैं और यही कालान्तर में कफ की भी वृद्धि करते हैं।

(३) **कफज हृदय रोग**—हृत्प्रदेश में भारीपन तथा जकड़ाहट अधिक होती है। ऐसा लगता है जैसे छाती पर भारी पत्थर रखा हो। कफ और मुंह में पानी भी

STRIPS

SPECIAL INSTRUCTION 20 और 21 में जो Neg...
चौका दी अस्वी 1(5X7)

O/K	5x7	PP	4x6	
PC	PC	PC	PC	PC
F	8	16	24	32
1	8A	16A	24A	32A
1A	9	17	25	33
2	9A	17A	25A	33A
2A	10	18	26	34
3	10A	18A	26A	34A
3A	11	19	27	
4	11A	19A	27A	
4A	12	20	28	
5	12A	20A		
5A	13	21		
6	13A	21A		
6A	14			
7	14A			
7A	15			
	15A			

FOR BETTER

ਪ੍ਰੋਗਰਾਮ

...ਬਕਾਲਾ, 22 ਫਰਵਰੀ ... ਦਿਨ ਗੌਰਮਿੰਟ ਆਦਰਸ਼ ... ਬੁੱਟਰ ਦਾ ਸਾਲਾਨਾ ... ਜਿਸ ਦੀ ਪ੍ਰਧਾਨਗੀ ... ਮਤੀ ਦਲਜੀਤ ...

प्रायः ...

हृदय रोग के विभिन्...

[१] अत्यन्त गर्म, भारी, खट्टे, ... पदार्थों का अत्यन्त सेवन करने से।

[२] अत्यन्त मेहनत करने से, अपनी साम... ज्यादा मानसिक, शारीरिक व बौद्धिक कार्य करने से, ...

...करने से।

...अधिकता से।

...शेष उपवासादि के करने से।

[३] एकायक डर जाने से।

आता है। अरुचि, मूर्च्छा भी हो जाती है। ये कफ के प्रकोप से होते हैं। सन्तर्पण द्रव्यों के सेवन से, शारीरिक परिश्रम न करने से ये लक्षण पैदा होते हैं। मोटापा, मेदोरोग, मधुमेह प्रायः साथ-साथ उपस्थित रहते हैं।

(४) त्रिदोषज हृदय रोग—वात, पित्त और कफ तीनों के लक्षण मिलते हैं। यह कष्टसाध्य रोग है। यदि अधिक दिनों तक रहे तो असाध्य भी हो जाता है।

(५) कृमिज हृदय रोग—यह भी त्रिदोष जनित ही होता है, इसमें मधुर आहार सेवन से कीड़े के काटने जैसी पीड़ा होती है। इसकी चिकित्सा में तिक्त रस का सेवन लाभदायक रहता है।

आधुनिक दृष्टि से हृदय रोग तथा आयुर्वेद दृष्टि से सामञ्जस्य

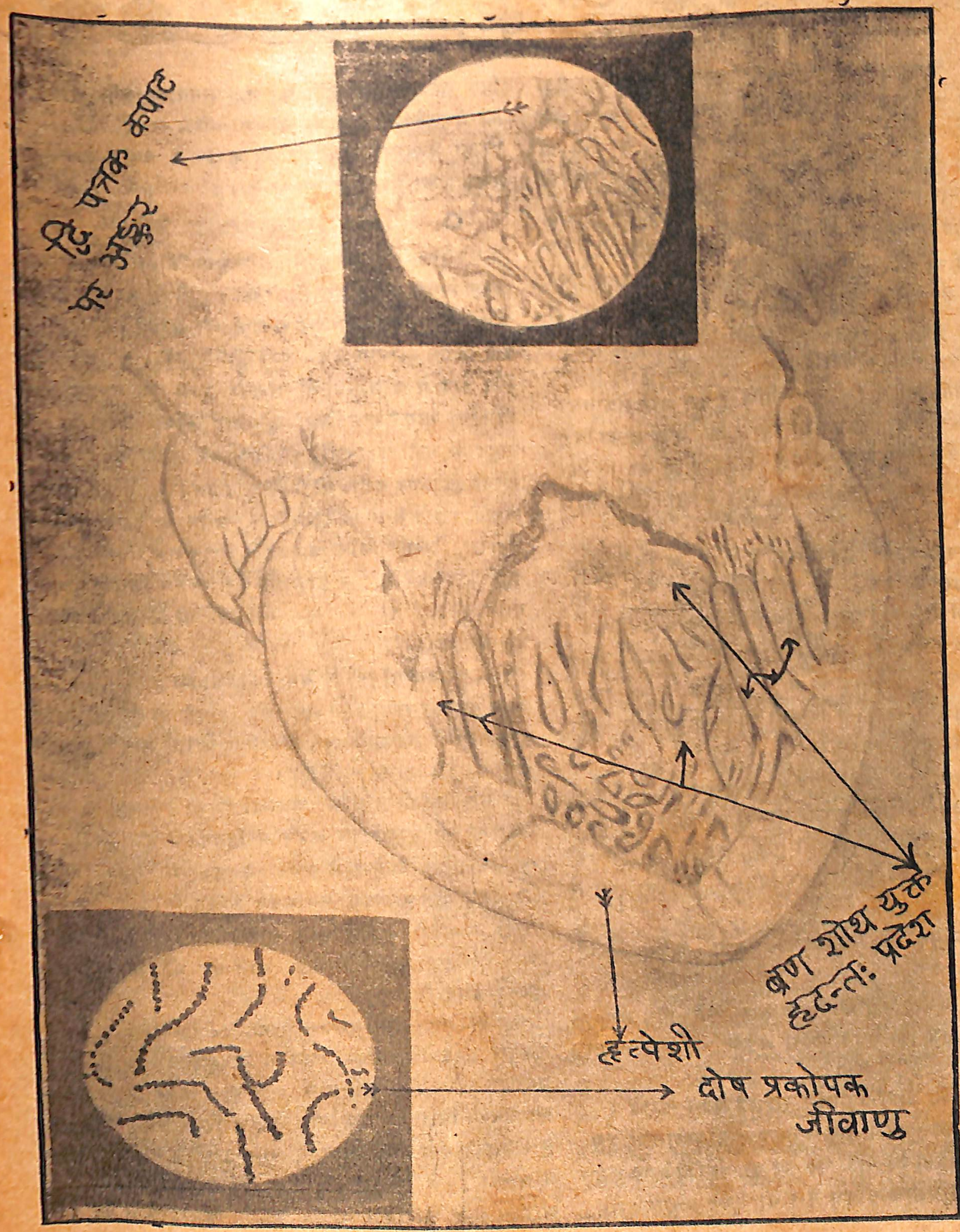
ऐलोपैथी में हृदय रोगों की संख्या अगणित है और निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। विभिन्न हृदय रोगों को उन्होंने हृत्पेशियों की निर्बलता, कपाटों-की विकृति, हृदय की रक्तवाहिनी में अवरोध, धमनी काठिन्य, हृदयावरण की विकृति आदि प्रमुख वर्गों में विभक्त किया है। इसका कारण यही है कि उन्होंने एक ही रोग की विभिन्न अवस्थाओं को अलग-अलग माना है क्योंकि उनके यहां 'त्रिदोष' का सिद्धान्त नहीं है। विकृति हृदय के विभिन्न भागों में होने के कारण उक्त विकृत को भिन्न-भिन्न रोगों की संज्ञा दे दी गई है। उदाहरणार्थ हृदयावरण में सूजन आ जाये तो उसे पेरीकार्डाइटिस कहते हैं। हृदय के आभ्यान्तरिक कपाट में शोथ हो तो उसे एण्डोकार्डाइटिस कहते हैं। हृदय में ही सूजन आ जाये तो उसे मायोकार्डाइटिस कहते हैं जबकि आयुर्वेदिक मत से हम इन्हें केवल **हृदयशोथ** कहेंगे जो कि वात जनित रोग है। हृदय धमनी अवरोध अथवा हृदय स्तम्भ को कोरोनरी थ्रोम्बौसिस कहते हैं, शोथ युक्त हृदय रोग (जिसमें श्वास, कास भी हो सकता है) को कन्जैस्टिव हार्ट फेल्योर कहते हैं, हृदयशूल अथवा हृत्पार्श्वशूल को एन्जाइना पेक्टोरिस कहते हैं। आयुर्वेद के मतानुसार ये सभी रोग वातज हृदय रोग के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार हृत्पेशी में रक्त की कमी को इस्कीमिया (*Ischaemia*) कहते हैं और इस्कीमिया होकर हृत्पेशी को पोषण न मिलने के कारण उसका विगलन हो जाना या मर जाना अथवा जीवन शून्य हो जाने को, हृत्पेशी अभिशोष को मायोकार्डियल इन्फार्कशन कहते हैं। यह त्रिदोष जनित है। एन्जाइना पेक्टोरिस और इन्फार्कशन हो जाने तक के बीच के समय को (अवस्था को) कोरोनरी इनसफिशियन्सी कहते हैं।

कभी-कभी मेद कफ के प्रकोप से उपद्रव रूप में रस रक्तादि दूषित होकर प्राणवहा धमनियों, शिराओं तथा उनकी शाखाओं में स्रोतावरोध का कारण बनते हैं। इससे हृदय में रक्त के दौरे पर प्रभाव पड़ता है और समस्त शरीर में समान, व्यान, अपान आदि वायु प्रकुपित हो जाती है और परिणाम स्वरूप हृदयशूल (*Angina pectoris*), हृदय वाहिनी घनास्र जन्य हृच्छूल (*Coronary thrombosis*), हृदय संकोच (*Atrophy of the heart*), हृदय शून्य भाव या हृदयगति का मन्द पड़ जाना (*Bradycardia*), हृदयावरण शोथ (*Pericarditis & endocarditis*), हृदय शोथ (*Mayocarditis*), हृदि श्वास कृच्छ्रता (*Cardiac Asthma*), हृदयावसान [हृदय का रुक रुक कर गति करना (*Arthemia*)] आदि विविध प्रकार के उपद्रव होते हैं। इन सब रोगों का रूप विभिन्न होते हुए भी मूल एक हैं।

धड़कन, हृदय की द्रुत गति, हृत्कम्प या हृद द्रव को पालपिटेशन या टैकीकार्डिया कहते हैं। यह प्रायः रस धातु क्षय जनित रोग होता है। भय, त्रासादिकों से भी यह रोग हो जाता है।

वातजनित हृदय रोग

आधुनिक मतानुसार हृदय रोग में हृदय को रक्त देने वाली धमनियां तंग हो जाती हैं उनकी लचक कम या बिल्कुल नष्ट हो जाती है (*Arteriosclerosis*), उनमें वसा जम जाती है, रक्त को थक्का (*Clot*) बन जाता है, रक्त गाढ़ा हो जाता है और रक्त में कोलेस्टेरोल की मात्रा बढ़ जाती है (सामान्यतः रक्त कोलेस्टेरोल की मात्रा १३०–२३० मिलीग्राम प्रतिशत मिलीलिटर होती है।) फलतः हृदयगति में अवरोध पैदा होकर हृदय रोग हो जाता है।



जीवाणुज हृदन्तः शोथ



सचिंतन से मानसिक तनाव और रक्तचाप बढ़ जाता है। अति श्रम और अभिघात भी रक्तचाप को बढ़ाते हैं। निरन्तर तिक्त और कषाय पदार्थ के सेवन से वात की वृद्धि होती है। इसके अलावा, सदमा, उपवास, गरीबों को निरन्तर रूक्ष व अपर्याप्त भोजन की प्राप्ति, शराब, क्रोध नित्यप्रति अधिक मात्रा में अण्डों का सेवन, धूम्रपान आदि भी हृदय रोगकारी होते हैं। कोई-कोई तो हृदय गति अवरोध के कारण सोते हुए अथवा स्नानागार में स्नान करते हुए ही स्वर्गवासी होते देखे गये हैं।

वातज हृदय रोगों में कोई हल्का वमन कराकर शुद्धि कर लेनी चाहिए। दशमूल क्वाथ से तेल और सेंधानमक मिलाकर, पिलाकर, वमन करावें। फिर कोई हल्का विरेचन देवें। विरेचन देने से पेट की सफाई हो जायेगी फिर जो दवा दी जायेगी उसका असर अच्छा और शीघ्र होगा।

अथवा वातज हृदय रोग में वमन के लिए आधा किलोग्राम गर्म जल में २० ग्राम सेंधा नमक और मदनफल चूर्ण ३ ग्राम-इन सबको मिलाकर प्रातःकाल पिलावें। इससे आधे घण्टे के अन्दर उल्टी होकर सजल-पिच्छिल द्रव निकलेगा। वमन के बाद मध्याह्न में अर्जुनत्वक साधित दूध में थोड़ा सा पिप्पली का चूर्ण डालकर थोड़ा थोड़ा देते रहना चाहिए।

वातज हृदय रोगी को रात को पुष्करमूल और पंचमूल साधित क्षीरपान करना लाभदायक होता है। यदि असह्य हृदय शूल भी हो तो सोंठ के क्वाथ में सोंचर नमक व हींग का प्रक्षेप देकर पिलाने से तुरन्त लाभ होता है।

वातज हृदय में निम्नलिखित योग विशेष लाभकारी है—

(१) बिजौरे नींबू के रस के साथ भुनी हींग अथवा हिंग्वष्टक चूर्ण का सेवन करना अचूक उपचार माना गया है।

(२) बृहत् वातचिन्तामणि रस का सेवन करायें।

(३) यदि मृदुवीर्य होने से बृहत् वातचिन्तामणि रस कार्य करती (रक्त की गांठ, थके को दूर करती) नजर न आये तो **विष वातचन्द्रोदय रस** का सेवन करायें, इसमें विष का समावेश होने से यह योगवाही और तीक्ष्ण है और इन्जैक्शन से भी अधिक शीघ्र असर करता है। जिह्वा से सम्पर्क होते ही यह शरीर के समस्त अवयव व तन्तुओं को प्रभावित करता है।

० विष वातचन्द्रोदय रस

रससिंदूर, रजतभस्म, ताम्रभस्म तीनों समान भाग लेकर पिष्टी करें। इन तीनों की पिष्टी के बराबर अभ्रक भस्म मिलायें (नागार्जुनाभ्रक भस्म सहस्त्र पुटी हो तो क्या कहना अन्यथा ३०० पुटी ही सही) और खूब घोट लें। बाद में औषधियों से पांचवां भाग शुद्ध गन्धक और सोलहवां भाग शुद्ध विष, दो भाग और (उपरोक्त रस सिंदूर के अलावा) रससिंदूर मिलाकर खरल करें, काली पिष्टी हो जाने पर जंभीरी नीबू का स्वरस डालकर एक दिन खरल करें। फिर मिट्टी के बर्तन में जल डालकर त्रिफला, दशमूल और शतावरी के क्वाथ में चार-चार पहर पाक करें। पाक हो जाने पर २५० मिलीग्राम की गोली बनाकर रख लें। इन गोलियों को उचित अनुपान से सेवन करायें।

यह हृदय पीड़ा के वेग को, वातज हृदय रोग को शीघ्र दूर करता है। जिह्वा पर रखते ही हृत्पेशी और वात तन्तुओं को उसी क्षण प्रभावित करता है। शुद्ध वात रोगों पर तो रामबाण है ही।

मधुमेह की संन्यास अवस्था में भी लाभकारी है। हर तरह की मूर्च्छा दूर करने में हितकारी है।

० जिलेटिन कैपसूल में अथवा मुनक्का में २५० मिलीग्राम विष वातचन्द्रोदय रस सेवन कराने से प्रायः इसकी पहली मात्रा ही अपना असर तुरन्त दिखाती है। अपस्मार में जिह्वा बाहर निकल आने पर भी यह औषधि तुरन्त असर दिखाती है।

(४) बृहत् वातचिन्तामणि रस ६० मिलीग्राम, हृदयार्णवरस १२५ मिलीग्राम, सिद्ध मकरध्वज ६० मिलीग्राम, प्रवालपिष्टी २५० मिलीग्राम, शङ्खभस्म ३०० मिलीग्राम इन सबको मिलाकर एक जान कर लें। यह तीनों मात्राएं हैं। इसकी एक मात्रा दिन में तीन बार अर्जुनत्वक चूर्ण से अथवा इसके घनसत्व चूर्ण से या अर्जुनत्वक साधित खीर से सेवन करायें।

(५) हरड़, सोंठ, पुष्करमूल, गिलोय, आंवला, सेंधा नमक और हींग इनके कल्क से साधित घृत का प्रयोग वातिक गुल्म हृदय रोग और पार्श्वशूल में प्रशस्त है।

हृदय स्थल पर महानारायण तेल की धीरे-धीरे मालिश करना भी लाभप्रद है।

महालक्ष्मी विलास रस (सस्वर्ण) १२५ मिलीग्राम, मकरध्वज ६० मिलीग्रास, हृदयार्णव रस १२५ मिलीग्राम, अर्जुनत्वक चूर्ण १ ग्राम, इन सबको मिलाकर एक जान करले। यह एक मात्रा हुई। ऐसी एक मात्रा दिन में तीन बार नागर बेल के पान के स्वरस के साथ दें।

भोजन के बाद अर्जुनारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट और द्राक्षासव प्रत्येक दस मिलीलीटर समभाग जल मिलाकर सेवन करने को कहें। रात को सोते समय आरोग्यवर्धिनी वटी २ गोली गर्म दूध से दें। वातज हृदय रोग होने के कारण दूध में १ चम्मच घी (जिसमें २ कालीमिर्च का चूरा मिलाकर उबाल दे दिया गया हो, कड़का दिया गया हो) डालकर सेवन करायें।

गुल्मगत हृदय रोग में—प्राणवल्लभ का प्रयोग लाभदायक रहता है। इससे दो तीन विरेचन होकर रोगी को शान्ति मिलती है। साथ-साथ नागार्जुनाभ्रक भस्म भी दें। मलावरोध जनित वातगुल्म के कारण भी हृदय पर दवाव पड़ने से हृदय विकार हो जाता है। उसमें रोगी को चौलाई के साग का केवल पानी सुबह शाम पेट भर कर सेवन करने को २-३ दिन तक दें और उसके साथ ही दो गोलियां आरोग्यवर्धनी वटी की भी सुबह दें। इससे उदर की सफाई होकर शरीर हल्का हो जायेगा। रोगी को राहत मिलेगी।

इसके अलावा औषधि रूप में रुद्राक्ष के एक बड़े दाने को घिसकर (रेती से घिस ले), सूक्ष्म चूर्ण बनाकर उसमें सोने के दो वर्क मिलाकर घोटकर एक जान कर लें और उसको २० मात्राओं में विभक्त कर लें। एक मात्रा शाम को शहद से सेवन करायें और सोते समय गर्म दूध से आरोग्यवर्धनी वटी की दो गोलियां सदा लेते रहने की सलाह दें।

वातज गुल्मजन्य हृदय रोग में लहसुन-हींग के योग—हिंग्वष्टक चूर्ण, हिंगुग्रगन्धादि चूर्ण आदि लाभकारी होते हैं।

जब दूषित रस अधिक समय तक विषमपूर्ण अवस्था में अवरुद्ध रहने के कारण हृदय यंत्र की अन्तःकलाओं को प्रभावित करके हृदयावरण या हृदय यंत्र में शोथ उत्पन्न करते हैं, इसके साथ ज्वर भी होता है। यह दोनों अवस्थायें हृदयावरण शोथ (*Pericarditis, endo carditis*) तथा हृदय शोथ (*Myocarditis*) कहलाती हैं।

हृदय शोथ में—अर्जुन की छाल १० ग्राम, गोखुरू १० ग्राम, जल ३२० ग्राम, इसका क्वाथ कर, ८० ग्राम रह जाने पर इसमें ८० ग्राम गाय का दूध मिलाकर उसमें १० ग्राम गुड़ मिलाकर सुबह शाम सेवन करने से फायदा होता है।

हृदयावरण प्रदाह में—मुक्तापिष्टी १२५ मिलीग्राम, अभ्रकभस्म ६० मिली ग्राम, बांसा अवलेह ५०० मिलीग्राम इस एक मात्रा को ४ ग्राम अर्क वेदमुश्क के साथ सेवन कराने से लाभ मिलता है।

जरूरत समझें तो हृदय स्थल पर शोथ नाशक किसी सिद्ध प्रलेप को लगायें। इनका विवरण आगे दिया गया है। जहां हृदय रोगों में शोथ के लक्षण हों वहां नमक का सेवन बन्द कर देना चाहिये तथा पुनर्नवादि गुग्गुल को अनुपान भेद से रसायनौषधियों के साथ सेवन करायें। जब रसादि दूषित होकर हृदयावरण में संचित होकर शोथोत्पन्न करते हैं तो पुनर्नवादि गुग्गुल, पंचतिक्त गुग्गुल घृत, नागार्जुनाभ्रक भस्म आदि का सेवन करायें। शोथ में पुनर्नवादिगणयुक्त योग, प्राणवल्लभ रस, प्रवाल पंचामृत, पुनर्नवासव, बांसासव आदि का प्रयोग लाभकारी होता है।

"यदि वृक्क दोष की वजह से सर्वाङ्ग शोथ" हो तो कोई सिद्ध मूत्रल औषधि देकर दूषित विष मूत्र के जरिये बाहर निकाल दें। यवक्षार के योग दें। पंचमूल तृण क्वाथ के साथ गोखुरादि गुग्गुल या चन्द्रप्रभा वटी और साथ में २५० मिलीग्राम वसन्तकुसुमाकर रस (डाबर) का सेवन करायें। यह योग नेफराइटिस (*Nephritis*) को दूर करने में भी रामबाण है। पुनर्नवादि योग के साथ कज्जली रहित 'प्राणवल्लभ रस का



सेवन भी उपयोगी होता है। एलोपैथी में लासिक्स (*Lasix*) और सिस्टोन (*Sistone*) की गोलियां सिद्ध मूत्रल योग हैं।

अचूक मूत्रल व मलप्रवर्तक योग—

रेवन्द चीनी ५ ग्राम, सनाय के पत्ते १० ग्राम, कलमीशोरा ३ ग्राम, विडंग ३ ग्राम, छोटी इलायची के दाने ३ ग्राम, सबको जौ कुट करके १६ गुने जल में क्वाथ करके जब चौथाई रह जाये तो उसे कपड़े में छानकर यवक्षार ३ ग्राम, मिश्री १½ ग्राम मिलाकर रोगी को प्रातःकाल पिलायें। "इससे मल मूत्र दोनों का विसर्जन होता है।" यह अष्ठीला (प्रोस्टेट ग्रन्थि) की वृद्धि में मल मूत्र दोनों के प्रवर्तन के लिये रामबाण है।

रोगी की अवस्थानुसार इसकी मात्रा कम कर सकते हैं। शतपुटित ताम्रभस्म ३० मिलीग्राम शहद से रोगी को चटाकर ऊपर से उपरोक्त क्वाथ पिला दें। ताम्रभस्म रोगी की वेदना और यदि मूर्च्छा भी हो तो उसको भी तत्काल दूर करेगी। पीने की हालत में रोगी न हो तो चम्मच से मुंह में डाल, गले में उतार दो।

जरूरत पड़ने पर चार-चार घंटे पर दवा दें। तीन दिन ऐसा करें और उसके बाद एक सप्ताह तक केवल दिन में एक बार ही पंचमूल तृण क्वाथ में पुनर्नवा वरुणत्वक् और मिलाकर यथाविधि काढ़ा बनाकर उसमें यवक्षार मिलाकर ताम्रभस्म ३० मिलीग्राम के अनुपात से देवें। सर्वतोभद्रा वटी १२५ मिलीग्राम की मात्रा में दिन में एक बार दी जा सकती है।

मंजिष्ठादि क्वाथ से वातज अश्मरी (पथरी, *Oxalates*) घुल घुलकर निकल जाते हैं। पाषाण भेद, हजरूलयहूद पत्थर (बेर पत्थर), गोक्षुरादि योग भी पथरी नाशक हैं।

हार्दिक अक्षमता जनित शारीरिक शोथ और जल संचय को दूर करने के लिये एलोपैथी में मर्सेलील इन्जेक्शन एक एम्पूल का सुबह शाम मांसपेशी में २-४ दिन के अन्तर पर देना लाभकारी होता है।

० हृदय शूल (*Angina Pectoris*)

जब कभी हृदयान्तर्गत प्राणवाहिनियों की शाखाओं से सम्बन्धित संधि स्थानों में अवरोध होता है और प्राकृतिक तौर पर प्रकुपित वायु उसे वेग से हटाने का प्रयत्न कर रही होती है तो हृदय स्थान में तीव्र वेदना होती है और इस प्रकार इस वेदना का प्रभाव हृतपेशियों से उठता हुआ वाम स्कन्ध की ओर जाता है, वेदना का यह हृतशूल, हृच्छूल, हृत्पीड़ा अथवा एंजाइना पेक्टोरिस (*Angina Pectoris, refened pain*) कहलाता है।

यह प्रायः धमनी काठिन्य और रक्त-कोलेस्टेरोल की मात्रा बढ़ जाने से होता है। यह विशेषतः वात प्रकोप जनित व्याधि है। वायु का प्रकोप धातुक्षय तथा मार्गावरोध इन दो मुख्य कारणों से होता है। अत्यधिक परिश्रम, चिन्ता और परिश्रम के अनुकूल पौष्टिक भोजन न मिलने से धातुक्षय और मार्ग अवरोध होना स्वाभाविक है अतः हृदयस्थ प्रकुपित वात रस, रक्त तथा श्लेष्मा को प्रभावित कर हृदय की धमनियों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। अवरोध के कारण हृदयस्थ धातुओं का सम्पूर्ण पोषण नहीं होने के कारण हृदयशूल हो जाता है. इस रोग में कभी वेदना का दौरा बढ़ जाता है, कभी घट जाता है, खींचने के समान दर्द होता है श्वास प्रश्वास में कष्ट होता है, बेचैनी, कब्जियत और दुर्बलता पाई जाती है।

यदि हृदयशूल अल्परक्तदाब के कारण हो तो उसे "कफावृत वातज हृदयशूल" कहते हैं। यदि उच्च रक्तचाप के कारण हो तो "पित्तावृत वातज हृदय शूल" कहलाता है और "शुद्ध वात जनित होने से" एन्जाइना पेक्टोरिस (*Angina pectoris*) कहलाता है। कृमिजनित अथवा हृदय विद्रधि जनित हो तो इसे "आमवातज व कृमिज हृदय शूल" कहते हैं।

कफज हृदय शूल में शृंगभस्म अत्यन्त उपयोगी है लेकिन पित्तज शूल में इसे नहीं देना चाहिये।

हृदय शूल नाशक विविध नुस्खे

१. कफज हृदय शूल में लोंग, जौ को समभाग लेकर कूट पीसकर सबके बराबर शक्कर मिलाकर रख लो। प्रातः सायं १० ग्राम की मात्रा में बकरी के दूध के साथ सेवन करने से हृदय शूल में फौरन राहत मिलती है।

२. हृदय शूल के कारण जब छाती में दर्द हो तो शृंगभस्म २ ग्राम लेकर ऊपर से १२५ ग्राम गर्म दूध में

२० ग्राम गाय का घी डालकर पिलाने से पहली ही मात्रा में लाभ होता है। इस तरह दिन में दो तीन मात्रा प्रयोग कराने से रोग जड़ से दूर हो जाता है। ज्यादा से ज्यादा सिर्फ दो दिन यह दवा देनी पड़ेगी।

यदि हृदय में शोथ हो और यह योग कोई फायदा न करे तो योग्य चिकित्सक से रोगी की दायीं भुजा की नाड़ी से रक्त निकलवा दें (फसद खुलवा दें)। रक्त के कारण ही शोथ हो जाता है। रक्त निकल जाने से शोथ दूर हो जाता है।

३. नागार्जुनाभ्रक भस्म (शतपुटित अभ्रकभस्म से तैयार की हुई) २५० मिलीग्राम, शतपुटित ताम्रभस्म ३० मिलीग्राम, मृगश्रृंगभस्म (अन्तर्धूम) २५० मिलीग्राम और कणादि चूर्ण १२५ मिलीग्राम, इन सबको मिलाकर एक जान कर लें। यह एक मात्रा हुई, ऐसी एक मात्रा दिन में दो बार शहद से सेवन कराने से हृदय शूल में तुरन्त फायदा होता है।

४. विषाणभस्म ६ ग्राम, मकरध्वज २०० मिलीग्राम मिलाकर एक जान कर लें। यह चार मात्रायें हुईं। एक मात्रा बलाद्य घृत या गाय के घी के साथ सेवन कराना भी हृदय शूल में उपयोगी होता है।

५. शूलवज्रिणी रस—१२५ मिलीग्राम, मृगश्रृंगभस्म २५० मिलीग्राम।

प्रभाकर वटी—१२५ मिलीग्राम, त्रिफला चूर्ण ७५० मिलीग्राम इन सबको घोटकर एक जान कर लें। यह एक मात्रा हुई।

ऐसी एक मात्रा शहद से चटाकर ऊपर से अर्जुनत्वक् का ६० ग्राम काढ़ा पिलावें (३० ग्राम अर्जुनत्वक् को २५० ग्राम पानी में डालकर काढ़ा बना लें)।

खाना खाने के बाद हिंग्वादि चूर्ण ३ ग्राम अर्जुनारिष्ट २० ग्राम में बराबर का जल मिलाकर उसके साथ सेवन करें।

शोथ में नमक रहित भोजन और दूध पथ्य है। यदि कब्ज हो तो उसके नाशार्थ आरोग्यवर्धनी वटी १ से २ गोली गर्म जल या गर्म दूध से सेवन करायें।

६. यदि विशेष श्वास कष्ट, मंदाग्नि और कब्जियत के साथ हृदय शूल हो तो नागार्जुनाभ्रक भस्म २५० मिलीग्राम, रससिन्दूर १२५ मिलीग्राम, श्रृंगभस्म ३७५ मिलीग्राम और अग्निकुठार रस इन सबको मिलाकर एक जान कर लें। यह एक मात्रा हुई। ऐसी एक मात्रा सुबह शाम शहद के साथ दें और निम्नलिखित काढ़ा पिलायें—

पुनर्नवामूल ६ ग्राम, मकोय ६ ग्राम, हरड़ का छिलका ६ ग्राम, बहेड़ा का वक्कल ६ ग्राम, आंवला ६ ग्राम, चित्रक मूल ६ ग्राम, यह एक मात्रा है। इसे आधा किलोग्राम पानी में पकाकर चौथाई रहने पर छानकर गुनगुना ही पिलायें। यह एक सप्ताह सुबह आठ बजे और रात को आठ बजे सेवन करायें। इससे वमन व दस्त होंगे। रक्त मिश्रित आंवदस्त भी हो सकते हैं। तीन चार दिन में शरीर का सब गंदा द्रव्य निकल जायेगा। रोगी की अवस्था के अनुसार काढ़े की मात्रा व आवृति (*Frequency*) घटाई जा सकती है।

यदि रोगी को एक दो दिन में ही उदर शुद्धि होकर राहत मिल जाये तो फिर काढ़ा देने की जरूरत नहीं। भोजन में कच्चे केले का साग, पपीता, लौकी, तोरी, टमाटर, पालक का साग, रोटी, मट्ठा, मूंग, अरहर की खिचड़ी दें और गरिष्ठ व बादी पदार्थों से परहेज करायें।

लगभग दो सप्ताह में शूल और शोथ दूर हो जायेंगे।

७. **पित्तज हृदय शूल में**—सप्तामृत लौह २५० ग्राम, स्वर्णमाक्षिकभस्म १२५ मिलीग्राम, प्रवालपिष्टी १२५ मिलीग्राम, गिलोय सत्व ३७५ मिलीग्राम। इन सबको मिलाकर एक जान कर लें। यह एक मात्रा हुई। ऐसी एक मात्रा दिन में तीन बार, सुबह, दोपहर और शाम को घी और शहद के साथ सेवन करायें।

यदि इसके सेवन से रोगी को प्रतिश्याय हो जाय तो घी मधु से न देकर केवल शहद से दवा दें।

८. **आमवातज व कृमिज हृच्छूल**—आमवाजत रोग में लंघन एवं सोंठ के काढ़े में एरण्ड का तेल डालकर पिलाना चाहिये। आमवात के रोगों में अमृतभल्लातक के योग भी प्रशस्त हैं लेकिन इसके प्रयोग से रोगी को अलर्जी हो जाने की आशंका रहती है। इसके सेवन काल में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है।

गुग्गुल अग्निवर्द्धक है इसके सतत् सेवन करने से यह आमदोष को शरीर के विभिन्न अंगों से निकाल फेंकता है और उन अंगों को पुनः स्वस्थ कर देता है।



आमदोष नष्ट होते ही हर प्रकार का हृदय शोथ और गठिया रोग दूर हो जाते हैं। महायोगराज गुग्गुल, आरोग्यवर्द्धिनी वटी इसमें विशेष गुणकारी हैं। प्याज का रस, फलों के रस का सेवन धमनियों की लचक बनाये रखता है और खोई हुई लचक को वापस लाने में सहायक होता है।

कृमिज हृच्छूल में महादशमूल तेल की मालिश हृदय-स्थल पर करायें और कृमिमुद्गर रस का सेवन शहद के साथ करायें।

हृद्धमनी अवरोध (Coronary thrombosis)

प्रकुपित मेद कफादि दोष रुधिर का स्कन्दन (जमाव) करते हुए थक्का सा (Clot) बनाकर हृद्धमनियों में अवरोध कर हृदय में तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं जिसको कोरोनरी थ्रोम्बोसिस अथवा हृदय वाहिनी घनास्रता जन्य हृदय शूल कहते हैं। इसमें मुख्यतः कोलेस्टेरोल एवं रक्त स्कन्दन (Coagulation of blood) की विकृति पाई जाती है। यह विशेषतः कफ वातिक अथवा कफावृत वातज हृदय शूल के अन्तर्गत आता है।

इसमें अर्जुन और लहसुन के योग बहुत हितकारी हैं। अर्जुन व लहसुन दोनों में ही एन्टीकोएगुलेंट (Anti coagulant), फाइब्रीनोलिटिक (Fibrinolytic) और हाइपो कोलेस्टीरोलैमिक (Hypocholesterolemic) गुण हैं।

कोरोनरी थ्रोम्बोसिस में निम्नलिखित योग लाभकारी हैं—

१. बिजौरा नीबू के रस के साथ भुनी हींग अथवा हिंग्वष्टक चूर्ण देना गुणकारी होता है।

२. शुद्ध पारा १० ग्राम, ताम्रभस्म सोमनाथी १० ग्राम, शुद्ध गंधक १० ग्राम, लौहभस्म शतपुटी १० ग्राम, अभ्रकभस्म सहस्रपुटी सात बार अर्जुन की छाल के काढ़े में घोटी हुई २० ग्राम।

पारा व गंधक की कज्जली करके, सब दवाओं को मिलाकर त्रिफला और अर्जुन की छाल के काढ़े में एक सप्ताह तक मर्दन कर १२५ मिलीग्राम की गोलियां बनाकर छाया में सुखाकर शीशी में भरकर रख लें।

मात्रा—१-२ गोली गर्म गाय के दूध के साथ सेवन करायें। मूर्च्छा हो तो पान के स्वरस के साथ सेवन करायें।

३. मृगश्रृंग को अर्जुन की छाल के काढ़े की सात भावना देकर हांडी में गजपुट कर उपलों की अग्नि से भस्म बनाकर रख लें।

मात्रा—२५० मिलीग्राम से ५०० मिलीग्राम।

४. वेदना दूर करने के लिये जहां तक हो सके अफीम या पैथीडीन के योग अथवा सूचीभेद का प्रयोग न करें उसके स्थान पर निम्नलिखित सरल योग दें—

(क) शत पुटित ताम्रभस्म—६० मिलीग्राम।

(ख) शूल बज्रिणी रस—१८० मिलीग्राम।

शहद के साथ हर १ घन्टे बाद दें। पहली ही मात्रा से हृत्पीड़ा दूर होगी।

५. नागार्जुनाभ्रक भस्म २५० मिलीग्राम शहद से दें।

शतपुटी अभ्रकभस्म (सहस्रपुटी हो तो अति उत्तम होगा) को अर्जुन की छाल के क्वाथ से २१ दिन तक मर्दन करके रख लें। बस यही नागार्जुनाभ्रक भस्म है।

६. रोगी को बेचैनी अधिक हो और उसे प्रगाढ़ निद्रा देनी हो तो इक्वीनोम या कम्पोज की गोली सेवनार्थ दें अथवा कालेड़ा कृष्णगोपाल वालों का 'चन्द्रहास अर्क' सेवन करायें। इस अर्क की निर्माण विधि का विवरण 'सुधानिधि' जनवरी १९७५ के अंक में पृष्ठ २१ पर देख लें।

७. एलोपैथी में कोरोनरी थ्रोम्बोसिस में खून जमने की विकृत प्रवृत्ति को दूर करने के लिये, खून के थक्के (Clot) को दूर करने के लिये ट्रोमेक्शन की गोलियां सेवन कराते हैं लेकिन व्यवहार करने से पहले खून में प्रोथ्रोम्बिन की मात्रा का निश्चय कर लेना नितांत आवश्यक होता है। चूंकि कोरोनरी थ्रोम्बोसिस अल्प रक्तदाब के कारण होता है अतः इसमें अन्य धमनी प्रसारक औषधियां (*Vasodilaters*) जो एन्जाइना पेक्टोरिस में देते हैं लाभदायक नहीं होती हैं।

पित्तज हृदय रोग

पित्तज हृदय रोग में हल्का विरेचन देना श्रेष्ठ माना गया है। पित्तज हृदय रोग में अधिकतर अम्लपित्त

रोग के लक्षण पाये जाते हैं। प्रातःकाल सर्वप्रथम त्रिफला के हिम में १ ग्राम सौवर्चल नमक मिलाकर पिलाना इस रोग में हितकारी होता है। पित्तज हृदय रोगों में नागार्जुनाभ्रक भस्म, अकीक, प्रवाल, मुक्ता, पन्नापिष्टी, मोती युक्त गुलकन्द, अर्जुनत्वक दुग्धपाक, आंवले का मुरब्बा चांदी का वर्क लगाकर, चांदीभस्म, एला चूर्ण, स्फटिक मणि भस्म आदि लाभदायक होते हैं। हृदय स्थल पर चन्दन का लेप करना यूडीकोलोन (*Eaudicologne*) लगाना भी गुणकारी होता है।

पित्तज हृदयरोगनाशक योग

मोतीपिष्टी ६० मिलीग्राम, जवाहर मोहरा ६० मिलीग्राम, प्रवालपिष्टी २५० मिलीग्राम, जहर मोहरा २५० मिलीग्राम इन सबको मिला लो। यह एक मात्रा हुई। ऐसी एक मात्रा दिन में चार बार शहद और अर्जुन त्वक खीर के साथ सेवन करायें।

पुंडरिया काठ, कसेरू, सोंठ, कमलनाल की गांठ इनसे सिद्ध किए हुए घृत को शहद के साथ सेवन करने से भी रोग के शमन में सहायता मिलती है।

संभ्रम हृदय रोग भी पित्त जनित होता है। इस रोग का मुख्य लक्षण तिर्यक्‌गामी दोष है। इसमें हृदय हर समय तपता रहता है, उसमें भ्रमता आ जाती है और साथ ही बांये भाग में एक विशेष प्रकार की वेदना जान पड़ती है।

संभ्रम हृदयरोग नाशक चूर्ण

(स्वर्गीय सोहनलाल जी गुरदासपुर वालों का योग)

गाजवां के पत्ते २० ग्राम, भीमसेनी कपूर, मूंगा की जड़, मुक्ता, आवरेशम कच्चा कतरा हुआ, सब १०-१० ग्राम, धनिया सूखा १० ग्राम, संभालू के बीज, मुस्तक, वंशलोचन सब ७-७ ग्राम, भुनी फिटकरी १० ग्राम।

विधि—मूंगा की जड़ और मोती को अर्क गुलाब में चार दिन पीस लें। फिर सुखाकर रखलें। कपूर, आवरेशम गिलेअरमनी और वंशलोचन को एक साथ पीसकर इसमें घुटी हुई मोती और मूंगा की पिष्टी मिला दें। फिर शेष औषधि को कपड़ छानकर उसमें मिला दें और सबको घोटकर एक जान कर लें। बाद में शीशी में भरकर रख लें। यही संभ्रम हृदयरोगनाशक चूर्ण है।

इसकी मात्रा ७ ग्राम की है दिन में तीन-चार बार मिश्री की चासनीयुक्त शर्बत से इसका व्यवहार करें।

कफज हृदयरोग

हृदयगति रोध (*Cardiac failure or coronary insuHicincry*) में अधिकतर कफज हृदय रोग के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं यथा स्तब्धता, वक्षस्थल गीले कपड़े से ढका हुआ जैसा मालूम पड़ना, कफ थूकना, खांसी, ज्वर, अरुचि, ऐसा अनुभव होना मानो वक्षःस्थल को पत्थर की शिला से जकड़ दिया हो।

हृदयगतिरोध में हृदय की स्वाभाविक क्रिया में कमी आ जाती है। शरीरस्थ ओज का बल क्षीण होने लगता है (जो कि जरूरत पड़ने पर नैसर्गिक शक्ति से कई गुणा अधिक कार्यक्षमता का परिचय देता है)। शुरू-शुरू में रोगी को अपनी शक्ति के कम होने का पता नहीं चलता वह साधारणतः अपने सब कार्य करता रहता है लेकिन जब यह अधिक परिश्रम के कार्य करता है जैसे दौड़ना, वजन उठाना, चढ़ाई पर चढ़ना, उच्च स्वर से बोलना या लैक्चर देना आदि तब उसे थकावट का अनुभव होना प्रारम्भ हो जाता है जो कि पहले इन कार्यों से उसे कभी थकावट महसूस नहीं होती थी। क्रमशः इस क्षमता में वृद्धि होने लगती है और रोगी धीरे-धीरे साधारण कार्य करने में थकावट महसूस करने लगता है और लेटे रहने पर भी श्वास कष्ट, व्याकुलता और थकान महसूस करने लगता है -

हृदयगतिरोध में दोषों एवं दूष्यों के तारतम्य से कुछ विशेष हृदय विकृति के लक्षण भी प्रकट होते हैं। हृदय के वाम भाग स्थित वामक्षेपक कोष्ठ (*Lef ventricle*) की अक्षमता का कारण प्रायः उच्च रक्तचाप अथवा महाधमनी की कपाट-विकृति देखी गई है तथा दक्षिण क्षेपक कोष्ठ (*Right ventricle*) की अक्षमता का कारण प्रायः जीर्ण कास अथवा श्वास रोग पाया जाता है। कंठरोहिणी अथवा चिंताजनक रक्तक्षय में हृदय के दोनों क्षेपक कोष्ठ प्रभावित होते देखे गये हैं। दोनों पैरों पर शोथ विद्यमान रहना, यकृत् की वृद्धि एवं काठिन्य तथा कण्ठ पार्श्व की शिरा का विशेष रूप से उभरा हुआ दिखाई देना, दक्षिण क्षेपक कोष्ठ (*Right ventricle*) के गतिरोध का परिचायक है। अधिक वाम क्षेपक कोष्ठ (*Left ventricle*) के गतिरोध के रोगी देखने में आते हैं।

जब दिन भर काम के पश्चात् अजीब थकान अनुभव

हो और दिन पर दिन यह थकान अधिकाधिक महसूस होने लगे और साथ ही साथ साधारण क्षय से श्वास कष्ट प्रतीत हो जो कि पहले कभी नहीं होता था, इसी प्रकार शाम को पैरों व टखनों पर सूजन (*Oedema*) दिखाई दे या श्रम करते समय हृदय पर अवरोध, बोझ सा रखा मालूम पड़े और पेशाब साधारणतः से कम होने लगे तो इन लक्षणों को श्लैष्मिक हृदय रोग अथवा कफज हृदय रोग के पूर्वरूप में समझना चाहिए।

लेकिन अच्छी तरह से यह निश्चय कर लें कि उपरोक्त लक्षण श्वास रोग, जबरदस्त खांसी, वृक्क सम्बन्धी रोगों के कारण तो नहीं हैं। प्रायः कफज हृदय रोग का कारण सामान्यतः अधिक स्निग्ध पदार्थों का सेवन, धूम्रपान, मेदोरोग, वृद्धावस्था की नैसर्गिक विकृतियां, फिरङ्ग रोग, मधुमेह तथा पाचक अग्नि की दुर्बलता से आम संचय माना गया है। इसके साथ ही उच्च रक्तचाप, अल्प रक्तचाप, स्नायुदुर्बलता, जीर्णश्वास, वृक्क विकार आदि भी हृदय रोग में आशुकारी विकृतियां उत्पन्न करने में सहायक कारण बन जाते हैं।

कफज हृदय रोग में लंघन, स्वेदन और वमन कराना उपयोगी है। युक्ति युक्त हो कफ निःसरण के लिए औषध सेवन करायें। वचा, निम्ब क्वाथ से वमन कराकर कफनाशक चिकित्सा करें। शिलाजीत रसायन, च्यवनप्राश अवलेह, शृङ्गभस्म, चन्द्रप्रभा वटी, दशमूलारिष्ट, अर्जुनत्वक, प्रभाकर वटी, हृदयार्णव रस, कुमार्यासव, स्वर्णमाक्षिकभस्म आदि कफज हृदयरोग में लाभदायक है।

कुछ विशिष्ट प्रयोग

१—कफज हृदय रोग किशमिश भिगोकर पानी में उबाल कर उसमें जरा सा अदरक का रस मिलाकर सेवन कराने से कफ प्रकोप का नाश होता है।

२—कफज हृदय रोग में वर्द्धमान पिप्पली १–१ रत्ती चूर्ण से आरम्भ कर १–१ रत्ती कारीवर्धन क्रम चालू करें। प्रयोग काल में केवल गाय का दूध या दलिया का ही सेवन करायें।

३—कफज हृदय रोग में १२५ मिलीग्राम से २५० मिलीग्राम लक्ष्मीविलास रस (योग रत्नाकर) को दशमूल के काढ़े के साथ सेवन कराना भी गुणकारी होता है।

४—लौंग का क्वाथ या उसका शहद के साथ अवलेह बनाकर सेवन करें। अनुपान के तौर पर शृङ्ग भस्म के साथ दे सकते हैं।

० लौंग, जौ को समभाग लेकर कूट-पीस कर बराबर की शक्कर मिलाकर रख लें। १० ग्राम की मात्रा में सुबह-शाम बकरी के दूध के साथ सेवन कराने से हृदयशूल में फौरन राहत मिलती है।

५—विश्वेश्वर रस २५० मिलीग्राम हृदयार्णव रस २५० मिलीग्राम, मकरध्वज १२५ मिलीग्राम—तीनों को मिलाकर एक मात्रा हुई। ऐसी एक मात्रा दिन में चार बार मधु व अर्जुन त्वक् की खीर से सेवन करायें।

इसके अलावा पूर्ण चन्द्रोदय रस ३० मिलीग्राम और पिप्पली चूर्ण १२५ मिलीग्राम को सुबह शाम शहद के साथ रोगी को दें।

६—यदि हृदय रोगी की व्याकुलता असह्य हो तो उसे निम्नलिखित वेदनाहर फांट का सेवन करायें :—

अपामार्ग की जड़ दो भाग, कासनी के बीज दो भाग, गुलाब के फूल दो भाग, नीलकमल दो भाग, गाजबान दो भाग, खजूर दो भाग, किशमिश दो भाग और जायफल एक भाग—सबको मिलाकर रख लें।

मात्रा—५ ग्राम से १० ग्राम। इसे खौलते हुए १२५ ग्राम जल में डालकर ढक्कन बन्द कर दें और ठंडा होने पर सेवन करें। चाहो तो इसमें शहद भी मिलालें।

त्रिदोष जनित हृदय रोग

त्रिदोषज अथवा सन्निपात जनित हृदय रोग में दोषप्रकोप को कम करने का प्रयत्न करना चाहिये। अर्जुनछाल, पुष्करमूलादि चूर्ण यथोचित अनुपान से सेवन कराने से लाभ मिलता है। त्रिदोष गुल्म जनित हृदय रोग में वरुणादि क्वाथ, हिंग्वादि चूर्ण, दन्ती हरीतकी, गुल्मकुठार, प्रवाल पंचामृतादि योग अन्य हृदय रोग नाशक औषधि के साथ देने चाहिये।

सन्निपातज हृदय रोग में रत्नाकर रस, हृदयरोगचिन्तामणि रस, बृहत् वातचिन्तामणि रस, नागार्जुनाभ्रक भस्म, नारदीय लक्ष्मीविलास रस, याकूती, जवाहरमोहरा स्वर्ण भस्म, चांदी भस्म, मुक्ता पिष्टी, अर्जुनत्वक् क्षीरपाक, शृङ्ग भस्म, महावातरस, द्राक्षासव, कुमार्यासव, अभयारिष्ट, पीली कन्नेरफल, मूल, छाल अत्यल्प मात्रा में।

भयंकर हृदय रोग में—

(१) हृदयरत्नाकर रस (हीरा घटित) १ गोली,

अर्जुन की छाल के १५ ग्राम रस के साथ (अथवा ६ ग्राम अर्जुन घनसत्व चूर्ण के साथ) उसमें ६ ग्राम शहद मिलाकर चटा दें।

(२) योगेन्द्र रस सुबह शाम हिंग्वादि चूर्ण ६ ग्राम के साथ सेवन करायें।

(३) सुबह शाम बृहत् वातचिन्तामणि रस की एक गोली दें। दोपहर को योगेन्द्र रस की एक गोली और रात को सोते समय नौ बजे हिंग्वष्टक चूर्ण ६ ग्राम गर्म जल से दें।

क्रमिज हृदय रोग

जब रोगी त्रिदोष के हृदय रोग में तिल, दूध, गुड़ आदि पदार्थों को खाता है तब उसके हृदय में ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। मर्म के किसी एक स्थान में उस समय रस संक्लेदित हो जाता है, तब उत्क्लेद से क्रमि हो जाते हैं, वे किसी एक स्थान में पैदा हुए क्रमि इधर-उधर घूमते और खाते फिरते हैं। क्रमि हृदय में आस-पास के रक्त के जरिये पहुँच जाते हैं और उनके काटने पर रोगी के हृदय में सुई चुभने जैसी पीड़ा महसूस होती है। हृत्प्रदेश पर खुजली सी चलती मालूम होती है, उवकाई आती है, हृल्लास (मुख में पंछा छूटना), नेत्रों के सामने अंधेरा सा दीखना, अरुचि, थुकथुंकी, मुख का सूखना, नेत्रों का रंग मटमैला होना, शोथ आदि लक्षण दिखाई देते हैं तथा नेत्र की पुतली के श्वेत भाग में काले-काले बिन्दु भी दिखाई देते हैं। क्रमियों की परीक्षा में यह बात अवश्य होती है। शरीर के किसी भी भाग में क्रमि पड़ जायें तो फौरन नेत्र की पुतली के सफेद भाग में काले-काले बिन्दु दृष्टिगोचर होते हैं।

क्रमिरोग अनुगत होने पर या स्वतन्त्र रूप से क्रमिज हृदय रोग होने पर हिंगु, विडंग, कम्पिलादिकों के योग, बृहद् पूर्णचन्द्र रस, पंचामृत पर्पटी, क्रमिघातिकी वटिका आदि को निर्गुण्डी बीज-चूर्ण या विडंग चूर्ण में रख कर मुस्तादि क्वाथ के अनुपान से सेवन करायें।

क्रमिज हृदय रोग में उपयोगी नुस्खे

१. क्रमिमुद्गर रस ५०० मिलीग्राम को शहद के साथ दें और भोजन के बाद विडंगारिष्ट ५ ग्राम, अर्जुनारिष्ट ५ ग्राम में समान जल मिलाकर पिलावें तथा छाती पर महादशमूल तेल की मालिश करें।

२. विडंगादि चूर्ण २ ग्राम, अर्जुनादि चूर्ण २ ग्राम, ऐसी एक मात्रा दिन में दो।

३. क्रमिमुद्गर रस (योगरत्नाकर) ४ ग्राम और लक्ष्मीविलास रस १ ग्राम को मिलाकर घोटकर एक जान कर ले। इस मिश्रण की ५०० मिलीग्राम की मात्रा सुबह शाम शहद के साथ सेवन करायें। भोजन के बाद विडंगारिष्ट १० ग्राम समभाग जल के साथ सेवन करायें और हृदयस्थल पर पंचगुण तेल मलें।

४. विडंगादि चूर्ण १ ग्राम, अर्जुनादि चूर्ण १ ग्राम, क्रमिमुद्गल रस २५० मिलीग्राम। सबको मिलाकर तीन मात्रा बनालो, एक मात्रा दिन में दो बार प्रातः सायं जल के साथ दें। भोजन के बाद अर्जुनारिष्ट १० ग्राम समान जल के साथ सेवन करायें। ●●

पृष्ठ २७९ का शेषांश

रोग के बारे में विस्तार से लिखने के बाद में फिर अपने निकट सम्बन्धी रोगी पर आता हूं जिसको अस्पताल में प्रवेश करा दिया गया था। वास्तव में इस रोगी के साथ अन्य उपद्रव भी थे, जैसे पुराने श्वास (*Chronic asthma*) का रोग जो प्रारम्भिक खांसी के बाद उत्पन्न हुआ था, आदि। ऐक्स-रे करने पर देखा गया कि रोगी के दोनों ही फैंफड़े बिल्कुल बेकार से हो रहे थे।

चिकित्सक लक्षणानुसार चिकित्सा कर रहे थे। देखने में आया कि चिकित्सा द्वारा रोगी की कई शिकायतें दूर हुईं और आज भी वह स्वयं को स्वस्थ सा समझता है। अस्पताल से वापस आने के बाद वह रोगी एक माह मेरे पास ही रहा और मैं उसकी नित्यप्रति परीक्षा करता रहता था। उपद्रवों को उभरने न दिया गया और रोग के कारणों पर ध्यान देकर चिकित्सा चलती रही जिसमें डिजिटेलिस एवं श्वास को न होने देने की औषधियां मुख्य थीं। अब वह पहले से बहुत अच्छा है।

जैसा कि मैंने पहले ही लिखा है कि यदि हृद् आंकुचन दर की अनियमितता को नियंत्रण में, विभिन्न उपायों द्वारा, रखा जा सके तो रोगी वर्षों जीवित रह सकता है, परन्तु परिस्थिति कब कैसी हो जाय, उसके बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। बहुत कुछ हृद्पेशी के स्वयं के बल पर भी आधारित है। रोगी को पूर्ण विश्राम एवं पौष्टिक आहार नितांत आवश्यक है। समय-समय पर अस्पताल में जाकर परीक्षा करा लेना उचित रहेगा जिससे विद्युत्हृद्लेख से हृदय की स्थिति का ज्ञान भी हो सकेगा एवं अन्य आवश्यक निर्देश भी मिल सकेंगे। ●

श्लीपद रोग और उसकी चिकित्सा

लेखक–प्राणाचार्य श्री पं० हर्षुल मिश्र बी० ए० (आनर्स), आयुर्वेद प्रवीण
रायपुर [मध्य प्रदेश]

प्राणाचार्य मिश्रवर्य का श्लीपद पर यह आयुर्वेद एवं आधुनिक विज्ञान सम्मत सुन्दर लेख इसी प्रकरण में इसलिए दिया जा रहा है कि रसायनियों का सम्बन्ध भी प्रत्यक्षतया रक्तवह संस्थान के साथ ही है। श्रीयुत् मिश्र जी बहुत परिश्रम और गवेषणा के बाद ही विषय का सटीक प्रतिपादन करते हैं। हिन्दू-विश्वविद्यालय में श्लीपद के निवारण हेतु शाखोटक का प्रयोग कर सफलता प्राप्त की गई है। एक वहीं के शिक्षा प्राप्त वैद्य इसकी छाल के घनसत्व के कैपसूल बना कर भी प्रयोग करते और लाभ का दावा करते हैं। लेप, मोदक, लौह के ३ हर्षुल योग उनकी अपनी अनुभूत चिकित्सा के प्रकटायक हैं। आशा है वे स्वस्थ सुप्रसन्नमनसा इसी प्रकार सुधानिधि पर कृपा वर्षा करते रहेंगे।

—मदनमोहनलाल चरौरे।

श्लीपद का आयुर्वेदीय संक्षिप्त परिचय तथा चिकित्सा सूत्र

"श्लीपदः पादशोथः स्यान्मेदः कफसमुद्भवः।
नासाकर्णाक्षिहस्तादावप्याहुः केऽप्यमुंपुनः॥"

श्लीपद स्वभावतः स्थायी उत्तरोत्तर बढ़ने वाला, वर्षों तक एक सा बना रहने वाला अंग शोथ है; परन्तु सामान्यतः इसकी प्रसिद्धि पादशोथ के रूप में ही होने के कारण इसे श्लीपद कहा गया है। दुष्ट मेद और दूषित कफ के कारण ही, इसकी उत्पत्ति शरीर में होती है। इसकी सामान्य ख्याति के अनुसार श्लीपद शब्द का अर्थ है, "शिलावत्पदंश्लीपदं"—जिस रोग में पत्थर के समकक्ष कड़ा और भारी पैर हो जाय, वह श्लीपद। श्री वाग्भट के अनुसार धीरे-धीरे बढ़ने वाली मोटी और कठोर सूजन श्लीपद है :—

"शनैः शनैर्घनं शोफं श्लीपदं तत्प्रचक्षते"।

यद्यपि श्लीपद प्रधानतः मेद कफोद्भव है, तथापि आयुर्वेद में उसके तीन प्रकार हैं :—

(१) वातज श्लीपद (२) पित्तज श्लीपद (३) कफज-श्लीपद।

१. **वातज श्लीपद के लक्षण—**

"परिपोटयुतं कृष्णमनिपित्तरुजं खरं च वातात्"।

वात से उत्पन्न श्लीपद में फटी हुई (दरार युक्त) काले वर्ण की, अकारण पीड़ा करने वाली सूजन अथवा रोगजन्य उभार होते हैं।

२. **पित्तज श्लीपद के लक्षण—**

"पित्तात्तु पीतं दाह ज्वरान्वितम्"।

पित्त के श्लीपद में पीले वर्ण की दाह करने वाली, तीव्र ज्वरयुक्त सूजन होती है।

३. **कफज श्लीपद के लक्षण—**

"कफाद्गुरु स्निग्धं अरुक् शोथं बृहत् स्थिरम्"।

कफ के श्लीपद में भारी, चिकनी, दर्द नहीं करने वाली बड़ी सूजन होती है।

नोट—यह कफज श्लीपद ही दुष्ट मेद और दूषित कफ से उत्पन्न होता है। इसे साधारण जन हाथीपांव कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में इसी का नाम एलफेंटाइसिस (Elephantacis) है।

यद्यपि इस श्लीपद रोग की प्रसिद्धि अधिकतर, पाद-शोथ के रूप में ही है; तथापि यह रोग, भगोष्ठों में, मुख के ओठों और जबड़ों में, अण्डकोषों में, नाक कान में, नेत्र की पलकों में, पुरुष के शिश्न में, हाथों में भी होते हुये देखा गया है।

वातज, पित्तज, कफज तीनों श्लीपद मूलतः मेदकफोद्भव हैं। यही कारण है, कि गुरुता घनता सभी श्लीपदों में समान रूप से विद्यमान् हैं। इसलिये श्लीपद रोग में कफनाशक उपचार और चिकित्सा ही सुखावह है।

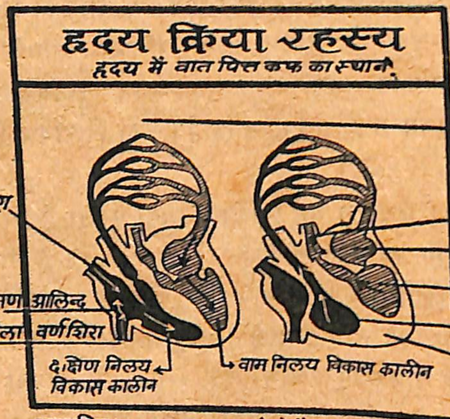
आधुनिक वैज्ञानिक विवेचन के आधार पर श्लीपद रोग का निदान और सम्प्राप्ति

आधुनिक सूक्ष्मदर्शकयन्त्र (माइक्रोस्कोप) के द्वारा, अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाले अनेक अति सूक्ष्म रोगाणुओं की खोज निकाला है। तदनुसार श्लीपद को उत्पन्न करने वाले रोगाणुओं का भी पता लगाया जा चुका है। श्लीपद को उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म रोगाणु का नाम है फाइलेरिया सांग्विनिस होमिनिस (Filaria Sangvinis hominis) ये कृमि श्वेत वर्ण के होते हैं। नरमादा कृमि रस्सी की तरह वा पेंच की भांति एक दूसरे से लिपटे हुए होते हैं। नर कृमि से मादा कृमि द्विगुण लम्बा होता है। इन सूक्ष्म कृमियों की लम्बाई १/१० इंच तक होती है। मनुष्य के शरीर में पहुँचने पर, इनकी प्रजनन शक्ति इतनी तेज हो जाती है, कि ६ माह के अन्दर इस एक सूक्ष्म कृमि के जोड़े से कई लाख सूक्ष्म कृमि उत्पन्न हो जाते हैं जब पैर का श्लीपद बहुत पुराना मोटा घना और भारी हो जाता है, दूसरे शब्दों में ठीक हाथी के पैर के आकार का मोटा हो जाता है, उस समय कृमि की संख्या १ करोड़ से ऊपर पहुंच जाती है।

इस श्लीपद रोगाणु का, मनुष्य के शरीर में प्रवेश, उन मच्छरों के काटने से होता है, जिनकी प्रजनन क्रिया, दूषित पुराने पानी के गढ़े में होती है। इन मच्छरों का वैज्ञानिक नाम क्युलेक्स केटी जीनस है। क्युलेक्स केटी जीनस रात्रि में सोते समय मनुष्यों को काटता है तथा क्लुलेक्स केटीजीनस प्रायः दिनमें, मनुष्यों को दंश करता है। इन मच्छरों को साधारण बोलचाल में फाइलेरिया के मच्छर कहते हैं।

रोगाणुओं से रोगोत्पत्ति क्रम

प्रायः फाइलेरिया के मादा मच्छर के दंश से ही श्लीपद रोग उत्पन्न होता है। जब मच्छरी श्लीपद रोगी को दंश करती है, तब उसके पेट में, खून के साथ, फाइलेरिया नामक सूक्ष्म रोगाणु चले जाते हैं। ये सूक्ष्म रोगाणु, उस मच्छरी के शरीर में पनपते रहते हैं जब वह मच्छरी फिर किसी स्वस्थ्य मनुष्य को दंश करती है, तो फाइलेरिया के सूक्ष्म रोगाणु, मच्छरी की लम्बी सूंड की लार में लिपटे हुए, मनुष्य शरीर की लसिका वाहिनियों में पहुँच जाते हैं। ये कुछ दिन लसिका ग्रन्थियों में तथा लसिका वाहिनियों में निवास करते हुए, अपने मैथुनी चक्र द्वारा अपनी संख्या बढ़ाते रहते हैं। ज्यों-ज्यों उनकी संख्या बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वे लसिका वाहिनियां और रक्त वाहिनियों के माध्यम से सारे शरीर की परिक्रमा करने लगते हैं। शरीर के जिस अंग में, उन्हें संचित होने हेतु, पर्याप्त स्थान मिलता है, वहीं वे अपना अड्डा जमा लेते हैं। पैरों की ओर, लसिका एवं रक्त आदि का अनुलोम प्रवाह,



हृदय क्रिया रहस्य का समझने से वैद्य हृदय रोग का सफल चिकित्सक बन सकता है।

इस चित्र में हृदय कपाटों व हृदय शब्दों को नहीं दिखाया गया है। हृदय के ४ कोष्ठ प्रदर्शित हैं!

रणतया सर्व रोगों का प्रभाव हृदय पर पड़ता है। इसी से हर रोग के लिये नाड़ी परीक्षा की जाती है। हृदय रोग का अधिष्ठान निश्चित करना बड़ा कठिन व दुष्कर कार्य है क्योंकि समीप के किसी अंग के रोग में भी हृदय रोग ग्रस्त होजाता है। ब्लडप्रैशर जिसे आयुर्वेद शास्त्र में रक्तवह स्रोतस प्रकोप कहते हैं को हृदय रोग मानना एक बड़ी विडंबना है क्योंकि उसका परीक्षण हृदय पर न होकर रक्तवह धमनी पर होता है अतः अधिष्ठान की दृष्टि से यह हृदय रोग न होकर रक्तनलिका रोग है।

उदावर्त, उदानवायु, व्यानवायु की विकृति से भी उग्र हृदय रोग हो सकता है जो वायुशमन से सरल और आश्चर्यजनक ढंग से शान्ति प्रदान करता है। और आयुर्वेद अद्भुत चमत्कार दिखाता है। चिन्ता के कारण जो हृदय रोग होता है उसमें यान्त्रिक परीक्षण निरर्थक ही होता है। चिकित्सा की दृष्टि से अधिकांश यांत्रिक परीक्षण अनुपयोगी होते हैं।

नाड़ीगति व श्वासगति के सम्बन्ध भी प्राच्य दृष्टि से अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और इनका नियंत्रण भी आश्चर्यजनक प्रभाव दिखाता है। इनका नियंत्रण नस्य, मोहक गंध द्रव्य, आसन परिवर्तन, वाम या दक्षिण नासावरोध, मेरुदण्ड अभ्यंग, सेक, शिराव्यध आदि द्वारा होता है।

चिन्ता की भांति व्यायाम मद्य सेवन का प्रभाव भी हृदय पर तुरन्त पड़ता है और श्वास व नाड़ी की गति बढ़ जाती है। गर्मी सर्दी का भी प्रभाव हृदय पर पड़ता है। इसलिये निदान में ऋतुकाल का विचार किया जाता है आजकल तेज बिजली के पंखे का प्रयोग भी हृदय फुफ्फुस को आघात पहुंचाता है और शिरा-मार्ग से औषधियों का प्रवेश भी हृदय रोग का प्रधान कारण हो गया है।

हृदय के अनाहत शब्द-जन्य रोगों का ज्ञान आज भी आधुनिक विज्ञान को नहीं है। हृदय अनैच्छिक अंग होते हुए भी भौतिक कारणों से प्रभावित होता है और हृदय का कार्य बढ़ जाता है। ये ही हृदय रोग के 'समुत्थान-विशेष' कहलाते हैं। हृदय के शब्द जिन्हें श्रवण यंत्र से सुना जाता है केवल साधक पित्त क्षेत्र में ही सुनाई देते हैं।

वृद्धावस्था के कारण भी हृदय रोग होता है। वृद्धावस्था में जैसे सब अंग शिथिल होते हैं वैसे ही हृदय भी शिथिल हो जाता है और उसकी कार्यक्षमता घट जाती है और थोड़ा सा भी परिश्रम का प्रभाव तुरन्त हृदय पर पड़ता है।

यहां तक हृदय रोग के विकार प्रकृति, अधिष्ठान व कारण विशेष का विवेचन हुआ।

हृदय रोगों के निदान व चिकित्सा की सरल पद्धति

सब रोगों का निदान नाड़ी परीक्षा से करने की बात कही जाती है पर हृदय रोग का निदान निश्चय ही नाड़ी परीक्षा से होसकता है। हृदय रोगों की नाड़ी परीक्षा बायें हाथ की नाड़ी में मध्यमा अंगुली के नीचे की नाड़ी परीक्षण से की जाती है।

यह नाड़ी परीक्षा केवल अभ्यास से आ सकती है पर यह निश्चित रोग निदान पद्धति है। हृदय रोगों की नाड़ी परीक्षा ज्ञान हेतु आनन्द स्वामी की नाड़ी-दर्शन पुस्तक पढ़नी चाहिये और उसी के अनुसार अभ्यास करना चाहिये।

आधुनिक कार्डियोग्राम से जितना हृदय रोग ज्ञान होता है वह नाड़ी परीक्षा के ज्ञान का दशमांश मात्र होता है। पर नाड़ी परीक्षा न आने पर भी चिकित्सा में वैद्य को हिचकने की कोई बात नहीं है।

हृदय रोग का निश्चित अधिष्ठान, विकार प्रकृति व रोग उत्पन्न होने का यदि कोई विशेष कारण हो तो उसको जानने का यत्न करना चाहिये।

रोगी के सब कष्टों को लिख लेने से बड़ा अच्छा विश्लेषण हो सकता है। प्रत्येक कष्ट का अधिष्ठान तथा-वह अधिष्ठान वातपित्तकफ में से किसका स्थान है तथा वात के कष्ट कितने हैं, पित्त के कष्ट कौन-कौन से हैं या कफ के कष्ट कौन-कौन से हैं। इनका विवेचन करने से, रोग किस प्रकृति का है निश्चित हो जाता है तथा रोग का अधिष्ठान भी। समीप का कौन सा अधिष्ठान रोग से प्रभावित होता है यह भी देखना होता है।

रोग दोष वृद्धिजन्य है या क्षयजन्य यह तो निश्चय ही जानना चाहिये। इन सब कष्टों को लिख लेने से सब प्रकार का भ्रम दूर हो जाता है और चिकित्सा के लिये निश्चित आधार मिल जाता है।

माधवनिदान में हृदयरोग के जितने भेद किये गये हैं वैद्य का काम चिकित्सा के लिये उन्हीं चल जाता है। केवल आगन्तुक रोगों की चिकित्सा में उस भेद से काम नहीं चलता पर आगन्तुक रोगों की चिकित्सा पर भी वैद्यसमाज का अनुभव अति प्रभावकारी है और वरुणा की छाल दारुहरिद्रा मंजिष्ठा आदि अति अद्‌भुत कार्य करते हैं चाहे ये आगन्तुक रोग सपूय हों या अपूय।

दोषज हृद्रोग चिकित्सा

अधिकांश हृदयरोगी वृद्ध कफ, पित्त या वात के रोगी होते हैं। पर कुछ रोगी क्षीणदोष वाले भी होते हैं।

वृद्ध दोषों की स्थिति में पंचकर्म का प्रयोग अति अद्‌भुत प्रभाव करता है। शास्त्र में भी हृदय रोग चिकित्सा में पंचकर्म कराने का निर्देश किया गया है।

कफज हृद्रोग—में स्वेदन लंघन तथा वमन कराना अति हितकारक है। जैसे भारवाही के शिर का बोझ उतरने से शान्ति मिलती है वैसे ही वमन कराने से सब कफादि मलों के निकलने से शरीर हल्का हो जाता है तथा फुफ्फुस हृदय का काम कम हो जाता है। परिणामतः विश्राम से अति लाभ होता है।

पित्तज हृद्रोग में भी—वमन विरेचन दोनों कराना चाहिये इसमें रोगी को अपार शान्ति मिलती है। इसके अतिरिक्त शीतल परिषेक व विधिवत् अभ्यंग व उत्सादन से सद्यः शान्ति मिलती है।

वातज हृद्रोग में भी—स्नेहन स्वेदन तथा स्निग्ध वस्ति से अद्‌भुत लाभ होता है तथा ग्लूकोज चढ़ाने से कई गुना लाभ होता है। दोषक्षयजन्य हृद्रोग में भी स्नेहन तथा पोषक वस्ति से आश्चर्यजनक लाभ मिलता है।

निदान परिवर्जन

हृदय पर कार्यभार अधिक पड़ने से ही हृदयरोग होता है। इस कारण परिश्रम व चिन्ता का परित्याग कुशलता से कराना चाहिये। विश्राम करना रोगी के लिये परम हितकर है। आसन व श्वास कर्म नियंत्रण से भी सद्यः लाभ मिलता है। दोषानुकूल सुगन्धित द्रव्य कर्पूर, इतर आदि सुंघाना यदि कफजरोग हो तो शुण्ठी चूर्ण व गुड़ मिलाकर पोटली बनाकर सुंघाना। कफज रोगों में विविध नस्यों से भी लाभ मिलता है। स्वेदन सेक या अभ्यंग का प्रयोग भी बुद्धिपूर्वक दोषविचार के साथ करना चाहिये। संगीत श्रवण से भी रोगी को सद्यः शान्ति मिल सकती है।

मनुष्य मुख मार्ग से पोषक आहार ग्रहण करता है पर कफज हृद्रोग में लंघन कराकर वैकल्पिक मार्ग से पोषणवस्ति से पोषण देने पर आहार पहुंचाने का काम किया जा सकता है और उसका कोई विशेष भार हृदय पर नहीं पड़ता।

जो वैद्य हृदय रोगों में पंचकर्म-वमन विरेचन करेगा वह ऋषियों के नाम को ऊंचा करेगा। बढ़ा हुआ ब्लड-प्रैशर या कफज हृद्‌रोग में वमन से आशातीत लाभ होता है।

चिकित्सा का चमत्कार

१. मोती—भस्म को कमलपुष्प स्वरस से भावना देकर हृद्रोग में आंख मूंदकर प्रयोग करें निश्चित लाभ होगा। मोती के योग बृ० वातचिन्तामणि आदि निश्चित



लाभ करते हैं। असली कच्चे मोती या रुद्राक्ष को भी पानी में डुबोकर वह जल पिलाया जा सकता है। मोती वातज व पैत्तिक हृद्रोग में अधिक प्रभावकारी है। लोग मुक्ताशुक्ति असली की अच्छी भस्म बनाकर भी यशोपार्जन करते हैं।

२. कुचला—भी दय हृरोग पर अति प्रभावकारी औषधि है यह कफ व पित्तज हृद्रोग में लाभ करता है।

३. अर्जुन—त्वक् चूर्ण की महिमा अति प्रसिद्ध है। यह कफ पित्त हृद्रोग में अतीव गुणकारी है। इसका चूर्ण व कषाय अति प्रभावकारी है। यदि गो घृत सुलभ हो तो अर्जुन घृत महा प्रभावकारी सिद्ध होता है। कफज रोग में अर्जुनारिष्ट उपादेय है।

४. अकीकभस्म—विधिवत् परिश्रम से बनावें तो हृदय रोग में निश्चय ही प्रभावकारी कार्य करेगा।

५. धवलबरुआ—कफ व वातज हृद्रोग में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। अनुपान में मधु से घृत शर्करा अधिक लाभकारी है।

इन पांच द्रव्यों से प्रत्येक चिकित्सक हृदय रोग विशेषज्ञ बन सकता है यदि साथ में वमन विरेचनादि का भी प्रयोग किया जाय। शरीर क्रिया विज्ञान का विशेष श्वास नियंत्रण व आसन परिवर्तन व शीत उष्ण परिषेक व अभ्यंग से सद्यः शान्ति दिला सकता है।

आगन्तुक हृद्रोग

आगन्तुक हृद्रोग की चिकित्सा में वैद्य जरा भी कमजोर नहीं है वरुणा की छाल हरिद्रा दारुहरिद्रा व मंजिष्ठा इनके क्वाथ से सब प्रकार की हृदय विद्रधि, पूयजन्य स्थिति में निश्चित लाभ मिलता है और पूय मल-मूत्र-मार्ग से निःसृत होकर समूल रोग का नाश होता है। बहुत से रोगी डरपोक होते हैं तथा अनेक पाश्चात्य चिकित्सक उनको इतना भयभीत कर देते हैं कि वे परेशान रहते हैं। चतुर चिकित्सक को उन्हें आश्वस्त करके विविध विहार प्रयोग से सद्यः शान्ति व बल देने से ही रोगी को आश्वस्त किया जा सकता है अतः चिकित्सक की बुद्धि व वाणी में इतना बल होना चाहिये कि रोगी पर उसका प्रभाव पड़े और उसमें हिम्मत आ जाय। हिम्मत पैदा करने में ही चिकित्सक का कौशल है।

आहार विहार आसन, श्वास नियंत्रण, अभ्यंग शीत या उष्ण औषधि द्रव्यों से अधिक सद्यः प्रभावकारी होते हैं और चिकित्सक अपने कौशल से यशोपार्जन करता है।

कुछ ध्यान में रखने योग्य विचार जो हृदय रोग से आपको बचावेंगे

१. दैनिक चर्या (आहार-विहार) का समय निर्धारित रखें।

२. शाकाहारी बनें; मांसाहार, मदिरापान, धूम्रपान से अपनी सुरक्षा रखिये।

३. फैशन, दिखावा और स्तर से चिन्तित होकर स्वास्थ्य को खतरे में न डालें।

४. सदैव प्रसन्न चित्त रहिये। चिन्ता करने या व्यथित रहने से क्या लाभ ?

५. हृदय रोगी प्रायः दूसरों को सम्मान देने से कतराते हैं, पर दूसरों से अपने आदर सम्मान की पूरी आशा रखते हैं ये दोनों बातें बुरी हैं विचारों का हृदय पर बोझ पड़ता है।

६. हमें अपने पर अधिक केन्द्रित अथवा आत्मबली नहीं बनना चाहिये। आशा और तृष्णा हृदय को मथते है।

७. अधिक शालीन (Sensitive) स्नेही, भावुक और बहिर्मुखी तनाव में रहने वाले मानव भी हृदय रोगी बन जाते हैं। इस रोग का आपके व्यक्तित्व और चरित्र से भी घनिष्ट सम्पर्क रहता है। अतः आत्म-विश्वासी बनें खान-पान सदा बनाये विचार परोपकारी हों तो हृदय में शान्ति रहेगी।

—डा० विमला अग्रवाल, बुलन्दशहर।

हृद्रोग-चिकित्सा

वैद्यप्रवर श्री जगदम्बाप्रसाद श्रीवास्तव, प्रधान चिकित्सक, अरोल [कानपुर]

अपनी सहज वृत्ति के अनुरूप ही हृद्रोगों की चिकित्सा पर इस संग्रह में कई योगों का समावेश किया गया है। योग निःसन्देह उपयोगी और चिकित्सक की कीर्तिकौमुदी को समाज पर प्रकाशित करने वाले हैं।
—मदनमोहनलाल चरौरे।

१. वातिक हृद्रोग—

बृ० वातचिन्तामणि १ रत्ती, मुक्ता पिष्टी ½ रत्ती, शृङ्ग भस्म १ रत्ती, नागार्जुनाभ्र रस ½ रत्ती। मात्रा–१

अनुपान—अर्जुन की छाल और रुद्राक्ष १–१ माशा दूध में घिसा हुआ या वरियारा और अर्जुन २-२ माशे का क्वाथ या इनसे सिद्ध दूध या सिद्ध घृत।

२. पित्तज हृद्रोग—

कामदुधा रस १ रत्ती, मुक्तापिष्टी ½ रत्ती, प्रवालशाखा पिष्टी १ रत्ती, स्वर्णमाक्षिक भस्म १ रत्ती, अर्जुन घनसत्त्व २ रत्ती। मात्रा—१।

अनुपान—अर्जुन क्षार, अर्जुनसिद्ध घृत, मुनक्का या किसमिस का क्वाथ या केवल दूध से।

नोट—मन्थर ज्वर में जब प्रलाप हो या रक्तस्राव हो तब भी इसका प्रयोग उचित है।

३. कफज हृद्रोग—

मल्ल चन्द्रोदय ½ रत्ती, कस्तूरी ¼ रत्ती, पीपलचूर्ण २ रत्ती, नागार्जुनाभ्र रस ½ रत्ती। मात्रा—१।

अनुपान—उष्ण अदरक स्वरस ३ माशे में २० बूंद मधु मिलावें उसी में दवा मिला चटावें।

नोट—जब ज्वर ९७° से ऊपर न आवे, शीतांगता होवे तब भी इसका प्रयोग करें।

४. त्रिदोषज हृद्रोग—

बृ० वातचिन्तामणि १ रत्ती, बृ० कस्तूरीभैरव रस १ रत्ती, सिद्ध मकरध्वज ½ रत्ती। मात्रा—१।

अनुपान—अर्जुन सिद्ध क्षीर।

नोट—अभाव में जवाहरमोहरा २-२ रत्ती, ३ मा० मधु से सेवन करावें।

५. कृमिज हृद्रोग—

कृमिमुग्दर रस १ रत्ती, लक्ष्मीविलास रस १ रत्ती, बायविडंग चूर्ण ४ रत्ती, अर्जुन घनसत्त्व २ रत्ती।

मात्रा—१। अनुपान—विडंगारिष्ट २ तो०।

अनिद्रा प्रलाप—

बृ० वातचिन्तामणि १ रत्ती, बृ० ब्राह्मी वटी १ रत्ती, संजीवनी वटी ४ रत्ती, चन्द्रकला रस १ रत्ती, सर्पगन्धा चूर्ण २ रत्ती। मात्रा—३।

सबको खरल कर ३ पुड़ियों में रखें। ब्राह्मी स्वरस ३ माशे या शंखावली स्वरस ३ माशे या रुद्राक्ष ४ रत्ती के घासेसे में २०-३० बूंद मधु मिला उसी में पुड़िया डालकर चटावें। या गुलाब अर्क ३ माशे में खरल कर पिलावें। या वैसा ही मुख में डाल दें।

गुण—इसके प्रयोग से वातपित्तोल्बणता शमन हो जाती है सन्निपातिक रोगी का प्रलाप, अशक्ति दूर होती है और निन्द्रा आ जाती है। यह रक्तरोधक और अन्तर्दाह शामक है। यदि वातचिन्तामणि न मिले तो शेष का प्रयोग करें। यदि चन्द्रकला रस न मिले तो शेष का प्रयोग

—शेषांस पृष्ठ ३०६ पर

रक्तदाब–आधुनिक सभ्यता का एक व्यापक रोग

लेखक—कवि० देशराज बी. ए. आयुर्वेदाचार्य, राजेन्द्रनगर, नई दिल्ली–६०

कविराज जी ने सरल भाव से अपने विचार रक्तदाब, जिसे रक्तचाप या रक्तभार भी कहा जाता है, विषय पर प्रकट कर हम सभी को कृतार्थ किया है। आपने सर्पगन्धा के अन्धाधुन्ध प्रयोग की भर्त्सना भी की है। रक्तदाब विषय पर सुधानिधि पूरे दो लघु विशेषांक पूर्व में ही दे चुका है। इसलिए इस पर अन्य लेख नहीं दिये जा रहे। कविराज महोदय का दृष्टिकोण सुस्पष्ट एवं मौलिक होने से ग्राह्य है।
---गोपालशरण गर्ग।

हमारे देश में आज रक्तदाब या रक्तचाप का जितना भयंकर और व्यापक प्रसार देखा जाता है उतना इसके पहले कभी नहीं देखा गया। यह सभ्य समाज एवं मेधावी लोगों में अधिकतर पाया जाता है। हृदय प्रेरित रक्त के वेग तथा हृदय के आकर्षित वेग को रक्तभार कहते हैं अथवा रक्तवाहिनियों की दीवालों पर रक्त का जो दबाव पड़ता है उसे रक्तभार कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है–संकोचीय, विकाशीय। इस रोग का सम्बन्ध शरीर और मन दोनों से है। वातपित्त प्रकृति का मनुष्य मिथ्याहार व्यवहार के कारण शारीरिक श्रम को त्यागकर जब मानसिक श्रम में ही रत रहता है तो इस दुखदरोग का प्रारम्भ होता है, वायु और पित्त की अधिकता से रक्तवह और नाड़ी संस्थान प्रभावित होते हैं और दोनों संस्थानों में वायु पित्त विकृतिजन्य लक्षण उपलब्ध होते हैं। ऐसे आहार विहार जो मनुष्य के प्राकृत बल को क्षीणकर वायु-पित्तवर्धक होते हैं यथा मद्य, गुरु अन्न, चाय, तबाम्खू, कॉफी, सिरका, मिरच मसाले आदि इस रोग की उत्पत्ति के कारण बनते हैं। काम, भय, शोक, चिन्ता, क्रोधादि मानसविकारों से विषम आहार विहारों से शारीरिक मानसिक श्रम से भी रक्तचाप का रोग हो जाता है। आज कल रोगी रोटी जुटाने की चिन्ताओं से पीड़ित मानव रक्तचाप का शिकार अवश्य होगा। भारतीय सात्विक आहार-विहार की प्रथा लुप्त प्रायः हो चुकी है। राजस और तामस प्रवृतियां जोर पकड़ रही हैं। ऐसे परिवेश में सुख शान्ति के अभाव के कारण इस रोग से बचना सम्मभव जान पड़ता है।

रक्तभार या रक्तदाब या रक्तचाप को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए हृदय, धमनी, शिरा, केशिका तथा रक्त संचार के क्रम का ज्ञान आवश्यक है। रक्तचाप के लक्षण शिरःशूल, शिर का भारीपन, भ्रम, देह भारी श्रान्त मालुम पड़ना, चित्त स्मृति भ्रंश, हृदय का स्पन्दन, छाती और हृदय में शूल, अधिक क्रोध का होना, कभी-कभी कर्ण नासादि छिद्रों से रक्तस्राव होता है। वृक्कक्रिया और मस्तिष्क में विकार आ जाता है। धमनियों में वक्रता और कठिनता आ जाती है, आदि-आदि। रक्त सान्द्र हो जाता है और इस में ग्रन्थियां भी उत्पन्न हो जाती हैं।

रक्तभार तीन प्रकार का होता है—सम, रक्त वाहिनियों की स्थितिस्थापकता भी कम हो जाती है। हृदय के संकोच करने पर संकोचीय और प्रसार करने घर प्रसारीय रक्त-भार कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है—प्राकृत, प्रोन्नत और निम्न। स्वस्थ मनुष्य का रक्त भार ११०से १३० तक होता हैं। १४० से ऊपर उच्च और ८० से कम हो तो निम्न रक्तभार समझना चाहिये। यह रक्तभार रक्तमापक यन्त्र द्वारा सहीतौर पर मापा जाता है। अति संक्षेप में रक्तभार से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का उल्लेख किया गया है।

आयुर्वेदमतानुसार रक्तभार—वैद्य बन्धु रक्तभार को स्वतन्त्र रोग नहीं मानते और इस रोग की चिकित्सा लक्षणों के अनुसार करते हैं। कुछ एक के मतानुसार यह वातरक्त रोग है और कोई इसे रक्तगत वात के अन्तर्गत मानते हैं। पर इन दोनों में से किसी के साथ भी इस रोग का साम्य नहीं हैं केवल कुछ लक्षण अवश्य मिलते जुलते हैं। कुछ एक यूनानी वैद्य इसे रक्तपित्त रोग मानते हैं। ऐलोपैथ महोदय इसे दो प्रकार का मानते हैं। एक वह जो हृदय और वृक्क की विकृति के कारण होता है दूसरा वह जिसका कारण ज्ञात नहीं। आयुर्वेद शास्त्र में रोग के नामकरण को महत्व नहीं दिया गया। नाम का ज्ञान तो व्यवहारमात्र के लिए होता है। चिकित्सा कार्य में रोग का नाममात्र जान लेने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। ज्वर रक्तपित्तादि के नाम का ज्ञान न होने पर भी यह वातादिजन्य है, इस जानकारी के अनुसार चिकित्सा की रूपरेखा तैयार की जा सकती है अर्थात् दोषों के आधार पर चिकित्सा की जा सकती है। चरका-नुसार—

विकारानामाकुशलो न जिह्रीयात्कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्तिध्रुवास्थितिः।
सू० स्था० १८-४४

अतः विकार प्रकृति, अधिष्ठान और समुत्थान को भली प्रकार जानकर चिकित्सा में प्रवृत्त किया जा सकता है और ऐसा करने में कोई बाधा या कठिनाई पेश नहीं आती। वैद्य महोदय श्री गणेशदत्त शास्त्री ने रक्तभार को हृत्क्रिया व्याधि का नाम दिया है जो समीचीन ही है। वास्तव में हृदय की क्रिया में ही रक्तभार रोग में विकार आता है। इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता।

रक्तभार जानने की विधि—वैद्य प्रायः नाड़ी द्वारा रोग का निश्चय किया करते हैं—

यथा वीणागता तन्त्री सर्वान् रोगान् प्रभाषते।
तथा हस्तगतानाड़ी सर्वान्रोगान् प्रकाशयेत्॥

नाड़ी परीक्षा स्पर्श परीक्षा के अन्तर्गत ही है। स्पर्श द्वारा ही शीत, उष्ण, सुक्ष्म, स्थूलादि भावों का पता लगाया जा सकता है। वाराणसी नाड़ीशोधसंस्थान में नाड़ी-परीक्षा सम्बन्धी महत्वपूर्ण शोधकार्य किया जा रहा है। नाड़ी द्वारा रोग परीक्षा निरन्तर अभ्यास, तप, योग तथा यत्न साध्य है। इसमें दक्षता प्राप्त करने के लिये घोर परिश्रम की आवश्यकता होती है। अल्पसत्व व्यक्तियों के लिये यह अति कठिन कार्य है। नाड़ी द्वारा बहुत से रोगों का निदान किया जा सकता है यह आयुर्वेद सम्मत ही है परंच डाक्टर महोदय इसे केवल अंगुष्ठकर-मूला नाड़ी दशासूचक ही मानते हैं। हमें दिवंगत वैद्य शिरोमणि सत्यनारायण शास्त्री का एक केस याद है जिसको उन्होंने रक्तचाप का रोगी नहीं माना। रोगी ने स्वयं उनको बताया था कि डाक्टरों ने उसका रक्तभार २५० से ऊपर मापा है। शास्त्री जी ने इस तथ्य को कुछ महत्व नहीं दिया। उस रोगी के व्यवस्था पत्र में मल्ल-चन्द्रोदय शामिल था जो रक्तभार को कदापि कम नहीं कर सकता। रोगी के कथनानुसार वह शास्त्री जी की चिकित्सा से पूर्ण रोग निर्मुक्त हुआ था। एक स्त्री जिसके गर्भाशय से निरन्तर रक्त का स्राव होता था स्त्री रोग विशेषज्ञों ने उसका रक्तभार ३०० आंका था। पहले वह विशेषज्ञ रक्तभार रोग की चिकित्सा करना चाहते थे और रक्तभार सम होने पर शल्यक्रिया द्वारा गर्भाशय निकाल देना चाहते थे। रोगिणी स्त्रीसूचक अंग को खोना नहीं चाहती थी। वैद्य ने रक्तभार की संख्या को महत्व नहीं दिया। गर्भाशय रक्तस्राव रोग की चिकित्सा करके गर्भाशय सुरक्षित कर लिया और रक्तभार अपने आप साधारण दशा में आ गया। नाड़ी विशेषज्ञों ने नाड़ी परीक्षा द्वारा मूल रोग की जांच की और इसी आधार पर उन्हें चिकित्सा साफल्य का श्रेय प्राप्त हुआ।

रक्तभार मौलिक रूप से है अथवा गौणरूप से यह

एक अलग तथ्य है। जिस समस्या को सुलझाने की आवश्यकता है वह है रक्तभार की आंकड़ों में सही गणना करनी। सम, औसत और निम्न रक्तभार यह सामान्य परिभाषएं हैं। इनको आंकड़ों में बांधना हो तो रक्तभार मापक यन्त्र से काम लेना होगा और इस यन्त्र को प्रयोग करने का प्रशिक्षण लेना होगा। जैसे थरमामीटर का प्रयोग आम हो गया है इसी प्रकार रक्तभार मापक यन्त्र को व्यापक रूप से अपना लेना चाहिये। वैद्य को पहले रोगी के ताप को नाड़ी द्वारा जांचना चाहिये और बाद में आवश्यकतानुसार थरमामीटर द्वारा। इसी नाड़ी अभ्यास द्वारा रक्तभार की पहले परीक्षा करनी चाहिये और बाद में इसी जांच के निष्कर्ष को आंकड़ों में बांधने के लिये रक्तभार मापक यन्त्र की सहायता लेनी चाहिये। ऐसा करने से आयुर्वेद के किसी सिद्धान्त की अवहेलना नहीं होती। वैद्य को यन्त्रों पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिये और उसका नाड़ी द्वारा रोग विनिश्चय का अभ्यास निरन्तर जारी रहना चाहिये। सत्यान्वेषण के कई तरीके हो सकते हैं। विज्ञान किसी एक समुदाय की बपौती नहीं हो सकता। सूर्य सबको सममाव से प्रकाश देता है।

रक्तचाप को नियन्त्रित करना—प्राय; प्रोन्नत रक्तचाप के रोगियों के रक्त में लवण की मात्रा अधिक हो जाती है अत: ऐसे रोगियों का पथ्य लवणवर्जित होना चाहिये। इस सम्बन्ध में चरक का मत ही विशेषरूप से मान्य होना चाहिये। लवण के अति सेवन से ग्लानि, शैथिल्य, दौर्बल्य और पित्त की वृद्धि होती है। अति लवण सेवी पुरुष अथवा जातियां शिथिल मांस शोणित, अपरिक्लेशसहा तथा अल्पसत्व होते हैं। लवण क्लेदन होने के कारण हृदय को क्षुब्ध करता है। लवण रक्त तथा नाड़ी संस्थान को प्रसादन नहीं कर पाता। पित्त की वृद्धि तथा दोषसंचय के कारण रक्तचाप नीचे नहीं आता। लवणातियोग शरीर का ही उपघातकारक नहीं परंच भूमि उपघातकारक भी होता है। ऊषर भूमि में जो लवणप्रधान होती है बनस्पति आदि की उत्पत्ति नहीं होती यदि हो भी तो अति अल्पसत्व। इसी प्रकार मनुष्य की सब धातुओं में थोड़ा बहुत विकार आना सम्भव है। प्रोन्नत रक्तचाप रोग में लवण का वर्जन शास्त्रसम्मत ही है। सर्पि: स्नेहयति कफमेदोविवर्धनम् आदि। स्नेह के कारण तथा कफ और मेद के बढ़ने के कारण शरीर भार में वृद्धि होती है। रक्त में सान्द्रता और चिक्कणता आ जाती है। धमनियों में मल जमने लगता है और फलत: वह तंग भी हो जाती हैं और उनकी लोच भी मारी जाती है। आयुर्वेद का इन्द्रियस्रोतसां लेपो तथा रोध का भाव आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के रक्तचाप के भाव से मिलताजुलता ही है। रक्तभार आधिक्य में सन्तर्पण, स्निग्ध, गुरु और पिच्छिल पथ्य नितान्त अहितकर होता है। ऐसा पथ्य सेवन से शरीर में लाघव नहीं और कान्जैसशन का भाव बना रहता है। रक्तचाप कम नहीं होता। पथ्य हलका, स्नेह तथा मद्य मसालों से रहित होना चाहिये जो मन और इन्द्रियों को प्रशान्त तथा निर्विकार बनाए रखे और किंचित्‌विक्षोभ उत्पन्न न करे। रक्तचाप का सम्बन्ध हृत्क्रिया से माना जाता है। ऐसा सात्विक आहार विहार जो रस को बिना दूषित किये हृत्क्रिया में बाधा उत्पन्न न करे रक्तचाप के रोगियों को हितकर होता है।

चिकित्सा—रक्तचाप के रोगियों को लघु आहार, उपवास, हलका विरेचन और तैल मर्दन हितकर होता है। मूर्ध्नि तैलनिषेवन और शरीर तैल अभ्यङ्ग के गुण—

इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम्।
निद्रालाभ: सुखं च स्यान्मूर्ध्नि तैल निषेवणात् ॥ ८३
तथा शरीरमभ्यङ्गाद्‌ दृढं सुत्वक् च जायते।
प्रशान्तमारुतावाधं क्लेशव्यायामसंसहम् ॥
चरक सूत्र स्थान अ. ५-८०-८३

बढ़े हुए रक्तचाप में वायु का ही प्रकोप होता है। इन्द्रियां खिन्न रहती हैं और मन में क्लेश बना रहता है। निद्रा का अभाव होता है। वायु के प्रकोप को शान्त करने हेतु, इन्द्रियां और मन प्रसादन हेतु तथा निद्रालाभ के लिए तैलाभ्यङ्ग एक उत्तम उपाय है। महात्मा गांधी का तैलाभ्यङ्गोपयोगिता में अडिग विश्वास था। वह ऐसे उपायों से अपने रक्तचाप को नियन्त्रित रखते थे। प्रमादवश अथवा अपने ही सिद्धान्तों में निष्ठा की कमी के कारण हम इन सिद्धान्तों का प्रचार नहीं कर रहे यह एक दु:खद घटना है। सुख शान्ति के लिये वृत्युपायान्निषेवेत्

मध मध्य गंदा रोग

ये सुवर्मविरोधिनः। चरक ने चोर बाजारी का स्पष्ट निषेध किया है। केवल औषधि द्रव्यों द्वारा रक्तचाप के रोगी का कल्याण नहीं हो सकता। सद्वृत्त के अनुष्ठान से भी धातुसाम्य होकर रक्तचाप में कमी आ सकती है। सद्वृत्त का अनुष्ठान एक सात्विक प्रक्रिया है जो अपने प्रशामक गुण के कारण मन, इन्द्रिय और वातनाड़ी संस्थान की, उत्तेजना को कम कर देता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं।

औषधि द्रव्य—सर्पगन्धा जड़ी मनोविकारों के लिए आयुर्वेद शास्त्र का एक शिरोमणि गुणकारी द्रव्य है जिसका आज सारे संसार के चिकित्सा जगत् में प्रचार प्रसार है। इसका श्रेय आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के औषधि निर्माताओं को दिया जाना चाहिये। सर्पगन्धा एक शुद्ध आयुर्वेदीय द्रव्य है जिसको आधुनिक चिकित्सा शास्त्रियों ने बिना कृतज्ञताज्ञापन अपने फारमेकोपिया में शामिल कर लिया है। यह एक बौधिक तस्करी ही है और मेधावियों की संकीर्ण वृत्ति का परिचायक है। पाश्चात्य जगत् इस जादुवी जड़ी के गुणों से प्रभावित होकर अंधानुकरण इसका प्रयोग कर रहा है। भारत में भी ऐसा ही घट रहा है। इस व्यसन से वैद्य भी नहीं बच पाए। यह जड़ी उन्नत रक्तचाप को अवश्य कम करती है परन्तु अधिक समय तक या अधिक मात्रा में सेवन करने से बढ़े हुए रक्तचाप को साधारण से भी नीचे ले आती है और नाड़ी दौर्बल्य के अतिरिक्त अन्य कई उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। एक भावुक स्त्री निरन्तर सात मास तक ऐलोपैथिक चिकित्सकों के परामर्श अनुसार सर्पगन्धा अथवा इसके योगों का सेवन करती रही और उसका प्रोन्नत रक्तचाप ६५ हो गया और स्वास्थ्य जो अभी सुधरा भी नहीं था अधिक गिर गया और दशा काफी गम्भीर हो गई। इस जड़ी का आपत्कालीन प्रयोग ही अभीष्ट है। इस दशा के समाप्त हो जाने पर अन्य वायुशामक औषधियां यथा ब्राह्मी अश्वगंधा आदि द्वारा चिकित्सा की जानी चाहिये।

वृ० वातचिन्तामणि रस और प्रोन्नत रक्तचाप—यह रस वायु और पित्त शामक होने के कारण वैद्यबन्धु रक्तभार को कम करने के लिये प्रयोग में लाते हैं। इस रस के साथ सर्पगन्धा अथवा इसके योगों का प्रयोग भी करते हैं। अनुसन्धान द्वारा इसके एकाकी प्रयोग की जांच की जानी चाहिये कि क्या यह रस सर्पगन्धा द्रव्य की भांति रक्तभार को कम करने की सामर्थ रखता है अथवा नहीं। मधुमेह रोग में वसन्त कुसुमाकर रस के प्रयोग का निर्देश है। बहुत से चिकित्सकों का यह अनुभव है कि इस रस का मूत्र अथवा मूत्र शर्करा पर कुछ भी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता और शर्करा को कम करने की इसमें सामर्थ्य नहीं है। अनुसंधान संस्थानों द्वारा इन दोनों रसों की चिकित्सीय उपयोगिता का सही मूल्य आंका जाना चाहिये और पता लगाना चाहिये कि किस रोग विशेष अथवा रोग की किस अवस्था में निश्चयात्मक रूप से यह दोनों रस गुणकारी सिद्ध हो सकते हैं। मनोवैज्ञानिक प्रभाव चिकित्सीय प्रभाव से अलग होता है और चिकित्सीय गुणों के कारण ही द्रव्य को प्रयोग में लाना चाहिये। इस तथ्य को भलीभांति समझ लेना चाहिये।

सर्पगन्धा को अन्य घटकों के साथ मिलाकर योग के रूप में प्रयोग में लिया जाता है। सर्पगन्धा की अपनी स्वतन्त्र द्रव्य शक्ति ही इतनी अधिक होती है कि अन्य घटक मिलाना कोई अर्थ नहीं रखता। २-३ ग्राम सर्पगन्धा चूर्ण एक कप गुलाब जल में प्रातः भिगो देना चाहिये। बीच-बीच में हिला देना चाहिये। रात्रि को ठीक सोने के समय छानकर रोगी को पिला देना चाहिये। यह एक ही मात्रा २४ घन्टे के लिये पर्याप्त होगी। अन्य कोई सहायक औषधि लक्षणों के अनुसार दिन में दी जा सकती है। वृक्क, यकृद्, और हृदय यदि विकार ग्रसित हों तो इनके रोगों का भी उपाय करना चाहिये। विबन्ध नाश के लिये त्रिफला का सेवन कराना चाहिये। यह त्रिदोषनाशक और रसायन है। रक्तभार जब नियन्त्रित हो जाए तो सर्पगन्धा का प्रयोग बन्द कर देना चाहिये। प्रातः ३-४ ग्राम अश्वगंधा चूर्ण दूध के साथ सेवन कराना चाहिये और सायं ब्राह्मी चूर्ण ३ ग्राम, जल के साथ। इसी प्रकार चिकित्सा के क्रम से शेष वायु शान्त होकर रोगी अवश्य स्वास्थ्य लाभ करेगा। अश्वगंधा और ब्राह्मी यह दोनों आयुर्वेद शास्त्र के उत्कृष्ट रसायन द्रव्य हैं। आयु पर्यन्त सेवन करने पर भी विकार उत्पन्न नहीं करते।

श्लीपद रोग और उसकी चिकित्सा

लेखक—प्राणाचार्य श्री पं० हर्षुल मिश्र बी० ए० (आनर्स), आयुर्वेद प्रवीण
रायपुर [मध्य प्रदेश]

प्राणाचार्य मिश्रवर्य का श्लीपद पर यह आयुर्वेद एवं आधुनिक विज्ञान सम्मत सुन्दर लेख इसी प्रकरण में इसलिए दिया जा रहा है कि रसायनियों का सम्बन्ध भी प्रत्यक्षतया रक्तवह संस्थान के साथ ही है। श्रीयुत् मिश्र जी बहुत परिश्रम और गवेषणा के बाद ही विषय का सटीक प्रतिपादन करते हैं। हिन्दू-विश्वविद्यालय में श्लीपद के निवारण हेतु शाखोटक का प्रयोग कर सफलता प्राप्त की गई है। एक वहीं के शिक्षा प्राप्त वैद्य इसकी छाल के घनसत्व के कैपसूल बना कर भी प्रयोग करते और लाभ का दावा करते हैं। लेप, मोदक, लौह के ३ हर्षुल योग उनकी अपनी अनुभूत चिकित्सा के प्रकटायक हैं। आशा है वे स्वस्थ सुप्रसन्नमनसा इसी प्रकार सुधानिधि पर कृपा वर्षा करते रहेंगे।

—मदनमोहनलाल चरौरे।

श्लीपद का आयुर्वेदीय संक्षिप्त परिचय तथा चिकित्सा सूत्र

"श्लीपदः पादशोथः स्यान्मेदः कफसमुद्भवः।
नासाकर्णाक्षिहस्तादावप्याहुः केऽप्यमुंपुनः॥"

श्लीपद स्वभावतः स्थायी उत्तरोत्तर बढ़ने वाला, वर्षों तक एक सा बना रहने वाला अंग शोथ है; परन्तु सामान्यतः इसकी प्रसिद्धि पादशोथ के रूप में ही होने के कारण इसे श्लीपद कहा गया है। दुष्ट मेद और दूषित कफ के कारण ही, इसकी उत्पत्ति शरीर में होती है। इसकी सामान्य ख्याति के अनुसार श्लीपद शब्द का अर्थ है, "शिलावत्पदंश्लीपदं"—जिस रोग में पत्थर के समकक्ष कड़ा और भारी पैर हो जाय, वह श्लीपद। श्री वाग्भट के अनुसार धीरे-धीरे बढ़ने वाली मोटी और कठोर सूजन श्लीपद है :—

"शनैः शनैर्घनं शोफं श्लीपदं तत्प्रचक्षते"।

यद्यपि श्लीपद प्रधानतः मेद कफोद्भव है, तथापि आयुर्वेद में उसके तीन प्रकार हैं :—

(१) वातज श्लीपद (२) पित्तज श्लीपद (३) कफज-श्लीपद।

१. वातज श्लीपद के लक्षण—

"परिपोटयुतं कृष्णमनिपित्तरुजं खरं च वातात्"।

वात से उत्पन्न श्लीपद में फटी हुई (दरार युक्त) काले वर्ण की, अकारण पीड़ा करने वाली सूजन अथवा रोगजन्य उभार होते हैं।

२. पित्तज श्लीपद के लक्षण—

"पित्तात्तु पीतं दाह ज्वरान्वितम्"।

पित्त के श्लीपद में पीले वर्ण की दाह करने वाली, तीव्र ज्वरयुक्त सूजन होती है।

३. कफज श्लीपद के लक्षण—

"कफाद्गुरु स्निग्धं अरुक् शोथं बृहत् स्थिरम्"।

कफ के श्लीपद में भारी, चिकनी, दर्द नहीं करने वाली बड़ी सूजन होती है।

नोट—यह कफज श्लीपद ही दुष्ट मेद और दूषित कफ से उत्पन्न होता है। इसे साधारण जन हाथीपांव कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में इसी का नाम एलफेंटाइसिस (Elephantacis) है।

यद्यपि इस श्लीपद रोग की प्रसिद्धि अधिकतर, पाद-शोथ के रूप में ही है; तथापि यह रोग, भगोष्ठों में, मुख के ओठों और जबड़ों में, अण्डकोषों में, नाक कान में, नेत्र की पलकों में, पुरुष के शिश्न में, हाथों में भी होते हुये देखा गया है।

वातज, पित्तज, कफज तीनों श्लीपद मूलतः मेदकफोद्भव हैं। यही कारण है, कि गुरुता घनता सभी श्लीपदों में समान रूप से विद्यमान् हैं। इसलिये श्लीपद रोग में कफनाशक उपचार और चिकित्सा ही सुखावह है।

आधुनिक वैज्ञानिक विवेचन के आधार पर श्लीपद रोग का निदान और सम्प्राप्ति

आधुनिक सूक्ष्मदर्शकयन्त्र (माइक्रोस्कोप) के द्वारा, अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाले अनेक अति सूक्ष्म रोगाणुओं को खोज निकाला है। तदनुसार श्लीपद को उत्पन्न करने वाले रोगाणुओं का भी पता लगाया जा चुका है। श्लीपद को उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म रोगाणु का नाम है फाइलेरिया सांग्विनिस होमिनिस (Filaria Sangvinis hominis) ये कृमि श्वेत वर्ण के होते हैं। नरमादा कृमि रस्सी की तरह बा पेंच की भांति एक दूसरे से लिपटे हुए होते हैं। नर कृमि से मादा कृमि द्विगुण लम्बा होता है। इन सूक्ष्म कृमियों की लम्बाई $\frac{9}{10}$ इंच तक होती है। मनुष्य के शरीर में पहुंचने पर, इनकी प्रजनन शक्ति इतनी तेज हो जाती है, कि ६ माह के अन्दर इस एक सूक्ष्म कृमि के जोड़े से कई लाख सूक्ष्म कृमि उत्पन्न हो जाते हैं जब पैर का श्लीपद बहुत पुराना मोटा घना और भारी हो जाता है, दूसरे शब्दों में ठीक हाथी के पैर के आकार का मोटा हो जाता है, उस समय कृमि की संख्या १ करोड़ से ऊपर पहुंच जाती है।

इस श्लीपद रोगाणु का, मनुष्य के शरीर में प्रवेश, उन मच्छरों के काटने से होता है, जिनकी प्रजनन क्रिया, दूषित पुराने पानी के गढ़े में होती है। इन मच्छरों का वैज्ञानिक नाम क्युलेक्स केटी जीनस है। क्युलेक्स केटी जीनस रात्रि में सोते समय मनुष्यों को काटता है तथा क्लुलेक्स केटीजीनस प्रायः दिनमें, मनुष्यों को दंश करता है। इन मच्छरों को साधारण बोलचाल में फाइलेरिया के मच्छर कहते हैं।

रोगाणुओं से रोगोत्पत्ति क्रम

प्रायः फाइलेरिया के मादा मच्छर के दंश से ही श्लीपद रोग उत्पन्न होता है। जब मच्छरी श्लीपद रोगी को दंश करती है, तब उसके पेट में, खून के साथ, फाइलेरिया नामक सूक्ष्म रोगाणु चले जाते हैं। ये सूक्ष्म रोगाणु, उस मच्छरी के शरीर में पनपते रहते हैं जब वह मच्छरी फिर किसी स्वस्थ्य मनुष्य को दंश करती है, तो फाइलेरिया के सूक्ष्म रोगाणु, मच्छरी की लम्बी सूंड की लार में लिपटे हुए, मनुष्य शरीर की लसिका वाहिनियों में पहुंच जाते हैं। ये कुछ दिन लसिका ग्रन्थियों में तथा लसिका वाहिनियों में निवास करते हुए, अपने मैथुनी चक्र द्वारा अपनी संख्या बढ़ाते रहते हैं। ज्यों-ज्यों उनकी संख्या बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वे लसिका वाहिनियां और रक्त वाहिनियों के माध्यम से सारे शरीर की परिक्रमा करने लगते हैं। शरीर के जिस अंग में, उन्हें संचित होने हेतु, पर्याप्त स्थान मिलता है, वहीं वे अपना अड्डा जमा लेते हैं। पैरों की ओर, लसिका एवं रक्त आदि का अनुलोम प्रवाह,



अबाध गति से होता रहता है, बैठने व चलने-फिरने के कारण, दोषों से बोझल व रक्त और लसिका का प्रतिलोम वा ऊर्ध्वगामी प्रवाह स्वभावतः धीमा होता है, जिससे ये श्लीपद के रोगाणु, पैरों की, लसिका ग्रन्थियों और लसिका वाहिनियों में अबाध गति से संचित होते रहते हैं। परिणामतः इन सूक्ष्म रोगाणुओं द्वारा, विर्सजित मलों के कारण, लसिका को वहन करने वाले सभी स्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं, जिससे विजातीय तत्त्वों का निष्कासन न होकर उत्तरोत्तर उनका संचय बढ़ता जाता है, जो रोग जनित उभार के रूप में श्लीपद का रूप धारण करता जाता है।

श्लीपद के रोगाणु लाखों की संख्या में, खून वहन करने वाले स्रोतों में भी विद्यमान् रहते हैं; परन्तु उष्ण गतिशील खून में, वे एक क्षण स्थिर नहीं रह पाते, इसलिये ये खून में रोग उत्पन्न नहीं कर सकते। ये लसिका ग्रन्थियों में लसिका वाहिनियों में, जहां लसिका अथवा पोषक तरलों का प्रवाह अत्यन्त मन्द गति से होता रहता है महीनों और वर्षों रुके रहकर, लसिका संस्थान में, अपना अड्डा कायम कर लेते हैं। तभी ये श्लीपद रोग उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं।

मन्तव्य

उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन से, एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है, कि श्लीपद रोग का कारण भले ही रोगाणु हों, परन्तु श्लीपद रोग का उत्पत्ति स्थान लसिका ग्रन्थियां तथा लसिका वाहिनियां हैं। लसिका नामक पोषक तत्त्व आयुर्वेदोक्त कफ धातु का सर्वोत्तम प्रतीक है। इसी लसिका के दूषित होने से, जो विजातीय तत्त्व निर्माण होता है, उसे ही कफदोष कहा जाता है। लसिका कफ है, लसिका ग्रन्थियां तथा लसिका वाहिनियां कफ के आश्रय और मूल स्थान हैं। इसलिये आयुर्वेद में श्लीपद को मेदकफोद्भव कहा गया है, उसकी पुष्टी उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन से हो जाती है। श्लीपद रोग का उपर्युक्त सूक्ष्म निदान, आयुर्वेद में वर्णित श्लीपद के सूक्ष्म निदान पर भी आधारित है।

उपर्युक्त आधुनिक वैज्ञानिक विवेचन से, दूसरा तथ्य भी, स्पष्ट हो जाता है, कि श्लीपद रोग के कीटाणुओं के संक्रमण के साधन, फैलेरिया के मच्छर हैं। वे तब तक अपने दंश से श्लीपद रोग उत्पन्न करने में असमर्थ हैं, जब तक उनके शरीर में उनके द्वारा दंश किये गये श्लीपद रोगी के रक्त के साथ, फैलेरिया के सूक्ष्म कीटाणु पहुंच नहीं जाते। इससे सिद्ध होता है कि फैलेरिया कीटाणु मच्छरों की देन नहीं है, प्रत्युत् कुपित कफ दोष की देन है। फैलेरिया के कीटाणु श्लीपद रोग के कारण नहीं है। आयुर्वेद का दावा है, कि दोषों की साम्यावस्था में, शरीर के रक्त में और अवयवों में रोग प्रतिरोधक शक्ति प्रबल होती है, जिससे शरीर पर निरन्तर आक्रमण करने वाले रोगाणु नष्ट हो जाते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि रोगाणु रोग के स्वाभाविक कारण नहीं हैं। स्वाभाविक कारण है दोषों का कुपित होना "दोषरोषो रुजां हेतुः" हां दोषों के कुपित होने के कारण जैसे काल आहार और विहार में हीन, मिथ्या, अति योग का होना माना गया है, वैसे रोगाणुओं के संक्रमण को रोग का आगन्तुक कारण माना जा सकता है। परन्तु स्वाभाविक कारण नहीं है।

श्लीपद रोग की अनुभूत चिकित्सा

"लंघनालेपन स्वेदन रेचनैः रक्तमोक्षणैः।
प्रायः श्लेष्म हरैरुष्णैः श्लीपदं समुपाचरेत् ॥"

लंघन, उष्ण प्रलेप, स्वेदन, विरेचन, रक्तमोक्षण द्वारा तथा कफहरण करने वाले गरम औषधियों वा उपचारों से श्लीपद रोग की चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व साध्यासाध्य अवस्था का निर्णय करना आवश्यक है, क्योंकि श्लीपद रोग की दो ही अवस्थाएं हैं :—

(१) कष्टसाध्यावस्था, (२) असाध्यावस्था।

तीन वर्ष के अन्दर का श्लीपद रोग कष्टसाध्य है, तीन वर्ष से ऊपर का श्लीपद रोग प्रायः असाध्य है। श्लीपद रोग से रोगी की मृत्यु प्रायः नहीं होती। तीस वर्षों से श्लीपद रोग को धारण किये हुए, ८० वर्ष से ९० वर्ष की आयु तक चलते-फिरते हुए, कई व्यक्ति नजर आते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि श्लीपद रोग कष्टसाध्य और असाध्य होते हुए भी प्राणघातक नहीं है।

श्लीपदरोग की असाध्य अवस्था

बहुत बड़ा, घना कठोर शोथ वाला श्लीपद का शोथ,

जिस पर शाल्मली वृक्ष के कांटों के सदृश तथा बल्मीक के उभार के सदृश, उभार आगए हों तो ऐसा श्लीपद असाध्य है। ऐसा श्लीपद औषधि और उपचार से कदापि अच्छा नहीं होता। रोगी के ग्रह अनुकूल हुए और उसने साहस से काम लिया, तो अग्निदग्ध क्रिया से असाध्य श्लीपद भी अपवाद स्वरूप अच्छा होते देखा गया है।

श्लीपदरोगनाशक स्वकृत स्वानुभूत लेप

(१) हर्षुल श्लीपदगदांतक लेप—

सहदेवी की जड़ सहंजने की जड़, रूखड़ी की जड़ की छाल, एरण्डमूल की छाल, निर्गुण्डीमूल की छाल। सब को समभाग लेकर चूर्ण कर एक शीशी में भरकर रख लें। फिर यथा सुविधा ताड़ के फल के स्वरस में अथवा ताजे गोमूत्र में अथवा कांजी में अथवा धतूरे के रस में मिलाकर अग्निताप में थोड़ा तपाकर श्लीपद पर सुखोष्ण लेप करे।

यह लेप नित्य प्रातः सायं लगाना चाहिये। इस लेप से श्लीपद का कठोर शोथ प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा कम होता हुआ प्रतीत होगा। एक माह में आशातीत लाभ होगा। ३ माह में सम्पूर्ण श्लीपद विलीन हो जायगा। इसका प्रयोग ३ वर्ष के अन्दर के श्लीपद रोगों पर किया गया और बराबर लाभ हुआ। इस लेप के लगाते हुए साल भर तक उबाला हुआ कुए का जल अथवा उबाला हुआ नदी का जल पीना चाहिये।

(२) श्लीपदगंजाकुश लेप—

काले धत्तूरे के पत्ते का रस, आक के पत्ते का रस पीली सरसों का महीन चूर्ण, सोंठ का महीन चूर्ण, श्वेत पुनर्नवा की जड़ का चूर्ण, निर्गुण्डीमूल चूर्ण, सहँजने की छाल का चूर्ण, एरण्ड मूल चूर्ण। समभाग चूर्ण मिलाकर मिश्रण बनाले। फिर इस मिश्रण में से २ तो० चूर्ण धतूरे आक के पत्तों के रस में डालकर, मृतिका पात्र में डालकर अग्निताप में शहद जैसा गाढ़ा करके सुखोष्ण लगावे। इस लेप को नित्य लगाने से धीरे-धीरे ११ दिन में श्लीपद की सूजन बहुत कम हो जाती हैऔर रोगी को राहत मिलती है।

श्लीपद में सेवन योग्य लाभप्रद स्वकृत औषधियां

(१) हर्षुल श्लीपद रुजांतक मोदक—

१. एरण्ड तैल में भुंजे हुए हरड़ फल के छिलकों का महीन चूर्ण २० तोला, २. पिप्पली का महीन चूर्ण २ तोला, ३. सोंठ का महीन चूर्ण २ तोला, ४. काली मिर्च का चूर्ण २ तोला, ५. चित्रकमूल त्वक् महीन चूर्ण २ तोला, ६. दन्तीमूल त्वक् महीन चूर्ण ४ तोला, ७. स्वर्णक्षीरी त्वक् महीन चूर्ण ४ तोला, ८. विडंग चूर्ण ४ तोला, ९. छोटी इलायची बीज चूर्ण २ तोला, १०. पुनर्नवामूल महीन चूर्ण ४ तोला, ११. सहँजने की छाल का चूर्ण ४ तोला, १२. गुड़ २५ तोला, १३. शहद असली २५ तोला, १४. कच्छप अस्थि भस्म ५ तोला, १५. हिंगुल भस्म १ तोला, १६. गोघृत २५ तोला।

निर्माण विधि—सम्पूर्ण सूखे द्रव्यों के चूर्ण को एक बड़े खरल में डाल कर खूब महीन करें फिर दोनों भस्में डालकर पुनः अच्छा मर्दन करें। इसके बाद गुड़, शहद और घृत मिलाकर समस्त द्रव्यों को स्वच्छ हाथों से मिलाकर खूब सानें फिर एक-एक तोले के बटक बनाकर कांच की बरनी में भर कर रख दें। १ बटक प्रातः सायं नित्य सेवन करके गरम मीठा दूध या गरम पानी पीवें।

इस मोदक के सेवन से श्लीपद ३ माह के अन्दर आराम हो जाता है। आराम होने के बाद भी १ वर्ष तक हर ऋतु संधियों में, कम से कम सात दिन इस मोदक का सेवन करते रहना चाहिये। इस प्रकार इस मोदक का प्रयोग करने से श्लीपद स्थायीरूप से मिट जाता है। इस मोदक के सेवन काल में और उसके बाद १ वर्ष तक उबाला हुआ जल ही पीना चाहिये। खटाई दधि का सेवन बन्द रखना चाहिये।

हर्षुल श्लीपदारि लोह

लोहभस्म हिंगुलयोगेन जारित ६० पुटी २ तो., ताम्रभस्म गंधक और पारद योग से मारित १ तो०, कपर्दभस्म १ तो०, शंखभस्म १ तो०, सीपभस्म १ तो०, प्रवालभस्म १ तो०, कच्छपास्थिभस्म ४ तो०, तबकिया-हरतालभस्म १ तो०, एरण्डतैल में पक्व हरीतकी चूर्ण १२ तोला।



निर्माण विधि—सभी द्रव्यों को पत्थर के बड़े खरल में डालकर खूब मर्दन करे फिर बंगलापान के रस से घोटकर ४ रत्ती की गोलियां बना लें। मात्रा—१ गोली।

सेवन विधि—१ गोली प्रातः सायं मुंह में रखकर ऊपर से मधुयुक्त त्रिफला का गरम काढ़ा पीना चाहिये।

गुण—इस श्लीपदारि लौह के सेवन से पैर, अण्डकोष का श्लीपद, जो तीन वर्ष से अधिक पुराना नहीं हो ३ माह में अवश्य आराम हो जाता है। इस औषधि के सेवन करने के ७२ घंटे के बाद ही श्लीपद की शोथ में उतार प्रतीत होने लगता है। उपर्युक्त दोनों औषधियों के सेवन के साथ श्लीपद गदांतक लेप अथवा श्लीपद गजांकुश लेप का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। यह किसी भी अंग में होने वाले श्लीपद में निःसंदेह लाभ करता है।

पथ्य—श्लीपद रोगी के लिये, औषधि सेवनकाल में कच्छपमांस को सरसों के तेल में पकाकर नित्य खाना सर्वोत्तम पथ्य है। यव का दलिया, यव की रोटी, शाली चावल पुराना, सरसों पत्र का साक, सरसों का तेल, पुनर्नवा का शाक, असली मधु, अरहरदाल, गेहूं की रूखी रोटी सुपथ्य है।

कुपथ्य—उड़द की दाल, इमली, आम की खटाई, दही, बासी अन्न, मेद और कफ बढ़ाने वाले आहार कुपथ्य हैं।

श्लीपद की अग्निदग्ध चिकित्सा

श्लीपद, जब औषधि सेवन से, उष्ण प्रलेप से, स्वेदन और रक्त मोक्षण से आराम न हो तो वह अग्निदग्ध चिकित्सा से अवश्यमेव आराम हो जाता है, यदि श्लीपद में मांसांकुर न आये हों।

अग्निदग्ध करने की विधि—श्लीपद से पीड़ित सम्पूर्ण अंग पर, उपलों की राख मलकर, सम्पूर्ण अंग को ½ इंच के अंतर से सुवर्ण की तथा चांदी की बनी कमलनाल सदृश मोटी, आठ अंगुल लम्बी अग्रभाग में २ अंगुल अंकुश की तरह थोड़ी मुड़ी हुई लकड़ी की मूंठ वाली अग्नि तप्त शलाका से दाग दें। दागते समय शलाका का अग्रभाग लाल बना रहना चाहिये। स्वर्ण और रौप्य शलाका के अभाव में बकरी की मेंगनी को कोयले के अंगारों पर लाल होने तक तप्त करें; और लोहे के चिमटे से पकड़ कर उससे पीड़ित अंग को दागें। एक तप्त मेंगनी से एक या दो बार दग्ध क्रिया करनी चाहिये इस कार्य के लिये २० से पच्चीस मेंगनी एक साथ तप्त करना आवश्यक है। अग्निदग्ध कर्म के बाद पुनः उपलों की राख को दग्ध अंग पर, बुरक कर मल देना चाहिये साथ ही तुरन्त रेती की पोटली से, शुष्क उष्ण सुखावह सेंक करना चाहिये। अंग के जब तक अग्नि दग्ध जनित व्रण, सूखते नहीं, तब तक उस अंग में जल का स्पर्श नहीं होना चाहिये। जल के स्पर्श से अग्नि दग्ध व्रण पक जाते हैं। जल न लगने से एक ही सप्ताह में सम्पूर्ण दग्ध व्रण सूखकर अच्छे हो जाते हैं। साथ ही श्लीपद की गजपदाकार शोथ आश्चर्यजनक रीति से मिट जाती है। हमारे द्वारा अग्नि दग्ध क्रिया सफल प्रयोग केवल पैर के श्लीपद पर ही किया गया है; परन्तु यह अग्निकर्म से भी बाहरी अंगों के श्लीपद पर लाभकारी है।



पृष्ठ २९७ का शेषांस

करें। यदि बृ० ब्राह्मी वटी न मिले तो ब्राह्मी शंखपुष्पी घनसत्व या शंखावली चूर्ण ४ रत्ती मिला लें।

यदि सन्निपात न हो और रोगी दूध पी रहा हो तो दवा खिलाने के बाद दूध पिलादें। दिन में १-२ मात्राएं, पर सायंकाल ७—९ बजे १—१ मात्रा अवश्य दें और रोगी को रामचरित मानस या गीता को पढ़कर सुनावें। रोगी के पास कोई शोरगुल न हो।

साधारण अवस्था में ब्राह्मी वटी (र० त० सा०) अकेली प्रयोग कर अन्य रस योगों की योजना करें।

नोट—यदि रोगी का ज्वर ९७° हो, बढ़ता नहीं तो चन्द्रकला को निकाल कर हेमगर्भपोटली मिला लें। और बृ० वातचिन्तामणि के स्थान पर (सि० यो० सं०) का बृ० वातचिन्तामणि कस्तूरी + अम्बरयुक्त मिलावें। और उष्ण अदरक रस ६ माशे मधु ३ माशे के अनुपान से दें।



सुधानिधि



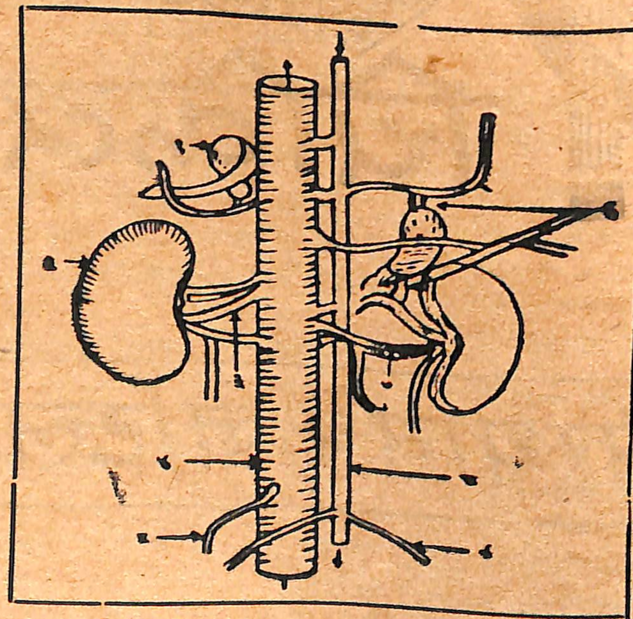
जटिल रोग चिकित्सांक

मूत्रवह संस्थान के जटिल रोग

इस खण्ड में

मूत्रवह संस्थान के जटिल रोग





रक्त के कुछ घटकों के प्राकृत मान

घटक		प्रति १०० मि० लि० में
नॉन-प्रोटीन नाइट्रोजन (रक्त में)	—	२५ से ३५ मि० ग्रा०
यूरिया नाइट्रोजन (रक्त में)	—	१२ से १८ मि० ग्रा०
यूरिया	—	२५ से ४० मि० ग्रा०
यूरिकाम्ल (सीरम में)	—	२ से ६ मि० ग्रा०
क्रियेटिनीन (सीरम में)	—	०·१५ से १·५ मि० ग्रा०
बिलीरुबीन (सीरम में)	—	०·१ से १·० मि० ग्रा०
कोलैस्टरौल (प्लाजा में)	—	१०० से ३०० मि० ग्रा०
ब्लड शुगर (फास्टिंग—लंघन करने पर रक्तशर्करा)	—	८० से १२० मि० ग्रा०
टोटल प्लाज्मा प्रोटीनें	—	६·० से ८·० मि० ग्रा०
अल्ब्यूमिन (प्लाज्मा में)	—	३·५ से ५·५ मि० ग्रा०
ग्लोब्यूलिन (प्लाज्मा में)	—	१·५ से ३·० मि० ग्रा०
फाइब्रीनोजन (प्लाज्मा में)	—	०·२ से ०·४ मि० ग्रा०

	भार में १०० मि० लि० में	मिली ईक्वीवेलेंट
क्लोराइड (नमक के रूप में)	५६० से ६२० मि० ग्रा०	९७ से १०६
सोडियम (सीरम में)	३१० से ३४० मि० ग्रा०	१३५ से १४७
पोटाशियम (सीरम में)	१४ से २२ मि० ग्रा०	३·५ से ५·५
कैल्शियम (सीरम में)	९ से ११ मि० ग्रा०	४·५ से ५·५
इन ऑर्गनिक फॉस्फेट (सीरम में फॉस्फोरस के रूप में)	२·५ से ५·० मि० ग्रा०	१·५ से २·०
CO_2 कम्बाइनिंग पावर (रक्त में)	(५५ से ७५ वौल्यूम)	२३ से ३४
अल्कलाइन (फॉस्फेटेज सीरम में)		३ से १२
ऐसिड फॉस्फेटेज (सीरम में)		१ से ३

डैविड्सन द्वारा लिखित

दि प्रिंसिपल्स एण्ड प्रैक्टिस आफ मेडिसिन (लिविंगस्टोन प्रकाशन) से साभार।

मूत्राघात एक जटिल व्याधि

रोग का नाम तथा परिभाषा—

मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात का अन्तर बतलाते हुए विजयरक्षित लिखता है—

"मूत्रकृच्छ्रमूत्राघातयोश्चायं विशेषः, मूत्रकृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमतिशयितं, ईषद् विबन्धः मूत्राघाते तु विबन्धो बलवान् कृच्छ्रत्वमल्पमिति।

आयुर्वेद में दो शब्द प्रसिद्ध हैं दोनों का ही महत्व है। एक में कष्ट से मूत्र निकलता है। दूसरे में मूत्र आता ही नहीं। मूत्र का न आना मूत्र का न बनना एक बात नहीं है। मूत्र बने भी और न आवे और न बने और न आवे दोनों ही मूत्रवात के अन्दर आते हैं।

आयुर्वेद में मूत्राघात १३ प्रकार के गिनाये गये हैं—

१. वातकुण्डलिका—मूत्रं अल्पाल्पं सरुजं वा संप्रवर्तते।

२. अष्ठीला (प्रोस्टेट ग्रन्थि के द्वारा मूत्रमार्ग का अवरोध)।

कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम्।

३. वातबस्ति—मूत्रसङ्गो भवेत्तेन बस्तिकुक्षिनिपीडितः।

४. मूत्रातीत—चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते।

५. मूत्रजठर—नाभेरधस्ताद् आध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम्।

६. मूत्रोत्संग—मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः।
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं याऽथ नीरुजम्॥

७. मूत्रग्रन्थि—अन्तर्बस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पं सहसा-भवेत्।
अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिः मूत्रग्रन्थिः स उच्यते॥

८. मूत्रशुक्र—उद्धतं शुक्रं स्थानात् च्युतं प्राक् पश्चाद्वा-प्रवर्तते।

९. उष्णवात—बस्तिं मेढ्रं गुदं चैव प्रदहेत् स्रावयेद्-अधः।
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा॥

१०. मूत्रसाद—कृच्छ्रान् मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं-घनं सृजेत्।
सदाहं रोचनाशंखचूर्णवर्णं भवेत्तु तम्॥
शुष्कं समस्त वर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम्।

११. विड्विघात—शकृद् यदा मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत तदा-नरः।
विट्संसृष्टं विड्गन्धं कृच्छ्रात् मूत्रयेत्॥

१२. बस्तिकुण्डल—स्वस्थानाद् बस्तिरुद्वृत्तः-स्थूलस्तिष्ठति गर्भवद्।
शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं-बिन्दुं स्रवत्यपि॥
पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान्।

१३. कुण्डलीभूत—स्याद्बस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहः-श्वास एव च।

इन तेरहों घटनाओं या रोगों के द्वारा ही स्थितियां स्पष्ट होती हैं जिनमें एक अनूरिया (अमूत्रता) और दूसरी ओलीगूरिया (अल्पमूत्रता) कहलाती है। अनुरिया में मूत्र का पूर्णतया निर्माण बन्द हो जाता है जबकि आलीगूरिया में अपर्याप्त मात्रा में मूत्र का निर्माण चलता रहता है। उपर्युक्त तेरह प्रकारों में तो मूत्रावरोध ही अधिक व्यक्त किया गया है।

सामान्यतः प्रतिदिन के आहार सेवन के बाद जो मल द्रव्य बनते हैं उन्हें मूत्र द्वारा प्रवाहित करने के लिए ६०० मिलीलिटर तक मूत्र बनना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति नमक कम ले प्रोटीनों की मात्रा घटा दे कार्बोहाइड्रेट और फैट्स अच्छी मात्रा में ले और वृक्कों की क्रिया प्राकृत हो तो न्यूनतम केवल १५० मिलीलिटर मूत्र में भी कार्य चल सकता है।

अमूत्रता और अल्पमूत्रता निम्नांकित स्थितियों में मिलती है—

१. कम मात्रा में जल पीना।

२. वे सभी अवस्थाएं जिनमें वृक्कों में रक्त कम मात्रा में पहुंचे या वृक्कों में निःस्यन्दन दाब (फिल्टरेशन प्रेशर) घट जावे जिससे वृक्क गुच्छिकाओं से मूत्र छनने का काम कम हो जावे। ये अवस्थाएं हैं शरीर में जलाभाव (डिहाइड्रेशन) की स्थिति, अल्परक्तदाब, वृक्कनलिकाओं में तीव्र विनाश का होना, वृक्कपाक तथा हृद्-क्रियामान्द्य (हार्ट फेल्योर)।

३. वे स्थितियां जिनमें शरीर सूज जाता है वृक्कों, यकृत् या हृदय के रोगों में शरीर में स्थान-स्थान पर जल का संचय होने लगता है। इस स्थिति की उत्पत्ति लवण संचालक हार्मोन (ऐल्डोस्टरोन) जो अधिवृक्क बाह्यक में बनता है तथा मूत्ररोधी हार्मोन जो पश्च पीयूषी में बनता है द्वारा की जाती है। यह शोथ सर्वसर होता है—कृत्स्नदेहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा—यह जनरल ऐनासार्का की स्थिति भी कहलाती है।

वृक्कों में क्रिया सम्बन्धी कई रोग देखे जाते हैं जिनमें जीर्ण मूत्रविषमयता, तीव्र अल्पमूत्रीय मूत्र विषमयता, वृक्क बाह्य मूत्र विषमयता, वृक्कीय संलक्षण तथा वृक्कनलिकाओं में खराबी होने के कारण वृक्क की क्रिया सम्बन्धी विकृति अधिक प्रसिद्ध हैं।

यूरीमिया शब्द यूरी तथा ईमिया से मिलकर बनता है। यूरी से अभिप्राय यूरिया से और ईमिया रक्त के लिए प्रयुक्त शब्दांश है। दोनों से रक्त में यूरिया की अधिक उपस्थिति सूचित होती है। मूत्र के लिए यूरीन शब्द अंगरेजी में है जिसका सम्बन्ध यूरिया के साथ होता है क्योंकि मूत्र में यूरिया काफी मात्रा में निकलता है। इसलिए मूत्रस्थ यूरिया का रक्त में अधिक मात्रा में मिलना यूरीमिया या मूत्र की रक्त में विषावस्था या मूत्रविषमयता या मूत्रविषता इसे सामान्य हिन्दी भाषा में तथा खिचड़ी भाषा में यूरियारक्तता कहा जा सकता है।

जीर्ण यूरियारक्तता (क्रानिक यूरीमिया)

वृक्कमुख, वृक्क गुच्छिकाओं, या वृक्क नालिकाओं में शोथ हो जाने के कारण जिसमें दोनों वृक्कों में खराबी पाई जाती हो या गवीनी में अवरोध होने से यह रोग हो जाता है। कभी-कभी सीसा या नाग के सेवन से, गठिया (गाउट) हो जाने से अथवा फिनासिटीन (ए. पी. सी. गोलियों का घटक) के कारण वृक्कों में खराबी आ जाती है। कुछ लोगों का विचार है कि इस रोग में अक्सर रक्तदाब बढ़ जाता है और वही इन सब खराबियों का कर्त्ता होता है। वृक्क की क्रिया का पतन (रीनल फेल्योर) कहीं धीरे-धीरे और कहीं द्रुत गति से हुआ करता है। कभी-कभी वृक्क क्रियाघात बिना लक्षणों के चलता रहता है और रोगियों को उसका वर्षों तक पता नहीं चल पाता है। कभी-कभी बहुत तेजी से होता है।

होता यह है कि जब तक केवल वृक्कों की क्रिया में साधारण गड़बड़ी होती है कोई लक्षण नहीं मिलते। शुरू में मूत्र के संकेन्द्रण की शक्ति घटती जाती है और बहुत मात्रा में मूत्र उतरता है उसका विशेष घनत्व १०१० से १०१२ तक ही रहता है। रात में यह संकेन्द्रण कम होने से रोगी रात में कई बार पेशाब करता है उसे प्यास भी बढ़ जाती है। मूत्र की परीक्षा करने पर उसमें अल्ब्यूमिन पाया जा सकता है। रक्तदाब अधिक बढ़ा हुआ नहीं होता। रोगी हृदय की भी कुछ शिकायत कर सकता है।

धीरे-धीरे रक्तदाब बढ़ने लगता है जो वृक्क की क्रिया में अधिक गड़बड़ी की सूचना देता है। रक्तदाब के कारण नेत्रों के हृदय के और मस्तिष्क के विकार बढ़ने लगते हैं। यदि इसी समय रोगी को हृदय की क्रिया कम होने की शिकायत हो जिसे हार्टफेल्योर के अन्तर्गत लेते हैं या वमन, रक्तक्षय, उपसर्ग, सोडियम डिप्लीशन (सोडियमह्रास) आदि से रक्तगत यूरिया की मात्रा और आगे बढ़ने लगती है जिससे वृक्कों में खराबी और बढ़ने लगती है। कई प्रकार के मैटाबोलाइट संचित होकर रोग की वृद्धि करने लगते हैं। इन सबके कारण निम्नांकित लक्षण प्रकट होते हैं—

१. खरस्पर्शा और शुष्क जिह्वा।
२. क्षुधानाश।
३. हृल्लास एवं वमन।
४. हिक्का।
५. मुखपाक।
६. अतीसार।
७. कार्श्य।
८. दौर्बल्य।



महास्रोत या कोष्ठ में यूरिया के उत्सर्जन तथा अमोनियां के निर्माण से ये लक्षण प्रायः बनते हैं। कार्य्य का कारण वमन और बहुमूत्रता होता है। वमन और बहुमूत्रता से शरीरस्थ सोडियम के घट जाने से भी शरीर के बल का ह्रास हो जाता है।

आगे चलकर जब क्षुधा घट जाती है तो शरीर की मांसधातु टूटने लगती है जिसके कारण नाइट्रोजन और अधिक निकलकर शरीर में नाइट्रोजन (यूरिया) के संचय को और बढ़ा देती है। बाद में स्नायुपेशीय क्षोम (न्यूरोमस्क्युलर इर्रीटेबिलिटी) और अधिक बढ़ जाती है। अयनीभूत कैल्शियम की कमी इस क्षोम की वृद्धि करती है जबकि पोटाशियम और मैग्नेशियम का संचय इसे कम करते हैं। इस क्षोम के कारण पेश्याक्षेप, पेशीकम्प और पेशियों में मूसली सी उठना (क्रैम्प्स) प्रायः देखे जाने लगते हैं। टिटनी जैसी स्थिति आ जाती है। शरीर में कम्पन या कन्वल्जन्स आते हैं। ये कम्पन अतिरक्तदाब के मस्तिष्कगत प्रभाव के परिणामस्वरूप होते हैं या चयापचयिक विकृतिजन्य होते हैं। शरीर में द्रवसंचय या रक्ताधान अगर किया गया हो तो वह भी कम्पन उत्पन्न कर सकता है।

शरीर में अम्लोत्कर्ष या ऐसिडोसिस के कारण ग्लानि,* मानसिक अवसाद या औदासीन्य, और शंकालुता (कन्फ्यूजन) उत्पन्न हो जाते हैं। रक्तक्षय और हृद्घात इन लक्षणों की वृद्धि करते हैं। मेटाबोलाइटों के रुक जाने के कारण तन्द्रा, मद, मूर्च्छा, मोह, संन्यास की क्रमिक अवस्था को रोगी प्राप्त होने लगता है। ये यूरिया आदि मेटाबोलाइट रोगी को हीनसत्व करते जाते हैं उनकी संज्ञावाही नाड़ियां अवरुद्ध होने लगती हैं और व्यक्ति तमस् में डूब जाता है—

संज्ञावहासु नाडीषु पिहिस्वनिलादिभिः।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत्॥
मोहोमूर्च्छेति तां आहुः…… .. ……..।
—सुश्रुत उ० तं० ४६।

शरीर भारी होता जाता है। मोह मूर्च्छा के पूर्व तन्द्रा की स्थिति देखी जाती है।

रक्त की छोटी-छोटी केशिकाओं के भंगुर हो जाने से शरीर के विविध भागों में रक्तस्राव हो जाने से मसूड़ों से खून गिरने लगता है, त्वचा में नीलोहांकन हो जाता है। अस्थिसन्धियों में रक्त भर जाने से उनमें पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। मल के साथ तथा मूत्र के साथ भी मूत्र आ जाता है। शरीर में लोहांशकी कमी के कारण आमाशय रस में अम्ल की कमी, शोणांशन तथा रक्तमेह के लक्षण मिल सकते हैं।

त्वचा में अनेक प्रकार के परिवर्तन सम्भव हैं। त्वचा यूरोक्रोम के संचय के कारण नीबुआ पीली सी हो सकती है। पसीने में यूरिया के उत्सर्जन से सफेद रंग की उसकी पपड़ी चमड़ी पर जम जाती है। जगह-जगह नीली-नीली बिन्दुकाएं मिलती हैं जो त्वचा में स्थित कोशिकाओं से हुए रक्तस्राव की द्योतक हैं। खुजली आना और सूक्ष्म पिडिकाओं (रैशेज) की उत्पत्ति भी सम्भव है।

जीर्णमूत्रविषरक्तता में हृदय को बहुत बड़ा आघात लगता है। हृद्विघात प्रायः मिलता है जिसका मुख्य कारण रक्तदाबातिवृद्धि है तथा गौण कारणों में रक्तक्षय तथा उपसर्ग आते हैं। सर्वांगशोफ भी मिलता ही है। जिसके श्वास कष्ट बढ़ जाता है खासकर रात में। डिजिटैलिस के प्रयोग से हृदय के इन रोगों में लाभ के बदले हानि ही होती है। श्वास मूत्रविषमयता में गहरी और बार-बार आती है फैफड़ों में जल का संचय हो जाने से कष्ट के साथ भी आती है।

इस रोग में विटामिन डी की कमी हो जाने से अस्थिमार्दव (अस्टियो मैलैशिया) या फक्क (रीनल रिकैट्स) रोग बड़ी आयु में भी देखा जाता है। पैराथायराइडों की क्रियातिवृद्धिजन्य तान्तव अस्थिशोथ (ऑस्टियाइटिस फाइब्रोसा) भी हो जाता है। शरीर के ऊतकों से कैल्शियम घुल घुलकर अन्य ऊतकों में संचित हो जाती है। वृक्कों, धमनियों और त्वचा के नीचे इसका संचय मिल सकता है।

संक्षेप में इस रोग के प्रमुख कारणों में अतिरक्तदाब, मैटाबोलाइटों का संचय और शरीरस्थ ऊतकों के साम्य असफलता आते हैं।

*हृत्पीड़ा जम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च।
—मूर्च्छा पूर्वरूप—सु० उ० तं० अ० ४६

तीव्र अल्पमूत्रीय मूत्रविषमयता

जब वृक्क की गुच्छिकाओं से मूत्र कम मात्रा में छनता है और नालिकाओं की क्रिया घट जाती है तो अमूत्रता या सप्रेशन आफ यूरीन का रोग उत्पन्न होता है। वृक्कों के बाह्यक में रक्त की कमी तीव्र वृक्कशोथ या दोनों ओर की गवीनियों के अवरोध के फलस्वरूप यह रोग होता है। अन्य भी कारण हो सकते हैं। कभी-कभी तीव्र उपसर्गों से भी या गलत रक्त के आधान से या सल्फोनेमाइडों के प्रयोग से अथवा भारी धातुओं के उपयोग और उनकी विषाक्तता से तथा कभी-कभी इन्ट्रावीनस पायलोग्राफी से भी हो जाता है।

ज्यों-ज्यों वृक्कों में आघात बढ़ता जाता है त्यों-त्यों रोग के लक्षण बढ़ते चले जाते हैं—

१. आरम्भ में शॉक (Shock) उत्पन्न होता है।

२. फिर मूत्र की मात्रा कम हो जाती है।

३. वृक्कों में रक्त का प्रवाह घट जाता है जो वृक्कों की वाहिनियों के संकोच का सूचक है।

४. यदि रोगी ने रोग पर काबू पालिया तो मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। पर इसमें होता यह है कि गुच्छिकाओं से निःस्यन्दन तो बढ़ जाता है पर नालिकाओं में पुनर्चूषण उस मात्रा में नहीं हो पाता इसलिए बहुमूत्रता उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण रक्तगत यूरीया की वृद्धि बहुमूत्रता के बावजूद पाई जाती है।

५. यूरिया के लगातार बढ़ने से अंगरेजी में जो तीन रोग बनते हैं वे हैं—

i. अजोटीमिया—यूरिया वृद्धि।

ii. हाइपर कैलीमिया—रक्त में पोटाशियम वृद्धि।

iii. ऐसीडोसिस—अम्ल वृद्धि।

चोट लग जाने से कटी हुई ऊतकों का नाइट्रोजन भी गुर्दों से ही छनता है। यदि रोगी के वृक्क पहले से ही खराब हों तो यूरिया की मात्रा प्रतिदिन ४० से १०० मिग्रा तक बढ़ती है जो सामान्यतया २० से ३० मिग्रा ही बढ़नी चाहिए।

इसी प्रकार जब सीरम पोटाशियम ८ मिलीइक्वी प्रति लीटर तक बढ़ता हो तो हृदय की क्रिया रुक सकती है। हृदय की गति विषम हो जाती है। अम्लोत्कर्ष इसे और भी बढ़ा देता है। अम्लोत्कर्ष की वृद्धि ज्यों-ज्यों होती जाती है त्यों-त्यों श्वास गहरी, ग्लानि अधिक और मनोविभ्रम बढ़ता जाता है। शरीर में जल का संचय बढ़ता जाता है। यह संचय शरीर में के विभिन्न भागों में एकत्र होकर अनेक रोग लक्षण उत्पन्न करता है। रक्तदाब और प्रकम्पन, रक्तस्राव, दौर्बल्य, स्नायुपेशीय विकृतियां सब मिलकर व्यक्ति के स्वास्थ्य का सत्यानाश कर देती हैं। उपसर्ग के प्रति क्षमता घटने से अनेक औपसर्गिक रोग भी रोगी को घेर लेते हैं। आयुर्वेद की दृष्टि से सर्वाङ्ग शोफ, अग्निमान्द्य अरोचक, भ्रम मुर्च्छा संन्यास, प्रमेह और वातव्याधियों का एक साथ प्रकोप होता है।

गुदे (वृक्कयोः) हृदि शिरसि अंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेरातुराः परिवर्जयेत्॥

यह सुश्रुत के प्रमेह की असाध्य पिडिकाओं के लक्षण को सुधार कर श्लोक बनाया है जो सटीक बैठता है।

अन्य ग्रन्थकारों द्वारा प्रदत्त मत

आजकल यूरीमिया के २ बड़े भेद किए जाते हैं एक वास्तविक (Genuine) और दूसरा प्रवेगी (Convulsive)। रोग उन द्रव्यों के रक्त में रुके रहने से उत्पन्न होता है जिनको मूत्र द्वारा बाहर निकाल दिया जाना चाहिए।

निदान की दृष्टि से यूरीमिया के ३ प्रकार प्रायः देखे जाते हैं—

मस्तिष्क जन्य—जिसमें मस्तिष्कगत लक्षण देखे जाते हैं जिसमें रोगी में कुछ-कुछ उन्माद के लक्षण पाये जाते हैं।

महास्रोतीय—जिसमें अतीसार, आध्मान, वमन, जलाभाव और कभी-कभी रक्त वमन भी मिलता है इसे कुछ लोग रायफॉइड टाइप भी कहते हैं।

हृत्फुफ्फुसीय—इसमें तीव्र श्वास कष्ट पाया जाता है तथा परिहृत् शोथ (पेरीकार्डाइटिस) भी मिलती है।

प्रवेगी यूरीमिया वास्तविक यूरीमिया से अलग होता है। यह वृक्कों की क्रिया की असफलता पर निर्भर नहीं करता तथा नाइट्रोजनयुक्त द्रव्यों का संचय वृक्कों की खराबी के कारण नहीं होता। इसमें रक्तदाब की अधिक वृद्धि होती है साथ में मस्तिष्क में शोथ रहता है जिसके कारण अपस्मार की तरह प्रवेग या झटके आते हैं जिसके



बाद रोगी प्रकुंचित होकर गहनतन्द्रा में चला जाता है।

इस रोग का निदान बिना लैबोरेटरी परीक्षा के सम्भव नहीं है। क्योंकि मस्तिष्क और हृद्वाहिनी संस्थान के अन्य रोगों में भी वे लक्षण मिलते हैं जो यूरीमिया में पाये जा सकते हैं। यदि रोगी को कम मात्रा में पेशाब उतरे और इसका विशिष्ट घनत्व कम हो तो इस रोग का शक करना आवश्यक है। रक्तगत यूरिया की मात्रा देखकर रोग का ज्ञान होता है। प्लाज्मा का सारा संगठन बिगड़ जाता है यदि उसका ठीक-ठीक परिहार न किया जाय तो मृत्यु आ ही जाती है।

जब से कृत्रिम वृक्क की सुविधा बड़े देशों में उपलब्ध हुई है तब से इस रोग की साध्यासाध्यता में काफी अन्तर आया है। प्रवेगी यूरीमिया से रोगीमुक्त हो जाता है पर वास्तविक यूरीमिया में जीवन की आशा प्रायः क्षीण ही रहती है।

चिकित्सा—यदि यूरीमिया की चिकित्सा दृढ़ता से की जाय तो इसमें भी सफलता सम्भव है। खासकर यदि गुच्छकनालकीय शोफ के कारण यूरीमिया उत्पन्न हो तो वह तो लाइलाज ही होता है पर यदि कहीं मूत्रमार्ग में बाधा के कारण यूरीमिया हो तो उसे दूर करने के अनेक उपाय हैं। आयुर्वेद में जो मूत्राघात का विवरण दिया गया है उसमें अधिकतर मूत्रमार्ग की बाधाओं का ही जिक्र है। अष्ठीला ग्रन्थि की वृद्धि के कारण मूत्ररोध को शल्यक्रिया या अन्य उपायों से दूर किया जा सकता है।

यह सदा देख लेना चाहिए कि कहीं जलाभाव या डिहाइड्रेशन के कारण वृक्कों की क्रिया असफल होकर यूरीमिया न उत्पन्न हो गया हो ऐसी अवस्था में सिरा-मार्ग से ड्रिप विधि से तरलों के उपयोग से यूरीमिया से रोगी मुक्त हो जाता है। नीचे इस भीषण रोग से मुक्ति हेतु उपाय बतलाये जा रहे हैं जो प्रायः आधुनिक अस्पतालों में चलते हैं—

१. वास्तविक मूत्राघात या यूरीमिया में सिरा द्वारा प्रतिदिन एक से दो लिटर तरल देना। तरल के घटकों का निर्धारण निम्नपरीक्षणों के आधार पर करते हैं—

(क) रक्त की प्रोटीन मुक्त नाइट्रोजन की मात्रा का ज्ञान।

(ख) रक्त में क्लोराइड और सोडियम की मात्रा का ज्ञान।

(ग) रक्त की कार्बन डाई ऑक्साइड के साथ मिलने की शक्ति का ज्ञान।

(घ) रक्त के अल्ब्युमिन और ग्लोब्युमिन के अनुपात का ज्ञान।

(ङ) सीरम पोटाशियम की मात्रा का ज्ञान।

(च) सीरम कैल्शियम की मात्रा का ज्ञान।

ये विविध ज्ञान प्रयोगशाला से शीघ्र प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। इस ज्ञान के आधार पर जो निर्णय लेना है वह इस प्रकार का होगा—

(i) मूत्र राशि बढ़ाने और एजोटीमिया को हरने हेतु डिस्टिल्डवाटर में ५ प्रतिशत ग्लूकोज को मिलाकर बनाई गई बोतल का चढ़ाना;

(ii) क्लोराइड की कमी को दूर करने हेतु नॉर्मल सोडियम क्लोराइड घोल की बोतल चढ़ाना;

(iii) अम्लोत्कर्ष की वृद्धि रोकने हेतु ३ प्रतिशत सोडियम बाई कार्बोनेट के घोल की या सिक्स्थमोलर सोडियम लैक्टेट की बोतल चढ़ाना;

(iv) अल्ब्युमिन की कमी दूर करने हेतु रक्ताधान करना या प्लाज्मा या सीरम अल्ब्युमिन चढ़ाना;

उक्त चारों उपायों में यथावश्यक का अवलम्बन करने से मूत्र की मात्रा वृद्धि होकर रुकी हुई नाइट्रोजन-युक्त उपद्रवों की संचिति घट जाती है और रोगी स्वस्थ अनुभव करता है। ५ से १० प्रतिशत के ग्लूकोज घोल को एक लिटर चढ़ा देना सदैव हितकर होता है ऐसा अनुभवी चिकित्सकों का मत है। रोगी को उलटियां आने के बाद मूर्च्छा का आरम्भ हो तो ग्लूकोज सैलाइन की बोतल अमृत का काम करती है जो सोडियम की कमी को दूर करके स्थिति को सम्हाल देती है। नैफ्राइटिस में जहां सोडियम का संचय शोफ की वृद्धि कर सकता है तथा सोडियम क्लोराइड का मूत्र द्वारा निकलना कठिन हो जाता है पर यदि यहां भी आगे चलकर यूरीमिया उत्पन्न हो जाय तो सोडियम क्लोराइड कुछ न कुछ देना ही चाहिए अन्यथा वृक्कों में और अधिक आघात हो सकता है।

सोडियम क्लोराइड बहुत देने से भी शोथ बढ़ कर मूत्रराशि घट सकती है जो वृक्कों को और हानि पहुँचा सकती है।

जलाभाव की हर स्थिति में सैलाइन या ग्लूकोज सैलाइन का प्रयोग सदैव हितकर रहता है इसे सदा स्मरण रखने की आवश्यकता है।

इस रोग में रक्त में प्रोटीन की कमी को दूर करने के लिए कई दिन तक लगातार प्रतिदिन २०० मिलीलिटर प्लाज्मा का आधान सिरा द्वारा किया जाना चाहिए। इसके स्थान पर अल्ब्युमिन का घोल भी प्रभावी पाया जाता है। बाजार में ऐसी दवाओं की बोतलें सिरा द्वारा आधान के लिए मिल सकती हैं जिनमें ५० ग्राम प्रोटीन, ५० ग्राम ग्लूकोज, २ ग्राम सोडियम क्लोराइड हो। इस बोतल का २ लिटर प्रतिदिन अच्छा काम करता है। ऐसी औषधि पाउडर के रूप में मुख द्वारा भी दे सकते हैं। इलैक्ट्रल पाउडर का प्रयोग आजकल जलाभाव के रोगियों को वरदान सिद्ध हो रहा है।

मूत्र की मात्रा की कमी के कारण दो दुखद स्थितियां बनती हैं—एक अम्लोत्कर्ष और दूसरी एजोटीमिया। दोनों से लड़ने के लिए सिक्स्थ मोलर लैक्टेट सौल्यूशन का उपयोग किया जाता है। इसके एक लिटर तरल के देने से ३४० मि० लि० ५ प्रतिशत सोडियम कार्बोनेट बनता है जो अम्लोत्कर्ष (ऐसीडोसिस) को न्यूट्रलाइज (निष्क्रिय) कर देता है। अति अम्लोत्कर्ष में इसकी ३० से ५० मि० लि० की मात्रा प्रति किलोग्राम शरीर भार के अनुपात से देने के लिए मर्फी की सम्मति है।

यह न भूलना चाहिए कि जिसको वृक्क के रोग के साथ-साथ हृदय के रोग भी हैं विशेषकर वृद्ध पुरुषों में उन्हें बहुत अधिक मात्रा में सिरा द्वारा तरल देना भी खतरनाक सिद्ध होता है। सामान्य हृद्रोगों में तो १–२ लिटर तक तरल २० से ४० मि० लि० प्रति मिनट के हिसाब से दे सकते हैं पर गम्भीर हृद्रोगियों में ऐसा करना सम्भव नहीं होता और न करना ही चाहिए क्योंकि अधिक तरल को सहन करना दुर्बल हृदय के बश की बात नहीं।

प्रायः हर चिकित्सक चाहता है कि उसका रोगी अधिक मात्रा में पेशाब करे। इसलिए वह मूत्रल द्रव्यों के प्रयोग के लिए दौड़ता है पर पारदीय मूत्रल द्रव्य वृक्कों का जितना नुकसान करते हैं उतना उनके द्वारा होने वाली मूत्रवृद्धि से लाभ नहीं होता। कुछ वैद्यगण वृक्कों की इस महा व्याधि में अनेक धातुओं से युक्त द्रव्यों का प्रयोग भी करते हैं वह भी नव्य ज्ञान के आधार पर उचित नहीं है। पर्पटी कल्प इसी आधार पर सोच-समझकर ही और जिम्मेदारी लेकर ही देना चाहिए। कुछ लोग पर्पटी आदि पारदादि योगों का उत्सर्जन मल द्वारा मानते हैं पर जल विद्राव्य पारदीय आधुनिक योग तो वृक्कों के द्वारा ही गुजरते हैं और वृक्कों का सत्यानाश करके रख देते हैं। मूत्रल के रूप में नॉनमर्क्युरियल डाइयूरेटिक—एमिनोफाइलिन (सिरा द्वारा) या लैसिक्स आदि उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

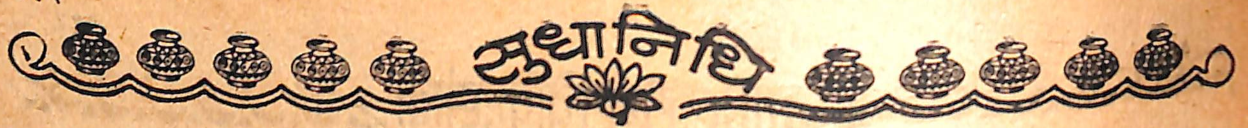
इस रोग में स्वेदन का भी महत्त्व है इसलिए नहीं कि स्वेदन से यूरिया पसीने में निकल जायगा बल्कि इसलिए कि स्वेदन की प्रक्रिया वृक्कों को उत्तेजित करती है अपनी क्रिया बढ़ाने और सुधारने के लिए। आयुर्वेद ने—पार्श्वपृष्ठ कटीकुक्षि संग्रहे तथा मूत्रकृच्छ्रे महत्त्वे च मुष्कयोरङ्गमर्दे के द्वारा स्वेदन का जो व्याप दिखाया है वह भी इस कथन की पुष्टि करता है।

यूरीमिया का रोगी कुछ भी पचा नहीं पाता जो खाना दिया जाय उसे उलट देता है विषरक्तता के कारण भूख भी नहीं लगती। आगे चलकर जब रोग कुछ थमता है वृक्कों में क्रियावृद्धि होने लगती है तब तरल रूप में आहार देना उपयुक्त होता है।

मर्फी ने लिखा है कि यदि वमन, आध्मान और हृल्लास बहुत अधिक बढ़ जायें तो रोगी को—टिंक्चर बेलाडोना ४ ग्राम (४ ड्राम)।

एलिक्जिर फीनोबार्बीटोन १२० ग्राम (४ औंस) मिलाकर रख लें और उसमें से १ चम्मच भर ३ बार मुख द्वारा दें। मुख से न पचे तो गुदमार्ग से १५ ग्राम एक बार में बस्ति द्वारा दें और इसे हर घंटे या दो घंटे पर देते रहें।

इस रोग में कई लक्षण बहुत कष्ट देते हैं, जैसे अनिद्रा, प्रलाप, संन्यास, अशान्ति। कुछ लोग उष्णोदक



स्नान से बेचैनी और प्रलाप में शान्ति देखते हैं। क्लोरल हाइड्रेट और ब्रोमाइड्स का मिलित प्रयोग या ट्रैंकिलाइजर्स का प्रयोग कुछ शान्ति देता है यदि इनसे लाभ न हो तो मार्फीन चौथाई ग्रेन या १५ मि० ग्रा० त्वचा के नीचे दी जा सकती है।

आयुर्वेदीय विधिविधान में स्वेदन, हृद्य, मूत्रल, ओजोवर्द्धक, बलवर्द्धक, विषघ्न चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। आगे वृक्कामय में कविराज हरदयाल जी ने जिस चिकित्सा पद्धति की चर्चा की है वह उपयोगी है। तृणपंचमूल क्वाथ, धान्यपञ्चक क्वाथ बार-बार अदल-बदल कर देना चाहिए। वमनादि लक्षणों की धातुयोगरहित जड़ी-बूटियों के द्वारा चिकित्सा की जानी उपयोगी है।

वैद्यों को इस लगभग असाध्य व्याधि में अपने निजी अनुभवों को लिखकर सुधानिधि हेतु भेजना चाहिए।

प्रवेगी यूरीमिया में प्रवेग रोकने के लिए मैग्नेशियम सल्फेट का २० प्रतिशत का घोल १० से २० मि० लि० की मात्रा में २-३ बार दिन में सिरा द्वारा देते हैं। शामक द्रव्य का उपयोग किया जाता है। सुषुम्ना का दाब घटाने हेतु ६०० मि० लि० ५० प्रतिशत सुक्रोज का घोल दिया जाता है। इस रोग में तरलों का कम से कम प्रयोग किया जाना सिद्धान्ततः आवश्यक है क्योंकि यहां वातनाड़ी संस्थान का दाब कम करने के लिए तरलाभाव की स्थिति लानी होती है।

आयुर्वेद में मूत्राघात की चिकित्सा हेतु यथादोष मूत्रकृच्छ्रहर द्रव्यों के प्रयोग के लिए ग्रन्थकारों ने लिखा है। बस्ति प्रयोग उत्तर बस्ति प्रयोग और स्निग्ध विरेचनों की चर्चा की है। कुछ भैषज्यरत्नावलीकार के योग प्रयोगार्ह हैं:—

१. ककड़ी या खीरा के बीज सिल पर नमकीन कांजी के साथ देना;

२. दशमूल क्वाथ को शिलाजतु शर्करा मिलाकर देना;

३. मधु और शर्करा के साथ शिलाजतु का प्रयोग करना;

४. धान्य गोक्षुर घृत भी उपयोगी कहा गया है—

धान्य गोक्षुर क्वाथ कल्कयुक्तं घृतं हितम्।
धान्य गोक्षुर क्वाथ कल्कयुक्तं घृतं हितम्।
मूत्राघाते मूत्रदोषे शुक्रदोषे च दारुणे॥

अन्त में यही कहना आवश्यक है कि यह रोग अति भीषण है और इसमें सावधानी से चिकित्साकर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

मूत्राघात मूत्रकृच्छ्र पर सफल योग

माजूफल
वंशलोचन असली
सत् बिरोजा
छोटी इलायची के दाने
शीतलचीनी
कत्था पपड़िया
—प्रत्येक ६-६ माशा

—इन सब को कपड़छान कर रखलें और असली मैसूरी सन्दल में २-२ रत्ती की गोली बनालें। यदि गोली न बनती हों तो थोड़ा सा जल मिलाकर, घोटकर गोली बनालें।

सेवनविधि—जल से सुबह, दोपहर, शाम, १-१ गोली सेवन करावें। मूत्रकृच्छ्रता नष्ट होकर, मूत्र साफ पर्याप्त मात्रा में आता है।

—संकलित।

मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा

लेखक—प्राणाचार्य श्री हर्षुल मिश्र पेंशनबाड़ा, रायपुर (म० प्र०)

> श्री मिश्रजी का यह दूसरा और उपयोगी लेख है जिसमें उन्होंने मूत्रकृच्छ्र का सांगोपांग वर्णन दिया है। आशा है उनके अन्य लेखों की तरह इस लेख को भी मनोयोगपूर्वक पढ़ा जायगा।
>
> ---मदनमोहनलाल चरौरे।

मूत्रकृच्छ्र की परिभाषा

'मूत्रकृच्छ्रः स यः कृच्छ्रान्मूत्रयेद् वस्ति रोधकृत् ।।

मूत्रकृच्छ्र वह रोग है जिसमें रोगी कष्ट से मूत्र-विसर्जन करे एवं वस्ति का रोधन करे। इसका नाम अंग्रेजी में इन्कॉटिनेंस ऑफ यूरिन Incontinence of urin) है। इसमें मूत्र बूंद-बूंद, जलन और पीड़ा के साथ उतरता है।

मूत्रकृच्छ्र का कारण

मूत्रकृच्छ्र प्रायः तीक्ष्ण, चरपरे, पित्तकारक द्रव्यों के अधिक सेवन से होता है। अधिक अम्ल पदार्थ, मत्स्य, रूक्ष अन्न का सेवन, अधिक मद्यपान, अध्यशन विषमाशन, अजीर्ण, अतिव्यायाम, अधिक मार्ग चलना, अधिक नृत्य, अधिकश्रम, मलमूत्र शुक्र का वेग रोकना, आघात आदि मूत्रकृच्छ्र के कारण हैं। रजस्राव वाली तथा दूषित स्राव वाली योनि में मैथुन करने से पुरुषों को एवं सुजाक या उष्णवात पीड़ित पुरुषेन्द्रिय को योनि में ग्रहण करने से स्त्रियों को मूत्रकृच्छ्र रोग हो जाता है। मूत्राशय में पथरी से मूत्रनली में प्रदाह या क्षत हो जाने से भी मूत्रकृच्छ्र होता है।

मूत्रकृच्छ्र की सम्प्राप्ति

उपर्युक्त कारणों से कुपित दोष (वात, पित्त, कफ) विजातीय तत्वों (Foreign matters) में परिणित होकर वस्ति और मूत्रमार्ग में अवरोध, प्रदाह, शोथ, क्षत आदि उत्पन्न कर मूत्रकृच्छ्र व्याधि उत्पन्न करते हैं।

मूत्रकृच्छ्र के भेद

आयुर्वेद शास्त्रानुसार मूत्रकृच्छ्र ८ प्रकार का है—

(१) वातज मूत्रकृच्छ्र (२) पित्तज मूत्रकृच्छ्र (३) कफज मूत्रकृच्छ्र (४) सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र (५) आघातज या शल्यज मूत्रकृच्छ्र (६) पुरीषज मूत्रकृच्छ्र (७) शुक्रज मूत्रकृच्छ्र (८) अश्मरीजनित मूत्रकृच्छ्र।

(१) वातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—मूत्राशय और लिङ्ग में तीव्र वेदना के साथ थोड़ा-थोड़ा या बूंद-बूंद मूत्र बार-बार विसर्जित होता है। मूत्र विसर्जन की इच्छा मूत्र विसर्जन के बाद भी बनी रहती है। मूत्र का रङ्ग अलसी के तैल के सदृश हल्का सांवलापन लिए हुए लाल होता है।

(२) पित्तज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—ललाई, पीलापन लिये हुये दाह (जलन) युक्त, अत्यन्त पीड़ा और कठिनाई के साथ बार-बार मूत्र विसर्जन होता है।



(३) **कफज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण**—मूत्राशय और मूत्रनली में गुरुता (भारीपन) या शोथ प्रतीत होता है और मूत्र थोड़ा-थोड़ा मन्द वेदना के साथ विसर्जित होता रहता है। वेदना नाममात्र की रहती है।

(४) **सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण**—सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में उपर्युक्त समस्त लक्षण न्यूनाधिक मात्रा में सम्मिलित रूप से विद्यमान रहते हैं।

(५) **आघातज या शल्यज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण**—अत्यन्त कष्ट तथा पीड़ा के साथ रक्त तथा पूय मिश्रित मूत्र विसर्जन होता है।

(६) **पुरीषज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण**—मल के वेग रोकने से वायु प्रतिलोम होकर मूत्र का स्वाभाविक विसर्जन रोक देता है। परिणामतः बहुत कांखने पर तथा बहुत देर तक मूत्रविसर्जनार्थ बैठे रहने पर, अल्पवेग से किन्तु थोड़ा-थोड़ा मूत्रविसर्जन होता है। मूत्रविसर्जन के बाद रोगी को राहत का अनुभव होता है।

(७) **शुक्रज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण**—शुक्रावरोध से शुक्राशय से विचलित हुआ शुक्र वस्तिमुख और मूत्रमार्ग में पहुँचकर उनमें अवरोध उत्पन्न कर देता है। परिणामस्वरूप मूत्र बहुत देर में, बार-बार कांखने पर पहले बूंद-बूंद फिर कुछ वेग से शुक्र मिश्रित विसर्जित होता है। मूत्रविसर्जन के बाद रोगी को राहत प्रतीत होती है।

(८) **अश्मरी जनित मूत्रकृच्छ्र**—कुपित दोषों के कारण शरीर की रस, रक्त, मेद, शुक्र आदि धातुएं मूत्राशय में पहुँचकर विकृतावस्था में बालू के सदृश छोटे-छोटे कणों में, परिणित होने लगती हैं। धीरे-धीरे इनके आकार प्रकार बढ़कर मोठ, मूंग, चने के सदृश हो जाते हैं, जिनसे कभी-कभी वस्तिमुख अवरुद्ध होकर मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न हो जाता है। इसमें भी कष्ट से रुक-रुककर मूत्र विसर्जन होता है।

मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा

(१) **वातज मूत्रकृच्छ्र में**—अभ्यंग स्नेहन, स्वेदन, उपनाह, उष्ण प्रलेप, उत्तरवस्ति (कैथेटर) के प्रयोग से, वातज मूत्रकृच्छ्रता निःसंदेह दूर होती है।

(२) **पित्तज मूत्रकृच्छ्र में**—शीतल जल का परिषेक शीतल जल का अवगाहन, शीतल पेय, खीरे के बीज के मग्ज का तर्पण (शर्बत) निःसंदेह लाभप्रद है।

(३) **कफज मूत्रकृच्छ्रता में**—क्षारयुक्त उष्ण औषधियों का सेवन, स्वेदन, गरम सेंक, पथ्यरूप में जब कि यवागू का सेवन, वमन कर्म, निरूहवस्ति, तक्र का सेवन, सर्वथा लाभप्रद हैं।

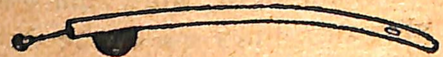
(४) **सन्निपातज मूत्रकृच्छ्रता में**—वात, पित्त, कफ की प्रबलतानुसार वमन विरेचन और वस्ति कर्म कराने से तत्काल लाभ होता है और मूत्रकृच्छ्रता कुछ समय के लिए तुरन्त दूर हो जाती है।

(५) **आघातज मूत्रकृच्छ्रता में**—उपनाह, सुखोष्ण सेंक के उपचार के साथ गरम दूध में सुखोष्ण गोघृत और मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिए। इससे रोगी को बड़ी राहत मिलती है और मूत्रकृच्छ्रता भी दूर होती है।

(५) **पुरीषज मूत्रकृच्छ्रता में**—विरेचनकर्म, वस्ति कर्म, अभ्यंग, स्वेदनकर्म तत्काल लाभप्रद हैं। गोखरू के ५ तोला काढ़े में ६ माशा जवाखार मिलाकर पिलाने से पुरीषज मूत्रकृच्छ्र नष्ट होकर खुलकर मूत्र विसर्जन होता है।

(७) **शुक्रज मूत्रकृच्छ्रता में**—मूसली, शतावर के बीज, अष्टवर्ग के चूर्ण को २ तोला की मात्रा में धारोष्ण गोदुग्ध के साथ नित्य पिलावें तथा स्वस्थ सुन्दर नीरोग रमणी से मैथुन करावें तो शुक्रज मूत्रकृच्छ्र निःसंदेह दूर हो जाता है। ६ माशा शुद्ध लोह, शिलाजीत २ तोला शहद में मिलाकर नित्य चाटने से शुक्रज मूत्रकृच्छ्र अवश्य आराम होता है।

(८) **अश्मरीजनित मूत्रकृच्छ्रता**—उत्तरवस्ति (रबर तथा धातु के कैथेटर) लगाकर तुरन्त मूत्र विसर्जन



कैथीटर धातु का स्त्री के लिए



कैथीटर धातु का पुरुष के लिए

करा देना चाहिए फिर गोखरू, अमलतास, दाभ, कांस, जवासा, पाषाणभेद तथा हरड़ का समभाग क्वाथ बनाकर ५ तोला क्वाथ में २॥ तोला मधु मिलाकर नित्य पिलावें।

मूत्रकृच्छ्रतानाशक अनुभूत योग

(१) गिलोय, सोंठ, आंवला, अश्वगंध और गोखरू के समभाग चूर्ण का क्वाथ तैयार करलो। ५ तोला सुखोष्ण क्वाथ में यवक्षार ६ माशा मिलाकर पिलाने से शूलयुक्त वातज मूत्रकृच्छ्र दूर होता है। नित्य पिलाने से स्थायी रूप से आराम हो जाता है।

(२) तृणपंचमूल क्वाथ (कुश, कास, सरपता, दर्भ और ईख के मूल का समभाग क्वाथ) मात्रा ५ तोला ताजा गोदुग्ध १० तोला, मिश्री २ तोला आपस में मिलाकर नित्य पीने से पित्तज मूत्रकृच्छ्रता में अवश्य आराम हो जाता है।

(३) खीरे के बीज के मग्ज को चावल के धोवन के साथ पीसकर नित्य पीने से पित्तज मूत्रकृच्छ्र दूर हो जाता है।

(४) मडुया नामक तृणजन्य अन्न २॥ तोला की मात्रा में नित्य जल के साथ पीसकर पीने से पित्तज मूत्रकृच्छ्र सम्पूर्ण पीड़ा और जलन के साथ ७२ घंटे के अंदर आराम हो जाता है।

(५) छोटी इलायची के बीज १ तोला को केला के रस या गोमूत्र में पीसकर पीने से कफज मूत्रकृच्छ्र दूर होता है।

(६) बृहत्यादि क्वाथ (बड़ी कटेरी, पृष्ठपर्णी, पाठा, मुलहटी, इन्द्रजव का समभाग क्वाथ) मात्रा—५ तोला नित्य पीने से सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र अवश्य दूर होता है।

(७) छोटी कटेरी का स्वरस १० तोला, यवक्षार ६ माशा, मधु २ तोला सम्पूर्ण का मिश्रण बनाकर नित्य पीने से समस्त मूत्रकृच्छ्र तथा पथरी रोग निश्चयपूर्वक आराम होता है।

(८) घृतकुमारी स्वरस ५ तोला में ६ माशा यवक्षार और ६ माशा शिलाजीत मिला कर पीने से मूत्रकृच्छ्र निःसंदेह आराम होता है।

(९) पीली तथा हरी कांच की बोतल में जल भरकर सूर्य की किरण में दिन भर रखा जाय और शाम को दोनों जल अढ़ाई-अढ़ाई तोला की मात्रा में पिलाया जाय और इसी सूर्य रश्मि भावित हरे और पीले रङ्ग की बोतल के जल से वस्त्र को तरकर बस्ति पर रखा जाय तो एक घण्टे के उपचार में पित्तज मूत्रकृच्छ्र दूर होकर मूत्र विसर्जन होता है। इस उपचार को नित्य करने से स्थायी आराम होता है।

(१०) गोक्षुरादि गुग्गुल (शा० ध० सं०) मात्रा ४ रत्ती से १ माशा ताजे जल से नित्य सेवन करने से सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्र दूर होते हैं। लगातार तीन माह तक सेवन करने से स्थायी लाभ होता है।

(११) हरितक्यादि क्वाथ—हरड़त्वक् चूर्ण २ तो०, अमलतास का गूदा २ तोला, जवासा चूर्ण २ तोला, गोखरू चूर्ण २ तोला, पाषाणभेद चूर्ण २ तोला, समस्त द्रव्यों को १६ गुणा जल में डालकर क्वाथ करें। जल अष्टमांश क्वाथ शेष रह जाय, तब छानकर २॥ तोला से ५ तोला की मात्रा में नित्य पीने से मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात रोग दूर हो जाते हैं।

(१२) बृहत्वरुणादि क्वाथ—वरुण की छाल, गोखरू, सोंठ, मूसली, कुलथी प्रत्येक १-१ तोला, तृण पंचमूल ५ तोला सबका चूर्ण कर १६ गुणे जल में क्वाथ विधि से क्वाथ तैयार करलें। मात्रा ४ तोला, यवक्षार ६ माशा शक्कर १ तोला, मिलाकर नित्य प्रातः पीवें। इसके प्रयोग से मूत्रकृच्छ्र, मूत्र शर्करा, पथरी रोग में आराम होता है।

(१३) क्षारपर्पटी—कलमी शोरा ४० तोला फिटकरी ५ तोला, नौसादर २॥ तोला सबको लोहे के तवे पर डालकर अग्नि का ताप देकर द्रव बनावें फिर केले के पत्तों पर द्रव को उड़ेल कर पर्पटी निर्माण कर लें। मात्रा १० रत्ती। अनुपान—ताजा जल नित्य सेवन करें। यह मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी पर लाभप्रद योग है।

(१४) हजरूल यहूद की भस्म ४ रत्ती, यवक्षार ४ रत्ती, कच्चे नारियल के पानी के साथ पीने से दो तीन घण्टे में मूत्र विसर्जन होकर मूत्रकृच्छ्रता तथा मूत्राघात दूर होते हैं। कुछ दिन सेवन करने से मूत्राश्मरी में भी आराम होता है।



(१५) गोपाल कर्कटी मूल (कचरिया की ताजी जड़) २॥ तोला, बासे पानी में महीन पीसकर पीने से ७२ घंटे में अश्मरी जनित मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात दूर होकर मूत्र विसर्जन होता है।

(१६) तिलनाल क्षार ४ रत्ती, श्वेत पुनर्नवा क्षार ४ रत्ती, वरुणा की छाल के ५ तोला क्वाथ में घोलकर नित्य पिलाने से अश्मरी नष्ट होकर अश्मरीजनित मूत्रकृच्छ्र दूर हो जाता है।

(१७) गुड़ ५ तोला, रसोन स्वरस २॥ तोला, कटेरी स्वरस २॥ तोला, घृतकुमारी स्वरस २॥ तोला, ताजे फटे दूध का जल २॥ तोला सबका मिश्रण कर अच्छा घोल तैयार करलें और नित्य पीवें। इससे मूत्रकृच्छ्र मूत्राघात शीघ्र दूर होते हैं।

(१८) सफेद स्फटिका भस्म १ माशा, फटे दूध का जल १० तोला में घोलकर पीने से निःसंदेह मूत्रकृच्छ्र में आराम होता है।

(१९) मूत्ररोधान्तक वटी—हजरल यहूद भस्म ४ तोला, स्फटिका भस्म ४ तोला, यवक्षार ४ तोला, अपामार्ग क्षार ४ तोला, तिलनाल क्षार ४ तोला, कण्टकारी क्षार ४ तोला, वरुणा का घनसत्व ४ तोला, गोपाल कर्कटी मूल चूर्ण ४ तोला, कलमीसोरा ४ तोला, नौसादर २ तोला, कंघी की जड़ का चूर्ण २ तोला, बेर की मींगी का चूर्ण २ तोला, तृण पंचमूल चूर्ण २ तोला, एरंड मूल चूर्ण २ तोला, पाषाणभेद चूर्ण २ तोला, पुनर्नवा की जड़ का चूर्ण २ तोला, गोखरू घनसार २ तोला, आंवला घनसार २ तोला, इलायची बीज २ तोला, सत्वशिलाजीत २ तोला, कान्तलौहभस्म, शृङ्गभस्म, नागभस्म, मुक्तासीप भस्म, सम्बूक भस्म प्रत्येक एक-एक तोला।

निर्माण विधि—समस्त द्रव्यों को खरल में डालकर छोटी कटेरी के स्वरस की सात भावना देकर चार-चार रत्ती की गोलियां बनालें फिर छाया में सुखा स्वच्छ शीशी में भर डाट लगाकर रखें। मात्रा ५ से १० वर्ष के बच्चों को १ गोली। वयस्क स्त्री पुरुषों को नित्य २ गोली से ४ गोली ताजे जल से निगलावें अथवा गोखरू के काढ़े के साथ निगलावें। यह योग मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी रोग में आशुगुणकारी है।

मूत्रकृच्छ्र में गरम गोदुग्ध में गुड़ मिलाकर पीना, गरम गोदुग्ध में घृत, मिश्री मिलाकर पीना, आंवले के स्वरस में शक्कर मिलाकर पीना, ईख रस और मधु पीना पथ्य हैं।

★★

रीगण्यादि गुटिका

●

लघुकण्टकारी फल   श्वेत जीरक   शुद्ध गंधक

कुमारी रस में फूंका हुआ कलमी शोरा —सब समान भाग

—इन सबका वस्त्रपूत चूर्ण बना कर गेंदे के पत्तों के रस में सात बार घोटकर झड़बेर बराबर गुटिका बना लेवें।

मात्रा—२-४ गुटिका। **समय**—तीनों काल। **अनुपान**—जल।

पथ्य—गेहूँ की रोटी, दलिया मीठा व नमकीन, थूली, खिचड़ी, छिलका युक्त मूंग की दाल, पालक, बथुआ, मेंथी, चौलाई, कद्दू, करेला, तुरई, परवल का शाक आदि सात्विक एवं सुपाच्य आहार। फलों में अनार, मौसम्बी, अनन्नास, नारंगी, अंगूर, अंजीर ले सकते है।

गुण—अश्मरी, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, मूत्रावरोध, मूत्रप्रदाह, लिंगार्श, अर्श, पूयमेह, शर्करामेद, कृमि पाण्डु, यकृत्प्लीहान्त्र विकार, कामला, कुम्भकामला आदि दूर होते हैं।

—संकलित।

वृक्कामय तथा वृक्कपाक चिकित्सा

आचार्य श्री हरदयाल वैद्यवाचस्पति आयुर्वेदाचार्य,
ई–२१, आनन्द-निकेतन नई दिल्ली–२१

आचार्य श्री हरदयाल वैद्य इस युग के उन सर्वोत्कृष्ट आयुर्वेद चिकित्सकों की प्रथम पंक्ति में स्थान रखते हैं जो जटिल से जटिल रोगों में आयुर्वेदोपचार की साख जमा कर इस वैज्ञानिक चमत्कार के युग में भी अयुर्वेद की सत्ता अक्षुण्ण रखने में समर्थ हैं। भारतीय परिवेष में आचूड मण्डित शान्त और तपस्वीभाव से अपनी प्रसिद्धि से सर्वथादूर गुरुत्व के गौरव से मण्डित राजधानी दिल्ली के वातावरण पर आयुर्वेद की छाप छोड़ रहे हैं, कभी लाहौर में आपने आयुर्वेद का झण्डा बुलन्द किया हुआ था। आपकी कृपा सुधानिधि पर अक्षुग्ण रूप से सदा रही है। आपने वृक्कों के रोगों पर खास कर वृक्कपाक यूरीमिया आदि पर बड़े ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से अपने अनुभवों का निचोड़ इस लेख में भर दिया है। इनके अतिरिक्त इन जटिल रोगों पर दूसरों की गति समान्यतया नहीं ही हो पाती।

—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

वृक्कद्वय, मूत्र प्रसेचनी, मूत्र बाहिनां एवं बस्ति—देखने में तो ये अल्पकाय दीखते हैं, परन्तु इनकी व्यापकता और इनसे उत्पन्न होने वाले रोग निश्चय ही बहुसंख्यक हैं और स्वभावतः जटिल। जटिल रोग चिकित्सांक में श्री आचार्य जी की दृष्टि से ये कैसे ओझल हो सकते थे?

जिस प्रकार—कुष्ठ, वातरक्त, प्रमेह, शोष, हृद्रोग—आदि बीज रूप में उपस्थित होकर चिरकाल (कई वर्षों) तक प्रच्छन्न रूप से शरीर में रहते हुए भी अपने अस्तित्व को स्फुट रूप में व्यक्त नहीं होने देते। ठीक वैसे ही वृक्क रोगों का परिचय शीघ्र प्राप्त करना कठिनतर कार्य है। चिकित्सकों की सभी श्रेणियों के पास रोगी आकर अपने विशिष्ट कष्टप्रद लक्षण को प्रकट करके औषधि चाहता है। चिकित्सक भी उसी कष्ट को दूर करने की व्यवस्था करते हैं, परन्तु परिणाम वही ढाक के तीन पात ही रहता है। प्रायः जटिल रोगों की चिकित्सा में मूल रोग प्रच्छन्न होने के कारण—'पुनस्तदुभयाभिनयं भजते'—के इतस्ततः ही घूमते रहते हैं। इतने समय में जटिल रोगों के अन्यान्य लक्षण भी उत्पन्न होकर अपना व्यक्त रूप प्रकट करते हैं तब रोग जटिल अथवा दुःसाध्य बन जाता है। अतः वृक्कामय रोगों की जटिलतम श्रेणी का रोग है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्रियों ने वृक्क रोगों पर बहुत विस्तृत साहित्य लिखा है। उसका लाभ आयुर्वेदज्ञों को उठाना चाहिए।

आयुर्वेद प्रेमियों की प्रायः यह धारणा है कि आयुर्वेद में वृक्क रोगों का वर्णन प्राचीन संहिताओं में उपलब्ध नहीं। निःसंदेह यह धारणा गलत नहीं। कारण कि जैसे—ज्वरातीसार, संग्रहणी, अर्श, यक्ष्मा, शिर, नेत्र, कर्ण, कण्ठ, नासादि रोगों का वर्णन हुआ है वैसा वृक्करोग परिचायक कोई अध्याय दृष्टिगोचर नहीं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होना चाहिए कि आयुर्वेद—वृक्कद्वय की उत्पत्ति, स्थिति, कार्यकलाप एवं उनके रोगों और उनके परिहरणादि से शून्य है।

रोग वर्णन और उनके दूरी करणार्थ आयुर्वेद की एक स्थिर शैली है जो उसके अपने सिद्धान्तों पर आधारित है। ये सिद्धान्त इतने व्यावहारिक हैं कि–त्रिदोष विकृति, धात्वग्निवैषम्य, स्रोतों का सम्बन्ध, रस रक्तादि धातुओं की क्षय, वृद्धि, भय चिंतादि मानसीय उथल पुथल आदि पर अवलम्बित हैं। इस स्थिति में प्रत्येक रोग के पृथक् नामकरण का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। यह भी निर्विवाद है कि वृक्कद्वय के सम्बन्ध में पूर्णज्ञान आयुर्वेद में उपलब्ध है। है वह आयुर्वेदीय सारणी के अनुसार। उदाहरणार्थ—प्रमेह लीजिए 'प्रकर्षेण मेहति इतिप्रमेहः' प्रमेह के इस व्यापक अर्थ में क्या वृक्कों की दुष्टि एवं तज्जन्य आपाद 'मस्तक' लक्षणों का समावेश सम्भव नहीं? निःसंदेह प्रमेहोत्पादक कारण, दोष, दूष्य सम्प्राप्ति, लक्षण, उपद्रव आदि का समावेश आधुनिक वृक्क रोगों के अवयवीय पृथक्-पृथक् नामधेय रोगों में पूर्णरूपेण घटित होता है।

प्रमेह और वृक्कीय रोगोत्पत्ति में साम्यता, लक्षणों में साम्यता, सम्प्राप्ति में साम्यता, उपद्रवों में समानता एवं चिकित्सा में भी समानता उपलब्ध है तब वृक्क रोगों को प्रमेहान्तर्गत समावेश करने में ननुनच क्यों?

अद्यतनीय अन्वेषकों ने भी मूत्र संस्थानिक रोगों में—लसीकामेह, ओजोमेह, रक्तमेह, पूयमेह, वसामेह, वृक्कशोथ, वृक्कसंन्यास, जीर्णवृक्कशोथ, यूरियामेह, वृक्काश्मरी आदि का आयुर्वेदीय सिद्धान्तानुसार वर्णन किया है। अतः वृक्करोगों को प्रमेह के साथ बैठाना युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है।

आज से ७०-८० वर्ष पूर्व भैषज्य रत्नावली के संकलियिता वंगदेशीय आयुर्वेद के मनीषी कविराज श्री विनोदलाल सेन महोदय ने कुछ आधुनिक रोगों को नूतन तथ्यों के आधार पर आयुर्वेदीय सारणी के अनुसार 'आयुर्वेद विज्ञान' को संस्कृत श्लोकों में निबद्ध करके आयुर्वेद का महान् उपकार किया है। वृक्करोगों के सम्बन्ध में उनकी क्रमानुसार रचना इस प्रकार है।

वृक्करोग के कारण—

वृक्कयोः शीतसंयोगात् प्रायोरोगः प्रवर्तते।
दीर्घज्वरे विसूच्यां च मसूर्यामामवातके॥
तथोपसर्गरूपेण दृश्यतेत्वयमामयः।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त वृक्क रोगोत्पादक अन्य कारण भी हैं—अति शीत जल में निरन्तर अवगाहन, वर्षा में भीगना, अति व्यायाम के तुरन्त पश्चात् अथवा श्रमित अवस्था में शीतोदक से स्नान, जल वाष्प पूरित वायु का चिरकाल तक शरीर का सम्पर्क, प्रायः ही अल्पमात्रा में जलपान। एवं गर्भावस्था में माता के ऐसे रोगों से जुष्ट रहना। गर्भशय्या छोड़ने पर परिचारकों के अज्ञानवश शिशु को शीत प्रकोपक अवस्थाओं से रक्षित न करना। ऐसे कारण तुरन्त ही चाहे प्रभावोत्पादक न हों परन्तु वृक्क विकृति या उनके कार्य शैथिल्य के रूप में बीज सूक्ष्मरूप में अवस्थित हो जाता है। बाद में समवायि कारण मिलने पर उग्ररूप भी ले सकता है और असमवायि कारणों के प्रभाव से नष्ट भी हो सकता है। रोगज्ञानार्थ इस पथ पर दृष्टपात रखने से लाभ ही होता है।

वृक्कामय पूर्वरूप—

निद्राहानिरग्निमांद्यं शोफोऽक्ष्यास्यपदेषु च।
नाडी वेगवती स्तब्धा चोष्णा त्वग्रौक्ष्यमेव च॥
प्राग्रूपं लक्षयेद्वैद्यो वृक्क रोगातुरस्यच।

अनिद्रा अग्निमांद्य. नेत्र, मुख एवं पाओं पर शोथ, नाडी की गति में तीव्रता, काठिन्य तथा उष्ण स्पर्श होता है। त्वचा का वहिर्दर्शन रूक्ष प्रतीत होता है।

वृक्क रोगों के लक्षण—

ज्वरोऽङ्गमर्दः शोफश्च शिरःशूलं वमिस्तथा।
रक्तह्रासात्पाण्डुवर्णमास्यं वह्निश्च मन्दता॥
स्वेदाभावारुचि रौक्ष्यं नाडी वेगवती तथा।
वृक्कस्थाने तथा कट्यां पीड़ा स्पर्शासहा भवेत्॥
मूत्रं सपीडमुष्णंच स्वल्पंस्वल्पं मुहुर्मुहुः।
जायते मूत्र रोधश्च क्वचित्स्रवति बिन्दुशः॥
वृक्कयोरश्मरी योगात् कदाचित्स्वयमेव हि।
मूत्रं शोणितयुक्तं स्यात्ततः कृष्ण स्रवेद्गदी॥
शैत्यं च हस्तपादयोः ओजसोऽति प्रवर्तनम्।
मूत्रकाले ध्वजाग्रे वै किंचिद्दाहश्चलक्ष्यते॥
वृक्कयोः कार्यशैथिल्याद्यकृत्प्लीहाहृदां तथा।
विकासे दृश्यते घोरः स्वस्वसंवेद्यलक्षणः॥
श्रुतिनादोऽक्षिदोषश्च मूर्च्छा भंगोध्वजस्य च।
शिरोग्रीवांसपीडा स्यादेवमन्यच्च लक्षयेत्॥

आयुर्वेद विज्ञान के संग्रहकारने अपनी पुरानी शैली का परित्याग न करके वृक्क रोगों में होने वाले लक्षण समूह को एक ही स्थान पर स्थान दिया है। उपर्युक्त समस्त लक्षण युगपत रूप से एक ही रोगी में नहीं होते। ये लक्षण वृक्कीय रोगों में होते अवश्य हैं। आधुनिक शोधकर्ताओं ने वृक्क और उनसे सम्बन्धित अवयवों को पृथक्-पृथक् लेकर पृथक्-पृथक् नामों से लक्षणों को क्रमबद्ध किया है। यथा—मूत्र विकार, प्रमेह, अश्मरी एवं वृक्क रोग। इन सबका पृथक्-पृथक् वर्णन उत्पत्ति, सम्प्राप्ति, साध्यासाध्यता जीर्ण (याप्य) (Chronic) एवं अन्य सम्बन्धित अंगोपांग की विकृति तज्जन्य लक्षण और परिणामादि पर विस्तृत विचार हुआ है इस विशद विवरण द्वारा रोग निदान में सबल सहायता मिल सकती है। अतः आवश्यक है कि आयुर्वेदपरक अनुसंधानीय काल में आधुनिक परिशोध के भविष्य में स्थिर साहित्य वर्धन की दृष्टि से उपर्युक्त सरणी का अनुसरण करेंगे।

वृक्करोगों में प्रायः वृक्कसंन्यास (Uraemia) जीर्ण वृक्कसंन्यास, जीर्ण वृक्कशोथ (Chronic Nephritis), नालीय जीर्ण वृक्कशोथ (Chronic Parenchymatous) केन्द्रस्थ जीर्ण वृक्कशोथ (Chronic Interstitial Nephritis), वृक्काश्मरी, वृक्कशूलादि का विशेष महत्व है।

आयुर्वेदोक्त उपर्युक्त लक्षण समूल में ऊपर कथित वृक्कीय विशिष्ट रोगों के प्रायः सभी लक्षणों का एक ही स्थान पर वर्णन दे दिया है। भिन्न-भिन्न में पार्थक्य बोध चिकित्सक के अपने अनुभव पर छोड़ दिया गया है।

हम आधुनिक संज्ञाओं के साथ चिकित्सा प्रकरण में उल्लेख करेंगे।

चिकित्सा के पूर्व ज्ञातव्य—वैद्य की सिद्धहस्तता इसी में है कि वह अपने प्रतिपक्ष स्थित (रोग) योद्धा के बलाबल, प्रसरण शक्ति और उपस्थिति, परिस्थिति जन्य अन्यरोग तथा उपद्रवों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें। इस दिशा के सम्यक् ज्ञान पर ही वैद्य की जय पराजय अवलम्बित है। वृक्कदशा या उनकी अपनी आकृति क्या है?

वृक्कौ स्थूलौ कोमलौ च मानतो द्विगुणौ तथा।
तयोः शिराश्चोन्नतास्तु नाडिकासु द्रवोच्चयः॥
कलायाः मूत्रधारिण्याः क्षरणं चोपजायते॥

रुग्णावस्था में दोनों वृक्क पूर्वापेक्षा मोटे, भारयेद्विगुण एवं मृदु हो जाते हैं। उनकी शिराएं रक्त संचय के कारण फूल जाती हैं। नाड़ियाँ (Tubules) द्रवपूरित हो जाती हैं। एवं मूत्रधारिणी (कला) तन्तु अथवा अणु रूप में क्षरित होने लगती है। यह परिज्ञान क्ष-किरण तथा मूत्र परीक्षण साध्य है। वृक्क रोगों के संदेहरहितज्ञान के लिए आधुनिक मूत्रपरीक्षण विधि की सहायता परमावश्यक है।

उपद्रव—

फुफ्फुसे भित्तशोथश्चोरस्तोयोदकोदरः।
कासो मूत्रविषस्यापिरक्ते संगमनं पुनः॥
मूर्च्छा वृक्कामये त्वेते जायंते च ह्युपद्रवा।

सुदीर्घकालानुबंधी वृक्कशोथ, पाक आदि के कारण निमोनियां प्लूरिसी, उदकोदर, कास एवं रक्त में मूत्रीयविषों के सम्मिश्रण से मूर्छा (संन्यास) आदि की उत्पत्ति हो जाती है। अतः चिकित्सा से पूर्व इस दशा को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

चिकित्सा सूत्र—वृक्क रोग द्विधाविभक्त हैं। एक साधारण और दूसरा संक्रामक (Acute)। साधारणावस्था में रोगी विवश नहीं होता। येनकेन विधिना अपना दैनिक कार्यकलाप चला लेता है, परन्तु द्वितीयावस्था रोगी को हतोत्साह और विवश कर देती है। एवं वह



शय्याश्रित होने को विवश हो जाता है। साधारण चिकित्सा सूत्र दोनों पर एक से ही हैं किन्तु विशिष्ट दशा में चिकित्सा सूत्र भी विशेष ही होते हैं। यथा –

साधारण—

विरेचनं स्वेदनं च वाष्पस्वेदनमेव वा।
मूत्रप्रवर्त्तकं यत्स्याद्यद्वा शोणितशोधनम् ॥
पोषणं यच्च धातूनां यच्च वह्नो प्रदीपनम्।
अन्नपानौषधं हृद्यं वृक्करोगेषु योजयेत् ॥

विशिष्ट दशाएं—

जलौकालांबुश्रृंगैर्वा शिरायाः मोक्षणेन वा।
रक्तं विनिर्हरेत् प्राज्ञो विविच्यतु बलाबलम् ॥

वृक्करोगोद्भव सामयिक तीव्र कष्ट निवारणार्थ रक्त-मोक्षण अचूक उपाय है, परन्तु प्रत्यक्ष दृष्ट, कृतकर्मा चिकित्सक को ही यह मार्ग यशःप्रद होता है। वृक्कों का साधारण या सौम्य प्रकोप न तो असाध्य है और नहीं भयोत्पादक।

साधारण वृक्क दुष्टि के कारण—

(१) कभी-कभी गर्भिणी को गर्भावस्था में किसी भयंकर रोग से ग्रसित होने के कारण तीव्र रोग का प्रभाव वृक्कों पर होता है और कभी साधारण स्वास्थ्य वैषम्य एवं कभी पौष्टिक आहार की न्यूनता के कारण गर्भस्थ-शिशु के वृक्क निर्बल और कृशकाय होते हैं तथा जन्मोत्तर भी वह पूर्ण स्वस्थ नहीं बन पाते।

(२) शिशु के गर्भशय्या से भूलोक में आने पर तात्कालिक प्रयुक्त होने वाली शिशुचर्या के अभाव में भी वृक्कों के दुर्बल होने के उदाहरण मिलते हैं।

(३) शैशवकाल और बालक की मध्यावस्था में ही यदि–निमोनियां ब्रोंकाइटिस, रोमांतिका (तीव्र), तीव्र ज्वर आदि से ग्रसित होना पड़े तब भी वृक्क अपना स्वास्थ्य पूर्ण या अपूर्ण रूप से खो बैठते हैं। निदानकाल में यह पूर्ववृत्त भी स्मरणीय है। इसमें गुर्दों में साधारण क्रियावैशम्य होता है और ओजक्षरण होती है।

तीव्र वृक्कशोथ (Acute Nephritis) के कारण—

(१) असह्य शीतल वायु, जल एवं संरक्षण के पूर्ण अभाव में, बर्फानी पहाड़ों पर चिरकाल तक रहना, गर्म-सर्द होना, वर्षा में निरन्तर भीगना। शोणित काय ज्वर हारिद्रक ज्वर, आंत्रिक ज्वर, तीव्र विषमज्वर (मलेरिया) मसूरिका का तीव्र प्रकोप, मांसजात, कण्ठरोहिणी, बलय आदि तीव्र कण्ठ रोगों के बाद, विसूचिका, फिरंग, रक्त-पित्त, विसर्प, अग्नि से शरीर के मध्यभाग का अधिकांश भाग दग्ध होना, मद्याति सेवन, ग्राम्यधर्म में अतिशय प्रवृत्ति, तारपीन एवं कारबोलिक एसिड, सेलनीमखी (Cantharadine) गुर्दों के स्थान पर असह्य प्रहार अथवा चोट का लगना, कभी-कभी किसी विशिष्ट शल्य कर्म के पश्चात् अथवा शल्यकर्म दोषपूर्ण होने के कारण, आमवात, वातरक्त एवं निरन्तर अतिशय क्रोध, चिन्ता, क्षोभ, उपवास आदि के कारण वृक्क दुष्टि सम्भावित है। परन्तु ये कारण उसी अवस्था में सक्रिय होते हैं जब शरीर की रोग प्रतिहारिणी शक्ति दुर्बल हो। यह भी स्मरणीय है कि प्रबल वृक्क रोगों का प्रधान कारण दूषित रक्त ही है। विशेषकर तब जबकि इसमें यूरिया और यूरिकएसिड जैसे पदार्थ अधिक मात्रा में संचित हो जाएं।

रोग लक्षण—सामूहिक लक्षण ऊपर दिये जा चुके हैं। यहां उन तीव्र लक्षणों का प्रसंगोपान वर्णन उचित होगा जो अवस्था विशेषता में अधिक कष्टप्रद रूप धारण करते हैं।

यदि वृक्क रोग अति शैत्यता के कारण आरंभ हुआ हो तब यह अकस्मात् ही उत्पन्न हो जाता है अर्थात् पूर्वक्षण में स्वस्थ बैठे विठाए कुछ ही घण्टों में मुखमण्डल तथा समस्त शरीर सूज जाता है। ज्वर, शिरोव्यथा, वमन या वमन प्रतीति, व्याकुलता, तृषाधिक्य, कटिप्रदेश में भार बोध और शूल होता है। यदि दोनों वृक्क रोगी हो जाएं तब उदर में जल संचय होकर सर्वाङ्ग शोथ हो जाता है। मुख और पपोटे इतने सूख जाते हैं कि आंखें छिप जाती हैं। वृक्क स्थान पर तीव्र शूल या मन्द वेदना हो जाती है। बार-बार मूत्रोत्सर्ग की इच्छा होती है और मूत्र अल्पमात्रा में स्रवित होता है, मूत्र में दुर्गन्ध रहती है। वर्ण में पीतत्व, कृष्णप्रभता (यह अल्प रक्त मिश्रण से होती है) अथवा रक्तकण एवं पससैल्स तथा वृक्क रचना में भाग लेने वाली नाड़ियों की श्लेष्मिककला के तन्तु या कण रहते हैं। ओज (Albuman) बाहुल्यता रहती है। रोग की प्रबलावस्था में मूत्रनिःसरण नाममात्र ही रह जाता है। इस प्रकोपकाल में यदि भाग्य सहायक हुआ तो रोगी के दुर्लक्षण शनैः–शनैः घट जाते हैं और रोगविशिष्ट

नित्र उदर में जल संचय रुक जाता है। शनैः-शनैः मूत्रीय शब्द भी लुप्त होते जाते हैं। यदि भाग्य सहायक रूप नहीं लेता तब निमोनियां होकर अथवा मूत्रविष (uraemia) की अतिशय वृद्धि मृत्यु सूचक होती है।

वृक्कावयवज विकृतियां एवं तज्जन्य सलक्षण अवस्थाएं (Uraemia)

(१) वृक्कीय अकर्मण्यता—यह द्विधा विभक्त है। तीव्र तथा चिरकालीन वा जीर्ण। इसका सीधा सम्बन्ध वृक्क विकृति से है। वृक्कों की विकृति के कारण ने विषैले पदार्थ जो मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकलते हैं वे शरीर में संचित होकर विष के लक्षणों को जन्म देते हैं। स्वस्थ वृक्क यूरिया एवं यूरिकाम्ल आदि द्रव्यों को जो प्रोटीन के प्रयुक्त हो जाने पर उनके विश्लेषण से बनते हैं, मूत्र द्वारा बाहर निकलते हैं। वृक्कों में निःसृतिकरण की शक्ति का ह्रास होने से ये विषैले पदार्थ रक्त में सम्मिलित होते रहते हैं तथा इस रोग को उत्पन्न करते हैं। इसके लिए प्रचलित विचारधारा यही है। अभी तक निश्चित रूप से यह कहना कि किस द्रव्य विशेष से ऐसा होता है? यह अन्वेषण कोटि में है।

तीव्रावस्था (सन्निपातिक)—अचानक शिरःशूल, शिरोभ्रम, व्याकुलता आदि लक्षणानुभूति होती है। तदनु कुछ समय के बाद हाथों और मुख पर उत्क्षेपण से होने लगते हैं। पश्चात् शीघ्र ही उत्क्षेपणानुभूति समस्त शरीर में होने लगती है और साथ ही तन्द्रावस्था भी बढ़ती जाती है। तन्द्रा के अत्यधिक बढ़ने से रोगी मूर्च्छित होकर संसार को छोड़ देता है। दोष दुष्टि एवं यूरिमियां की अंशांश कल्पना के आधार पर सर्वत्र और सर्वदा यही लक्षण नहीं होते अपि तु भिन्न भी होते हैं और उपर्युक्त लक्षणों से भिन्न अनेक प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी अत्युग्र शिरोव्यथा और दृष्टिमांद्य या दृष्टिनाश ही होता है या उत्क्षेपण के अनन्तर अथवा अकस्मात् पक्षाघात या शाखाघात के लक्षण उत्पन्न होते हैं। एवं अतिउग्र कण्डू, तोद, भेद, अंगस्फुटन, उद्वेष्टन अनिद्रा आदि हो जाते हैं। कभी-कभी जीर्ण वृक्कशोथ के श्वास, वमन, उत्क्लेशादि लक्षण भी होते हैं। अंग में तन्द्रा और मूर्च्छा से रोगी मृत्युमुख में चला जाता है। आद्यारम्भ में ही यदि सुचिकित्सा की जाए तो रोगी इस भयंकर परिणाम से बच भी जाता है।

जीर्ण वृक्कशोथ—इस दशा में वृक्क रोगी, मस्तिष्क श्वास संस्थान एवं उदर गुहा के रोगों से विशेष रूप से पीड़ित होता है।

(१) मस्तिष्क सम्बन्धी लक्षण प्रायः तीव्र वृक्कशोथ में होते हैं जो ऊपर दिये गये हैं।

विशेष लक्षण स्थायी और असह्य शिरःशूल है जो प्रायः अदम्य ही होता है। कुछ समय के पश्चात् शिरोभ्रम उत्क्षेपण, पक्षाघात, दृष्टिनाश विभ्रम आदि प्रबल यूरिया के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कभी स्वाभवतः मन्द भी पड़ जाते हैं।

(२) श्वास सम्बन्धी लक्षण प्रायः किंचित्तीव्रावस्था (Subacute) में होते हैं। सबसे अधिक श्वासकष्ट है। इसके साथ मुखपाक, दन्तवेष्टशोथ विशेष लक्षण होते हैं। युगपत् इन लक्षणों की विद्यमानता एक ही स्थान पर उपलब्ध हो तब निःसन्देह यूरिया मान लेना चाहिए। ऐसी दशा में रोगी की मूर्च्छा के कारण मृत्यु हो जाती है। मूर्च्छितावस्था में रोगी के मुख से मूत्रगन्ध आती है।

(३) उदर सम्बन्धी परिचायक लक्षण—उत्क्लेश, वमन, अतीसार और हिचकी आदि लक्षण जान पड़ते हैं। परन्तु मूत्र परीक्षण से ही वृक्क रोग का निश्चय होता है। मूत्र द्वारा निःसृत होने योग्य पदार्थों को यन्त्र द्वारा बाहर निकालने की चेष्टा में व्रण हो जाते हैं इसी से अतीसार हो जाता है। इस रोग में अतीसार भयंकर दुर्लक्षण है।

जीर्ण वृक्कशोथ में प्रायः ही वृक्कीय रचना और कार्य प्रणाली में विकृति आ जाती है। मूत्र निर्माण करने वाली नाड़ियां विकृत (Chronic Parenchymatous Nephritis) होती हैं। कुछ काल के पश्चात् नाड़ियों की केन्द्रस्थ सेलें भी प्रभावित हो जाती हैं। आद्यारम्भ में वृक्क मोटा और स्थूल होता है। इसे स्थूल श्वेतवृक्क कहते हैं। (Large White Kidney)। तदनु यदि रोग स्थिति चलती रहे दीर्घकालान्तर सौत्रिक तन्तु बढ़ जाते हैं। परिणामतः वृक्क संकुचित हो जाते हैं। इसे (Small White Contracted Kidney) नाम से सम्बोधित करते हैं।

कभी-कभी शोथ से केन्द्रीय सैलें अधिक पीड़ित होती हैं तब इसे जीर्ण केन्द्रस्थ वृक्कशोथ कहते हैं (Granular Kidney)। इस अवस्था में अद्भुत लक्षण भिन्नता उपलब्ध होती है। इसमें मूत्र अधिक आता है। ओजोनिःसरण कम होता है। आपेक्षिक घनत्व घट जाता है। अन्त में वृक्क संकोच उत्पन्न होता है।

नालोस्थ जीर्ण वृक्कशोथ

(Chronic Parenchymatous Nephritis)

जीर्ण वृक्कशोथ के पश्चात् ही यह दशा आती है। प्रारम्भ में ही पूर्ण निदान न होने तथा चिकित्सा के पाद चतुष्टय के अभाव या त्रुटिपूर्ण होने से परिणाम सुखद नहीं होता। क्रमिक वृक्क विकृति के अतिरिक्त गर्भावस्था में ओजोमेह, तदनु मदात्यय, उपदंश, विषमज्वर, तीव्र विषाक्त औषधि सेवन, दारुण आघात भी इसे उत्पन्न करने के कारण बन जाते हैं। इसमें वृक्कों के वे अवयव जो मूत्रोत्पादन एवं निःसरण क्रिया करते हैं, प्रायः निज कार्य में असमर्थ हो जाते हैं। इससे प्रायः समग्र शरीर में आर्द्र शोथ और मूत्रविष के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। मूत्र परिमाण घट जाता है। मूत्र में तलस्थ उत्क्षिप्त अधिक मिलते हैं। मूत्रपरीक्षण से यह निश्चय हो जाता है कि इसमें हरिद और यूरेटस अल्प हैं एवं ओज और अन्य अनेक उत्क्षिप्त उपस्थित हैं। शोथ के कारण शरीर शोथमय प्रतीत होता है। आरम्भ में यह शोथ केवल प्रातः ही दृष्टिगोचर होता है। वमन, शिरोव्यथा, अतिसार से रुग्ण अधिक दुःख अनुभव करता है। इस दशा का उचित प्रतिरोध न होने से नेत्रेन्द्रिय के अन्तःपटल पर विकृति (मूत्र द्वारा अवहिष्कृत यूरिया से उत्पन्न उपद्रव दृष्टिभाग में पहुँच जाने से) होने लगती है। दृष्टि दौर्बल्य उत्पन्न हो जाता है। नेत्र गोलक का कृष्णमण्डल अपने वर्ण में नहीं रहता। शनैः-शनैः धूसर हो जाता है। इस दुरत्यावस्था से मूत्रविषजन्य मूर्च्छा से रोगी वैकुण्ठवासी हो जाता है। अथवा ऐसी चिकित्सा न होने से जो मूल रोग को निःशेष कर सके एवं अवशता तथा पथ्य प्रिय न होने से या भाग्य सहायक न होने से कुछ काल तक इसी अवस्था से संघर्ष करता है और परिणामस्वरूप जब केन्द्रस्थ प्रणालीय तन्तु नष्ट हो जाते हैं और उनके स्थान पर अथवा उनके इतस्ततः सौत्रि तन्तु [illegible] जाते हैं, तब इनके संकोच के कारण पीड़ित वृक्क संकुचित हो जाता है। तब इसे "संकुचित श्वेत वृक्क" कहते हैं।

यह अवस्था भी सुखद नहीं होती। स्थूल श्वेत वृक्क के रोगी का जीवन दो वर्ष ही समझा जाता है। सुचिकित्सा एवं सम्पन्नता होने पर जीवनकाल में वृद्धि सम्भव है।

इससे आगे की दशाएं और भी हैं, जिनमें चिकित्सा निष्फल ही रहती है यथा शार्करिक वृक्कशोथ (Cronic Interstitial)। इसमें अनेक दुर्निवार लक्षण समूह उपस्थित रहता है।

चिकित्सा प्रकरण—आयुर्वेदीय सिद्धान्त के अनुसार विश्वम्भर की समस्त चिकित्सा पद्धतियों में भी आधारभूत तीन स्तम्भ समान रूप से अपनाए जाते हैं। प्रथम औषधि प्रयोग, द्वितीय अन्न (चतुर्विध खाद्य, लेह्य, चोष्य, पेय), तृतीय विहार (इसमें रोगी की समस्त चेष्टाएं परिचर्या, रोगी सेवा) में सम्मिलित हैं। इनका उचित, सम्यक् तथा युक्तियुक्त प्रयोग निश्चित सुखदायक होता है। अतः रोग मुक्त करने के लिए चिकित्सक को सर्वदा सतर्क रहने की अनिवार्य आवश्यकता है।

वृक्क रोगों की साधारण अवस्था—में कोई विशेष कष्ट नहीं होता। रोगी अपने स्वास्थ्य में दैनिक कष्टों के कारण परेशान अवश्य रहता है और अपना दैनिक कार्य भी चलाता रहता है। इसका संकेत ऊपर दिया जा चुका है। रोगी परीक्षण के अनन्तर जब यह निश्चय हो जाए कि रोगी वृक्कीय रोगों की चपेट में आ रहा है तब साधारण क्रिया क्रयोक्त विरेचन, स्वेदन, वाष्पस्वेद मूत्रप्रवर्तक और रक्तशोधक द्रव्यों का आश्रय लेना चाहिए। उपर्युक्त ध्येय को प्राप्त करने के लिए चिकित्सक बन्धु अपने अनुभवानुसार औषधि कल्पों का प्रयोग कर सकते हैं। वृक्करोग चिकित्सा के इस प्रकरण में हम उसी चिकित्सा क्रम को विज्ञबंधुओं को भेंट कर रहे हैं जिसे कई दशकों से नित्य व्यवहार में लाया जा रहा है। यह स्मरणीय है कि वृक्करोगी को आरम्भ में वृक्कशूल साधारण और कभी तीव्र रूप से होता है। यहीं से विकृति आरम्भ होती है। वृक्कशूल आवश्यक नहीं कि प्रति

है। एक बार शूल होकर २, ४, ६, महीने तक भी दौरा नहीं होता, कभी प्रति सप्ताह या पाक्षिक या मासिक भी



वृक्काश्मरी में रोगी की विशिष्ट प्राकृति

रोगी प्रायः विकारीवृक्क के पृष्ठ को हाथ से दबाकर उस ओर किंचित् झुका रहता है।

होता है। यह दशा शूलोत्पादक स्थिति और रोगी के पथ्यापथ्य पर निर्भर रहती है।

वृक्करोगी को प्रायः ही कोष्ठबद्धता रहा करती है। एवं मंदाग्नि, अरुचि, आलस्य, तन्द्रा तथा मानसिक व्याकुलता।

विरेचन—साधारणावस्था में कोई भी विरेचक औषधि देकर अन्त्रस्थ मल को निकाल देना प्रथम कर्तव्य है। तदनु शिवामृत+त्रिफला चूर्ण ४ तोला, सामुद्रलवण (मेगसेल्फ) ४ तोला—दोनों को मिलाकर रख लें। इस योग की ३-४ माशा की मात्रा को ५ तोला अर्क सौंफ या उष्णोदक में घोलकर रोगी को प्रातः निरन्नोदर पिला दिया जाता है। इससे बृहदन्त्र में संश्लिष्ट कफ तथा आम शनैः-शनैः द्रवीभूत होकर मल के साथ निकल जाते हैं और रोगी कुछ-कुछ सुखानुभूति अनुभव करता है। तदनु रोग के लक्षणों की तारतम्यता के आधार पर—अविपत्तिकर चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण, हिंगुद्रिरुतरादि चूर्ण, यवान्यादि चूर्ण, आरोग्यवर्धिनी वटी एवं महाशंखवटी और अग्नितुण्डी वटी का प्रयोग करना तथा रोगी को दिनचर्या पालन का महत्व बता देने से तथा पथ्यापथ्य-पूर्वक रहने से वृक्करोग होने की सम्भावना जड़मूल से नष्ट हो जाती है।

वृक्कशूल—साधारण वृक्कशूल में वृक्कीरचना में कोई विघटन नहीं होता। यह प्रायः वातप्रधान शूल है। शीघ्र ही वेगोपरांत शान्त हो जाता है। पुनः अपथ्याशियों को यह सामयिक होता है। प्रायः इस में वातविकृति अधिक रहती है, इसकी चिकित्सा में विरेचक और मूत्रल औषधें तत्काल वेगशामक होती हैं। गरम पानी की बोतल से अथवा तापस्वेद का प्रयोग भी सुखकर होता है।

(१) औषध रूप में शुभ्र पर्पटी (कल्मी सोरा स्फुटिका से निर्मित) ४/४ रत्ती की मात्रा से ३/४ मात्रा देने से शूल शान्त हो जाता है।

(२) गोरखपान बनस्पति के २ तोला पत्रों को क्वाथ विधि से प्रस्तुत क्वाथ में कल्मी सोरा ४ रत्ती, घृत ६ माशा, गुड़ १ तोला मिलाकर सेवन करने से भी लाभ होता है।

(३) पंजाब प्रान्त की पीले बीजों वाली ज्वार के भुट्टे (फली) के साथ कोमल रेशम सदृश लम्बे-लम्बे पीतप्रभ सूत्र होते हैं। इन्हें संग्रह करके, शुष्क करके रख लिया जाता है। आवश्यकता पर २ तोला भर लेकर १ पाव पानी में क्वाथ करें चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ में घृत ६ माशा गुड़ १ तोला मिलाकर पान करने से वृक्कशूली सुख अनुभव करता है। वेग शान्ति के पश्चात् सप्ताह तक प्रातः केवल एक मात्रा नित्य सेवन करने से शूल का पुनराक्रमण रुक जाता है।

वृक्कशूल—यह विशेष दर्दगुर्दा भयंकर होता है। इसमें वृक्क में अश्मरी निर्मित होकर स्थानीय वृक्कीय नाड़ियों पर भार वृद्धि से वृक्क के अन्दर और बाहर मन्द-मन्द वेदना हुआ करती है। कभी-कभी तीव्र वेदना



भी होती है। उस समय वेदना में अतिशय वृद्धि हो जाती है, जब वृक्कस्थ अश्मरी अपने स्थान से चलायमान होकर वृक्क के उस स्थान पर पहुँचती है जहां वृक्क का गवीनी का सम्बन्ध हुआ है। इस सम्बन्ध स्थान का विवर छोटा है। इस संगम स्थान पर स्थित अश्मरी यदि इस योग्य है कि वह छोटे छिद्र से निकल कर गवीनिका में पहुँच जाए तब तीव्र वेदना शान्त हो जाती है और यदि अश्मरी स्थूल हो जाने के कारण आगे नहीं चलती तो इस प्रलयंकारी वेदना का शास्त्रोपचार के बिना कोई उपाय नहीं।

गवीनिका में मन्द गति से चलते-चलते भी शूल हुआ करता है। तदनु मूत्राशय में पहुँचने पर भी शूलोद्गम होता ही रहता है।

इस अवस्था में मूत्रल औषधों का प्रयोग लाभदायक रहता है। जो अश्मरियां अत्यन्त कठोर नहीं मूत्राधिक्य के कारण उनका सूक्ष्म भाग क्षरित होकर निकलता है। रोगी के मूत्र संचय से मूत्र के तलभाग में शर्करा अथवा सिकता कृति कण देखे जा सकते हैं। इस कष्ट की तत्काल शान्ति के लिए—अजमोद १ तोला २० तोला पानी में अर्धावशिष्ट क्वाथ बनाकर गोक्षुरु क्षार और पुनर्नवा क्षार १-१ माशा मिला दें। तदनु गुड़ १ तोला मिला लें। यदि इस प्रक्रिया में क्वाथ शीतल हो जाए तब उसे थोड़ा उष्ण करलें और १ तोला गव्य घृत डालकर पिलादें। प्रभु कृपा से तुरन्त लाभ प्रतीत होगा। पांच-सात दिन इस का प्रयोग करना चाहिए। पंचतृणमूल से निर्मित क्षार २ तोला, कदलीक्षार, मूलकक्षार, कल्मीसोरा गोक्षुरुक्षार, पुनर्नवाक्षार एक-एक तोला मिलाकर रखलें। मात्रा १ माशा खीरे के बीज और श्वेत जीरक ६-६ माशा को पीसकर ५ तोला जल ऊपर से पिलादें। ऐसी ३-४ मात्रा २४ घंटा में देने से वृक्क, गवीनी और वस्तिस्थित अश्मरी ५-७ दिन में ही निकल जाती हैं। इसके प्रयोगकाल में दुग्धाशी वा मांसरसाशी रहना लाभदायक रहता है। संतरा, मौसम्मी का रस, आम, पपीता, गाजर भी ली जा सकती है।

इनसे अतिरिक्त—रसरत्न समुच्चयोक्त—त्रिविक्रम रस, पाषाणभेदी रस तथा आनन्दभैरवी वटी का प्रयोग भी अश्मरी भेदन और निष्कासन के लिए उत्तम योग है। वृक्कशूल तो प्रसंगोपात्त ही आगया।

तीव्र और जीर्ण वृक्कशोथ—ये दोनों रोग उत्तरोत्तर क्रमिक रूप से उत्पन्न होते हैं और इन्हीं की उपेक्षा करने अथवा उचित चिकित्सा के अभाव से इनकी अगली दशाओं से रोगी को कष्ट उठाना पड़ता है। तीव्र और जीर्ण वृक्कशोथ की विधिवत् चिकित्सा तब ही सम्भव है जब तक कष्टप्रद उपद्रव उत्पन्न नहीं होते।

रोगी की प्राणरक्षार्थ उपद्रव शान्ति का उपाय शीघ्र होना चाहिए। इसी पर वैद्य का यश अवलम्बित है। प्रधानतः उपद्रवों की चिकित्सार्थ यहां प्रयत्न किया है।

उपद्रवों का कारण—तीव्र और जीर्ण वृक्कशोथ ही यूरीमिया को उत्पन्न करते हैं। इसी यूरीमिया के कारण—श्वासकष्ट, मस्तिष्क विकार, उत्क्षेपण शिरोव्यथा, शिरोभ्रम, तन्द्रा, उत्क्लेश, वमन, मूत्राल्पता एवं मूत्र में रक्तागमन, ओज एवं अन्य उपद्रवों का निस्सरण प्रारम्भ होता है। यही लक्षण निर्बल हों तो स्वास्थ्यलाभ हो सकता है। प्रबल सर्व सम्पूर्ण लक्षणों की उपस्थिति में परिणाम दुःखद होता है। सर्व सम्भव उपायों द्वारा प्रयत्न यही होना चाहिए जिससे यूरीमिया के कारण मूत्रपिण्डों के कार्य का अवरोध समाप्त किया जाए।

उपाय पंचक—विरेचन, स्वेद प्रवर्तन, मूत्र प्रवर्तन, शोणित मोक्षण, औषधोपचार। वृक्कामय के रोगियों की चिन्तनीय दशाहोने पर भी यदि इस पंचधा चिकित्सा क्रम को बहुदृष्ट-प्रताप ऊहापोह विचक्षण कुशल चिकित्सक द्वारा समवेत रूप से चलाया जावे तब शीघ्र ही रोगी की दशा में सुधार उपस्थित हो जाता है।

(१) विरेचन—वृक्करोगी को प्रतिदिन मलोत्सर्ग होना चाहिए। इससे रक्तशोधन में विशेष सहायता मिलती है। पुरीषधरा में चिरकाल तक मल के रहने से तद्गत लवण क्षारादि का शोषण होता है और यह रक्त द्वारा संचालित होकर वृक्कों में एकत्रित होकर रोगवृद्धि का कारण बनते हैं।

विरेचनार्थ उपर्युक्त—शिवामृत ४ माशा। प्रातः निरन्नोदर अर्क सौंफ मकोय (काकमाची) अथवा ५ तोला शीतल जल में मिलाकर देना अतिशय लाभदायक

रहता है। इसके २-४ दिन सेवन करने से स्वाभाविक मलोत्सर्ग आरम्भ हो जाता है। जयपाल, स्नुही दुग्धादि निश्चित तीव्र विरेचक द्रव्य कदापि देय नहीं।

(२) स्वेद प्रवर्तन––स्वेद प्रवृत्ति से संकटापन्न वृक्क रोगी को तुरन्त लाभ पहुँचता है इसके कई प्रकार हैं। स्थानिक और आपादमस्तक। स्थानिक में वृक्क-स्थान पृष्ठभाग और कटि प्रदेश पर उष्णजलावगुंठित वस्त्र को बार-बार रखकर स्वेद देना। अथवा गरम पानी की बोतल या किसी पतले, चौड़े पाषाण खण्ड को गरम करके स्वेदोद्‌गम कराना। दूसरे प्रकार में जब सर्वांग वेदना, शोथाधिक्य हो तब रोगी के शरीर को गरम जल में भिगोकर मोटी खादी की चद्दर से लिप्त करके शय्या पर एक कम्बल बिछाकर लिटा दें और ऊपर से दो मोटे कम्बलों से शरीर को ढक दें। रोगी का मुख खुला रखना चाहिए। इससे थोड़े समय के पश्चात् पर्याप्त पसीना आता है। रोगी के कष्टों में लघुता उत्पन्न होती है। ध्यान रहे यह कम्बलस्वेद नित्य नहीं देना चाहिए। सप्ताह में दो बार ठीक रहता है। अत्यधिक स्वेद से दुर्दौर्बल्य का भय रहता है। यह भी स्मरणीय है कि स्वेदोद्‌गमार्थ कोई भी बलवान स्वेद्य औषध खाने के लिए देना निरापद मार्ग नहीं।

(३) मूत्रप्रवर्तन––को वृक्करोगी का जीवनदाता कहना चाहिए। मूत्राल्पता एवं उसके भीतर दृश्यमान निक्षिप्त ही इस रोग का मूलकारण हैं। इसकी आधार-भूत वह दशा है जब वृक्कीय मूत्रोत्पादन तथा मूत्रप्रवर्तक रचनाक्रम में व्याघात उपस्थित होता है। मूत्रोत्पादन तथा निःसरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति तब ही सम्भव है जब वृक्कशोथ में ह्रास उत्पन्न हो। क्रमिक मूत्र निःसरण लाभकर है और यह दशा सहायक होती है जब मूत्र संस्थानीय अवयवों का शोथ दूर हो। अत्युग्र मूत्रल औषधों का प्रयोग भयंकर हानिकर होता है। कारण कि मूत्रल द्रव्य आशु मूत्रोत्पादक होने से मूत्र तो उत्पन्न करते हैं परन्तु वृक्कों के शोथ गुह्य होने से मूत्रप्रणालियां मूत्रोत्सर्ग करने में असमर्थ होती हैं। परिणामतः वृद्धिगतमूत्र मूत्र-नलिका से बाहर न निकल कर रक्त में मिल जाता है और यूरीमिया की वृद्धि का कारण बन जाता है।

(४) रक्तमोक्षण––प्रवृद्ध दुःखदायक लक्षणों में रक्तमोक्षण और रक्तशोधक दोनों उपायों का अवलम्बन किया जाता है। मूत्र की उचित मात्रा का निःसरण न होने से उसके द्वारा निकलने वाले अपद्रव्य रक्ताश्रित होकर यूरीमिया की वृद्धि करके मूत्र में रक्त आने लगता है। मूत्रवर्ण नील एवं कृष्ण वर्ण का आने लगता है। अन्न प्रणाली में क्षत होकर रक्तातीसार भी हो सकता है। कभी-कभी नासिका से नक्सीर फूट पड़ती है (नाक से रक्त प्रसावण शुभ लक्षण है)।

इन लक्षणों की तत्काल शान्ति के लिए––शिरामोक्षण एवं वृक्क कटि के स्थान पर पीड़ा और शोथ होने पर दूसरे उपाय प्रयोग में लाए जाते हैं। शिरामोक्षण का अभ्यास न हो तब कूर्पर के मध्य की शिरा को विधिवत् जाग्रत करके सिरंज द्वारा भी रक्ताकर्षण साध्य होता है। परन्तु इसमें भी कृतकर्मा होना आवश्यक है। तीव्र लक्षण कम होने पर रक्तशोधक औषधों का उपयोग फल-प्रद होता है।

(५) औषधोपचार––इस उपचार में–आरम्भिक अवस्था, साधारण अवस्था, अत्युग्र अवस्था (तीव्र और जीर्ण वृक्क शोथ), औपद्रविक अवस्था (यूरीमिया की अतिवृद्धि से उत्पन्न दुर्लक्षणसमूह) सम्मिलित हैं।

प्रारम्भिक एवं साधारण दशा में रोगी का मलमूत्र स्वाभाविकतया चलता रहे। एतदर्थ अग्निवर्धक अनुलोमक औषधों के प्रयोग के साथ-साथ पौष्टिक आहार का सेवन और व्यायाम पर्याप्त हैं।

तीव्र और जीर्ण वृक्कशोथ ही चिकित्सा का मुख्य स्थान है। इनमें सुधार आने से व्याधि का अग्रप्रसरण अवरुद्ध हो जाता है।

इस अवस्था में नियमित पुरीषोत्सर्ग होता रहे एत-दर्थ उपर्युक्त शिवामृत १ चम्मच उक्त अनुपान से नित्य प्रातः निरन्नोदर देना चाहिए। प्रातः ८ बजे सर्वतोभद्रा-वटी (भैषज्य र०) २ रत्ती पीसकर मधु के साथ चटाना ऊपर से आगे लिखे गुडूच्यादि अर्क को अनुपान के रूप में प्रयोग करना। १२ बजे चन्द्रकला रस ४ रत्ती (योग-रत्नाकर मूत्राघाताधिकारोक्त) गुडूच्यादि अर्क से। सायं ४ बजे प्रभाकरवटी (भैषज्य र०) दो रत्ती गुडूच्यादि



अर्क से। रात्रि शयनकाल में—माहेश्वरवटी २ रत्ती गुडूच्यादि अर्क से। इस प्रकार नियमित चिकित्सा से ८-१० दिन में रोगी अपने आपको पूर्वापेक्षा अधिक सुखी अनुभव करता है। वृक्कों के तीव्र और जीर्ण वृक्कशोथ में उक्त चिकित्सा से शनैः-शनैः शोथ का ह्रास होता जाता है और वृक्कों में मूत्रोत्सर्ग की शक्ति बढ़ जाती है। एतावत मात्र सफलता से रोगी का कल्याण आरम्भ हो जाता है। इस रोग में सौम्य चिकित्सा ही सिद्ध होती है। तीव्र और आशु लाभकर औषधियों का परिणाम विपरीत ही होता है।

उपद्रव चिकित्सा—इस रोग में उपद्रवों की सृष्टि तब ही आरम्भ होती है जब तीव्र और जीर्ण वृक्कशोथ उचित चिकित्सा के अभाव में यूरीमिया की संज्ञा धारण करता है। प्रायः न्यूनाधिक रूप से निम्न लक्षण कष्ट-दायक रूप धारण कर लेते हैं। यथा—श्वासकष्ट, मुख-पाक, दंतवेष्ट शोथ, शिरोभ्रम, शिरोवेदना, उत्क्षेपण, तन्द्रा, मूत्र में रक्तस्राव, वमन, उत्क्लेश, कटि एवं वृक्क स्थान पर शूल, ये सर्व सम्पूर्ण लक्षण तो समवेत रूपेण एक ही रोगी में उपलब्ध नहीं होते। परन्तु जो भी उप-लब्ध हों वह अतिशय कष्टदायक होता है। अतः इसका शमनोपाय तुरन्त ही होना चाहिए।

श्वास—इसकी निवृत्ति के लिए सितोपलादि चूर्ण १ माशा, अभ्रकभस्म १ रत्ती, कलमीशोरा २ रत्ती। ऐसी एक दो मात्रा चंदनासव के साथ देनी चाहिए। अथवा मधुयष्टी चूर्ण ४ रत्ती सौभाग्य भस्म दो रत्ती उष्ण किए हुए गुडूच्यादि अर्क से देना हितकर होता है कण्ठ और छाती पर महानारायण तैल मर्दन करके रबड़ की बोतल में गरम जल भरकर स्वेद देने से भी लाभ होता है।

मुखपाक—एतदर्थ आगे लिखे 'आरग्वधादि अवलेह' का सेवन तथा आमलकी और उदुम्बरपत्र क्वाथ से गण्डूष और इसी कल्क से कवल धारण अति उप-योगी है।

दन्तवेष्ट शोथ—शान्त्यर्थ मुखपाक शामक चिकित्सा प्रयोग की जाती है।

शिरःशूल शिरोभ्रम—ये दोनों लक्षण रक्त में यूरीमिया के कारण से उद्‌भुत होते हैं। इन दोनों के प्रशमनार्थ—त्रिफलाचूर्ण ३ माशा, हरिद्राचूर्ण १ माशा, स्फुटिकाभस्म १ माशा, गैरिक १ माशा, चन्द्रभागा चूर्ण १ माशा। मिलाकर रख लें। इसकी १-२ माशा मात्रा गुडूच्यादि अर्क या गोदुग्ध से दी जाती है। ऊपर से आरग्वधादि अवलेह १ चम्मच चटाया जाता है। अथवा वैक्रांतभस्म स्वर्णभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, स्फुटिकाभस्म समान भाग लेकर १-४ रत्ती की मात्रा से आरग्वधादि अवलेह से चटाकर गुडूच्यादि अर्क अथवा चंदनासव, उशीरासव या अरविंदासव, सारस्वतारिष्ट अनुपान रूप से देने से लाभ होता है।

तन्द्रा और उत्क्षेपण—शांत्यर्थ भी ऊपर के दोनों योग देने से अच्छा लाभ होता है।

वमन, उत्क्लेश—इनकी शांति के लिए यवक्षार ४ रत्ती शीतल जल में घोलकर अथवा—विशुद्ध यवक्षार के अभाव में (Potas Bicarbonate) आधी चम्मच आधे गिलास जल में मिलाकर दिन में २-४ बार देने से लाभ हो जाता है। अथवा—मधुरक्षार (Sada Bicarbe), नृसार, सूर्यक्षार (कलमीशोरा) एक-एक रत्ती गुडूच्यादि अर्क २ तोला में घोलकर थोड़े-थोड़े समय के बाद देते रहने से दोनों उपद्रव शीघ्र शांत हो जाते हैं।

मूत्र में रक्त की उपस्थिति तथा ओजोवि-स्रंसन—में कारस्कादि क्वाथ प्रातः तथा सायं हरीत-क्यादि क्वाथ एवं रात्रि को चन्दनादि चूर्ण ४-८ रत्ती तक चन्दनासव से दिया जाता है। ये तीनों योग भैषज्य रत्नावली के ओजोमेहाधिकार में वर्णित हैं। एक सप्ताह के प्रयोग से इच्छित लाभ प्राप्त होता है।

वृक्क और कटिशूल—शूलशांति के लिए वाह्यो-पचार लाभकर होता है। उष्ण जल प्लावित वस्त्र से पीड़ित स्थान पर सेचन करना तथा अमली, ईसबगोल खमाचदाना, तीनों को समान भाग लेकर उत्कारिका (पुलटिश) बांधना। नारायणतैल से मर्दन करना अथवा श्रृंगी या जलौका (एक स्थान पर १५-२० लगाना। इसमें ५-१० तोला तक रुधिर निकलता है। यह रक्त ऐसा सविष होता है कि इसके प्रभाव से जलौकाएं मर जाती हैं। रोगी को लाभ हो जाता है यह क्रिया आवश्य-कता पड़ने पर सप्ताह में एक बार ही करनी चाहिए।

गुडूच्यादि अर्क—सकांडपत्रा गुडूची, पर्पट, उशीर, नेत्रवाला, गोक्षुरु, पुनर्नवा पंचांग, काकमाची, फूल गुलाब, (असली अर्क वाले), श्वेत चंदन, रक्तकमल, सौंफ मीठी, कुमारीपत्र, पाषाणभेद, हरिद्रा। प्रत्येक एक-एक पाव। कुट्टित करके १६ सेर मीठे जल में भिगो दें। प्रातः अर्क निकालने वाले यंत्र के द्वारा विधिवत् १२ बोतल अर्क निकाल लें। इसका उपयोग अनुपान तथा जल पान के रूप में किया जाता है।

आरग्वधादि अवलेह—यह वृक्क रोगियों के लिए हमारा प्रधान शस्त्र है। प्रत्येक दशा में इसे दिया जाता है। अनुपान रूप से तथा स्वेच्छा से दिन में कई बार एक-एक चम्मच चाटते रहना चाहिए। इससे मल मूत्र की सम्यक् प्रवृत्ति होने लगती है वृक्कशोथ शनैः-शनैः दूर हो जाता है। जिससे मूत्रोत्पादन एवं निःसरण सुधरता जाता है। रोग निदान ठीक समय पर होते ही इसके प्रयोग से वृक्कस्थ शोथ, उनकी अकर्मण्यता दूर होकर रक्त की शुद्धि होती है।

आरग्वधादि अवलेह का योग—आरग्वध की फली का अन्तर भाग ३ पाव। गूदाफली से स्वयं निकालें। बाजार का निरर्थक होता है। क्वाथार्थ—पंचतृण मूल, शतावरी, गोक्षुरु पंचांग, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी काकमाची, पुनर्नवा पंचांग, धनियां, श्वेतजीरक, उन्नाव। इन दस द्रव्यों को पृथक्-पृथक् १५० ग्राम लेकर क्वाथ योग्य कूट-कर चतुर्गुण जल से स्वच्छ पात्र में पाक करें। चतुर्थांशा-वशिष्ट रहने पर पात्र को शीतल होने के लिए अलग रख दें। शीतल होने पर दोनों हाथों से या लकड़ी के ध्वज (मुसद्द) से खूब मर्दन करें। इस क्रिया से क्वाथ का जल पूर्वापेक्षा कुछ गाढ़ा हो जाएगा। इस घोल को ऐसे वस्त्र से छान लें जिसके छिद्र विरल हों। अति संहित नहीं। यह छना हुआ क्वाथ गाढ़े रूप का होना चाहिए।

प्रक्षेप द्रव्य—स्वर्णपत्री चूर्ण २ तोला, त्रिवृत चूर्ण ३ तोला, फूल गुलाब असली का चूर्ण ४ तोला, खीरे के निष्तुप बीजों की गिरी का चूर्ण ३ तोला, द्राक्षा बीज रहित २० तोला। गुठली रहित इमली के बीजों का वक्कल ४ तोला।

निर्माण विधि—प्रथम आरग्वध फलियों से प्राप्त केवल कृष्णप्रभ चक्रिकाएं लेकर, १ स्वच्छ कलईदार पतीला में आधा सेर जल को गरम करें। जब जल खौलने लगे तब आरग्वध डालकर पात्र के मुख को ढांकदें और नीचे अग्नि शांत कर दें। २ घंटा के पश्चात् इनको हाथ से मसलकर विरल छिद्र वस्त्र से छान लें। छनने के पश्चात् निष्पीडित भाग को थोड़ा और जल देकर मर्दन करके पुनः छान लें ताकि द्रव्यगत ग्रहणीय भाग पूर्णतया प्राप्त हो। तदनु इमली के बीजों के वक्कल को १५-२० तोला पानी में दो घंटे भिगोकर तथा मसलकर उसी वस्त्र से छानकर पृथक् रखें। अब एक पत्थर की स्वच्छ शिला पर धौत और बीज रहित मुनक्का को पीसें और थोड़ा-थोड़ा इमली से तैयार किए जल को डालकर दृढ़ मर्दन करें। बिना द्रव की सहायता के द्राक्षा के बीजों की संर-क्षक त्वचा का सम्यक् पेषण नहीं होता। सुपिष्ट होने पर द्राक्षा कल्क को पृथक् पात्र में रखें और इमली के अव-शिष्ट जल से ही, शिला में लिप्त द्राक्षा भाग को संग्रह करलें। अब पूर्व निर्मित क्वाथ, द्राक्षा कल्क तथा आरग्वध के वस्त्रपूत घोल को स्वच्छ कलईदार पतीला में पाक करें। यह पाकक्रिया बड़ी मन्द आंच से सम्पन्न होनी चाहिए। ५-६ घंटे इसमें लग जाते हैं। जब पकते-पकते नरम हलुए के सदृश पाक हो तब इसमें प्रक्षेप द्रव्यों के चूर्ण को मिलाकर एक रस बना लें। अब इसमें आधा किलो शुद्ध मधु मिलाकर आलोडन प्रक्रिया से एक रस बनने पर इसमें Potasium Meta-Bi-Sulphite. १ छोटा चम्मच मिलाकर एकमएक करके चीनी या शीशे के स्वच्छ पात्र में रख लें। इसके प्रभाव से यह न विकृति-ग्रस्त होगा नहीं फूली लगेगी। प्रयोग विधि ऊपर आ ही चुकी है।

एवं विध स्थिर चित्तता से वृक्क रोगियों को लाभ होगा। यह रोग जटिल ही नहीं जटिलतम रोगों में से है। स्थिर चिकित्सा क्रम चालू रखने से सिद्धि समीप रहती है त्वरित और तीक्ष्ण वीर्य औषधियों से सिद्धि दूर चली जाती है।

आहार—वृक्क रोगी के लिए सर्वोत्तम, निरापद और स्वास्थ्यवर्धक आहार एकमात्र गो दुग्ध व बकरी का दूध ही है। कूटे हुए जौ (यवों का पानी, तण्डुलसार (मांड) गेहूँ के दलिया का पानी भी आवश्यकतानुसार

आहार में दिया जाता है। फल रसों में संतरा, मौसम्बी, मालटा, मीठा (मधुर निम्बुक) नारि केलोदक भी दिए जाते हैं। द्राक्षा, अंगूर, पपीता, अनार, मीठा आम यथा काल उचित मात्रा में देय हैं। बगू गोशा, उत्तम पक्व नासपाती भी देय हैं।

अपथ्य—रोगी की दशा में सुधार आने से पूर्व सब ही अन्न, दधि, केला, अमरूदादि गरिष्ठ फल त्याज्य हैं। मद्य मांस मछली एवं तीक्ष्ण पदार्थों का तो चिंतन भी अपथ्यतम है।

विहार—रोगी को सर्वदा गरम बिस्तर पर रखें। पृष्ठ भाग से शयन स्थल पर गरमियों में सूती चौतहा कपड़ा और सर्दियों में ऊर्णमय वस्त्र होना चाहिए। शीतल वायु का सेवन, आर्द्र स्थान निवास, वर्षाकालीन जल-प्लावित वात स्पर्श हानिकर होता है।

रोगी को सर्वदा पीठ के आश्रय से ही न सोकर करवटें बदलते रहना चाहिए। कभी-कभी पेट के भार भी लेटना चाहिए। मानसिक चिंतन और शारीरिक अति चेष्टाओं से बचे रहना हितकर है।

सफलता का चक्रव्यूह—इस चक्रव्यूह में सफल होने के लिए चिकित्सक को पर्याप्त सतर्क रहने की आवश्यकता है। वृद्धिगत रोगाक्रमण में कभी-कभी रोगी की दशा में कुछ घंटों, प्रहरों और दिनों में परिवर्तन आते रहते हैं। इन परिवर्तनों के अनुसार तुरन्त चिकित्सा में ऊहापोह प्रयोग करनी पड़ती है। इस दशा से सर्वदा परिचित रहने के लिए वृक्क रोगी के मूत्र का परीक्षण दैनिक या दूसरे चौथे दिन अथवा सप्ताह में १ बार अवश्य कर लेना चाहिए। मूत्र परीक्षण के आधार पर ही दैनिक चिकित्सा क्रम चालू रखना श्रेयस्कर है। मूत्रीय परिणामोपलब्धि पर ही चलित चिकित्सा में तारतम्य अवश्यम्भावी होता है।



* वृक्कशूल पर *

कल्मीशोरा ५० ग्राम — भल्लातक १०० ग्राम

निर्माणविधि—भिलावे के सरोते से छोटे-छोटे टुकड़े करलें। लोहे की एक कलछी में प्रथम भिलावे के टुकड़े रखें ऊपर शोरा रख दें। इस प्रकार ३–४ तह शोरे और भिलावे की लगादें। सब से ऊपर भिलावे ही रखें। अब कलछी को आग पर रखदें। भिलावा प्रथम तैल को छोड़ेगा, फिर आग लग जायगी। जब भिलावे की आग बुझ जाय तब शोरे और जले भिलावे के टुकड़ों को मिट्टी के पात्र में उड़ेल दें। ठण्डा होने पर पीसकर रखलें।

सावधान—भिलावे का चैंप या धुआं न लगे नहीं तो अंग सूज जायंगे।

प्रयोगविधि—इसकी मात्रा ३ माशा है प्रातः सायं तथा रात्रि को, दिन में तीन बार गरम जल से सेवन करनी चाहिये। सेवन करने से पहले ५ तोला एरंड स्नेह आध पाव दुग्ध में घोलकर रोगी को दें जिससे उसके कोष्ठ की शुद्धि हो जाय। जिन्हें लगातार २–३ माह लेना हो वे सप्ताह में एक बार कोष्ठ शुद्धि अवश्य करलें। जिस दिन एरण्ड तैल दें उस दिन दवा नहीं देनी चाहिये।

दौरा होने पर एरण्ड तैल ५ तो०, १० तोला दूध या गरम जल में मिलाकर पिलावें, दस्त होने पर, बाद में औषधि देनी चाहिये।

वृक्कशूल अथवा वस्तिशूल का दौरा होने से पूर्व प्रायः रोगी को पता चल जाता है कि अब दौरा होना चाहता है ऐसे में इस प्रयोग की १–२ मात्रा १५–२० मिनट के अन्तर से दें, शान्ति मिलेगी। यह योग वातानुलोमक तथा मूत्रल है। साथ ही वृक्क बस्ति के लिये बल्य और शोथहर है। शर्करा पथरी को तोड़ने की इसमें पूर्ण शक्ति है।

—संकलित।

सर्वांगशोथ निवारण

लेखक—आयुर्वेद विद्याविनोद श्री हरिशंकर शाण्डिल्य चिकित्साधिकारी,
राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय, बरिघा (भरतपुर)

शाण्डिल्य जी ने इतने परिश्रम और खोज के साथ विषय का प्रतिपादन करके एक ऐसी शैली को जन्म दिया है जो अभिनव आयुर्वेदज्ञों को सर्वथा अपनानी चाहिए। आधुनिक चिकित्साविज्ञों के ज्ञान का आयुर्वेदीय प्रक्रिया द्वारा सटीक विश्लेषण करना अभी बहुत अपेक्षित है। शाण्डिल्य जी का सर्वाङ्गशोफ का यह लेख उस दशा में आदर्श प्रस्तुत करता है। आशा है भविष्य में और भी परिपुष्ट सामग्री के साथ शाण्डिल्य जी अपने अनुभव और शेमुषी का विस्तार करने में समर्थ होंगे।

—गोपालशरण गर्ग।

परिचय—सामान्यतः जब त्वचा और मांसपेशियों के मध्यस्तर में, रक्त का द्रवांश (प्लाज्मा) एकत्रित होकर उत्सेध उत्पन्न कर देता है तो यह स्थिति शोथ नाम से चिकित्सा शास्त्रज्ञों द्वारा कही जाती है। तथा जब यह उत्सेधयुक्त स्थिति सारे शरीर में व्याप्त हो जाती है और जीर्णता धारण कर लेती है तब सार्वदैहिक शोथ या सर्वांग-शोथ इस संज्ञा से उद्बोधित होती है। अतः शोथ की ही जीर्णावस्था होने से इसे समझने के लिए शोथ के कारण लक्षण एवं सम्प्राप्ति आदि पर ध्यान देना होगा।

शोथ के भेद—कारण भेद से शोथ के स्थूल रूप से दो भेद होते हैं।

i. **निज कारण जन्य**—विविध मिथ्याहार विहार के कारण प्रकुपित दोषज (वातज, पित्तज, कफज, द्विदोषज, एवं सान्निपातज), सात प्रकार के शोथ होते हैं। ये दोषज या इन दोषजन्य हृदय, यकृत् एवं वृक्क जैसे अवयवों की विकृति से ही सर्वाङ्गशोथ की स्थिति देखी जाती है।

ii. **आगन्तुक कारण जन्य**—आघात, प्रतप्त पदार्थों से जलना, रासायनिक पदार्थ (तीव्र अम्ल या क्षारों) से जलना, विष, विविध विकारी जीवाणु एवं विद्युत प्रदाह आदि शोथ के आगंतुक कारण हैं। इस शोथ में पूय के उत्पन्न होने की संभावना भी रहती है तथा एकांगशोथ के रूप में ही प्रायः देखा जाता है।

कारण एवं सम्प्राप्ति—पंचकर्म (वमनादि) ज्वरादि रोग, अति लंघन या गुणहीन भोजन आदि कारणों से दुर्बल रोगी, जब क्षार, अम्ल, लवण एवं गुरु पदार्थों का



सेवन करता है तो उसमें दोषजशोथ की उत्पत्ति होती है। इसके अलावा गुरु अपक्व भोजन, अधिक दही सेवन, मिट्टी, विरुद्ध भोजन, एवं आस्योपसेवन (आराम तलब जीवन यापन) आदि कारणों से रक्तधातु में अभिष्यन्दित्व की वृद्धि होकर रक्तरस के समुचित शोषण में बाधा उत्पन्न होने से धातुओं के तन्तुओं में अधिक द्रवांश (प्लाज्मा) का संचय होने से उत्सेध उत्पन्न होता है। जिससे उस स्थान की स्थितिस्थापकता नष्ट हो जाती है, और दबाने से उस स्थान में गड्ढा पड़ जाता है। यही शोथ की स्थिति है।

आधुनिक मतानुसार शोथ के सामान्यतः निम्नलिखित कारण माने जाते हैं।

i. **स्रोतोभित्ति की प्रवेश्यता**—सामान्यतः स्रोतोभित्ति केवल आक्सीजन और जल या जल में घुले हुए पदार्थों के ही लिए प्रवेश्य होती है। रक्त रसगत प्रोटीन के लिए अप्रवेश्य होती है किन्तु विस्तृति और अभिघात व्रणशोथ भाराधिक्य एवं कुछ निज और आगन्तुक विषों में इसकी प्रवेश्यता बढ़ जाती है तब प्रोटीन भी रक्तरस के साथ स्रोत (रक्तवाहिनी) के बाहर आ जाती है और तरल के पुनः शोषण में बाधा होने के कारण तरल संचित होकर शोथ की उत्पत्ति करता है।

ii. **स्रोतोगत भारवृद्धि**—हृदय रोग में रक्तसंचार में बाधा होने से सिराओं और स्रोतों में रक्तभार स्वाभाविक से बहुत अधिक होकर रक्तरस के पुनः शोषण में बाधा और उसकी भित्ति प्रवेश्यता में वृद्धि उत्पन्न कर शोथ का कारण बनता है।

iii. **रक्तरसगत प्रोटीनों के आसृतीय पीड़न (आस्मोटिक प्रेशर) की हीनता**—रक्तरसगत प्रोटीन ही तरल संचय एवं आसृतीय सम्पीडन द्वारा धातुगत तरल का शोषण करती है। वृक्क विकारों में मूत्र द्वारा अधिक निर्हरण (एल्ब्यूमिन्यूरिया-लालामेह) होने से तथा स्रोतोभित्ति की प्रवेश्यता वृद्धि में रक्तरस के साथ धातुरस में स्राव होने से तथा खाद्य पदार्थों में उसकी कमी होने से जब इसकी स्वाभाविक राशि (प्रायः ७ प्रतिशत) रक्तरस में हीन (५·५% से कम) हो जाती है तब शोथोत्पत्ति होती है।

iv. **रक्तगत विभिन्न संघटकों का प्रभाव**—इसमें जल और सैन्धव (लवण) को अधिक महत्व दिया जाता है किन्तु इनके सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है और इनकी अधिकता से शोथोत्पत्ति के पक्ष और विपक्ष में अनेक प्रमाण दिए जाते हैं जैसे शोथ की चिकित्सा में जल और नमक का निषेध करने से निश्चित लाभ प्राचीनतम काल से प्रमाणित है। किन्तु लवण विलयन का सिरा में निक्षेप करने से एवं अश्मरी जनित मूत्राघात में रक्त में जलांश अधिक होने पर भी शोथ की उत्पत्ति न होना, इनकी शोथोत्पत्ति की कारणता के विपक्ष में प्रमाण है।

v. **धातुगत परिवर्त्तन**—धातुओं में लवण आदि कतिपय पदार्थों के अनुसूचित रूप में संचित हो जाने पर भी उनको घोलने के लिए जल की अधिक आवश्यकता होती है और अधिक जल संचय से शोथ की उत्पत्ति होती है।

इन सभी कारणों का समाधान आयुर्वेदोक्त कारणों के अन्दर समाविष्ट है। जैसे आधुनिकोक्त फेमिन इडीमा में भोजन के अभाव, तथा भोजन में प्रोटीन, विटामिन ए. व बी. की कमी कारणभूत होती है इसीका आयुर्वेद ने अभुक्त कृशबलानाम् से वर्णन किया है।

लक्षण—सामान्यतः शोथयुक्त स्थान की त्वचा फूली या उभरी हुई सी प्रतीत होने लगती है उस स्थान पर भारीपन अनुभव होता है आवयविक क्रिया शिथिल पड़ जाती है। तनाव के कारण त्वचा कुछ पतली चमकदार एवं विवर्ण (दोषानुसार) हो जाती है। दबाने पर त्वचा में गड्ढा पड़ जाना शोथ प्रायोगिक महत्वपूर्ण लक्षण है।

यही शोथ अपथ्य सेवन करने पर तथा रोगी की समुचित चिकित्सा के अभाव में जीर्ण होकर सार्वदैहिक रूप धारण कर लेता है तब इसकी सर्वाङ्गशोथ संज्ञा हो जाती है। दोष भेदानुसार शोथ में निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

वातज शोथ—वातज शोथ चंचल, कृष्णाभ, या रक्ताभ होता है कभी-कभी संज्ञानाश एवं रोमहर्ष होता रहता है, दबाने पर पुनः शीघ्र उभर आता है।

यह (एपीडेमिक ड्रोप्सी) जानपदिक शोथ का ही रूप है जो रात्रि में विश्राम करने पर शान्त हो जाता है तथा संध्याकाल में मांसपेशियों के शान्त होने से बढ़ जाता है। हृद्रोग की प्राथमिक अवस्था में भी इसी प्रकार शोथ होता है।

पित्तज शोथ—पित्तज शोथ दबाने पर मृदु होता है। इसमें त्वचा कृष्ण, पीत या रक्तवर्ण होती है। भ्रम, मद, ज्वर तृष्णा एवं स्वेदप्रवृत्ति आदि पैत्तिक लक्षणों से युक्त होता है। विशेषतः दाह एवं नेत्रों में रक्तिमा तथा पकने की प्रवृत्ति होती है।

यह आगन्तुक, व्रणशोथ (इन्फ्लेमेशन) के लक्षणों जैसी अवस्था का शोथ है।

कफज शोथ—कफज शोथ गुरु, स्थिर (शोथयुक्त स्थान इधर-उधर नहीं हिलता) तथा इस त्वचा का वर्ण पाण्डुवर्णाभ हो जाता है। इससे पीड़ित रोगी को लाला-स्राव होता है, निद्रा बहुत आती है, तथा वह वमन अरोचक व अग्निमांद्य से पीड़ित रहता है। इसकी वृद्धि रात्रि में होती है। तथा शोथयुक्त स्थान दबाने पर शीघ्र उभर कर नहीं उठता है। आधुनिक मत से इसे घनशोफ सालिड इडीमा) कह सकते हैं यह लसीका वाहिनियों के अवरोध के कारण उत्पन्न होता है।

द्वन्द्वज व त्रिदोषज शोथ—दो दोषों के मिलने पर तथा सन्निपात स्थिति होने पर दोषों के समिश्रित लक्षण मिलते हैं।

जब दोष आमाशय में रहता है तो वक्षः प्रदेश और ऊर्ध्वांगों में शोथ उत्पन्न होती है। आमाशय कफ का स्थान होने से इसे कफज शोथ कहा जाता है यह अवस्था वृक्क विकारजन्य शोथ के प्राथमिक लक्षण, मुख और आंखों पर शोथ होने से मेल खाती है। दोष जब मध्य शरीर में स्थित होता है यकृत् विकृतिजन्य रोग जलोदर आदि मध्य शरीर में शोथ पैदा होता है यह पित्तज शोथ हो सकता है। अधो प्रदेश की सूजन प्रायः वातजन्य होती है तथा हृदय विकार की द्योतक है। दुर्भिक्षजन्य शोथ भी वातज शोथ का रूप है। इसमें भी हृदय की विकृति होती है और शोथ पैरों से ही आरम्भ होता है। जब ये दोष सब शरीर में व्याप्त हो जाता है तो सर्वाङ्ग-शोथ की स्थिति बनती है।

शोथ की साध्यासाध्यता

(क) शरीर के मध्यभाग तथा सर्व शरीरगत शोथ कृच्छ्रसाध्य होता है।

(ख) अधः प्रदेश में होने वाला (हृद्रोग जन्य) शोथ ऊपर की ओर बढ़ने लगता है तो असाध्य होता है। प्रायः पुरुषों में।

(ग) मुखादि ऊर्ध्वाङ्ग का शोथ (वृक्क विकारज) जब नीचे की ओर बढ़ने लगता है तो प्रायः स्त्रियों में असाध्य होता है।

(घ) स्त्री पुरुष दोनों ही लिङ्गों में गुह्याङ्गों में उत्पन्न हुआ शोथ असाध्य होता है। बाल, वृद्ध एवं दुर्बलों का शोथ भी असाध्य होता है

(ङ) आचार्य सुश्रुत जिस रोगी को श्वास, प्यास, वमन दुर्बलता तथा ज्वर हो एवं अन्न से अरुचि हो गई हो उसे असाध्य कहते हैं।

(च) उपद्रवों से रहित नवीन शोथ बलवान व्यक्तियों में साध्य होता है। अतः चिकित्सक को भली प्रकार देख कर साध्य शोथ की चिकित्सा में ही दत्तचित्त होना चाहिए और असाध्य शोथ की प्रत्याख्येय रूप से चिकित्सा करनी चाहिए।

चिकित्सा—उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि शोथ में आमदोष की सत्ता विद्यमान है। अतः सर्वप्रथम दीपन पाचन योगों द्वारा एवं विरेचन, वमन आदि शोधन कर्मों द्वारा शरीर की शुद्धि कर अग्नि को प्रदीप्त करने का उपाय अपेक्षित है।

यकृत् वृद्धिज सर्वाङ्गशोथ में अग्नि प्रदीपन क्रिया के साथ यकृत्सुधारक ताम्रलौह प्रधान योगों का प्रयोग करें। भेदन करने वाली कुटकी सदृश द्रव्यों का प्रयोग रचनार्थ करें।

हृद्दौर्बल्यजन्य शोथ में हृदय की हृद्योत्तेजक व हृद्बल्य औषधियों से रक्षा करे, जलीयांश के शोषणार्थ मूत्रल द्रव्यों का प्रयोग करें। रक्तवर्धक व रक्त प्रसादक औषधि योजना भी हितकर है।

वृक्कविकारज शोथ रोग में वस्ति विशोधन एवं वृक्कों को बलदायक प्रयोग कर शोथ अधिकारोक्त चिकित्सा करनी अपेक्षित है।

सामान्यतः सभी शोथों में अग्नि प्रदीपन, मूत्रल, रक्त-वर्धक एवं स्रोतोविशोधक चिकित्सा विधियों का आश्रय लेना चाहिए।

उक्त विधियों के अनुसार प्रयोग शृङ्खला प्रस्तुत है, इसमें से रोगी के बल व देश कालादि के अनुसार व्यवस्था



निर्धारित कर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करें ।

रस भस्मादि—लौहभस्म, लौहपर्पटी, स्वर्णमाक्षिक भस्म, ताप्यादि लौह, नवायस लौह, आरोग्यवर्धिनी, पुनर्नवामण्डूर, शोथारि लौह, हृदयचिन्तामणि रस, शोथारि मण्डूर, प्रवाल भस्म, शुक्ति भस्म, यकृदारि लौह, अकीक भस्म व पिष्टी, नागार्जुनाभ्र, शिवागुटिका, अभ्रक भस्म, हजरुल यहूद भस्म व पिष्टी, पंचामृत पर्पटी आदि ।

आसव अरिष्ट—त्रिफलारिष्ट, अभयारिष्ट, पुनर्नवारिष्ट, पुनर्नवासव, लोहासव, रोहितकारिष्ट, सारिवासव आदि ।

क्वाथ—पुनर्नवाष्टक क्वाथ, तृणपंचमूल क्वाथ, दशमूल क्वाथ, पुतर्नवा क्वाथ मूत्रल कषाय ।

(सिद्ध योग संग्रह)

चूर्ण—मूत्रदाहान्तक चूर्ण (र० तं० व सि० प्र० सं० द्वि० खं०) + हृद्य चूर्ण (सि० यो० सं०), कोष्ठशान्तिकर चूर्ण, पंचसकार चूर्ण, कुटकी चूर्ण आदि ।

लेखक को चिकित्साकाल में प्रायः यकृत्दुष्टिजन्य पाण्डुयुक्त सर्वाङ्गशोथ या वृक्क विकारज सर्वाङ्गशोथ के रोगी ही देखने को मिले हैं उन पर दिया हुआ लाभप्रद चिकित्साक्रम प्रस्तुत है ।

प्रातः सायं—आरोग्यवर्धिनी २५० मि. ग्रा. पुनर्नवा मण्डूर ५०० मि. ग्रा., शुक्ति भस्म २५० मि. ग्रा. ।

—मिश्रित १ मात्रा

अनुपान—गोमूत्र + मधु या पुनर्नवाष्टक क्वाथ २ तोला ।

भोजनोपरान्त—पुनर्नवासव + रोहितकारिष्ट + लोहासव मिश्रित १ औंस, जल १ औंस । —१ मात्रा

मध्याह्न एवं रात्रि ९ बजे—कोष्ठशान्तिकर चूर्ण ६ बजे ।

अनुपान—उष्णोदक से दें ।

प्रातः ९ बजे व सायं ७ बजे—मूत्रदाहान्तक चूर्ण १ ग्राम, हजरुल यहूद भस्म २५० मिलीग्राम ।

—मिश्रित १ मात्रा

अनुपान—पुनर्नवार्क २ तोला से या मूत्रल कषाय से वृक्क विकार अधिक हो तो आरोग्यवर्धिनी के स्थान पर शिवा गुटिका, शोथारि लौह की योजना करें । भोजनोत्तर आसव व्यवस्था में रोहीतकारिष्ट के स्थान पर सारिवासव, चन्दनासव की योजना करें तो अधिक लाभप्रद है ।

कोष्ठशान्तिकर चूर्ण में कुटकी + अजवायन समभाग इन दोनों के बराबर सनाय लेकर चूर्णित कर रखें । यह चूर्ण संचित आम को निकालता है, आंत्र शुद्ध होती है, भेदक है अतः विबंध को दूर करता है ।

पथ्यापथ्य—लवण रहित आहार लघु एवं बल्य दें । वार्लीवाटर + ग्लूकोज देना उत्तम है । पीने में जल के स्थान पर प्यास लगे तभी पुनर्नवा अर्क या अर्क मकोय का प्रयोग करना अधिक उत्तम रहता है । दही, गुड़ निर्मितियां गुरु आहार, दिवास्वप्न तथा मैथुन सर्वाङ्गशोथी को त्याग देने चाहिए । गाजर, परवल, मूली पुनर्नवा तथा भकोय की सब्जी अत्यन्त लाभकर है ।

मूली के क्वाथ से स्नान करना भी सर्वाङ्गशोथ वाले रोगी के लिए उत्तम विधान है । इससे शोथ शीघ्र विम्लायित होता है ।

* गुर्दे के शूल पर *



फिटकरी	यवक्षार	बज्रक्षार	खाने का सोडा
नवसादर	कलमी शोरा	रेवन्दचीनी	सौंफ

प्रत्येक १॥-१॥ ग्राम लेकर सबको पीसकर चूर्ण की ४ खुराक बनालें, और २-२ घंटे के अन्तर से दें । इससे गुर्दे के भयंकर शूल में तात्कालिक लाभ मिलता है । दस्त साफ लाने के लिये रेंडी (अंडी) का तैल वा जैतून का तैल गरम दूध के साथ पिलावें । गरम पानी की बोतल या थैली से सैंक करें । पथ्य में केवल जौ का पानी (वार्लीवाटर) दिया जावे ।

—संकलित ।

शोथ रोग

शोथ रोग को कोई भी देखकर यह बता देता है कि यह सूजन है, सोजा आगया है। अनेक
रोगों में तथा हर अंग में किसी भी कारण से सूजन आ जाती है। वायु दुष्ट होकर अनेक प्रकार के
कारणों से दूषित रक्त, पित्त और कफ को बाहरी सिराओं में ले जाता है, फिर उन्हीं रक्त आदि से
आवृत्त हो जाता है। इस दशा में त्वचा और मांसपेशियों में ऊंचाई उत्पन्न हो जाती है उसे ही शोथ
कहते हैं। शोथ में तीनों दोषों की प्रधानता होती है या तीनों दोषों से होती है। रक्त और रक्तवाहिनी
सिराओं में विकृति आ जाने से या रक्त-संस्थान की विकृति से पित्त अथवा पाचन-संस्थान में विकृति
आ जाने से और कफ अवलम्बकादि में विकृति आ जाने से तथा सधर्मा रस धातु में एवं उसका वहन
करने वाले स्रोतों में, प्राण आदि पंचविधि वायु में या उनकी कार्यविधि में विकृति आ जाती है तब रोग
की उत्पत्ति होती है। चरक में भगवान् पुनर्वसु ने इसे विसर्पणशील बताया है। क्योंकि यह पांव आदि
किसी एक अंग में पैदा होकर आगे चलकर समस्त शरीर में फैल सकता है। यदि किसी कारणवश उक्त
दोषों का प्रभाव उर:स्थल में होता है तो शोथ मुख आदि ऊपर के अंगों पर होता है और यदि यकृत् आदि
मध्य शरीर के अवयवों पर होता है तो शोथ मध्य शरीर पर ही होता है और यदि मलाशय मेढ़ वृषणों के
पास होता है तो पांव और शरीर के अधोभाग पर शोथ होता है। शरीर के मध्य भाग पर होने वाला
शोथ कष्टसाध्य होता है। आधे शरीर पर होने वाला शोथ अथवा पांव से प्रारम्भ होकर सारे शरीर पर
फैले अथवा जो शोथ शिश्न या स्त्रियों की भग से उत्पन्न होता है और फैलता है वह असाध्य कहा है।

शोथ रोग में वमन-विरेचन से बहुत लाभ होता है यदि रोगी दुर्बल नहीं है। शोथ में 'वर्जयेत्
लवणं जलम्' सिद्धान्त पर विशेष ध्यान देना चाहिये। अधिक से अधिक दूध पर ही रखना चाहिये।
पुनर्नवा अथवा पुनर्नवा के योगों का या मण्डूर भस्म और लोह के योगों का सेवन सदा स्मरणीय है।
शोथ में दुग्धवटी एवं ग्रहणीयुक्त शोथ में कल्पलता वटी का प्रयोग हितकर है। गर्भवती का पाण्डुरोग
युक्त शोथ प्रसव के पश्चात् स्वत: ही शान्त हो जाता है।

१. शुण्ठादि क्वाथ—वातजनित शोथ में सोंठ, पुनर्नवा, एरण्डमूल तथा बिल्वादि पंचमूल का क्वाथ पीने के लिये दें। मांड़ या पतली खिचड़ी प्रयुक्त करनी चाहिये।

२. पैत्तिक शोथ में—निसोत, गिलोय एवं त्रिफला का क्वाथ गोमूत्र मिलाकर अथवा त्रिफला का चूर्ण १ तो० मिला कर दें।

३. आर्द्रक स्वरस प्रयोग—अदरख का स्वरस गुड़ मिलाकर प्रात:काल पीने से सब प्रकार के शोथ नष्ट हो जाते हैं। पथ्य—केवल बकरी का दूध दें।

शोथनाशक चार प्रयोग—१. शुद्ध गुग्गुल ४-६ माशा, गोमूत्र २-४ तोला के साथ पिया जावे। २. दूध के साथ पीपल का प्रयोग किया जाय। ३. हरड़ को गुड़ में मिलाकर खाया जाय। ४. सोंठ एवं गुड़ मिलाकर खाया जाय।

शोथनाशक दुग्धद्वय—१. देवदारु, पुनर्नवा तथा सोंठ के योग से परिपक्व दूध। २. चित्रक (चीता की छाल) त्रिकटु (सोंठ, मिर्चें, पीपल) निसोत तथा देवदारु के योग से परिपक्व दूध पीने से शोथ का नाश होता है।

—आयुर्वेदरत्न डा० बुद्धसेन 'आजाद'।

अश्मरी तथा उसकी चिकित्सा

लेखक—अभिनवायुर्वेद विद्यारत्न कवि० राजेन्द्रप्रकाश आ० भटनागर एम. ए.
भिषगाचार्य (स्वर्णपदक प्राप्त) आयुर्वेदाचार्य एच. पी. ए. (जामनगर)
प्रोफेसर राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर (राज०)

अश्मरी पर यह लेख सर्वाङ्गपूर्ण (*Exhaustive*) है और एक विद्वान् लेखक की शोभानीय कृति है जो सर्वथा स्वागतार्ह है। अश्मरी एक शस्त्रसाध्य व्याधि है इसके विषय में प्राचीन ज्ञान बहुत अल्प है पर जो भी है चिकित्सा की दृष्टि से सर्वोपरि है। उसका एक ही प्रमाण पर्याप्त है और वह है हिमालयड्रग की सिस्टोन नामक देशी द्रव्यों से बनी दवा का इस देश और बाहर भी ऐलोपैथों द्वारा कस कर उपयोग करना। हमारा विश्वास है कि श्री भटनागर सरीखे विद्याज्ञान पिपासुजन स्वतन्त्र अन्वेषण परम्परा आपना कर इस क्षेत्र को विस्तृत करने में जीवन अर्पण करें। आशा है इस जटिल रोग पर आचार्य भटनागर की लेखनी का लाभ प्रत्येक विज्ञपाठक अवश्य उठायेगा। ---रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

परिचय—"अश्मानं राति" इस निरुक्ति के आधार पर "अश्मन्" अर्थात् पत्थर के समान शरीर में उत्पन्न हुई अप्राकृत रचना को "अश्मरी" कहते हैं। आधुनिक शल्य-शास्त्र में अश्मरी को "केल्क्यूलस (Calculus)" या स्टोन (Stone) कहते हैं। लेटिन भाषा में Calculus शब्द का अर्थ पत्थर (Pebble) है। सामान्य बोलचाल में इसे "पथरी" या "मूतखड़ा" कहते हैं।

अमरकोषकार ने अश्मरी और मूत्रकृच्छ्र को पर्यायवाची माना है। "अश्मरी मूत्रकृच्छ्रं स्यात्" (२/६/५६) वस्तुतः चिकित्सा-विज्ञान में दोनों पारिभाषिक संज्ञाएं हैं और दो भिन्न रोगों की परिचायक हैं। यह ठीक है कि अश्मरी के कारण मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न होता है। आचार्य चरक ने अश्मरी रोग का वर्णन मूत्रकृच्छ्र के अन्तर्गत किया है, स्वतन्त्र रोग के रूप में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

शरीर में उत्पन्न होने वाले ऐसे स्राव, जिनमें खनिज लवण विशेष रूप से विद्यमान होते हैं, में अश्मरी की उत्पत्ति सम्भव है। अश्मरी का निर्माण इन स्रावों की उत्पादक रचनाओं अर्थात् ग्रन्थियों और स्राव को वहन करने वाली नलिका में होता है। शरीर में लालाश्मरी (लालाग्रन्थियों में), पित्ताश्मरी (पित्ताशय में) और मूत्राश्मरी (मूत्रवहन संस्थान में) आदि अश्मरियां पायी जाती हैं। प्राचीन आयुर्वेद के ग्रन्थों में लालाश्मरी और पित्ताश्मरी का वर्णन प्राप्त नहीं होता है अपि तु मूत्राश्मरी का ही वर्णन मिलता है। मूत्रवह-संस्थान में मूत्राश्मरी की स्थिति मुख्यतया निम्न तीन स्थानों पर पायी जाती है।

(i) वृक्क में इसे "वृक्काश्मरी (Renal


वृक्काश्मरी

Calculus) कहते हैं।

(ii) गवीनी में।

(iii) मूत्राशय Bladder में—इसे "मूत्राश्मरी" (Vesical Calculus) कहते हैं। सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रन्थों में "अश्मरी" शब्द से जिस रोग-विशेष का विवेचन प्राप्त होता है, वह मूत्राशयाश्मरी के सम्बन्ध में है। वृक्काश्मरी और गवीनी की अश्मरी का वर्णन नगण्य है।

उपादान कारण—

अश्मरी की उत्पत्ति में वात, पित्त और कफ तीनों दोष कारण हैं ? सुश्रुत ने लिखा है—"जिस प्रकार वायु और विद्युत की अग्नि आकाशस्थ जल को बांधकर ओले बना देती है, उसी प्रकार वायु सहित ऊष्मा(पित्त), बस्तिगत कफ को बांधकर अश्मरी का निर्माण करते हैं। सभी प्रकार की अश्मरियां श्लेष्मा का आश्रय करके उत्पन्न होती हैं। जैसा कि आचार्य लिखते हैं—"चतस्त्रोऽश्मर्यो भवन्ति श्लेष्माधिष्ठानाः।" यहां "श्लेष्माधिष्ठानाः" का अभिप्राय है, श्लेष्मा को उपादान बनाकर होने वाली।

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार यह तथ्य प्रमाणित है कि अधिकांश अश्मरियां श्लेष्मा या श्लेष्मिककला के अंश को आधार बनाकर उत्पन्न होती हैं अर्थात् अश्मरियों का केन्द्र (न्यूक्लियस) इन पदार्थों से बनता है। अश्मरी का व्यत्यस्त काट करने पर उसके निम्न तीन भाग दिखाई देते हैं।

१. केन्द्र (Nudeus)—यह सबसे मध्य में होता है और अश्मरी का कारण है। केन्द्र में पूर्व निर्मित छोटी अश्मरी या शर्करा हो सकती है, अथवा निम्न द्रव्यों में से कोई एक या अधिक पाये जा सकते हैं—

(i) रक्त का थक्का [ब्लड क्लॉट]

(ii) श्लेष्मा [Mucus]

(iii) श्लेष्मिककला का टुकड़ा

(iv) जीवाणु

(v) आगन्तुक शल्य तथा केथेटर, सूत्र आदि का अंश

(vi) कृमि व उनके अण्डे।

२. गात्र (Body)—केन्द्र पर विविध प्रकार के खनिज लवण परतों के रूप में एकत्रित हो जाते हैं। इस प्रकार निर्मित हुआ अश्मरी का मुख्य व अधिकांश भाग "गात्र" कहलाता है। ये लवण यूरिक एसिड, चूने के ओक्जेलेट (Oxalate of lime), सिस्टिन और फॉस्फेट (Triple phosphate) होते हैं। कभी-कभी एक ही अश्मरी की विभिन्न परतों में विभिन्न प्रकार के खनिज-लवण पाये जाते हैं। ऐसी अश्मरी Alternating calculus) कहलाती है।

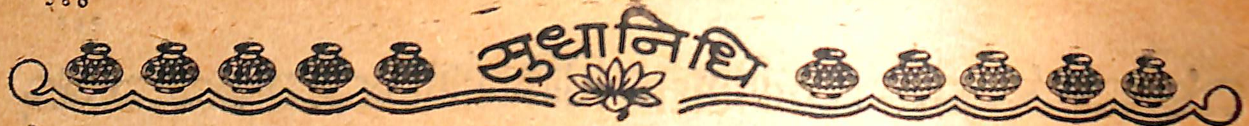
३. आवरण (Crust)—यह मृदु और भंगुर फोस्फेटिक पदार्थ से बनी सबसे बाहर की परत होती है। इसकी मात्रा (न्यूनाधिकता) अश्मरी द्वारा उत्पन्न मूत्राशयशोथ (Cystitis) की जीर्णावस्था पर निर्भर करती है। किसी अश्मरी में आवरण नहीं भी पाया जाता है।

मूत्राशय में एक अथवा अनेक अश्मरियां युगपत् पायी जा सकती हैं।

अश्मरी निर्माण—

आचार्य सुश्रुत ने मूत्र में 'उपस्नेह' से अश्मरी की उत्पत्ति होना सूचित किया है। "उपस्नेह" का अर्थ डॉ० घाणेकर जी "उपलेप" या "तलछट" करते हैं। (मूत्राशय में) मूत्र के प्रवेश के साथ वात, पित्त या कफ प्रविष्ट होकर उपस्नेह से अश्मरी को उत्पन्न करते हैं।

इसे आचार्य ने स्वयं ही आगे उदाहरणपूर्वक स्पष्ट किया है—"जिस प्रकार नवीनघट में रखे हुए जल में भी कुछ काल व्यतीत होने पर कीचड़ (पंक) उत्पन्न होता



है। उसी प्रकार वस्तिगत स्वच्छ मूत्र में भी कुछ काल के बाद अश्मरी बन जाती है।"

इस प्रकार "उपस्नेह" शब्द से अवक्षेप या तलछट (Precipitate) अर्थ लेना युक्ति-युक्त है।

अन्तरिक्ष जल निर्विकार होता है, किन्तु ज्यों ही वह वातावरण में से होकर पृथ्वी पर गिरता है तो उसमें अनेक प्रकार के खनिज-लवण सम्मिश्रित हो जाते हैं। जल के सूखने पर ये ही लवण अवक्षेप बनाते हैं। मूत्र में प्राकृतावस्था में अनेक लवण विलीन होकर बाहर निकलते हैं। यथा यूरिक-एसिड,यूरेट्स,आक्जेलेट्स फास्फेट्स आदि। "आहार-विहार सम्बन्धी गड़बड़ी से मूत्र में जलीयांश की अल्पता होती है, तो इन लवणों का स्फटिकी-भवन (Crystalization) होकर छोटे-छोटे स्फटिक(Crystals) बन जाते हैं, जो मूत्र में अवक्षेप बनाते हैं। इस अवक्षेप के एकत्रित होकर कठोर बनने से ही अश्मरी बनती है।

कारण (Causes)—

आचार्य सुश्रुत ने अश्मरी उत्पन्न होने के समस्त कारणों को दो वर्गों में बांट दिया है—

१. पंचकर्म आदि द्वारा शरीर का संशोधन न करना।

२. अपथ्य आहार-विहार का सेवन।

इन कारणों से प्रकुपित हुआ कफ मूत्र के साथ वस्ति (Bladder) में प्रवेश कर अश्मरी उत्पन्न करता है।

आधुनिक चिकित्सा—विज्ञान में अश्मरी के जो कारण बताये गये हैं उन सभी का प्रायः उपर्युक्त दो में अन्तर्भाव हो जाता है।

आहार सम्बन्धी कारण—

भोजन में नाइट्रोजन बहुल पदार्थों की अधिकता एवं विटामिन "ए" की कमी, अश्मरी के मुख्य कारण हैं। विटामिन "ए" की न्यूनता से आवरक धातु (Epithelium) के कोष टूटकर अश्मरी का केन्द्र बनाते हैं। पेय जल की अथवा शोषित जल की राशि पर भी अश्मरी का निर्माण निर्भर करता है। भारत, अरब आदि गर्म देशों में जल का बहिर्निष्कासन अधिक होकर मूत्र की राशि कम और घन हो जाती है। अतः शीत देशों की अपेक्षा उष्ण देशों में यह रोग अधिक होता है। तेज धूप में काम करना, कम जल पीना, जल में अधिक मात्रा में खनिज लवण घुले होना, दुग्ध का अल्प सेवन आदि कारण अश्मरी की संभावना को बढ़ाते हैं।

आयु आदि कारण—

अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा बाल्यावस्था में (प्रायः जीवन के प्रारम्भिक दस वर्षों से २५ वर्ष की आयु तक), धनिकों की अपेक्षा गरीब व श्रमिकों में, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में, यह रोग अधिक पाया जाता है। स्त्रियों में यह रोग क्वचित ही पाया जाता है, क्योंकि उनका मूत्र-मार्ग छोटा और विस्तृत होने से छोटी अश्मरी सुगमता से बाहर निकल जाती है। इसके अतिरिक्त लम्बे समय तक लेटे रहना (यथा पक्षाघात या अधरांगघात की दशा) और उपचुल्लिका ग्रन्थि की अधिक क्रिया-शीलता (Hyperparathyroidism) से चूर्णातु का शोषण बढ़ जाता है जिससे मूत्राश्मरी बनती पायी गई है। अधिक समय तक विश्राम की दशा में रहने से अस्थि-संस्थान में चूर्णातु (Calcium) का ठीक प्रकार से उपयोग नहीं हो पाता (Decalcification) और मूत्र में चूर्णातु की राशि बढ़ जाती है। अतः केल्शियम फास्फेट की अश्मरी बनना प्रारम्भ हो जाता है।

प्रकार—

१. **प्राथमिक अश्मरी**—जो जीवाणुरहित (Sterile) मूत्र में बनती है, उसे "प्राथमिक अश्मरी" कहते हैं। यह प्रायः वृक्क में उत्पन्न होकर गवीनी द्वारा मूत्राशय में पहुँचकर वहां बढ़ने लगती है।

२. **द्वितीयावस्थिक अश्मरी** (Secondary Vesical Calculus)—यह जीवाणु संक्रमण की स्थिति में उत्पन्न होती है। कुछ अश्मरियां मूत्राशय में स्थित बाह्य शल्य (Foreign Body) पर मूत्रगत लवणों के संचित होने से उत्पन्न होती है। उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त अश्मरियों की स्थिति के अनुसार भी दो वर्ग किये जा सकते हैं—

(अ) स्वतन्त्र या गतिशील (Movable)—मूत्राशय में शारीरिक अवस्थिति के अनुसार घूमती रहती है।

(ब) आवेष्टित (Encysted)—यह मूत्राशय की

भित्ति में एक कोष (Pocket or pouch) के भीतर बन्द रहती है। अतः शरीर की स्थिति बदलने पर भी इसकी गति नहीं होती। कभी-कभी इसका एक भाग मूत्राशय की भित्ति में बन्द रहता है और दूसरा विस्तृत भाग मूत्राशय-गुहा में बढ़ता जाता है। दोनों के मध्य संकीर्ण ग्रीवा होती है। Rose & Carles के अनुसार यह स्थिति निम्न अवस्था में पायी जाती है—

"Occasionally this condition is due of the decomposition of stagnant urine in a pouch and the calculus is then phosphetic in composition, it is not unlikely to lead to ulceration of the sac-wall and extravasation of urine." (Rose and Carles)

पूर्वरूप—"तासां पूर्वरूपाणि-बस्ति-पीड़ाऽरोचकौ मूत्र-कृच्छ्रबस्ति-शिरोमुष्कशेफसां वेदना, ज्वरः कृच्छ्रावसादौ बस्तगन्धित्वं मूत्रस्येति।"

यथास्वं वेदना-वर्ण-दुष्टं सान्द्रमथाविलम्।
पूर्वरूपेऽश्मनः कृच्छ्रान्मूत्रं सृजति मानवः॥
(सु० नि० ३/५-६)

" × × × अथास्याः पूर्वलक्षणम्॥"
बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक्।
मूत्रे च बस्तगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः॥
(अ. हृ. नि. ९/८)

बस्ति में वेदना, अन्न में अरुचि, बस्ति-शिर, (मूत्र मार्ग का प्रारम्भिक भाग), अण्ड-ग्रन्थि और शिश्न-प्रदेश में वेदना, ज्वर, अवसाद, मूत्र में बकरे की गन्ध आना तथा बस्ति का आध्मान (फूल जाना)—ये अश्मरी के पूर्वरूप हैं। तथा रोगी दोषानुसार वेदना और वर्णयुक्त दूषित गाढ़ा और आविल (गन्दला) मूत्र कठिनता से छोड़ता है।

सामान्य लक्षण

अश्मरी के उत्पन्न होने पर सामान्यतया निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

१. नाभि बस्ति, सेवनी, शिश्न और शिर में वेदना।

२. मूत्रत्याग के समय मूत्रधारा का रुक जाना। (अश्मरी के द्वारा मूत्रमार्ग रुक जाने), अश्मरी के हट जाने पर सुखपूर्वक मूत्रत्याग।

३. मूत्र के साथ रक्त जाना (अश्मरी के संक्षोभ से रगड़ के कारण क्षत उत्पन्न होने से)।

४. मूत्र का इधर उधर गिरना अथवा धारा टेढ़ी गिरना।

५. मूत्र का वर्ण गोमेदक के समान (पीत) होना।

६. मूत्र के साथ सिकता अर्थात् (Gravels), का निकलना।

७. मूत्र का अत्यन्त आविल अर्थात् अस्वच्छ होना (गन्दा होना)।

८. दौड़ने, उछलने, तैरने, घोड़े आदि की पीठ पर सवारी करने, मार्ग चलने तथा उष्ण सेवन से वेदना बढ़ जाती है।

"अथजातासु नाभि—बस्ति-सेवनी, मेहनेष्वन्यतमस्मिन महती वेदना मूत्रधारा सङ्ग सरुधिर मूत्रता मूत्र-विकिरणं गोमेदकप्रकाशमत्याविलं ससिकतं विसृजति। धावनलङ्घनाप्लवन, पृष्ठयानाध्वगमनैश्चास्य वेदना भवन्ति॥७॥ (सु. नि. ३/७).

सामान्य लिङ्गं रुङ् नाभिसेवनीबस्तिमूर्धसु।
विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गनिरोधने॥
तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम्।
तत्संक्षोभात्क्षते सास्त्रमायासाच्चातिरुग् भवेत्॥
(अ० हृ०)

प्रकार के अनुसार अश्मरियों के निदान संम्प्राप्ति और लक्षण निम्न हैं—

१. **श्लेष्माश्मरी**—श्लेष्मवर्धक अन्न का अत्यन्त सेवन करने वाले व्यक्ति में बढ़ा हुआ कफ अधः प्रदेश में संघात को प्राप्त होकर बस्तिमुख में स्थित होकर मूत्र-स्रोत को रोक देता है, मूत्र की रुकावट के कारण बस्ति में टूटने फटने और सुई चुभने के समान वेदना होती है। तथा बस्ति गुरु और शीत प्रतीत होती है। अश्मरी का स्वरूप श्वेत, स्निग्ध, आकृति में बड़ी मुर्गी के अण्डे के समान या महुए के फूल के समान वर्णवाली होती है। (सु०) यह अश्मरी मधु अर्थात् शहद के समान वर्ण वाली होती है। (वा०)।

२. **पैत्तिक-अश्मरी**—पित्तयुक्त कफ संघातिक



(कठोर) होकर यथोक्तरूप से बढ़कर बस्ति-मुख में स्थित होकर मूत्र-स्रोत को रोक देता है। उसमें मूत्र के रुकने से बस्ति में ओष, चोष, दाह, और पाक होते हैं। उष्णवात होता है। पित्तज अश्मरी का स्वरूप—यह रक्त मिश्रित, पीत, कृष्ण, भिलावे की गुठली के समान और मधुवर्ण (शहद के समान वर्ण वाली) होती है।

३. वातिक-अश्मरी—वातयुक्त कफ संघातित होकर यथोक्त प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होकर बस्ति-मुख में ठहर कर मूत्रमार्ग को रोक देता है। उसकी रुकावट से तीव्र वेदना होती है तथा रोगी (वेदना से) अत्यन्त पीड़ित होकर दांत चबाता है, नाभि को दबाता, शिश्न को मसलता है, गुदा को छूता है, जोर से चिल्लाता है, गर्म हो जाता है। वात, मूत्र और पुरीष कठिनाई से मेहन (प्रवाहण) करते हुए निकलते हैं। यह अश्मरी श्याववर्ण, स्पर्श में कठोर, विषम, खुरदरी, कदम्ब के फूल के समान कांटों जैसी रचना से युक्त होती है। इनके अतिरिक्त वाग्भट ने कम्प होना, रात-दिन कराहना, वातयुक्त पुरीष का त्याग और बूंद-बूंद मूत्रत्याग; लक्षण अधिक बताये हैं। वातिक पैत्तिक और कफज अश्मरियां दिवा-स्वप्न, समशन, अध्यशन, शीत, स्निग्ध, गुरु, मधुर, आहार के सेवन से विशेष रूप से बालकों में उत्पन्न होती है।

बड़ों में शुक्र के जमने से शुक्राश्मरी बनती है।

शुक्राश्मरी

मैथुनाभिघात (बहुत काल तक मैथुन न करना अर्थात् शुक्र को रोकना) अथवा अति मैथुन से अपने स्थान से च्युत शुक्र बाहर न निकल कर विमार्गगमन करता हुआ वायु के द्वारा चारों ओर से ग्रहण किया जाकर मेढ़ और वृषण के मध्य में एकत्रित कर दिया जाता है। वह वहां शुष्क हो जाता है। इससे मूत्रमार्ग रुक जाता है। मूत्र-कृच्छ्र, बस्ति में वेदना, दोनों वृषणों में शोथ उत्पन्न होते हैं। इस प्रदेश में पीड़न करने से अश्मरी विलीन (लुप्त) हो जाती है। इसे शुक्राश्मरी कहते हैं।

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार उपर्युक्त अश्मरियों का सामंजस्य निम्न रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

१. कफज अश्मरी—यह क्षारीय मूत्र में उत्पन्न होती है ट्रिपल फास्फेट (अमोनियम) से बनती है। श्वेत और खड़िया के समान दिखाई देने वाली, घनता में मृदु, भंगुर और शीघ्र वृद्धिशील होती है। इस प्रकार की अश्मरी यद्यपि कम पायी जाती है, किन्तु किसी भी छोटी अश्मरी, बाह्य पदार्थ, जीवाणु और आवरक धातु के अंश पर अथवा प्राथमिक प्रकार (जीर्ण मूत्राशय शोथ के और क्षारीय मूत्र की अवस्था में) पाया जाता है। यह मूत्राशय के गर्त में उत्पन्न होती है। फास्फेट जमा होकर इस अश्मरी का निर्माण करते हैं। इस प्रकार यह द्वैतियक अश्मरी होती है।

२. पित्तज अश्मरी—इसे 'यूरिकएसिड' अथवा 'यूरेट आफ अमोनियम' की अश्मरी भी कहते हैं। यूरिक एसिड से निर्मित अश्मरी प्रायः अण्डाकार (कुक्कुटाण्ड-प्रतीकाशा) चिकनी स्निग्ध अथवा स्वल्प-ग्रन्थियुक्त सतह वाली, भूरे लाल रंग की मधुक पुष्पवर्ण और कठिन होती है। काटने पर स्पष्ट परतें और बाहर फास्फेटिक पदार्थ का आवरण दिखाई देता है। यूरेट आफ अमोनियम से बनी अश्मरी उपर्युक्त स्वरूप की होती है। किन्तु उसकी अपेक्षा हल्के रंग की और कुछ अस्पष्ट पर्तों से बनी होती है।

३. वातिक अश्मरी—इसकी तुलना 'ओक्जलेट ओफ लाइम' अश्मरी से निर्मित अश्मरी से की जा सकती है। यह ओक्जलेट्स लिफाफे के आकार के क्रिस्टल्स होते हैं। अश्मरी शहतूत के समान रूक्ष, अनियमित और ग्रन्थियुक्त होती है। यह अत्यन्त कठोर, परतयुक्त और वर्ण में श्याम या कृष्ण वर्ण की होती है। उसका यह वर्ण रक्त के सम्मिश्रण से आता है। बस्तिप्रदेश में क्षोभ उत्पन्न करने के कारण अत्यन्त वेदना और सरक्त-मूत्रता के लक्षण होते हैं।

अश्मरी—निदान (Diagnosis)—

मूत्राशयगत अश्मरी के निश्चय के लिये मूत्राशय दर्शक यंत्र से परीक्षण (Cystoscopy), 'क्ष' किरण–परीक्षण (Radiography) और सं–किरण शलाका से ध्वनिज्ञान (Sounding) करना आवश्यक है।

चिकित्सा—

अश्मरी एक दारुण व्याधि है, अतः इसे यम के समान

...घातक समझना चाहिये। आचार्यों ने इसकी चिकित्सा के दो प्रमुख उपायों का उल्लेख किया है।

१. औषधि चिकित्सा—

नूतन और नातिवृद्ध अश्मरी होने पर औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

२. छेदन (शस्त्र कर्म)—

अश्मरी के अत्यन्त बढ़ जाने पर शस्त्रकर्म किया जाय।

"अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तकप्रतिमो मतः।
औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति ॥"
(सु० चि० ६/३)

पूर्वरूपगत चिकित्सा—अश्मरी के पूर्वरूप प्रकट होने पर स्नेहन स्वेदन आदि उपक्रम किये जायें, जिससे इस व्याधि के कारण समूल नष्ट हो जाते हैं।

वस्तुतः अश्मरी में औषधि-चिकित्सा का प्रयोजन है—

(१) मूत्र में अश्मरी निर्मापक द्रव्यों की न्यूनता, (२) उत्पन्न अश्मरी का विघटन और (३) मूत्रराशि को बढ़ाकर उसका बहिर्निष्क्रमण। औषधियों का प्रयोग तत्-तत् दोषनाशक गणों से सिद्ध घृत, क्षार, यवागू, यूष, क्वाथ, दूध और भोजन के रूप में करना चाहिये। इस प्रकार आहार में औषधियों का प्रभाव सम्मिश्रित होने से उसके पाक और विभाजन से उत्पन्न किट्टरूप मूत्र में भी औषधि गुण-प्रभाव साक्षात् पहुँच जाता है। मूत्र में अश्मरीनाशक द्रव्यों के प्रयोग का यही प्रयोजन है।

वातज अश्मरीनाशक द्रव्य—पाषाणभेद, वसुक (श्वेतार्क), वशिर (रक्त अपामार्ग या गजपिप्पली), अश्मन्तक, शतावरी, गोक्षुरु, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, कपोतवंका (ब्राह्मीः), आर्तगल (नीलपियाबांसा), कच्चक (कवहक इति मालवे प्रसिद्धः), खस, कुब्जक (गुञ्जा), वृक्ष्नी (वंदाक), भल्लुक (श्योनाक), वरुण, शाकजफल, जौ, कुलथी, बेर, निर्मली और ऊषकादि गण।

पित्तज अश्मरीनाशक द्रव्य—कुश, काश, सरपत, गुन्द्रा, इत्कट, इक्षुमूल, पाषाणभेद, शतावरी, विदारीकंद, वाराही कंद, शालि-धान्यमूल, गोखरू, भल्लुक (श्योनाक), पाटला, पाठा, पतंग, कटसरैया, पुनर्नवा, शिरीष, शिलाजीत, मुलैठी, नीलकमल, ककड़ी, खीरा आदि के बीज।

कफज अश्मरीनाशक द्रव्य—वरुणादि गण, गुग्गुलु, इलायची, रेणुका बीज, कूठ, भद्रादिगण, मरिच, चित्रक और ऊषकादि गण।

सिद्ध प्रयोग—

१. **त्रिकन्टक चूर्ण**—गोखरू के बीज का चूर्ण, मधु मिलाकर बकरी के दूध के साथ पीने से एक सप्ताह में अश्मरी नष्ट हो जाती है।

२. **क्षार प्रयोग** (सुश्रुत)—तिल, अपामार्ग, केला, पलाश और जौ के कल्क से निर्मित क्षार का भेड़ी के मूत्र के साथ सेवन करने से शर्करा नष्ट होती है।

३. **वीरतर्वादि गण**—की औषधियों का सब प्रकार से उपयोग (सुश्रुत)—(घृत, क्षार, कषाय, दूध और उत्तर बस्ति—निरुह और अनुवासन)।

४. सहिजने के मूल का कोष्ण क्वाथ पीना अश्मरी-नाशक है।

विशेष—

१. पुराने मद्य को पीकर शीघ्रगामी रथ अथवा अश्व पर सवारी करने से, संयोग से अश्मरी बाहर निकल जाती है। (वाग्भट)।

२. विरेचन के लिए 'तिल्वक घृत' का प्रयोग, बार-बार बस्तिकर्म (विशेष रूप से उत्तर-बस्तियों का प्रयोग अश्मरी को नष्ट करता है। (वाग्भट)।

३. शुक्राश्मरी होने पर उक्त प्रकार से बस्तिकर्म द्वारा मूत्रमार्ग के शुद्ध हो जाने पर पुरुष वृष्य द्रव्यों और मुर्गे के मांस को तृप्ति पर्यन्त सेवन करे। पश्चात् अत्यन्त मददायी स्त्रियों का यथेच्छ सेवन करे, इससे शुक्राशय की शुद्धि होकर शुक्राश्मरी नष्ट हो जाती है। (वाग्भट)।

रस-ग्रन्थों में अश्मरी नाशक निम्न सिद्ध योगों का प्रयोग उल्लेखनीय हैं:—

१. **पाषाणवज्रक रस** (यो० र०)—शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक तीन भाग लेकर कज्जली बना, श्वेत पुनर्नवा के रस के साथ एक दिन मर्दन करें, पश्चात् "भूधरयंत्र" में रखकर पकावें। शीतल होने पर समभाग पाषाणभेद का चूर्ण मिलाकर रख लें। इसका २ रत्ती से



१ माशा तक की मात्रा में, गोपाल ककड़ी के मूल के क्वाथ या कुलथी के क्वाथ के अनुपान से प्रयोग करना चाहिये।

२. **त्रिविक्रमरस**—ताम्र भस्म एक भाग लेकर बकरी के दूध और उसके बराबर घृत मिलाकर पकावें, पूर्ण पक जाने पर समभाग शुद्ध पारद और समभाग शुद्ध गंधक लेकर कज्जली बनाकर ताम्र मिला दें। पश्चात् निर्गुण्डी स्वरस से दिनभर मर्दन कर गोला बनालें। इसे बालुकायन्त्र में एक प्रहर तक पकावें। स्वांग शीतल होने पर निकाल कर, पीस कर रखलें। **प्रयोग**—½ से २ र०, **अनुपान**-बिजौरा निम्बू के मूल का क्वाथ।

३. **हजरत बेर वा बेर पत्थर की**--पिष्टी ४रत्ती, गोखरू क्वाथ से दें।

४. **पाषाण भेदादि क्वाथ** (यो० र०)—पाषाण-भेद, वरुण, गोखरू, एरंड, छोटी कटेरी और तालमखाना इनके मूल समभाग लेकर, क्वाथ बनाकर, उसमें दही का प्रक्षेप देकर पिया जाय।

५. **एलादि क्वाथ** (यो० र०)—छोटी इलायची, पीपल, मुलैठी, पाषाणभेद, रेणुका, गोखरू, अडूसा, एरण्ड-मूल समभाग लेकर क्वाथ बनाकर शुद्ध शिलाजीत और शरकरा का प्रक्षेप डालकर पीना चाहिये।

६. **वरुणादि घृत** (योग रत्नाकर)—१ तो० की मात्रा में दही के पानी से पिलाया जाय।

७. **पाषाणभेदपाक**—मात्रा १ तोला। (चक्रदत्त)

पथ्य—कुलथी, मूंग, गेहूँ, पुराने शाली चावल, जौ, जांगल पशु-पक्षियों का मांस, चौलाई, पुराना पेठा, अदरक और जवाखार, अश्मरी रोग में हितकर है।

संक्षिप्त किन्तु अनुभूत योग—

१. **तिलनाल का क्षार**—मात्रा-१ से २ मा० अनुपान मधु, दूध अथवा इक्षु रस।

२. **यवक्षार** (४ र०) और **गोखरू का चूर्ण** (१ मा०) मिलाकर जवासे के क्वाथ से पीना।

३. **शुद्ध शिलाजीत** (२-६ र०)—मधु के साथ चाटा जाय।

४. **शरपुंखा के मूल का कल्क**—चावल के धोवन से पीना।

५. उपर्युक्त रस योगों के साथ शर्बत बिजूरी का प्रयोग।

शस्त्रकर्म अश्मरी की विशेष चिकित्सा है। उसका विशेष वर्णन करना स्थानाभाव से सम्भव नहीं है।

साधारणतया सभी प्रकार की अश्मरियों में निम्न चिकित्सा-व्यवस्था उपयोगी प्रमाणित हुई है।

(१) प्रातः सायं—दिन में दो बार,

त्रिविक्रम रस २ र०, हजरुल यहूद पिष्टी या भस्म ४ र०, क्षारपर्पटी २ र० —मिलित १ मात्रा।

ऐसी २ मात्राएं मधु से चाटकर निम्न कषाय पीयें।

(२) अश्मरीहर कषाय (सि० यो० सं०) १ तो० —१ × २ मात्रा।

(३) चन्द्रप्रभावटी २ गोली या शिवागुटिका २ गोली —१ मात्रा × २ मात्राएं।

गोक्षुरचूर्णपक्वदुग्धानुपान से, प्रातः सायं।

(४) कुलथी का क्वाथ ३ तो०, दिन में ३-४ बार।

पथ्य—अश्मरी के रोगी को खान-पान पर विशेष ध्यान देना चाहिए। मूत्रल शाक-सब्जियां व अन्न हितकर हैं—जैसे यवमण्ड (२ तो० जौ को ६४ तोले जल में उबालकर, चौथाई शेष रखने पर छानकर बनाया हुआ जल), कच्चे नारियल का पानी, गन्ने का रस, लौकी, पेठा, मकोय की पत्ती आदि। दालें, मांस, कंद के शाक और स्नेहपक्व अन्न (तले हुए पदार्थ) अपथ्य हैं।

गरम जल में कमर तक का भाग डुबोकर टब में बैठना (अवगाहस्वेद) अश्मरीशूल व मूत्रकृच्छ्र में लाभ करता है।

ऊपर **'अश्मरी हर कषाय'** बताया गया है।

पाषाणभेद, सागौन के फल, पपीते की जड़, शतावरी, गोखरू, वरुण की छाल, कुश के मूल, कास के मूल, पुनर्नवा, गिलोय, अपामार्ग के मूल और ककड़ी के बीज—प्रत्येक समभाग, जटामांसी और खुरासानी अजवायन के बीज या पत्ती—प्रत्येक २ भाग ले, सबको जौकुट (दरदरा) करके रख ले। इसमें से १ तोला ले, उसको १६ तोले जल में पका, ४ तोला बाकी रहे तब कपड़े से छान-कर पीवे।

★★

सुधानिधि



जटिल रोग चिकित्सांक

त्वचा के ज़टिल रोग

कुष्ठ रोग चिकित्सा

लेखक—कविराज श्री रुद्रनारायण सिंह, अध्यक्ष श्री रुद्रदेव आयुर्वेद भवन, नयागाँव, सारण, बिहार।

जगज्जननि जानकी तथागत, कौटिल्य, राजेन्द्र, श्री अनुग्रहललित भूमि बिहार आयुर्वेद के प्रतिष्ठापक विद्वानों का सदैव केन्द्र रहा है। राजा विदेह और निमि जैसे चिकित्सक सर्जनों ने इस भूमि को जहां धन्य बनाया है वहीं अनेक आधुनिक आयुर्विद्याविदों ने आयुर्वेद वाङ्मय की श्रीवृद्धि में योगदान किया है और रोगपरित्राणार्थ अभिनव मार्गदर्शन किया है। श्री ब्रजविहारी चतुर्वेदी, रामावतार शर्मा, प्रियव्रत शर्मा, भिक्कूसिंह, नागेश द्विवेदी से द्वारका मिश्र तक एक सातत्यपूर्ण चिकित्सक मणिमाला दृष्टिगोचर हुए बिना नहीं रहती। इस माला में ही हमारे कविराज श्री रुद्रनारायण सिंह गुथे हुए हैं। आपका यह लेख हर प्रकार से ज्ञानवर्द्धक और पठनीय है। कुष्ठ रोग की विभीषिका से सभी परिचित हैं। इसकी रोकथाम के कारगर उपाय खोजने में कभी, आयुर्वेदज्ञों की परम्परा जुटी हुई थी। अभी यह रोग पूर्णतया काबू में नहीं आया है। कविराज जी का लेख इस दिशा में चिन्तन हेतु विपुल सामग्री प्रदान करता है। —रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

अब से १०२ वर्ष पूर्व सन् १८७४ ई० में हैनसन नामक विद्वान् ने कुष्ठ के कृमि को ढूंढ निकाला था। इस कृमि (कृमि शब्द आयुर्वेद में दृश्य अदृश्य सभी प्रकार के रोगकारक जर्म्स और वर्म्स के लिए प्रयुक्त होता है) को माइकोबैक्टीरियम लैप्री या हैन्सन्स बैसीलस कहते हैं। आयुर्वेद कुष्ठ सहित कई रोगों का संक्रामन्ति नरान्नरम् कहकर इसे संक्रामक रोग स्वीकार करता है।

यह एक जटिल रोग है। जटिलता इतनी कि कुष्ठी को घर वाले पनाह नहीं देते, समाज पास बैठाता नहीं, और दरिद्र और भिक्षुकरूप में इतस्ततः मारा फिरता है। गांधी जी ने सर्व प्रथम इस देश में कुष्ठियों की सेवा के लिए मार्गदर्शन किया था। भारत में कुष्ठियों की संख्या अन्य देशों की अपेक्षा बहुत अधिक है, शायद विश्व के एक चतुर्थांश कुष्ठी यहीं बसते हैं।

यद्यपि कुष्ठियों से घृणा का वातावरण सारे विश्व में काफी समय से है पर आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि जितना अध्ययन और अनुसंधान भारतीय वैद्यों ने इसका किया था, वह उनकी उस जिज्ञासु वृत्ति की ओर अंगुलिनिदेश करता है जो उन्होंने "अथ भूत दयां प्रति" के चरकीय ध्येयवाक्य की दृष्टि से अपनाई थी। उनका "वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च" तथा "अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च" वाक्य उनकी गवेषणा और सूझ की ओर इंगित करते हैं।

कुष्ठ को चोपड़ादि ने दुर्दम और सुदम दो प्रकार का माना है। दुर्दम (मैलिग्नेंट) में त्वचा के बहुत बड़े क्षेत्र में विक्षत बनते हैं। श्लेष्मलकला का भी बहुत भाग

आहत होता है। सुदम (बिनाइन) कुष्ठ मृदु या सौम्य स्वरूप का होता है इसके विक्षत त्वचा के सीमित क्षेत्र तथा परिसरीय स्नायुओं (पेरिफरल नर्व्स) तक ही सीमित रहते हैं। सन् १९३८ की इंटरनेशनल लेप्रसी कांग्रेस ने केयरो (ईजिप्ट) में सुदम को न्यूरल तथा दुर्दम को लेप्रोमेटस लेप्रसी नाम दिया था। न्यूरल लेप्रसी को पानअमेरिकन वर्गीकरण में ट्यूबर्क्युलॉयड नाम दिया गया है।

आधुनिक वैज्ञानिक लैप्रसी को सहज या कॉन्जैनिटल रोग नहीं मानते। इस रोग का उपसर्ग अक्सर बचपन में ही लग जाता है। सह शैयासनात् गन्धमाल्यानुलेपनात् आदि विधियों से उपसर्गयुक्त त्वचा के साथ सम्पर्क आने से यह रोग लगता है। आयुर्वेदीय दृष्टि से कुष्ठ की उत्पत्ति इस प्रकार होती है—

कुष्ठकारक आहार-विहार के सेवन से—

[१] त्रयो दोषाः युगपत् प्रकोपं आपद्यन्ते—तीनों दोष एक साथ प्रकुपित हो जाते हैं।

[२] त्वगादयश्चत्वारः शैथिल्यं आपद्यन्ते—त्वचा, मांस, रक्त और लसीका इन चारों में प्रवेश कर उनकी क्रिया में शिथिलता उत्पन्न कर देते हैं।

[३] तेषु शिथिलेषु त्रयो दोषाः प्रकुपितः स्थानं अभिगर्म्य अवतिष्ठमानाः तानेव त्वगादीन् दूषयन्तः कुष्ठानि अभिनिर्वर्तयन्ति—इन चारों (त्वग्रक्तमांसमम्बु च) के शिथिल होने से प्रकुपित दोष स्थायी रूप से उनमें अवस्थित हो जाते हैं जिससे वे चारों ही स्थायी रूप से ही दूषित हो जाते हैं और कुष्ठ रोग को (कालपाकर) प्रकट करते हैं।

[४] न च एक दोषजं किञ्चित्कुष्ठं समुपलभ्यते—आयुर्वेद कुष्ठ की उत्पत्ति एकदोषज कभी स्वीकार नहीं करता।

[५] जब कुपित दोष त्वक्, रक्त, लसीका और मांस नामक चारों शिथिल दूष्यों में स्थायी रूप से जमकर कुष्ठ उत्पन्न करने लगते हैं तो आरम्भ में जो लक्षण मिलते हैं उन्हें चरकसंहिता के चिकित्सा स्थान के सातवें अध्याय में इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नतिः।
कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः।
दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम्॥

जहां कुष्ठ का विक्षत बनने लगता है, वहां आरम्भिक लक्षण निम्नलिखित मिलते हैं—

[क] स्पर्शज्ञान नहीं मिलता।

[ख] पसीना बहुत आता है, नहीं भी आता है।

[ग] त्वचा का रंग विकृत हो जाता है।

[घ] स्थान कुछ उठ जाता है, कोठ या गोल चकत्ते उठे हुए बन जाते हैं।

[ङ] रोमहर्ष होता है।

[च] खुजली होती है।

[छ] तोद (सुई चुभोने जैसी पीड़ा) होता है।

[ज] थकान शारीरिक या मानसिक होती है।

[झ] जो व्रण बनते हैं उनमें बहुत अधिक वेदना होती है।

[ञ] जो व्रण बनते हैं वे जल्दी बनते हैं पर देर तक बने रहते हैं।

[ट] जलन पड़ती है।

[ठ] अंग में सुप्तता (सोजाना) प्रायः होती रहती है।

चोपड़ादि ने न्यूरल कुष्ठ का परिचय देते हुए लिखा है कि इस रोग में त्वचा में पैच (सिध्म) बन जाते हैं। ये सिध्म छोटे बड़े कई आकार के होते हैं संख्या किसी रोगी में कम किसी में अधिक देखी जाती है। ये शरीर के किसी भी भाग की त्वचा में पाये जा सकते हैं। ये सिध्म त्वचा के समतल या उठे हुए मृदु या स्थूल होते हैं, इन सिध्मों या पैचों की सबसे बड़ी विशेषता होती है—Diminution in or loss of cutaneous sensibility—जिसे स्पर्शाज्ञत्व शब्द से चरक ने स्वीकार किया है। त्वचा में स्थित स्नायुएं या नर्व्स सिध्म के स्थान पर मोटी हो जाती हैं। इन सिध्मों का परीक्षण करने पर बैक्टीरियोलोजी की दृष्टि से इनमें कोई जीवाणु का पता नहीं लगता। सामान्यतः इन सिध्मों में पौलीन्यूराइटिस के लक्षण मिलते हैं जिसके कारण उन स्नायुओं (नर्व्स) में संज्ञावाही (सेंसरी) क्रियावाही (मोटर) तथा पोषणक (ट्रॉफिक) परिवर्तन तथा विकलांगताएं (डिफौमिटीज) देखी जाती है। स्नायविक या न्यूरल कुष्ठ में क्रियावाही की अपेक्षा संज्ञावाही परिवर्तन अधिक मिलते हैं।

लैप्रोमेटस लैप्रसी में शरीर के अधिकांश भागों में कुष्ठ के विक्षत (लीजन्स) पाये जाते हैं। ये विक्षत त्वचा

तथा श्लेष्मलकला दोनों में ही काफी होते हैं। इसमें स्नायुओं (नर्व्स) में अधिक स्थूलता नहीं पाई जाती। इस कारण संज्ञावाही परिवर्तन इस प्रकार में अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। त्वचा में जो विक्षत बनते हैं वे हलके रंग के सपाट या उठे हुए स्थूल लाल रंग के पर्वक (नोड्यूल) होते हैं। ये पर्वक जब फट जाते हैं तब वहां व्रण बन जाते हैं। श्लेष्मलकला में इन विक्षतों को नाक, आंख और गले में देखा जाता है। नाक में बने पर्वकों के फूटने से नाक में व्रण हो जाते हैं, तरुणास्थि (सैप्टम आफ दि नोज) गल जाती है। नाक बैठ जाती है। नेत्रों में इन विक्षतों के फूटने से अनेक नेत्र विकार उत्पन्न हो जाते हैं। गले के विक्षतों के कारण आवाज बैठ जाती है और सांस लेने में भी कठिनाई होती है।

आयुर्वेद में लैप्रसी को, महाकुष्ठों के रूप में वर्णन किया गया है। दोषा हि विकल्पनैर्विकल्प्यमाना विकल्पयन्ति विकारान् अन्यत्र असाध्य भावात्। तेषां विकल्पविकारसंख्यानेऽतिप्रसंगमभिसमीक्ष्य सप्तविधमेव कुष्ठविशेषं उपदेक्ष्यामः। —च० सं० नि० स्था० अ० ५

कुष्ठ के नाम-सं.—कुष्ठ, हिं. कोढ़, अ.-जुजाम, अं.-लेप्रोसी Leprosy।

परिभाषा—रोग सम्बन्धी दोषों के चर्मगत होने से त्वचा में शिथिलता उत्पन्न होकर शरीर को कुत्सित बना देता है, इस हेतु इस रोग का नाम कुष्ठ है।

अथवा—कुष्णातीति कुष्ठम् यानी-शारीरिक त्वचा आदि धातुओं को नाश करने के कारण इसे कोढ़ या कुष्ठ कहते हैं।

आयुर्वेदिक मतानुसार रोग के कारण

(१) मांस-मछली एवं दूध-दही इत्यादि परस्पर विरोधी-खाद्य वस्तुओं को एक साथ हमेशा खाते रहने से।

(२) पतले-चिकने एवं गरिष्ठ पदार्थों के अधिक सेवन से।

(३) मल-मूत्र एवं आती हुई वमनादि के वेगों को रोकने से।

(४) पेटु की तरह बहुत खाकर दंड या परिश्रम करने से।

(५) परिश्रम के बाद, जब शरीर गरम, परिश्रान्त एवं पसीना की हालत में नहाने तथा जल आदि शीतल पदार्थों के सेवन से।

(६) नवीन अन्न और खारे-खट्टे एवं चटपटी वस्तुओं को विशेष खाने से। अथवा मछली (विशेषकर बोआरी) तिल, नमक, उड़द, पिट्ठी, मूली और गुड़ादि मिलाकर खाने से।

(७) साधु-संत, माता-पिता एवं गुरुजनों का अपमान करने अथवा अन्य जघन्य कर्मों के कारण तीनों दोष कुपित होकर रक्त, मांस, त्वचा एवं शरीर के जलीय धातु को दूषित कर १८ प्रकार के कुष्ठरोग उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त उपदंश, सुजाक, पारद विकार, गंदी रहन-सहन गरीबी एवं रबड़ आदि शरीर विरोधी वस्तुओं के धारण करने से इस रोग के प्रसार में सहायक कारण होते हैं।

आधुनिक मतानुसार—यह रोग पैतृक नहीं, किन्तु छूत के द्वारा एक दूसरे के पास पहुंच जाता है। जैसे पति से पत्नी को मां-बाप से बच्चे को घनिष्ट सम्पर्क के हेतु लग जाता है। इस रोग के फैलाने वाले एक प्रकार के दण्डाकार कीटाणु हैं, जिन्हें "वैसीलसलेप्रो" कहते हैं। ये कीटाणु व्रणों के साथ, नासिका या कंठ की श्लैष्मिक कला में उपस्थित रहते हैं और वहां से स्पर्श द्वारा एक दूसरे में फटी हुई त्वचा, मुख, नाक अथवा जननेन्द्रियों के द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर एक दूसरे में प्रसार पाते हैं; परन्तु यह रोग मनुष्य जाति के सिवा किसी और प्राणी को अपना शिकार नहीं बनाता है।

यह रोग पैतृक भी होता है और इसके प्रत्यक्ष कई उदाहरण मेरे सामने हैं।

वक्तव्य—ऐसे तो यह रोग किसी भी अवस्था में प्रगट हो सकता है तथा स्त्री-पुरुष या बाल-वृद्ध सभी समान रूप से इस दुष्ट रोग के चंगुल में फंसे दिखाई देते हैं, किन्तु नवीन मतानुसार यह रोग ३० वर्ष की आयु से पहले ही मानव शरीर पर अपना फौलादी पंजा डाल देता है एवं स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है।

रोग परिचय—यह एक संक्रामक और जीर्ण रोग है, जो सर्वाङ्ग को घृणित बना देता है। रोगी का चेहरा भद्दा सा हो जाता है। हाथ-पैरों की उंगलियों में शोथ आकर उनमें पीप पड़ जाती है एवं अन्त में हाथ-पैरों की उंगलियां गल-गलकर झड़ जाती हैं और रोगी लूला-

लंगड़ा बन जाता है। खूबी है कि घाव होने पर भी उनमें दर्द नहीं होता, कारण कि ज्ञान तन्तु सक्रिय नहीं रहते।

रोग का प्रसार—ऐसे तो यह रोग समस्त भू-भागों में व्याप्त है, परन्तु भारतवर्ष, लंका, केरल, बर्मा एवं समुद्र के किनारों पर रहने वालों में यह रोग अधिक होता है। भारत में बिहार, आसाम और बंगाल इस रोग का केन्द्र है।

रोग का जीवन चक्र—इस रोग का संचयकाल २० वर्ष का कहा जाता है। यह रोग मंथर गति से प्रसार पाता है, यहां तक कि छूत लगने के ३ से ६ वर्ष का समय, केवल रोग के लक्षण उत्पन्न होने में ही लग जाता है। बाद में कहीं उसकी आंखें खुलती हैं, तब तक रोग कष्ट साध्यावस्था में परिणत हो जाता है और बाद में छाया की तरह जीवन साथी बनकर कभी पीछा नहीं छोड़ता, जब तक उसका उचित उपचार नहीं हो पाता।

सामान्य परीक्षा—रुग्ण त्वचा पर रंजक द्रव्य की कमी अथवा संज्ञानाश की विद्यमानता और हाथ-पैरों में आघात पहुँचने या ठोकर देने पर उसमें झुनझुनाहट आदि का होना इस व्याधि के प्रमुख लक्षण हैं।

विशेष परीक्षा—रुग्ण व्यक्ति की नासिका के अन्दर की श्लैष्मिक-कला का तरल या खुरचन तथा कर्ण या दूसरे रुग्ण स्थानों की त्वचा काटकर उसका रस ग्रहण कर स्लाइड बना अनुवीक्षण यंत्र से परीक्षा करें। यदि "वैसीलसलेप्रो" मिलें तो रोगी कुष्ठ रोग से अवश्य ग्रसित है।

अथवा—लेप्रोलीनटेस्ट या परीक्षा धनात्मक होने पर भी कुष्ठ रोग का प्रकोप समझें। रक्त परीक्षा में एरीथ्रो साइट सेडीमेन्टेशन या E. S. R. में वृद्धि पाये जाने पर कोढ़ समझना चाहिए।

कुष्ठ की सम्प्राप्ति और प्रकार—गत पृष्ठों में लिखित कारणों से वात, पित्त एवं कफ ये तीनों दोष कुपित होते हैं। फिर ये तीनों दोष विकृत होकर, रक्त, रुधिर, मांस एवं जल को दूषित करते हैं। बाद में रस और रक्तादि के बिगड़ने से १८ प्रकार के कुष्ठ रोग की उत्पत्ति होती है। इनमें से ६ बड़े कोढ़ और ११ क्षुद्र कोढ़ माने गये हैं।

महाकुष्ठ वे हैं, जो त्वचा से रक्त और मांसादि धातुओं में फैलकर अन्त में शारीरिक धातुओं को नष्ट करते हैं और जिनकी विकृति केवल त्वचा में ही सीमित रहती है, वे क्षुद्र कुष्ठ कह लाते हैं।

कुष्ठ की जातियां—कुष्ठ रोग पित्त प्रधान होने के कारण प्रायः गरम देशों में ही अधिक होता है तथा पित्त प्रधान होते हुए भी त्रिदोषज होता है। फिर भी इनमें वात-पित्त और कफ की विशेषता के कारण कोढ़ की कई जातियां मान ली गई हैं।

सप्त महाकुष्ठों के नाम उनके विभेदात्मक लक्षण और अपना विचार

१. कपाल कुष्ठ—(Nervous Varity या Neutral Leprosy)—कपालकुष्ठ, वातजकुष्ठ, संज्ञाहीन कुष्ठ, नाड़ीकुष्ठ ये इनके पर्यायवाची शब्द हैं। जिस कोढ़ को आयुर्वेदज्ञों ने कपालकुष्ठ के नाम से पुकारा है हमने उसे शून्य बहरी के नाम से जाना है।

यह रोग वात प्रधान होता है और त्वचा पर खोपड़ी की भांति सफेदी माइल धब्बे निकल आते हैं, इस हेतु इसका नाम कपालकुष्ठ है। इस रोग का समस्त स्नायुओं पर आक्रमण होता है। बाद में रोगी के अंग-प्रत्यंगों में संवेदना की अनुभूति होने लगती है और अन्त में वहां की त्वचा शून्य हो जाती है।

छूत लगने के पश्चात् यह रोग कई वर्षों तक अज्ञात रूप से शरीर में पड़ा रहता है एवं धीरे-धीरे रोग कीटाणु बढ़ते चले जाते हैं जिस स्थान पर कपाल कुष्ठ होने वाला होता है, वहां की त्वचा का रंग सिध्म रोग की तरह सफेद माइल दिखाई देने लगता है एवं रोग विशेष बढ़ जाने पर रुग्ण स्थान का स्पर्श ज्ञान नष्ट हो जाता है, वहां चिकोटी लेने पर भी कोई पीड़ा का अनुभव नहीं होता। अगर रोग चिह्न प्रथम हाथ-पैरों में लक्षित होते हैं, तो उनमें चोट लगते ही वे विद्युत तरङ्ग (करेन्ट) की तरह झनक उठते हैं। कहीं गुल्फ या मणिबन्ध की हड्डियों पर चोट आ गई, तो वे और अधिक टनक पड़ते हैं।

अन्त में हाथ-पैरों के ज्ञानतन्तु नष्ट हो जाने के कारण उनमें भद्दापन, चुभन और भारीपन आदि उपसर्ग पैदा

हो जाते हैं। रोगी धूप एवं अग्नि की गरमी सहन करने में असमर्थ हो जाता है। कभी-कभी अग्नि की लपट अथवा तप्तभूमि पर चलने से हाथ-पैरों में फफोले निकल आते हैं और उनका हटना मुश्किल हो जाता है। अन्ततः हाथ-पैरों की उंगलियां विकृत होकर नष्ट हो जाती हैं।

इस जाति का कोढ़ बहुत धीरे-धीरे प्रसार पाता है, यहां तक कि उग्ररूप धारण करने में १०-१४ वर्ष का समय लग जाता है और पन्द्रह-बीस वर्ष तक रोगी जीवित रह सकता है। किन्तु मैंने ४० वर्ष तक ऐसे रोगियों को जीते देखा है। रोग कष्टसाध्य होता है।

२. **औदुम्बर कुष्ठ**—जिस कुष्ठ को महर्षियों ने औदुम्बर कोढ़ के नाम से कहा था, आज हम उसे गलित कुष्ठ या पैत्तिक कुष्ठ के नाम से पुकारते हैं।

जिस अङ्ग की त्वचा पर इस रोग का प्रथम उभार होता है, वहां की त्वचा पक्व गूलर फल की भांति लालिमा-युक्त सफेदी माइल होती है एवं रुग्ण-स्थान कुछ उठा हुआ सा दिखाई देता है तथा रुग्ण त्वचा पर चिकोटी लगाने से वहां असहनीय वेदना होती है, किन्तु कापालिक कुष्ठ में ये दोनों बातें नहीं पाई जातीं, न उसके धब्बे में उभार होता है, न लाली और न चिकोटी का ज्ञान। दूसरी बात जहां कापालिक कुष्ठ धीरे-धीरे अपनी प्रसार की गति रखता है, वहां "औदुम्बर कुष्ठ" द्रुतगति से अपना प्रसार फैला देता है। यहां तक कि ४-६ मास या २-३ वर्ष की अवधि में ही अपनी डरावनी सूरत सामने रख देता है। अन्त में हाथ-पैरों की उंगलियां, नासिका वगैरह अंग गल-गलकर गिरने लगते हैं और पलकें-भौंहें आदि के लोम झड़ जाते हैं एवं रोगी लूला-लंगड़ा बन जाता है। प्रथम कष्टसाध्य और मज्जागत होने पर प्रायः असाध्य होता है। यह भी देखा गया है कि उत्तम चिकित्सा होने से कुष्ठ के सारे उपसर्ग शान्त हो जाते हैं और हाथ-पैरों के व्रण सूखकर नष्ट हो जाते हैं।

३. **मंडल कुष्ठ** (Lepro Matous)—इसे ग्रंथिक, या उभार वाला कोढ़ भी कहते हैं, यहां मंडल कुष्ठ आज का गांठदार कुष्ठ है।

इसके व्रण सफेद अथवा रक्तवर्ण के स्थिर, आर्द्र, चिकने, उठे हुए गांठदार और एक-दूसरे से मिले रहते हैं, उन्हें "मंडल कुष्ठ" कहते हैं।

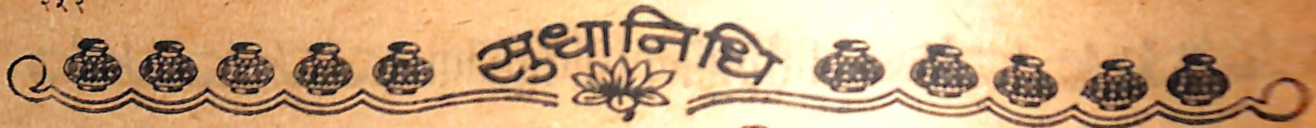
यह रोग कफ विशिष्ट होता है और गर्म देशों की अपेक्षा सर्द देशों में ही अधिक होता है।

इसकी ग्रंथियां उत्पन्न होने से पूर्व समय-समय पर अनियमित ज्वर का आक्रमण होता रहता है। ज्वर में भारीपन, तन्द्रा, अतीसार एवं स्वेदाधिक्य आदि लक्षण उपस्थित रहते हैं। कुछ काल पश्चात् शरीर पर ताम्र-वर्ण के मंडल निकल आते हैं, जो कुछ उभरे हुए चमक-दार होते हैं, किन्तु ज्वर के उतरने पर वे भी लुप्त हो जाते हैं और वहां पर केवल सरवर्ण के दाग रह जाते हैं। परन्तु कुछ सप्ताह बाद जब पुनः ज्वर होता है, तो फिर नवीन मंडल (ग्रन्थि) निकल आते हैं और इसी तरह कई बार ज्वर चढ़ता उतरता रहता है। ज्वर के साथ हर बार उन स्थानों पर मंडल (ददोरे) निकल आते हैं एवं अन्त में उन स्थानों पर ग्रन्थियां पुनः निकल आती हैं। शनैः-शनैः ये गांठे अधिक बढ़ते चले जाते हैं तथा बाद में वे ही स्थायी हो जाते हैं। तब ज्वर का आक्रमण बन्द हो जाता है।

रोग के बढ़ जाने पर रोगी की आकृति सिंह के समान बेडौल सी हो जाती है। होठ मोटे हो जाते हैं और आखें हलकी लाल। अन्त में ये गांठे फटकर व्रण बन जाते हैं और वे जब फट जाते हैं, तब वाणी, दृष्टि एवं घ्राणशक्ति आदि नष्ट हो जाती हैं। क्षीणता बढ़ जाती है और अन्ततः २ से १० वर्ष के अन्दर यहां से रोगी चल देता है। ये मंडल विशेषकर मुख, कंठ, स्वर यन्त्र, नेत्र, नासा आदि स्थानों में अधिक होते हैं।

वक्तव्य—मिश्रित कुष्ठ (Mixed type Leprosy) इस जाति के कुष्ठ द्विदोषज या त्रिदोषज हुआ करते हैं और इनमें कापालिक, ग्रन्थिक और औदुम्बरिक कुष्ठों के लक्षण मिश्रित रहते हैं एवं इन्हीं दोषों की उल्वणता के विचार से उनके कई भेद हो जाते हैं। इन्हीं लक्षणों की चर्चा प्राचीन ग्रन्थकारों ने सप्त महाकुष्ठों में की है जो निम्न प्रकार है।

४. **ऋष्यजिह्व**—यह वात पित्तात्मक व्याधि है एवं इसमें कपाल और औदुम्बर कुष्ठों के लक्षण मिश्रित



रहते हैं। जिस प्रकार ऋक्ष की जिह्वा होती है, उसी प्रकार इस कुष्ठ के धब्बे (दाग) किनारों पर लाल रंग के और बीच में धूम्रवर्ण के खुरखुरे होते हैं तथा इसका रुग्ण स्थान कुछ उभरा हुआ और अत्यन्त कष्टदायक होता है।

५. पुण्डरीक कुष्ठ—यह कुष्ठ पित्त कफात्मक होता है। इसमें औदुम्बर और मंडल कुष्ठ के मिले-जुले लक्षण उपस्थित रहते हैं—यानी जिस कोढ़ का वर्ण बीच में श्वेत एवं किनारों पर लाल कमल के समान रंग और उभार दोनों हों, तो उसे पुण्डरीक कुष्ठ कहते हैं। यहां "पुण्डरीक शब्द" कमल और अग्नि दोनों का पूरक है।

वक्तव्य—कई का अभिमत है कि इस कोढ़ का रंग बीच में लाल और किनारों पर सफेद होता है, किन्तु देखने में आता है कि इसका रंग सफेदी युक्त लाल दिखाई देता है।

६. वातरक्त—प्राचीन आयुर्वेद मनीषियों ने वातरक्त को महाकुष्ठ की श्रेणियों से यद्यपि निकाल दिया है, किन्तु यह महाकुष्ठ का ही एक दूसरा भेद है। इस हेतु इसका वर्णन यहां आवश्यक हो जाता है।

इस रोग में कपालकुष्ठ की तरह, त्वचा में हल्के धब्बे पड़ जाते हैं और वहां की त्वचा सुप्त हो जाती है तथा बड़ी संधियों की अपेक्षा छोटी-छोटी संधियों में वेदनायुक्त शोथ की उत्पत्ति हो जाती है, जो इस रोग का एक प्रमुख लक्षण है, जो कपालकुष्ठ में ऐसा शोथ नहीं होता। इस रोग में वात एवं रक्त की दुष्टि होने से शोथ और कुष्ठ रोग के लक्षणों की समानता रहती है।

रोग पैरों या हाथों के अंगुष्ठमूल से आरम्भ होकर धीरे-धीरे ऊपर वाले अङ्गों में शोथ उत्पन्न करा देता है एवं बाद में वहां की त्वचा फटकर व्रण बन जाते हैं। फिर वहां से रोग सर्वाङ्ग में फैलकर शरीर को घृणित बना देता है।

वक्तव्य—आधुनिक मतानुसार गाउट (Gout) रोग से इस रोग की बहुत कुछ समता पाई जाती है, किन्तु यह रोग "वातरक्त" से भिन्न व्याधि है। गाउट रोग (रक्तवात) में रुधिर शुद्ध रहता है, केवल वात की दुष्टि रहती है, परन्तु वातरक्त रोग में वात तथा रक्त दोनों की विकृति प्रारम्भ से ही बनी रहती है।

महर्षि चरक ने उतान और गम्भीर दो तरह के वातरक्त की चर्चा की है।

(१) त्वचा और मांस में आश्रित रोग को उतान (गाउट)। तथा—

(२) सन्धि अस्थि एवं मज्जाश्रित वातरक्त को गम्भीर कहते हैं।

गाउट रोग की उत्पत्ति प्रोटीन की संवर्तन क्रिया के समुचित रूप से न होने के हेतु रक्त में यूरिकाम्ल की विशेषता से तथा संधियों में "सोडियम-बाई-यूरेट्स के निक्षेपन से होने वाला रोग है, जो उम्र से ४० वर्ष से ऊपर आयु वाले तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक हुआ करता है और पुश्त-दरपुश्त चलने वाला रोग है और दिन की अपेक्षा रात में अधिक जोर पकड़ता है। किन्तु गम्भीर वातरक्त रोग में ऐसा नहीं होता। इस रोग की उत्पत्ति का वही हेतु है, जो प्रायः कुष्ठ रोग का है।

वातरक्त प्रथम कष्टसाध्य और घुटनों तक फैल जाने के बाद असाध्य माना गया है।

७. काकणक कुष्ठ—यह तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाला कष्ट साध्य अथवा असाध्य व्याधि है। इसके धब्बे लाल घुंघची (करजनी) की तरह चारों ओर से लाल पर बीच में काले होते हैं, उनमें दाह, स्फोटन, पाक एवं दुर्गन्ध आदि के हेतु रोगी को बहुत कष्ट होता है।

इस रोग में वातज, पित्तज एवं कफज कोढ़ के लक्षण मिले रहते हैं और व्रणों में शीघ्र कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। काकणक शब्द रक्तगुंजा एवं लाल कमल का सूचक है।

एकादश क्षुद्र कुष्ठानि

१. एक कुष्ठ—(Psoriasis) सोरायसिस, चम्बल, रक्त सर्षपिका एवं छाल रोग (पपड़ी का रोग) आदि इसके पर्याय वाचक शब्द हैं।

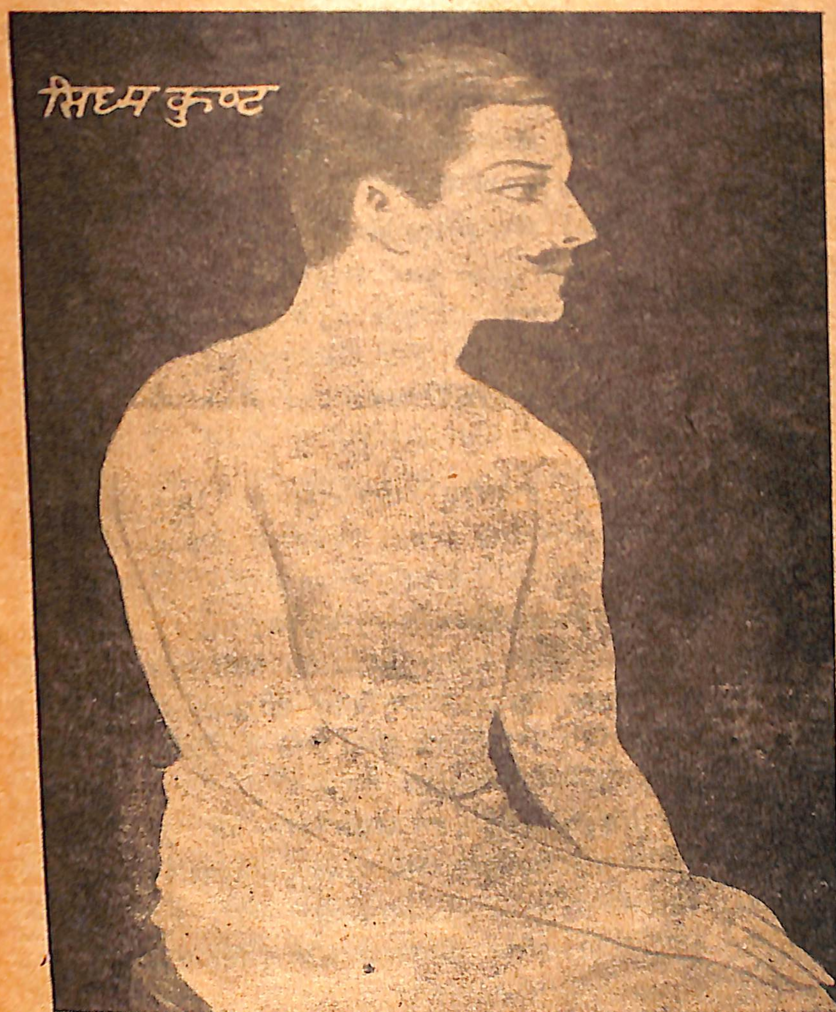
इसकी उत्पत्ति का मुख्य हेतु अभी अज्ञात है, किन्तु होमियोपैथ के विचार से सोरा दोषजन्य रोग है।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने इस रोग की चर्चा क्षुद्रकुष्ठों की श्रेणी में है, किन्तु इस महा हठी और ऐसे घृणित रोग की चर्चा क्षुद्र कुष्ठों की श्रेणी में की जाय यह उचित नहीं था।

प्रथम इस रोग की उत्पत्ति एक सूक्ष्म बिन्दु सदृश पीड़िका के रूप में उत्पन्न होती है, जिसके ऊपर एक बहुत छोटी पपड़ी सी लगी रहती है, जिसे बिन्दुकृत सोरायसिस कहते हैं। फिर यही धीरे-धीरे बढ़कर अठन्नी या रुपया के बराबर बन जाते हैं। इस रोग में त्वचा के ऊपर (धब्बे पर) शुष्क रजतवर्णी छिलके उभार के रूप में दिखाई देते रहते हैं और वहां से श्वेत अभ्रक पत्र की तरह नीरस छिलके उपड़ जाते हैं, जिनके नीचे कोई रस क्षरण नहीं होता, केवल त्वचा फूटी-फटी सी दिखाई पड़ती है।

कभी-कभी रोग का व्यास क्षेत्र ४/५ इञ्च की परिधि में मंडलाकार बढ़ जाता है और उसका मध्य भाग कोदों धान्य या साबूदाने की तरह दानेदार होकर घृणित बन जाता है। इसमें प्रदाह एवं खुजली बिल्कुल नहीं होती या नाममात्र की होती है और वह शुष्क एवं पसीना रहित होता है।

रोगी के स्वास्थ्य पर इस रोग का कोई खास बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, लेकिन मानसिक चिन्ता बनी रहती है, फिर भी धब्बे जब भयानक रूप धारण कर सर्वाङ्ग में फैल जाते हैं, तब रोगी आत्म-हत्या के लिए भी कमर कस लेता है।



यह रोग कोहनी के पीछे, ठेहुना के सामने सबसे अधिक एवं मुखमण्डल, करतल या तलवों में बहुत कम निकलता है। इसके ऊपर से अभ्रक या चांदी के समान छिलके निकलते हैं, जो इसका एक प्रमुख लक्षण है। क्षुद्र कुष्ठों में यह प्रमुख रोग है, जिस हेतु इसका नाम 'एककुष्ठ' पड़ा। यह रोग कष्टसाध्य होता है, धैर्य्य के साथ इसका इलाज होना अत्यावश्यक है नहीं तो जीवनपर्यन्त यह पिण्ड छोड़ना नहीं चाहता।

२. सिध्म कुष्ठ—(Pityriesis Versicolor) पिटिरियासिस वर्सिकलर, सीहुली सेहुआ, छीप, अ० वहम इत्यादि।

चरक ने सिध्म का वर्णन महाकुष्ठों में और सुश्रुत ने क्षुद्र कुष्ठों में किया है। रोगी के स्वास्थ्य पर इस रोग का कोई बुराअसर नहीं पड़ता। जिस धब्बे का रंग सफेद माइल-ताम्र वर्ण का हो और उसमें साधारण खुजली चलती हो तथा खुजलाने से श्वेत वर्ण की भूसी उतरती हो तो उसे सिध्म कुष्ठ कहते हैं। इसकी भूसी में Microspron Furfur जीवाणु देखे जाते हैं। विशेषकर गरदन, छाती, पीठ आदि अङ्गों पर इस रोग के चकत्ते पाये जाते हैं। यद्यपि इस रोग में कोई पीड़ा नहीं होती तोभी कुरूपता के हेतु इसकी चिकित्सा



आवश्यक है।

३. गजचर्म कुष्ठ—Elephant-skindisease एलीफैण्ट स्कीनडिजीज। यह रोग वातश्लैष्मिक होता है, जो हाथी की चमड़ी की तरह, इसकी खाल मोटी, रूखी एवं काली तथा खुजली नहीं के बराबर होती है और गरदन के पिछले भाग पर इसके काले धब्बे दिखाई पड़ते हैं, किन्तु यह कोढ़ होता बहुत कम है।

४. चर्मदल कुष्ठ—Excoriation एक्सकोरियशन यह रोग पित्त-कफात्मक होता है और इसका आक्रमण तलवे और तलहथी पर ही होता है, जिसमें कण्डू, व्यथा, जलन एवं चूसने सी वेदना और सुरसुराहट रहती है। तथा लाल स्फोट (फोड़ा) होकर विपादिका की तरह त्वचा फट जाती है, तब रोगी स्पर्श सहन नहीं करपाता। आज हम इसे चर्मदल कुष्ठ "अपरस" कहते हैं। जो एक्जीमा का ही एक स्थानिक भेद है।

परन्तु नवीन मतानुसार चर्मदल (Impetigo) उन पीली-पीली फुंसियों को कहते हैं, जो बाहरी त्वचा में पीले-पीले रसदार दाने निकलते हैं जहां-जहां रस लगता है, दाने वहीं निकल आते है। ये दाने प्राय: शिशुओं के मुख, हाथ-पैर एवं सिर आदि में निकल आते हैं। जिसका हेतु एक प्रकार का कीटाणु है।

पहले कुछ पीली-पीली फुंसियां अलग-अलग निकलती हैं, किन्तु फिर मिल जाती हैं और उसमें से गाढ़ा, पीला एवं बदबूदार पीप निकलता है। जख्म पपड़ीदार एवं उसके नीचे की त्वचा कोमल और लाल होती है।

प्रथम ये घमौरी की तरह सर्वाङ्ग में फूट निकलती हैं और त्वचा मोटी पड़ जाती है। इसके दानों से प्रथम पीले रङ्ग का लसदार रस निकलता है और केश सड़ जाते हैं, जो इस रोग का एक प्रमुख लक्षण है। यह संक्रामक रोग है और उचित उपचार से शीघ्र ही ठीक हो जाता है।

५. किटिभ कुष्ठ—इस दुष्ट रोग को आज हमने-ड्राई एक्जीमा (Dryeczema) छाजन, मैंसादाद, गजचर्म, उकौता, उकवत, खरो, व्युची के नाम से जाना जाता है।

जिस रोग की त्वचा श्याम वर्ण की खुरदरी, सूखी (रूक्ष) स्पर्शयुक्त, मंडलाकार, कठोर और उग्र कण्डू युक्त हो, उसे "किटिभ" कुष्ठ कहते हैं, जो एक्जी के नाम से प्रसिद्ध है और है-दाद की जाति का ही एक जिद्दी रोग।

यह रोग गरदन के पीछे या हाथ-पैरों के अगले हिस्सों में प्रथम त्वचा पर जलन लाली और खुजली के साथ पोस्त के दाने सदृश छोटी-छोटी फुंसियां निकल जाती हैं, जिनमें अत्यन्त खुजली और जलन होती है। खुजली के बाद उसमें से सफेद पानी की तरह तरल पदार्थ निकलता है एवं अन्त में वहां का चर्म धब्बायुक्त काला पड़ जाता है।

एक्जीमा के भेद (Varities of Eczema)

जाति भेद से एक्जीमा अनेक प्रकार के होते हैं, किन्तु इसके प्रमुख दो भेद हैं। एक सूखा और दूसरा गीला।

(क) शुष्क एक्जीमा—इसकी त्वचा सूखी, मोटी एवं स्राव रहित होती है और गीले की तरह शीघ्र प्रसरणशील नहीं होता।

(ख) अपरस—देखें चर्मदल कुष्ठ। इसमें कंडू नहीं के बराबर होती है।

(ग) शैशव एक्जीमा—(Eczema Infancy) इस प्रकार के एक्जी प्राय. शिशुओं में ही अधिक दिखाई देता है जो त्वचा पर दाने की तरह अनेक छोटी-छोटी फुंसियां निकल आती हैं और उनमें खुजली, लाली, चकत्ते छाले एवं स्राव आदि उपसर्ग पैदा होकर पीड़ित स्थान की त्वचा मोटी पड़ जाती है।

(घ) खुजलीयुक्त एक्जीमा—(Prurigo) इसमें अत्यन्त कष्टदायक खुजली चलती है तथा इस रोग के कारण कर्पूर एवं जानु संधि की त्वचा मोटी पड़ जाती है।

(ङ) खुजली रहित एक्जीमा—इस भेद में रुग्ण स्थान की त्वचा मोटी, काली एवं प्राय: खुजली रहित होती है एवं वहां की त्वचा विपादिका की तरह फट जाती है। इसलिए चीरयुक्त एक्जीमा कहते हैं। देखें—गजचर्म, किन्तु वह भिन्न जाति का रोग है।

(च) रोमकूप का एक्जीमा—यह रोग एक या दोनों पैरों में घुटनों के नीचे रोमकूप (बालों की जड़) में पीली-पीली सरसों के समान छोटी-छोटी फुंसियां एक दूसरे के बाद बराबर निकलती और फूटती रहती हैं एवं

फूटने के बाद उसमें से भूसी की तरह छिलके निकलते रहते हैं और उनमें से गाढ़ी पीप निकलती रहती है।

(६) विचर्चिका—(Weeping Eczema) स्राव-युक्त एक्जीमा, गीला एक्जीमा, पपरीदार एक्जी आदि।

इसकी त्वचा सूखी नहीं, बल्कि गीली रहती है। प्रथम त्वचा पर छोटी-छोटी प्रदाहित अनेक फुंसियां निकल आती हैं, जिनमें अत्यन्त खुजली और जलन होती है, यहां तक कि खुजली के कारण त्वचा पर जख्म बन जाते हैं और उन पपड़ीदार जख्मों से सफेद मांड़ की तरह या पीले रंग का रस निकलता है और रोग इसी स्राव तथा खुजली के द्वारा प्रसारित होकर सर्वाङ्ग में फूट निकलता है। तब चमड़ी शोथयुक्त घृणित दिखाई देने लगती है। एक्जीमा जब उंगलियों के ऊपर होता है, तो कालान्तर में वहां के नख विकृत हो जाते हैं।

वक्तव्य—श्री गंगाधर जी के मतानुसार कितने चिकित्सक विचर्चिका और विपादिका को एक ही जाति के रोग मान बैठे हैं। उनका कहना है कि इन दोनों में केवल स्थान मात्र का भेद है।

जब हाथ पैरों के गात्रों में अतिशय खाज एवं पीड़ा-युक्त रेखाएं (चीर) उत्पन्न हो जाते हैं, तब विचर्चिका और जब पांवों में होती है, तब उसे विपादिका कहते हैं, किन्तु जिस रोग को विचर्चिका कहा गया है, वह कभी शुष्क होता ही नही। आयुर्वेदशास्त्रों में विचर्चिका के लक्षण इस प्रकार हैं—

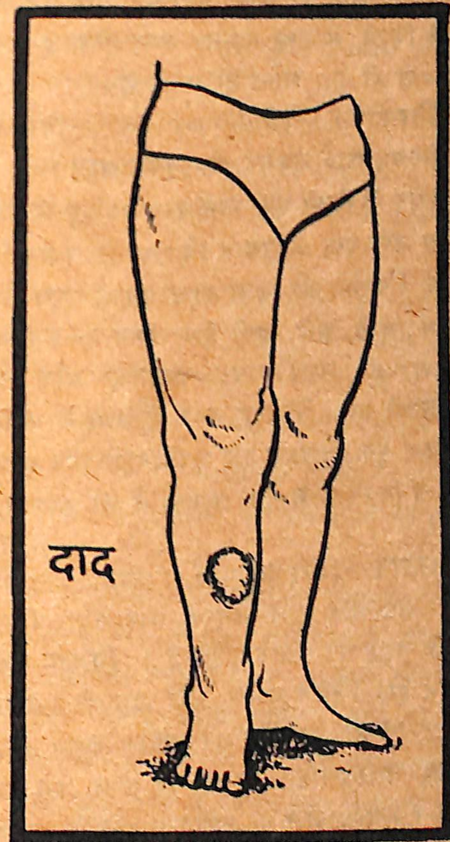
'सकंडु पिडकास्रावा बहुस्रावा सा विचर्चिका।"

अर्थात् जो पिड़िकाएं अत्यन्त पानी देने वाली एवं खुजली से युक्त व श्याम वर्ण की हों उन्हें विचर्चिका कहते हैं, किन्तु विपादिका में न तो खुजली ही चलती है न स्राव, केवल प्रदाहयुक्त पीड़ा होती है।

नोट एक्जीमा भिन्न भिन्न स्थानों पर होने के कारण, इसका नाम स्थानिक पड़ गया है। जैसे—योनिद्वार का एक्जीमा, सिर का एक्जीमा एवं अण्डकोष का एक्जीमा आदि।

परिणाम—यह रोग चिरकालीन होता है, किन्तु उचित उपचार से पिण्ड शीघ्र छोड़ देता है। अन्यथा कष्टसाध्य बना रहता है। नित्य आने वाले चिकित्सार्थियों से पता चलता है कि उनका १०/१५ वर्षों से शरीर में पड़ा हुआ है। फिर भी इस दुष्ट रोग से उन्हें मुक्ति नहीं मिली।

(७) दद्रु या दाद—Ring worm रिङ्ग **वर्म,** दिनाय, अ० कूबा इत्यादि। दाद पित्त कफात्मक **प्रसिद्ध** रोग है और एक्जीमा का छोटा परिवार, किन्तु **एक्जीमा**



की तरह यह हठी नहीं होता, साधारण औषधियों से ही पिण्ड छोड़कर हट जाता है, ऐसे तो शरीर के किसी भी भाग पर दाद रोग हो सकता है, किन्तु विशेषतः जांघों-पट्टों और पेडू आदि पर होता है।

जिसमें छोटी-छोटी गोल फुंसियों का मंडल दिखाई देता है। त्वचा लालिमा युक्त, श्याह-माइल एवं अत्यन्त खुजली वाली होती है। रोगी जितना खुजलाता है, खुजली उतनी ही जोर पकड़ती है। चरक ने इसे क्षुद्र कुष्ठों में और सुश्रुत ने इसकी गणना सप्त महाकुष्ठों में



-की है। दाद की एक और बरसाती जाति है, जो वर्षा-काल में ही अधिक जोर पकड़ता है। बाद में शान्त हो जाता है। दाद के कीड़े प्रथम पसीना मरने की जगह प्रदाहित प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं और बाद में वहीं से फिर अपना पांव फैलाते हैं।

(८) वैपादिक—(Chilblains या Rhagapes) चिल्बेन, विपादिका, विवाई, अ० तज्ली दुलअतराफ।

यह शीतकालीन व्याधि है, जिनके पैर की त्वचा रूक्ष होती है, शीतकाल आने पर उनके पैरों पर चीर पड़ जाते हैं, तब चलने फिरने में उन्हें महान कष्ट होता है और वसन्त ऋतु आते ही पुनः शान्त हो जाती है।

(९) विस्फोटक—(Bullous) बुलस, विस्फोट, अग्नि व्रण, पोटका, फा० अवला, अ० नफ्फाखात।

इसमें शरीर के किसी एक भाग या सर्वाङ्ग में ज्वर युक्त या रहित अग्निदग्ध के समान श्वेत स्फोट (फफोले) निकल आते हैं। फफोले की त्वचा बहुत पतली एवं जल सदृश रसीले पदार्थ से भरी रहती है। फिर २-३ दिनों के पश्चात् ऊपर की चमड़ी उपड़ जाती है और वहां कालिमायुक्त लाली केवल शेष रह जाती है। इसी भांति एक दूसरे के बाद पुनः निकलते एवं फूटते रहते हैं। इनमें वातादि दोषों के विषमता के हेतु लक्षणों में भी कुछ भेद पाये जाते हैं।

(१०) शतारु—(Erythema) एरिथिमा–आयुर्वेद के मतानुसार छोटे-छोटे लाल रंग के दाह और पीड़ा वाले फुंसियों के समूह को शतारु कहते हैं। जिसका रंग काला एवं लाल हो, जिसमें जलन और शूल हो, तथा जिसमें अनेक फफोले हों, उस रोग को 'शतारु' कहते हैं।

आधुनिक मतानुसार—त्वचा पर लाल रंग के धब्बे पड़ जाते हैं। धब्बे गोल या अण्डेनुमा होते हैं, जहां ये धब्बे पड़ते हैं, वहां की चमड़ी लाली लिए कुछ उभर आती है और छूने से साधारण पीड़ा होती है। कभी-कभी ये धब्बे छाले बनकर पीप या रक्त से भर जाते है। यह रोग दोषानुसार विभिन्न प्रकार का होता है, जो "प्रोटोजोआ (protozoa)" नामक कीटाणुओं के किसी कारणवश रक्त में मिल जाने ने इसकी उत्पत्ति होती है।

(११) अलसक—(Lichen) लिचेन, पद्मकंटक, शैवालिका आदि इसके उपनाम हैं।

यह रोग बहुत कुछ सोरायसिस (चम्बल) से मिलती व्याधि है। इस रोग में भी उसी तरह के छिलके उतरते हैं, किन्तु इसके धब्बे आधे या एक इञ्च से अधिक नहीं बढ़ते, केवल चमड़ी पर उभरे हुए चपटे हल्के या गुलाबी रंग के या स्याह माइल ताम्र वर्ण के धब्बे पड़ते हैं। किन्तु चम्बल की तरह सफेद छिलके नहीं होते।

प्रथम ये कलाई एवं घुटनों के अन्दर की ओर प्रायः अधिक निकलते हैं। बाद में कमर, टांग, हाथ, पैर, टखने पेडू और हथेली तथा तलुओं पर प्रकट हो जाते हैं, परन्तु सिर एवं चेहरे पर कभी नहीं निकलते, किन्तु जबान एवं गालों की श्लेष्मिक कला पर सफेद रंग के धब्बे पड़ जाते हैं। इसके धब्बे शरीर के दोनों ओर प्रायः एक ही साथ निकलते हैं।

वक्तव्य—हाथ पैरों का वह रोग, जो पानी में भीगते रहने तथा सड़े-गले गन्दे कीचड़ में अधिक रहने के कारण हाथ पैरों की उंगलियों के बीच का चर्म सड़कर लालिमा युक्त सफेद हो जाता है एवं उसमें खाज, दाह और चमक सी पीड़ा होती है, उसे "अलस" रोग कहते हैं, जो अलसक से भिन्न है।

सप्त धातुगत कुष्ठों के लक्षण

१. कुष्ठ यदि अपना प्रभाव त्वचा पर डाल देता है, तो स्पर्श शून्यता, कण्डूरूक्षता, अधिक या अल्प स्वेद एवं विवर्णता आदि लक्षित होते हैं।

२. रक्तगत होने से खुजली एवं उक्त लक्षणों के सिवा पीप की विशेषता रहती है।

३. मांसगत होने से शरीर में कठोरपन, कर्कशता, फोड़े-फुंसियों का निकलना और वेदना होती है।

४. रोग मेदगत होने से रोगी लूला-लंगड़ा हो जाता है, घाव फैलकर उसमें से बदबू आने लगती है और कीड़े जाते हैं।

(५-६) कुष्ठ अस्थि और मज्जागत होने से नाक बैठ जाती है, नेत्र लाल हो जाते हैं और स्वर बैठ जाता है।

७. कुष्ठ शुक्रगत होने से—जिन स्त्री-पुरुषों के रज-वीर्य दूषित हो जाते हैं, उनकी संतान भी कुष्ठी होती है और उनकी गति शक्ति नष्ट हो जाती है तथा शरीर वक्र होकर रोग बढ़ जाता है।

जटिलरोग-चिकित्सांक

साध्यासाध्य निर्णय—ऐसे तो प्रायः चर्मरोग जिद्दी ही होते हैं, परन्तु उनमें काकण कुष्ठ को असाध्य और शेष ६ महाकुष्ठ कष्टसाध्य कहे जा सकते हैं। क्षुद्र-कुष्ठों में किटिभ (एक्जीमा) और एककुष्ठ (चम्बल) कष्टसाध्य होते हैं। अवस्थानुसार रस रक्त एवं मांसगत कोढ़ तथा वातकफजन्य कोढ़ साध्य और शेष को असाध्य माना गया है। फिर भी न कोई रोग असाध्य होता है न साध्य। साधन प्राप्त होने पर असाध्य भी साध्य में परिणत हो जाता है।

परिचर्या निर्देश—परिचारकों को चाहिए कि रोगी की सेवा सुश्रूषा तन-मन से करें, परन्तु ध्यान रहे कि यह रोग संसर्गज होता है, जहां तक हो सके रोगी से कम सम्पर्क रहे तो अच्छा है। रोगी का निवासस्थान घर से दूर किसी नीम वृक्ष के नीचे या गंगा आदि नदियों के निकट होना अच्छा है। रोगी के उपयोग में आने वाले जितने उपकरण हों, उन्हें कोई दूसरा व्यक्ति उपयोग में नहीं लाये।

पथ्य—चना, लाल साठी चावल पुराना, गेहूँ, मूंग, जौ, कोदों, मक्का, हलुआ, अरहर, बाकला, बकरी का दूध, घी, छाछ, अमरूद, सेव, नासपाती, अनार, परवल, तोरई, नेनुआ, ककोड़ा, लौकी, करेला सुपथ्य है।

कुपथ्य—मांस मछली, लालमिर्च, खटाई, गुड़, मिठाई, भेंस का दूध और दही, तेल, कुलथी, मटर, उड़द, खेसारी, मद्यपान, मैथुन, दिन का सोना, अम्लरस, अपक्व अन्न, नमक और अभिष्यन्दी वस्तुएं अपथ्य हैं।

नमक छोड़ने से प्रथम कमजोरी सी मालूम पड़ती है। यदि नमक खाना ही पड़े तो अल्प मात्रा में सेंधानमक लिया जा सकता है। चना कुष्ठ रोगियों के लिए बहुत उपयोगी पथ्य है। सूर्य की आराधना, रविवार का व्रत और सात्विक विचार आदि भी रोगमुक्ति में परम सहायक होते हैं।

निदान परिवर्जन—सामान्यतया रोगोत्पादक हेतुओं का त्याग करना अत्यावश्यक है। अतः रोग उत्पादक जितने हेतु कथित हैं, उन्हें छोड़ देना चाहिए। यह रोग बहुत बुरा है, इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। चिकित्सा ग्रन्थों में लिखा है कि जो कुष्ठी रोग लेकर मरता है, वह दूसरे जन्म में भी कुष्ठी होता है। अतएव इस रोग की चिकित्सा तन-मन धन लगाकर बहुत समय तक करनी चाहिए, ताकि रोग की जड़ निर्मूल हो जाय।

चिकित्सा कालीन बातें—

१. कुष्ठ रोग में प्रथम पञ्चकर्म या संशोधन की व्यवस्था अवश्य करणीय है। इसके द्वारा शरीर में संचित दोष बाहर निकल जाते हैं। दूसरी बात कि शरीर में औषधियों का गहरा रंग चमक उठता है।

२. वातप्रधान या कपाल कुष्ठ में प्रथम घी पिलाना श्रेयस्कर माना गया है।

३. कफज या मंडल कुष्ठ में वमन और पित्ताधिक्य या औदुम्बर कुष्ठ में विरेचन तथा काकणक या त्रिदोषज कोढ़ में स्नेहन, वमन और रेचन तीनों क्रियाओं के द्वारा काम लेना चाहिए।

४. अगर आप किसी तरह वमन विरेचन कराने में असमर्थ हों, तो बस्तिकर्म (एनिमा) द्वारा तथा कोई सरल विरेचन देकर रोगी का उदर स्वच्छ रखना चाहिये अवस्थानुसार महीने में १-२ बार वमन विरेचन कराना, घी पिलाना अथवा पिचकारी (सीरिञ्ज) द्वारा थोड़ा विकृत रक्त निकाल देना कुष्ठिओं के लिए परम हितकर माना गया है।

५. प्रथम रोग का वास्तविक निदान होना आवश्यक है, बाद में चिकित्सा में अनेक रोगी ऐसे आते हैं, जिनकी चिकित्सा महीनों से चल रही थी, फिर भी उन्हें लाभ नहीं, किन्तु उचित उपचार होते ही रोगमुक्ति के सारे लक्षण दिखाई देने लगे। कारण घाव था पैर में और आपरेशन हाथ में, फिर वहां सफलता की आशा कैसी? इसीलिए महर्षि चरक ने भी लिखा है—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चात् ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥

चिकित्सा

कुष्ठ महाव्याधि है, इसकी चिकित्सा धैर्य के साथ करने से ही सफलता मिलने की आशा रहती है। सप्त महाकुष्ठ जल्दी अच्छे नहीं होते, इनकी चिकित्सा में अवस्थानुसार ३ से ६ माह या १ से २ वर्ष तक पूर्ण आराम होने में लग सकते हैं। क्षुद्र कुष्ठों में एककुष्ठ



किटिभ कुष्ठ और विचर्चिका आदि रोग जिद्दी होते हैं और शेष सुखसाम्य। इनकी चिकित्सा में अधिकांश सफलता उन्हीं को मिलती है, जिन्हें गुरु-परम्परा का अनुभव या औषधि चुनाव करने में दक्ष हों। दूसरी बात रोग का मूल कारण क्या है? इसको जान लेने से रोग दूरीकरण में बहुत सहायता मिलती है। कारण कि व्याधियों की जड़ के नष्ट बिना सफलता मिलने की कम आशा रहती है।

रोग उपदंशज है या वंशज, संसर्गज है या सम्पर्कज, या पारद आदि दोषजन्य व्याधियां हैं। अन्यथा आपका किया कराया परिश्रम व्यर्थ होता रहेगा।

१. वामक वटी—मैनफल का गर्भ कूट पीसकर शीशी में रखलें और अवस्थानुसार १० से १५ रत्ती की मात्रा में समोष्ण जल के साथ दें। १०-१५ मिनट में ४-५ वमन आ जाते हैं। पश्चात् ज्यों-ज्यों आप गरम पानी पिलाते रहेंगे, त्यों-त्यों उलटियां आती रहेंगी।

२. वमन विरेचन वटी—यह अद्भुत योग है, एक ही तीर में दो शिकार धराशायी हो जाते हैं। रोगी को पहले "कै" होती है और बाद में दस्त। प्रथम आमाशय धुल जाता है, बाद में मलाशय।

घटक योग—३० ग्राम तुत्थ और ३० ग्राम स्फटिका श्वेत, दोनों को पीसकर कढ़ाही में डाल अग्नि जलावें। पहले दोनों पिघल जायेंगे। फिर वे फूलकर खील बन जाते हैं, बाद में उतार लें। अब इसमें २४ ग्राम, चित्रक-मूल की छाल का चूर्ण मिलाकर जल के साथ अच्छी तरह खरल कर, झरबेर बराबर गोलियां बनाकर रखें एवं सुखाकर शीशी में रख लें।

सेवन विधान—एक गोली पानी के साथ नित्य निगल जाने से रोगी को ३ से ५ तक कै होती हैं किन्तु २-३ दिन के बाद जब वमन कम हो जाता है, तब रेचन आने लगता है एवं एक सप्ताह के सेवन से कुष्ठी का शरीर धुल जाता है। उपदंशजन्य कुष्ठी के लिए तो यह योग अत्यन्त सफल सिद्ध होता है। एक ही सप्ताह इसके सेवन से उपदंश का नाम भी नहीं रहता।

पथ्य में—चने की रोटी दूध के साथ अलोना देना चाहिए। इसके लगाने से दाद, चम्बल, जूते का घाव, विकृत व्रण, सिध्म, उस्तरे का घाव आदि रोगों में उत्तम लाभ-दायक है। इसके प्रयोग से दमे का दौड़ा भी स्थायी रूप से शान्त हो जाता है। मेरा परीक्षित है।

३. सरल विरेचन वटी—अशुद्ध जमालगोटा जिभी रहित १ तो०, आंवला सूखा बीज रहित ४ तो०। दोनों का बारीक चूर्ण बनाकर अमलतास के गूदे के लुआब में अच्छी तरह खरल कर मटर के समान गोलियां बना लें और १ से २ गोली की मात्रा में गरम जल के साथ सोते समय लें? प्रातः काल १-२ दस्त साफ खुलकर बिना कोई तकलीफ के आ जाते हैं और पेट साफ हो जाता है। परीक्षित है।

४. शून्यता नाशक तैल—इस तैल की मालिश शून्य बहरी के दागों पर करने से वहां की सुप्त त्वचा जाग उठती है एवं झन-झनाहट और टनक आदि उपद्रव उत्तरोत्तर शान्त हो जाते हैं।

घटक योग—कुचला त्वक् १५ तोले, सोमराजी बीज ७॥ तो०, चाल मोंगरे का तैल ७॥ तो०, कुसुम तैल १५ तो०, नीम तैल २५ तो०, केजीपुटी आयल ४ तो०, सरसों का तैल १५ तो०, जल ६० तोला।

विधान—प्रथम कुचले की छाल और बाकुची को महीन चूर्ण कर पानी एवं उक्त कुसुम तैल, नीम तैल व सरसों के तैल में मिलाकर लोहे की कढ़ाही में मंदाग्नि से उपलों की आग पर पकावें। तैल मात्र शेष रहने पर उतार लें छानकर रख लें। बाद में चालमोंगरा और केजीपुटी आयल मिलाकर शीशी में रख लें।

५. व्रण पूरकमलहम—घटक योग—सफेद राल १ पाव, खैर सफेद १ पाव, शुभ्रा १ छटांक, तुत्थहरा १ छटांक, तिल का तैल ६ छटांक, जल मीठा ६ छटांक, बोरिक एसिड २ तो०, जिंक आकसाइड २ तो०।

विधान—प्रथम तैल को मन्द आग पर गरम करें। फिर उसमें राल का चूर्ण डालकर चम्मच से चलाते रहें, जब राल तैल में बिलीन हो जाय तो उतार कर गरमा गरम छान लें एवं दूसरे पात्र में डाल रखें। बाद में किसी दूसरे पात्र में कत्था, स्फटिक, और तुत्थ के बारीक चूर्ण को जल के साथ अग्नि पर चढ़ा दें और जल में चूर्ण मिल जाने पर उतार लें। बाद शीतल होने पर दोनों को एक-त्रित कर उसमें बोरिक और जिंक मिला हाथों से अच्छी

ਦੰਮੜੀ ਦੇ ਰੋਗਾ ਦਾ

तरह मिश्रित कर रख लें।

लाभ—ऐसे तो यह योग किसी प्रकार के सड़े गले व्रण क्यों न हों उन्हें शीघ्र भर देता है, चाहे वह घाव जले, कटे, फटे या नाड़ी व्रण का ही क्यों न हो? यहां तक कि कुष्ठ का घाव १५ से ६० दिनों की अवधि में भरकर ठीक हो जाते हैं।

६. **सप्तकुष्ठारि चूर्ण**—योग घटक—कुष्ठबैरी ३ तो०, कुरचीत्वक् ४ तो०, सोमराजी ८ तो०, एलाबीज १ तो०, सफेद कत्था ४ तो०, कालीजीरी ३ तो०, बड़ीहर्र ८ तो०, धातकीफलत्वक् ८ तो०, बहेड़ा त्वक् ८ तो०, विषमुष्टिक त्वक् ६ माशे, माहुरी की जड़ (इन्द्रायन भेद) ३ तो०, लोहभस्म उत्तम २ तो०, तबकिया हरतालभस्म १ तो०, गंधकरसायन १½ तो०।

विधान—प्रथम काष्ठ औषधियों का बारीक चूर्ण बनाकर, शेष को मिश्रित कर क्रमशः नीम, भृङ्गराज और मंडूकपर्णी स्वरस की एक-एक भावना लगाकर घूपित कर सुरक्षित रखें।

मात्रा—३ से ४ माशे, दोनों समय कुष्ठारि अर्क या मंजिष्ठादि क्वाथ अथवा जल के साथ दोनों समय सेवन करायें।

लाभ—यह योग सप्त महाकुष्ठों के अतिरिक्त शेष एकादश क्षुद्रकुष्ठों पर भी अपरिमित प्रभावशाली है। चाहे रोग नवीन हो या जीर्ण दोनों अवस्थाओं में इसका अपना पूर्ण अधिकार है। १५ से ३० दिन की अवधि में रोग मुक्ति के लक्षण स्पष्ट लक्षित हो जाते हैं और अवस्थानुसार नवीन कोढ़ ३-४ माह में युवा कोढ़ ५-६ माह में और जीर्ण कोढ़ १-१॥ वर्ष में दूर हो जाते हैं। स्वकृत और परीक्षित योग है।

(७) कुष्ठारि अर्क—योग घटक—नीम पंचाङ्ग, ब्रह्मदण्डी, मुण्डी, सत्यानाशी, शीशम छाल ४-४ सेर, इन्द्रायन की गुद्दी २॥ सेर, चिरायता, मजीठ, नीम छाल, कत्था, चोपचीनी, गुलचीनत्वक्, ओंगा पञ्चाङ्ग, सरफोंका, पुनर्नवा, मण्डूकपर्णी १। १। सेर, गिलोय २ सेर, जल ६५ सेर।

विधान—सारी औषधियों को जौकुट कर, जल में डाल दें और तीन दिन तक धूप में पड़ा रहने दें। फिर भवका यंत्र द्वारा ३५ बोतल अर्क परिश्रुत कर रख लें।

मात्रा—२ से ५ तोला अर्क, एक तोला शहद में डाल कर अनुपान रूप में सप्त कुष्ठारि चूर्ण के साथ बराबर लेते हैं

लाभ—यह अर्क कुष्ठ रोग, वातरक्त, चर्मरोग और रक्तविकार, पर विशेष उपयोगी है। चाहे अनुपान रूप में दें अथवा केवल अर्क ही का सेवन करायें। हर हालत में अत्योपयोगी सिद्ध होता है। धैर्य के साथ ३-४ माह तक लेते रहने से शरीर रोग रहित होकर सुन्दर निकल आता है।

(८) जीर्ण कुष्ठारि—कुष्ठ बैरी बीज १० तो०, दालचीनी, एलाबीज, मोंथा मलपुष्प, तेजपत्र, नागकेशर असली, चित्रकमूल छाल प्रत्येक ५-५ तो०, केशर ३ मा०, मल्ल चन्द्रोदय ३ रत्ती और शु० विषमुष्टि ६ रत्ती।

विधान—प्रथम काष्ठौषधियों का बारीक चूर्ण बना अलग रखें। फिर शेष ो अच्छी तरह खरल क ्, दोनों को १५ घंटे खरल कर एकीकरण कर रखलें।

मात्रा—अवस्थानुसार ३ से ६ माशे, दोनों समय जल के साथ सेवन कराने से १०-१५ दिनों में ही कृमियुक्त गलित कुष्ठ भी शुष्क होने लगता है। जीर्ण रोग में उपर्युक्त योग के साथ इस योग का अच्छा मेल बैठता है।

शरीर पर मर्दनार्थ कुछ शास्त्रीय योग—वासाचन्दनादि तैल, कन्दर्पसार तैल, बृ० मरिच्यादि तैल, सोमराजी तैल, तुबरकाद्य तैल, रुद्र तैल आदि विशेषोपयोगी हैं।

रसों में—तालकेश्वर रस, गलितकुष्ठारि रस, सर्वेश्वर रस, व्याधिहरण रस, कामदुधा रस, रसमाणिक्य, गंधक रसायन और रुदयादित्य रस आदि।

चूर्णों में—बृ० पंचनिम्ब चूर्ण, बृहन्मञ्जिष्ठादि चूर्ण, महानिम्बादि चूर्ण का प्रयोग करें।

गुग्गुलों में—पंचतिक्त घृत गुग्गुल, किशोर गुग्गुल, एकविंशतिक गुग्गुल आदि।

आसव-अरिष्ट—खदिरासव, लोध्रासव ौर सारिवाद्यासव आदि।

क्षुद्र कुष्ठ रोगों की विशेष चिकित्सा

१. **एककुष्ठ**—सप्त कुष्ठादि चूर्ण को कुष्ठादि अर्क

के साथ दोनों समय सेवन करावें। पुनः दिन में दस बजे और शाम को ३ बजे पंचतिक्त घृत गुग्गुल का सेवन करावें और सर्वाङ्ग में कन्दर्पसार तैल या रुद्र तैल की मालिश करायें। आशा है, रोग ३ से ६ महीने में बिल्कुल शान्त हो जायगा।

२. सिध्म कुष्ठ—पानी १ सेर और सुहागा ४ तो०। प्रथम सुहागे का खील बनाले और मिट्टी के पात्र में डालकर दोनों को गरम करें, जब चौथाई जल शेष रहे, तो उतार कर बोतल में रख लें और इसी पानी में कपड़ा भिगो कर सिध्म को रगड़-रगड़ कर अच्छी तरह धोयें, ऐसा करने से सिहुली नष्ट हो जाती है। परीक्षित है।

३. गजचर्म कुष्ठ—इस पर ताजे चित्रकमूल की छाल बारीक पीस कर उस पर इसका लेप चढ़ावें अथवा थूहर दूध का उस पर लेप करें। किन्तु ध्यान रहे, इनके प्रयोग से जलन पैदा होती है, घबरायें नहीं।

४. चर्मदल कुष्ठ—काशीसादि घृत और रुद्र तैल का बाह्य प्रयोग करें एवं वृहद् पंचनिम्ब चूर्ण और गंधक रसायन का सेवन। इनके प्रयोग से यह रोग जल्द काबू में आ जाता है।

५. किटिभ कुष्ठ—चकवर के बीज २ तो०, स्नुही शुष्क २ तो०, चित्रकमूल २ तो०, आरग्वधत्वक् सूखा, कदली फूल सूखा, स्वर्णक्षीरीमूल त्वक् नवीन, करवीर लाल का पत्र—ये प्रत्येक २॥ तो०, कनकफल १ तो०, सूखा कोलतार १ तो०, कपूर देशी २॥ तो०, फिनायल ४ तो०, और जला हुआ तुत्थ ६ तो० एवं मैथलेटेड स्प्रीट २ पौंड।

विधान—कपूर से ऊपर वाली औषधियों को सा[illegible]रण कूटकर, स्प्रीट में डालकर एक सप्ताह धूप में पड़ा रहने दें। फिर उसे छानकर बोतल में रख कपूर आदि शेष दवाओं को स्प्रीट में मिला कर २४ घंटे तक रख छोड़ें। बाद में प्रयोग में लायें।

लाभ—इसके प्रयोग से किटिभ (शुष्क एक्जीमा) विचर्चिका, चम्बल (एककुष्ठ) अपरस, हठीला दाद, गजचर्म, छाजन, शैशव एक्सीमा, खाज-खुजली आदि चर्म-रोग बड़ी खूबी के साथ [illegible] दिन प्रयोग में लाना आवश्यक है।

किटिभारिरस—पारद, गंधक, मकोय, चित्रकमूल-त्वक, बाकुची, हल्दी—प्रत्येक १ तो०, पीपल २ तो०, सोंठ ३ तोला, मिर्च काली ४ तो०, चित्रकमूल ५ तो०, स्वर्णमाक्षिक भस्म ६ तो०, रस माणिक्य ५ तो०, गोमूत्र घनसत्व ८ तो०।

विधान—प्रथम काष्ठौषधियों का वस्त्रपूत चूर्ण बना, शेष औषधों के साथ खरल में डाल, नीमपत्र स्वरस, भृङ्गराज स्वरस और चिरायता के क्वाथ की एक-एक भावना लगा अच्छी तरह खरल कर १ से २ माशे की गोलियां बना रखें।

मात्रा—१ से २ गोली कुष्ठारि अर्क के साथ दोनों समय सेवन करें।

लाभ—इसके प्रयोग से किटिभ कुष्ठ का नाश हो जाता है।

सूचना—विशेष जानकारी के लिए देखें—धन्वन्तरि का चिकित्सा विशेषांक पृ० ३७१, वहां विस्तार से एक्जीमा का वर्णन हुआ है।

६. विचर्चिका—काशीसादि घृत और पाताल यंत्र द्वारा प्राप्त चने का तैल रुग्ण स्थान पर लगावें और शोणितसुधावटी का प्रयोग करें। योग देखें—धन्वन्तरि चिकित्सा विशेषांक पृ० ३३४, वहां यह योग प्रकाशित हो चुका है

७. दाद—गंधक, सुहागा, चकवर के बीज, १-१ तो०, कपूर २ तो०, कालीमिर्च, फिटकरी, मैनसिल और सैलिसिलिक एसिड प्रत्येक सवा-सवा तोला और सफेद वैस्लीन १० तो०।

विधान—सबका वस्त्रपूत चूर्ण बना वैस्लीन में मिला रखें और दद्रु पर दिन में दो बार लगावें। विशेष प्रभाविक योग है।

८. वैपादिका—मोम, राल, माजूफल, गेरू ६-६ माशे, सफेदा और कपूर १-१ तोला सबको बारीक पीस-कर १० तोला सफेद वैस्लीन में मिलाकर लगावें। बिवाई और पैर का फटना जल्द आराम होता है। शीतकाल में कभी खाली पैर नहीं घूमना चाहिए।

९. विस्फोटक—काशीशादि घृत का सर्वाङ्ग में मालिश करे। आशातीत लाभ होगा। कई रोगियों पर परीक्षित है।

१०. शतारु—रुद्रतैल और काशीसादि घृत की मालिश और बृ० पंचनिम्ब चूर्ण का सेवन करावें। इनके प्रयोग से रोग शान्त हो जाते हैं।

११. अलसक—सर्वाङ्ग में काशीसादि घृत, बृ० मरिचादि तैल की मालिश और एककुष्ठ नाशक योगों का सेवन करावें। धैर्य के साथ २-३ माह चिकित्सा करते रहें। कभी निराश होने की नौबत नहीं गुजरती।

१२. पामा या कच्छु—(Itch इच) कण्डू, खारिश, खुजली और खाज। सूखी खुजली को पामा और गीली को कच्छू कहते हैं।

खाज नाशक योग

गंधक, मिर्च काली, सुहागा, मैनसिल २-२ तोला और देला कपूर २॥ तोला, बोरिकएसिड १ तो., सैलिसिलिक ६ माशा सबका बारीक चूर्ण बना २० तोला नारियल के तेल में मिलाकर दिन में एक दो बार लगावें। इसके प्रयोग से दोनों प्रकार की खुजली, दाद, विचर्चिका आदि चर्म रोग शेष नहीं रहते। बहुपरीक्षित योग है।

वातरक्त पर अव्यर्थ योग

यद्यपि यह योग थोड़ा परिश्रम साध्य है। किन्तु विधिवत तैयार हो जाने पर, इसका परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता। योग नीचे अङ्कित —

वातरक्तारि रस—घटक योग—रसकपूर, दालचिकना, हिंगुल, श्वेत संखिया, मिलावा, लौंग, श्वेत चंदन श्वेत सारिवा और काले तिल प्रत्येक १—१ तोला अकरकरा, अजमोद, अजवायन, खुरासानी अजवायन और केशर हर एक ६-६ माशे।

निर्माण विधान—पहले रसकपूर को महीन वस्त्र में बाधकर क्रम से १४ बैंगनों में पकावें। संखिया को गोदुग्ध में दो घण्टा दोलायन्त्र में रख स्वेदित करें। बाद में रसकपूर से लेकर हिंगुल तक का चार वस्तुओं को पृथक् पृथक् नीबू रस में मर्दन करें। फिर चारों को एकत्रितकर तीन दिन तक ब्राडी-शराब में घोटकर धूणित कर, डमरूयन्त्र द्वारा उर्ध्वपातन कर पुष्प को निकाल रक्खें। अनन्तर काष्ठ औषधियों के सूक्ष्म चूर्ण के साथ केशर मिलावे को खरल में डालकर चोपचीनी के क्वाथ से एक दिन घोटें, पश्चात् उपरोक्त उड़ाए पुष्पों में से एक तोला पुष्प मिलाकर तीन दिनों तक चोपचीनी के क्वाथ से घोटकर २-२ रत्ती की गोलियां बना छाया शुष्क कर रखलें।

सेवन विधि और मात्रा—सुबह-शाम १-१ गोली कुष्ठारि अर्क के साथ रोग मुक्ति तक बराबर देते रहें।

लाभ—यह योग वातरक्त जैसे कष्टप्रद एवं दुःसाध्य रोग में अत्यन्त सफल महौषधि है। उपदंश अथवा उपदंश जन्य रोगों में भी अतिशय फलदायी औषध है।

(सि० औ० मं०)

कुष्ठ में तुवरक तैल

तुवरक तैल या चालमुग्रा तैल या हिडनोकार्पस आयल का प्रयोग इस देश में हजारों वर्षों से किया जाता है। सुश्रुत संहिता में इसका वर्णन है। पहले इसके बीजों को खिलाने और तैल को त्वचा पर मलने का विधान था। बाद में इसका इन्जैक्शन के रूप में प्रयोग होने लगा। फिर तैल के ईथाइल ऐस्टर्स का प्रयोग किया गया फिर इसके सोडियम साल्ट्स का उपयोग हुआ।

तैल या ऐस्टर्स या सोडियम साल्ट्स तीनों ही प्रक्षोभक होते हैं। इनका उपयोग त्वचा के अन्दर(इण्ट्राडर्मल) कुष्ठ क्षेत्र में (घुमा-घुमाकर) इन्जैक्शन देकर करते हैं। इसकी मात्रा ०.१ मिलीलिटर की एक बार में होती है। सुई लगाने के बाद देर तक स्प्रिट में भी रुई दबाकर रखते हैं ताकि रक्तस्राव न हो। इसके साल्ट्स के इन्जैक्शन नितम्ब की पेशी में भी लगाये जाते हैं। इस विधि से १० मिलीलिटर तक तैल चढ़ाया जा सकता है। त्वचा के नीचे (सबक्युटैनियस) इन्जैक्शन २ से ३ मिलीलिटर तक देते हैं। यह इन्जैक्शन कुष्ठ के विक्षतो के क्षेत्र में देते हैं।

इस विषय में पूर्ण ज्ञान कर लेने पर ही और अनुभवी चिकित्सक के अनुभव का लाभ उठाकर ही चिकित्सा में हाथ डालना चाहिए।

कुष्ठ की आधुनिक चिकित्सा

आजकल डाइएमिनो डाइफिनाइलसल्फोन कुष्ठ रोग की सफल औषधि प्रमाणित हुई है। इसे डी० डी० एस० या डैपसोन भी कहते हैं। सल्फोन द्रव्य कुष्ठ के कृमि के विकास में बाधक होते हैं और मृतप्राय हो जाते हैं जिन्हें हमारे शरीर की महाभक्षिकोशिकाएं खतम कर देती हैं।



इसका प्रभाव बहुत धीरे-धीरे होता है तथा इसे लम्बे समय तक देना पड़ता है अन्यथा पुनः रोग का आक्रमण हो सकता है। डैपसोन किसी-किसी को महास्रोत क्षोभ उत्पन्न कर देता है जिससे उलटियां और मिचली आने लगती हैं। रक्तक्षय या अनीमिया भी हो जाता है। कुछ को इससे अलर्जिक प्रतिक्रिया भी पाई गई है। अधिक तेजी से या अधिक मात्रा में इस द्रव्य के प्रयोग से लैप्रोप्रतिक्रिया भी होती हुई देखी गई है। जिन रुग्णों के वृक्क विकार ग्रस्त हों उन्हें डैपसोन नहीं दिया जाता।

पहले डैसपोन को स्वल्प मात्रा में देते हैं। फिर कई महीनों बाद धीरे-धीरे इसकी मात्रा बढ़ाई जाती है तब कहीं जाकर पूर्ण मात्रा दी जाती है। पहले कुछ हफ्तों में २५ मिलीग्राम की मात्रा में हफ्ते में दो बार ही मुख द्वारा खिलाते हैं। फिर इस मात्रा को धीरे-धीरे बढ़ाते हैं और बाद में १०० मिलीग्राम की १ गोली प्रतिदिन ६ दिन तक खिलाते हैं। एक दिन दवा बन्द रखकर पुनः चालू कर देते हैं।

इसे चालमुग्राआइल के साथ मिलाकर इन्जैक्शन भी बनाए गये है। डाईसोडियम सल्फोन के इन्जैक्शन भी आते हैं। जिनके एक मिलीलिटर में २०० मिलीग्राम द्रव्य होता है। इसे ०.२५ मिलीग्राम की मात्रा में पेशी में सप्ताह में दो बार से आरम्भ करते हैं। हर चौदहवें दिन ०.२५ मिलीग्राम बढ़ाकर २-३ मिलीलिटर तक ले जाते हैं।

डैपसोन के उपयोग के समय यदि लैप्रा-प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाय तो ACTH का प्रयोग अन्य कॉर्टिकोस्टराइडों की अपेक्षा अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है। इस अवसर पर डैपसोन की मात्रा घटा देनी चाहिए। एक दूसरी प्रतिक्रिया ऐरिथीमा नोडोसम की होती है। उसमें कॉर्टीकोस्टराइड (कोर्टीजोन प्रेड्नीसोन, प्रैडनीसोलोन, डैक्सामीथाजोन) अच्छा लाभ करते हैं। इसकी मात्रा प्रारम्भ में १०० मिलीग्राम देते हैं फिर ७५ मिलीग्राम फिर ५० मिलीग्राम तदनन्तर २५ मिलीग्राम—१२.५ मिलीग्राम तक देते हैं। नेत्र के कृष्णपटल के प्रभावित होने पर बैटनेसोल आईड्राप्स का आंख में प्रयोग करते हैं।

कुष्ठव्रणों में यदि अन्य उपसर्ग हो जाय तो उनमें एण्टीबैक्टीरियल द्रव्य दे सकते हैं।

लैप्राप्रतिक्रिया में रोग के लक्षण एक साथ द्रुतगति से उत्पन्न होते हैं और साथ में किसी किसी को शीतपूर्व ज्वर तथा सन्धियों में शूल उत्पन्न हो जाता है। यह प्रतिक्रिया सौम्य और तीव्र दोनों प्रकार की होती है। डैपसोन अथवा चालमुग्रा दोनों के प्रयोग से यह उत्पन्न हो सकती है।

यह प्रतिक्रिया जटिलता पैदा कर सकती है। इसके उत्पन्न हो जाने पर रोगी को अस्पताल में बिस्तर पर रख देना चाहिए। लघु आहार, अधिक मात्रा में द्रवों का प्रयोग क्षारीय मिक्श्चर और सोडियम सेलिसिलेट का मिक्श्चर देना चाहिए। वेदनाशामक और निद्राकर द्रव्य दे सकते हैं। अधिक गम्भीर प्रतिक्रिया में एण्टीमनी के योग सुई द्वारा देते हैं। ३ योग चालू हैं—

i. पोटाशियम एण्टीमनी टार्टरेट (P. A. T.) इसे ०.००२ ग्राम की मात्रा में १ मिलीलिटर डिस्टिल्ड वाटर में घोल सिरा द्वारा देते हैं। हर दूसरे दिन इतना ही देते हैं। ६ मात्रा देकर बन्द कर देते हैं।

ii. फुआडीन दूसरा योग है, इसे पेशी में सुई से देते हैं। इसके २ मिलीलिटर के एम्यूल आते हैं। प्रति दूसरे दिन इसकी सुई लगाते हैं, ६ सुइयां लगाकर बन्द कर देते हैं।

iii. स्टिबेटिन पेंटावेलेंट एण्टीमनी कम्पाउण्ड है इसे प्रतिदिन भी पेशी में देते हैं। आजकल एण्टीमनी का प्रयोग प्रायः बन्द है क्योंकि कौर्टीजोन और ACTH आदि से प्रतिक्रिया पर शीघ्र नियन्त्रण पालिया जाता है।

कुष्ठरोग में स्ट्रैप्टोमायसीन, टैरामायसीन पास, आइसोनिकोटिनिक एसिड आदि का व्यवहार किया गया है पर वे कुष्ठ चिकित्सा में केवल सहायक द्रव्य का ही स्थान ले सकी हैं।

★★





त्वक् रोग डर्मेटाइटिस या वातरक्त तथा पञ्चतिक्तघृतगुग्गुल का चमत्कार

लेखक—वैद्य वाचस्पति कविराज वेदप्रकाश गुप्त *B. I. M. S., D. Sc. A.*
आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेदबृहस्पति
प्रधानमन्त्री अ० भा० आयुर्वेद पत्रकार संघ, ६-ई कृष्णनगर, दिल्ली ११००५१ फो० नं० २१२७७६

कविराज वेदप्रकाश गुप्त आयुर्वेदीय पत्रकारों के अखिल भारतीय संगठन के संयोजक और प्रधानमन्त्री हैं। जितनी आपके पास विद्या है, उतनी ही विनम्रता तथा अतिथिसेवा का सद्‌गुण भी है। आप सनातन धर्म आयुर्वेद कालेज लाहौर में कभी प्रोफेसर थे जब कि देश का विभाजन नहीं हुआ था। आप आजकल दिल्ली के कृष्णनगर में रहते हैं। आसफअली रोड पर डाबर के कार्यालय से लेकर विद्यापीठ के महाविद्यालय तक आपका काम रहा है। आपका परिवार सुसंस्कृत और शालीन है। आपने बड़े रोचक ढंग से और ज्ञान गौरव को प्रकाशित करते हुए यह अतीव लाभप्रद एवं अनुभवात्मक लेख दिया है जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

—गोपालशरण गर्ग।

त्वक् रोग साधारण हो या विशेष, दोनों मन को असह्य हैं। चिकित्सक या अधिवक्ता तो विशेष रूप से इससे छुटकारा पाने में प्रयत्नशील होते हैं।

ऐसे ही एक चिकित्सक को १९६९ में कण्डू कान के द्वार पर हुई, खुजलाने पर उसमें से स्राव होने लगा। कष्ट बहुत हो रहा था, आयुर्वेदोपचार से लाभ नहीं होने पर एलोपैथिक उपचार कराया गया। डाक्टर ने उन्हें सल्फा ट्राइड की गोलियां खाने के लिये दीं, लगाने के लिये सैलिसिलासलोशन दिया।

परिणाम उसका रोग वृद्धि, तमाम मुख सूज गया, कान लटक गये, आंखें लाल हो गईं, भयङ्कर पीड़ा होने लगी।

रोगी (चिकित्सक) घबड़ा गया, उन्होंने एक विशेषज्ञ को दिखाया उन्होंने तात्कालीन चिकित्सा आंखों की लाली को कम करने के लिये सोफरामाईसीन आई ड्राप (दर्द और शोथ के) लिये फैनोरजन अन्तः प्रयोगार्थ दिया। शोथयुक्त स्थान पर सेकार्थ नमक का जल और जलस्राव को बन्द करने के लिये सिल्वर नाइट्रेड का लोशन दिया।

इस प्रयोग का भी भयङ्कर परिणाम हुआ सारे शरीर में शोथ, पानी बहना, कण्डू पीड़ा, फोड़े, फुन्सियां निकलने लगीं, अवस्था बहुत ही शोचनीय हो गई, अब अस्पताल की शरण में लाये गये।

रोग का निदान डरमेटाइटिस (Dermatitis inflammation of the skin) निश्चय किया। कई सप्ताह की चिकित्सा से लक्षणों में न्यूनता की अपेक्षा वृद्धि ही हुई, तब अस्पताल (इरविन) में त्वक् विशेषज्ञों ने निरीक्षण किया, विशेषज्ञों ने कण्डू (Irritation) छूने पर पीड़ा (Sensitive) तथा पूर्व के इतिहास (Present Symptoms) को लेकर निदान किया।

अर्थात् प्रथम अवस्था—रक्तिमा (Erythema).
दूसरी अवस्था—त्वचा से लेसदार जलस्राव।
तीसरी अवस्था—स्राव सूख जाने पर त्वचा पर पपड़ी का जमना।



चौथी अवस्था–स्राव रुकने पर छोटी-छोटी फुन्सियां।

पांचवीं अवस्था–छोटी-छोटी फुन्सियां इकट्ठी होकर बड़े-बड़े फोड़े (Boil) बनते जाते थे जहां से स्राव हो रहा था, उस स्थान को पोंछने पर त्वचा का वर्ण श्वेत निकलता था जो गीला दिखाई पड़ता था।

रोगी की टांगों की त्वचा मोटी और कठोर, हाथी की त्वचा के समान हो गई थी (Keratosis).

विशेषज्ञों ने परीक्षण करने के उपरान्त अपना निर्णय डर्मेटाइटिस ही किया, सर्व सम्मति से औषध व्यवस्था यह की गई :—

१. लौंगीफेन (Longifen).

२. सल्फाट्राइड (Sulpha tride).

३. सैलिसाइलिक एसिड (Salicylic Acid).

४. डेल्टा कॉर्टिल।

५. होस्टरा साईक्लेन कैप्सूल।

६. साईनोपेन।

लगाने के लिये बैटनोवेट एन. क्रीम।

दिन और रात्रि भर औषधोपचार खाने और लगाने का बड़ी श्रद्धा से आरम्भ हुआ, कई दिनों के प्रयोग से कण्डू (खुजली) और पीड़ा में लाभ हुआ।

वैद्यों के अनुरोध करने पर पुनः आयुर्वेदीय चिकित्सा की गई, परन्तु निदान में मतभेद था।

कई वातरक्त, क्षुद्र कुष्ठ, कण्डू, पामा इत्यादि लक्षणों के आधार पर करते थे।

उनका आधार चरक, सुश्रुत, माधवनिदान, अष्टांग-हृदय ही था।

वातशोणित (चरक)—

वायुः प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेन वारितापथिः।
क्रुद्धः संदूषयेद्रक्तं तत् ज्ञेयं वातशोणितम्॥

रक्तगत वात—

रक्तगत वाते तु वात एव दुष्टो रक्तमदुष्टमेव गच्छति।

वातरक्त के प्रसारण को देखकर उसे वातरक्त इसलिये नहीं था, क्योंकि सुश्रुत में लिखा है—

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि।
आखोविषमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति॥

रोगी के यह पैरों या हाथों के मूल से आरम्भ नहीं हुआ, कानों से हुआ था और धीरे-धीरे इसके विष का प्रसार न होकर शीघ्र हुआ।

दो प्रकार का उत्तान ऊपरी और गम्भीर (भीतरी) वातरक्त बतलाया है।

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते।

रोगी को शोथ (रक्तदुष्टि) पीड़ायुक्त एवं लालवर्ण की थी शोथ किसी प्रकार से शान्त नहीं होता था, खुजली और स्राव अधिक होता था, स्राव के स्थान पर पपड़ी जम जाने पर वह त्वचा काली तथा मोटी होती थी उसमें सुई चुभने की सी पीड़ा रहती थी।

वैद्य लोग सूक्ष्म बह्व्यः पिडकाः स्राववत्यः पामेत्युक्ता कण्डुमत्यः सदाहाः। केवल कण्डू-दाहयुक्त छोटी-छोटी पीड़िकाओं के स्राव के लक्षणों को पामा कहते थे।

कोई चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत्—हाथी के समान चर्म को देखकर क्षुद्र कुष्ठ खुजली और रक्तवर्ण फोड़ों के कारण मानते थे।

किटिभ अलसक, चर्मदल पामा इत्यादि रोगों के लक्षणों को देखकर अनुमान से क्षुद्र कुष्ठ कहते थे।

रस, रक्त, मांस धातुगत दोषों के प्रकुपित होने के लक्षण समझते थे।

सुश्रुत में धातुगत कुष्ठ के लक्षण—

१. त्वचा में कुष्ठ होने पर स्पर्शज्ञान का अभाव, कम स्वेद, थोड़ी खाज, विवर्णता और रूक्षता।

२. रक्त में होने पर रोमहर्ष, स्पर्शज्ञान का बोध न होना, अधिक स्वेद, खाज, बदबूदार स्राव (पीप)।

३. मांस में त्वचा मोटी, मुख शुष्क, कठोरता, पिडिकायें, दरारें।

४. मेद में हो तो दुर्गन्ध, मलवृद्धि, पीप, कृमि और अंगमर्द।

५-६. अस्थि और मज्जा, नासा गलकर गिरना या बैठना आंखों में रक्तिमा, व्रणों में स्वरभंग।

७. शुक्रस्थान में नपुंसकता, चलने (गति) का नाश, अंगमर्द, व्रणों का प्रसारण।

अष्टांग संग्रह में लिखा है कि "सर्वाणिस्युलिङ्गान्य सृगादिषु" सभी लक्षण रक्त से लेकर शुक्र तक वर्णित शुक्रगत त्वक् रोग में विद्यमान रहते हैं।

कई आचार्य त्वक् रोगों के निदान में त्वचा के

चतुर्थ, पंचम और षष्ठ भाग में विकृति होने से रोगोत्पत्ति कहते हैं, उनका मत है कि त्वक् के ऊपर औषधि तैल, घृत या लेप लगाने से लाभ नहीं होता क्योंकि सात त्वचायें हैं, उनकी मोटाई, गहराई और रोग स्थान सब का पृथक्-पृथक् है, यथा—

क्रम	त्वचा का नाम	मोटाई	अधिष्ठान	रोग
१	अवभासिनी	१/१८ धान्य	सब वर्णों को स्पष्ट करता	सिध्म, पदमकंटक, क्षुद्ररोग।
२	लोहिता	१/१६ धान्य	अवभासिनी के नीचे	तिल यच्छ।
३	श्वेता	१/१२ ,,	लोहिता के नीचे	व्यङ्ग-चर्मदल।
४	ताम्रा	१/८ ,,	श्वेता के नीचे रंग द्रव्य वाले स्तर	अजगली मशक किलास-कुष्ठ।
५	वेदिनी	१/५ ,,	ताम्रा के नीचे	कुष्ठविसर्प।
६	रोहिणी	व्रीहीधान्य	वेदिनी के नीचे	ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, श्लीपद गलगण्ड।
७	मांसधरा	,,	रोहिणी नीचे अन्तिम मांसपेशी से लगी है।	भगन्दर, विद्रधि-अर्श।

आधुनिक विज्ञान के मतानुसार सारा शरीर सैलों द्वारा बना हुआ है। त्वचा का ऊपरी भाग जो कठोर होता है वह होर्नी लेयर (Horny Layer) है. त्वचा के जिस स्थान पर दबाव अधिक पड़ता है वह दबाव के कारण मोटी होती है, शेष पतली रहती है। इस लेयर में वर्ण नीचे से आता है, इसे बाह्य त्वक्एपीडरमिस (Epidermis) और उसके नीचे के भाग को अन्तर्त्वचा डरमिस (Dermis) कहते हैं।

त्वक् रोग प्रायः इसी अन्तर्त्वचा में होने के कारण (Dermatitis) डरमैटेटिस कहलाते हैं।

वैद्यों ने लाक्षणिक चिकित्सा आरम्भ की है :—

१. गन्धकरसायन प्रातः और सायं २ रत्ती दूध से।

२, खदिरारिष्ट १ तोला प्रातः सायं जल मिलाकर भोजन के पश्चात् दोनों काल।

३. महा मंजिष्ठादि काढ़ा रात्रि को सोते समय १ तोला तथा दोपहर के तीन बजे।

४. चर्मरोग नाशक तैल (रसतन्त्रसार सिद्ध प्रयोग संग्रह)

नीम की छाल, चिरायता, हल्दी, दारुहल्दी, लाल चन्दन, त्रिफला, वासकपत्र सब जौकुट करके तैल बनाया। तैल लगाने से पूर्व—गाय का गोबर और मूत्र दोनों को मिलाकर नीम की पत्ती से शरीर को रगड़-रगड़ कर साफ कर नीम की पत्ती वाले उबले हुए जल से स्नान करके शरीर पोंछ लिया, उसके पश्चात् तैल की मालिश की।

औषधि प्रयोग से लाभ हुआ। उपचार बन्द कर देने से पुनः रोग का आक्रमण भयंकर होता था।

इस बार उनके अण्डकोषों में सूजन (शोथ) और खाज और पांव के नीचे व्रण हो गये, चलना कठिन हो गया तब विद्यापीठ से सम्बन्धित विद्यालयों के प्राचार्यों ने शोधन क्रिया वमन और विरेचन क्रिया की तथा महातालेश्वर रस (भै० र०) कुष्ठाधिकार (हरिताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध मनःशिला, पारद, सौभाग्य, सैंधव, शुद्ध गन्धक, लोहभस्म, वत्सनाभ सबको जम्बीरी रस की भावना देकर २ रत्ती की गोली महामंजिष्ठादि क्वाथ से ही।

किसी ने गन्धक रसायन २ रत्ती, आरोग्यवर्द्धिनी वटी २, आमलक्यादि रसायन ४ रत्ती की १ मात्रा पानी

से बतलाई। औषधि प्रयोग काल में महातालेश्वर रस से लाभ हुआ। औषध छोड़ देने पर पुनः रोग का आक्रमण हुआ। इस बार सारे शरीर में शोथ, हाथ-पांव में बड़े-बड़े व्रण तथा लसीका स्राव हुआ।

तब गंधक रसायन, आरोग्यवर्द्धिनी वटी, आमलक्यादि रसायन के प्रयोग आरम्भ हुए, उससे भी लाभ हुआ।

परन्तु रोगी को सेवन-काल तक लाभ रहता था पुनः कुछ काल के पश्चात् कुपथ्य से पुनः बढ़ जाता था, शाहदरा में धन्वन्तरि महाराज के समान वैद्य श्रीगोपाल जी आयुर्वेद आचार्य धन्वन्तरि (सस्नातक तिब्बिया कालेज) से परामर्श किया उन्होंने वातरक्त निदान बताया क्योंकि वातरक्त में उपद्रव चरक में (निद्रानाश)।

अस्वप्नारोचका श्वास मांसकोथ शिरोग्रहः।
मूर्च्छा य मदरुक्तृष्णा ज्वरमोहप्रवेपकाः॥
हिक्का पांगुल्य वीसर्प पाक तोद भ्रमःक्लमाः।

अधिकांश उपद्रव रोगी में थे।

चरक चिकित्सा में पूर्वरूप में वर्णित लक्षण कार्ष्ण्य (कामला काला पड़ना) क्षतेऽतिरुक् (व्रण स्थान पर अधिक पीड़ा) आलस्यं (आलस्य) कण्डू (खुजली वैवर्ण्य (त्वचा का विवर्ण होना) मण्डलोत्पत्ति (चकत्ते)।

वात रक्त के पूर्वरूप के लक्षण रोगी में विद्यमान थे।

आधुनिक विज्ञान जो अभी शरीर पर ही अनुसंधान क्रिया कर रहा है उसके मतानुसार वातरक्त की उत्पत्ति प्यूरिन प्रोटीन के मूल कारण से होती है, यह प्यूरिन प्रोटीन सोडियम वाई युरेट उत्पन्न करती है आयुर्वेद में इसी को आम की संज्ञा दी है, यही आम रक्त में अर्थात् प्रोटीन सोडियम वाई युरेट रूप में भ्रमण करता हुआ त्वचा में विकृति संधियों में पीड़ा-पिड़िकायें, स्राव पैदा करता है।

वैद्य जी ने इस रोग की एक मात्र औषधि 'पंचतिक्त-घृतगुग्गुल, (भै० र०) बताई और अन्य सभी औषधियां यहां तक लेप भी बन्द कर दिये।

इस घृत के प्रयोग से १५ दिन में ही फोड़े फुंसियां, स्राव कण्डू शान्त हो गये। ४० दिनों में दोनों काल प्रातः-सायं एक चम्मच पंचतिक्तघृत को दूध के साथ सेवन करने के पश्चात् हाथी जैसी मोटी त्वचा भी सामान्य स्थिति में आ गई, विवर्णता रूक्षता भी लुप्त हुई इसके अतिरिक्त घुटनों का शूल, कर्ण में कण्डू उदर के सामान्य रोग भी दूर होकर पूर्ण स्वस्थ तथा बलशाली हुआ।

पंचतिक्त घृत गुग्गुल से अनेक रोगियों को लाभ हुआ जिन्हें आधुनिक विज्ञान असाध्य (चिकित्सा द्वारा ठीक नहीं होने वाले) प्रमाणपत्र दे चुका था, ठीक हुये। इन सबका विवरण स्वास्थ्य मंत्रालय को आयुर्वेद की विशेषता बताने के लिये दिया गया। स्वास्थ्य मंत्रालय ने भी इस घृत की उपयोगिता को देखकर केन्द्रीय अंशदायी चिकित्सा औषधालयों के लिये खरीदना शुरू कर दिया। श्री कृष्णजन्म स्थान पर बने श्री रामनारायण शर्मा आयुर्वेद भवन के संस्थापक पं० रामनारायण शर्मा वैद्य ने भी इसे बहुत उपयोगी और सद्यः लाभप्रद माना है।

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ में यह घृत उपलब्ध है।

पंचतिक्त घृत

निर्माण—द्रव्य-पंचतिक्त (नीम की अन्तर्छाल, गुडूची, वासक, पटोलपत्र, छोटी कंटकारी प्रत्येक २०० ग्राम।

१. गुण—**नीम की छाल**।

शीतल, त्रिदोषनाशक, कृमि व्रण कुष्ठ स्फोटक, विसर्प और व्रणों में व्यवहृत होता है बलकारक अर्बुद शोथ में हितकर है।

२. **गुडूची**—त्रिदोषनाशक कुष्ठ वातरक्त कृमि और हृद्रोग, रसायन होने से कामला तथा रक्तविकारनाशक गुणों से उपदंश की द्वितीय अवस्था तथा चर्म के विशेष रोगों में लाभ करता है।

३. **वासक**—कफ पित्त रक्तविकार कुष्ठ तथा क्षय नाशक है, अनुसन्धान द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि कीटाणुनाशक, विषनाशक छोटे-छोटे जीवों को मार देता है।

४. **पटोलपत्र**—त्रिदोषनाशक तथा रक्त विकार को दूर करता है शीत और क्षयहर है। मूत्रल विशेष गुण है।

५. **कण्टकारी**—वातकफनाशक, विबन्धकनाशक दीपन-पाचन पार्श्वशूल हृद्रोगहर, स्वेदल मूत्रल और कफ निस्सारक है।

गुग्गुल १०० ग्राम, घृत ६४० ग्राम, जल १३ लिटर।

—शेषांश पृष्ठ ३७२ पर

२३ पर नियतंग

कण्डू तथा उसकी चिकित्सा

वैद्य श्री० मुन्नालाल गुप्त ५८/६८ नील वाली गली, कानपुर।

कानपुर जैसे महानगर में आयुर्वेद की पताका उच्च शिखर पर फहराने के लिए प्रसिद्ध वैद्यराज श्री गुप्तजी की लेखनी कभी विश्राम नहीं लेती और आयुर्वेद के कोष को अक्षयरत्नों से भरती रहती है। उनके मानस में स्नेह का सागर लहराता है और हाथों में पीयूष का कलश। उन्होंने कण्डू (पामा) पर बहुत उपयोगी लेख भेजकर सुधानिधि को अपने सदैव स्वच्छ स्नेह की अविरल धार से आकण्ठ पूरित कर दिया है। रोगहर दस प्रयोग सदैव सुस्मरणीय रहेंगे। परमात्मा इस वयोवृद्ध मनस्वी एवं तपस्वी वैद्यराज को एकशत शरद् पर्यन्त आयुर्वेद की सतत् सेवा में संलग्न रखे यह प्रार्थना है। --मदनमोहनलाल चरौरे।

खुजली के रोग से सभी व्यक्ति परिचित हैं इस रोग को दो रूपों में देखा जाता है खुष्क प्रकार की खुजली में रोगी, रोग एक स्थानीय होने पर उसी स्थान को, सर्वांगिक होने पर, सारे शरीर को खुजलाया करता है।

जिसमें फुन्सी और मवाद होता है उसे खुजली का दूसरा भेद पामा कहते हैं।

आयुर्वेद दृष्टि से यह त्वचा व रक्तगत श्लेष्मा, वात तथा श्लेष्मा, पित्त से उत्पन्न रोग है। इसमें भी कृमि होते हैं। साथ ही यह रोग छूत का रोग है, स्पर्श, बिछावन, कपड़ों, यहां तक कि घ्रुणा से भी दूसरे मनुष्यों के लग जाता है।

एलोपैथिक मतानुसार—यह रोग एकेरस स्केविआई Sarcoptis (Acarus Scabiei) नामक या परांग पुष्ट बीज (Parasite) से उत्पन्न होता है। इसे त्वचागत रोग मानते हैं। इस रोग के कीटाणु जब अण्डा देने के लिए त्वचा के भीतर प्रवेश करते हैं उससे प्रदाह उत्पन्न होता है और गोटियां (फुन्सियां) निकलती हैं। स्त्री जातीय कीटाणु जब गर्भ धारण करते हैं तभी यह रोग उत्पन्न होता है। आठ-दस दिनों में अण्डा पुष्ट होकर फूटता है।

आमतौर से साधारण खुजली परजीवी कीटाणुओं के अतिरिक्त आमतौर पर निम्न कारणों से भी होती है।

(१) रक्त में विषाणुओं की उपस्थिति के कारण।

(२) रक्त सम्बन्धी रोग जैसे ल्यूकीमिया (Leukaemia) और लिम्फेडेनोमा (Lymphadenoma) से।

(३) वृद्धावस्था में त्वचा क्षीण होने पर जिसे सेनाइल एट्रोफी (Senile Atrophy) कहते हैं, से।

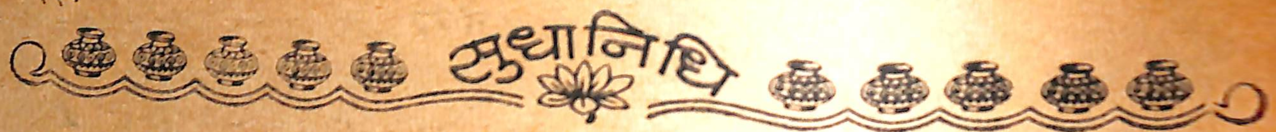
(४) अनेक रोगों में उपद्रव-स्वरूप भी उत्पन्न होती है।

(५) शाक, रासायनिक पदार्थ व यांत्रिक दोषों से इस रोग को उत्पन्न होते देखा जाता है।

(६) पराश्रयी संक्रमण से भी होता है।

(७) विषमयता (Toxaemia) या दवाओं के कुप्रभाव से भी उत्पन्न हो जाती है।

(८) मधुमेह, कामला, श्वासरोग प्रभृति रोगों के दब जाने से भी होती है। कभी-कभी खुजली के दब जाने



से उक्त रोगों में से कोई एक रोग को उत्पन्न होते देखते हैं।

(९) स्नायविक या मानसिक कारणों से भी इस रोग की उत्पत्ति देखी जाती है।

(१०) दूषित स्रावों के कुप्रभावों से दूषित जल व जलाशय के जल से भी होते देखी जाती है।

(११) गर्म-शरद् ऋतु के प्रभाव से भी होती है।

यूनानी मतानुसार—खुश्क खुजली का रोग अधिकतर नमकीन मसालों से युक्त मांस या मछली या दही का तोड़ आदि खाने से होता है।

(२)—स्त्री-प्रसंग के पीछे भी, शरीर को अच्छी तरह मलकर स्नान न करने से भी हो जाता है।

(३) यह रोग अधिकतर वृद्ध मनुष्यों को हुआ करता है। चूंकि उनकी खाल निर्बल हो जाती है भीतर की गर्मी खाल के नीचे के परमाणुओं को नष्ट नहीं कर सकती है।

(४) जो खुजली नाक, गुदा, गर्भस्थान और दिमाग आदि में उत्पन्न होती है तत्स्थानीय विकारों के कारण उत्पन्न होती है।

जिस खुजली में छोटी-छोटी फुन्सियां होती हैं उस में खुजली खूब चलती है। कभी-कभी उन फुन्सियों में पीव भी पड़ जाता है। कभी नहीं भी। खुजली बहुधा हाथों की अंगुलियों और जांघों में उत्पन्न होती है। कभी समस्त शरीर में फैल जाती है। यह रोग एक से दूसरे के लग जाता है। जली हुई बादी और खारी कफ के मिल जाने से खून निकम्मा हो जाय अथवा प्रकृति बिगड़ जाय। खून के बिगड़ जाने ०। जल जाने का कारण गर्म दवा, खारी-मीठी वस्तु या मद्य का सेवन है। जिससे खून भीतर की रगों में बिगड़ जाता है उसकी निर्बलता के कारण अंगुलियों के मध्य की खाल इसको ग्रहण कर लेती है। तर खुजली में पीला पानी या कभी-कभी खून बहता है। कभी उसमें चीटियों के अण्डों के सदृश जानवर उत्पन्न हो जाते हैं। खुजली की फुन्सियों का मवाद जैसा न्यूनाधिक या तेज होता है, उसी के अनुसार रोग की दशा होती है, जैसे पित्त की अधिकता से फुन्सियां लाल और जलनयुक्त होंगी, खुजली भी अधिक होगी। जहां बादी अधिक होगी दर्द व जलन कम होगा, फुन्सियों का रंग श्यामता लिए होगा। यह फुन्सियां बहुत दिनों तक रहती हैं। देर में जाती हैं। जिसमें कफ-विकार होगा फुन्सियों का रंग सफेद तथा फैली हुई होंगी। पानी से भरी होंगी। सूखी खुजली गाढ़े और सूखे मवाद से उत्पन्न होती है।

लक्षण

प्रथम आक्रान्त स्थान में खुजली चलती है। साधारणतः यह हाथ, पैर, अंगुलियों के मध्यवर्ती स्थान समूह, जननेन्द्रिय, प्रभृति स्थानों में विशेष होती है। बाद में सारे शरीर में फैल जाती है। खुजली इतनी चलती है कि सहज आराम नहीं मिलता, खुजलाते-खुजलाते दाह (जलन) होने लगती है। फिर भी यह रोग असाध्य व मारक नहीं। परेशान खूब करता है।

यह रोग अन्यान्य रोगों के संसर्ग से भी उत्पन्न हो जाता है। इस रोग में त्वचा पर तेज खुजली चलती है यही इसका प्रधान लक्षण है।

कुछ लोगों को गर्मी के मौसम में होती है तो अधिकांश लोगों को शीतऋतु में होती है।

कभी-कभी गर्म जल के स्नान से भी उभड़ उठत है। जब यह उग्ररूप धारण करती है तब रोगी को बड़ा परेशान करती है। रात को विशेष बेचैन करती है, नींद हराम हो जाती है, रोगी के जागने से उसका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। कभी-कभी खुजली बहुत हलकी होती है, बाद में भयानक तकलीफ के देह लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

शरीर के भिन्न स्थानों पर भी विशेष रूप से खुजली होती है। जिन्हें दूसरे २ नामों से सम्बोधित किया गया है, यथा—

१. शिर में होने वाली खुजली को दारुणक,

२. पैरों की अंगुलियों के गाइयों में होने पर अलस,

३. योनि से निकलने वाले दूषित स्राव व प्रदरस्राव से उत्पन्न खुजली को योनिकण्डू।

४. कान में पीप व मवाद तथा मैल के कारण उत्पन्न खुजली को कर्णकण्डू।

५. अर्श रोग के कारण उत्पन्न गुदा की खुजली को गुदजकण्डू कहते हैं। इसी प्रकार स्थान भेद से अनेक नाम

है। अनेक रोगों में उपद्रव स्वरूप तथा उन रोगों के लक्षणों में भी दोषानुसार खुजली होती है।

खुजलीयुक्त दूसरे दूसरे रोग—

(१) दद्रु (२) उकौता [Eczema] (३) इम्पेटिगो [Impetigo] (४) प्रुराइगो [Prurigo] (५) सोरासिस [Psoriasis] (६) शीतपित्त रोग (७) उदर्द (८) कोठ (९) अलसक (१०) चर्मदल (११) रकसा (१२) विचर्चिका (१३) अन्यान्य कुष्ठों में (१४) विस्फोटक तथा मसूरिका में एवं शरीर को स्वच्छ न रखने व स्वच्छ कपड़े न पहनने पर प्रायः खुजली चला करती है।

खुजली के लक्षण अन्यान्य रोगों में होने से बुद्धिमान् चिकित्सकों को भी भ्रम में डाल देते हैं।

शुष्क प्रकार की खुजली में प्रायः खुजली ही चला करती है, दाने नहीं पड़ते। जिसमें दाने पड़ते हैं उनके दाने पकते और फूटते भी हैं, कभी-कभी नहीं भी। इसमें खुजली के साथ जलन विशेष होती है। कभी—कभी खुजलाते—खुजलाते बड़े फोड़े भी हो जाते हैं। तर खुजली में जब इसका उग्र रूप सामने आता है तब देखते हैं कि साधारणतया सिर और चेहरे पर विशेष प्रकट होता है। विशेषकर जब इस रोग में शोथ भी प्रकट हो जाता है, तब पपोटों पर जिससे नेत्र लगभग सर्वथा बन्द रहते हैं। इसके बाद रुग्णस्थल से स्वच्छ जलीय द्रव्य निकलता है। जो कठोर एवं चिपकदार होता है उस स्थान पर लपेटे हुए कपड़े की तरह कफमय एवं कठोर बना देता है। वहां खुरण्ड या पपड़ी रूप में जम जाता है। रोगी की तीव्रावस्था में ज्वर भी हो जाया करता है। सादा व अल्पदोषज रोग एक दो सप्ताह में दूर हो जाता है। शोथ क्रमशः कम हो जाता है। रुग्णस्थान पर लचकदार झुर्रियां सी रह जाती हैं। खुरण्ड छिलके या भूसी के रूप में उतर जाते हैं। प्रायः यह रोग शिर और चेहरे तक ही सीमित नहीं रहता, ग्रीवा एवं ऊर्ध्वशाखा तक फैल जाता है। अस्तु गोल-गोल तर एवं दाहजनक दाग पड़ जाते हैं। विशेषकर संधि स्थल पर जैसे—कोहनी के जोड़ पर जो कभी-कभी मुख मण्डलस्थ पामा के दूर हो जाने के बाद भी शेष रहते हैं। वहां काफी अवधि के बाद नष्ट होते हैं। छोटे बालकों में क्वचित् रान और टांग भी रोग ग्रस्त हो जाती है।

कभी उग्र प्रकार का रोग भी चिरकारी रूप ग्रहण कर लेता है। विकारी स्थान पर खुजली एवं दाह होती है। खुजलाने पर उक्त स्थल पर द्रव निकलकर जम जाता है। कभी विकारग्रस्त भाग की त्वचा स्यामता लिए एवं मोटी हो जाती है। अधिक चिरकारी दशा में झुर्रीदार चर्म का रूप ग्रहण कर लेती है। विभिन्न स्थानों की पामा में स्थान भेद के कारण, लक्षण एवं उत्पत्ति की रीति में भी क्वचित् भिन्नता पाई जाती है—गुदा, कर्ण, मुख, वृषण दोष, स्त्रियों की योनि, स्तन, नासिका और नेत्रपटल (पलक) पर।

इसके विशिष्ट लक्षणों को दृष्टिगत रखने से किसी सीमा तक निदान किया जा सकता है। उक्त वर्णन में यह स्पष्ट लिखा जा चुका है कि विशिष्ट लक्षणों में—त्वचागत लालिमा, दाह, शोथ, कण्डु और रुग्ण स्थल पर लेसदार द्रव के रिसने से भली प्रकार निदान किया जा सकता है। रासायनिक विषों के प्रभाव से उत्पन्न रोग में तो सदैव इसका हेतु विद्यमान पाया जाता है। कभी-२ दूसरे रोगों के लक्षण भी इस रोग का भ्रम उत्पन्न कर देते हैं।

परिणाम—कभी तो निदान—परिवर्जन उपाय मात्र से रोग शीघ्र चला जाता है। कभी चिरकारी रूप ग्रहण करके दीर्घकाल तक कष्ट का हेतु बना रहता है। एक दो बार के आक्रमण से त्वचा दुर्बल हो जाती है तब इसके लगातार आक्रमणों के सहन की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

प्रतिषेधक उपाय—संक्षोभजनक पदार्थों से त्वचा की रक्षा करें। यथासम्भव त्वचा को पूर्णतया शुद्ध-स्वच्छ रखें। कभी बाहु, मुख आदि पर से दागों व चिह्नों को मिटाने के लिए विभिन्न ज्ञापित दवाओं के प्रयोगों से, इस रोग का प्रादुर्भाव हो जाता है। तेज धूप, अग्नि, उष्ण हवा तथा अत्यन्त शीत हवा का आक्रमण रोग को उत्पन्न करता है, अतः इनसे बचना चाहिए। शरीर पर सर्वथा उत्तम सरसों का तेल तथा औषधियों से निर्मित तैल का प्रयोग करते रहना चाहिए। जिससे कण्डु व पामा उत्पन्न ही न हो।



चिकित्सा सूत्र—

निदान परिवर्जन, कब्ज का निराकरण, रक्तशोधक उपाय, स्थानीय व सर्व शरीर पर लेप व उबटन तथा औषधीय तेलों का उपयोग करें। यदि व्यग्रता एवं अनिद्रा हो तो अवसादक या विशेष आवश्यक हो तो निद्रल वस्तु का उपयोग करावें।

निदानं परिवर्जनम्—

आयुर्वेदीय चिकित्सा का ही नहीं प्रायः सभी पैथी वालों का मूलसिद्धान्त यह है कि रोग के कारण का त्याग करना चाहिए। संक्रामक रोगों में हर तरह के स्पर्शों का भी ध्यान रखना पड़ता है। खुजली का रोग भी संक्रामक रोग है, इसलिए रोगी व्यक्ति के वस्त्रों, बिस्तरों, त्वचादि से स्पर्श वर्जित है।

खानपान में गर्म मसालों से युक्त शाक-भाजी, चाय, मद्य, मांस का सेवन अहितकर है, विशेषकर नमक। चूंकि नमक सेवन से अधिक खुजली चलने लगती है। मैथुन भी निषेध है। नाखून भी कटवाते रहें।

रोग होने में ऊपर जितने भी कारण दिखाये गये हैं। उन सबका त्याग परमावश्यक है।

संशोधन की आवश्यकता—

अधिकतर मल-मूत्र विकार से रक्त के रोग होते हैं। अतः उदर शोधन के हेतु रेचक प्रयोगों का प्रथम उपयोग परमावश्यक होता है, जिससे दोषों की प्राबल्यता भी नष्ट हो जाती है, साथ ही उदर का भी संशोधन हो जाता है, शास्त्रीय प्रयोगों में इच्छाभेदी, नारायण रस, स्वादिष्ट रेचक चूर्ण, इच्छाभेदी चूर्ण का प्रयोग उत्तम है। इनके अतिरिक्त—

(१) चूर्ण हरड़ काबली पीली ३ ग्राम, सौंफ ३ ग्राम और अमलतास का गूदा ६ ग्राम को ५० ग्राम जल में भिगो दें। प्रातः मल छानकर पिलादें, २-३ दस्त आकर पेट साफ हो जायेगा। यदि शरदऋतु हो तो क्वाथ बनाकर देवें।

(२) **इन्द्रायण वटी**—इन्द्रायण के फल का गूदा २० भाग, एलुवा ३५ भाग, कालादाना ३५ भाग, लौंग १० भाग। इन सबको कूट-पीस जल के साथ पीस २-२ रत्ती की गोली करें। मात्रा १ से २ गोली सौंफ के फांट के साथ देने से उत्तम उदर शोधन हो जाता है। इसके कुछ देर बाद अर्क सौंफ मिला देना चाहिए।

अथवा इन्द्रायण के फल के गूदे को पानी में औटाकर मल छानकर, गाढ़ाकर १-१ रत्ती की गोली बनालेवें। बलाबल विचार कर सोते समय १ या २ गोली निगलकर गर्म किया हुआ दूध पिला दें। उदर शोधन के लिए यह भी उत्तम योग है। इसमें हरड़ भी मिलाई जा सकती है। ध्यान रहे यह अपने भेदन गुण से पित्तवह स्रोत-संसर्गगत कफ की रुकावट को दूर करता है। यह उष्ण वीर्य है, अतः पित्त प्रकृति वालों को नहीं देना चाहिए। पित्त के साथ कफ का अनुबन्ध हो उस समय इसका प्रयोग कफ नाशक, पित्तरेचक, उदरशोधक, स्रोतों के अवरोध को दूर करने वाला सिद्ध होगा। इसमें शोधक गुण होने से, उसे कम करने के लिए इसकी जड़ से साधित घृत या तैल का उपयोग उदर शोधन के हेतु किया जा सकता है। या

(३) हरड़ ३ ग्राम, बनफसा ३ ग्राम और अमलतास का गूदा ६ ग्राम का क्वाथ देना चाहिए। अथवा

(४) एलुवा का प्रयोग भी पुरानी खुजली वाले की कब्ज में उत्तम बताया गया है। इसे ४॥ ग्राम तक पानी में भिगो दें। या

अर्क सौंफ में या अर्क कासनी में भिगो दें, रातभर भीगने दें। प्रातः मल छानकर पिलादें, इसी प्रकार नित्य ३ दिन तक दें। ३ दिन बन्द रखकर पुनः ३ दिन दें। इसी प्रकार कई बार दोहराने से पेट का जितना भी दूषित मल होगा निकल जायेगा और रोग जड़ से चला जायेगा।

इसके बाद रक्तशोधक क्वाथ, जैसे—बृ० मंजिष्ठादि, लघु मंजिष्ठादि, अर्क मुण्डी, खदिरारिष्ट, गंधक, त्रिफला का योग, हरिद्राखण्ड, शुद्ध गंधक या गंधकरसायन या पंचनिम्ब चूर्ण का सेवन कराना चाहिए, जिससे रक्त शुद्ध होकर रोग का शमन हो जाय। इनका प्रयोग ४० दिनों तक किया जाय तो रक्त पूर्णतया शुद्ध होकर शरीर नीरोग हो जाता है। इनके अतिरिक्त रक्तशोधक निम्न प्रयोगों का भी उपयोग सफल सिद्ध है—

(१) बाकुची, निम्बपत्र, हल्दी और आमला इनका चूर्णकर गोमूत्र के साथ ६-६ ग्राम की मात्रा में दिन में

दो बार सेवन करे तो कुछ दिनों में रक्त शुद्ध होकर खुजली चली जाती है।

(२) चिरायता, नीमछाल, सरफोंका, मंजीठ, मुण्डी, ब्रह्मदण्डी, उसबा, सनाय, चोबचीनी, कुटकी, हरड़ इनका क्वाथ या अर्क उपयोगी है। मात्रा क्वाथ २ तोला। अर्क ५ तोला तक।

(३) चिरायता, गुर्च (गिलोय), जवासा मूल, मंजीठ चोबचीनी, हरड़, पित्तपापड़ा, निम्ब पंचांग, सरफोंका पंचांग, लालचन्दन, गुलाब फूल, खस, मुण्डी, अनन्तमूल, उन्नाव, फालसे की छाल प्रत्येक २५०-२५० ग्राम, त्रिफला ७५० ग्राम, मुण्डी २॥ कि. सब दवाओं से दूना पानी डालकर एक रात्रि तक भिगो दें, दूसरे दिन अर्कयन्त्र (भबके) से अर्क निकाल लें, मात्रा २५-२५ ग्राम। इसी अर्क में १२ ग्राम शहद मिलाकर सेवन करें, दोनों समय ४० दिन तक। लाभ १५ दिन में ही हो जाता है। यह प्रयोग पित्तज खुजली में विशेष उपयोगी है।

नोट—रक्त शुद्धि के साथ-साथ दोषों पर ध्यान रखें। खुजली किस दोष प्रधान से है, उसी के शमन का उपाय करने पर विशेष फल मिलेगा। उक्त प्रयोगों के उपयोग करते समय इन पर विचार कर लेना परमावश्यक है।

साधारण प्रयोग, लेप, उबटन, तेल जो स्वानुभूत और उपयोगी हैं—

प्रयोग

१. शुद्धगंधक १ ग्राम, त्रिफलाचूर्ण ३ ग्राम, दोनों को खरल में खूब मिश्रितकर उसी में बराबर की मिश्री मिलाकर १५-२० दिन तक सेवन कराया जाय तो खुजली निर्मूल हो जाती है।

२. गंधक रसायन से भी यथार्थ लाभ मिलता है। उपरोक्त विधान से सेवन करें।

३. शुद्ध आमलासार गंधक, गेरू, स्याह जीरा प्रत्येक ५-५ ग्राम, इन तीनों को कूट, पीस, छानकर ३ पुड़ियां बना लेवें। अनुपान—दही, प्रत्येक ३ घंटे बाद प्रयोग करें। सिर्फ दो मात्रा ही सेवन करें। एक पुड़िया जो बची है ५० ग्राम शुद्ध सरसों के तेल में मिलाकर सम्पूर्ण शरीर में लगा लें। उस दिन पथ्य में सिर्फ थोड़ा-थोड़ा दही ही सेवन करें। दही खट्टा नहीं होना चाहिए। ३-४ घंटे बाद स्नान कर डालें। प्रायः १ दिन के प्रयोग से ही नवीन खुजली चली जाती है।

४. आमलासार गंधक, कबीला, मुरदासन, १०-१० ग्राम, तुत्थ १ ग्राम, कूट पीसकर घी में मिलालें और उस घृत का लेपन सारे शरीर पर करके धूप में १ घंटे तक बैठें, बाद में स्नान कर सम्पूर्ण नये वस्त्र धारण करें।

५. १० ग्राम चमेली के तैल को ७ बार शीतल जल में धोकर उसमें ५ ग्राम सफेद राल पिसी हुई तथा १ ग्राम कपूर मिलाकर खुजली पर लगावें।

६. नारियल के तेल में कपूर मिलाकर लगाने से भी लाभ होते देखा गया है। यह प्रयोग कई दिन तक करना चाहिए।

७. नैनिया गंधक, चौक (सत्यानाशी की जड़) बावची बीज अपामार्ग की जड़ इनको जल सहित पीसकर सरसों के तेल में मिलाकर सारे शरीर पर लगावें। ३ घंटे बाद किसी जलाशय में स्नान करें और सब कपड़े बदल डालें। नये वस्त्र धारण करें। शुद्ध रक्त के लिए अर्क मुण्डी तथा दूसरे प्रयोगों का भी सेवन करावें, खुजली उसकी ७ दिन के अन्दर दूर हो जाती है।

८. पारा, गंधक, सुहागा, सिंदूर, इलायची बीज, कबीला ६-६ ग्राम कत्था १२ ग्राम सबको खरल में मरदन कर चूर्ण करें। घी में मिलाकर पामा खुजली पर लगावें तो ४-५ दिन में ही लाभ दिखाई देगा।

९. पामापर—गंधक, पारा, कालीमिर्च, तुत्थ, सिंदूर, कालाजीरा सफेदजीरा १०-१० ग्राम क्रमशः पीसकर सूक्ष्म चूर्ण करें और घी में मिलाकर या वैसलीन में मिलाकर पामा पर लगावें। निम्बपत्र जल से जख्म को धोवें और उसी जल से स्नान करें। साथ ही खदिरारिष्ट का भी सेवन करें।

१०. मैनसिल, गंधक, सिंदूर, पारा, सफेद जीरा, हल्दी, कालीमिर्च, स्याह जीरा प्रत्येक ५-५ ग्राम। खरल में घोटकर एक जीव करें उसे घृत में मिलाकर पुनः घोटकर प्रातःकाल पामा खाज पर लगावें ३ घंटे बाद स्नान करें। इसके प्रयोग करने से पहले इच्छाभेदी गोली देकर दस्त करा देवें। और रक्तशोधक अर्क पिलाते रहें। बातकारक वस्तुओं के खाने-पीने से बचा रहे तो जल्दी



ही पामा खुजली से छुटकारा मिल जाता है।

मैं खुजली पर विशेषरूप से निम्ब तेल का प्रयोग सर्वोत्तम समझता हूँ। चूंकि इसका प्रयोग कर अनेक जटिल रोगियों का रोग दूर किया है आवश्यकतानुसार इस तेल में कबीला, मुरदासन, राल और कत्था तथा अल्प मात्रा में तुत्थ भी मिला दिया करता हूँ। तुत्थ के स्थान पर कभी-कभी कपूर का प्रयोग करता हूं। वृ० मरिच्यादि तेल भी उपयोगी प्रमाणित हुआ है।

पामा (कण्डू) की आधुनिक चिकित्सा

यद्यपि आयुर्वेदीय चिकित्सा द्वारा रोग पूर्णरूपेण साध्य है पर कभी-कभी आधुनिक उपचार भी करना पड़ सकता है।

आधुनिक उपचार ३ दिन का इस प्रकार किया जाता है—

प्रथम दिन—रोगी को गरम पानी से अच्छी तरह रगड़-रगड़ कर स्नान करा दें। शरीर को बिना पोंछे २५ प्रतिशत (छोटे बच्चों में १२·५ प्रतिशत काफी होगा) बेंजाइल बेंजोट इमल्शन गरदन से पैरों की अंगुलियों तक इसे पोत दें। इसे एक २-३ इंच चौड़े पेंट करने के ब्रुश से लगा सकते हैं। कोई भी भाग (गुप्तांगों सहित) छूटना नहीं चाहिए। फिर उसे आग से तपाकर शरीर सुखाकर रोगी को अपने पहले दिन के ही कपड़े पहना कर सुला देते हैं। खाट पर भी पिछले दिन की चादर बिछी रहने देते हैं।

द्वितीय दिन—रोगी को बिना नहलाये बेंजाइल बेंजोट इमल्शन (ऐस्केबियोल या अन्य पेटेंट) फिर उसी प्रकार शरीर पर चुपड़ देते हैं और आग के सामने तपाकर उबाल कर धोया और सूखा अण्डरवियर पहना देते हैं। उसी प्रकार शुद्ध वस्त्र पहना कर शुद्ध चादर वाले बिस्तर पर सुला देते हैं। पुराने कपड़े सब उबालकर धो डालते हैं।

तृतीय दिन—तीसरे दिन रोगी को स्नान करा दिया जाता है।

अगर फिर भी खुजली बाकी रहे तो अब बेंजाइल बेंजोट का उपयोग न करके सिर्फ कैलेमिन लोशन चुपड़ते हैं। जो रोगी पुनः बेंजाइल बेंजोट का बार-बार इस्तेमाल करते हैं उन्हें 'डर्मेटाइटिस' मेडिकामेंटोसा हो जाता है।

पृष्ठ ३६६ का शेषांश

सोनापाठा, विडंग, देवदारु, गजपीपल, यवक्षार, स्वर्जिका क्षार, शुण्ठी, हरिद्रा, शतपुष्पा, चव्य, कूठ, मालकंगणी, मिर्च, इन्द्रयव, जीरक, चित्रकमूल, कुटकी, भल्लातक शुद्ध, बच, पीपलामूल, मंजीठ, अतीस, त्रिफला (समभाग हरीतकी विभीतक आमलकी) और यवानिका सभी ५-५ ग्राम।

उपकरण—बड़ी अंगीठी, कपड़ा बड़ा छानने के लिये, कड़ाही, कलछी, हमामदस्ता, कोयला।

निर्माण विधि—पंचतिक्त के सभी काष्ठिक द्रव्यों को हमामदस्ता में कूट लें इन सबको १३ लीटर जल में डालकर अंगीठी गरम पर चढ़ा दें जब ३ लीटर क्वाथ जल रह जाये उसे उतार कर कपड़े से छान लें क्वाथ बनाते समय कलछी से हिलाते रहें। उस क्वाथ में १०० ग्राम, गुग्गुल मिलाकर पुनः अग्नि पर चढ़ायें जब गुग्गुल क्वाथ में घुल जाये तो उसमें ६४० ग्राम शुद्ध गाय का घृत डालकर घृत पाक करें। जब जल घृत में नहीं रहे तो उसे उतार लें घृत को छानकर इमर्तबान में सुरक्षित कर लें।

मात्रा—५ ग्राम घृत को दूध के साथ प्रातः और रात्रि में दें।

पथ्य—मूंग, मसूर, चना, घृत, मक्खन, मुनक्का, अनार, करेला, आंवला, खैर, कपूर, चन्दन, शीतवीर्य पदार्थ।

अपथ्य—उष्ण वीर्य, नमकीन, कटु, अम्ल और विदाही पदार्थ।

व्यायाम—मैथुन, मद्य, सिरका, दिन में विश्राम।

गुण—दीपन, पाचन, रक्तशोधक, बलवर्द्धक तथा रक्तोत्पादक, त्वक् रोगों और अन्य वात रोगों में आश्चर्यजनक लाभ करता है। इसके प्रयोग से रोगी पूर्ण रोगमुक्त हो गया।

दो जटिल चर्मरोगियों की सफल चिकित्सा

लेखक—वैद्य श्री गोवर्धनदास चागलानी, एटा

आदरणीय चागलानी जी का एटा के मुख्य बाजार में अपना चिकित्सालय है जहां लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की साधना में आप सतत् संलग्न रहते हैं। लेख में काम की बातें और संक्षिप्त विवरण यह आपकी विशेषता है। दोनों रोगियों की चिकित्सा जिन योगों से की गयी है उन्हें वैद्यगण आस्थापूर्वक प्रयोग कर लाभ उठायेंगे, यह विश्वास है तथा अपने अनुभव हमें लिखकर भेज कर अनुग्रहीत भी करेंगे इस अनुरोध के साथ। ---मदनमोहनलाल चरौरे।

लगभग २१-२२ वर्ष पूर्व मेरे बड़े पुत्र चि० घनश्याम दास को जबकि वह १-१½ वर्ष की आयु का था उसे चर्म (त्वचा) रोग हुआ था। फोड़े-फुंसियां निकलती थीं। उन पर "इंड्रू स्कैबीक्षन" लगाते थे तो ठीक हो जाती थीं। फिर नयी फुंसियां निकलती थीं। रक्तविकार का विचार कर सारसा परेला पिलाया गया। उससे कुछ लाभ प्रतीत हुआ, लेकिन मेरे मन को अधिक संतोषजनक लाभ प्रतीत न हुआ, अतः औषधि में परिवर्तन कर खाने के लिए निम्न लिखित औषधिमिश्रण प्रातः सायं तथा लगाने को मरहम दिया।

औषधि मिश्रण—रसमाणिक्य १ रत्ती, मुक्ताशुक्ति पिष्टी २ रत्ती, स्वर्णमाक्षिक भस्म २ रत्ती, शुद्ध गंधक ४ रत्ती (अभाव में गंधक राजवटी)। —८ मात्रा

दिन में २ बार घी+बूरे में या दूध से

मरहम लगाने के लिये—कपूर ३ ग्राम, गंधक आमलासार ६ ग्राम, कबीला ६ ग्राम, मुर्दासन ६ ग्राम, सुहागा डेली का फूला ६ ग्राम, बैस्लीन या तैल तिल ६० ग्राम, मोम देशी १२ ग्राम।

सब चीजें पीसकर कपड़छन करलें और बैस्लीन या तैल में मोम गर्म कर मिलाकर मरहम तैयार करलें। यह मरहम फोड़ा-फुंसी, घाव-बवासीर, खाज-खुजली आदि पर लगाने से बड़ा गुणकारी है। बीच में थोड़ा सा २-३ ग्राम शुद्ध एरण्ड तैल (कास्टर आयल) देते थे। १०-१२ दिन में इस उपचार से बच्चे को बहुत शीघ्र लाभ प्राप्त हो गया। कुछ समय पश्चात् इसी बच्चे का कान पक गया (कान के बाहर व भीतर छोटी-छोटी फुंसियां निकल कर पूरा कान पक गया) शरीर में कहीं पर भी कोई फोड़ा फुंसी नहीं निकली। अब भी पहले की भांति 'रसमाणिक्य' आदि मिश्रण खाने को देते, लगाने को उपरोक्त मरहम की चीजें तैल में मिलाकर रुई की फुरैंड़ी से कान पर लगाते थे। इस उपचार से कान ठीक हो जाता पर फिर पक जाता था। इस प्रकार ३ बार कर्णपाक का पुनरावर्तन हुआ। बीच में १-२ सप्ताह के लिये ठीक हो जाता था। कभी रामबाण तैल (सप्तगुण तैल) भी फुरैंड़ी से लगाते थे। सेलखड़ी में थोड़ा सा सफेद चन्दन मिलाकर महीन पीसकर कान पर बुरकने से जल्दी खुश्क (शुष्क) हो जाता था। इस प्रकार ३ बार पुनः पुनः कान पकने से मुझे चिन्ता हुई। आयुर्वेदीय पत्रों तथा पुस्तकों का अध्ययन करने लगा। एक योग कविराज श्री प्रतापसिंह



जी रसायनाचार्य उदयपुर (राज०) का "रक्तदोषान्तक" लिखा था, योग इस प्रकार है—

उसवा असली (मगरबी) १२ ग्राम, चिरायता कड़ुवा १२ ग्राम का काढ़ाकर समुद्र लवण या मैगसल्फ १२५ ग्राम मिला तैयार कर यह अर्क बच्चे की माता को ३०-३० ग्राम केवल १ मात्रा प्रातः देने से १–१½ सप्ताह में ही आश्चर्यजनक लाभ दिखायी दिया।

बच्चे को बिना औषधि खिलाये व बिना औषधि लगाये केवलमात्र पीने की दवा 'रक्तदोषान्तक' उसकी मां को देने से ही पूर्ण लाभ हो गया। बच्चे की माता को पहले समझाकर इस कड़ुवी (कसैली) दवा पीने के लिये राजी किया कि हो सकता तुम्हारे दूध में औषधि का गुण पहुंचकर बच्चे को स्थायी लाभ प्राप्त हो जावे। ईश्वर की कृपा से वही हुआ। आजतक न तो वैसा कोई जटिल त्वचा (चर्म) रोग हुआ है और न कोई रक्तविकार।

रोगी नं० २--

नाम रोगी-श्री बाबू कैलाशचन्द्र जी सक्सेना, स्थान-पटियाली दरवाज एटा, आयु-लगभग ४० वर्ष। लगभग १८-१९ वर्ष पूर्व इन्हें पीठ में उस समय एक बड़ा फोड़ा (अदृश्य-कारबंकल) निकला। कुछ दिन अन्य डाक्टर तथा जर्राह को दिखाने के बाद मेरी चिकित्सा में आया, उस समय फोड़ा फूटा नहीं था। अतः काला मरहम चिपकाने वाला एक बड़ा फाया बनाकर फोड़े पर चिपका दिया और सिकाई करने को कह दिया। २–३ दिन तक न फूटने के कारण उस पके हुये फोड़े के मध्य भाग में थोड़ा सा चूना कलई + मधु (शहद) मिलाकर लगा दिया ऊपर से काला मरहम का फाया बनाकर चिपका दिया। इस उपचार से २ दिन बाद फोड़ा फूटा, काफी मात्रा में पस (खून मिला पीव) निकला, उसे नीमपत्र क्वाथ (अभाव में पुटास परमेंगनेट के घोल) या फिटकरी फूला के हलके घोल से धोकर मरहम उपरोक्त (कपूर + कबीला + मुर्दासन + गंधक आमलासार + सुहागा डेली का फूला, बैस्लीन में बनाया मरहम) लगाकर ऊपर से चिपकाने वाले मरहम का फाया लगा देते थे। इस फोड़े को नीमपत्र क्वाथ से साफ रुई से धोते समय कई छिद्र (छेद) दिखाई देते थे। धीरे–धीरे सब छिद्र ठीक भर गये और फोड़ा भी जो कि लगभग ३-४ इन्च घेरे में था, ठीक हो गया। ऐसा फोड़ा मैंने पहली बार चिकित्सा द्वारा ठीक किया। फोड़ा फूटने के बाद कभी-कभी रामबाण तैल (सप्त गुण तैल) फोड़े पर लगाकर ऊपर से मरहम लगाते थे। खाने की औषधि—

V १. रसमाणिक्य + गंधकरसायन + स्वर्णमाक्षिक भस्म + मुक्ताशुक्ति भस्म प्रातः सायं घी + बूरे में २ बार।

२. गंधक (राज) वटी २–२ गोली भोजन बाद जल से लें। लगभग २ सप्ताह की चिकित्सा में रोगी पूर्ण स्वस्थ होने के बाद भी रोगी के फोड़े के स्थान पर घी + कपूर या तिल का तैल + कपूर मिश्रित कुछ दिन त्वचा (चमड़ी) पर लगाने को बत्ता दिया जिससे वहां की त्वचा मजबूत बन गई।

त्वचा की स्वस्थता पर

प्रातः एक पाव लीटर पानी में आधा या एक नीबू का रस मिलाकर पीने से रक्त की सफाई में बहुत सहायता मिलती है। जो त्वचा को सुन्दर और स्वच्छ बनाये रखने के लिए परम आवश्यक है। नीबू रक्त में घुली हुई गन्दगी को तेजी के साथ छांटने का कार्य करता है।

नीबू का प्रयोग त्वचा के ऊपर भी करना चाहिए। जहां दाद, खाज, खुजली, फोड़ा, नासूर हो वहां नीबू का रस लगाने या कटा हुआ नीबू रगड़ने से लाभ पहुंचता है।

फल और तरकारियों में रक्त को स्वच्छ करने वाले बहुत से तत्व रहते हैं। अतः त्वचा को सुन्दर मुलायम और चमकदार स्वच्छ रखने के इच्छुक व्यक्ति सबसे पहले रक्त की स्वच्छता का ध्यान रखकर इनका भरपूर उपयोग करें।

—डा० लक्ष्मीनारायण अलौकिक, शामगढ़

श्वेत कुष्ठ निवारण

श्री मौहरसिंह आर्य, वैद्य वाचस्पति, मिश्री, पो० चरखी दादरी

क्या 'श्वित्र' कुष्ठ है ? आओ संहिताओं का अवलोकन करें—

१. चरक में पढ़ा है अत ऊर्ध्वमष्टादशानां कुष्ठानां कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्म काकणककुष्ठ-एककुष्ठचर्मकिटिमविपादिकालसकदद्रु चर्मदलपामाविस्फोटक-शतारुविचर्चिकानां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः ।

यहां चिकित्सा दृष्टि से १८ कुष्ठों का वर्णन किया है। निदान स्थान में तो सात महाकुष्ठों को ही कुष्ठ माना है, शेष ११ क्षुद्र कुष्ठ लिखे हैं चिकित्सा में जो चर्म रोग माने जाते हैं। परन्तु श्वित्र न सात में और न ग्यारह में ही है। हां, चिकित्सा स्थान में पृथक् वर्णन किया है। देखो, चिकित्सा स्थान में भी श्वित्र-किलास को कुष्ठ नहीं लिखा है, जितने भी योग लिखे हैं सभी में 'श्वित्र' शब्द अथवा 'किलास' लिखा है। श्वित्र के साथ में चाहे कोई कुष्ठ शब्द को जोड़ दें और श्वित्र कुष्ठ लिख दें। इसमें चरकाचार्य का क्या दोष है ? आचार्य चरक ने तो इसे स्वतन्त्र रोग माना है श्वित्र किलास का एक भेद कहा है। यथा—

दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः ।
विज्ञेयं त्रिविधं तच्च दोषं प्रायशश्च तत् ।।

अर्थात् दारुण, चारुण और श्वित्र ये तीन किलास के नाम हैं। यह त्रिदोष के कारण होता है।

२. सुश्रुत में लिखा है— 'तत्र सप्त महाकुष्ठानि, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि, एवमष्टादश कुष्ठानि भवन्ति,'' महाकुष्ठ सात और क्षुद्र कुष्ठ ग्यारह, कुल मिलाकर अठारह प्रकार के कुष्ठ हैं। देखिये, इनमें कहीं किलास का नाम तो नहीं पढ़ा है—''तत्र महाकुष्ठान्यरुणोदुम्बरर्ष्य जिह्वकपालकाकणकपुण्डरीकदद्रुकुष्ठानीति । क्षुद्र कुष्ठान्यपि स्थूलारुष्कं महाकुष्ठमेककुष्ठं चर्मदलं विसर्पः परिसर्पः सिध्मं विचर्चिका किटिभं पामा रकसा चेति ।।''

इन अठारह प्रकार के कुष्ठों में कहीं किलास का नाम नहीं आया है। हां, किलास को कुष्ठ का भेद अवश्य माना है, यथा—किलासमपि कुष्ठविकल्प एव, परन्तु कुष्ठ की निरुक्ति पर ध्यान दीजिए—कुष्ठ क्या है ?

'कुष्णाति अङ्गम् इति कुष्ठम्' कुष्ठ शरीर के अंगों पर फूट निकलता है, इसे कुष्ठ कहते हैं और भी पढ़िये 'यत्किञ्चित् स्रावितकुष्ठम्' जिसमें स्राव होता हो उसे कुष्ठ कहते हैं। कुष्ठ रोग में त्वचा से लेकर गम्भीर धातुओं तक का नाश होता है, इसीलिए तो आचार्य वाग्भट ने कहा है—

'त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तत् ।
कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः ।।

कुष्ठनाम रोग की संज्ञा 'कुष्णति वपुः इति कुष्ठम्' के आधार से बनी है। कुष्ठ का सामान्य अर्थ है 'देह धातुओं में कोथ की उत्पत्ति होना।' और कुष्ठ का प्रत्यात्म लक्षण



आचार्य मौहरसिंह आर्य ने अपने अध्यवसाय एवं ज्ञानगौरव का प्रकाश श्वेतकुष्ठ (ल्युकोडर्मा) के निवारण हेतु सटीक किया है, आशा है पाठकगण इससे उनके अन्य लेखों की भांति ही लाभान्वित होंगे। —मदनमोहनलाल चरौरे।





'कोथ का होना' है। कुष्ठ शब्द कुष् धातु से बना है, जिसका अर्थ 'फाड़ना' है। यह रोग सम्पूर्ण शरीर में फैलकर उसे फाड़ता है।

कुष्ठ संक्रामक होता है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—

'कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ।।

३. चरक, सुश्रुत और काश्यप ने १८ प्रकार के कुष्ठ माने हैं, नामकरण में अन्तर है, भेल तन्त्र में नव कुष्ठ ही गिनाए हैं। चरक तथा सुश्रुत ने किलास का अलग अलग वर्णन किया है। जैसा कि आचार्य चरक ने किलास के तीन भेद कहे हैं, वैसे ही मालुकीतन्त्र ने भी श्वित्र के तीन भेद किये हैं। किन्तु चारुण के स्थान पर वारुण लिखा है। भेलतन्त्र के चिकित्सा स्थान में श्वित्र का उल्लेख है। काश्यप ने भी श्वित्र को १८ प्रकार के कुष्ठों में गिना है। मालुकीतन्त्र एवं काश्यप के अतिरिक्त चरक, सुश्रुत, वाग्भट, भावमिश्र, तथा माधव आचार्य ने किलास को कुष्ठ संज्ञा नहीं दी। सुश्रुत ने किलास को कुष्ठ का भेद माना है। आचार्य वाग्भट ने श्वित्र का बाह्य कुष्ठ के नाम से निर्देश किया है।

यथा—'श्वित्रमस्माच्च, कुष्ठंबाह्यमुदाहृतम्।'

तात्पर्य यह है कि किलास में न स्राव होता है, न ही क्लेद और न ही कृमि उत्पन्न होते हैं। अतः किलास कुष्ठ नहीं है। पहले बताया है 'कुष्ठ शब्द' 'कुष्निष्कर्षे' धातु से बना है। जिसका सामान्य अर्थ फाड़ना है। कुष्ठ सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर उसको फाड़ता है। परन्तु किलास में ऐसा नहीं होता जब कि कुष्ठ में कोथ होता है। किलास में तो त्वचा की विकृति होती है। यथा—'त्वग्गतमेव किलासम्' (सुश्रुत) कुष्ठ रोग में शरीर के धातुओं में कोथ उत्पन्न होता है जो इसका प्रत्यात्म लक्षण है। परन्तु किलास में आन्तरिक विकृति न होकर बाह्य विकृति पाई जाती है, यथा—"श्वित्रमस्माच्च कुष्ठं बाह्यमुदाहृतम्" (वाग्भट)।

इस रोग में आन्तरिक विकृति न होकर बाह्य त्वचा में रहने वाले कालि Melanin नामक द्रव्य की विकृति या अभाव के कारण श्वित्र उत्पन्न होता है। यह कालि त्वचा को रंग प्रदान करता है।

निस्सन्देह यह रोग कोई कष्ट नहीं देता परन्तु त्वचा के दूषित-विकृत होने से कुरूपता आ जाती है। मानव का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, जिससे लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखने लग जाते हैं। रोगी के मन में ग्लानि रहने

कुष्ठ और श्वित्र (किलास में भेद)

कुष्ठ	किलास (श्वित्र)
१. यह स्रावयुक्त होता है। यथा—यत्किञ्चित् स्रावितकुष्ठम्।	१. यह स्राव रहित होता है। यथा—'निर्दिष्टमपरिस्रावि।' (भाग्भट), किलासमपरिस्रावि च; (सुश्रुत)।
२. यह संक्रामक है।	२. यह संक्रामक नहीं है।
३. इसका अधिष्ठान त्वचा एवं वातनाड़ियां होती हैं। जो आक्रान्त होकर विकृत एवं नष्ट हो जाती हैं।	३. इसमें ऐसा नहीं होता। केवल त्वचा का वर्ण श्वेत हो प्रायः जो उपचार से पुनः ठीक हो जाता है।
४. यह त्रिदोषज है।	४. यह त्रिदोषज है।
५. इसकी व्युत्पत्ति सम्भवतः सन्तति में अनुवृत्ति होती है।	५. इसमें ऐसा नही होता।
६. यह सप्त धातुगत होता है।	६. यह रक्त-मांस तथा मेद में होता है।
७. यह शरीर की धातुओं का नाश करता है।	७. यह धातुओं का नाश करता है।
८. यह क्रिमिजन्य होता है।	८. यह कृमि रहित होता है।
९. इसमें अंग-पातन होता है।	९. इसमें ऐसा नहीं होता।
१०. यह अठारह प्रकार का होता है।	१०. यह तीन प्रकार का होता है।
११. इसमें सदैव वेदना होती है।	११. इसमें वेदना नहीं होती।

लगती है। अतः यह घृणित रोग है। यह रोग संक्रामक नहीं है, इसलिए रोगी से घृणा करने की आवश्यकता नहीं है। हां, यह शरीर के सौन्दर्य एवं कान्ति को नष्ट करने वाला अवश्य है।

फिर आचार्य सुश्रुत, काश्यप तथा भालुकी ने किलास को कुष्ठ भेद अथवा कुष्ठ क्यों कहा है? उत्तर के लिए संहिताओं का अवलोकन पुनः करें--

हेतुकी

१. कुष्ठं पापजन्यम्। कुष्ठ रोग पापज है। उसमें भी श्वित्र-किलास को विशेष रूपेण पाप रोग माना है। यथा—

वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो,
निन्दा गुरूणाम (सुराणां) गुरुधर्षणं च।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म,
हेतुः किलासस्यविरोधि चान्नम ॥
(चरक ७-१००)

अर्थात् असत्य बोलना, कृतघ्न होना, माता-पिता गुरुजनों एवं पूजनीय व्यक्तियों की निन्दा करना, अपमान करना, अवहेलना करना, पाप कर्म में निरन्तर रत रहना पूर्वजन्म के पाप कर्म और विरुद्ध अन्नपान का सेवन करना किलास होने में कारण होते हैं।

२. कुष्ठ को उत्पन्न करने वाले कारण कहे गये हैं, वही सब किलास के भी कारण हैं। किन्तु इसका विशेष हेतु पूर्वजन्मकृत पाप अथवा इस जन्मकृत पाप को ही माना है। कहा भी है—'श्वित्रं कस्यचिदेव प्रशाम्यति क्षीण पापस्य।" अर्थात् पाप के क्षीण हो जाने से ही किसी का श्वित्र नष्ट हो जाता है।

किलास कुष्ठ क्यों है?

१. कुष्ठ रोग के कारणों में एक कारण पाप है। किलास का प्रधान हेतु भी पाप कहा है।

२. कुष्ठ बाह्यरूपेण त्वचा पर प्रकट होता है। किलास भी त्वचा पर ही दिखाई देता है।

३. 'स्पर्शनाश' कुष्ठ का प्रमुख लक्षण है। किलास में भी पीड़ित स्थान त्वक् स्वरूप होता है।

आदि समान लक्षणों के कारण ही किलास को कुष्ठ माना है।

किलास कुष्ठ कैसे बनता है? विश्वामित्र जी कहते हैं—'जब त्वचा को पार कर किलास गम्भीर धातुओं में पहुंचता है तब उसे कुष्ठ ही कहना चाहिए।'

जब यह रोग पुराना हो जाता है तो अन्तः धातुओं में प्रविष्ट होकर रक्त, मांस तथा मेद को ही दूषित करता है।

ऋषियों के मत

आचार्य चरक का मत 'श्वित्र-किलास' एक स्वतन्त्र रोग है।

आचार्य वाग्भट का मत 'श्वित्र' बाह्य कुष्ठ है।

आचार्य काश्यप का मत 'श्वित्र' क्षुद्र कुष्ठ है।

आचार्य सुश्रुत का मत 'श्वित्र' कुष्ठ का भेद है।

एक अनुभव—

नाम—श्री खजानसिंह यादव, आयु ५ वर्ष।

पूर्ववृत्त—माता-पिता के परिवार में कोई भी वंशज व्याधि नहीं, भाई बहन सभी बच्चे स्वस्थ। जब खजानसिंह २ वर्ष के थे उस समय मसूरिका निकली थी। उपचारार्थ 'गोरोचन मिश्रण' दिया गया था। गोरोचन १० ग्राम, प्रवालपिष्टी, विषाणभस्म और अमृतासत्व प्रत्येक २० ग्राम तथा सोनागेरू २॥ ग्राम ले सबको मिलाकर खरल में घोट कर। मात्रा—१२५ से ३७५ मिलीग्राम तक। चार-चार घण्टे पर दिन में ३ बार तुलसी रस से।

श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) कई बार हो जाया करता था। उपचारार्थ सल्फोनिलेमाइड की गोलियां एम. एंड. बी. कम्पनी की दी जाती थीं। डायक्रिस्टीसिन का इन्जेक्शन किया जाता था।

वृत्त—बायें पैर की सक्थि-साथल के बाह्य भाग पर एक लाल धब्बा सा दिखाई दिया और वह धीरे-धीरे श्वेत होकर फैलने लगा। उसी पांव की एड़ी के पास एक लम्बा सा चिन्ह हुआ और वह भी श्वेत हो गया। उसी पांव की पिंडली पर एक फुंसी बनी और दो सप्ताह के बाद वहां भी श्वित्र हो गया।

उपचारार्थ अपने पास खजानसिंह को रखा। पथ्य में गेहूँ की रोटी, घी के साथ दी जाने लगी। औषधि व्यवस्था वही जो लिखी गई है, कर दी। श्रावण का ही



महीना था। २१ दिन के पश्चात् सभी दागों पर छाले फफोले पड़ गये। सूचिका से विद्ध कर लसीका निकाल दी गई। श्वित्रारि तक्र से प्राप्त घृत लगाया जाता था।

मैं दो दिन किसी रोगी को देखने बाहर चला गया, अस्वच्छता रह जाने के कारण साथल वाले दाग में कृमि उत्पन्न हो गये। असह्य पीड़ा से खजानसिंह तिलमिला उठे। रात्रि को ही व्रण स्वच्छ कर कृमिनाशक औषधि लगाई गई।

लिखने का तात्पर्य यह है कि श्वित्र में औषधि से व्रण बन जाते हैं। यदि कोई रोगी हो, तो यह उपचार कर देखें। २१ दिन में यह सब कुछ प्राप्त हो जायेगा।

श्वित्र कुष्ठ

त्वचा में स्थित वर्ण जब लुप्त हो जाता है और वह स्थान श्वेत हो जाता है तब उसको श्वित्र कहते हैं। आधुनिक इस को Leuco derma अर्थात् Leuco श्वेत, Derma चर्म तात्पर्य चर्म का श्वेत होना कहते हैं। इसमें त्वचा का प्राकृत वर्ण Melanin कालि लुप्त हो जाता है और वहां पर श्वेतिमा-सफेदी आ जाती है। बाह्यरूपेण कुष्ठ भी त्वचा पर प्रकट होता है और किलास भी त्वचा पर ही दिखाई देता है, इसी श्वेतमा-सफेदी के कारण एवं त्वचा पर प्रकट होने से इसे श्वित्र कुष्ठ-सफेद कोढ़ भी कहते हैं।

त्वचा-ज्ञान

त्वचा सात होती हैं। ऐसा आयुर्वेदज्ञों का मत है। यथा-सप्त त्वचो भवन्ति' ऊपर से भीतर की ओर क्रमशः त्वचा के सात स्तर कहे हैं। इनमें से चौथी को ताम्रा कहते हैं—'चतुर्थी ताम्रा नामाष्ट भाग प्रमाणा।' इस ताम्रा में ही त्वचा का विशिष्ट वर्ण होता है। इस वर्ण के लुप्त हो जाने पर ही किलास की उत्पत्ति होती है। ताम्रा को ही इन रोगों का अधिष्ठान कहा है—'विविध किलास कुष्ठाधिष्ठाना।' (सु. शा. ४/४)।

त्वचा के विशिष्ट वर्ण का अधिष्ठान ताम्रा ही है। अतः आधुनिक इसे वर्णिनी त्वचा Malpighian Layer of Skin कहते हैं और त्वचा के इस वर्ण को Melanin व्याधि कहते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने सात त्वचाओं का वर्णन किया है। उनमें पहली अवभासिनी नामक त्वचा होती है। जो वर्णों को प्रकट करती है। दूसरी त्वचा लोहिता नामक होती है। तीसरी त्वचा श्वेता कही है। चौथी त्वचा 'ताम्रा' नाम की है। उसमें नाना प्रकार के किलास और कुष्ठ होते हैं। यथा—'चतुर्थी ताम्रा नामाष्ट भाग प्रमाणा विविध किलास कुष्ठाधिष्ठाना।' (सुश्रुते)।

आचार्य चरक ने छः त्वचा मानी हैं। चतुर्थ त्वचा में ही कुष्ठ का अधिष्ठान कहा है। आधुनिक मत से त्वचा दो प्रकार की बतलाई है। एक बाह्य दूसरी अन्तः त्वचा कही है। बाह्य त्वचा में पांच और अन्तः त्वचा में दो स्तर मिलते हैं। कोई-कोई लेखक तृतीय त्वचा 'श्वेता' को ही श्वित्र की अधिष्ठात्री लिखते हैं। परन्तु संहिताओं में ऐसा नहीं है।

आधुनिक मतानुसार यह रोग त्वचा के ऊपरी भाग में रहने वाले Melanin मैलेनिन नामक रंग के नष्ट होने से होता है। मैलेनिन का वर्ण यकृत् विकार से नष्ट होता है।

यकृत् विकार से मैलेनिन का रंग नष्ट हो जाता है, इतना लिख देने से तो काम चल नहीं सकता, कौन सा ऐसा विकार है, जो केवल रंग को ही नष्ट करता है, शरीर में अन्य किसी लक्षण को प्रकट नहीं करता, इस रोग से पीड़ित रुग्ण कभी यकृत् विकार की शिकायत नहीं करते, हमने तो १०-१५ वर्ष तक के रोगी रोग से पीड़ित देखे हैं, किसी का यकृत् क्रियाहीन नहीं देखा और नहीं यकृत् वृद्धि देखी गई है।

आयुर्वेद का दृष्टिकोण तो यह है कि विरोधी खाद्य पदार्थों के सेवन से रंजक पित्त में विकार आ कर इस रोग की उत्पत्ति होती है।

कहा है आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों का कीटाणु जो श्वित्र को उत्पन्न करता है।' आयुर्वेद में जीवाणुओं का अस्तित्व तो है परन्तु रोगोत्पन्न करने का मूल कारण नहीं।

किलास का स्वरूप—

शरीर में किसी स्थान पर त्वचा का वर्ण परिवर्तन होकर श्वेत-सफेद दाग विभिन्न आकार-प्रकार के उभर आते हैं। त्वचा का प्राकृत वर्ण लुप्त हो जाता है। यह

-चिन्ह फैलते रहते हैं, यहां तक कि समस्त शरीर के बाल श्वेत हो जाते हैं। अथर्ववेद में पढ़ा है—'...पलितं च यत्।' तात्पर्य यह है जिस रोग में त्वचा सहित रोम श्वेत हो जाएं। जितने स्थान की त्वचा श्वेत हो जायेगी उतने शरीर के रोम-केश भी श्वेत हो जाते हैं। यहां 'पलित' शब्द किलास का पर्यायवाची नहीं अपितु किलास स्थान में केश-पलित होना है। यह प्रत्यक्ष है किलास-श्वित्र में त्वचा का वर्ण श्वेत-सफेद हो जाता है और त्वचा के साथ ही उस स्थान के बाल-केश भी श्वेत हो जाते हैं।

दोषविकृति—

किलास में दोषत्रय की विकृति होती है। जैसा कि आचार्य वाग्भट तथा चरक ने कहा है :—

'.....त्रिदोषं प्रायशश्च तत्।' (च० चि० ७)

अर्थात्—किलास प्रायः त्रिदोष के कारण होता है।

'वाताद्रूक्षरुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत्।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु॥
—(वाग्भट)।

अर्थात्—वातज श्वित्र कृष्ण एवं कृष्णाभ रक्त, पित्तज श्वित्र ताम्रवत् वा कमलपंखुरी का लाल दाहयुक्त एवं रोम शातन्। कफज श्वित्र-श्वेत, घन-गुरु, कण्डूयुक्त होता है। अतः किलास में तीनों दोष विकृत होते हैं। आचार्य चरक ने 'प्रायः' शब्द लिखा है। वह इस लिए कि प्रारम्भ में किलास एक दोषज ही होता है।

धातु—

किलास रक्त, मांस एवं मेद इन तीनों ही धातुओं में होता है। यथा चरक में पढ़ा है :—

'दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांस समाश्रिते।
श्वेतं मेदाश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तम्॥
—(च० चि० ७)।

अर्थात्—(१) रक्त धातु में दोषों के आश्रित होने पर लाल, (२) मांस धातु में दोषों के आश्रित होने पर 'ताम्र' वर्ण का, (३) मेद धातु में श्वेत वर्ण का श्वित्र होता है।

मालुकी ने भी यही कहा है :—

'वारुणं तत्तु विज्ञेयं मांस धातु समाश्रयम्।
मेदाश्रितं भवेच्छ्वेतं दारुणं रक्त संश्रयम्॥'

और आचार्य वाग्भट ने भी त्रिधातुओं में माना है—त्रिधातूद्भव संश्रयम्।' (अ० हृ० नि० १४)।

रक्त, मांस एवं मेद धातुगत रहते हुए भी यह रोग त्वचा में ही वर्णों को उत्पन्न करता है।

आचार्य सुश्रुत ने किलास को केवल त्वग्गत ही माना है और विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति केवल दोषों से मानी है। यथा—'कुष्ठकिलायोरन्तरं त्वग्गतमेव।'

पर्याय—

(सं०)—किलास, श्वित्र, वारुण (वाग्भट); किलास, दारुण, वारुण, श्वित्र (चरक)।

(हिं०)—सफेद कोढ़, सफेद दाग। (पं०) फुलबहरी। (अ) बर्स। (अं०) ल्युकोडर्मा (Leucoderma)।

भेद एवं लक्षण

आचार्य भोज ने दो प्रकार का श्वित्र माना है। यथा :—

श्वित्रं तु द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा।
तत्र मिथ्योपचारादि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम्॥

तात्पर्य—श्वित्र दो प्रकार का होता है, एक दोषज तथा दूसरा व्रणज। व्रणज श्वित्र-मिथ्या उपचार आदि व्रणों के होने से और जब वह व्रण ठीक हो जाता है परन्तु वहां श्वेत चिन्ह बन जाता है, उसे ही व्रणज श्वित्र कहते हैं। अथवा अग्निदग्ध व्रण का चिन्ह श्वेत रह जाता है, तब उसे भी व्रणज श्वित्र कहा है।

दोषजं च द्विधा प्रोक्तमात्मजं परजं तथा।
पर संस्कार संस्पर्शाद्यत्तत्परजमुच्यते॥
तदात्मजं विजानीयाद्यद्देहेष्वनिलादिजम्।

अर्थात्—दोषज श्वित्र दो प्रकार का होता है, एक आत्मज तथा दूसरा परज। जो किसी दूसरे श्वित्र पीड़ित के सम्पर्क से होता है वह परज और जो अपने ही शरीर में श्वित्रोत्पादक कारणों से होता है—विकृत दोषों से होता है, वह आत्मज कहलाता है।

दोषानुसार भेद एवं लक्षण

१. वातजन्य किलास में—त्वचा रूक्ष तथा लाल वर्ण की होती है।

२. पैत्तिक किलास में—ताम्र के वर्ण के समान अथवा कमल के पत्र के रंग के समान, लाल, कृष्ण

मिश्रित।

३. श्लैष्मिक किलास में—त्वचा कण्डूयुक्त श्वेत वर्ण की घन तथा गुरु होती है।

(१) वातदोष के रक्ताश्रित होने से त्वचा लाल वर्ण की होती है।

(२) पित्तदोष के मांसाश्रित होने पर त्वचा ताम्र वर्ण की होती है।

(३) कफदोष के मेदाश्रित होने पर त्वचा श्वेत रंग होती है।

अनुभव—

सैंकड़ों श्वित्र रोगियों की चिकित्सा करने का अवसर मिला है, उन रुग्णों के शरीर पर जो नवीन चिन्ह देखने में आया, वह प्रायः लाल ही देखने में आया है। चिकित्सा न करने, कराने पर वही चिन्ह (दाग) कुछ दिनों में ताम्रवर्ण का हो गया है। फिर भी उस पर ध्यान नहीं गया, इलाज नहीं किया गया तो वही दाग श्वेत वर्ण का बन गया है। कुछ रोगी ऐसे भी मिले हैं, जिनका रुग्ण स्थान आरम्भ से ही श्वेत पाया गया है। शास्त्र का मत तो यही है कि रक्ताश्रित दोष वात के द्वारा लाल रहता है। कुपथ्य करने और उपचार न करने पर दोष विकृत हो जाने पर मांसस्थ हो जाता है और त्वचा का रंग ताम्र वर्ण का ही हो जाता है। यदि फिर चिकित्सा न की गई तो कफ दोष बिगड़ कर मेदोगत हो जाता है, जिस से त्वचा का रंग श्वेत हो जाता है। अतः ये तीन भेद एक ही रोग की तीन विभिन्न अवस्थाएं हैं। यह रोग त्वक्-मय हो। है। तीन धातुओं में रहता हुआ भी त्वचा में ही उन-उन वर्णों को उत्पन्न करता है।

निस्सदेह यह रोग कोई कष्ट नहीं देता परन्तु त्वचा के दूषित, विकृत होने से कुरूपता आ जाती है। मानव का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, जिससे लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखने लग जाते हैं। इसी कारण रोगी के मन में ग्लानि रहने लग जाती है। अतः यह घृणित रोग है। यह रोग संक्रामक नहीं है, इसलिए रोगी से घृणा करने की तो आवश्यकता ही नहीं है। हां, यह शरीर की कान्ति को नष्ट करने वाला अवश्य ही है।

साध्यासाध्य विचार

साध्य—जिस श्वित्र में रोम श्वेत न हुए हों, जो थोड़ा हो, एक दूसरे से चिन्ह-दाग न मिले हों, नवीन हो, आग से जलने से न हुआ हो, वह साध्य होता है।

आचार्य चरक कहते हैं—जिस श्वित्र में रोम रक्त वर्ण के न हुए हों, जो पतला—तनु हो, पाण्डु वर्ण का हो, अधिक पुराना न हो और जिस श्वित्र में मध्य भाग में कुछ शोथ हो, वह साध्य होता है।

असाध्य—जो श्वित्र-मण्डल आपस में मिल गये हों, समस्त शरीर ही श्वेत हो गया हो, और जिनके रोम—बाल भी श्वेत वर्ण के हो गये हों तथा कई वर्षों से उत्पन्न चिर-कालीन हों और अग्निदग्धव्रण से पैदा हों एवं गुदा, योनि, हाथ, तलवों, होंठ, अंगुलियों के पर्वों तथा अण्डकोष पर हों, तो असाध्य हैं।

गुदा, योनि, हाथ के तलुओं, होंठ, अंगुलियों के पर्वों और अण्डकोष पर यदि नये श्वित्र हों, तो वे साध्य हैं।

लाल रंग वाले की अपेक्षा ताम्र वर्ण वाला और ताम्र वर्ण वाले की अपेक्षा श्वेत रंग वाला किलास कृच्छ्र साध्य होता है।

अनुभव—

श्वेत दागों को चुटकी से पकड़ कर चर्म को ऊपर उठाइये, स्मरण रहे चुटकी में मांस न पकड़ा जाए। केवल त्वचा में सूई प्रविष्ट कर देखें—यदि विद्ध स्थान से रक्त निकले तो रोग साध्य है। यदि पीत लसीका निकले तो कष्टसाध्य है।

उपक्रम

यच्चोक्तं कुष्ठघ्नं श्वित्राणां सर्वमेव तच्छस्तम्।
तेशाञ्च प्रशामार्थं प्रयोक्तव्यं सर्वतो विशुद्धानाम्॥

श्वित्र में कुष्ठरोगोक्त क्रिया करनी चाहिए। प्रथमतः शोधन करके पीछे औषधियों का सेवन कराना चाहिए। संशोधन में वमन-विरेचन, आस्थापन, बस्ति-प्रयोग, शिरो-विरेचन, और रक्तमोक्षण कर्म करने चाहिए। यही मत आचार सुश्रुत का है :—

कुर्याच्चास्मिन् कुष्ठदिष्टं विधानम्।

चिकित्सानुभव

केवल औषधियों के भरोसे पर रुग्ण को नीरोग नहीं किया जा सकता है। पथ्य—पालन की नितान्त आवश्कता है। आज तक जितने भी रुग्णों की चिकित्सा की है

'लवण और मसाले' बन्द कराये हैं, विरुद्ध एवं निषिद्ध भोजन का परित्याग कराया है।

पथ्य—जौ, गेहूं, चने, पुराने चावल, मूंग, अरहर, परवल, लौकी, पालक, निम्बपत्र, सांठीपत्र, गोघृत, मधु, खदिरोदक पान-स्नान एवं ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है।

किलास की चिकित्सा में उपवास का अति महत्त्व है। जितना लम्बा अनशन किया जा सके करे। उपवास के दिनों में निम्बुरससह जल पर रहना चाहिए। उपवास के पश्चात् अपक्व शाक या अर्ध पक्वशाक यूष और फल रस दें। चने को खाओ साथ देगा।

किलास में पञ्चकर्म

१. स्नेहन—

सर्वप्रथम रोगी का स्नेहन करना चाहिए तदनन्तर स्वेदन कर्म करें। आचार्य चरक ने कहा है :—

'स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदनमनन्तरम्।'
—(च० सू० १३)।

स्नेहन विधि—रोगी को चार दिनों तक पञ्चतिक्त २५ ग्राम की मात्रा में वाकुची कषाय में मिलाकर पिलाते रहें। तदनन्तर तीन दिनों तक ५० ग्राम की मात्रा का प्रयोग करें।

इससे वातानुलोमन होगा, शरीर मृदु होगा, देह में मलों वा दोषों का संग, विबन्ध, रुकावट नष्ट हो जाता है। कहा है आचार्य चरक ने :—

स्नेहोऽनिलं हन्ति मृदू करोति देहं मलानां विनिहन्तिसंगम्।
—(च० सि० १)।

विशेष अनुभव—घृतपान के पश्चात् रोगी आधा घण्टा तक भ्रमण करे।

पथ्य में—पुराना चावल दुग्ध के साथ दें।

तृष्णा लगने पर—यवमण्ड (वार्लीवाटर) पिलावें।

२. स्वेदन—

कुष्ठ रोग में स्वेदन कर्म निषिद्ध है। क्योंकि कुष्ठ प्रधान रक्तदुष्टिजन्य रोग है। शास्त्रों में स्थानीय स्वेदन का उल्लेख है। मृदु स्वेदन का उपदेश अष्टांग संग्रह में वर्णित है। यथा—'मृदु वात्यधिके गदे।'

अनुभव—किलास में स्वेदन कर्म उपयुक्त है। क्योंकि यह रक्तदुष्टिजन्य रोग नहीं है। अतः यथाविधि स्वेदन कर्म भी आवश्यक है।

स्वेदनार्थ द्रव्य—निम्बपत्र, खदिर त्वक्, इन्द्रायन-फल, हरिद्रा, बाकुची, चित्रक, कनेरमूल, बेरीमूल त्वक्, अर्कपत्र एवं दशमूल की दश औषधियां १००-१०० ग्राम लेकर यवकुट कर १० लीटर जल में एक मृत्तिका पात्र में डाल, पात्र का मुख बन्द कर आंच पर रखें। जब वाष्प निकलने लगे तो रुग्ण को शय्या पर लिटा निर्वात स्थान पर २ घण्टे तक नियमित रूप से वाष्प दें।

यदि समस्त देह में स्वेदन नहीं करना है तो नाड़ी स्वेदन द्वारा स्थानीय स्वेदन करें।

एक अनुभव

एक रोगी को स्वेदन कर्म करा रहे थे कि वह मूर्छित हो गया। अगले दिन तो वह स्वेदन के नाम से ही कांप उठा। तब हमने "काकोदुम्बरिका, वांसा, बाकुची, चित्रक समान भाग ले, सूक्ष्म पीस ५०-५० ग्राम की पोटली बनायीं।" फिर एक तवे पर मीठा तैल डाल आंच पर रखा। उस गरम तैल में पोटली डुबा-डुबा कर सुहाता-सुहाता सेक किया। हाथ से शनैः-शनैः मर्दन भी करते रहे। इस प्रकार एक पंथ दो काज सिद्ध होते हैं। स्वेदन के साथ मर्दन एवं लेप का काम सिद्ध हो जाता है। चिन्ह स्थान पर फोले भी शीघ्र पड़ जाते हैं।

३. वमन कर्म—

स्नेहन, स्वेदन कर्म के पश्चात् वमन कर्म का स्थान है। जैसा कि सुश्रुताचार्य ने कहा है—

'अवान्तस्य हि सम्यग्विरिक्तस्याप्यधः स्रस्तःश्लेष्मा ग्रहणीमाच्छादयति गौरवमापादयति प्रवाहिकां वा जनयति। (सु. चि. ३३)।

तात्पर्य विरेचन भी स्नेहन, स्वेदन, किये और वमन कराये रोगी को देना चाहिए। स्वेदनकर्म पूर्ण होने के एक दिन पश्चात् प्रातःकाल वमन करायें।

एतदर्थ—मदनफल छिलके सहित ६० ग्राम लें, दो लीटर जल में उबालें। जल अर्धावशेष रहे, तब उसे उतार कर छान लें। पीछे इसमें मधु ६० ग्राम, पीपल चूर्ण ६ ग्राम मिलाकर, आतुर को थोड़ा-थोड़ा करके पिलावें।



एक घण्टे के पश्चात् रुग्ण को उत्क्लेश होगा, जी मिचलायेगा। यदि वमन न हो तो गले में अंगुली डालकर वमन करायें। जब वमन आरम्भ हो जाए तो पीत औषधि के साथ आमाशयस्थ आहार भी निकलता है। इससे खूब वमन होते हैं। जब पीत औषधि एवं आहार द्रव्य निकल जाते हैं, तो पीछे कुछ स्निग्ध पदार्थ निकलता है और अन्त में डकार आती हैं। यदि रोगी के उदर में जलन एवं शूल हो जाए तो उष्णोदक दें।

वमन के पश्चात पथ्य—सम्यक् वमन होने के पश्चात् आतुर को साबूदाना तथा दुग्ध, यूष, दलिया आदि दें। अत: शनै:-शनै: लघु आहार देकर अग्नि प्रज्वलित करें। कहा है—

पेया विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिद्विरथैकशश्च।
क्रमेण सेवेत विशुद्ध कायः प्रधान मध्यावर शुद्धि-शुद्धि;।

यही क्रम अपना कर तीन समय पेया, फिर तीन समय विलेपी, पुन: तीन समय यूप एवं सुपक्वौदन तत्पश्चात् सामान्य भोजन दिया जाए। भोजन मूंग, चावल की खिचड़ी, जौ का दलिया व सत्तू पिया जावे।

४. विरेचन कर्म—

वमन कर्म के एक सप्ताह पश्चात् तक किसी प्रकार की औषधि न देकर मूंग चावल की कृशता अथवा यव का दलिया, हरे शाक खूब दें।

तत्पश्चात् विरेचन के लिए पूर्वकर्म करें।

स्नेहनार्थ—पञ्चतिक्त घृत ५० ग्राम की मात्रा बाकुची कषाय में मिलाकर केवल प्रातः काल सात दिन तक प्रयोग करें। स्नेहन के पश्चात् विरेचन दें।

विरेचनार्थ द्रव्य—त्रिवृत चूर्ण को सेंहुंड दुग्ध की भावना दें ३ ग्राम की मात्रा में उष्णोदक से प्रातः काल दें। पांच छः घंटे पश्चात् दस्त आने आरम्भ होंगे। दस्त खूब होंगे। अधिक दस्त आने से पेट में दर्द सा होने लगता है। ऐसी अवस्था में कोई भी पाचक औषधि दे दें।

विरेचन के पश्चात् रोगी को यूप दें। दूसरे दिन खिचड़ी दें।

विरेचन के पश्चात् विश्राम करने दें, ताकि निर्बलता दूर हो जाए। तत्पश्चात् पुराना गुड़ १० ग्राम की मात्रा में वनोदुम्बरमूलत्वक् १०० ग्राम के क्वाथ में मिलाकर केवल एक बार प्रातः काल तीन दिन तक पिलावें। प्रति दिन यथाशक्ति धूप में बैठें। तृषा लगने पर यवमण्ड (वार्ली वाटर) पिलावें। भोजन में मूंग की खिचड़ी दें।

यदि किलास पर फफोले (स्फोट) पड़ जाएं तो सूचिका से विद्ध करके द्रव भाग निकाल दें।

स्नानार्थ जल—खैरसार को १०० गुने पानी में उबालें। जब आधा जल शेष रहे उतारकर छानकर उससे स्नान करें। यह खदिरोदक है।

विशेष मन्तव्य—यवमण्ड खदिरोदक से ही तैयार करें। पीने व भोजन बनाने एवं स्नान के लिए खदिरोदक का ही उपयोग करें।

स्वानुभूत चरकोक्त उपचार

१—स्नेहन के पश्चात् (स्नेहन, स्वेदन, वमन एवं विरेचन के पश्चात्) कठगूलर का रस (अथवा क्वाथ १०० ग्राम कठगूलरमूलत्वक् को १६ गुने जल में चतुर्थांश क्वाथ कर) १० ग्राम पुराना गुड़ मिलाकर केवल एक बार प्रातः काल पिलावें और रोगी को जितनी देर धूप सहन हो सके उतनी देर बिठावें। ऐसा तीन दिन तक करें। धूप में बैठने से प्यास लगे तो खदिरोदक पिलावें।

तीन दिन के पश्चात्—

२—कठगूलर मूलत्वक्, असन (विजयसार) प्रियंगु और सौंफ प्रत्येक समान भाग लेकर यथाविधि क्वाथ बनाकर केवल एक बार प्रातः काल १५ दिन तक पिलावें।

नवीन किलास इससे भी ठीक हो जाता है।

विशेष मन्तव्य—चाहे किसी भी धर्म को मानने वाला हो, ईश्वर पर विश्वास करे, गुरुमन्त्र का जप करे।

चिकित्सा व्यवस्था

१. प्रातः काल—श्वित्रारि रसायन १ गोली। अनुपान—चरकोक्त संख्या २ क्वाथ।

२. सायंकाल—काशीसबद्ध रस (र०र०स०) २५० मिलीग्राम, गोमूत्र में शुद्ध बावची चूर्ण १ ग्राम, मधु उत्तम ६ ग्राम, शोधित गन्धक आमलासार १२५ मि. ग्राम, कठगूलर मूलत्वक् चूर्ण २५० मि. ग्राम।

सबको मिलाकर एक मात्रा बना लें। इसको खाकर ऊपर श्वित्रारि तक्र पीवे।

३. रात्रि को सोते समय—आरोग्यवर्धिनी रस दो

...दी उष्णोदक से लें ।

४. भोजनोपरान्त—दोनों समय खदिरारिष्ट समभाग उष्णोदक मिलाकर पिलावें ।

५. आलेप—श्वित्रनाशक लेप (र०स०म०) लगावें, दिन में दो बार ।

मैं शपथ पूर्वक लिखता हूं, 'यह चिकित्सा व्यवस्था श्वित्र को निश्चयपूर्वक नष्ट कर देती है।' स्मरण रहे—ईश्वर प्रार्थना उपासना तथा स्तुति को न भूल जाएं।

ॐ विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव ।

श्वित्रारि रसायन

द्रव्य तथा निर्माण विधि—

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, शुद्ध हरताल बकिया, शुद्ध श्वेतमल्ल, अश्वत्थान्तरत्वक् १०-१० ग्राम, ले खरल करें। जब सब द्रव्य एकजीव हो जाएं, तो दो दिन अर्कक्षीर में खरल कर गोलियां बना लें

फिर बलवान, अतिपुष्ट, युवा, कालेनाग को पकड़कर उसके मुंह में मधू (हुक्के की चिलम में तम्बाकू के धूएं का जमा हुआ काला मैल) बेर प्रमाण डाल दें। इससे नाग मूच्छित हो जायेगा। अथवा क्लोरोफार्म सुंघा दें, फिर उसके उदर में मुख द्वारा उक्त गोलियां भर दें। मुंह को धागे से बांध कर बन्द कर दें। अब इतना बड़ा मिट्टी का पात्र लें जिसमें ४० लीटर जल आजाए। इस घड़े के भीतर गुड़ एवं चूने को मिलाकर, एकजीव कर लेप करें। सूखने पर बच्छनाग चूर्ण, बावची, भल्लातक एवं इन्द्रयव प्रत्येक १० ग्राम चूर्ण मिलाकर बिछावें। फिर इस चूर्ण के ऊपर नाग को चक्री सदृश बनाकर रख दें फिर एक क्विंटल उपलों में फूंक दें। स्वांगशीतल होने पर निकाल कर सर्प भस्म को खरल कर लें।

उक्त भस्म १२५ मिलीग्राम, गोमूत्र में शोधित बावची चूर्ण ८ ग्राम, पंवाड़ के बीज ४ ग्राम, अंजीर मूलत्वक् चूर्ण ४ ग्राम।

इन सबको कूट पीसकर एक जीव कर लें। फिर लगातार ३ मास तक छः घंटे प्रति दिन वनोदुम्बर मूल त्वक् के क्वाथ में मर्दन करें।

मात्रा—उक्त दो मात्राएं हैं। अनुपान-श्वित्रारि तक्र।

यह गारन्टी का योग है। एक मास में किलास के किला को नष्ट कर देता है।

श्वित्रारि तक्र

भल्लातक तैल में शोधित गन्धक आंवलासार ३ ग्रा., वनोदुम्बर मूलत्वक् १० ग्राम, पवाड़ के बीज ४ ग्राम, चालीस दिन गोमूत्र में शोधित बावची चूर्ण ४ ग्राम महा· बूटी ४ ग्राम, गो दुग्ध आधा लीटर लें।

पांचों द्रव्यों को कूटकर गोदुग्ध में उबाल कर रात्रि को जामन लगाकर जमा दें। प्रातः काल बिलोकर नवनीत निकाल लें।

विशेष मन्तव्य—गाय काली हो अथवा गोरी, श्वेत-रंग की गाय न हो। ऐसी गाय भी न हो, जिसके दूध में घी ही न निकलता हो।

श्वित्रनाशक लेप (वर्ति)

हरताल १ भाग, तुत्थ १ भाग, कसीस १ भाग, चमेली के पत्ते ४ भाग, अर्क पुष्प १ भाग, अर्कपत्र नवीन १ भाग, आरग्वध वृक्ष त्वक् १ भाग, बाकुची ४ भाग, तुवरक बीज, हरिद्रा चूर्ण ४ भाग, करवीरमूल ४ भाग, चित्रक ४ भाग, करंजबीज १ भाग। सबको एकत्र कूट पीसकर चूर्ण करें। फिर नागार्जुनी, मदयन्तिका, करंज-पत्र स्वरस से दो-दो दिन मर्दन कर वर्तियां बना लें। गो मूत्र या मदयन्ति के स्वरस में घिसकर दिन में दो बार लगावें।

इस चिकित्सा पद्धति के सम्मुख किसी भी पद्धति के विद्वान् वैद्य का चैलेंज स्वीकार करता हूं। निश्चयपूर्वक रोग समूल नष्ट होगा! ★





सफेद दाग

चिकित्सा और मेरा अनुभव—

मेरा इस रोग में प्रकृत्यानुसार जो चिकित्सा प्रयोग तथा अनेक बार का अनुभव है वह प्रयोग मैं यहां प्रस्तुत करता हूं। रोगी बालक अवस्था दस-बारह वर्ष के अन्दर, प्रथमतः बांये गाल पर नहीं दीखने वाला पैसा बराबर भूरा रंग दिखाई दिया। किसी को स्वप्न में भी इस रोग की शंका नहीं हुई। जरा खुजलाहट होती थी, कुछ भी ख्याल नहीं किया गया ३-४ मास के बाद दाग थोड़ा सफेद सा हुआ। सब चौंक पड़े घबराए, कुछ चिन्तित हुए और अनेक इलाज करने शुरू किये।

अनेक असफलता के बाद सफलता मिली, हमने निम्न दो प्रयोगों का प्रयोग किया।

प्रयोग नं० १—बायविडंग, हल्दी, पीपल, सौंठ, चित्रक, सनाय मक्की, जटामांसी, मंजिष्ठा ५-५ तोला लेकर चूर्ण बनालें, इसमें निम्नलिखित औषधियां मिलादें। बावची २ छटांक, तरोटा १ छटांक (तरोटा यह वनस्पति पानी गिरने के बाद खूब उत्पन्न होती है। इसके कोमल पत्ते की तरकारी (शाक) बनाकर भी खाते हैं। वातहारक तथा रक्तशुद्धिकर गुण इसमें है। इसको प्रमुन्नाट (चक्रमर्द प्रपुन्नाट दद्रुघ्नः मेषलोचनः निघण्टु में आया है) टांकणा तेमरसी ई० नाम से पहचानते हैं। जंगली झरबेरी की जड़ २ छ०, अंजीर की जड़ १ छ०, कड़वे नींब का पंचाग १ छ०, सरपुंखा (उन्हाली) १ छ०, चाकसू ½ छ०, ताजे गौमूत्र में खूब पके हरड़ २ छ०, त्रिफला १ छ०, गोरखमुण्डी ½ छ०, गोखरू २।। तो०, तुलसी पत्ते या जड़ २।। तो०—इन सब को बारीक चूर्ण कर उपर्युक्त दवा में मिला दें। फिर उसमें लौह अथवा नवायस भस्म ½ तो०, हरताल भस्म १ तो०, रस माणिक्य रस १ तो०, इसमें मिश्रिण करदें।
सेवनविधि—सुबह शाम छोटा चम्मच भर मधु से सेवन करें। काले तिल सेवन करें।

बाह्य त्वचा पर लेप—बावची ५ तो० (यह प्रधान औषधि है), चित्रक की जड़ २।। तो०, (चमड़ी का रंग बदलने में प्रसिद्ध है), तरोटा बीज २ तो०, चाकसू १ तो०, जंगली झरबेरी की जड़ २ तो०, सफेद गोकर्णी की जड़ २ तो०, गुमचि (गुंजा) २ माशे, हीराबोल ½ मा०, काला बोल ½ मा०, खैर की छाल २ तो०, सनाय २ तो०, बायविडंग २ तो०, जाई के साग की जड़ २।। तो०, निम्बपंचाग २।। तो०, त्रिफला २।। तो०, मुरदासन २।। तो०, पत्रीहरताल गौमूत्र में सुधी हुई ५ तो०, हल्दी ३ तो०, निम्बतैल २।। तो०, चालमोंगरा २।। तो०, सत्यानासी की जड़ २।। तो०, यह सर्व बारीक पीसकर, छानकर रखें। इसमें कड्डू इन्द्रायन २-३ लेकर उसमें आमिया हल्दी की उल्लीया खुपस से दें और उष्ण भूमि में वहां गाड़कर रखें। चालीस दिन के बाद बाहर निकालकर साफ करके उपर्युक्त दवा के मिश्रण में महीन पीसकर मिला दें। फिर याकुद्र (गोंद) ५ तोले मिलाकर उसमें गौमूत्र डालकर गोलियां Tablates बनाकर रखें। अथवा सुखाकर पाउडर के रूप में ही सुरक्षित रखें।

नोट—इन दोनों ही औषधियों का प्रयोग करना आवश्यक है।

लेप लगाने की विधि—रोजाना २-३ बार गौमूत्र में अथवा जामुन के सिरके में लेप लगावें।
परहेज (पथ्य)—दही, उड़द, मछली, सफेद तिल सेवन न करें और ऊपर निवेदनानुसार दवा सेवन करें।

—वैद्य प्र० रा० सराफ, एकनाथ नगर कालौनी,
जि० औरंगाबाद, (महाराष्ट्र)।

सुधानिधि



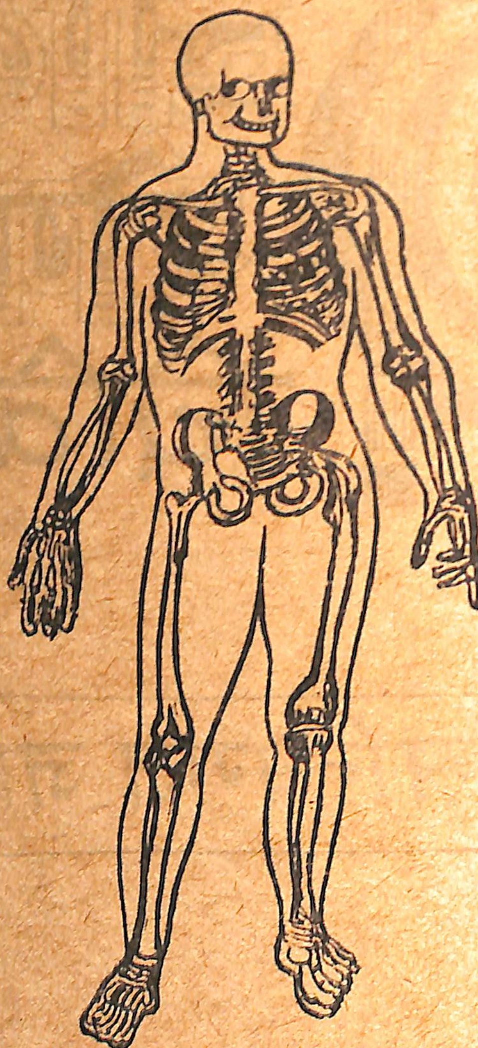
जटिल रोग चिकित्सांक

आस्थिसन्धिगत जटिल रोग

इस खण्ड में



निम्नांकित लेखकों के लेखों का समावेश किया जा रहा है :—



आमवात तथा उसकी चिकित्सा

संकलनकर्त्ता—आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, त्रिवेदीनगर, हाथरस

[illegible] का नाम तथा परिभाषा—

[illegible]ठरानलदौर्बल्याद अविपक्वस्तु यो रसः ।
[illegible] आमसंज्ञको देहे सर्वरोग प्रकोपकः ॥

[illegible]त्रिभिर्दोषैरतिशयित दूषितोऽन्नरसः स्रोतांसि लिम्पति, [illegible] मन्दत्वं जनयति हृदये गौरवं भवति तस्य स्थानत्वात् [illegible] रोगाणां अयं कारणीभूतः आमसंज्ञकः ।

—आतङ्कदर्पणकार

[illegible]ठराग्नि के दुर्बल होने से खाया हुआ अन्न जब [illegible] तरह नहीं पचता है तो उससे जो कच्चा रस बनता [illegible] "आम" कहा जाता है। यह आमरस स्रोतों का [illegible] करता है, अग्नि को और मन्द करता है और [illegible] रस का स्था[illegible] हृदय है तथा हृदय में जब यह आम-[illegible] पहुंचता है तो वहां भी बहुत खराबी पैदा कर देता [illegible] हृदयगौरवादि लक्षण प्रगट होते है, हृदय से वायुना [illegible] ह्यामः श्लेष्मस्थानं प्रधावति-वायु द्वारा संवहित होकर [illegible] आमरस कफस्थानों में दौड़ जाता है तथा धमनियों में [illegible] होता रहता है। इस आमरस को मन्दाग्नि के [illegible] कुपित वात-पित्त-कफ और भी दूषित कर देते हैं। [illegible]पित्तकफैर्भूयो दूषितःसोऽन्नजोरसः, स्रोतो का अभिष्य-[illegible] कर देता है—

युगपत्कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ ।
स्तब्धं च कुरुतो गात्रं आमवातः स उच्यते ॥

और फिर एक साथ प्रकुपित ये दोष इस आमसंज्ञक [illegible]रस के साथ त्रिकस्थान और संधियों दोनों में प्रवेश कर शरीर को स्तब्ध कर देता है।

चरक से इतर विद्वानों ने जिस आमवात का इतना वर्णन किया है वह सारा का सारा चरकसंहिता के विमान स्थान के त्रिविधकुक्षीय नाम दूसरे अध्याय से ही अनुप्राणित है जिसमें कहा गया है कि अपनी कुक्षि को मात्रानुसार आहार से भरना चाहिए। एक अंश वात-पित्त-कफ के लिए दूसरा अंश मूर्त्त (ठोस) आहारादिकों के लिए तथा तीसरा अंश द्रवपदार्थों के लिए रखना चाहिए। जो मात्रा से कम आहार करते हैं उनका बल, वर्ण, उपचय (पुष्टि) क्षीण हो जाते हैं। उदावर्त, अवृष्यता, अनायुष्यं, अनौजसत्व को बढ़ावा मिलता है। शरीर-मन-बुद्धि और इन्द्रियों का उपघात हो जाता है और अस्सी प्रकार की वातव्याधियों में से कोई भी उत्पन्न हो जाती है।

अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपणमिच्छन्ति सर्वकुशलाः-मात्रा से अधिक आहार का भक्षण करने से सब दोषों का प्रकोप होना सम्भव होता है। चरक लिखता है—

यो हि मूर्तानामाहारविकाराणां सौहित्यं गत्वा पश्चाद्द्रवैस्तृप्तिमापद्यते भूयः—जो व्यक्ति ठोस पदार्थों को ठूंस-ठूंस कर तृप्ति पर्यन्त खाकर ऊपर से द्रवपदार्थ भी खूब पी लेता है—

तस्य आमाशयगताः वातपित्तश्लेष्माणः अभ्यवहारेण अतिमात्रेण अतिप्रमीड्यमानाः सर्वे युगपत्प्रकोपमापद्यन्ते।

उसके आमाशय में प्राप्त तीनों दोष अतिमात्र भोजन के द्वारा प्रपीडित होने से एक साथ प्रकोप को प्राप्त हो जाते हैं—

ते प्रकुपितास्तमेवाहारराशिमपरिणतमाविश्य कुक्ष्येकदेशमन्नाश्रिताविष्टम्भयन्तः सहसावाऽप्युत्तराधराभ्यांमार्गाभ्यां प्रच्यावन्तः पृथक् पृथक् विकारान् अभिनिर्वर्तयन्ति अतिमात्रभोक्तुः। वे प्रकुपित हुए तीनों दोष बिना पची आहार राशि में पहुंचकर कुक्षि के एक क्षेत्र में अन्नाश्रित होकर विष्टम्भ पैदा कर देते हैं तथा सहसा ऊर्ध्व अधोमार्गों से निकलकर अलग-अलग रोगों को उत्पन्न करते हैं। वात

के प्रकोप के कारण–शूल, आनाह (Acute abdomen) अङ्गमर्द, मुखशोष, मूर्च्छा (Syncope), भ्रम (Vertigo) अग्निवैषम्य, सिरासंकोच, स्तम्भ, पित्त के प्रकोप के कारण ज्वर, अतीसार, अन्तर्दाह, तृष्णा, मद, भ्रम, प्रलाप तथा कफ के प्रकोप के कारण वमन (Vomiting), अरोचक, अविपाक, शीतज्वर (Fever with rigor), आलस्य, गात्रगौरव, उत्पन्न कर देते हैं।

यहां यह स्मरणीय है कि इतर निदानज्ञों की भांति चरक जाठराग्नि के दौर्बल्य को महत्त्व नहीं देता अपि तु अतिमात्र भोजन को महत्वपूर्ण मानता है क्योंकि वह सूत्रस्थान के पांचवें अध्याय में "मात्राशी: स्यात्" का उपदेश कर चुका है और बतला चुका है कि आहारमात्रा पुन: अग्निबलापेक्षिणी। यावद् हि अस्य अशनं अशितं अनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति ॥

उसने आमदोष की उत्पत्ति में अतिमात्र भोजन के महत्व को अङ्गीकार करके कोष्ठ के भोजन पचाने की शक्ति की सीमा की ओर ध्यान दिलाया है। जब व्यक्ति अपनी निश्चित सीमा का अतिक्रमण करता है तो उसे विकारोत्पत्ति होती है। यदि किसी की अग्नि दुर्बल है और तब वह सामान्य मात्रा में ही भोजन करता है तो भी वह एक सीमातिक्रमण करके आमदोषात्पादक हो जाता है, इसी को इतर गवेषकों ने विविध वाक्यों में स्पष्ट किया है—

i. ऊष्मणोऽल्पस्य बलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥

ii. आमाशयस्थ: कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचित:।
आद्य आहारधातुर्य: स आम इति कीर्तित: ॥

iii. अविपक्वं असंयुक्तं दुर्गन्धिं बहु पिच्छिलम्।
सदनं सर्वगात्राणां आम इत्यभिधीयते ॥

iv. आहारस्य रस: शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्।
स मूलं सर्वरोगाणां आम इत्यभिधीयते ॥

चरक ने अतिमात्र अन्न सेवन के अतिरिक्त आमदोषोत्पत्ति में—

(१) भोजन के गुण तथा (२) मानसिक उद्वेगों को भी इन शब्दों की महत्ता दी है—

न खलु केवलं अतिमात्रं एव आहार राशि आम प्रदोषकरं इच्छन्ति, अपि तु खलु गुरुरूक्षशीतशुष्कद्विष्टविष्टम्भि विदाह्यशुचिविरुद्धानां अकाले च अन्नपानां सेवनम्।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, स्त्री, शोक, मान, उद्वेग, भयोपतप्तेन मनसा वा यद् अन्नपानं उपयुज्यते, तद् अपि आममेव प्रदूषयति ॥

जिसका सारांश उसने यह दिया है कि मात्रा में ही सेवन किया गया, पथ्यकारक भोजन भी चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दु:खशैया, प्रजागरण के कारण नहीं पचता और आमदोष उत्पन्न करता है।

फिर उसके बाद चरक ने आमविष के प्रभाव से उत्पन्न विसूचिका और अलसक इन दो व्याधियों का वर्णन करके और उनकी चिकित्सा देकर छोड़ दिया है। इतर विद्वानों ने अन्न के अविपाक से उत्पन्न आमरस को श्लेष्म स्थानों तथा हृदय में जाने की ओर वहां गौरवोत्पत्ति की बात की है। रक्तवाहिनियों द्वारा उसके संवहन को बतला कर स्रोतों का अभिष्यन्दन करने तथा संधियों में रोगोत्पत्ति को भी समझाया है।

इस आम को हृदय, धमनियों और स्रोतों तथा अस्थि-सन्धियों और त्रिक तक ले जाने का काम वायु करता है

रोगोत्पत्ति में कारण—

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि विरुद्ध आहार, विरुद्ध विहार यदि ऐसा आदमी सेवन करता है जिसकी अग्नि मन्द है या जो ठीक पाचक अग्नि होने पर भी अतिमात्रा में भोजन करता है और निश्चय बिना हिले डुले पड़ा रहता है अथवा बहुत अधिक मात्रा में स्निग्ध या अधिक घी, तेल युक्त पदार्थों वाले भोजन को करते ही व्यायाम करने लगता है तो भी खाना ठीक से न पच सकने के कारण आमदोष बन जाता है। यह अन्नजरस ही आमरूप में हो जाता है। वात-पित्त-कफ प्रकुपित होकर अपनी भूमिका रोगोत्पत्ति में और भी दृढ़ता से प्रस्तुत करते हैं। हृदय, धमनी, स्रोतस्, अस्थिसन्धियां सभी इन दोषों के प्रकोप तथा आमदोष की उपस्थिति से अभिभूत और विकृत हो जाते हैं।

रोग लक्षण—

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा ह्यालस्यं गौरवं ज्वर:।
अपाक: शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ॥

ये इसके सामान्य लक्षण हैं जो आमदोष के सारे

फैल जाने के कारण बनते हैं। इनमें अधिकांश
सार्वदैहिक हैं; जैसे—ज्वर, अङ्गमर्द (सारे शरीर
[illegible] होना), आलस्य, गौरव तथा आमाशयगत अरुचि
[illegible] लक्षण मिलते हैं। अङ्गों का सूजना किन्तु
[illegible] का न होना यह विशेष लक्षण आमदोष के
[illegible] होने का प्रमाण है।

[illegible] स्थान संश्रय का और भी स्थानों पर प्रभाव
[illegible] जिसकी सूची माधवकर ने—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७
[illegible] पाद शिरो गुल्फ त्रिक जानूरुसन्धिषु करोति
[illegible]

[illegible] में दी है। इन सातों सन्धियों में शोथ के साथ
[illegible] होती है उसे बिच्छू के काटने से उत्पन्न होने
[illegible] के समान बतलाया है—

[illegible] देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः।

[illegible] स्थानों पर पित्त के कारण दाह और लालिमा
[illegible] है वात शूलोत्पत्ति करता है तथा कफ के कारण
[illegible] गौरव और खुजली उत्पन्न होती है।

[illegible] में कोष्ठ सम्बन्धी निम्नलिखित लक्षण
[illegible] हैं—

[illegible]दौर्बल्य (Loss of digestive power)
[illegible] (Catarrh)
[illegible]रोचक (Anorexia)
[illegible] (Distaste)
[illegible] में काठिन्य (Rigidity of abdomen)
[illegible]शूल (Pain in the abdomen)
[illegible] (Excessive thirst)
[illegible] (Burning sensation)
[illegible]विबद्धता (Constipation)
[illegible]कूजन (Gurgling sounds in abdomen)
[illegible]नाह (Acute abdominal condition)

[illegible] मस्तिष्कजन्य होते हैं—
[illegible]विपर्ययम्, भ्रम, मूर्च्छा।

[illegible] सम्बन्धी लक्षणों में हृद्ग्रह, हृद्गौरव, और
[illegible] मिलते हैं।

[illegible] सम्बन्धी या चयापचय सम्बन्धी लक्षणों में बहु-
मूत्रता उल्लेखनीय है।

हृदय के लक्षण, ज्वर और सन्धिशूल देखकर इसे Rheumatic fever रियुमेटिक फीवर के अन्तर्गत बतलाया जाता है। इसे आमवातज ज्वर भी कहा जाता है। इस रोग का प्रधान कारण हीमोलाइटिक स्ट्रेप्टोकोकाय को माना जाता है। अर्वाचीन गवेषक प्राचीनों के आम सिद्धान्त की ओर ध्यान ही नहीं देते। अब कुछ फिजियोलोजिस्ट यह स्वीकार करने लगे हैं कि पोर्टलवेन में जिसमें ०५ने के बाद अन्न का रस बहकर यकृत् तक जाता है अनेक अपाचित कण भी प्रवेश कर जाते हैं। यदि किसी कुत्ते को कच्चे आटे के रस का इन्जेक्शन पेशी या किसी स्थान पर कर दिया जाय या सिरा में पहुँचा दिया जावे तो उसे ज्वर हो जाता है लंगड़ा कर चलने लगता है और मर तक जाता है।

आमवातज ज्वर गले में खराबी के १० से २१ दिन के अन्दर उत्पन्न होता है। यह अक्सर बच्चों का रोग है जो ४ से ६ वर्ष के बालकों में अक्सर मिलता है। वैसे यह ३० वर्ष की आयु तक होता है। ज्वर शीतपूर्वी होता है और जोड़ या जोड़ों में दर्द होता है। उदर शूल और हाथ पैरों में वेग (Vague) पेन्स या अंगमर्द, त्वचा पर पिडिकोत्पत्ति, ग्लानि होती है आगे चलकर जिह्वा मलावृत हो जाती है, क्षुधानाश, और कब्ज भी मिलती है। इस रोग में ज्वर १०२° फैं. (३९° सें.) से ऊपर नहीं जाता। सन्धिशूल या जोड़ों में दर्द इस रोग का दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण है। सन्धियों में शूल, लालिमा, और सूजन मिलती है। जानु, गुल्फ, मणिबन्ध और स्कन्ध की सन्धियों में कहीं भी शोथ और शूल उत्पन्न हो जाता है। बच्चों में छोटी सन्धियां भी प्रभावित पाई जा सकती हैं। सन्धियां सूज भी जाती हैं। उनमें द्रव अविल (गंदला) मिलता है द्रव में न्यूट्रोफिल मिलते हैं।

कुछ में हृदय के पर्यावरण में सूजन पाई जाती है। उसमें शूल भी मिलता है और द्रव भी भर सकता है। हृदय में दर्द और श्वासकृच्छ्रता भी मिलती है। उसका कारण नलियों की क्रिया की घात होता है। हृत्पेशी में भी शोथ हो सकता है। ६०-६५ प्रतिशत रुग्णों में हृत्कपाट रोगग्रस्त हो जाते हैं।

आम वातज ज्वर फुफ्फुसों में श्वसनक पैदा करता है। प्लूरिसी भी कर सकता है।

इस रोग में ज्वर के अनुपात से कहीं अधिक प्रस्वेद आता है। उसके साथ सूक्ष्म पिडिकाएं या रोश उत्पन्न हो सकता है। २० प्रतिशत बालकों को कोरिया (Chorea) नामक वातिक कम्परोग भी देखा जाता है।

इस रोग में रक्तक्षय मिलता है रक्त के श्वेत कणों की वृद्धि पाई जाती है। ई. एस. आर. काफी बढ़ जाता है।

साध्यासाध्यता की दृष्टि से माधवनिदान का निम्न श्लोक स्मरणीय है—

एक दोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते।
सर्वदेहचरः शोथः स कृच्छ्रः सान्निपातिकः॥

विशेषकर हृद्रोग और हृत्कपाट रोगग्रस्त बालक की रक्षा करना कठिन होता है।

इस रोग की उत्पत्ति में ए ट्रीटाइज ऑन ट्रापीकल थिराप्युटिक्स के लेखकों ने कई कारणों की संभवनीयता पर प्रकाश डाला है जो इस प्रकार हैं—

१. यह शीत कटिबन्ध का रोग है न कि उष्ण कटिबन्ध का।

२. यह एक बाल रोग है जिसमें लड़कों की अपेक्षा लड़कियां अधिक प्रभावित होती हैं।

३. इसका सम्बन्ध रोगी की पैतृक परम्परा से भी रहता है। तथा यह वातावरण द्वारा प्रदत्त रोग है गीली ठण्डी जगह में रहने वाले निर्धन बच्चे ही इसके शिकार होते हैं।

४. रोगी के शरीर में रासायनिक पदार्थ—लैक्टिक-अम्ल तथा यूरिकाम्ल के संचय से रोग होता है।

५. रोगी के रक्त में एक डिप्लोकोकस पाया जाता है जो रोग उत्पन्न करने में मुख्य कारण है।

६. बहुत खोज के बाद इस रोग की उत्पत्ति में न तो विषमयता ही कारण पाई गई है और न कोई रोग-कारक जीवाणु अपि तु यह एक वाइरसजन्य व्याधि है वाइरस के कारण उत्पन्न अलर्जी के लक्षण ही आम-वात हैं।

स्ट्रेप्टोकोकस हीमोलाइटीकस को रोगोत्पादक मुख्य कारण अनेक मानते हैं यह पहले ही बताया जा चुका है जब कि आयुर्वेद इसे शुद्ध निज विकार मानता है और इसकी उत्पत्ति जाठराग्नि की दुर्बलता या मात्रा से अधिक भोजन करने वाले के भोजन के पूर्णतया जीर्ण न हो सकने के कारण उत्पन्न आम अन्नरस के स्थान-स्थान पर संश्रय कर जाने से मानता है।

रोग के आरम्भ में रोगी को मलेरिया की तरह कम्प आता है फिर ज्वर हो जाता है। ज्वर काल में खूब पसीना आता है। ज्वर कई-कई दिन तक चढ़ा रहता है कभी उतर-उतर कर चढ़ता है। पसीने में खट्टी बू आती है जो आयुर्वेद की आमगन्ध ही है। मूत्र कम उतरता है गाढ़े रंग का होता है और उसमें अल्बुमिन भी सूक्ष्मांश में पाई जाती है। रोगी की पेशियों और अस्थियों में इतस्ततः दर्द का आभास होता है। यह दर्द ठण्ड से बढ़ता है और व्यायाम से और भी तेज हो जाता है। पर सेकने और धूप में बैठने से इसमें आराम मिलता है। घुटने तथा टखनों के जोड़ों में दर्द अधिक पाया जाता है। जोड़ सूज जाते हैं और लाल हो जाते हैं। हृदय पर आघात होने पर पहला लक्षण नाड़ी की गति का तेज होना होता है। हृत्-शब्द प्राकृत नहीं रहते। हृदग्र पर प्रथम हृत्शब्द हलका और सिस्टोलिक मर्मरध्वनि से युक्त पाया जाता है। दूसरा हृच्छब्द हृदयाधार पर कुछ तेज पाया जाता है। हृदय का विस्फारण (डायलेटेशन) हो जाता है। गले की खराश और रक्त के श्वेतकणों की वृद्धि इस रोग को आरम्भ से ही मिलने लगती है। रक्तक्षय भी पाया जाता है।

रोग की चिकित्सा के सिद्धान्त

चरक ने इस विषय में निम्नांकित उपदेश दिया है—

आमदोषजानां पुनर्विकाराणां अपतर्पणेन एव उपशमो भवति, आमदोषज व्याधियों में अपतर्पण से ही शान्ति मिलती है सति तु अनुबन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निग्रहे निमित्त विपरीतं अपास्यं औषधं आतङ्क विपरीतं एव अवचारयेत् यथा स्वम्—अपतर्पण करने के बाद और आम के निर्हरण के बाद यदि रोग के लक्षण रह जायें तो उन लक्षणों या रोगों की शान्ति के लिए रोगविरुद्ध औषधि योगों का उपयोग करना चाहिए। क्योंकि सामान्य नियम यह है—

सर्वविकाराणामपि च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतं औषधं
[illegible] प्रुमता: तदर्थकारि वा ।

अर्थात् सभी विकारों का निग्रह करने में हेतु विपरीत, [illegible] विपरीत, औषधि हेतु व्याधि उभय विपरीत, हेतु [illegible]तार्थकारी, व्याधि विपरीतार्थकारी अथवा हेतु व्याधि [illegible]तार्थकारी औषधि का प्रयोग बुद्धिमान् चिकित्सक [illegible] करते हैं ।

उक्त चरकीय व्यवस्था के आधार पर ही आमवात चिकित्सा की व्यवस्था की जानी चाहिए । भैषज्य [illegible]वलीकार ने इस विषय में निम्नांकित सिद्धान्त सूत्र दिया है—

लंघनं स्वेदनं तिक्तं दीपनानि कटूनि च ।
विरेचनं स्नेहपानं बस्तयश्चाममारुते ॥

लंघन, स्वेदन, तिक्त और कटुरस प्रधान दीपनीय [illegible], विरेचनकर्म, स्नेहपान और बस्तियों का प्रयोग आम[illegible] में उचित माना जाता है ।

रोगी की तत्काल करणीय व्यवस्था

इस विषय पर भैषज्य रत्नावलीकार श्री गोविन्दपाद स्वामी ने जो व्यवस्था दी है वह इस प्रकार है—

१. आमवात से पीड़ित रोगी की पिपासा शान्त करने के लिए सर्वप्रथम पंचकोल (चव्य चित्रक, शुण्ठी, पिप्पली, पिप्पलीमूल), के साथ उबाला हुआ पानी पिलाते रहना चाहिए । केवल गरम जल भी लाभप्रद होता है ।

२. जिस जोड़ में दर्द हो उस पर बालुका की पोटली का सेक करना चाहिए ।

३. उसे तिक्तरस प्रधान करेला, परवल का शाक या पुनर्नवा गोखरू, बथुआ, निम्बपत्र, वरुण के पत्तों का या कांजी के साथ बनाए बेंगन, जौ का दलिया, पुराने शालि या साठी के चावलों का भात खाने को देना चाहिए ।

४. गोमूत्र, अदरक, भिलावाशुद्ध, अर्कपत्र, तक्र, एरंडतैल, लहसुन, जंगली जीवों के मांस रस इनमें जिनकी रुचि या आवश्यकता हो दिये जा सकते हैं ।

५. दही, मछली, गुड़, दूध, पोई, उड़द की पीठी के बने पदार्थ, दूषित जल, आनूपदेशज जीवों के मांस सदा हानिकर होने से वर्ण्य हैं । पुरवा हवा, असात्म्य पदार्थ, वेगरोध, जागरण, विरुद्धाशन और विषमाशन से उसे बचाना चाहिए ।

मर्फी ने इस रोग की व्यवस्था हेतु निम्नांकित निर्देश दिये हैं—

i. रोगी को शैया पर विश्राम करना चाहिए और तब तक शैया पर रखना चाहिए जब तक उपसर्ग समाप्त न हो जाय, हृदय की गति, रक्त के श्वेतकण गणना, ई० एस० आर० प्राकृत न हो जाय । रोगी का तापक्रम प्रतिदिन नोट करना चाहिए, नाड़ी की गति हर ६ घण्टे पर लिखी जानी चाहिए ।

ii. रोगी को सर्दी से अच्छी तरह बचाकर रखना चाहिए ।

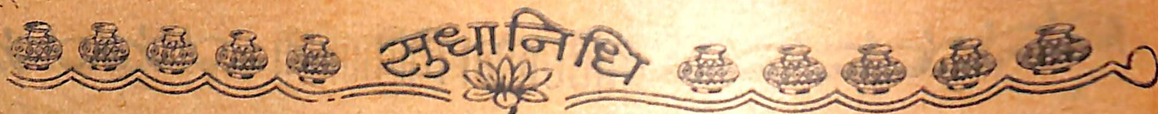
iii. भोजन उच्चकैलोरियों की पूर्ति करनेवाला होना चाहिए और सुपाच्य होना चाहिए ।

iv. विटामिन ए, बी, सी और डी पर्याप्त मात्रा में देते रहने से रोगी की रोगप्रतिरोधक शक्ति में वृद्धि होती है ।

v. रोगी को लौहयुक्त योग देने चाहिए ताकि उसे रक्तक्षय न होने पावे ।

vi. उदर विकारों को दूर करने हेतु, हृच्छूल की शान्ति के लिए, जोड़ों के दर्द को कम करने के लिए तथा ज्वर को उतारने के लिए उसे सैलिसिलेट्स (Salicylates) देते रहना चाहिए । पर यह न भूलना चाहिए कि सैलिसिलेट शूलशमन और ज्वरहरण में तो अपना प्रभाव दिखलाते हैं पर उनके कारण न तो रोग के विकास में ही रोकथाम होती है और न रोग की पुनरुत्पत्ति को ही वे रोक पाते हैं ।

इसके लिए सोडियम सैलिसिलेट या एसिटिल सैलिसिलिक एसिड सोडा बाई कार्ब के साथ हर ४-६ घण्टे पर क्रमशः १.० ग्राम और १.३ ग्राम की मात्रा में दिन-रात देते रहना चाहिए । साथ ही रोगी को खूब जल पिलाना चाहिए । सैलिसिलेट्स मुख द्वारा ही देना चाहिए । यदि रोग इससे सुधार की ओर जाता हुआ न दीखे तो १० ग्राम सोडियम सैलिसिलेट्स ०.६ प्रतिशत सैलाइन १ लि. में घोलकर ड्रिप विधि से सिरा के अन्दर प्रतिदिन चढ़ाना चाहिए । यह कार्य १ सप्ताह तक बराबर किया जाना चाहिए रोग के लक्षण कम होने पर मुख द्वारा भी दे सकते हैं ।



vii. ACTH का प्रयोग इस रोग में बहुत अधिक होने लगा है, खासकर जब हृदय का आघात हो रहा हो। पर इसमें सोडियम के रुक जाने के कारण उत्पन्न शोथ से व्यापक हानि हो सकती है इसे ध्यान में रखकर ही इसका प्रयोग किया जावे। इसे ८० से १०० मिलीग्राम पेशी में इन्जैक्शन से ३ दिन तक प्रतिदिन फिर ४० से ६० मिग्रा. प्रतिदिन ४ और दिन तक देते हैं। बाद में ३०–३० मिलीग्राम प्रतिदिन देकर इस औषधि को शनैः-शनैः बन्द कर देते हैं।

viii. जोड़ का दर्द रोकने के लिए उसका हिलना-डुलना रोक देते हैं। उस पर आयोडेक्स और मिथाइल सैलिसिलेट मलते हैं, ऊपर से गरम फलालेन लपेट देते हैं। २ से ३ ग्राम ऐमिनोपाइरिन देते हैं। इसे डिजिटेलिस के साथ देने से आमवात में अधिक उपकार होता है ऐसा विद्वानों का मत है।

ix. यदि हृदय के पर्यावरण या प्लूरा में जल भर गया हो तो उसे आचूषित करके निकाल देना चाहिए।

x. यदि दर्द में कोई कमी न हो तो कोडीन सल्फेट ३२ मिलीग्राम या १० मिलीग्राम मार्फीन सल्फेट का प्रयोग किया जा सकता है।

xi. डिजिटेलिस उसी स्थिति में दी जानी चाहिए, जब हार्टफेल होने की नौबत आ जाय। इस स्थिति में रोगी को खूब पेशाव आता रहे इसके लिए मूत्रल दवाएं देनी चाहिए। पर यदि उनसे लाभ न हो तो डिजिटेलिस दे सकते हैं। पारदीय मूत्रल द्रव्यों का उपयोग अन्त में ही करना चाहिए, जब किसी तरह पेशाब की वृद्धि न हो।

xii. मर्फी के मत में इस रोग में सल्फोनैमाइड और पेनिसिलीन विशेष लाभप्रद नहीं हैं। (देखें पृष्ठ १४२, मेडीकल ऐमर्जेंसीज १९५२, चतुर्थ संस्करण)

करेंट थिरैपी के लेखक डा० कोन के ग्रन्थ में आमवातज ज्वर की चिकित्सा के सम्बन्ध में श्री एन० पर्डी द्वारा जो ज्ञान दिया है उसका सार यह है—

रोगी को पूर्ण विश्राम और उचित खानपान के साथ निम्नलिखित औषधोपचार दिया जाना चाहिए—

पेनिसिलीन–चिकित्सा के आरम्भ से ही पेनिसिलीन का प्रयोग करना चाहिए। पेनिसिलीन तब तक दी जानी चाहिए जब तक उपसर्ग पूर्णतया दूर न हो जाय।

हार्मोन्स तथा सैलिसिलेट्स—कोई भी औषधि जो रोग के आक्रमण को कम करती है वह आरम्भिक, पुनःरुत्पादित या हृद्वाहिनीजन्य आघात को भी कम करती है। इस सिद्धान्त पर ठीक से प्रयुक्त सैलिसिलेट्स तथा कौर्टीजोन और ACTH निश्चित रूप से रोग को दूर करने में सहायक होते हैं। इन दवाओं के सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है—

इन्हें जल्दी दिया जावे, काफी मात्रा में दिया जावे काफी दिन तक दिया जावे, इनके द्वारा होने वाले दुष्परिणामों पर नजर रखी जावे। लक्षण दूर हो जाने के बाद भी २ सप्ताह तक इनको दिया जावे तथा इन्हें शनैः-शनैः उत्तरोत्तर कम करते हुए बन्द किया जावे, यदि रोग के लक्षण पुनः उत्पन्न हो जावें तो औषधियां पुनः चालू कर दी जानी चाहिए। हर्मोन प्रयोग काल में सोडियम कम दी जानी चाहिए। पोटाशियम क्लोराइड या उसका अन्य योग ०.३ ग्राम प्रतिमात्रा प्रतिदिन ३ बार देना चाहिए।

३०० मिलीग्राम कौर्टीजोन तब तक प्रतिदिन देना चाहिए जब तक रोग के लक्षण कम न हों फिर २०० मिलीग्राम प्रतिदिन देना चाहिए, फिर धीरे-धीरे कम करना चाहिए।

सैलिसिलेट ६० मिलीग्राम प्रति पौंड शरीर भार के के अनुपात से विभक्त मात्रा में देने चाहिए। इसे एस्पिरिन के रूप में बिना सोडाबाईकार्ब मिलाए भी दे सकते हैं। हार्मोनों के साथ इनकी मात्रा आधी या तिहाई भी की जा सकती है। सैलिसिलेट खाली पेट कभी नहीं देने चाहिए। भोजन पेट में रहने पर ही इन्हें दें। ऊपर से दूध पिला सकते हैं। रात में भोजन के बाद देते हैं। इनके साथ विटामिन के (K) भी देनी चाहिए ताकि केशिकाओं से रक्तस्राव न होने पावे। सामान्य कर्णक्ष्वेद आदि की परवा बिना किए ही दवा दे सकते हैं। पर यदि श्वास की गति बढ़ने लगे तो दवा को रोक देना चाहिए।

संक्षेप में एन पर्डी की चिकित्सा विधि इस प्रकार रहती है—

(१) कौर्टीजोन की मात्रा अधिक से अधिक अपनी हिम्मत पर यहां तक देना कि रोग के सब लक्षण दब जांय।

(२) फिर उसे लगातार तब तक सौम्य मात्रा में देते

रहना कि एड्रीनल की क्रिया दब जाय।

(३) धीरे-धीरे कोर्टीजोन को हटा लेना और उसके स्थान पर ACTH जैल देना।

(४) कोर्टीजोन जहां देना बन्द कर दिया जाय वहां से सैलिसिलेट आरम्भ करना, ACTH को चालू रखना।

(५) धीरे-धीरे ACTH को बन्द करके केवल सैलिसिलेट्स पर ही रखना और सैलिसिलेट्स को तब तक चालू रखना जब तक रोग का लेशमात्र भी समाप्त न हो जाय। उसके २ हफ्ते बाद इन्हें बन्द करना।

आजकल कोर्टीजोन का स्थान प्रेडनीसोन, प्रेडनीसोलोन, हाइड्रोकोर्टीजोन, डैक्सामीथाजोन आदि ने ले लिया है और डेल्टाकार्ट्रिल, बैटनैसोल, बैटनेलन, डैकाड्रोन आदि पेटेण्ट द्रव्यों ने ले लिया है।

आमवात या हृद्रोग—

आमवात के साथ हृदय का रोग भी उत्पन्न हो जाता है, अंग्रेजी की कहावत है—आमवात जोड़ को चाटता है तथा हृदय को काटता है (Rheumatism licks the joint and bites the heart)। इसके अनुसार हृदय पर इसका भयंकर प्रभाव पड़ता है। सौम्य आमवात में आमवात की चिकित्सा के साथ ही साथ हृदय भी स्वस्थ हो जाता है। पर यदि हृदय में गम्भीर आघात हुआ हो तो इसका इलाज हार्टफेल्योर की तरह ही करते हैं। इसके लिए एन पर्डी का कहना है कि उसके लिए उपचार का सिद्धान्त इन विन्दुओं में सुरक्षित है—

(१) डिजीटैलिस (हृत्पत्री) का प्रयोग

(२) नमक (सोडियम) की मात्रा अत्यन्त सीमित करना।

(३) मूत्रल द्रव्यों का उपयोग

(४) प्रचुर परिमाण में तरल पदार्थों का दिया जाना न कि उसकी मात्रा को कम करना।

डिजिटैलिस की एक पेटेण्ट औषधि चुन लेना चाहिए और उसे ०.७ मिलीग्राम प्रतिवर्गमीटर शरीर क्षेत्रफल के आधार पर देना चाहिए। प्रतिदिन के डिजीटिलेशन के लिए यह अधिकतम मात्रा है। इस मात्रा को ४ बार में इस प्रकार दिया जाता है—

प्रथम मात्रा—अधिकतम (उपर्युक्त हिसाब के अनुसार) मात्रा का आधा।

द्वितीय मात्रा—अधिकतम मात्रा का चौथाई।

तृतीय मात्रा—अधिकतम मात्रा का आठवां भाग।

चतुर्थ मात्रा—अधिकतम मात्रा का आठवां भाग।

इतनी बड़ी मात्रा में डिजीटैलिस (डिजीटौक्सीन या डाइगौक्सीन या लैनोक्सीन) देते समय चिकित्सक को रोगी को बराबर आकर देखना चाहिए। जब रोगी पूर्णतः डिजिटिलाइज्ड हो जाय तब केवल मेनटिनेंस मात्रा में ही डिजीटैलिस दी जानी चाहिए। डिजीटैलिस की अधिकतम मात्रा का दसवां भाग मेनटिनेंस मात्रा के रूप में दिया जाता है। यदि इससे भी डिजिटिलाइजेशन का पूरा लाभ न मिले तो इसे मेनटिनेंस मात्रा को प्रातः सायं १२ घंटे के अन्तर से दिन में दो बार तक पर्डी के द्वारा दिया जाता है।

इतनी सब जांच-पड़ताल इसलिए आवश्यक है कि डिजिटैलिस के प्रयोग करते-करते आमवात से पीड़ित बालक सहसा मृत्यु के मुख में चला जा सकता है इसलिए डिजिटैलिस देते समय रोगी मृत्यु और जीवन के झूले में झूलता रहता है।

मूत्रल द्रव्यों में बियोफाइलीन दी जा सकती है। आजकल अनेक मूत्रल द्रव्य बाजार में उपलब्ध हैं उन्हें दिया जा सकता है। इनमें लैक्सिन का प्रयोग किया जा सकता है।

पर्डी का यह भी मत है कि आमवात के रोगी को सेनेटोरियम टाइप अस्पताल में जो जनता से दूर ही रखना चाहिए ताकि रोग अन्यों को न परेशान करले।

रोगी को कौन-कौन औपसर्गिक जीवाणुओं का शिकार होना पड़ रहा है उसका ज्ञान प्रयोगशाला में कल्चर एवं निदान द्वारा कराकर उस जीवाणु को दूर करने हेतु औषध प्रयोग करना चाहिए। यदि स्ट्रैप्टोकोकाय का उपसर्ग पाया जावे तो पेनिसिलीन, स्ट्रैप्टोपेनिसिलीन का उपयोग किया जाना चाहिए।

रोगी को मालिश, सेक आदि देकर (फिजियोथिरैपी द्वारा) उसके जोड़ों और पेशियों में क्रिया उत्पन्न करनी भी चाहिए, पर यह तब होगा जब रोग के तीव्र लक्षण शान्त हो चुके होंगे। उसके मनोरंजन के साधन भी जुटाने चाहिए। रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेलीविजन आदि उसे सुनने



और देखने देना चाहिए। बालक रोगी की शिक्षा की भी सही-सही व्यवस्था करा देनी चाहिए। वहीं आकर शिक्षक उसे पढ़ावे यह व्यवस्था की जावे।

यदि रोग के सब लक्षण शान्त होने पर भी रोगी को ल्यूकोसायटोसिस या ई० एस० आर० की थोड़ी भी वृद्धि मिले एवं उनका अन्य कोई उपसर्गात्मक कारण न मिले तो समझना चाहिए कि आमवात का उपसर्ग अभी रोगी में किसी न किसी गुप्त रूप में विद्यमान है और ऐसी स्थिति में उसे शैय्या पर पूर्ण विश्राम और आमवात की चिकित्सा कराते जाना चाहिए। यह कार्य महीनों चलाया जा सकता है। फिर धीरे-धीरे सक्रिय जीवन के आरम्भ करते ही रोग का दौड़ा पड़ सकता है, यदि रोग थोड़ा भी शरीर में रह गया हो तो।

एक बार आमवात से पीड़ित बालक या बड़े को उसकी शैय्या—विश्रामावस्था से सक्रिय अवस्था में लाने में धीरज और सहिष्णुता से काम लेना चाहिए। बहुत धीरे-धीरे ही उसे क्रियाशील करना चाहिए खासकर जब उसको हृदय में भी आघात हो गया हो।

प्रतिषेधात्मक दृष्टि से पेनिसिलीन की ८ लाख यूनिट प्रतिमास के प्रथम सप्ताह में प्रतिदिन देना या हर माह १२ लाख यूनिट बेंजाथीन पेनिसिलीन का पेशी में इन्जेक्शन देना अमेरिका में चलाया जाता है ताकि रोगी को पुनः रोगोत्पत्ति न हो। अन्य ऐण्टीबायोटिकें भी दी जा सकती है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा

आमवात में आयुर्वेदीय चिकित्सा का भी बड़ा महत्व है। देखा तो यह गया है कि कभी-कभी जब आधुनिक चिकित्सा व्यर्थ सिद्ध होती है आयुर्वेदीय चिकित्सा उसे पूर्णस्वस्थ कर देती है। सब एक्यूट बैक्टीरियल ऐंडोकार्डाइटिस के रोगी जिन्हें श्रम करने की आधुनिक चिकित्सक इजाजत नहीं देता आयुर्वेदीय उपचार में शीघ्र बिना किसी हानि के सक्रिय जीवन जी सकते हैं। ऐसा एक दावा स्वयं पंडित शिवशर्मा जी ने किया है। कई विदेशी रुग्णों को उन्होंने केवल आयुर्वेदीय चिकित्सा के बल पर ही सुधारा है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आयुर्वेद के प्रति सम्मान वृद्धि हुई है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति में उपसर्ग या जीवाणु मूल्यवान नहीं है वहां तो दोषों का प्रकोप, आमावस्था जाठराग्नि की स्थिति ही महत्वपूर्ण मानी जाती है। आयुर्वेद में आभ्यन्तरोपचार, बाह्योपचार, पंचकर्मोपचार इन सभी का महत्व है, जो चिकित्सक इन सभी का उपयोग करने में सक्षम होता है वही रोगी को स्वस्थ और सक्रिय कर सकता है।

रूक्षः स्वेदो लंघनं स्नेहपानं
बस्तिर्लेपो रेचनं पायुर्वत्तिः।
अब्दोत्पन्नाः शालयो ये कुलत्था
जीर्णं मद्यं जांगलानांरसाश्च ॥

इसी में सब कुछ आ जाता है।

रूक्षस्वेद और लेप—सबसे पहले रोगी को रूक्षस्वेद कराना चाहिए। इसके लिए बालू की छोटी-छोटी पोटलियां गरम तवे पर रखकर धीरे-धीरे रोगी के दर्द वाले स्थानों पर सुहाता-सुहाता सेक करने के लिए रखते हैं।

एक और तरीका है स्वेद का। रोगी को लकड़ी की टेबिल पर लिटा देते हैं। कपास के बीज (बिनौले) कुलथी, जौ, अण्डी की जड़, अलसी, पुनर्नवामूल, सन के बीज सबको कूटकर छोटी-छोटी पोटलियों में रखकर गरम कांजी के पात्र में डाल-डालकर निकालते जाते हैं और सुहाता-सुहाता सेक करते रहते हैं। इससे कुहनी, उदर, सिर, स्फिक् प्रदेश, हाथ, पैर की अंगुलियां, टखने, कन्धे और कमर को सेकते हैं। अनुभवी सेक देने वाले इस विधि से रोगी को बहुत आराम पहुँचाते हैं।

यदि यह सम्भव न हो तो हिंस्रा की जड़, केऊ, सहंजने की जड़ वल्मीक मृत्तिका को गो मूत्र में पीसकर लेप किया जा सकता है।

लंघन—थोड़ा भोजन जो लघु और सुपाच्य हो दिया जाना चाहिए। अच्छा हो आम दोषों को निराम करने के लिए रोगी को निराहार भी रखा जावे पर बालकों को लंघन का अर्थ लघु भोजन ही मानना चाहिए। वैसे गुजरात के प्रातः स्मरणीय गढ़डा वाला वैद्य की परम्परा में तो शिशुओं को भी लंघन कराते हैं।

स्नेह पान—

आमवात गजेन्द्रस्य शरीरवनचारिणः।
निहन्त्यसावेक एव एरण्डस्नेहकेशरी ॥

जटिलरोग-चिकित्सांक

शरीर रूपी बन में विचरण करने वाले आमवात रूपी हाथी को नष्ट करने वाला एरण्डस्नेहरूपी सिंह ही एकमात्र साधन है। इतनी महत्ता अण्डी के तेल को आयुर्वेद ने दे रखी है।

यदि तेल पीना सम्भव न हो तो एरण्ड तैल से सेकी हुई हरड़ों को देना चाहिए।

कई आमवातघ्न तैल एरण्ड तैल को सिद्ध कर बनाये जाते हैं।

i. प्रसारण्या रसैः सिद्धं तैलं एरण्डजं पिबेत्।
सर्वदोषहरञ्चैव कफरोग हरं परम्॥

ii. बृहत् सैन्धवादि तैल एरण्ड तैल में ही बनाया जाता है। यह परम आमवातहर है। इसका पान, अभ्यंग और बस्तिरूप में प्रयोग करने से अग्नि का बल बढ़ता है कटि, जानु, ऊरु सन्धियों का शूल, हृदय का शूल, पार्श्व-शूल, पृष्ठशूल नष्ट होता है। आमवात के अलावा अन्य वात व्याधियां और अश्मरी अन्त्रवृद्धि और आनाह दूर हो जाते हैं।

स्नेहपान में तैलों में एरण्डतैल एवं कटुतैल (सैन्धवाद्यतैल) तथा कोई भी तैल (द्विपंचमूलादि तैल, विजयभैरव तैल जो तिल तैल पर बनते हैं) पिला सकते हैं। घृतों का भी उपयोग किया जाता है—शुण्ठीघृत (कटिवात और आमशूल में) शृंगवेरादि तैल, (आमवात, कटिग्रह, विबन्ध, आनाह में) कांजिकषट्पलकघृत (आनाह, आम-वात, कटिग्रह में) पिलाते हैं। महाविजयभैरव तैल विजयभैरव तैल में अफीम डालने से बनता है इसे जोड़ों पर मलकर उनका दर्द दूर करते हैं।

मद्य—मद्य या सुरा का प्रयोग भी आमवात में किया जाता है। इसके लिए चक्रदत्त की रसोनसुरा चलती है। पेड़ों की छाल डालकर बनाई हुई ५ किलो वल्कलासुरा में लहशुन २॥ किलो, पिप्पली, पिप्पलीमूल, जीरक, कूठ, चित्रक, शुण्ठी, मरिच, चव्य १२-१२ ग्राम कूटकर डाल दें। १ सप्ताह रखकर छानकर शीशी में रख लें। इसको बूंदों में देने से आमवात, आमवातज हृद्रोग, वात व्याधियां, कृमिरोग, आनाह, गुल्म, आदि दूर होते हैं और खूब अग्नि की वृद्धि होकर आमदोष मिट जाता है।

ओषधि प्रयोग—

१. क्वाथ—एरण्डादि, शट्यादि, रसोनादि, रास्नापंचक, रास्नासप्तक, रास्नादि दशमूल, मध्यम रास्नादि, महारास्नादि, शुण्ठ्यादि।

इनमें रास्नासप्तक—रास्ना, गुडूची, अमलतास, देवदारु, गोखरू, एरण्डमूल, पुनर्नवामूल का काढ़ा बना शुण्ठी का चूर्ण डाल कर देना अच्छा काम करता है।

शट्यादिकल्क (भै. र.) ७ दिन में आमवात को नष्ट करता है ऐसा दावा किया गया है।

२. चूर्ण—शतपुष्पादि, हिंग्वादि, अलम्बुषादि (प्रथम, द्वितीय) वैश्वानर, अमृतादि, देवदार्वादि, चित्रकादि, पुनर्नवादि, आमादि, पथ्यादि, चलते हैं। इनमें वैश्वानर चूर्ण—

सेंधव लवण २ भाग, अजवाइन २ भाग, अजमोद ३, सोंठ ५ भाग, हरड़ १२ भाग, कूट कपड़ छान कर रखें—यह आमवात, हृद्रोग, (आमवातजन्य) आनाह, वातव्याधियों, प्लीहोदर आदि में लाभदायक रहता है।

३. रस योग—आमवातारि, आमवातेश्वर, वातगजेन्द्र सिंह तथा आम वातारिवटिका, आम प्रमाथिनी वटिका, अमृतमंजरी वटिका, आम वाताद्रिवज्ररस, पंचानन रस अच्छा काम करते हैं।

४. लौहयोग—आमवात में रक्तक्षय भी हो तो त्रिफलादि लौह, विडंगादि लौह चलते हैं।

५. वटक मोदक, पिण्ड—भोजन की दृष्टि से खिलाने के लिए अजमोदादि वटक, आमगजसिंह मोदक रसोनपिण्ड महारसोनपिण्ड चलते हैं।

६. गुग्गुलुयोग—आमवात में गुग्गुलु का बहुत बड़ा महत्त्व है ऐसा लगता है कि नातिदूर भविष्य में यह द्रव्य सारे चिकित्सा जगत् में छा जाने वाला है। एकमात्र शुद्ध गुग्गुलु की गोलियां भी गजब का काम करती हैं। इतने गुग्गुलु योग देश भर में चलते हैं:—

योगराज गुग्गुलु, बृहद् योगराज गुग्गुलु, व्याधिशार्दूल गुग्गुलु, सिंहनाद गुग्गुलु, (जयपाल युक्त) अपर सिंहनाद गुग्गुलु, शिवा गुग्गुलु, सभी अपने-अपने स्थान पर उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

आमवात पर दिल्ली में एक एम० एस० एल० सेण्टर फौर रियूमैटिक डिजीजेज नामक आमवात केन्द्र है वहां इस रोग की चिकित्सा और गवेषणा की अत्युत्तम व्यवस्था है। सुप्रसिद्ध कविराज पद्मश्री आशुतोष मजूमदार उसके डायरैक्टर हैं उनसे भी परामर्श किया जा सकता है।

सन्धिवात या आर्थ्राइटिस

लेखक—वैद्यराज श्री आनन्दप्रकाश आर० जिज्ञासु बी० ए०, आयुर्वेदाचार्य
प्रभारी-चिकित्साधिकारी जिला-परिषद् आयुर्वेद औषधालय,
पो० बसन्तपुर, जिला अल्मोड़ा (उ० प्र०)

सन्धिवात या आर्थ्राइटिस पर यह पूर्ण विवरणयुक्त लेख जिज्ञासु की शुद्ध लेखनी के मधुर प्रसाद के रूप में सामने आया है। खोज के साथ विपुल बुद्धिवैभव इसमें प्रकाशित हुआ है। आपने अपने उद्धरणों को काफी परिश्रम से अनेक ग्रन्थों और अधिकारी प्राच्यपाश्चात्य आयुर्वेदीय, ऐलोपैथिक चिकित्साविदों से प्राप्त कर एक आदर्श लेख की संरचना की है। रोग की जटिलता भी यथार्थरूप में प्रस्तुत की है। उनके इस लेख का हम हृदय से स्वागत करते हैं। ---गोपालशरण गर्ग।

संधिवात

रोग परिचय—अस्थिसंधि संस्थान गत होने वाला संधिवात एक अत्यन्त जटिल रोग है। संधिशूल एवं संधिशोथ संधिवात के ही पर्ययायिक शब्द हैं। आंग्ल भाषा में इसे Arthritis कहते हैं।

इस रोग की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन मत के अनुसार सन्धिवात को वायुरोगों के अन्तर्गत माना गया है। किन्तु अन्वेषण के इस युग में इस व्याधि का मूल कारण आज तक ज्ञात नहीं हो सका। तथापि इस संदर्भ में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। इन्हें हम निम्न क्रम से समझ कहते हैं—

१. **जीर्ण कोष्ठबद्धता**—आंत्र के अन्दर दीर्घकाल तक मल रहने से उसका विष शरीर में संग्रहीत हो जाता है। जो संधिवात रोग को उत्पन्न करता है।

२. कभी-कभी विभिन्न रोगों के विष और विभिन्न जीवाणुओं के आक्रमण के फलस्वरूप सन्धियों में शोथ उत्पन्न हो जाता है।

अर्थात्—i. शरीर में किसी स्थान पर पूय की चिरकाल उपस्थिति।

यथा—टौन्सिल की सूजन, पायरिया, सुजाक, क्षय आदि रोगों में, उपान्त्रशोथ तथा वेसिलरी डिसेन्ट्री के बाद कभी-कभी संधियों में शोथ हो जाता है और आक्रमण के कारण के अनुसार उनकी भिन्न-भिन्न संज्ञायें दी जाती हैं जैसे—Dysentric Arthritis, Tuberculous Arthritis या Gonococcal Arthritis आदि।

ii. विभिन्न तरुण रोगों को (अर्थात् बढ़े हुए दोषों को) दवा देने के कारण, रोग विष जब शरीर के अन्दर ही स्थिर हो जाता है तब यही विष, संधिवात रोग को उत्पन्न करता है।

३. शरीर में संचित जीर्ण रोग विष ही 'विभिन्न' श्रेणियों के वात रोगों को उत्पन्न करते हैं। जब यह विष सारे शरीर में फैल जाता है तो उसके परिणाम-

स्वरूप ज्वर की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था को तरुण-वातरोग (Acute Rheumatism) कहते हैं।

जब इस विष के द्वारा तन्तु आक्रान्त होते हैं तब इसे कहा जाता है पेशीवात Muscular Rheumatism. और जब यह विष अस्थियों को प्रभावित कर उनके अन्दर ह्रास की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं तब उसे कहते हैं—अस्थिजरा या संध्यास्थिशोथ Osteo Arthritis. और जब इसी विष के द्वारा विशेष रूप से शरीर के जोड़ प्रभावित होते हैं तब इसे कहा जाता है—सन्धिवात Arthritis।

४. संधिवात सामान्यतः दीर्घ दिन व्यापी ज्वर से आरम्भ होता है।

५. अधिकांशतः अत्यधिक शीत लगने के कारण भी प्रायः सन्धिशोथ हो जाता है। इसमें नमी वाले प्रदेश या सीलयुक्त मकान विशेष हैं।

६. यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में विशेष रूप से २० से ४० वर्ष की आयु में होता। इनमें भी प्रायः बहुप्रसूता स्त्रियों को।

निष्कर्ष—उपरोक्त विमर्श के आधार पर दो बातें सिद्ध होती हैं. अर्थात् शरीर के अन्दर विभिन्न श्रेणियों के दूषित और विषाक्त पदार्थों के संचय होने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। तथा यह रोग केवल सन्धियों का ही रोग नहीं वरन सम्पूर्ण शरीर का रोग है जो केवल सन्धियों में व्यक्त होता है।

पूर्वरूप—रोग उत्पन्न होने से पूर्व रोगी को शारीरिक एवं मानसिक क्षीणता, दुर्बलता एवं थकावट प्रायः सभी रोगियों में होती है। कुछ रोगियों में प्रारम्भ से हाथ पांव में या सन्धियों में कुछ काल के लिये विवर्णता (नीलापन) एवं स्पर्श असहिष्णुता, अति स्वेद, हृदय की तीव्र गति, रक्त न्यूनता। अथवा हाथों की अंगुलियों के अन्तिम और दूसरे पर्व में शोथ और पीड़ा। शनैः-शनैः बाद में सन्धिशोथ व सन्धिशूल के लक्षण विद्यमान होते हैं। किसी-किसी रोगी में ये रोग के आरम्भ से ही दृष्टिगत होते हैं।

रूप—कई रोगियों में सन्धिशूल अतितीव्र एवं ज्वर सहित होता है तो किसी में शूल एवं ज्वर का वेग मन्द एवं विषम होता है। इस रोग में सर्वप्रथम हाथ एवं पैर की संधियां प्रभावित होती हैं पश्चात् कलाई टखना, कोहनी, घुटना, कंधा, वंक्षण, एवं हनुसन्धियां। बीच-बीच में रोग के वेग कुछ काल के लिये कम हो जाते हैं फिर पुनः बढ़ जाते हैं।

इस रोग से ग्रसित स्त्रियां जब गर्भवती हो जाती हैं तो इस रोग का वेग समाप्त प्रायः हो जाता है किन्तु प्रसव के बाद लक्षण पुनः पहले से भी तीव्र अवस्था में उपस्थित हो जाते हैं।

उपरोक्त लक्षणों के अरिरिक्त रक्त एवं औषधि परीक्षण के आधार पर भी इस रोग को जाना जा सकता है तथा कुछ अन्य मुख्य लक्षण भी इस रोग के पहचानने में सहायक हैं। तदनुसार—

रक्त परीक्षण—इस रोग में रक्ताणुओं का कण निधानकाल (Sedimantation) बढ़ जाता है। अर्थात् रक्तकण देर से नीचे बैठते हैं। यही इस रोग की पहचान है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों रक्त निधान का काल कम होता जाये रोग को शांतिपथ पर समझना चाहिये।

औषधि परीक्षण—इस रोग में सोडा सैलीसिलेट से कोई लाभ नहीं होता जो प्रायः आमवात की हर स्थिति में लाभकर होता है।

अन्य लक्षण—(i) इस रोग की मुख्य विशेषता यह है कि जब कोई सन्धि प्रभावित होती है तो दोनों ओर की सन्धियां प्रभावित होती हैं।

(ii) इस रोग में पीड़ा दिन की अपेक्षा रात्रि में अधिक होती है।

(iii) जब नई सन्धि प्रभावित होती हैं तो कुछ काल के लिये ज्वर बढ़ जाता है।

रोग की जीर्ण अवस्था के लक्षण—उपरोक्त लक्षणों की स्थिति में रोगी यदि फिर भी अनियमित जीवन एवं अव्यवस्थित आहार-विहार करता रहता है तो कुछ समय के बाद आक्रांत सन्धि के समीपवर्ती कोमल तन्तु शोथमय हो जाते हैं। यह शनैः-शनैः बढ़कर सन्धि के कोष को प्रभावित कर देता है कुछ काल बाद वहां की कार्टिलेज (मृदुअस्थियां) शोथमय हो जाती हैं, शनैः-शनैः शोथ चारों ओर बढ़ती जाती है और फिर कार्टिलेज नष्ट



होकर वहां व्रण से रह जाते हैं परिणामतः कुछ वर्षों के बाद सन्धि के दोनों ओर की कार्टिलेज पूर्णतः नष्ट हो जाने से अस्थियां नग्न हो जाती हैं और अन्त में ये (संधि-के जोड़ की अस्थियां) जुड़ जाती हैं। इस प्रकार सन्धि अचल बन जाती हैं तथा प्रभावित सन्धियों की अस्थियां, अस्थिबन्धन, मांसपेशियां, कण्डरायें और त्वचा शनैः-शनैः क्षीण हो जाते हैं।

रोग मीमांसा एवं उसकी सापेक्षता—सन्धिवात रोग के रोगी का परीक्षण करते हुये आमवात, पाइमिया, भृशोष्ण वातज सन्धिशोथ, वातरक्त आदि की सापेक्षता का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। वैसे तो ये सभी रोग परस्पर कारणों की दृष्टि से एक ही हैं लक्षणों की दृष्टि से इनमें इतना सामान्य अन्तर होता है कि यह जानना कठिन हो जाता है। तथापि रोग सापेक्षता की दृष्टि से इनमें निम्न अन्तर समझे जाते हैं—

१. आमवात—आमवात के रोगी में सोडा सैली-सिलेट्स से लाभ हुआ करता है ज्वर प्रायः नियमित रहता है इसका आक्रमण अधिकांशतः छोटी आयु में होता है, प्रौढ़ावस्था में कम।

२. पाइमिया—इसमें बहुत सी सन्धियां प्रभावित होती हैं और उनमें पूय पड़ जाता है। ज्वर विसर्गी या अविसर्गी एवं प्रायः शीत से चढ़ने वाला होता है।

३. भृशोष्णवातज संधिशोथ में छोटी सन्धियां प्रभा-वित होती हैं और इस रोग का किंचित् इतिहास मिलता है।

४. वातरक्त—ये प्रायः वृद्धों को होता है। इसमें अधिकतर ज्वर नहीं होता है। इसमें प्रथम पांव की संधियां प्रभावित हुआ करती हैं।

X निम्न तालिका से यह और भी स्पष्ट समझा जा सकता है :—

क्रम सं०	लक्षण	आमवाताभ	संध्यस्थिशोथ	वातरक्त	पूयज	
					तीव्र	जीर्ण
१	लिंग	स्त्री	दोनों	पुरुष	दोनों	दोनों
२	पारिवारिक इतिहास	+	+	+	—	—
३	आयु	२५ से ५० वर्ष	३५ वर्ष से अधिक	३० वर्ष से अधिक	किसी	किसी
४	ज्वर	+	—	+	+	+
५	रक्तावसादन गति ESR	+	—	+	+	+
६	रक्त में यूरिक एसिड	—	—	+	—	—
७	रोगारम्भ	शनैः-शनैः	शनैः-शनैः	अकस्मात्	अकस्मात्	शनैः-शनैः
८	रक्त में श्वेत कणों की वृद्धि	±	—	±	+	±
९	रक्ताल्पता	+	?	?	—	+
१०	स्वास्थ्य	दुर्बल	उत्तम	उत्तम	प्राकृत	दुर्बल
११	विकृत-संधि	कोई। अनेक प्रायः दोनों पार्श्व की समान संधियों विशेषकर हाथ की अंगुलियों में	प्रायः बड़ी। विशेषकर हाथ की अंगुलियों की।	कोई। एक या अनेक। विशेष-कर पैर के अंगूठे की।	कोई। प्रायः एक	कोई। प्रायः एक
१२	व्यञ्जता	+	—	+	+	+
१३	पेशी की गतिहीनता	+	—	—	+	+
१४	पेशियों का शोष	+	—	+	+	+
१५	संधि के चारों ओर शोथ	+	—	+	+	+
१६	संधि में पूय जीवाणु	—	—	—	+	+

चिकित्सा—

वस्तुतः इस रोग की कोई औषधि नहीं है। रोग को कुछ काल दवाने के लिये तो अनेकानेक औषधियां हैं किंतु मूलरूप से व्याधि नाश की यदि कोई दवा है तो केवल रोगी का आहार-विहार एवं आचार-विचार की स्थिति में परिवर्तन करना है, उसके साधारण स्वास्थ्य की उन्नति की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।

शिकागो के एक महान चिकित्सक डा० औटोग्लासर ने अपनी पुस्तक मेडिकल फिजिक्स के पृष्ठ ७१ पर लिखा है कि "इस रोग की चिकित्सा में रोगी का स्वास्थ्य अच्छा करना ही वस्तुतः प्रथम कर्तव्य है।"

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि "औषधियों के देश अमेरिका (U. S. A.) में एक करोड़ एक लाख व्यक्ति संधिवात रोग से आक्रान्त हैं।"

अतः आरोग्य के लिये औषधियों के पीछे दौड़ना पूर्णतः निरर्थक है। विषाक्त औषधियों द्वारा किसी-किसी समय अस्थायी रूप से शूल बन्द किया जा सकता है किन्तु उससे शरीर की विकारयुक्त अवस्था और भी बढ़ जाती है और बाद में हृद्‌रोग आदि का आक्रमण हो जाता है तथा एक दिन मृत्यु सभी यन्त्रणाओं का अन्त कर देती है।

अतः आइये सर्वप्रथम उस परिचर्या का अध्ययन कीजिये जिसके व्यवहार मात्र से ही रोगी यथेष्ट एवं वास्तविक लाभ प्राप्त कर सकता है।

इस क्रम में सर्वप्रथम रोगी के "आहार" की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

१—रोगोत्पादक कारणों के क्रम में वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर यह सिद्ध होता है कि रक्त में यूरिक अम्ल (Uric Acid) की वृद्धि रोगवृद्धि में सहायक कारण है, अतः यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि रक्त में इसकी वृद्धि न होने पाये इसके लिए उन खाद्यों का सम्पूर्ण रूप से वर्जन करना चाहिए जिनसे यूरिक एसिड उत्पन्न होता है।

यूरिक एसिड की उत्पत्ति—इसकी उत्पत्ति में निम्न तीन कारण हैं—

अ—सर्वप्रथम वे खाद्य पदार्थ जो "प्यूरिन" युक्त होते हैं, जैसे—(i) मसूर की दाल, मटर की फली, सेम, पालक का साग आदि। (ii) चाय, कोको, कॉफी आदि। (iii) प्राणियों का क्लोम यन्त्र, मस्तिष्क, यकृत्, गोमांस सुअर का मांस, भेड़ का मांस, मुर्गी का मांस।

इनमें मसूर की दाल, पालक, मटर एवं सेम में क्रमशः' प्यूरिन की मात्रा न्यून होती है। प्यूरिन प्रोटीन का एक तत्व है इसके शरीर में दग्ध होने के फलस्वरूप यूरिक एसिड की उत्पत्ति हुआ करती है।

द्रष्टव्य—स्वस्थ अवस्था में रक्त में यूरिक एसिड की वृद्धि न होने देने के लिए शरीर के भीतर दहन क्रिया की वृद्धि करना चाहिये और व्यायाम करना इसका एक साधन है।

ब—शरीर की पेशी विनष्ट होने के परिणाम स्वरूप।

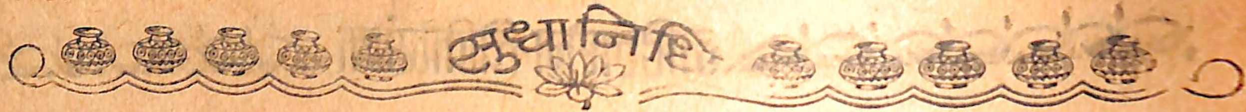
स—शरीर की विकारयुक्त अवस्था में, जब शरीर अपने अन्दर के विषों को दहन नहीं कर पाता अथवा उनका उत्सर्जन नहीं हो पाता हो तब।

२—रोग के एक अन्य वैज्ञानिक कारण के आधार पर यह सिद्ध होता है कि रक्त का क्षारत्व घट जाना ही वात रोग का प्रधान कारण है।

अतः खाद्य में यथेष्ट रूप से कैल्शियम एवं फास्फोरस की व्यवस्था करनी चाहिए (अन्यथा प्रभावित संधियों के अन्दर की अस्थियां भीतर ही भीतर खराब हो जाती हैं) क्योंकि खाद्य जब अधिकांश अम्लधर्मी हो तो कैल्शियम और फास्फोरस शरीर से द्रुत निकल जाते हैं तथा क्षारधर्मी होने से वे शरीर में रहने की सुविधा पाते हैं। इस प्रकार यह विशेष ध्यान रखने की बात है कि सभी वात सम्बन्धित रोगों में पूरे खाद्य का ८०% भाग खाद्य क्षारधर्मी होना चाहिए।

इस प्रकार पथ्यापथ्य की दृष्टि क्षार एवं अम्लधर्मी खाद्य के आधार पृष्ठ पर ही करनी चाहिये। तदनुसार अम्लधर्मी एवं क्षारधर्मी खाद्यों का वर्णन निम्न प्रकार किया जाता है। इनमें क्षारधर्मी आहार पथ्य एवं अम्लधर्मी खाद्य अपथ्य समझें।

क्षारधर्मी खाद्य (पथ्य)—मीठेफल यथा खजूर, खुमानी, सेव, अंगूर, नारंगी, अनार, किशमिश आदि, सूखी मेवा यथा—अखरोट, काजू, बादाम। हरे शाक या शाकरस आलू, टमाटर, उबली हुई सब्जी, सलाद, मूंगका यूष, यव, मण्ड, चावल का मांड, परवलयूष, बिजौरा नीबू, शुद्ध दूध या



दूधजल, चोकरयुक्त आटा, मधु, पंचकोल सिद्ध अन्न व जल। आहार अधिकांशतः स्निग्ध, स्वादु, अम्ल-लवण रस वाला पौष्टिक, सुपाच्य एवं मृदु; खाद्योज B. C. युक्त होना चाहिये।

अम्लधर्मी खाद्य—(अपथ्य चाय, कॉफी, कोको, तम्बाकू, मद्य, मांस, बर्फ, दही, अत्यधिक नमक व मसाले, तले हुये पदार्थ–चीनी आदि। जीर्ण रोगी को पनीर एवं गूलर का प्रयोग श्रेष्ठ है।

विहार—रोगी के आहार ज्ञान के बाद रोगी के विहारक्रम की जानकारी आवश्यक है किन्तु रोगी के विहार को दो क्रमों से समझा जा सकता है प्रथम रोग प्रकोप अवस्था से पूर्व एवं रोग प्रकोप अवस्था के बाद वेग शान्त होने पर। अतः इसी क्रम से आगे वर्णन किया जायेगा।

रोग प्रकोपकाल से पूर्व अथवा रोगप्रकोप काल में–

१. रोगी को सदा शीत से बचाये रखना चाहिये।

२. संधियों पर सेक तथा सदा उष्ण रखने का प्रयास करना चाहिये। इस हेतु फलालेन का जांघिया या चूडीदार पायजामा व्यवहार कराया जा सकता है।

३. रोगी को कब्ज नहीं होने पाये यह सदैव ध्यान रखना चाहिये। तदर्थ यदा कदा वस्ति या मृदु रेचन देते रहना चाहिये। नीबू का प्रयोग भी लाभ कर होसकता है।

४. चिकित्सीय द्रव्य सदा वातनाशक हों अतः कटुतिक्त एवं दीपन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

५. रोगी को मृदु स्नेहन अन्तः एवं बाह्य (अभ्यंग) तथा स्वेदन कराना चाहिये।

६. रोगी की इच्छा अनुसार उससे कुछ व्यायाम अवश्य करना चाहिये।

७. उष्ण जल में नमक डाल कर स्नान कराना चाहिये।

८. चिन्ता, द्वेष आदि मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं से भी रोग का सम्बन्ध है अतः इनसे दूर रखना चाहिये।

चेतावनी—

(अ) प्रथम द्वितीय एवं पंचम नियमों के पालनार्थ—पीडित भाग को रुई से बांधे रखना चाहिये। सेक के लिये निम्न में से कोई भी विधि अपनाई जा सकती है।—(i) उष्ण बालू से (ii) गर्म पानी से (iii) गर्म पानी की बोतल से (iv) गर्म पानी में बोरिक एसिड या **मैगसल्फ** अथवा नमक डाल कर (प्रति १ बाल्टी सह्य उष्ण पानी में ४ औंस की मात्रा दवा की देनी चाहिये) उसमें **विकृत** भाग को अधिक से अधिक २० मिनट तक डुबोना चाहिये। (v) गर्म पानी में तौलिया भिगो निचोड़ कर (vi) **रूई गर्म** कर (vii) तीसी आदि की पुल्टिस द्वारा (viii) **गर्म ईंट से** (ix) धूप में बैठना (x) गर्म बाष्प वाले कमरे में **बैठना** (xi) विकृत भाग पर वैसलीन गर्म कर मलना १५-२० मिनट से अधिक नहीं। (xii) वैसलीन गर्म कर उसमें **विकृत** भाग को डुबोना (xiii) पीड़ित भाग के पास **रूमहीटर या** ४ टेबिल लैम्प जलाकर कम्बल से ढकना (iv) **अवररक्त** किरण G.R. Rays अंत स्तापन (डायाथर्मी) प्रत्येक **बार** अभ्यंग करने से पूर्व व अन्त में धीरे धीरे **ठेपन करना** चाहिये। मृदु मालिस के बाद पेशियों को दबाना, ठोंकना, ऐंठना, बिजली की मसीन से कंपाना तथा अंगुलियों को खेंचना आदि क्रियायें करनी चाहिये।

अभ्यंग मृदु एवं थोड़ी देर तक नीचे ऊपर की ओर करना चाहिये किन्तु हृदय विकृत होने पर हाथ पांव व मर्दन के समय अभ्यंग सदा ही ऊपर से नीचे की ओर करना चाहिये।

सावधानी—धूप में बैठकर सेक करते समय रोगी को नेत्रों पर रंगीन चश्मा लगाकर बैठना चाहिये अन्यथा U.V. Rays (लोहिता तीत किरण) के द्वारा नेत्रों में विकृति हो सकती है।

सेकने वाले पदार्थ या यंत्र का ताप तथा सेकने का समय शनैः-शनैः बढ़ाना चाहिये। सेकने के बाद रोगी को वस्त्र से ढक देना चाहिए।

संज्ञाहीन त्वचा पर मधुमेही को तथा जिन व्यक्तियों को सेक करने से कोई लाभ न हो उन्हें सेक नहीं करना चाहिये।

सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन ६ मिनट से अधिक नहीं करना चाहिये तथा ज्वर एवं हृदय के रोगी को त्वचा पर व्याप्त रोग रहने पर दुर्बलता एवं वृद्धावस्था में नहीं करना चाहिये।

अन्तःस्तापन का प्रयोग घातक अर्बुद एवं ६-७ मास की गर्भावस्था में नहीं करना चाहिये।

(ब) तृतीय पंचम नियम के पालन में रोगी के बलानुसार ही उपचार को महत्व दिया जाना चाहिये। तदर्थ वमन भी कराया जा सकता है एवं विरेचनार्थ गोमूत्र से सिद्ध किया एरण्ड तैल भी व्यवहृत हो सकता है।

(स) चतुर्थ नियम के पालनार्थ रोगी को यह मानसिक रूप से बोध कराना चाहिये कि इन द्रव्यों से उसे अवश्य लाभ होगा चूंकि ये द्रव्य शामक गुण रखते हैं।

(द) नियम छः के पालन कराने में निम्न बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिये। १. यद्यपि यह ठीक है कि संधि से कार्य लेते रहने से संधि गतिहीन नहीं होती, वक्रता तथा पेशीशोष नहीं हो पाता। तथापि यह आवश्यक है कि विकृत संधि से इतना ही परिश्रम करना चाहिये जितना रोगी सह सके। व्यायाम के परिश्रम स्वरूप संधि में पीड़ा तथा पेशियों में उद्वेष्टन (Spasm) नहीं होना चाहिये।

इस नियम के प्रयोग के समय यह कभी भी नहीं भूलना चाहिये कि रोग की तीव्र अवस्था कम होने पर ही व्यायाम की आवश्यकता होती है।

यदि संधि के गतिहीन होने की आशंका हो तो रोग की तीव्र अवस्था में कम से कम एक बार प्रतिदिन संधि का आकुंचन व प्रसारण करना चाहिये संधि के कार्य में शनैः-शनैः वृद्धि करनी चाहिये। संधि में शूल होने पर उसमें गति नहीं करनी चाहिये। क्योंकि "संधियों को निरर्थक असमय ही मोड़ देने की चेष्टा करने पर विकलांगता उत्पन्न हो सकती है।"

इसके अतिरिक्त रोगी अपनी इच्छा के अनुरूप निम्न आसनों एवं क्रियाओं के माध्यम से भी व्यायाम कर सकता है यथा—

(i) अंगुष्ठ पादासन, जानुशिरासन, उत्तानपाद आसन, शीर्षासन आदि।

(ii) टहलना, सीढ़ी चढ़ना, साईकिल चलाना, घोड़े पर चढ़ना, पर्वतारोहण, तैरना, टेनिस खेलना, स्केटिंग करना आदि पैरों से तथा—

(iii) सीना पिरोना, बगीचा लगाना, नाव चलाना, चित्रकला, कपड़ा बुनना, टाइप करना, पियानो या तबला बजाना, डम्बल का व्यायाम करना आदि।

रोग प्रकोपावस्था के बाद स्मरणीय परिचर्या

१—पथ्यापथ्य का क्रम बनाये रखना चाहिये।

२—नीरोग होने तक बिस्तर पर पूर्ण विश्राम कराना चाहिये अन्यथा हृदय विकृति हो सकती है।

३—सेक स्वेद अभ्यंग एवं गति सर्वदा शोथ के कम अथवा न होने पर ही कराना चाहिये।

४—शीत से बचाव रखें।

आयुर्वेदिक चिकित्सा

जब रोगी को सामान्य चिकित्सा एवं परिचर्या से लाभ विशेष न होता हो तो ऐसी अवस्था में मल्ल एवं स्वर्ण के योगों का विशेष प्रभाव होता है किंतु परिणाम फिर भी संदिग्ध ही होता है। तथापि निम्न प्रयोग अति लाभकर हैं।

१. आरोग्यवर्धिनी वटी ४ रत्ती, समीरपन्नग आधी रत्ती, वातचिन्तामणि रस आधी रत्ती, पुराने बांस का चूर्ण ३ माशा। इन सबको भलीप्रकार खरल कर १ मात्रा बनायें ऐसी दो मात्रायें (प्रातः रात्रि में) पुनर्नवादि क्वाथ आधा तोला दशमूलादि क्वाथ आधा तोला जल १ तोला मिलाकर (१ मात्रा का अनुपान) दें।

२. (A) संधिवातारि रस ६ रत्ती, हिंगुलेश्वर रस आधी रत्ती, सिंहनाद गूगल ६ रत्ती, योगराज गूगल १ माशा, वैश्वानर चूर्ण ३ माशा। ३ मात्रायें बनाकर, प्रातः मध्यान्ह एवं सायं में हर बार रास्नादि क्वाथ आधा तोला एवं रसोनादि क्वाथ १ से ३ माशे तक के अनुपान से दें।

(B) रसोनपिण्ड आधा तोला, रात्रि को सोते समय।

३. शुद्ध कुपीलु १ रत्ती, समीरपन्नग रस आधी रत्ती, सुरंजान कटु २ रत्ती, अहिफेन आधी रत्ती, असगंध-चूर्ण १ रत्ती, १ मात्रा बनायें। ऐसी दो मात्रायें प्रातः सायं रोगी को मधु से दें।

४. (A) योगराज गूगल ४ वटी, शु० कुपीलु ४ रत्ती, २ मात्रायें बना प्रातः सायं गर्म पानी से दें।

(B) हृदयार्णव रस २ रत्ती, श्रृंगभस्म २ रत्ती, अर्जुन चूर्ण २ माशा, ऐसी एक मात्रा मध्यान्ह में मधु से दें।



(C) सिंहनाद गूगल १ माशा, रात्रि में उष्ण जल से दें।

५. श्वेत सज्जीक्षार, यवक्षार, कलमीशोरा, अश्वगंधा चूर्ण, प्रथम तीनों क्षारों को तामचीनी के पात्र में गर्म करें जब दाने पड़ जायें तो उतार कर ठंडा होने पर उसमें अश्वगंधा चूर्ण मिला लें। गर्म जल से दिन में दो बार तक। विशेष—कब्ज, मूत्रावरोध, स्थूलता एवं जीर्ण शूल में।

६. शु० विषमुष्टि चूर्ण १ रत्ती, मधु से चाटकर निम्न प्रकार से तैयार किया गया दूध पीवें।

गोरखमुंडी ५ तोला, निर्गुण्डी १० तोला, तजारा का दाना १ पाव, धना की गिरी १ पाव, बादाम मगज १० तोला, पिस्ता १० तोला, १५ मात्रायें।

चूर्ण बनाकर केशर १ तोला मिलाकर रख लें। इस चूर्ण को ५ तोले की मात्रा में लें। १ सेर दूध में चूर्ण डालकर उबालें जब दूध भली प्रकार पक जावे तो उसमें २ तोला घी तथा ५ तोला शक्कर मिलाकर पीवें।

बाह्य प्रयोगार्थ

मरहम—

१. तारपीन का तैल २४ तोला, कबीला १ तोला, स्वच्छमोम २० तोला, कपूर ४ तोला। तैल गर्म कर कबीला डालें फिर मोम डालकर छान लें, बारीक कपूर डालकर किसी चौड़े मुंह के पात्र में रख लें इसका अभ्यंग हितकर है।

२ निर्मित तैलों में—प्रसारिणी तैल, पंचगुण तैल, महानारायण तैल, महासैंधवादि तैल, विषगर्भ तैल, माषतैल।

३. लेप—१. दशांग लेप।

२. संहिजने की छाल, रास्ना, पुनर्नवा, प्रसारिणी, हींग, सौंफ, वच

सममाग ले कांजी या सिरका में बारीक पीसकर सुखोष्ण प्रलेप पीड़ित संधि पर करना चाहिये।

४. उपनाह—१. निर्गुण्डी, अमरवल्ली, एरण्ड पत्र। इनका किंचत् उष्ण उपनाह बनाकर प्रयोग करें।

पाश्चात्य चिकित्सा

(Allopathic Medicines)

योग—(१)गायनाकोल ०.५ ग्राम, एस्प्रिन ०.२५ ग्राम, एक मात्रा। ऐसी ३ मात्रायें प्रातः, मध्याह्न, सायं गर्म पानी से कैचेट में भरकर खिलायें।

(२) फेनिल ब्युटाजोन १२५ मिलीग्राम, एमिडोपायरीन १२५ मिलीग्राम, एक मात्रा। ऐसी दिन में ३ मात्रायें उष्ण जल से।

पेटेण्ट योग—एटोफेन, सिनकोफान, इर्गापायरीन, ब्युटाजालिडीन।

(३) कोडीनफास ½ ग्रेन, एस्प्रिन पाउडर ४ ग्रेन, फेनासिटीन ३ ग्रेन, कैफीन साइट्रस २ ग्रेन, एक मात्रा। ऐसी दिन में ३ मात्रायें दें। तीव्र पीड़ाहर है।

(४) मेदस्विता या अवटुका ग्रन्थि (Thyroid) के स्राव की कमी के लक्षण होने पर—

थायराइड एक्सट्रेक्ट ½ ग्रेन से १ ग्रेन तक दिन में २ बार तक।

(५) यदि रोग मासिक प्रारम्भ के काल में उत्पन्न हो तो [i] स्टिलवेस्टरोल (Stilboesterol) [ii] ओएस्ट्रोजिन (Oestrogen) का प्रयोग करना चाहिए।

(६) रोगकाल में यदि रोगी में रक्ताल्पता के लक्षण हों तो उसे [i] लौह (Iron) के योग देने चाहिये। [ii] विटामिन डी (Vitamin D), [iii] मल्टी विटामिन (multi Vitamins)

सूचीवेध—जीर्ण संधिशोथ में उत्तम है।

(७) आयोडीन २४ ग्रेन, पोटे० आयोडाइड ३६ ग्रेन, परिश्रुत जल १ औंस, २ से ८ बूंद तक प्रतिदिन तीन बार मुख द्वारा तथा ५ से १५ बूंद इस मिश्रण को ५ से १० मिलीलिटर डिस्टिल्ड वाटर में मिलाकर सिरामार्ग से सप्ताह में दो बार दें।

(८) मायोक्राइसीन [Myocrysin Inj.]—मात्रा—०.०१ से प्रारम्भ करें (सप्ताह में एक बार केवल)। दूसरी मात्रा ०.२५ ग्राम। तीसरी मात्रा ०.०५ ग्राम इस प्रकार शनैः-शनैः मात्रा बढ़ाते हुए ०.१ग्रा. तक प्रयोग कर सकते हैं फिर यही मात्रा देते रहें, इससे अधिक एक बार में प्रयोग न करें।

कुल औषधि परिमाण—१.५ ग्राम।

कुल चिकित्सा अवधि—३-४ माह। इसके बाद ६ माह तक औषधि बन्द कर पुनः एक बार प्रयोग और किया जा सकता है किन्तु रोगी को पूर्ण लाभ प्राप्त होने या *विषाक्त लक्षण होने पर औषधि बन्द कर देनी चाहिए। औषधि प्रयोगकाल में एल्ब्युमिन परीक्षण करते रहना चाहिए। वृक्क रोग में यह औषधि निषिद्ध है।

(६) पेटेण्ट इञ्जेक्शन—

(i) आयडोलाइसिन [Iodolysin Inj.]—१ से २ c. c. हर दूसरे दिन त्वचा या मांस में।

(ii) इन्थायोरोइड [Inthyroid Inj.]—रोगी की अवस्थानुसार मांस या शिरा में।

(iii) ओसेड्रीन [Osedrin Inj.]—५ c. c. मांस में प्रतिदिन लगायें।

(iv) कैल्कोलान [Calcolan Inj.]—रोगी की अवस्थानुसार २-४ c. c. मांस में।

* रक्ताल्पता, त्वचा पर दाने, नाड़ीशोथ, वृ कशोथ, यकृत्शोथ, ब्रोंकाइटिस आदि। रोगी को प्रकाश में कष्ट होना।

(v) गुर्कोपायरीन [Gurcopyrin Inj.]—३ से ५ c. c. प्रतिदिन मांस में।

(vi) टैकोपायरिन [Tekopyrin Inj.]—प्रतिदिन १ एम्पुल मांस में।

(vii) यूनाल्जिन [Unalgin Inj.]—नये रोग में उत्तम शूलहर है।

(viii) फीनेरिन [Phenarin Inj.]—३ c. c. नितम्ब प्रदेश में प्रति दूसरे या तीसरे दिन।

(ix) बाईकोर्ट [Wycort Inj.]—०.५ c. c. से २ c. c. तक आक्रान्त संधि अथवा मांस या शिरा में दें।

(x) हिस्टामिन [Histamin Inj.]—०.३ से ०.५ मिलीग्राम चर्म में सप्ताह में २–३ बार तक।

बाह्य प्रयोगार्थ—

(१०) गायकोल [Guaiacol] १ ड्राम, टिं. आयोडीन [Tin. Iodin] ७ ड्राम मिलाकर पीड़ित संधि पर लगायें।

(११) **पेटेण्ट योग**—(i) लिनिमेंट ए० बी० सी०, (ii) लिनीमेंट बेलाडोना (iii) विण्टरग्रीन का तेल, किसी एक की मालिश करायें।

होम्योपैथी चिकित्सा—

होम्योपैथी चिकित्सा में विस्कम एल्बम उत्तम औषधि है। मात्रा—५ से २० बूंद तक प्रयोग कराई जा सकती है।

अश्वगन्धादि वटी

अश्वगन्धा, शतावरी, चोबचीनी, स्योनाकत्वक् चूर्ण चारों १०-१० ग्राम। वंशमूल चूर्ण २० ग्राम, मीठा सुरञ्जान १० ग्राम, रससिंदूर, अभ्रकभस्म, ताम्रभस्म, तीनों ५-५ ग्राम। त्रिफला चूर्ण ३० ग्राम, त्रिकुटा चूर्ण ३० ग्राम, सनाय २० ग्राम, पारसीक यवानी २० ग्राम।

पुनर्नवा गुग्गुल या योगराज गुग्गुल सब चूर्ण के समान।

भावनार्थ द्रव्य—रास्ना, पुनर्नवा, एरण्डमूल, देवदारु, सोंठ, गिलोय, गोखुरू, चोबचीनी, अनन्तमूल, अर्जुन, हरीतकी, पाषाणभेद, कालीजीरी, कलौंजी, सब समान भाग।

इन सबका काढ़ा बनाकर ६-७ भावनाएं देकर आधा-आधा ग्राम की गोलियां बनालें।

मात्रा—४ से ८ गोली प्रतिदिन गोमूत्र के साथ।

प्रयोग—आमवात तथा अन्य वातिक वेदनाओं में विशेष लाभ होगा। किन्तु ३-४ माह तक निरन्तर दवा का प्रयोग करावें।

सूचना—कई रोगी गोमूत्र को पीना पसन्द नहीं करते उन्हें या तो गोमूत्र को पृथक् एक शीशी में भरकर किसी मिक्चर या आसव के नाम से दे दिया करें अथवा इस चूर्ण में उक्त क्वाथ के बाद ७-८ भावनाएं लगालें। या गोमूत्र ३-४ किलो लेकर उसको भवका (वाष्प यंत्र) से खींचकर अर्क निकाल लें वह बड़ा उत्तम सफेद रंग का अर्क बन जायगा। उसमें से २ तो० पिलावें अति उत्तम योग है।

—कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री बम्बई।

वातरक्त विवेचन

लेखक—कविराज श्री दीनदयाल शर्मा सौभरि भिषगाचार्य धन्वन्तरि (सस्वर्णपदक), एच. पी. ए. (जाम०) वैद्य सुपरिटेंडेंट को. खा. क. सं. (भारत सरकार), धनबाद, (बिहार)

श्री सौभरि जी एक सुयोग्य चिकित्सक हैं। और कोयलाखान क्षेत्र में कर्मचारियों की स्वास्थ्य-रक्षा और चिकित्सा-हेतु नियुक्त हैं। चसनाला की खान जहां ११ करोड़ गैलन पानी में ३७२ व्यक्ति फँस गये तथा जिनके निकालने के लिए देश-देशान्तर के जल निष्कासक इंजन लगे रहे और अब २० दिन के लगातार श्रम से पहले स्तर का पानी निकाला जा चुका है उसी क्षेत्र के पास सौभरि जी सेवा कार्य में संलग्न हैं। आप आयुर्वेद के चोटी के विद्वान् और पीयूषपाणि चिकित्सक हैं। आपने वातरक्त पर एक चिकित्सक और गवेषक दोनों की दृष्टि से प्रकाश डाला है। —रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

पर्याय—वातशोणित, खुड, वातबलास, आढ्यवात, गाउट (Gout) पोडग्रा (Podeqra) नक्करस, निकरस, छोटे जोड़ों का दर्द।

वातशोणित या वातरक्त—वायु और रक्त दोनों अपने अपने कारणों से कुपित हो कर रोग पैदा करें वह वातरक्त या वातशोणित है।

खुड—खुड देशप्राप्त्या खुडः खुड, शब्देन संधिरुच्यते। खुड–जो रोग छोटी संधियों को आक्रान्त करें।

वातबलास—वातस्यावरणेन बलमस्त्यस्मिन शोणिते इति वातबलासः वात से आवृत होने के कारण रक्त अधिक दूषित होकर रोग उत्पन्न करता है जिसमें।

आढ्यवात—आढ्यानां प्रायो भवतीति आढ्यरोग। सुकुमार प्राकृति के अधिक सुखी व्यक्तियों एवं सुकुमार या सुखी व्यक्तियों को जो रोग अधिक होता है।

पोडिग्रा—पोड (pod) के यूनानी में अर्थ हैं पैर, यह शब्द संस्कृत के पद शब्द का ही अपभ्रंश है, अग्रा का यूनानी में अर्थ है रोग। परन्तु संस्कृत के 'अग्र' शब्द का अपभ्रंश है अर्थात् जो रोग पहले पैर से प्रारम्भ हो।

कारण—चरक संहिता में लवण, अम्ल, कटु एवं क्षार स्निग्ध, उष्ण, अजीर्ण में भोजन, क्लिन्न, शुष्क, जल में उत्पन्न होने वाले, आनूप मांस, खली आदि, मूल (जिनकी जड़ें खाई जाती हैं) कुलथी, उड़द, सेम आदि शाक (फल, पुष्प, कन्द, नालदि) मांस, गन्ना, दही, कांजी, सिरका, मट्ठा, शराब व आसवों का अधिक सेवन, विरुद्ध भोजन, भोजन पर भोजन, क्रोध, दिन में सोना, रात्रि में जगना आदि वातरक्त के कारण बताए हैं।

प्रायः सुकुमार प्रकृति के मीठे रसयुक्त भोजन, बैठे रहने की आदत या ऐसे ही बैठे रहने वाले काम, अथवा

...ट आदि लगने से व्यक्ति का रक्त दूषित हो जाता है।

कषाय, कटु, तिक्त, रसों के बाहुल्य वाला, थोड़ा भोजन करना, रूक्ष भोजन, या बिल्कुल भोजन न करना, घोड़ा ऊँट ट्रैक्टर आदि वायु प्रकोपक सवारी करना, तैरना, जल क्रीड़ा करना, लङ्घन, उष्ण, अधिक भागना या ...लना, विरुद्ध मैथुन, वेग धारण इनसे वायुवृद्धि हो जाती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों प्रकार के मिलित आहार विहारादि से मुख्यतया रक्त और दूसरी ओर वायु दोनों कुपित हो जाते हैं। यहाँ मुख्यबात है कि रक्त भी समवायी कारणों में लिया गया है अतः वात और रक्त दोनों ही समवायी कारण हैं।

आधुनिक मतानुसार इस रोग में यूरिक एसिड (Uric Acid) की मात्रा रक्त में अधिक हो जाती है। जो शरीर क्रिया के विकार से अधिक उत्पन्न होता और रक्त में ही मात्रा से अधिक रहकर परिभ्रमण करता रहता है। फिर यूरेट आफसोडियाई कणों के रूप में जोड़ों के बीच में जमा हो जाता है।

वह रोग पैतृक रूप से अधिक होता है। वातप्रकृति की संतान में अधिक तर पाया जाता है। कभी कभी बेटे बेटियों को न हो कर पोते पोतियों को और इसी प्रकार एक एक पीढ़ी को छोड़ कर होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक पीड़ित होते हैं। यह रोग अधिकतर ४० वर्ष की उम्र के बाद हुआ करता है। पैतृक होने पर किसी भी उम्र में हो सकता है।

यहां तक कि १०-१२ वर्ष के लड़कों को भी यह रोग होता देखा गया है। स्त्रियों में मासिकस्राव प्रारम्भ होने से पहले रोग प्रायः नहीं होता। जैसा चरक ने कहा है सुखपूर्वक आनन्द का जीवन व्यतीत करने वालों को यह रोग अधिक होता है। पुलाव आदि अधिक खाने व शराब के शौकीन इसके शिकार अधिक होते हैं। शराबों में भी पोर्ट, बीयर, एल आदि मीठी मद्य अधिक हानिकारक सिद्ध हुई हैं। गरीब लोग जो कसाई का काम करते हैं या शराब बनाते हैं, रोग के प्रति अधिक भूमि (शरीर) में उत्पन्न कर लेते हैं। विबन्ध का रहना, नाग (सीसे) का विष भी पर्याप्त भूमिका अदा करते हैं, अतः सीसे का काम करने वाले, रंगरेज और टाइपिस्ट भी रोग का शिकार होते देखे गये हैं।

चिन्ता, विद्वेष, अधिक मैथुन, अधिक परिश्रम या अधिक व्यायाम, शोक, किसी प्रकार का आघात तथा शस्त्रकर्म के बाद भी वातरक्त होता देखा जाता है।

सम्प्राप्ति—संचय-उपर्युक्त असमवायी कारणों से रक्त व वायु दोनों पृथक्-पृथक् प्रकुपित होकर दोषों का संचय हो जाता है यतः रक्त आग्नेय है। इसकी योनि पित्त है। वायु व अग्नि बाह्याध्यात्मिक भेद से तुल्य हैं। विकृति और अविकृति दोनों में अग्नि और वायु का संसर्ग रहता है। चरक ने 'लवण अम्ल' से लेकर 'अभिघाताद शुद्ध्या' तक रक्त दूषण के हेतु तथा 'कषाय कटु' से लेकर 'वेगनिग्रहात्' तक वायु दूषण के हेतुओं का वर्णन किया है।

प्रकोप—ये संचित दोष रक्त में बढ़कर वायु के मार्ग को आवरित कर देते हैं। उससे सम्पूर्ण रक्त संदूषित हो जाता है।[1]

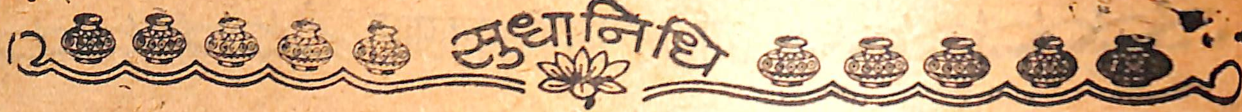
प्रसार—वह संदूषित रक्त दोषों सहित पूरे शरीर में भ्रमण करने लगता है।[2]

डाक्टर रोबर्ट के विचार से प्यूरीन बाहुल्य पदार्थों के सेवन से यूरिक एसिड अधिक उत्पन्न होकर रक्त के क्षारीय द्रव्यों के साथ मिलकर क्वाड्री यूरेट के रूप में परिभ्रमण करता है और वृक्क द्वारा मूत्र के साथ विसर्जित होता रहता है। किन्तु यदि यूरिक एसिड रक्त परिभ्रमण में सोडियम कार्बोनेट के साथ मिल जाय तो सोडियम बाई यूरेट बन जाता है और यह अघुलनशील होता है। अतः इसके कण जोड़ों में एकत्रित होने लगते हैं। डाक्टर गीयर्ड रक्त की क्षारीयता के कम होने से ऐसा होना मानते हैं। डाक्टर महक भी क्षारीयता कम होने से यूरिकएसिड के न घुल सकने को कारण बताते हैं। कुछ डाक्टर आघातादि से संधियों के तन्तुओं की विकृति को मुख्य कारण बताते हैं। कुछ वायु प्रकोप को भी प्रथम कारण मानते हैं। कुछ लोग वृक्क विकृति का पहले होना मानते हैं। कुछ विद्वान यकृत् दौर्बल्य को जिम्मेदार ठह-

---

[1] वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावरितः पथि। कृत्स्नं संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्॥ च० चि० २८-१०-११

[2] कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु 'तच्च स्रस्तं' दुष्टं पादयोश्चीयते तु॥ सु० नि० १



राते हैं कुछ वैज्ञानिक तो एक प्रकार के जीवाणु को ही मुख्य कारण मानते हैं। कुछ डाक्टर अजीर्ण और रक्त-प्रदूषण को भी इसका मूल समझते हैं। निष्कर्ष यह कि आधुनिक वैज्ञानिक इस रोग का समवायीकारण यूरिक एसिड को सर्वसम्मति से स्वीकार करते हैं।

यूरिक एसिड क्या है ? यह शरीर और भोजन का किट्ट है। भोजन में यह न्यूकलियक एसिड और प्यूरीन के रूप में पाया जाता है। यह अंडे, मांस, जलीय पशुपक्षियों के मांस, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, अग्न्याशय, मस्तिष्क, वानस्पतिक शाक, मटर, लोबिया, अनन्नास, मीठी शराबों, आदि में अधिक मिलता है यदि पाचनशक्ति ठीक है, तो इन पदार्थों के खाने पर भी यूरिक एसिड कम पैदा होती है। यदि पाचनक्रिया ठीक नहीं तो न्यूकलियक एसिड और प्यूरीन, यूरिक एसिड में परिवर्तित होकर रक्त में मिल जाते हैं। और यूरिक एसिड जो सामान्यतः १०० सी०सी० रक्त में ३ मिलीग्राम होती है, इससे अधिक हो जाती है। यकृत् सामान्यतः इस यूरिक एसिड को यूरिया में परिवर्तित कर देता है, और वृक्क इस यूरिया को मूत्र द्वारा विसर्जित करते रहते हैं।

यदि व्यायाम पर्याप्त न किया जाय या यूरिक एसिड पैदा करने वाले द्रव्य अधिक खाए जायं और पाचनक्रिया ठीक न हो या कोई अन्य रोग या अन्य उपरोक्त कारण विद्यमान हों और यकृत् तथा वृक्क भी विकृत हों तो रक्त में यूरिक एसिड एकत्रित हो जाता है। और रक्त के क्षारीय पदार्थों से मिलकर क्वाड्री यूरेट्स बनने की बजाय बाई यूरेट बनने लगते हैं। चूंकि यह अघुलनशील हैं अतः छोटी संधियों में एकत्रित होने लगते हैं। यूरिक एसिड के कणों के मूत्र में मिलने को लिथीमिया कहते हैं। ये ही कण फिर अश्मरी का रूप भी धारण कर लेते हैं।

यूरिक एसिड के कारण रक्त गाढ़ा होकर उसके परि-भ्रमण में अवरोध होता है। इससे रक्तदाब (B.P.) बढ़ जाता है। हृदय पर अधिक परिश्रम पड़ता है जिससे वामनिलय बढ़ जाता है वृक्क भी तन्तुमयता के शिकार होने लगते हैं। इसे वातरक्ती वृक्क कहते हैं।

पूर्वरूप-चरक के मतानुसार अधिक पसीने का आना या बिल्कुल न आना, शरीर का काला पड़ जाना, स्पर्श का अनुभव न होना. विकृत स्थान या क्षत में अत्यधिक पीड़ा होना, संधियों में शिथिलता, आलस्य, अवसाद, जानु, जंघा, उरु, कटि, कंधे और हाथ पैर की संधियों में पिडिकाओं की उत्पत्ति, इनमें तीव्र पीड़ा होना, अंगों का फड़कना, सो जाना, भारीपन, खुजली। संधियों में कभी-कभी दर्द ज्ञात होना, त्वचा का वर्ण बिगड़ जाना और उस पर चकत्ते उठना। ये वातरक्त होने से पहले दिखाई पड़ते हैं।

आधुनिक मतानुसार तीव्र (आशुकारी) वातरक्त के प्रकट होने से एक दो दिन पहले पाचनक्रिया का ठीक न होना, विबन्ध, रात को निद्रा नहीं आती, मन बिगड़ा हुआ और क्रोध अधिक आता है। कभी हृद्स्पन्दन अधिक हो जाते हैं तो कभी शिरःशूल की शिकायत, भ्रम (शिर चकराता है) हाथ पैर की अंगुलियां खिंचती हैं या फड़कती हैं। कभी-कभी उनमें सरसराहट मालूम पड़ती है। कभी कंठ में दर्द ज्ञात होता है। मूत्र त्याग की मात्रा कम हो जाती है कभी गंदला और अधिक मात्रा में आता है।

स्थान संश्रय—चरक ने कहा है कि व्यान वायु द्वारा विक्षेप कर्म के उचित रूप से होते रहने पर लगातार रस धातु सारे शरीर में भ्रमण करता रहता है। परिभ्रमण के समय जहां स्रोतस् में विगुणता मिलती है, वहीं रस ठहर जाता है। यहां रस से रुधिरादि द्रव द्रव्यों का ग्रहण है और उसमें मिलित दोष विकृत स्थान में रुककर रोग उत्पन्न करते हैं।[1]

इसी सिद्धान्त के अनुसार बढ़ी हुई वायु (प्रधानतः व्यानवायु) के मार्ग को बढ़े हुए रक्त द्वारा अवरुद्ध कर दिया जाता है। अर्थात् रक्त में मिली यूरिक एसिड की बढ़ी हुई मात्रा के कारण पहले से ही बढ़ी हुई व्यानवायु का मार्ग रुक जाता है। जिससे सम्पूर्ण रक्त और अधिक संदूषित हो जाता है। अर्थात् जब तक व्यानवायु के मार्ग में रुकावट नहीं आती वह यूरिकएसिड को यूरिया आदि के

[1] व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहेविक्षिप्यते सदा॥
क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेश प्रकोपणम्।
च०चि० १५-३६,३७

रूप में वृक्क से निष्कासित कराके मूत्र द्वारा बाहर निकलती रहती है। किन्तु यूरिकएसिड के अत्यधिक मात्रा में हो जाने से व्यानवायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और वह उसे यूरिया आदि के रूप में बाहर न निकाल कर, शरीर की छोटी छोटी संधियों या अन्य त्वचादि स्थानों में जहाँ के स्रोतस पहले से या इस प्रकार के यूरिकएसिड युक्त रुधिर के सम्पर्क से विकृत् हो चुके हैं, स्थानसंश्रय करने लगते हैं। यही अवस्था रोग के प्रकाट होने से पूर्व की है। रोग के पूर्वरूप, जो प्रकोपावस्था में थोड़े थोड़े प्रकट हो रहे थे, अधिक स्पस्ट रूप से प्रकट होने लगते हैं। इसका स्थानसंश्रय हाथ, पैर की अगुलियाँ, और सभी संधियाँ हैं। प्रारम्भ में हाथ पैर की मूल (अंगुष्ठकी संधियों) में स्थानसंश्रय होता है। यतः वायु और रुधिर दोनों ही सूक्ष्म और सर्वसर (सभी स्थानों में पहुँचने वाले) हैं। उनके द्रवत्व और सरत्व गुणों से शरीर की सभी सिराओं (Arteries & veins) में जाते हुए, संधियों में रुकावट आने पर उनके टेढ़ेपन के कारण निराश होकर रुक जाते हैं। वहाँ पित्त आदि दोषों से मिलकर विभिन्न प्रकार की वेदना उत्पन्न करते हैं।[१]

प्रारम्भ में यूरेट आफ सोडा के कण संधियों के बीच में जमती हैं, फिर अन्य द्रव्यों से मिलकर संधियों के पास के अन्य अवयवों और उनके ऊपर की त्वचा में भी जमा हो जाते हैं। वृक्क के भीतर भी ये कण जमा हो जाने से उनमें पीताभश्वेत रेखाएँ दिखाई देती हैं। सिरायें (Arteries & veine) मोटी और कठोर हो जाती हैं। हृदय का वामनिलय भी कुछ सीमा तक बड़ा और विकृत हो जाता है। चिरकारी वातरक्त में विकृत जोड़ों के आसपास यूरेट आफ सोडा और कैल्सियम फास्फेट का जमाव मिलता है। कभी कभी नाक की संधियों और कान की लौरें ये दोनों एकत्रित हो जाते हैं। इसी से अर्बुदरूप चॉक स्टोन (Chalk stone) या टोफाई (Tophi) नामक उभार उत्पन्न हो जाते हैं। इन अर्बुदों में खड़िया जैसी होने से ही एक रोगी अपनी अंगुली के ऐसे अर्बुद द्वारा स्लेट पर लिखता था। त्वचा के नीचे ऐसे अर्बुद के होने से त्वचा फट कर कभी कभी व्रण भी उत्पन्न हो जाते हैं।

व्यक्ति—चरक ने इसके प्रकट होने के दो रूप माने हैं; उत्तान और गम्भीर। किन्तु सुश्रुत इसका विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि वातरक्त कुष्ठ के समान उत्तान बनकर कुछ समय पीछे गम्भीर बनता है, अतः वातरक्त दो प्रकार का नहीं है। चरक ने वास्तव में चिकित्सा के दृष्टिकोण से इसे दो प्रकार का माना है। सुश्रत ने कारण की दृष्टि से एक ही प्रकार का माना है।[१] सुश्रुत ने इसका वर्णन महावातव्यधि चिकित्साध्याय में ही किया है। आधुनिक लक्षणों के अनुसार आशुकारी (Acute) चिरकरी (Chronic) गम्भीर (Retrocedent) और विलक्षण (Erregular) करके चार प्रकार का मानते है।

उत्तान वातरक्त—इसमें कण्डू, दाह रुजा, थकान, तोद, अंगों का फटजाना, सिकुड़ना, त्वचा का काला और रक्त या ताम्रवर्ण का हो जाना, मुख्य लक्षण मिलते हैं।

वायुप्रधान वातरक्त—सुश्रुत के मतानुसार इन लक्षणों में से अधिकतर वातरक्त में वायु की प्रधानता रहने पर होते हैं।[२] चरक भी सिराओं का फैलना, शूल, स्फुरण तोद शोथ का कृष्ण वर्ण, रूक्षता, श्याव बढ़वार का कम होना, धमनी और अंगुलियों की संधियों का संकोच, अंगों का जकड़जाना, और उनके संकोच तथा फैलाने पर अधिक पीड़ा होना, और शीत से प्रद्वेष लक्षण वात की प्रधानता होने पर मानते हैं।

वास्तव में त्वचा और मांस के आश्रित वातरक्त के रहने तक उसे उत्तान कहते हैं। चूँकि कभी उत्तान के रूप

१—तस्य स्थानं करौ पदावङ्गुल्यः सर्व सन्धयः।
कृत्वा ऽऽदौहस्तपादेषु मूलं देहे विधावति ॥
सौक्ष्म्यात्सर्व सरत्वाच्च देहं गच्छन् शिरायनैः।
पर्वस्वभिहतं क्षुब्धं वक्रत्वादवतिष्ठते।
स्थितं पित्तादि संसृष्टं तास्ताः सृजति वेदनाः ॥
करोति दुःखं तेष्वेव तस्मात्प्रायेण सन्धिषु।
भवन्ति वेदनास्तास्ता अत्यर्थं दुःसहा नृणाम् ॥
च० चि० अ० २९

१—द्विविधं वातशोणितमुत्तानमवगाढं चेत्येके भाषन्ते, तत्तु न सम्यक्, तद्धि कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालान्तरेणावगाढी भवति, तस्मान्न द्विविधम् ॥ सु० चि० ५—३

२—स्पर्शोद्विग्नौ तोद भेद प्रशोष स्वापोपेतौ वातरक्तेन पादौ ॥ सु० नि० १—४५



ही प्रकट होते हैं, तो कभी गम्भीर के। अतः चरक व सुश्रुत के वचनों में कोई मतभेद नहीं है। [१]

गम्भीर वातरक्त—विकृत अंग में शोथ, उसका स्तब्ध रहना, कठिन और भीतर अधिक दुःख अनुभव होना अंग का वर्ण श्याव या तवे के जैसे, उसमें जलन, सूई चुभने कीसी पीड़ा, फड़कना या पक जाने वाला, अत्यन्त रुजा और दाह उत्पन्न करती हुई वायु जब संधि, अस्थि और मज्जा को काटती सी चलती है, तो वह भीतर से उन्हें टेढ़ा कर देती है और उस व्यक्ति को खञ्ज या पंगु बना देती है।

करोति खंजं पंगुं वा शरीरे सर्वतश्चरन्।

उभयाश्रय वातरक्त—में दोनों प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

रक्ताधिक वातरक्त—उपरोक्त लक्षणों में यदि शोथ, तीव्ररुजा, तोद, ताम्रवर्ण, चिमचिमाहट, स्निग्ध रूक्ष चिकित्सा से शमन हो, खुजली व क्लेदयुक्त हो, तो रक्त का प्रावल्य समझना चाहिए।

पित्ताधिक वातरक्त—विदाह, वेदना, मूर्च्छा, पसीना व प्यास अधिक, नशा जैसा रहना, या चक्कर आना, विकृत अंग का रंग लाल, पक जाना या फट जाना, अथवा सूख जाना लक्षणों का प्रावल्य होने पर पित्त की अधिकता समझें।

कफाधिक वातरक्त—गीला-गीला और भारी अनुभव होना, चिकनाहट, सो जाना, और वेदना हलकी होने पर कफाधिक वातरक्त जानना चाहिए। द्वन्द्वज—दो-दोषों के मिलित लक्षण देखकर द्विदोषज का अनुमान लगालें। उपरोक्त दोषों का ज्ञान तथा उत्तान गम्भीर का ज्ञान चिकित्सा सौकर्य के लिए है। आधुनिक मतानुसार तीव्र रूप (आशुकारी) का वर्णन अब करते हैं—रोग का व्यक्ति काल उपस्थित होने पर इसका दौरा प्रायः रात के पिछले अंश अर्थात् २ बजे से ५ बजे के बीच होता है। यकायक दाहिने पांव के अंगूठे की संधि कभी-कभी दोनों पैरों के अंगूठों की संधियों एवं कभी-कभी एड़ी या टखने की संधि में जोर की पीड़ा प्रारम्भ होती है। बेचैनी के साथ निद्रा भंग हो जाती है। विकृत संधि सशोथ व भारी हो जाती है। पीड़ा के कारण इसे हिलाया नहीं जाता, छूने से भी तीव्र वेदना होती है, यहां तक कि कपड़े आदि से छूने पर भी पीड़ा असह्य हो जाती है। थोड़ी कम्प के साथ ज्वर आ जाता है। यह १०२° से १०३° फै० तक पहुंच जाता है। प्रातःकाल पसीना आकर बुखार कम हो जाता है तथा दिन भर दर्द कम रहता है। किन्तु रात को दर्द फिर तीव्र हो जाता है। इस प्रकार ५-७ दिन व्यतीत हो जाते हैं और रोग के लक्षण विलीन हो जाते हैं। तत्पश्चात् रुग्ण संधि के ऊपर की त्वचा उतर जाती है। संधि या तो सामान्यरूप में आ जाती है या थोड़ी सी शोथयुक्त रह जाती है।

इस प्रकार बारम्बार दौरों के रूप में वातरक्त का आक्रमण होता रहता है। कभी-कभी वर्षों और महीनों का व्यवधान हो जाता है। कष्टसाध्य प्रकार में शीघ्र आक्रमण होते हैं। कभी-कभी बार-बार एक ही संधि विकृत होती है, तो किसी में एक के बाद दूसरे करके सभी संधियां आक्रान्त हो जाती हैं। ये संधियां कठिन हो जाती हैं। रोगी निर्बल या कृश हो सकता है।

चिरकारी वातरक्त—रोग का आक्रमण देर-देर से होता है और अधिक संधियां विकृत होती हैं। कुछ आक्रमणों के पश्चात् संधि विशेषतः हाथ पैर की संधियां, विरूप हो जाती हैं। अंगुलियों की मूल में सोडियम यूरेट के एकत्रित हो जाने से छोटे-छोटे अर्बुद (गुठिलियां) और उभार बन जाते हैं। इनके ऊपर की त्वचा के फट जाने से यह सोडियम यूरेट दिखाई देने लगता है। नाक और कान की लौरों में भी इसी प्रकार की गांठें बन जाती हैं। इस प्रकार के रोगियों की पाचनक्रिया विकृत होती है। अजीर्ण के कारण हृदय कार्य भी विकृत हो जाता है। चिड़चिड़ा स्वभाव, बेचैनी और उत्साह हानि स्पष्ट दीखती है। त्वचा का वर्ण फीका, मूत्र फीके रंग का व गंदला होता है। मूत्र में एल्ब्यूमिन पाई जाती है। कभी-कभी जोड़ों में पीड़ा होती रहती है। अन्य कई वातरक्तजन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका वर्णन नीचे अनियमित वातरक्त में करेंगे।

१—त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं, गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्॥
च० चि० २९–१९

किन्तु प्रथमोत्पत्तौ किंचिदुत्तानमुत्पद्यते, किंचित्तु गम्भीरमिति तेन न विरोधश्चरकसुश्रुतयोः चक्रपाणि टीका॥



वातरक्त (नकरिस)
सन्धिगत विकृति एवं बड़ी-बड़ी गाँठें स्पष्ट दिखाई देती हैं।

गम्भीर वातरक्त—कभी-कभी इसका आक्रमण रुक जाता है। या रोग संधियों से गम्भीर अंगों की ओर परिवर्तित हो जाता है। इस दशा में उदर पीड़ा, वमन और अतीसार होने लगते हैं। वक्ष में हृदय के स्थान पर पीड़ा होने लगती है। हृद्गति अनियमित हो जाती है। कभी-कभी पक्षाघात आक्षेप, अपतानक आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इसे परिवर्तनीय वातरक्त भी कहते हैं। यह प्रायः असाध्य होता है।

अनियमित वातरक्त—पैतृक बातरक्त विचित्र रोगों का जनक हो सकता है कुछ रोग तो ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध वातरक्त से कुछ न कुछ अवश्य होता है। जिनमें से कुछ का वर्णन नीचे करते हैं—

वायुप्रकोपज—शिरःशूल, शिरःशूल के आक्रमण, विक्षिप्तता, अपस्मार, पक्षाघात, वायुशूल आदि।

पित्त प्रकोपज—नेत्र की जलन, दाहयुक्त शोथ।

कफ प्रकोपज—आमाशयशोथ, आमाशयशूल, उदरशूल, सर्वाङ्गशोथ, यकृत्शोथ, विबन्ध, अर्श और अजीर्ण तथा अपचन।

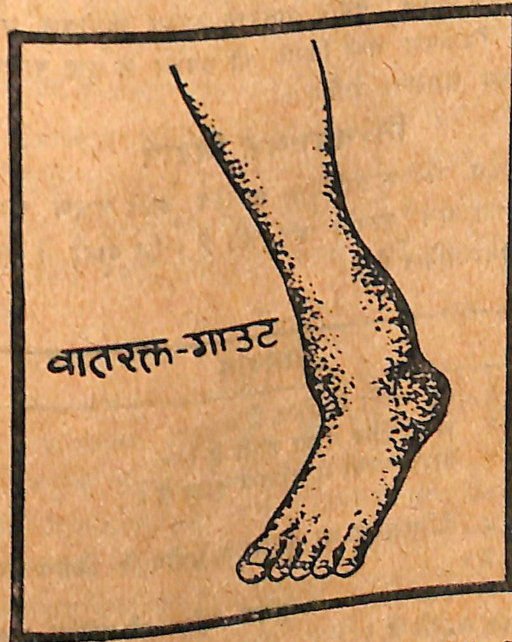
हृद्रोगज—श्वास, चिरकारी कास, न्युमोनियां।

वृक्कज—वृक्क में यूरेट आफ सोडियाई के जमा हो जाने से उसके कार्य में विकृति, उसके सूत्रों का दानेदार हो जाना, मूत्र में एल्ब्यूमिन का आना, मूत्राशय शोथ, और वृक्क या मूत्राशय में यूरिक एसिड की अश्मरी बन जाती हैं।

उत्तान (त्वचीय)—शीतपित्त, त्वचाशोथ, छाजन (Eczema) सोराइसिस, कील या मुहांसे।

नेत्र विकार—ग्लूकोमा (मोतियाबिन्द)।

प्रत्यात्मलिंग—यदि कुटुम्ब में वातरक्त होने का पता चले या रोगी आराम व अत्यधिक आनन्द का जीवन



व्यतीत करता हो, या संधियों में अर्बुद (Tophi) मिले, या गेर्ड की विधि से रस (रक्तरस) में यूरिक एसिड मिले, तो रोग का निदान निश्चित समझना चाहिए।

भेद—सम्प्राप्ति का यह खंड रोग की असाध्यावस्था, उपद्रव तथा अन्य रोगों से पृथक्त्व का निर्देश करता है। चरकादि ने इसके उपद्रवों में निम्न लक्षण व चिन्हों का गणन किया है—

अंगूठे से प्रारम्भ होकर जानुसन्धि तक पहुंच जाय, त्वचा फट जाय और उसमें क्षत उत्पन्न हो जायं एवं स्राव होने लगे। प्राणक्षय, मांसक्षय, निद्रानाश, पूयोत्पत्ति, ज्वर एवं वृक्क विकार उत्पन्न करदे, वह असाध्य है।

एक वर्ष पुराना वातरक्त याप्य हो जाता है।

(सु० नि० १)



निद्रानाश, भोजन में अरुचि, श्वास, मांस में सड़न, तीव्र शिरःशूल, मूर्च्छा, मद, शरीर में पीड़ा, प्यास, ज्वर, मोह, कम्पवात, हिचकी, पंगुता, विसर्प, पाक, सूचिवेधवत् पीड़ा, भ्रम (Vertigo), क्लम, अंगुलियों का टेढ़ा होना, फोड़े निकलने, जलन, शिर, हृदय, वस्ति में पीड़ा और अर्बुदों की उत्पत्ति युक्त वातरक्त भी असाध्य हो जाता है।

सम्पूर्ण उपद्रवों से युक्त न रहने पर याप्य एवं उपद्रवों के बिल्कुल न होने पर रोग साध्य होता है।

एक दोषज, नवीन वातरक्त साध्य, द्विदोषज याप्य और त्रिदोषज तथा किसी भी उपद्रव से युक्त वातरक्त असाध्य समझना चाहिए।

निश्चयात्मक निदान

इस रोग के संधिशूल, आलस्य आदि लक्षण आमवात का भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। इन दोनों में मुख्य भेद निम्नांकित हैं—

कर बांध देनी चाहिए। शोथ की अवस्था में पोस्त के क्वाथ का बाष्प स्वेद करें। लिनीमेंट आफ बैलाडोना ४ ड्राम और लिनीमेंट आफ ओपियम ४ ड्राम मिलाकर थोड़ा लेकर आक्रान्त सन्धि पर लेप कर दें। या बैलाडोना ग्लीसरीन लगाकर धुनी हुई रुई रखकर बांध दें। यदि फिर भी दर्द शान्त न हो, तो सोडाबाई कार्ब ४ ड्राम, लिनीमेंट आफ बैलाडोना २ औंस टिंचर आफ ओपियम आधा औंस, उष्णोदक (खूब गरम पानी) ८ औंस तक मिलाकर इसमें से थोड़ा लेकर चौतह मलमल का टुकड़ा भिगोकर सन्धि स्थल पर रखके ऊपर से रूई रखकर आयलसिल्क या मोमजामा लपेट कर बांध दें। रात को ५ ग्रेन केलोमल देकर प्रातः ४ ड्राम मैग्नेसिया सल्फास एक पाव उष्णोदक के साथ देने से कोष्ठबद्धता का विबन्ध दूर हो जाता है। फिर प्रतिरोज २ ड्राम मैग्नेसियम सल्फास गर्मपानी से प्रातः चाय की तरह

आमवात	वातरक्त
१. बड़े जोड़ों में होता है।	१. छोटे जोड़ों में होता है।
२. भ्रमणशील पीड़ा होती है।	२. पीड़ा प्रायः भ्रमणशील नहीं होती।
३. बाल्यावस्था में प्रारम्भ होता है।	३. प्रायः ४० वर्ष की आयु के लगभग प्रारम्भ होता है।
४. सैलिसिलेट या गुग्गुल के प्रयोग से विशेष लाभ होता है।	४. इनसे बहुत कम लाभ होता है।
५. रक्त (रस) में यूरिक एसिड की परीक्षा नकारात्मक रहती है।	५. परीक्षा सकारात्मक होती है। यूरिकाम्ल प्राकृत मान ५ मिग्रा से बढ़कर ९-१० मिग्रा प्रति १०० मिलि० रक्त हो जाती है।
६. पांव के अंगूठे आदि से प्रारम्भ नहीं। बल्कि किसी बड़ी सन्धि से दर्द प्रारम्भ होता है।	६. इतिवृत्त निश्चयात्मक निदान है। पैर के अंगूठे में रात आधी बीतने के बाद दर्द शुरू होता है।

उत्तानवातरक्त में शीतपित्त, रक्तविकार आदि का भ्रम हो सकता है। इसके लिए इतिवृत्त तथा रक्त (रस) परीक्षा निश्चयात्मक निदान हैं।

चिकित्सा

आधुनिक—पहले आधुनिक विधियों का वर्णन करते हैं—

आशुकारी—प्रकार में आक्रमण के समय अंग को ऊंचा उठाकर रखें। शयनावस्था में रुग्ण पैर को तकिया पर रख दें। आक्रान्त सन्धि पर रुई या फलालेन लपेट

चुस्की ले लेकर पीने को दें। हृदय को शक्ति देने वाले योग प्रयोग कराते रहें। लीथियावाटर जो सोडावाटर बनाने वालों को कहकर बनवाया जा सकता है, पीने को देना चाहिए प्रारम्भ से ही निम्न औषधियों को मिक्श्चर के रूप में ३-४ बार मल प्रवृति होने तक ३-३ घंटे बाद दें। इसके बाद मैग्नेशिया सल्फास हटाकर ४-४ घंटे बाद दर्द के कम होने तक देना चाहिए। दर्द बन्द हो जाने के बाद (यह ४-५ खुराक देने पर बन्द हो जायगा) दिन में केवल ३ या ४ बार ७-८ दिन तक देने से रोग के पुनः आक्रमण की बहुत कम गुंजायश रहती है।

प्रयोग—टिंचर कोलचीसियाई सिमेनम — १० बूंद
पोटेसियाई साइट्रेट — २० ग्रेन
मेग्नेसियाई सल्फेटस — $1\frac{1}{2}$ ड्राम
(जल) एक्वाक्लोरोफार्मी — १ औंस तक

यदि रोगी के पेट में दर्द हो या वमन और अतीसार अथवा हृदय निर्बल हो और कल्चीकम का प्रयोग निषिद्ध हो, तो निम्न प्रयोग दें :—

पोटसी बाई कार्ब — २० ग्रेन
लिथियाई कार्ब — ५ ग्रेन
पाइप्रेजीन — ३ ग्रेन
सेक्रीन — $\frac{1}{4}$ ग्रेन
एसिड साइट्रिक — १५ ग्रेन

ऐसी १-१ मात्रा दिन में तीन बार। प्रतिबार आधा गिलास पानी में डालने पर उफान उठे, तब पिला दें।

दर्द के बन्द हो जाने व शोथ के मिट जाने पर निम्न प्रयोग निर्बलता निवारणार्थ प्रयुक्त करावें।

पोटासी बाईकार्ब — १५ ग्रेन
सिरप अमोनी एरोमेटिक — २० बूंद
लाइकर असिनी केल्सस — २० बूंद
इन्फ्यूजन कलम्बी — १ औंस तक

भोजन से पूर्व ऐसी ३ मात्रा दिन में देनी चाहिए। कुछ पेटेन्ट औषधियां लाभकारी सिद्ध हुई हैं। उनके प्रयोग की विधि साथ रहती है। लेख का कलेवर कम करने की दृष्टि से केवल नाम गिना देते हैं।

१. पाइप्रेजीन—इससे यूरिक एसिड घुलनशील हो जाती है। मात्रा-५ ग्रेन लिथियावाटर के साथ दिन में ३ बार १-१ घंटे बाद भोजन से पूर्व दें। मात्रा बढ़ाकर १० ग्रेन।

२. सिडोनल—प्रयोग नं० १ के समान।

३. क्वीनोफोर्मीन—मात्रा १० से २० ग्रेन दिन में ३ बार।

४. कोल्चीसीन सेलीसिलेट—मात्रा $2\frac{1}{2}$ ग्रेन, १-१ कण दिन में २-३ बार।

५. सेलीथिया। ६. काल्चीसाल।
७. थाइमीनिक एसिड सोल्यूसन। ८. थैलीटोन।
९. एटोफान।

रोग के दौरों के बीच के समय में स्वास्थ्यप्रद खुले हवादार गृह में रोगी रहे। प्रतिदिन नियमित समय पर व्यायाम करे, पैदल प्रातः घूमना, डम्बल घुमाना, किन्तु इतना व्यायाम जिससे क्लम (थकान) हो जाय हानिप्रद है। शीत व भीगने से बचावें। सर्वदा गर्म कपड़े पहनाने चाहिए। वर्षा में बाहर घूमने न जावें, शीत ऋतु में गर्म जल से और गर्मियों में सुखोष्ण जल से प्रतिदिन स्नान करें। स्नान के समय उष्ण जल अवगाहन, समुद्रस्नान और शरीर को खूब मलना लाभप्रद हैं।

आर्द्र स्थान यथा समुद्र के किनारे न रहें। उष्ण और शुष्क प्रदेशों में रहना लाभदायक रहता है, क्योंकि खूब स्वेद आने से त्वचा की क्रिया ठीक रहती है। पाचन-क्रिया ठीक रखनी चाहिए। विबन्ध और अजीर्ण न होने दें।

मधुर व मांसयुक्त भोजन अपथ्य हैं।

पथ्य—दूध (गाय या भैंस), दही का पानी, मीठा तक्र, ताजा मक्खन, मीठा पनीर, अंडा (उबाला या फेंटा हुआ), नारंगी, संतरा, अलूचा आलू बालू, अनार मीठा, अंजीर, फालसा, खूबानी, जामुन आदि बादाम, पिस्ता, हरी तरकारी और शाक यथा पालक लाभप्रद हैं। सभी अनाज, शुद्ध जल, पाव रोटी, अखरोट, चिलगोजा।

अपथ्य—अधिक मीठे मेवा, अंगूर, नासपाती, सेब खजूर, आम मिष्ठान्न, लवणयुक्त भोजन, चाय, काफी, मद्य, ताड़ी, अधिक मसालेदार शाक या चाट आदि, मोटे वसामय मांस, गाढ़े रसीले द्रव या मांसरस, आलू, विलायती बैंगन (टमाटर), सिरका, अचार, चटनी मांस की बोटी, कीमियां, कबाब आदि।

चिरकारी (Chronic)—वातरक्त के रोगियों को निम्नांकित स्वस्थवृत्त का पालन करना चाहिए :—

पानी अधिक पीते रहें, यदि सम्भव हो तो खारी सोतों के जल, जो विलायती पानी के नाम से बन्द बोतलों में मिलते हैं, यथा—दिची वाटर या वाडवाटर, प्रातः पी लिया करें। अथवा पोटाशियम साइट्रेट २० ग्रेन प्रातः सायं पानी में मिला भोजनोपरान्त पी लिया करें। सामान्य लवण के स्थान पर पोटेसियम क्लोराइड थोड़ा सा खायें। पाचनक्रिया सामान्य रखने के लिए

डायाफोटिक मिक्श्चर और विबन्ध के लिए साल हैस्पेटिका (Sal Hespatica) एक ड्राप एक गिलास पानी में मिलाकर भोजन से पूर्व पीलिया करें। अधिक विबंध होने पर रात को ब्लूपिल ३ ग्रेन ले लें। प्रातः मैग्नेसिया सल्फास ४ ड्राम आधे गिलास पानी में मिलाकर पीवें। आक्रमण होने पर आशुकारी वातरक्त की चिकित्सा करें। ग्वाटमरेजन लाजेंज एक दिन में तीन बार लें। लेवलर लाइकर भी लाभप्रद है। जब अवस्था ठीक हो, लौह व संखिया के योगों का प्रयोग करते रहें।

गम्भीर (परिवर्तनीय)—वातरक्त में संधियों को मलना, स्वेदन या राई का प्लास्टर लगाकर रोग को संधियों की ओर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। शेष जो लक्षण हों, उनकी लाक्षणिक चिकित्सा करनी चाहिए।

अनियमित—वातरक्त में भी उपरोक्त स्वस्थवृत्त का पालन तथा मुख्यतः वातरक्त की चिकित्सा और लाक्षणिक चिकित्सा करनी चाहिए।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—वेदना निवारणार्थ चरक व सुश्रुत वेदना युक्त संधि से सींगी, जलौका, सूची, अलांबु या पछने लगाकर रक्तमोक्षण द्वारा वेदना का शमन करने का प्रथम आदेश देते हैं। आशुकारी वातरक्त के रुजा, दाह, शूल, तोद और दुःखयुक्त रोगियों का जलौका द्वारा; अंगों के सो जाने, कण्डू, चिमचिमाहट होने पर सींगी व तुम्बी द्वारा; या शरीर व देश का विचार कर सिरा से या पछने लगाकर रक्तमोक्षण करना चाहिए। जहां अंगों की ग्लानि हो, रोगी रूक्ष या वातरक्त में वात प्रबल हो, तो रक्तमोक्षण नहीं करना चाहिए। रक्तमोक्षण से पूर्व रोगी को स्निग्ध करलें। यह कार्य कुशल चिकित्सक द्वारा सम्पन्न होना चाहिए अन्यथा गम्भीर शोथ, स्तम्भ, कम्प, स्नायु और सिराओं में तनाव, ग्लानि, संकोच, खञ्ज, अन्य वातरोग या मृत्यु भी हो सकती है। रोगी का प्रथम स्नेहन कराकर विरेचन दें अथवा शीघ्रता हो तो स्नेहनयुक्त विरेचन तथा शुद्ध एरण्ड तैल द्वारा विरेचन करादें। रोगी रूक्ष या मृदु स्वभाव के हों उनका वस्तिकर्म करके मलविशोधन कर देना चाहिए। फिर सेक, अभ्यङ्ग, प्रदेह, स्नेहयुक्त अन्न और अविदाही द्रव्यों का प्रयोग कराने से वातरक्त शमन हो जाता है। सुश्रुत वमन का निर्देश रक्तमोक्षण के बाद करने का करते हैं। संसर्जन कर्म के पश्चात् वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध दुग्धपान का विधान है।

उत्तान—वातरक्त को आलेपन, अभ्यङ्ग, परिषेक उपनाह द्वारा जीतें। जौ, मुलहठी, एरण्ड, तिल और पुर्ननवा को पीस कर लेप करना हितकारी है।

गम्भीर—वातरक्त को विरेचन, आस्थापन, स्नेहपान द्वारा जीतना चाहिए।

वातोत्तर—को घृत, तैल, वसा, मज्जा पीने, मालिश करने और वस्तियों में प्रयोग करें। उस संधि के ऊपर सुखोष्ण पुल्टिस बांधें।

रक्तपित्तोत्तर—को विरेचन, घृत, दूध का पिलाना, सेक, वस्ति और शीतल निर्वापण करके जीतना चाहिए।

कफोत्तर—में मृदुवमन, स्नेह, सेक, विलङ्घन, कोष्णलेप लाभदायक होते हैं।

कफवातोत्तर—में स्तम्भन करने से शीत के कारण दाह, शोथ, रुजा कण्डू की वृद्धि हो जाती है।

रक्तपित्तोत्तर—में उष्ण क्रिया से दाह, क्लेद और अंग फट जाते हैं, अतः इन दोनों में सावधानी-पूर्वक दोष बल देख कर चिकित्सा करें। रक्तपित्तोत्तरमें सर्पि में जीवनीयगण पीसकर लेप आदि विधान चरक में देख लें।

पित्तोत्तर—घृतों के निर्माण का विधान चरक आदि ग्रन्थों में देख लें। वहां पारुषक जीवनीय आदि घृतों का वर्णन है। वातरक्त में मैंने वस्तियों के प्रयोग तथा गिलोय के विभिन्न योगों द्वारा चिकित्सा करने पर अत्यन्त लाभप्रद पाया है।

त्रिदोषज वातरक्त—के लिए चरक में स्थिरादि पेया का विधान है। पीपल के वृक्ष की छाल के क्वाथ में मधु डालकर पिलाना चाहिए।

पीड़ा की शान्ति के लिये विभिन्न प्रकार की औषधियों से सिद्ध दुग्धों का विधान पित्तरक्तावृत वायु के लिये चरक चि० स्था० २६-८२ पर बताया है दुग्ध में मिलाकर एरण्ड तैल का प्रयोग चिरकारी विबन्ध के रोगियों को विरेचनार्थ करना लाभदायक सिद्ध हुआ है।

कफाधिक—में गिलोय के क्वाथ का प्रयोग अनुभूत है। भैषज्य रत्नावली का गिलोय, धनिये और सोंठ का

क्वाथ मैंने कई रोगियों पर उत्तान वातरक्त में किया और लाभप्रद पाया है। गुड़ और हरड़ का प्रयोग जलानुपान से करना कफाधिक वातरक्त में लाभदायक है।

वायु को मल से आवृत समझकर घृतयुक्त दूध की बस्ति देकर शमन करना चाहिए।

बस्ति, वंक्षण पार्श्व और अस्थियों में अधिक पीड़ा होने पर अनुवासन सहित निरूह बस्तियों का प्रयोग कराना लाभप्रद सिद्ध होता है।

मधुयष्ठ्यादि, सुकुमार, अमृताद्य आदि तेलों का नस्य, मर्दन करके सेक देना चाहिए। विभिन्न प्रकार के लेपों का वर्णन दोषानुसार विभिन्न संहिता ग्रन्थों में उपलब्ध है।

मेद या कफ के मार्गों के अवरोध से अतिवृद्ध हुई वायु में प्रथम स्नेहन व बृंहण चिकित्सा लाभप्रद होती है। तदनन्तर व्यायाम, शोधन, अरिष्ट, मूत्रपान, विरेचन, तक्र और हरीतकी का प्रयोग कराके कफ और मेद को क्षीण करना चाहिए।

शिलाजीत, गुग्गुल और स्वर्णमाक्षिक का प्रयोग वातरक्त में लाभदायक है।

अम्लद्रव्यों से युक्त जल से स्नान, शतपाकवला तैल का पान व अभ्यंग में प्रयोग करें। (सु०)

सभी प्रकार के वातरक्त में एक मास तक गुड़ + हरीतकी अथवा पीपल (पिप्पली) को दुग्ध या जल में पीसकर पांच-पांच के वृद्धि क्रम से या दस-दस के वृद्धिक्रम से सेवन करने से सभी प्रकार के वातरक्त शमन हो जाते हैं। यह प्रयोग अनेक वैद्यों का अनुभूत व सु० चि० ५-१२ पर वर्णित है।

वाग्भट तालमखाने के स्वरस या क्वाथ को पीने और उसी का शाक भोजन में प्रयोग करने अथवा तालमखाने का शाक खाकर ऊपर से तालमखाने का ही स्वरस या क्वाथ पीने का अभ्यास करने से वातरक्त की शान्ति उसी प्रकार हो जाने की गारंटी देते हैं जिस प्रकार कृपा करने का अभ्यास करने से क्रोध की शान्ति हो जाती है।

—(वा० चि० २२)

योगरत्नाकर नामक ग्रन्थ के प्रणेता परम माहेश्वर महात्माने, जिन्होंने अपने निस्पृह एवं उत्सर्गशील स्वभाव के कारण अपने नाम का भी संकेत ग्रन्थ में कहीं नहीं किया, इस कोकिलाक्ष को गुडूची के साथ मिलाकर क्वाथ बना पीने से तीन सप्ताह में वातरक्त से मुक्ति हो जाने की गारण्टी दी है। मैं भी अपने रोगियों पर इसका प्रयोग कर रहा हूँ। पाठक भी प्रयोग करें और 'सुधानिधि' के माध्यम से मुझे तथा वैद्य समुदाय को सूचित करने का कष्ट करते रहें।

लघु एवं बृहत्मंजिष्ठादि क्वाथ, किशोर गुग्गुल का प्रयोग भी लाभकारी सिद्ध हुआ है, यदि कैशोर गुग्गुल के स्थान पर अमृता गुग्गुल लें तो सर्वश्रेष्ठ है।

उत्तान वातरक्त में लघु व बृहत्मरिच्यादि तैल का प्रयोग करें। महातिक्त, अमृता आदि घृत पित्तोत्तर वातरक्त में सौ बार धोया हुआ घृत लेप करने से रक्ताधिक वातरक्त में लाभ होता है।

रसों में पञ्चामृत रस का प्रयोग करना श्रेष्ठ है। लांगल्यादि लौह, वातरक्तान्तक रस, हरिताल भस्म, महातालकेश्वर रस और विश्वेश्वर रस का वर्णन रसेन्द्रसार संग्रहकार श्रीमद्‌गोपालकृष्ण जी भट्ट ने वर्णित किया है। इनमें महातालकेश्वर का प्रयोग करके मैंने गुणकारी पाया है।

प्रतिषेध—आजकल रोग का भयंकर आक्रमण रोकने के लिए प्रतिषेधात्मक रूप में कॉल्चीसीन की ०.५ मि० ग्रा० की गोलियां ८-८ घण्टे पर प्रतिदिन महीनों लेना चाहिए खासकर जिनकी सन्धियों में टोफियां बन रही हों। सामान्य आक्रमण जिनको हों वे १२-१२ घंटे पर १-१ गोली ले सकते हैं। खाली पेट यह दवा महास्रोत में क्षोभ करती है अतः भोजन के बाद ले सकते हैं। बेनेमिड (Benemid) में यह दोष प्रायः नहीं मिलता है उसे १ से २ ग्राम प्रतिदिन लें। कई वर्ष लेने के बाद मात्रा घटाई जा सकती है। फिनाइल बूटा जोन से भी लाभ होता है पर वह आमाशय में जलन कर सकती है।

मध्य आयु की एक जटिल व्याधि

वातरक्त

डा० कु० शैलवाला काले B. A. M. M. S. स्टेट आयुर्वेद कालिज, लखनऊ

कुमारी काले स्टेट आयुर्वेद कालेज लखनऊ में पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च स्कालर हैं और अनुसन्धान कार्य में संलग्न विदुषी हैं। आपने संक्षेप में वातरक्त पर वे सभी तथ्य प्रस्तुत कर दिये हैं जो इस प्रकरण के वातरक्त सम्बन्धी लेखों में हैं फिर भी कुछ विशेषताएं हैं। भाषा वैज्ञानिक और प्रांजल है। ज्ञान-विज्ञान का सामञ्जस्य शोभन है। भारतीय नारी सदा आयुर्वेद का संरक्षण इस देश में करती आ रही हैं। उन्हीं में से एक जो आयुर्वेद कुल में ही उत्पन्न हुई परम विदुषी हैं उनका लेख सर्वथा स्वागतार्ह है। —रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

पूर्वरूप—जिस प्रकार सायंकाल के समय आकाश में उदित इन्द्रधनुष, तारों भरी रात्रि में चन्द्रमा के चारों ओर घिरा श्वेत चक्र, गगन में मेघों का आच्छादन, सिरहन उत्पन्न करने वाली पुरवाई वर्षा की सम्भावना व्यक्त करते हैं उसी भांति शारीरिक व्याधियां भी किसी न किसी भांति अपना पूर्व संकेत प्रदान करती हैं, जैसे बारम्बार छींकों का आना, नाक से तरल स्राव का बहना, प्रतिश्याय की पूर्व सूचना प्रदान करते हैं। उसी प्रकार शारीरिक श्रम न करने वाले शीत प्रदेशों के निवासी अपने जीवन के मध्य चरण में अनिद्रा, कण्डू, कानों में शब्दों की ध्वनि, वमन, उदरशूल, आन्ध्यमान, अल्पमूत्रता, स्वेदाधिक्य, कृष्ण वर्णता, स्पर्शज्ञान-हीनता, संधि शैथिल्य, आलस्य, जड़ता, पिडिकायें, अधोसंधियों में सुई सम चुभन, अंगों की फड़कन, बारम्बार दाह, व्रण में वेदनाधिक्य, शरीर पर चकत्तों की उत्पत्ति तथा कान्तिहीनता, आदि लक्षणों को अनुभव करते हैं, किन्तु उन पर तब तक ध्यान नहीं देते जब तक मध्य रात्रि के समय दाहिने पैर के अंगूठे में असह्य पीड़ा के परिणामस्वरूप निद्रा खुल न जाय, संधि की त्वचा चमकीली और तनावयुक्त न हो जाय, जलन और टपकन न होने लगे, सिरायें फूल न जायें, जाड़ा लगकर ज्वर न हो जाय। तब उन्हें रोग की जटिलता का भास होता है और रोग के प्रति चिन्ता, उत्पन्न होती है। आयुर्वेदज्ञों ने इस रोग को 'वातरक्त' और पाश्चात्य चिकित्साविदों ने गाउट (Gout) संज्ञायें प्रदान की हैं। महर्षि चरक ने वातरक्त के पूर्वरूप को निम्न श्लोकों द्वारा वर्णितकिया है :—

> स्वेदोत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक्।
> सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ॥
> जानुजंघोरुकट्यंसहस्तपादांगसन्धिषु।
> निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥
> कण्डूः सन्धिषु रूग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत्।
> वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ॥

कारण—महर्षि चरक के अनुसार लवण, अम्ल, कटु, क्षार, स्निग्ध, उष्ण भोजन से, अजीर्ण पर आहार करने से, सड़े हुए, शुष्क, मत्स्य, आनूप मांस सेवन से, तिल की खली, मूली, कुलत्थ, उड़द, सेम, पत्रशाक, ईख, दही, कांजी, सौवीर, सिरका, छाछ, सुरा, आसव के सेवन, विरुद्ध भोजन, क्रोध, दिन में सोने, रात्रि जागरण, मिष्ठान्न खाने, सुख का उपभोग करने आदि से वातरक्त कुपित होता है जैसे कि निम्न श्लोकों से स्पष्ट है।—

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्ण भोजनैः ।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः ।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः ।
प्रायशः सुकुमाराणां मिष्टान्नसुखभोजिनाम् ॥

पाश्चात्य चिकित्साविद् गाउट (Gout) के निम्न आठ कारण मानते हैं :—

१. आनुवंशिक—यह कारण ५० प्रतिशत से ८० प्रतिशत रोगियों में मिलता है ।

२. पर्यावरण—शीत प्रदेशों में उष्ण प्रदेशों की अपेक्षा यह रोग अधिक होता है ।

३. वंशज—वंश के अनुसार भी इस रोग का पित्रागमन होता है ।

४. लिंग—स्त्रियों की अपेक्षा यह रोग पुरुषों में अधिक मिलता है ।

५. आयु—मध्यम आयु इस रोग के आक्रमण हेतु सर्वोत्कृष्ट है ।

६. मद्य सेवन—मद्यसेवी व्यक्तियों में यह रोग अधिक संख्या में मिलता है ।

७. मांसाहार—प्यूरिन युक्त भोजन तथा यकृत् सेवन करने वालों को वातरक्त अधिक होता है ।

८. व्यायाम—व्यायाम न करने वालों को बहुधा वातरक्त होता है ।

सम्प्राप्ति—महर्षि चरक के अनुसार अभिघात से, संशोधन न होने से, रक्त के दूषित हो जाने पर, कसैले, चरपरे, तिक्त भोजन से, अल्प एवं रूक्ष आहार से, उपवास से, घोड़ा, ऊंट आदि की सवारी से, जल क्रीड़ा, कूदने तथा लंघन से, उष्णकाल में मार्ग चलने से, मैथुन से, वेगों के रोकने से प्रवृद्ध हुई वायु सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर देती है इसे ही वातरक्त कहते हैं जैसा कि निम्न श्लोकों से स्पष्ट है—

कषायकटुतिक्ताम्लरूक्षाहारादभोजनात् ।
हयोष्ट्रयानयानाम्बुक्रीडाप्लवनलंघनात् ॥
उष्णे चात्यध्वगमनाद्व्यवायाद्वेग निग्रहात् ।
वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि ॥
कृत्स्नं संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम् ।
खुडं वातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभिः ॥

पाश्चात्य चिकित्साविदों के अनुसार जब वृक्कों में दोष उत्पन्न हो जाता है और यूरिक अम्ल का उत्सर्जन ठीक नहीं होता तो गाउट जन्म लेता है अथवा शरीरान्तरगत विष या अन्य उपसर्गों के कारण मृदु अस्थियों, कण्डराओं तथा स्नायुओं में दोष उत्पन्न हो जाता है और शरीर में यूरिक अम्ल का संचय होने लगता है । यूरिक अम्ल का अधिक मात्रा में संचय गाउट के अतिरिक्त पाण्डुरोग, ल्यूकीमिया तथा वृक्क शोथ आदि में भी होता है । जिन स्थानों पर यूरिक अम्ल का संचय होता है वहीं यूरेट के नुकीले स्फटिक भी मिलते हैं । इन स्फटिकों के संचय के परिणामस्वरूप सन्धियों की गतिशीलता में बाधा उत्पन्न होने लगती है तथा शोथ उत्पन्न हो जाता है । इन स्फटिकों का संचय उन स्थानों पर अधिक होता है जो हृदय से दूर स्थित होते हों । यदि ये स्फटिक त्वचा में एकत्र हो जाते हैं तो उस स्थान पर अर्बुद उत्पन्न कर देते हैं । रोग बढ़ जाने पर लिगामेण्ट्स तथा टेण्डन आपस में संसक्त हो जाते हैं । यूरिक अम्ल का संचय हृदय विस्फार (Dilatation) धमनी दृढ़ता (Arteriosclerosis) तथा वृक्कशोथ आदि अन्य रोगों को भी उत्पन्न करता है ।

विभेद—पाश्चात्य चिकित्सकों के अनुसार वातरक्त के दो भेद माने गये हैं—अतिपाती (Acute) तथा जीर्ण (Chronic) । महर्षि चरक ने भी वातरक्त के दो भेद अंकित किये हैं—उत्तान तथा गम्भीर जैसा कि निम्न श्लोक द्वारा स्पष्ट है—

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते ।
त्वङ्मांसाश्रययुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥

महर्षि चरक के अनुसार वातरक्त की निम्न चार अवस्थायें वर्णित की गई हैं—

(क) यदि वातरक्त में वायु की अधिकता हो तो शूल, स्फुरण, सुई चुभने के समान पीड़ा, शोथ में रूक्षता तथा कृष्णता और सांवलापन होता है । सूजन में वृद्धि और हानि दोनों होती हैं, धमनियों तथा उंगलियों की सन्धियों में संकोच होता है । अंक स्तम्भ तथा दारुण व्यथा होती है । रोगी शीत से द्वेष करता है । शरीर स्तम्भित होजाता

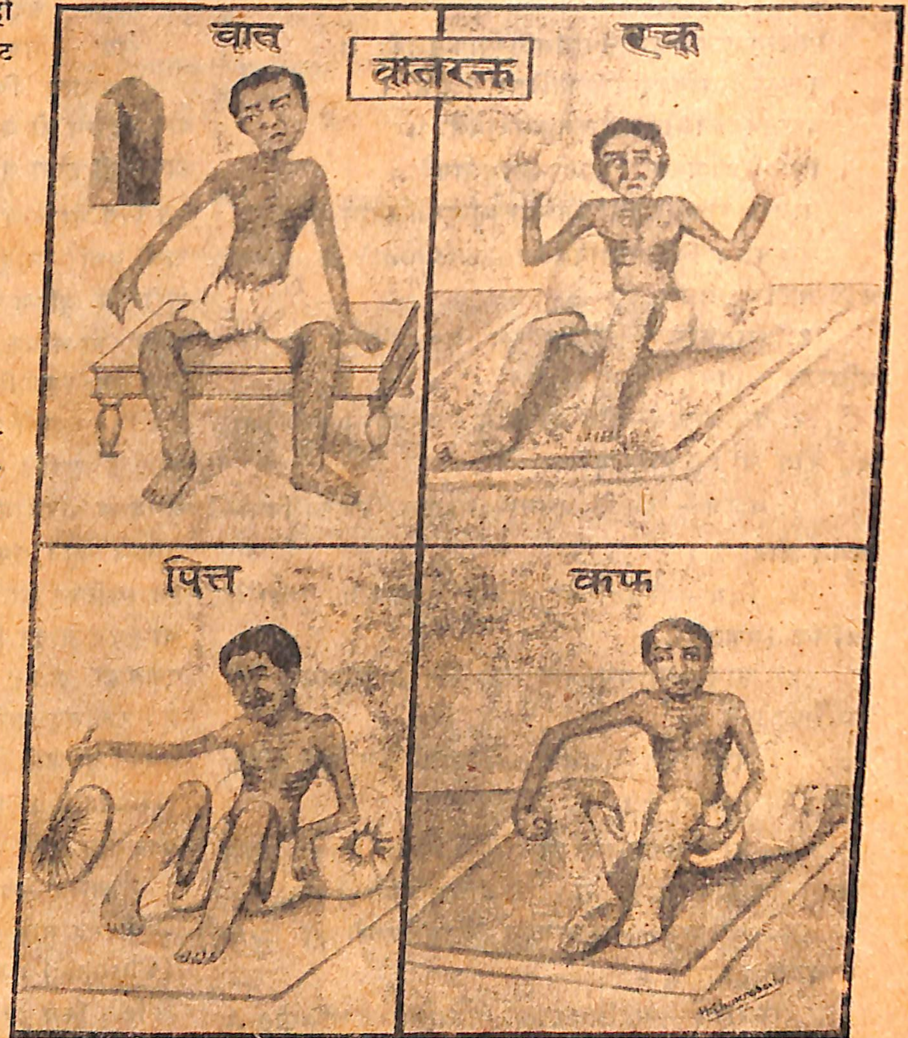


है, कांपता है और स्पर्श ज्ञान नष्ट हो जाता है, जैसी निम्न श्लोकों से स्पष्ट है—

विशेषतः सिरायाम-
शूलस्फुरणतोदनम् ।
शोथस्य कार्ष्ण्यं रौक्ष्यं च
श्यावतावृद्धिहानयः ॥
धमन्यंगुलिसन्धीनां
संकोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् ।
कुंचनस्तम्भनेशीत
प्रद्वेषश्चानिलोत्तरे ॥

(ख) यदि वातरक्त में रक्त की अधिकता हो तो अत्यन्त वेदनायुक्त, तोदयुक्त अरुण वर्ण, चिमचिम करने वाला, खुजली क्लेद युक्त शोथ होता है जो स्निग्ध और रूक्ष पदार्थों से शान्त नहीं होता, जैसा निम्न श्लोकों से स्पष्ट है—

श्वयथुर्भृशरुक तोदस्ता-
म्रश्चिमिचिमायते ।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति
कण्डूक्लेदान्वितोऽसृजि ॥



(ग) यदि वातरक्त में पित की अधिकता हो तो दाह उसकी विशेषता है। रोगी संज्ञाहीन हो जाता है। पसीना आता है, मूर्च्छा तथा मद हो जाते हैं प्यास लगती है, स्पर्श को सहन नहीं कर सकता। व्यथा, दाह, शोथ, पाक तथा तीव्र उष्णता होती है। जैसा निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

विदाहो वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रमः ।
रागः पाकश्च भेदश्च शोषश्चोक्तानि पैत्तिके ॥

(घ) यदि वातरक्त में कफ (श्लेष्म) की अधिकता हो तो शरीर आर्द्र चर्म से ढके हुये के समान प्रतीत होता है। गुरुता, जड़ता, स्निग्धता, शीतलता, मन्द कण्डू तथा व्यथा होती है—

स्तैमित्यं गौरवं स्नेहः सुप्तिर्मन्दा च रुक् कफे ।
हेतु लक्षण संसर्गाद्विद्याद्द्वन्द्व त्रिदोषजम् ॥

लक्षण—वातरक्त जिस रात्रि आक्रमण करता है उसी रात्रि अपने अनेक लक्षण स्पष्ट कर देता है। अतिपाती (Acute) अवस्था में अर्धरात्रि के लगभग दाहिने पैर के अंगूठे, जानु, टखने अथवा कुहनी की सन्धि में तीव्र पीड़ा होती है। सन्धि की त्वचा चमकीली, तनावयुक्त हो जाती है और दबाने पर दब जाती है। सन्धि में जलन और टपकन का आभास होता है। सन्धि के निकट की शिरायें फूल जाती हैं। जाड़ा लगकर ज्वर आ जाता है। ज्वर के लगभग दो घण्टे पश्चात् पसीना आता है। प्रातःकाल लक्षणों की तीव्रता में कमी हो जाती है। दिन के समय सन्धि में शोथ रहता है फिर भी रोगी को अधिक कष्ट नहीं होता। दस बारह दिन तक बराबर रात्रि को रोग

का आक्रमण होता है किन्तु आक्रमण की तीव्रता दिन प्रति दिन कम होती जाती है। अरुचि, तृष्णा, उत्क्लेश, मलावरोध, जिह्वा का मैलापन, श्वास में कठिनता, विक्षिप्तावस्था, भुजाओं की शिराओं में शोथ, श्वेत रक्त कणों की संख्या २० से २५ हजार, बहुकेन्द्रिय श्वेतरक्त कण ८० से ८५ प्रतिशत आदि लक्षण भी मिलते हैं।

जीर्ण (Chronic) वातरक्त में सन्धियों की विकृति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, अस्थि, स्नायु तथा अन्य अंगों में यूरेट के स्फटिकों का संचय हो जाता है अस्थियों में शोथ और विकृति हो जाती है, कर्णपाली में गाठें उत्पन्न हो जाती हैं। अग्नि मन्द हो जाती है, धमनियों में काठिन्य हो जाता है, हृदय का वाम निलय बढ़ जाता है, उदर पेशियों तथा पिंडलियों में ऐंठन होती है।

उपद्रव—वातरक्त के कारण अनेक उपद्रव जैसे निद्रानाश, अरुचि, श्वास, मांसक्षय, शिरःशूल, मूर्च्छा, पीड़ा, तृष्णा, ज्वर, मोह, कम्प, हिक्का, पंगुता, विसर्प, भ्रम, ग्लानि, अस्थिवक्रता, अर्बुद आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

अनुगामी विकार—कुछ काल के भीतर ही वातरक्त अनेक व्याधियों जैसे—छाजन, अम्लपित्त, अग्निमन्दता, धमनीदार्ढ्य, हृत्पेशी वृद्धि एवं विस्फार, रक्तचापाधिक्य, वृक्कशोथ, वृक्काश्मरी, शिरशूल, नाड़ीशूल, गृध्रसी, आंखों और पैरों में जलन, नेत्र रोग आदि उत्पन्न करता है।

निदान—कुलज प्रवृत्ति बारम्बार आक्रमण का पूर्व इतिहास, मध्यरात्रि को अंगूठे की संधि में पीड़ा होना, त्वचा का चमकीलापन, कान के नीचे गांठों की उत्पत्ति आदि लक्षण वातरक्त सूचक हैं। सापेक्ष निदान करते समय आमवात (Rheumatic fever) दूषितसंधि शोथ (Septic-arthritis) तथा पूयमेह जन्य (Gonorrhoeal) शोथ का भी ध्यान रखना चाहिये।

वातरक्त के निदान में निम्न प्रायोगिक विधियां भी अपनाई जाती हैं।

(क) मूत्र परीक्षा—मूत्र में यूरिक अम्ल की उपस्थिति प्रदर्शित करती है।

(ख) लसीका परीक्षा—यदि लसीका में यूरिक अम्ल की मात्रा प्रतिशत ३-४ मि० ग्रा० से अधिक हो तो वातरक्त का ध्यान रक्खें।

(ग) सूक्ष्म दर्शक परीक्षा—गांठों वाले स्थान से लवणों के स्फटिकों के दर्शनार्थ।

साध्यासाध्यता—महर्षि चरक के अनुसार एक दोषज तथा नवीन वातरक्त साध्य है, द्विदोषज याप्य है और त्रिदोषज तथा जिस वातरक्त में उपद्रव उत्पन्न हो गये हों असाध्य होता है जैसा निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

एकदोषानुगं साध्यं नवैयाप्यं द्विदोषजम्।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः॥

पाश्चात्य चिकित्साविदों का विश्वास है कि एक बार गाउट (Gout) के आक्रमण के उपरान्त रोगी इससे पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता। हृदय तथा वृक्कों के अधिक प्रभावित न होने की दशा में पथ्य से रहते हुये तथा चिकित्सा करते हुये रोगी स्वाभाविक आयु प्राप्त कर लेता है किन्तु हृदय तथा वृक्क के प्रभावित हो जाने पर रोग घातक हो जाता है।

अपथ्य—वातरक्त के रोगी को दिन में सोना, धूप का सेवन, व्यायाम, मैथुन, कटु, उष्ण, गुरु, अभिष्यन्दी, नमकीन तथा अम्ल पदार्थों का सेवन वर्जित है क्योंकि इनसे रोग की वृद्धि होती है।

पथ्य—वातरक्त के रोगी को जौ, गेहूं, तिल्ली, शालि चावल, साठी चावल, मुर्गा, तोते का मांसरस, अरहर, चना, मूंग, मसूर, कुलथीयूष, चौपतिया, मकोय, शतावरी, बथुआ, पोय आदि पथ्य के रूप में सेवन कराये जा सकते हैं। गाय, भैंस और बकरी का दूध भी दिया जा सकता है। पाश्चात्य चिकित्सक स्थूल रोगी को कम कैलोरीवाला भोजन देते हैं जिसमें प्यूरिन तथा आक्जेलेट कम हो, देते का परामर्श देते हैं।

चिकित्सा—महर्षि चरक के अनुसार वातरक्त के रोगी को स्निग्ध करके थोड़ा-थोड़ा रक्तमोक्षण कराना चाहिए किन्तु यदि अङ्ग में ग्लानि हो तो रक्तमोक्षण नहीं करना चाहिए जैसा कि निम्न श्लोकों द्वारा स्पष्ट है—

तत्र मुंचेदसृक्शृङ्गजलौकः सूच्यलाबुभिः।
प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलम्॥
रुग्दाहतोदरागार्तादसृक् स्राव्यं जलौकसा।
शृङ्गैस्तुम्बैर्हरेत्सुप्तिकण्डूचिमिमिमायनात्॥

स्नेहन कराके स्नेहयुक्त विरेचक औषधियों अथवा रूक्ष या मृदु औषधियों द्वारा विरेचन भी लाभप्रद है। वातरक्त में बारम्बार वस्तिकर्म भी हितकर है। यदि वातरक्त बाह्य हो तो लेप, अभ्यंग, परिषेक तथा उपनाह द्वारा चिकित्सा लाभदायक है और यदि वातरक्त गम्भीर हो तो विरेचन, आस्थापन वस्ति तथा स्नेहपान हितकर है।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से निम्न औषधियां एवं योग वातरक्त में लाभप्रद हैं—

गुटिका—गुग्गुल, लांगली, चन्द्रप्रभा।

घृत—बला, पारुषक, शतावरी, गुडूची, मताद्य, महागुडूची, जीवनीय।

तैल—शताह्वाऽऽदि, महापिण्ड, पिण्डा महापद्मक, खुड्डाकपद्मक, गुडूची, अमृताद्य, मृणालाद्य मिश्रक, धत्तूराद्य, नागबला, शतपाकबला, मधुकाद्य, शतपाक मधुपर्णी, सहस्र पाकबला, मधुयष्ट्यादि, कुसुमारक, बला।

गुग्गुल योग—पुनर्नवा गुग्गुल, समशंकर गुग्गुल, किशोर गुग्गुल, त्रिफलागुग्गुल, सिंहनाद गुग्गुल, त्र्योदशांग गुग्गुल।

रस—समीरपन्नग, व्याधिहरण योग, मल्लसिंदूर, वातकुलान्तक, महा वातविध्वंसन रस।

पाश्चात्य चिकित्सा के अनुसार वातरक्त में गर्म तथा आर्द्र पट्टी बांधना चाहिए और औषधि के रूप में काल्चीसीन (Colchicine), कार्टिकोट्राफिन (Corticotrophin), प्रोबेनेसिड (Probenecid), सल्फिन पाइरेजोन (Sulfin pyrazone) एलोपुरिनाल (Allopurinol), फिनाइल ब्युटेजोन (Phenyl butazone) आदि औषधियां प्रयोग की जाती हैं।

वातरक्त के रोगी की सफल चिकित्सा

बाबू जयनारायण जी रईस, छीपीटोला की रुग्णा पुत्री को जिस चिकित्सा विधि के द्वारा जीर्ण वातरक्त से रोगमुक्त किया गया था, उसका संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

शीतपित्तभञ्जन रस २–२ रत्ती एवं गन्धक रसायन ६४ भावना वाला ४–४ रत्ती दोनों का मिश्रण कर प्रातः सायं गोघृत में मिलाकर चटाया जाता था तथा उत्तम प्रकार से बनाये हुए बृहद् योगराज गुग्गुल की २–२ गोली दिन में ३ बार मंजिष्ठादि अर्क ५–५ तो० के साथ सेवन करायी गयी थीं। इनमें से केवल शीतपित्तभञ्जन रस की निर्माणविधि यहां लिखी जाती है। क्योंकि चिकित्सा में प्रयोग कराये जाने वाले अन्य सब योग अति प्रचलित शास्त्रीय हैं।

शीतपित्तभञ्जन की निर्माण-विधि—

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, कासीस भस्म, ताम्र भस्म चारों औषधियां १०–१० ग्राम। प्रथम पारे गंधक की कज्जली कर उसमें दोनों भस्में मिला पश्चात् भांगरे और सरफोंका के स्वरस या क्वाथ से ७–७ दिन भावना देकर खरल करें। फिर गोले बना धूप में सुखा लें, तत्पश्चात् गोले को सराव सम्पुट में कपड़मिट्टी कर सुखा कुक्कुट पुट में अग्नि देवें। शीतल होने पर भांगरे एवं सरफोंका क्वाथ में १–१ दिन खरल कर पुनः ३ बार हल्की अग्नि देकर भस्म बना लें।

विशेष वक्तव्य—अनेक रोगी तीव्र औषधों के अन्तक्षेपण (इंजेक्शन के द्वारा) रोग दबा देने के लिए जिह्वा एवं मन को वश में न कर सकने के कारण एलोपैथ चिकित्सा से प्रयत्न कराते है। जिससे रोग का मूल रक्त, मांस, मेद आदि धातुओं में लीन हो जाता है। ऐसे रोगियों को शीतपित्त, वातरक्त तथा कुष्ठ तक रक्त में लीन हुए विष एवं क्षार संग्रह के कारण उत्पन्न होकर महीनों एवं वर्षों तक उक्त रोगों से ग्रसित हो जाना पड़ता है। यदि व्यसनों का त्याग कर पथ्य पालन और श्रद्धा से उपर्युक्त औषधों का सेवन करते है तो वे भी रोगमुक्त अवश्य हो जाते है। यदि वातरक्त रोगी को विबन्ध (कब्ज) हो तो त्रिफला एवं एरण्ड-तेल आदि रेचन औषधियों का भी साथ में प्रयोग कराते रहना आवश्यक है।

स्मरणीय—उपर्युक्त रोगों से ग्रसित रोगियों को शीतल जल से स्नान, शीतल वायु सेवन, रात्रि-जागरण, वातकारक आहार एवं विहार, गुरुपाकी आहार एवं कब्जकारक गरमागरम पेय चाय, गरम भोजन तेल, गुड़, खटाई का त्याग। —श्री शिवकुमार वैद्यशास्त्री D. Sc. A., रावतपाड़ा (आगरा)।

सुधानिधि

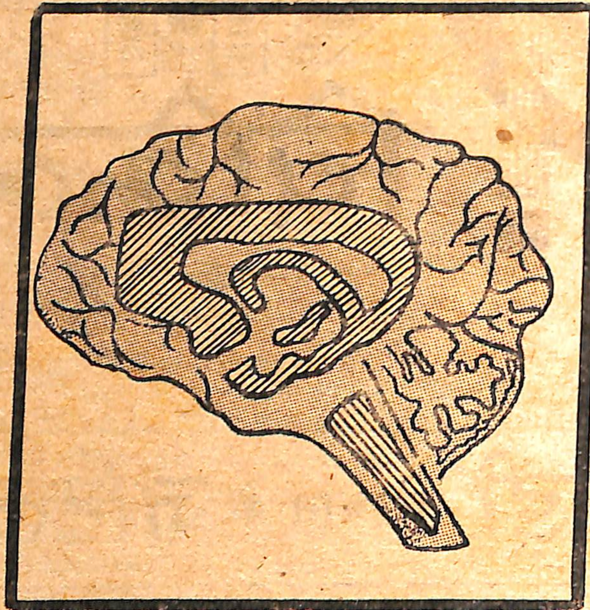


जटिल रोग चिकित्सांक

वातनाड़ी संस्थान के जटिल रोग

इस खण्ड में







तथा उसकी सफल चिकित्सा

डा० महेश्वर प्रसाद, उमाशंकर चीफ सर्जन-एम हास्पीटल,

मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

शास्त्र में प्रत्यक्ष की परिभाषा--आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥ दी गई है। हमारे सुयोग्य सन्मित्र और सुधानिधि के पाठकों के हृदयहार डा० महेश्वरप्रसाद, उमाशंकर हस्तामलकवत् विषय को प्रत्यक्ष कर अपने विचारों को वाङ्मय में परिणत करने के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने गृध्रसी जैसे प्रकट जटिल रोग पर अपने अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण को किस खूबी से उजागर किया है। वह अनेक मनीषियों को निर्भ्रान्त करने में समर्थ है। सुधानिधि की अपनी एक शैली है जिसके द्वारा एक विशिष्ट परम्परा को जन्म दिया गया है उनकी लेखनी उस शैली और परम्परा का आद्योपान्त प्रत्यक्षीकरण प्रस्तुत करती है। लेख में समझने और करने को बहुत कुछ है।

---रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।

नाम तथा परिभाषा---लंगड़ी का दर्द, कटिस्नायु न, गृध्रसी वात, अर्कुलनसा, साइटिका,[1] कमर का दर्द, टिशूल, डाड़ का दर्द आदि इसके विविध नाम हैं।

गृध्रसी उस वातव्याधि को कहते हैं जिसमें सबसे ले नितम्ब और इसके बाद कमर, पीठ, उरु प्रदेश जानु, घा और पैर में एक क्रम से जकड़ाहट, दर्द और सूई के चुभने जैसी पीड़ा होती है। साथ ही बारम्बार इन प्रदेशों में स्पन्द उत्पन्न होता रहता है। यदुक्तं चरक-संहिता ग्रन्थे-

"स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घा पदं क्रमात्।
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दतेमुहुः ॥ --च.चि.अ.२८

शरीर शास्त्र[2] के प्राचीन एवं अर्वाचीन[3] विद्वानों का ऐसा मत है कि गृध्रसी नाम की एक नाड़ी[4] होती है जो

1--Sciatica, 2--Anatomy. 3--Modern. 4--Sciatic Nerve.

नितम्ब से लेकर पैर तक अनेक शाखा -प्रशाखाओं में बटी हुई पहुँचती है। वात जब इस नाड़ी में प्रकुपित होती है तो एक क्रम से इन स्थानों में जकड़ाहट, वेदना, तोद, (सूई चुभने जैसी पीड़ा) और स्पन्दन हुआ करते हैं। जानु सान्धि से दो अंगुल ऊपर या नीचे गृध्रसी नाड़ी में दर्द उठता है।

रोगोत्पत्ति के कारण—अधिक चलने, कुर्सी पर अधिक देर तक बैठने एवं अधिक देर तक खड़ा रहने से गृध्रसी नाड़ी पर अधिक दबाव पड़ता है तथा चोट लगने, जीर्ण कोष्ठबद्धता की दशा में अधिक श्रम या व्यायाम करने, ठंड लगने, वायु विकृत ,उपदंश, गठिया आदि रोगों के होने से और वस्तिगह्वर के कुछ रोगों के फलस्वरूप यह व्याधि उत्पन्न होती है। शरीर की सबसे दीर्घ स्नायु गृध्रसी नाड़ी जो नितम्बों से निकल कर टाँग और घुटने के पिछली ओर से होती हुई पैर की एँड़ी तक जाती है, में विकृति आ जाती है; परिणामस्वरूप उक्त नाड़ी तनाव-युक्त हो जाती है। स्वाभाविक प्रसारण एवं आकुंचन की शक्ति क्षीण हो जाती है, उक्त नाड़ी से सम्बन्धित मांसपेशियों एवं कण्डराओं में तीव्र पीड़ा एवं झुनझुनी होने लगती है तथा गृध्रसी नाड़ी की शाखा–प्रशाखाओं में खिचाव उत्पन्न होता है। कभी कभी इतनी असह्य पीड़ा होती है कि नींद नहीं आती। १०२ से१०५° फा° तक ज्वर चढ़ जाता है ये सब लक्षण गृध्रसी नाड़ी में तनाव (आयाम) होने के कारण ही होते हैं जो प्रायः कोष्ठबद्धता की दशा में और अधिक बढ़ते हैं।

रोग के लक्षण (पूर्वरूप और भेद सहित)—गृध्रसी रोग के शुरू में अशांति, पैरों में झुनझुनी, कनकनी, और नाड़ियों का खिचाव होता है। इसके बाद नितम्ब प्रदेश, जंघा के आगे और पीछे वेदना उत्पन्न होती है। यह रोग दो प्रकार का होता है—(१) वातज और (२) वातकफज। यदुक्तं माधव निदाने—

"वाताद्वातकफा........"

इन दोनों के अलग-अलग लक्षण होते हैं। यथा—

"वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता।
जानुकट्यूरु संधीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम्॥
वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं वह्निमार्दवम्।
तन्द्रा मुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च॥"

वातज गृध्रसी में स्तम्भ, वेदना और तोद के साथ बारम्बार स्पन्दन होता है।

वातकफज में स्पन्दन नहीं होता, और स्तम्भ, वेदना, तोद के साथ-साथ तन्द्रा, गौरव और अरुचि होते हैं।

गृध्रसी रोग में सर्वप्रथम एक ओर की गृध्रसी नाड़ी में ही वेदना होती है जो कभी-कभी पैर एवं घुटनों के भाग से होता हुआ टखना और एड़ी तक प्रतीत होता है। बाद में यह वेदना दोनों पैरों में भी हो सकती है। सामान्यतः रात्रि के समय हिलने-डोलने यहां तक कि थोड़ी भी हरकत से तथा आंधी-वर्षा के आने के पूर्व वृद्धि को प्राप्त होता है। किन्तु किसी-किसी को यह वेदना गति से घट भी जाती है। रोग जीर्ण होने पर उस समय अधिक जटिल हो जाती है जबकि रोगी के पैर और जांघ की मांस पेशियां सूख जाती हैं तथा दर्द असह्य हो जाता है।

वृद्धिप्राप्त लक्षण—सम्यक् चिकित्सा नहीं होने पर अतितीव्र पीड़ा से नींद नहीं आती है, १०२° से १०४° या १०५° फा० तक ज्वर चढ़ जाता है। रोगी को कै, भयंकर सिर दर्द, छाती में पीड़ा, व्याकुलता और मूर्च्छा होती है।

चिकित्सा के सिद्धान्त—इस रोग में सर्वप्रथम निम्नांकित विधि से वमन और विरेचन करावें। रोगी को ६ से ९ माशे तक मैनफल चूर्ण गर्म जल के साथ अथवा नमक २ से ३ तोला तक ३ पाव गर्म जल में मिलाकर पिलावें तो कै हो जायगी और ऊर्ध्व अङ्ग-प्रत्यङ्ग के वात विकार को थोड़ी शान्ति हो जायगी। इसके बाद यदि रोगी कफ प्रकृति का हो या रोग कफ की विशिष्टता से युक्त हो तो निशोथ चूर्ण ६ से ९ माशे तक तथा सोंठ चूर्ण ३ माशे को एक साथ मिलाकर उसमें बराबर भाग में मधु मिलाकर ठंडे जल से दें तो अच्छी तरह दस्त द्वारा कोष्ठ की शुद्धि होगी। यदि वात प्रकृति का रोगी हो या रोग वातज हो तो बड़ों को २.५ से ५ तोला तक विशुद्ध एरण्ड तैल गर्म दूध के साथ पिलायें। इसके पश्चात् यथोचित औषधियों द्वारा सम्यक् चिकित्सा करें। इस रोग में विरेचक औषधि विशेष गुणकारी इसलिए होती है कि शरीर में कोष्ठबद्धता से आम की उत्पत्ति होती है। आम-प्रकु-

पित वात से युक्त गोंद्र जद और हाइएल्यूरोवाइडेस[1] नामक कि॰।[2] की मात्रा को बढ़ा देती है। तब विरेचक[3] औषधि उस आम और वात को बाहर निष्कासित[4] करके सभी विकृतियों को शांत कर देती है। जब विरेचन और वमन द्वारा कोष्ठ की शुद्धि कर ली जाती है तो उपयुक्त औषधि योगों में से कोई भी देश, काल, वय, शक्ति और प्रकृति के अनुसार योजना कर सेवन कराई जाती है। चिकित्सक को सदैव इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि रोगी को विरेचन के लिए बहुत तेज जुलाब नहीं देवें, नहीं तो रोगी दस्त करते-करते अत्यन्त तंग होजायगा, पेट में अत्यधिक मरोड़ पैदा हो जायगा तथा गृध्रसी का दर्द और अधिक बढ़ जायगा। रोगीका उदरकोष्ठ जैसा मुलायम या कड़ा हो वैसा ही विचार कर उपयुक्त विरेचक औषधि का प्रयोग करना चाहिए।

चिकित्सा निमित्त शास्त्रोक्त योग—प्रातः नाराच घृत (भै० र०) ½ से १ तोला ईषत् उष्ण दूध के साथ दें।

निर्माण वि०-लोध, चित्रकमूल, चव्य, वायविडङ्ग, हरड़, बहेड़ा, आंवला, निसोत, ओंधाफूली, अतीस, सोंठ, काली-मिर्च, पीपल, अजमोद, हल्दी, दारुहल्दी, और दन्तीमूल प्रत्येक १-१ तोला, थूहर का दूध १६ तोला, अमलतास का गूदा १६ तोला, और गोमूत्र ३२ तोला लें। सर्वप्रथम गोमूत्र को छोड़कर बाकी समस्त द्रव्यों को पीसकर कल्क निर्माण करें। इसके बाद कल्क, गोघृत ६४ तोला एवं घृत से चौगुना जल मिलाकर मन्दाग्नि पर घी को सिद्ध करें।

दोपहर और सायं को दशमूल क्वाथ (शार्ङ्गधर संहिता)—२ से ४ तोले का क्वाथ बनाकर दो भाग करके उपर्युक्त दोनों समय में पीपल का चूर्ण और सुनी हींग १ रत्ती एवं पुष्करमूल का चूर्ण २ माशा मिलाकर सेवन करावें।

दशमूल क्वाथ निर्माण वि०—बेलछाल, गंभारी छाल, पाढ़लछाल, अरलूछाल, अरणी की छाल, गोखरू का पञ्चांग, छोटी कटेरी का पञ्चांग, बड़ी कटेरी का पञ्चाङ्ग, पृष्ठपर्णी का पञ्चाङ्ग तथा शालपर्णी का पञ्चाङ्ग इन सबों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर जौकुट चूर्ण कर लेवें। आवश्यकता के समय इसे ही विधिवत् क्वाथ करें।

सायं और रात्रि को समीरपन्नग रस (र० चं०)—आधी रत्ती से २ रत्ती तक मधु के साथ चटावें।

समीरपन्नग निर्माण विधि—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शु० सोमल (संखिया) और शु० हरताल। इन चारों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर परस्पर मिलावें। तब इसमें कृष्ण तुलसी के स्वरस की तीन भावना देवें। पश्चात् बालुका-यन्त्र में रखकर २४ घंटे मन्दाग्नि की आंच देकर तल में स्थिति रसायन निर्माण कर लेवें। चेतावनी—इस औषधि को सेवन करने की अवधि में रोगी को पर्याप्त मात्रा में घृत सेवन कराना परमावश्यक है।

उपर्युक्त औषधियों को पांच दिन तक सेवन करने के पश्चात् निम्नांकित औषधियों को भी उनके साथ सेवन करानी चाहिए। तब पहली दी जाने वाली औषधियों की मात्रा आधी कर देनी चाहिए।

प्रातः गृध्रसीहर गुटिका (र० तं०)—वय और शक्ति के अनुसार १ से ४ गोली तक निवाये जल से देवें। औषधि सेवन काल में विशुद्ध देशी घृत का पर्याप्त मात्रा में सेवन करावें (भोजन में)।

गृध्रसीहर गुटिका निर्माण वि०—महायोगराज गुग्गुल ½ तोला, भुनी हींग २ तोला, और छिलका निकाली हुई एरण्ड के बीज की गिरी २ तोला। इन सबको रास्नादि क्वाथ (रास्ना, बलामूल, गोखरू, शालपर्णी और पुनर्नवा) इनको बराबर-बराबर मात्रा में लेकर जौकुट चूर्ण निर्माण करें और विधिवत् अठगुने जल में क्वाथ बनावें उससे ६ घंटे तक दृढ़ हाथों से खरलकर १-१ रत्ती की गोलियां बना लेवें।

प्रातः सायं और रात्रि में महानारायण तैल (भा० प्र.) की मालिश दुखते हाथों से पीड़ित स्थानों पर करावें।

स्वानुभूत प्रयोग—मैंने जो अनेक गवेषणाओं के

★★ 1—Hyalurovidase. 2—Ferment (खमीर) 3—Purgative. 4—Excrete.



बाद जिन-जिन औषधियों एवं विशिष्ट योगों को जटिल गृध्रसी रोग में चमत्कारिक रूप में गुणकारी पाया उन-उन सबों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

१. वातनाशी कैपसूल—प्रातः सायं १-१ कैपसूल हल्के नास्ता के बाद महारास्नादि क्वाथ (शा० सं०) १ से २ तोला से निगलवा दें। वातनाशी कैपसूल सेवन की अवधि में घृतयुक्त भोजन जैसे—हलुआ, पराठा, पूरी, घृत मिश्रित दाल आदि पाचनशक्ति के अनुसार पर्याप्त मात्रा में सेवन करायें।

वातरास्ना कैपसूल निर्माण वि०—शुद्ध लहसुन (निस्तुष लहसुन की तूरी को रात भर गाय के दही की छाछ में भिगो रखें और सुबह होते ही धोकर पत्थर के खरल में सूक्ष्म पीसकर कल्क बना लें।) एरण्डमूल की छाल, शुद्ध कुचला (गोमूत्र में भिगोकर जिह्वा और भीतरी विषैले अंश और ऊपरी रोआंदार छिलका दूर कर देवें), शुण्ठि, असगन्ध, गिलोयसत्व—इन्हें ऊपर से नीचे क्रमशः ६० ग्राम, ५० ग्राम, ४० ग्राम, ३० ग्राम, २० ग्राम और १० ग्राम की मात्रा में लेकर दृढ़ हाथों से ४ घण्टे तक खरल कर कपड़छन करें। पश्चात् इसमें निम्नांकित विधि से निर्मित पीली संखिया की १ ग्राम मात्रा मिलाकर पुनः दृढ़ हाथों से १२ घण्टे तक खरल करें जिससे कि समस्त द्रव्य सम सर्वत्र हो जाय। निम्न योग स्व० कृष्णप्रसाद त्रिवेदी जी का है—

पीलीसंखिया—नि०वि०—सबसे पहले पीलीसंखिया ५० ग्राम लेकर जौ कूट करें। फिर इसे दोलायन्त्रविधि से दो सेर मेड़ के दूध में स्वेदन करें। समस्त दूध के सूख जाने पर पुनः दो सेर दूध में स्वेदन करें। इस भांति सात बार करें। इसके बाद संखिया को कांच की डाटयुक्त शीशी में बन्द रखें। यही पीली संखिया है जिसको एक ग्राम की मात्रा में उपर्युक्त औषधि योग में मिलाकर २५० मि. ग्रा. वाले खाली जिलैटिन के कैपसूलों में भरकर पैक कर दिये जाते हैं। जिन पाठकों को इस औषधि के निर्माण में कठिनाई हो वे हमसे बना-बनाया मंगा सकते हैं।

२. वातनाशी पेय—निष्तुष लहशुन शुद्ध किया हुआ एक पाव, चन्द्रशूर बीज एक छटांक, एरण्डमूल त्वक् एक छटांक, शुद्ध कुचला आधी छटांक तथा गोमूत्र ताजा (कुमार बछिया का) ५० ग्राम और वर्षा जल ३ किलो। सर्वप्रथम काष्ठौषधियों को चूर्ण कर उसमें जल और गोमूत्र डालकर फूलने छोड़ दें। २४ घंटा भिगोये रखने के बाद उसमें कुल द्रव्य की आधी मात्रा में पुराना गुड़ मिलायें और धरती के नीचे गड्ढे खोदकर एक मास तक सन्धान होने छोड़ दें। सन्धान पूर्ण होने की जांच कर लेने के पश्चात् द्रव को निथार लें और फिल्टर यन्त्र से भली-भांति छान लें। अब इसमें २ से ४ रत्ती कस्तूरी मृतसंजीवनी सुरा या परिशुद्ध सुषव (Rectified spirit) मिश्रित करके मिला देवें। पूर्ण संयोग हो जाने पर डाटयुक्त बोतलों में पैक कर सुरक्षित रखलें। प्रयोगविधि—१० से २० ग्रा. औषधि सममाग ताजा जल में मिलाकर भोजन के बाद दिन और रात में पिलायें।

३. वातनाशी चटनी—यह औषधि जटिल गृध्रसी ही नहीं एकाङ्ग और सर्वाङ्गवात में भी लाभकारी सिद्ध हो चुका है। निर्माण विधि—निष्तुष लहसुन (अंकुर रहित) २५ तोला लेवें। अब इसको रात भर गौ के दही छाछ में मिगोये रखकर सुबह धोकर खरल में सूक्ष्म पीसकर कल्क बना लेवें। अब इस कल्क का पांचवां भाग निम्न द्रव्यों के बराबर मात्रा में मिला हुआ चूर्ण (५ तोला) लेकर मिलावें। त्रिकटु, कलौंजी, भुनी हींग, कालानमक, सेंधव लवण, अजवायन, जीरा, निर्गुण्डी घनसत्व, एरण्डमूल त्वक घनसत्व। इसके बाद उड़द की दाल की पकौड़ी तिल तेल में पकावें। प्रयोग विधि—दो चार पकौड़ी प्रतिदिन प्रातःसायं खिलाकर ऊपर से उपर्युक्त चटनी ५ से १० ग्राम की मात्रा में चटायें। यह योग कैसा भी जटिल गृध्रसी वात में लाभप्रद है।

४. वातनाशी तैल—लालमिर्चा बीज रहित १० ग्राम, कुचला साबुत १० ग्राम, तम्बाकू के पत्ते १० ग्राम, एरण्डमूल त्वक २० ग्राम, सहसुन ४० ग्राम, रतनजोत १० ग्राम। इन सबको १ किलो तिल या सरसों तेल में विधिवत तैल पाक करें। तैल सिद्ध होने पर छानकर इसमें ढेला कर्पूर ३ ग्राम तथा अजवायन सत्व ६ ग्राम गर्म दशा में ही भलीभांति मिलावें।

प्रयोग—रोग पीड़ित स्थान पर दिन में तीन बार मालिश करें।

★★

पक्षाघात एक जटिल रोग

डा० श्री शरदचन्द्र शर्मा बी. ए. एम. एस. (आयुर्वेदाचार्य) प्रवक्ता
ऋषिकुल राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार

पक्षाघात की कारण मीमांसा इस लेख में विशदता के साथ की गई है। रोग की जटिलता पर भी प्रकाश डाला गया है और चिकित्सात्मक विधि भी अर्थात् लाइन आफ एप्रोच भी सुन्दर ढंग से दी गई है। लेखक महोदय ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज हरिद्वार में भौतिक सिद्धान्त विभाग के लैक्चरर हैं तथा अनेक विषयों के अध्यापन का अनुभव रखते हैं आशा है भविष्य में लेखक अपने अन्य सुन्दर लेखों द्वारा आयुर्वेद-जगत में अच्छा स्थान बनावेंगे। —म० मो० ला० चरौरे।

रोगों का आश्रय शरीर और मन है। जिस प्रकार रोग के आश्रय शरीर व मन हैं उसी प्रकार दोनों ही सुख और आरोग्य के भी आश्रय हैं। काल, इन्द्रिय, बुद्धि का सुयोग ही सुख तथा दुरपयोग ही रोग का कारक है।

शरीर में दोष, धातु, मल प्राकृत अवस्था में रहकर आरोग्य व सुख प्रदान करते हैं। तथा ये तीनों ही विकृत अवस्था में शरीर में विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। उनमें से एक भयंकर तथा जटिल रोग पक्षाघात भी है।

पक्षघात के विविध नाम:—पक्षघात, पक्षवध, एकांग वात, एक पक्षवध, अर्ध नारीश्वर पक्षाघात, अर्धाङ्ग पक्षाघात, अर्धाङ्ग वध, एकांग रोग, चेष्टा वह नाडियों का विकार इसे कुछ लोग अधांगवात भी कहते हैं।

यूनानी चिकित्सक इसे फालिज, तशन्नुजी फालिज इस्तर खाई फालिज कहते हैं।

> आधोगमाः सतिर्यग्गा धमनीरूर्ध्वदेहगाः।
> यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मातरिश्वा प्रपद्यते ॥
> तदाऽन्यतरपक्षस्य सन्धि बन्धान् विमोक्षयन्।
> हन्ति पक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः ॥
> यस्य कृत्स्नं शरीरार्धमकर्मण्य चेतनम्।
> ततः प्रतत्यसून वाऽपि जहात्यनिलपीडितः ॥
> शुद्ध वातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः।
> साध्यमन्येन संसृष्टमसाध्यं क्षयहेतुकम् ॥
>
> सुश्रुत नि० १।६०, ६१, ६२,

जब अत्यधिक प्रकुपित वायु नीचे जाने वाली, टेढ़ी जाने वाली और ऊपर सिर की ओर जाने वाली धमनियों में प्राप्त होती है तब दोनों में से किसी एक पक्ष (शरीर का भाग) संधि बन्धनों को (अपने गति केन्द्र से) पृथक् कर उस पक्ष का घात (विनाश) कर देती है। इस रोग को भिषग्वर (श्रेष्ठ वैद्य) पक्षाघात कहते हैं। जिस मनुष्य का सम्पूर्ण आधा शरीर कार्यरहित तथा चेतना हीन होता है वह वात से पीड़ित रोगी बिछोने पर गिर जाता है। अथवा रोग बढ़ने पर मर जाता है। केवल वात प्रकोप से जो पक्षाघात होता है वह कृच्छ्रसाध्य होता है। जो पित्तादि अन्य दोषों से युक्त वात से पक्षाघात होता है वह साध्य होता है। एवं जो रक्तादि धातु के क्षय से पक्षाघात होता है वह असाध्य है।

विशिष्ट लक्षण:—१. स्मरण शक्ति नहीं रहती।

२. रोगाक्रान्त भाग के रक्त, भुजा, स्नायु, पैर सूख कर सिकुड़ जाते हैं। टेढ़ी व कमजोर पड़ जाती है।

३. तीव्राक्रमण के साथ ज्वर भी रहता है तथा रुग्ण भाग ठंडा रहता है।

गृहीत्वार्धं तनोर्वायुः शिरा स्नायूर्विशोष्य च ।
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धि बन्धान् विमोक्षयन् ॥
कृत्स्नो ऽर्धकायस्तस्य स्याद कर्मण्यो विचेतनः ।
एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ॥
अष्टाङ्ग हृदय नि० अ १५/ ३८, ३६

सम्पूर्ण आधे शरीर को वायु ग्रहण कर उस आधे शरीर की शिरा और स्नायुओं को शोषण करके और संधि बन्धनों को ढीले करके आधे शरीर को हनन कर देती है। इससे जिस ओर के आधे शरीर को अकर्मण्य और अचेतन बना देती है। वह ही सारे शरीर का बांया और दांया भाग अचेतन हो जाता है। इसको कोई एंकागवात कोई पक्षवध या पक्षाघात अथवा अर्धांग वात कहते हैं।

शरीर के वातवह तन्तुओं की संचालन शक्ति के नष्ट हो जाने से पक्षाघात होता है। इस रोग को अंग्रेजी में (Paralysis) कहते हैं।

पक्षाघात दो प्रकार का होता है।

(१) सर्वाङ्गिक पक्षाघात (General)
(२) स्थानिक पक्षाघात (Local)

(१) सर्वाङ्गिक पक्षघात के भेद

(A) शरीर के अधोभाग का पक्षघात (Paraplegia)
(B) मेरु मज्जा प्रदाह पक्षघात (Mylities)
(C) उर्ध्वांग पक्षपात (Hemiplegia)
(D) बाल पक्षाघात (Enfantile)

स्थानिक पक्षाघात के भेद

(a)मुख पक्षाघात। (b)लेखक पक्षाघात। (c) पेशी क्षयजन्य पक्षाघात। (d) गलनली पक्षाघात। (e) योषापस्मारज पक्षाघात। (f) पारदजन्य पक्षाघात। (g) सीसाजन्य पक्षाघात। (h) गठियाजन्य पक्षाघात। (i) आंशिक त्वक् शून्यता। (j) हाथ के ऊपर बाजू का पक्षाघात।

Worms (कृमि रोग), Syphlis (उपदंश), कंठमाला आदि रोगों में पक्षाघात होता है।

(१) शरीर के अधोभाग का पक्षाघात (Paraplegia) यह शरीर के अधोभाग का पक्षाघात है। इसमें कटि प्रदेश से पैरों तक नीचे के अंग प्रत्यङ्गों की सम्पूर्ण शक्ति नष्ट हो जाती है। यह शनैः-शनैः अज्ञानावस्था में आक्रमण करता है। इसमें सर्वप्रथम साधारण ज्वर होने पर पुनः पाद प्रदेश में निर्बलता के साथ-साथ शून्यता होती है। फिर यह रोग दोनों पैरों में फैल जाता है। मलाशय मूत्राशय एवं मलद्वार में इस रोग के आक्रमण होने पर रोगी को मल-मूत्र की निवृति में बड़ी कठिनाई होती है। कभी-कभी सम्पूर्ण रूप से मल मूत्र बन्द हो जाता है, तो कभी-कभी सदा मल-मूत्र होता ही रहता है।

मेरु मज्जा पर बाह्य आघात पर दबाव पड़ने से भी सर्वाङ्गिक पक्षाघात होता है। किन्तु उसमें रोग का आक्रमण पृष्ठभाग पर होता है। कभी-कभी मस्तिष्क में रक्त के जमाव के कारण भी यह रोग हो जाता है।

(B) **मेरुमज्जा प्रदाह** (Mylities)—इसे Inflamation of the spinal manow भी कहते हैं। इस तरह की व्याधि उपदंश ग्रस्त रोगियों को या अधिक भोग-विलासियों को या अधिक शुक्रक्षय हो जाने से होती है। इसे मेरु मज्जा प्रदाह इसलिये ही कहते हैं। क्योंकि इसमें मेरु मज्जा में जलन होती है।

(C) **उर्ध्वांग पक्षाघात** (Hemiplegia)—सर्वाङ्गिकपक्षघात का तीसरा भेद है। इसे संस्कृत में उर्ध्वांग पक्षघात कहते हैं। इसका प्रभाव एक पक्ष के हाथ, पैर, मुख, जिह्वा, आदि पर होता है। कुछ के मत में यह दायें भाग तथा कुछ के मत में बायें भाग पर होता है। इसमें चेतना शक्ति लुप्त हो जाती है। सुई चुभने या चींटी काटने का ज्ञान भी बिल्कुल नहीं होता। उस ओर का मुख मण्डल टेढ़ा हो जाता है। स्मरण शक्ति का पूर्ण रूप से ह्रास हो जाता है। मनःस्थिति खराब हो जाती है। आंख से आंसू बहते रहते हैं।

(D) **बाल पक्षाघात** (Infantile Paralysis)—यह सर्वाङ्गिक पक्षाघात का चौथा भेद है। इसे संस्कृत में बाल पक्षाघात कहते हैं। यह रोग ६-७ मास की आयु से लेकर ३-४ वर्ष तक की आयु के बच्चे में हो जाता है। इससे पहले आक्षेप (Convulsion) होते हैं। फिर पक्षाघात में परिणत हो जाता है। इससे ताप १०० से १०३° तक बढ़ता है। इसमें आक्षेप स्थिति उग्र रूप धारण कर लेती है तथा शीघ्र ही वह स्वर्गीय हो जाता है।

स्थानिक पक्षाघात लक्षण—

(A) मुख पक्षाघात लक्षण (Facial paralysis) इसे मुख पक्षाघात कहते हैं। अर्दित भी इसी का नामान्तर है। यह आघात या मस्तिष्क की खराबी से बिगड़कर या शीत प्रकोप से होता है। इसमें चेहरे की एक ओर की पेशियों पर ही हमला होता है। अतः चेहरे में ही रोग चिन्ह पाये जाते हैं। आक्रान्त चेहरा वक्र या टेढ़ा हो जाता है। बोलना, हँसना, खाना, पीना, मुख का संचालन आदि सब बंद हो जाता है।

(B) **लेखक पक्षाघात** (Writer,s Paralysis)—यह भी स्थानिक पक्षाघात है। इसे लेखक पक्षाघात कहते हैं। यह पक्षाघात उन पर होता है जो लेखन कार्य निरंतर किया करते हैं। सुई का काम करने वाले, कुर्सी तोलिये बुनने वाले, चित्र बनाने वाले लोगों को यह रोग उत्पन्न होता है। यह पहले दाहिने हाथ की अगुलियों एवं हाथ में हो जाता है। हाथ की अगुलियां कांपने लगती हैं और काम नहीं हो पाता।

(C) **पेशीक्षयजन्य पक्षाघात** (Wasting paralysis)—इसे पेशीक्षयजन्य पक्षाघात कहते हैं। यह पेशीक्षयकारक पक्षाघात मेरु मज्जा प्रदाह के कारण आक्रान्त भाग की पेशियों को क्रमशः कृश एवं दुर्बल करता हुआ जाता है। यह इसका प्रधान लक्षण है। रोगाक्रमण बड़ा धीरे-धीरे होता है यह पहले हाथ के ऊपरी भाग या अंगूठे पर प्रारम्भ होता है और आक्रान्त भाग पर दर्द होता है। दर्द थोड़ी देर तक होता रहता है। पेशियों की अनुभव शक्ति कम हो जाती है और शरीर में फैलने लगता है।

कारण—१. अत्यधिक मानसिक परिश्रम। २. ग्राम्य कर्म का अत्यधिक उपयोग। ३. धातु क्षीणता एवं रक्ताल्पता ४. जोर से प्रवचन या भाषण ५. मस्तिष्क में धमक प्रहार या मस्तिष्क का अर्बुद ६. शिर में बेहद व जोर का दर्द बना रहना ७. मस्तिष्कावरणप्रदाह या मेरुमज्जाप्रदाह। ८. उपंदश के कारण रक्त वाहिनियों एवं वात वाहिनियों का दूषित हो जाना। ९. मानसिक आघात। १०. विष प्रकोप या विषैले तत्वों का प्रवेश। ११. डिपथीरिया (कंठ कूप प्रदाह ज्वर)। १२. गठिया (Rheumatism) हो जाना। १३ योषापस्मार (Histeria) हो जाना। १४. स्नायु या मांस पेशियों में शीशे व पारे का असर। १५. मेरुदण्ड पर व्रण या फोड़े का दबाव पड़ना। १६. सुषम्ना व मस्तिष्क के विभिन्न रोग होना। १७. रात को जगने से, अजीर्ण, संज्ञाहीन औषध का अधिक प्रयोग, रक्तचाप की अतिवृद्धि से यह रोग होता है।

पक्षाघात की चिकित्सा में ध्यान देने योग्य बातें—

(१) रोगी को आराम से लिटा दें।

(२) रोगी की गरदन पर से हर चीज दूर कर दें। ताकि रक्त गति में रोक टोक न हो सके।

(३) मूल कारण को दूर करे।

(४) रोगी को निराहार १॥ तोला, सेंधा नमक १॥ पाव पानी में घोलकर २१ दिन तक रोज पिलावें। रक्तचाप अधिक न होने दें।

(५) हीरा हींग २ रत्ती लेकर रुई के भीतर रखकर आग लगा दें। फिर निकाल कर रोगी को खिला दें। इस प्रकार यह २-२ बार दिन में दें।

चिकित्सा—

रस चिकित्सा

(१) **मल्लचन्द्रोदय वटी**—मात्रा-१ रत्ती, १-२ गोली प्रातः-सायं मधु से चटाकर ऊपर से गाय का मिश्री मिला दूध पिला दें।

(२) **महावातेश्वर**—१-२ रत्ती मात्रा अदरख के रस में चटायें।

(३) **योगेन्द्र रस**—२ रत्ती मात्रा प्रातः सायं मधु से चटा कर त्रिफला काढ़ा पिलादें।

(४) **विषमुष्टी गुटिका**—२-२ रत्ती की गोली प्रातः सायं महारास्नादि क्वाथ से दें।

(५) **रसराज रस**—२-२ रत्ती की गोली प्रातः सायं दूध से दें।

(६) **नारदीय बृहत् लक्ष्मीविलास रस**—मात्रा २ रत्ती २ गोली प्रातः सायं महारास्नादि क्वाथ से दें।

(७) **बृहत् वातचिंतामणि रस**—२-२ रत्ती की २ गोली प्रातः सायं महारास्नादि क्वाथ से दें।

(८) समीरपन्नग रस—मात्रा ½ रत्ती है। प्रातः सायं या ६-६ घंटे में मधु या पान के रस में दें।

(९) वातकुलान्तक रस—मात्रा १-२ रत्ती रोगी को मधु में औषधि चटा दें। ऊपर से गोदुग्ध या दशमूल क्वाथ पिलादें।

(१०) चतुर्भुज रस—मात्रा १-२ रत्ती प्रातः सायं मधु से चटायें। ऊपर से दशमूल क्वाथ या महारास्नादि क्वाथ दें।

(११) बृहत् वातगजांकुश रस—१ रत्ती की गोली दिन में तीन बार एरण्डपत्र रस में सेंधानमक मिलाकर दें। मधु में औषधि मिलाकर दें। बाद में यह रस पिला दें।

(१२) चिंतामणिचतुर्मुख रस—मात्रा १-१ रत्ती मधु से मिलाकर चटा दें। ऊपर से त्रिफला का क्वाथ दें।

(१३) एकांगवीर रस—यह पूरा पक्षाघात ठीक करता है। १-२ रत्ती की ३ बार रास्नादि अर्क या क्वाथ से दें।

(१४) महायोगराज गुग्गुल—२ गोली प्रातः-सायं गर्म जल से दें।

(१५) पक्षाघातारि वटी—इसमें शुद्ध कुचिला चूर्ण १० ग्राम, मल्लसिंदूर १० ग्राम, श्रृङ्गभस्म १० ग्राम अर्जुन छाल क्वाथ आवश्यकतानुसार। समस्त वस्तुओं को खरल में डाल चूर्ण करें तथा अर्जुन छाल क्वाथ से खरल में मर्दन करें तथा १-१ रत्ती की गोली बनालें। १-१ गोली प्रातः सायं दूध या जल से दें।

पक्षाघात पर उत्तमोत्तम तैल—

माषादि तैल, नारायण तैल, सैंधवादि तैल, महाविषगर्भ तैल, महानारायण तैल, महामाषादि तैल, मूषक तैल। इसके अतिरिक्त स्वयं तैयार किया तैल प्रयुक्त करें जिसमें निम्न औषधि हों—

कायफल २० ग्राम, असगंध १० ग्राम, लाल मिर्च १० ग्राम, सरसों का तैल १ किलो।

तीनों औषधि कूट-पीस जल के योग से कल्क बनालें। सरसों के तैल में ५० ग्राम मिलाकर रख दें। तैल व कल्क आग पर चढ़ा दें तथा जल के जलने पर तैल उतार कर मालिश करें।

क्वाथ—महारास्नादि क्वाथ, रास्नादि क्वाथ, दशमूल क्वाथ, महामंजिष्ठादि क्वाथ।

अवलेह—मल्लातक गुड़ मोदक, मल्लातक पाक, रसोनावलेह, मेंथी के मोदक।

अनुभूत—

तीव्र अर्धांग वात से—ताप्यादि लौह, महावातविध्वंस रस, एकांग वीर, अर्धांग वातारि रस।

वातश्लेष्मात्मक पक्षाघात—वातगजांकुश तथा महारास्नादि क्वाथ दें।

जीर्ण पक्षाघात में—पंचसूत रस, महायोगराज गुग्गुल, मल्लसिंदूर, महारास्नादि क्वाथ दें तथा अभ्रक भस्म, अग्नितुण्डी वटी भी दे सकते हैं।

अर्दित (मुख पक्षाघात) में—समीर पन्नग रस, शुंठ्यादि पाक, वातगजांकुश रस, महायोगराज गुग्गुल, महावातविध्वंस रस दें। मालिश के लिए मल्ल तैल, चक्रमर्द तैल, नारायण तैल, विषगर्भ तैल लगायें।

प्रयोग—(१) महारास्नादि क्वाथ २० ग्राम, दशमूल क्वाथ २० ग्राम इन दोनों क्वाथों को मिलाकर ½ किलो जल डालकर अग्नि पर रखें। जब शेष क्वाथ का जल १५० ग्राम रह जाय तो उसे उतार कर १० ग्राम मिश्री मिला दें फिर १ औंस रेंडी का तेल मिलाकर ३ बार पुड़िया दें। महानारायण तैल व महामाष तैल दोनों को मिलाकर दिन में २ बार हल्के हाथ से मालिश करायें व ऊपर से कपड़ा बांध दें।

(२) जायफल १० ग्राम, जावित्री १० ग्राम, लौंग १० ग्राम; इन तीनों को अच्छी तरह कूटकर रख लें। दिन में ४ बार मधु के साथ दें।

पक्षाघात ठीक होने के पश्चात् परहेज पर विशेष ध्यान रखें। विशेषकर वायु पैदा करने वाले द्रव, ठण्डी चीजें तथा वीर्यक्षय का विशेष ध्यान रखें।

पक्षाघात के बाद अण्डे का प्रयोग करना लाभप्रद है।

(३) अश्वगन्धारिष्ट व दशमूलारिष्ट दोनों की मात्रा २०-२० ग्राम मिलाकर उसमें ४० ग्राम जल मिलाकर दिन में दो बार भोजन के बाद दें।

यदि पक्षाघात के साथ-साथ हाईब्लडप्रेसर भी है, तब औषधि विचार कर देनी पड़ेगी।

—शेषांश पृष्ठ ४३५ पर

धनुःस्तम्भ—एक जटिल रोग

आयुर्विद्या विनोदिनी श्रीमती मनोरमा बहन धन्वन्तरि आरोग्य मन्दिर
भागतलाव नाका, भावनगर (गुजरात)

सुश्री मनोरमा बहन आयुर्वेद के क्रान्तिकारी चिकित्सक परिवार की उपज हैं और भावनगर के सुप्रसिद्ध पीयूषपाणि चिकित्सक श्री जुगतराम भाई वैद्य की सुपुत्री हैं। गुजराती होने के कारण हिन्दी भाषा में लेख लिखना काफी श्रमसाध्य है पर उसे इन्होंने अच्छी तरह निभाया है और अपनी लेखनी को एक अत्यन्त दुरूह और जटिलतम रोग की कसौटी पर ठीक-ठीक कसा है। मनोरमा बहन का यह लेख बुद्धिजीवियों के नेत्रोन्मीलन करने वाला है। इसमें आयुर्वेदीय मौलिकता की सुस्पष्ट छाप है। लिखने का ढंग आचार्य कला का नमूना है। जैसे किसी ऐसे सफल चिकित्सक की लेखनी चली हो जिसने धनुःस्तम्भ पर अपनी पकड़ कस कर रखी हो। आचार्य जुगतराम जी और उनकी बेटी जटिल रोगों की आयुर्वेदीय चिकित्सा में ही पूर्ण विश्वास के साथ उतरते हैं और सफलता प्राप्त करते हैं। इतने विश्वासपूर्वक लिखे गये विरल लेखों में यह एक है इसके लिए हम बहन जी का साधुवाद करते हैं एवं भविष्य में इसी प्रकार सुधानिधि पर कृपा करती रहेंगी यह आशा है।

—गोपालशरण गर्ग।

"वायोरतिबलत्वेनाशुकारीत्वेन गरीयसत्वाद्विकाराणां दुःसाध्यत्वात् आशुरेव आत्ययकरत्वात्···· ···।"

संक्षेप में सभी वातव्याधियों को "जटिल व्याधि" के उपनाम दे दें तो कुछ नुकसान नहीं है। अब हमारे प्रस्तुत विषय पर आ जांय।

धनुःस्तम्भ नाम से ही लक्षणों का सूचन करता है। कहा भी है कि—

"धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुस्तम्भ संज्ञितः।"

जिस व्याधि में शरीर धनुष के समान विनमित स्तम्भित हो जाता है, उसे धनुस्तम्भ कहा जाता है। पर्याय में धनुर्वात, धनुष्कंप इत्यादि संज्ञा भी शास्त्र में मिलती है। विवेचन की भूमिका से देखें तो कहीं-कहीं तो उसको अपतानक का एक भेद मानने पर तीन प्रकार में विभक्त किया है—(१) दंडापतानक (२) अन्तरायाम (३) बहिरायाम। इससे भी विशाल फलक पर आयुर्वेद में वर्णन मिलता है कि अपतानकादि उपरोक्त सभी व्याधियों के उपरांत, अन्य भी कितनी ही व्याधियों में 'आक्षेप' एक अवश्यंभावी लक्षण देखा जाता है और इसलिए उन सभी व्याधियों को "आक्षेप" के एक प्रकार में समाविष्ट कर दिये हैं। इसके अलावा प्रणायाम, पार्श्वायाम, रक्तक्षय-जन्य धनुस्तम्भ, सूतिका विषोत्थ धनुस्तम्भ, जैसे कई भेद-प्रभेद का वर्णन आयुर्वेद में पाया जाता है। पर्याय

प्रकार के अनन्तर अब निदान की विवेचना प्रस्तुत है।

यह तो सर्वविदित है कि धनुस्तम्भ के "निदान" के बारे में आयुर्वेद और आधुनिक शास्त्र में उत्तर ध्रुव-दक्षिण ध्रुव जैसा मतवैभिन्य है। आयुर्वेद सैद्धांतिक दृष्टिकोण से अतिप्रबल वात से धनुस्तम्भ की उत्पत्ति स्वीकार करता है और उपरान्त अभिघातज व्रण, सूतिकावस्था, गर्भस्राव-पात, अतिरक्तक्षय इत्यादि कारणों को महत्व के कारण मानता है, जब आधुनिक शास्त्र तीव्र विषजन्य, जन्तु से ही उत्पन्न होना संक्रामक व्याधि मानता है। उन जन्तुओं दण्डाणुओं को क्लोस्ट्रीडियम टिटनी कहते हैं। ये दंडाणु घोड़े की लीद, गाय के गोबर इत्यादि से मिश्रित रज-धूल में रहते हैं और मनुष्य शरीर में या प्राणी शरीर में अभि-घातज व्रण द्वारा प्रविष्ट होकर, वहां तीव्र विष पैदा करके सारे शरीर में विष का प्रसार करके, तीव्र प्रदाह उत्पन्न करके, धनुस्तम्भ उत्पन्न करते हैं। 'व्रण का अवश्य होना' यह दृष्टिकोण आधुनिक विज्ञान का मालूम पड़ता है ताकि हमारे शास्त्र में व्रण उपरांत 'प्रवृद्ध दुष्ट वात' आवश्यक निदान है। विस्तृत निदान विवेचन अभी देख लें।

व्रण होना ही चाहिए ऐसी दृष्टि से—विशाल दृष्टि से देखें तो रजस्वला स्त्री, गर्भस्राव अथवा गर्भपात हो गया हो, प्रसूता स्त्री इत्यादि स्थिति की स्त्री को 'व्रणिता' कही जाती है और उपरोक्त स्थिति में कुछ अम्लरस का उप-योग, जैसे कि—इमली, निम्बू, अमरूद फल, दही इत्यादि का सेवन करने से तथा अभिष्यन्दी आहार भी करने से धनुस्तम्भ शीघ्र उत्पन्न होता है और अम्लता अधिक हो जाने से कभी-कभी तो भयंकर लक्षण मालूम पड़ते हैं कि रोगी एक-दो घण्टे में अपना माथा लपेट कर स्वर्ग में चल पड़ता है। आयुर्वेद के सैद्धांतिक फलक पर देखें तो अन्य दोषों के अनुबन्ध के साथ अथवा बिना अनुबन्ध ही वात का प्रबल प्रकोप और अम्लता तथा अतिभोजन है। विषमाशन से प्रकुपित हुआ आम वातवह संस्थान पर असर करके गम्भीर मारक व्याधि उत्पन्न कर देता है। अम्लता से आमप्रकोप होना शास्त्रा-धार भी है और हमारे शास्त्र में 'आम' को तीव्र और भयंकर विष की उपमा दे दी गयी है। वस्तुतः ऋतुमती, प्रसूता इत्यादि स्त्री को आहार, विहार और आचार पालन करना अति आवश्यक है अन्यथा धनुस्तम्भ-आमवात जैसे गम्भीर व्याधि का शिकार बनने में देर नहीं लगती।

अब संप्राप्ति का वर्णन प्रस्तुत करेंगे। रूक्ष, शीत, कटु, कषायादि स्वप्रकोपक निदान से प्रकुपित प्रबल वायु अन्य दोषों के साथ, आम के भी साथ (शास्त्र में कहीं भी आम का निर्देश नहीं मिलता किंतु सम्प्राप्ति विघटन में आमविशोषण, आमघ्न, आम निर्मूलन ये शब्द मिलते हैं) पृष्ठ और मन्या प्रदेश में स्थान संश्रय करके; हृदय और मस्तिष्क के सहस्रारचक्र, आज्ञाचक्र (आज्ञा-चेष्टावाही स्नायु-विशेषतः चेष्टावाही स्नायु में) में तीव्र प्रकार की उत्तेजना पैदा करके संक्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। आधुनिक दृष्टि से सेन्द्रिय विष को मूल निदान मान लिया जाय, तब भी सम्प्राप्ति हृदय, मस्तिष्कादि के केन्द्र का संक्षोभ इत्यादि उपरोक्त विधि से ही होता है।.........

इस मुद्दे से व्यवस्थित देखें तो

(१) वातादि दोषों का और आमविष का रक्त द्वारा (मांस, स्नायु, कण्डरा, नाड़ीसंस्थान) पृष्ठ और मन्या में स्थान संश्रय।

(२) ऊपर से मस्तिष्क केन्द्र और वहां से चेष्टावाही स्नायुओं में तीव्र प्रदाह।

(३) हृदय और मस्तिष्क केन्द्र का तीव्र अवसाद।

(४) पृष्ठ, मन्या, सुषुम्णाकांड इत्यादि में तीव्र भेद, तोद और भञ्जन सदृश पीड़ा।

(५) मन्या, पृष्ठ, मस्तिष्क केन्द्र से सारे वातवाहिनी चेष्टावह स्नायुओं से तीव्र संक्षोभ-प्रदाह।

(६) संक्षोभ-प्रदाह के बाद सारे शरीर में दौरे के माफिक तीव्र खिंचाव याने आक्षेप। शरीर को बाह्य अगर अन्तः प्रदेश में विनमित कर देना।

शारीरिक क्रियात्मक (स्नायुओं में) विक्षेप और इन्द्रियशक्ति नष्ट प्रायः होने से मानसिक संक्षोभ से रोगी का जीवन व्यापार बिल्कुल बन्द सा हो जाता है।

सम्प्राप्ति के बाद व्याधिका स्वरूप और 'जटिल' उप-नाम का कारण देखें। मन्या-पृष्ठ संश्रित वायु स्नायुओं में क्रियात्मक क्षेत्र पर विक्षेप-संक्षोभ पैदा करके तीव्र खिंचाव पैदा करता है। साथ में रोगी की इन्द्रिय शक्तियां मानसिक शक्तियां निःसंज्ञता से नष्ट प्रायः हो जाती हैं। उपरान्त श्वासकृच्छ्रता, शिरोग्रह, दिष्टबधाक्ष, हनुग्रह, मन्याग्रह, पृष्ठग्रह, शंख-ललाट प्रदेश में तीव्र पीड़ा, पार्श्व

में भी भग्न जैसी पीडा के लक्षण होते हैं। ज्वर भी मालूम पड़ता है। जो कि तीव्र होता है। कभी-कभी ज्वर की तीव्रता इतनी बढ़ जाती है कि मृत्यु के समय १०६°–१०८° और ११०° तक भी हो सकती है। संक्षेप में सारे शरीर के स्नायुप्रतान में–चेष्टावाही में क्रियात्मक संक्षोभ करके आपादमूल तीव्र खिंचाव उत्पन्न करके शरीर को अन्तःप्रदेश अथवा बहिः प्रदेश में विनमित कर देना ही धनुस्तम्भ का मूल स्वरूप है। कहा भी है कि—

अभ्यंतरायामं क्रोडे नतम्, बहिरायामं पृष्ठे नतम् ॥

बहिरायाम—अन्तरायाम उपरांत दण्डक अथवा दण्डापतानक भी इस व्याधि का एक प्रकार आगे देखा। जिसमें रोगी दण्ड जैसा, बिल्कुल मृत भांति जकड़ जाता है। वायु की प्रबलता अतीव संस्तम्भ करके इस व्याधि को उत्पन्न करती है। पार्श्वायाम में शरीर दो में से एक की ओर विनमित हो जाता है, बाकी सभी के सभी लक्षण अन्तरायाम–बहिरायाम जैसे ही होते हैं। आगे चलकर 'व्रणायाम पर दृष्टिपात करें। व्रण जिसको होता है, उसको आहार-विहार और आचार का जो शास्त्र निर्दिष्ट है उसका पालन करना चाहिए। आयुर्वेद में ऐसे आहारादि को 'व्रणितोपासनीय' में ठीक से परिचर्या दे दी गई है। आजकल इसका पालन नहीं होता और ऐसे तीव्र, भयंकर व्याधि का शिकार बन जाते हैं। व्रणायाम प्रकृतितः गंभीर ही होता है जो आगे रजस्वला इत्यादि का भी अन्तर्भाव व्रणायाम में हो सकता है। आधुनिक मत से मुख्य निदान व्रण और उसमें से Infection को केन्द्रबिन्दु माना है। आयुर्वेद में भी उसका अन्तर्भाव हो जाता है। उसके अलावा बालक की नालच्छेदन में लापरवाही, प्रसुति में पूयोद्भव, ऑपरेशन में कुछ प्रधान अथवा पश्चात्कर्म में लापरवाही इत्यादि कारण से भी धनुस्तम्भ हो सकता है। इतना विवेचन आधुनिक शास्त्राधार से देखा। लक्षण में दोनों शास्त्रों में साम्यता है। इस आधुनिक शास्त्र में निःसंज्ञता का निर्देश स्पष्टतः कहीं भी नहीं मिलता।....

उपरोक्त सभी वर्णन से देखेंगे कि व्याधि स्वभावतः ही क्लिष्ट है, मारक है। लक्षणों में तीव्र आक्षेप, तीव्र पीड़ा और निःसंज्ञता, इन्द्रियशक्ति का बिल्कुल नष्ट होना इत्यादि लक्षण व्याधि को 'जटिल' कहने को प्रेरता है। हमारे शास्त्र में तीव्र, भयंकर आदि विशेषण का उपयोग किया है उसके आधार पर हम इस व्याधि को 'जटिल' कहेंगे जो यथास्थान है।

व्याधि के लक्षण तो देख लिये अबउन व्याधि की चढ़ाई-हमें जिताने वाली है कि पीछे कराने वाली है, उस पर कुछ प्रकाश डाल दें। तात्पर्य है कि व्याधि की साध्यासाध्यता देख लें। प्रकृति से ही धनुस्तम्भ असाध्य-कोटिकी व्याधि है। फिर भी विवेचना की भूमिका पर– अन्तरायाम की अपेक्षा बहिरायाम, पार्श्वायाम की असाध्यता ज्यादातर है। व्रणायाम असाध्य ही समझ लें। और दण्डापतानकवाला मृत्युद्वार पर खड़ा समझकर छोड़ दिया जाय।

उपरान्त गर्भपातनिमित्त, सूचिकोत्थविष निमित्त, अतिरक्तस्राव निमित्त और अतितृषा, वैवर्ण्य, स्रस्तांगता, नष्ट चेतनायुक्त आदमी दशरात्रि तक भी जीने वाला नहीं है ऐसा समझ लेना चाहिए। जिसमें 'वक्षः कट्यूरुभञ्जनम्' अर्थात् कटि, वक्ष, उरु में भञ्जन जैसी पीड़ा हो उसको भी रामशरण होने वाला जान लीजिए।

बालक तो इस व्याधि में झपटा कि मर ही गया मान लेना। सारांश, इस व्याधि को असाध्य समझकर ही चिकित्सा करना वैद्य-डाक्टर समाज के लिए हितावह है। आधुनिक शास्त्र में भी दर्दी की जीने की आशा ५% ही मानी गयी है। अगर दश रात्रि व्यतीत कर दी तो फिर ६०% जीना संभव माना है।

निदान के सभी सोपान देख लिये, अब आवश्यक परीक्षण देखेंगे और बाद में चिकित्सा प्रकरण देखेंगे।

रोगी के आते ही क्या करेंगे? सबसे पहले उसको व्यवस्थित सुलाकर आकृतिदर्शन–मुख से लेकर पाँव तक ठीक से देखलें–जिससे मुख, सारा शरीर का खिंचाव आदि का व्यवस्थित अध्ययन हो जायगा। जिसके ऊपर से थोड़ा सा अंदाज–साध्यासाध्यता का आ सकेगा। बाद में नाड़ी, हृदय, फफ्फुसकी नियमितता या विच्छिन्नता देखलें। हृदय और नाड़ी तीव्र, गंम्भीर रुक रुक कर चलती अनियमितसी या नियमित है उसका पूर्णतः सावधानी से परीक्षण करें; खास कर कृच्छ्रता, अनियमितता, मंदता, तीव्रता इत्यादि पर भी सावधानी से ध्यान रखें। हृदय, नाड़ी, फुफ्फुसकी गति पर हमारा साध्यासाध्यता का निदान होगा और उसके ही, ऊपर केन्द्रित हो कर हमें चिकित्सा में पथ



प्रदर्शन हो सकेगा। इसके अलावा आंखों की कनीनिका का आकुञ्चन-प्रसारण-प्रकाश अन्धकार के सहारे करलें।

इतनी परीक्षा के बाद शरीर का स्तंभ, कड़ापन की मध्यता-तीव्रता का परीक्षण करें उससे स्नायुप्रतान का क्रियात्मक विक्षेप का तारतम्य कर सकते हैं। क्यों कि आखिर में देखें तो स्नायुप्रतान की रचनात्मक दृष्टि इस व्याधि में नहीं होती है, किन्तु क्रियात्मक विक्रिया ही इस व्याधि का महत्व का लक्षण है। इसलिए उसका परीक्षण परिज्ञान ठीक से होना जरूरी है।

उपरोक्त विवेचना के बाद अभी सामान्य परीक्षा कि जो सभी व्याधियों में की जाती है उसका वर्णन देखलें। उदर परीक्षा अभी करलें। क्यों कि जिस व्याधि में अन्त्रगत वायु का उर्ध्वगमन, तिर्यक्गमन भी हो सकता है। जिससे हृद्-गति, फफ्फुसगति मस्तिस्क केन्द्र और स्नायुप्रतान पर विरुद्धगमन का दबाव आ जाने से व्याधि की तीव्रता की ओर भी बढ़ जाती है; ऐसी स्थिति में उदर में आध्मान, विण्मूत्रपात संग, घबराहट इत्यादि लक्षण मिलते हैं। उदर परीक्षा से ठीक निदान करलें। ताकि वायु का अनुलोमन करने में हम चिकित्सा में ध्यान रख सकें।

उपरोक्त परीक्षा के अलावा हनुग्रह, कर्ण, मुख, नख इत्यादि इन्द्रिय परीक्षा—स्पर्श, श्रवण, दर्शन इत्यादि से कर लेना। संक्षेप में सारे शरीर की, हृदय, नाड़ी, फुफ्फुस इत्यादि की परीक्षा करके साध्यासाध्य का पहलू निर्णय कर देने के बाद व्याधि की चिकित्सा करें।

क्लिष्ट व्याधि है, इसलिये उसकी चिकित्सा भी, जैसे शिकारी अपनी शिकार को सभी ओर से पकड़ने में ध्यान रखता है, वैसे ही हमें सभी ओर से व्याधि को मिटाने में ध्यान रखना आवश्यक है।

सब से पहले संप्राप्ति विघटन सिद्धान्त—चिकित्सा सिद्धान्त देख लें।

(१) संज्ञाप्रबोधन—नस्य में अवपीड अथवा प्रधमन, अञ्जन।

(२) स्नेहन-स्वेदन से स्नायु—वातवहा नाड़ियों का मार्दव जनन, सेन्द्रिय विष, आमविष का प्रशोषण, स्वेद के द्वारा विष निष्कासन।

(३) दोष बहुल में—मृदुविरेचन से कोष्ठशुद्धि, निराम करना।

(४) अल्पशक्ति वाले व्यक्ति को निरूह बस्ति से कोष्ठशुद्धि और वातशमन, वातानुलोमन।

(५) स्रोतोशोधन—स्रोतोरोध हो तो, खास करके आम-सेन्द्रिय विषघ्न और स्रोतोशोधन योग।

(६) वातघ्न—धनुस्तम्भघ्न औषध प्रयोग. उपरान्त दीपन, पाचन, वेदनास्थापन औषधि।

उपरोक्त गुणों के उपरान्त हृदयोत्तेजक, रक्तप्रसादन और दोषहर और व्याधिहर औषधों का बाह्यांतर प्रयोग प्रशस्थ और आवश्यक हैं। अभी उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर शास्त्रीय तथा अनुभूत चिकित्सा का विवेचन ही हमारा केन्द्र बिन्दु है।

व्याधि इतनी भयंकर है, कि रोगी की चिकित्सा आत्ययिक काल समझकर लाक्षणिक भूमिका पर करनी पड़ेगी। पहले देखा कि, रोग की तीव्रता हो तभी नाड़ी, हृदय और फुफ्फुस की गति अनियमित सी हो जाती है, ऐसी स्थिति में एक साथ तीनों को काबू में लेने के लिये, हम लोग 'हेमगर्भ पोटली' की मात्रा का उपयोग करते हैं। हेमगर्भ १ रत्ती शहद में मिलाकर जीभ पर—मुंह नहीं खुलता तो दांत के अन्त भाग पर रख देते हैं। जिस से एक-दो मिनट में ही हृदय, फुफ्फुस की नाड़ी की उत्तेजना हो जाती है और तीनों की गति में नियमितता आ जाती है। रोगी जीवन, मरण के बीच में डूब गया हो, उसको जीवनदोर देने वाली यह अद्भुत, अप्रितम जड़ी-बूटी कस्तूरी, सुवर्ण, रोप्य इत्यादि उत्तेजक और हृत्पुष्टिकर औषध से बनायी जाती है। उन सब दिव्य औषधों से, मृत्युघंट बज चुका हो ऐसा रोगी भी एक बार खड़ा हो जाता है, इतने आश्चर्यकारी उसके परिणाम देखे हैं। आजकल पुराने जमाने के वैद्य लोग ऐसी पोटली का उपयोग मरणोन्मुख किसी भी रोगी में करते हैं, और यम को भी थोड़ी देर तक आने को मना कर देते हैं, ताकि आयुर्वेद के इस अद्भुत योग का सबको परिचय हो जाय। ऐसी जीवनप्रदायी औषध शायद आधुनिक में नहीं है। कोरामीन इन्जैक्शन का उपयोग भी हेमगर्भ जैसा हो सकता है, किन्तु तारतम्य की झंझट पंडित लोग करेंगे। हम तो हेमगर्भ पर मुग्ध हैं!

उपरोक्त लाक्षणिक-चिकित्सा से रोगी को मृत्यु-प्रवेश से बचाने के बाद—हृदय, नाड़ी, फुफ्फुसादि की गति नियमित मालूम करने के बाद, अन्य चिकित्सा में खूब ही जागृति और शीघ्रता रखनी चाहिये। अन्य उपचार

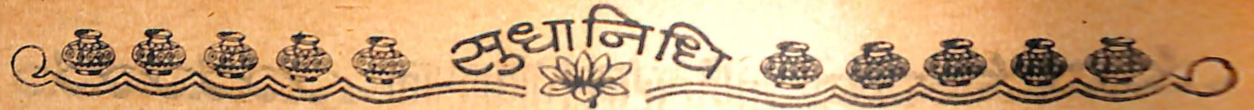
करते समय भी ठीक समय पर—थोड़ी देर के बाद नाड़ी, हृदय और फुफ्फुस की गति को केन्द्र में ले जाना बहुत जरूरी है; ताकि फिर से दर्दी मृत्यु के द्वार में नहीं फंस सके। साथ ही साथ संज्ञा-बोधन के लिये तीव्र अवपीड और प्रधमन नस्य का उपयोग करना जरूरी है। हम लोग ऐसी स्थिति में मनःशिला को मधु के साथ मिलाकर उसका अंजन करते हैं, ताकि रोगी नस्य और अंजन की तीव्रता से सूक्ष्म गति से, तीक्ष्णता से, स्रोतशुद्धि हो जाने से तुरन्त संज्ञा पा सकता है।

अब और भी एक लाक्षणिक चिकित्सा कि जो महत्वपूर्ण है उसका इलाज करना है। धनुःस्तम्भ में आक्षेप एक बहुत तीव्र लक्षण है। शास्त्राधार और अनुभव के फलक पर देखें तो हम लोग बच्चे को लक्ष्मीनारायण रस और बड़े मनुष्य को कालकूट रस देते हैं। दोनों अपनी तीव्रता, तीक्ष्णता से सेन्द्रिय विष, आमविष का हनन करते हैं, अति स्वेदल होने से भी स्रोतोशुद्धि होती है, और स्रोतोशुद्धि से आक्षेप में मुख्य कारण संक्षोभ दूर होते ही, आक्षेप का भी शमन जल्दी हो जाता है— व्याधिविपरीत औषधि है। ये दोनों रस आक्षेप की तीव्रता में ही उपयुक्त हैं। आक्षेप पित्तानुबंध हो तब इस रस का उपयोग नहीं करना। सूतशेखर (सुवर्णयुक्त) प्रवाल-पञ्चामृत, कस्तूरी भैरव आदि सौम्य रस हैं फिर भी हृद्य, जीवनतत्व से भरपूर रक्तप्रसादन हैं, और पित्तानु-बंध में अच्छा काम करेंगे और इससे भी आगे देखें तो रोगी को कभी-कभी High blood pressure से भी तीव्रता, निःसंज्ञता इत्यादि लक्षण मिलते हैं, ऐसी स्थिति में भी इन सौम्य रसों का उपयोग दर्दी को जीवनप्रद बनता है। और आक्षेप तथा व्याधि सभी का मार्दव हो जाता है। हेमगर्भ का योगिक भी ऐसी स्थिति में चालू कर देना आवश्यक है। क्योंकि हेमगर्भ व्याधि विपरीत, हृदयोत्तेजक होते भी हृदय पर नियमन का कार्य करता है इसलिये धनुस्तम्भ की अत्यधिक स्थिति में हेमगर्भ चालू रखना हमारे हित में है।

मुख्य उपद्रव के उपरांत कभी-कभी गौण उपद्रवमुख्य से बन जाते हैं। जैसे कि हमने आगे देखा कि "विण्मूत्र वात" का उर्ध्वगमन रोगी को अपने दबाव से मूर्च्छित करके मृत्यु तक भी पहुँचा सकता है। ऐसी स्थिति में श्वासोच्छ्वास, हृद्गति, नाड़ीगति अनियमित, तीव्र अथवा मंद सी हो जाती है, और मस्तिष्क केन्द्र पर भी अपना दबाव डाल देने से आक्षेप भी तीव्र आते हैं। ऐसी स्थिति में उदर और प्रश्न परीक्षा से मलावृत्तवात का निदान मिल जाय, आध्मान, घबराहट इत्यादि वायु के लक्षण भी मिल जांय, तो हम ग्लेसरीन की दो तोले की मात्रा में बस्ति दे देते हैं। ग्लेसरीन से मलोत्सर्ग तुरन्त हो जाने से, वायु का और मूत्र का भी विसर्जन हो जाने से रोगी के हृदय, मस्तिष्कादि केन्द्र का दबाव कम हो जाने से तुरन्त ही जागृति, हृदयादि की गति नियमित और आक्षेप में भी तीव्रता कम हो जाती है। इस बस्ति का कार्य भी हेमगर्भ जैसा ही अद्भुत मालूम पड़ा है। हम लोग किसी भी रोग में उपरोक्त लक्षणों में—आत्ययिक काल में ग्लीसरीन सीरिज का उपयोग बहुत करते हैं। जिससे वातानुलोमन हो जाने से व्याधिमार्दव जल्दी हो जाता है। मलावृत्ति भी दूर हो जाने से शरीर में विष का प्रतिहनन कम करना पड़ता है। ग्लेसरीन सीरिज का सब से बड़ा चिकित्सकीय फायदा है तो यह है कि भयङ्कर सामता—विष में भी इसका उपयोग विक्रिया नहीं करता।

इतनी आत्ययिक चिकित्सा में हृदयादि की गति बिल्कुल प्राकृत हो गई हो, फिर भी हेमगर्भ चालू रखें। और पांच-सात दिन तक हृदयादि गति की व्यवस्था की जांच की जांय।

आत्ययिक काल की और लाक्षणिक चिकित्सा देखली अब सामान्य चिकित्सा देखेंगे। प्रबल उपद्रव शमन से रोगी बच सका, व्याधि मार्दव कुछ थोड़ा सा हुआ, अभी हमारी चिकित्सा सैद्धान्तिक फलक पर व्यवस्थित चलेगी। अब रोगी की साम अवस्था निराम करना एक अति आवश्यक कर्म है। दोष बहुत हो तो मृदुविरेचन से शोधन करने के बाद संसर्जन क्रम से निराम करें, दोष बहुल हो, और रोगी निर्बल हो तो निरूह बस्ति देना भी अच्छा है, मृदुविरेचन और बस्ति से वात, मूत्र, पुरीष की अधिक दुष्टि दूर हो जाती है, निराम होने में संसर्जन क्रम का भी महत्वपूर्ण स्थान है और व्याधि मार्दव वातानुलोमन से हो ही सकता है, उपरान्त बस्ति वातशमन भी करेगी। ऐसी स्थिति में दोषमार्दव और रोगमार्दव हो जाता है।



दोष अल्प हो, वा सामतायुक्त हो तो शुद्ध लंघन से दोष और रोग का मार्दव करें; और रोगी निर्बल हो तो लघु भोजन से भी व्याधि-दोष मार्दव कर सकते हैं। संक्षेप में आजकल अतिशय खाने-पीने से व्याधि बहुत बलवान हो जाती है, और बलवान व्याधि को, बलवान, तीव्र औषध से, बिना लंघनादि क्रियाक्रम से दबाया जाता है; परिणामतः रोगी एक रोग से मुक्त होकर अन्य रोग का शिकार बन जाता है; और कभी-कभी एक रोग नहीं मिटता, फिर सामने एक और दो व्याधि भी Reactions के रूप में लागू पड़ जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दोष, निराम नहीं होते, तभी तक व्याधि निर्मूलन—निःशेषीकरण होना असम्भव जैसा ही है। आयुर्वेद में ये क्रियाक्रम एक शास्त्रीय प्रणालीगत चिकित्सा-पद्धति है। और हमने कभी-कभी तो साम–निराम पद्धति, वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य, शिरोबस्ति ये क्रियाकर्म से इतने सुन्दर परिणाम देखें हैं, कि आजकल के वैद्यबन्धु लोग यह सारा प्रकरण सीख लें तो समाज को एक बेजोड़ चिकित्सा का लाभ मिल सकता है और एक से दूसरे, दूसरे से तीसरी व्याधि के जबड़े में से समाज को अच्छी तरह बचा सकते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि साम–निराम पद्धति से व्याधि निर्मूलन "जादू की लकड़ी" जैसा कार्य करती है, यह बात निःशंक है। कहा भी है कि—

निराम देहस्यहि भेषजानि,
भवन्ति युक्तान्यमृतोपमानि ॥

निराम होने के बाद में व्याधिविपरीत, दोषविपरीत अंशांश चिकित्सा से व्याधिनिर्मूलन होने में शीघ्रता आ जाती है, और व्यवस्थित रीति यह ही है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। इस रोग में साम में से निराम करने में रोगी, रोग और दोष का निरन्तर जागृति से ध्यान रखें; क्योंकि धनुःस्तम्भ आखिर में वातज व्याधि है। कदाचित् ज्यादा निरामत्व हो जाय तो वायु की सहनशीलता कफ-पित्त जैसी नहीं होने से, अनेक उपद्रव उत्पन्न कर देता है और मृत्यु तक भी विक्रिया हो जाती है। इसलिये वैद्यबन्धुओं को चाहिये कि 'निराम' करने में पूर्ण जागृति रखना।

स्वेदन भी निराम करने में एक आवश्यक क्रियाकर्म है, जो अभी स्नेहन के साथ देखें। निराम होने में उपकारी कूपस्वेद, प्रस्तर स्वेद इत्यादि से स्वेद द्वारा आम का विष निर्मूलन करना और साथ ही साथ स्तम्भ, रुक्, तोद, आयाम, शोफ, ग्रह ये वात के उपद्रव मिटा देता है। निराम होने के बाद स्नेहन का क्रम आता है। स्वेदन से वातोत्थ रौक्ष्य, स्तम्भ, तोदादि भी दूर हो सकते हैं। स्नायुओं में तीव्र आक्षेप से स्तब्धता आ जाती है। जो कि स्नेहन से मृदु हो जाती है और पुष्टि मिलने से दृढ़ता पा जाते हैं। स्नेहन और स्वेदन साथ में फलश्रुति देखें तो स्तब्धता, आयाम, तोदादि को मिटाते हैं और व्याधि विपरीत भी होने से व्याधिमार्दव में भी बहुत फायदेमन्द होते हैं। स्नेहन में अच्छा पेय स्नेह, महास्नेह, सहस्रपाक, शतपाक, दशमूल तैल, तिल्वक स्नेह, विदारीगंधादि तैल, अणुतैल इत्यादि पान और अभ्यंग, बस्ति इत्यादि में यथावश्यक उपयुक्त कर सकते हैं।

अनुभव के तौर पर हम देखें तो आज तक के अनुभव में हमारे पास शुद्ध वातजनित धनुःस्तम्भ ही हमने देखा है और निराम कराने से आश्चर्यजनक परिणाम देखा है। अच्छे पेय का उपयोग हमने धनुःस्तम्भ में कभी नहीं कराया। बस्ति, अभ्यंग, शिरोबस्ति, नस्य इत्यादि में उपयोग कराया जाता है।

अब सब क्रियाकर्म—आत्ययिक, लाक्षणिक, आवस्थिक चिकित्सा के बाद में अवशिष्ट दोष और उपद्रव तथा शेष व्याधि का निर्मूलन हमारा केन्द्रबिन्दु है। उसके विपरीत कुछ योग देखेंगे।

महावात विध्वंस रस, एकांगवीर, समीरगजकेसरी, सूचिकाभरण, योगेन्द्र रस इत्यादि का उपयोग करना आवश्यक है। ये सभी व्याधि विपरीत हैं। तीव्र आक्षेप न हो तभी महावात विध्वंस, ताप्यादि लौह के साथ उपयुक्त करने से आक्षेप दूर करेगा, आम और सेन्द्रिय विष का नाश करके धनुःस्तम्भ के शेष उपद्रव और लक्षण का निरसन करेगा। तीक्ष्ण होने से वातवह संस्थान की आवृत्ति दूर करके पुष्टि का क्षेत्र तैयार कर देंगे, मांस—स्नायुगत वात का शमन करने से आक्षेप का शमन और स्नायुगत–नाड़ीवह संस्थान की पुष्टि होने से व्याधि का

पुनरुद्भव न हो सकेगा। हृदय की उत्तेजनाशक्ति और पुष्टि एक साथ करते हैं। सारांश कि सभी रसापयोग से व्याधिनिर्मूलन हो जाता है और ताप्यादि लौह बृहत् वातचिन्तामणि रस, अश्वगंधा, अश्वगंधारिष्ट, दशमूलारिष्ट इत्यादि से व्याधि अपुनर्भव की भूमिका प्रस्थावित हो जाती है। किसी-किसी योग में तो प्रतिविष उत्पन्न करके सेन्द्रिय विष हनन करने के बाद रोगनिर्मूलन होता है जैसे कि कालकूट, योगेन्द्र रस इत्यादि। उनमें स्रोतोशोधन गुण ज्यादा पाया जाता है। सूतिकोत्थ विष में सूतिकाभरण रस प्रशस्थ है। अनुभव के फलक पर हम निराम कराके हेमगर्भ अथवा बृहत् कस्तूरी भैरव रस, गोरोचन, लक्ष्मीनारायण का प्रयोग छूट से करते हैं। जो रोगी अस्पताल से वापस कर दिया हो, ऐसा रोगी भी इन योगों से, पुनर्जीवन पाकर व्याधिमुक्त हो जाता है। हमारे शास्त्र में रसौषधि का जो विभाग है उसमें शीघ्र फलदायी, अद्भुत् जड़ी-बूटियां पाई जाती हैं।

आधुनिक चिकित्सा-पद्धति में दो प्रकार की चिकित्सा प्रक्रिया देखी जाती है। (१) Antitoxin, (२) Curative जिसमें धनुःस्तम्भ विरुद्ध की रसी Serum का Injection एक महत्व की औषधि है। उपरान्त Stimulant medicine ब्रान्डी इत्यादि उत्तेजक औषध प्रयुक्त करने को कहा है। नस्य में क्लोरोफार्म का निर्देश सभी जगह मिलता है। और रोगी को अंधेरे कमरे में सुलाने को सलाह सब देते हैं। जो हम वात शयन में—पथ्यापथ्य में देखेंगे।

इतने भयंकर व्याधि में से पुनर्जीवन प्राप्त किये हुये दर्दी (रोगी) को पथ्यपालन में बहुत चुस्त रहना चाहिये। खान-पान में जो कुछ त्रिदोषघ्न, लघु, दीपन, पाचन, अनुलोमन, वातघ्न हो ऐसी खुराक लेनी चाहिये। तदनु निराम होने के बाद स्नेहपूर्ण लघु आहार लेने को मना नहीं है। निवातशयन, शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक आराम, इत्यादि वातघ्न स्नेह से कराना और आह्लादक स्थल में निवास पथ्य समझें। अन्य सब कुछ त्याज्य समझें।

अन्त में आजकल की रहन-सहन और जीवन व्यापार को केन्द्र में रखकर हम लोग ऐसी घोर व्याधि में सामनिराम पद्धति, रसोपयोग और क्रियाकर्म को चिकित्सा के महत्व के आधारस्तम्भ समझ के, प्रत्यक्ष, अनुभव के फलक पर रोगी को व्याधिमुक्त कर सकें तो रोगी समाज को और वैद्यसमाज को उपयोगी हुआ जाना जाय।



पृष्ठ ४२८ का शेषांश

चि० बृहत वातचिंतामणि रस १ रत्ती, योगेन्द्र रस १ रत्ती, अश्वगंधा चूर्ण ६ ग्राम, एकांग वीर रस १ रत्ती सर्पगन्धा वटी २ रत्ती। इस पुड़िया को ब्राह्मरसायन २५ ग्राम के साथ सेवन करायें। अश्वगंधारिष्ट २५ ग्राम, सारस्वतारिष्ट २५ ग्राम दोनों मिलाकर १०० ग्राम जल मिलाकर दें।

असाध्य पक्षाघात लक्षण—

(१) गर्भिणी, प्रसूता, बालक, वृद्ध आदि अत्यन्त क्षीण हो।

(२) जिनका रक्त या शुक्र एकदम नष्ट हो गया हो।

(३) अङ्गों का रङ्ग बिल्कुल बदल जाय। ये आघात-अङ्ग मूल से बहुत दुर्बल एवं छोटे हो जायें।

(४) यदि चुभाने, नोंचने आदि पर रोगी को कुछ ज्ञान न हो।

गलनली, योषापस्मार, पारद, शीशा, गठिया आदि के पक्षाघात में कारण की चिकित्सा करनी पड़ेगी। उपदंश की चिकित्सा कृच्छ्रसाध्य है। कृमि को बाहर निकालना पड़ेगा। इस प्रकार चिकित्सा करनी होगी।



अपस्मार—एक अध्ययन

डा० अयोध्याप्रसाद 'अचल' एम० ए०, पी० एच० डी०,
प्राचार्य जे० जे० कालेज, गया

आचार्य श्रेष्ठ अचल जी पाश्चात्य मनोविज्ञान के जहां विद्वान् हैं वहां आयुर्वेद के भी शीर्षस्थ मनीषी हैं। आपने अपस्मार विषय पर एक श्रेष्ठतम लेख देकर कृतार्थ किया है। भगवान् तथागत के विश्वविश्रुत कीर्तिधाम में जहां संसार भर की लुप्त चेतनाओं की चिकित्सा की जाकर उन्हें प्रबुद्ध बनाया जाता था वहीं एक महत्त्वपूर्ण महाविद्यालय का प्राचार्यत्व करते हुए विस्मृत चेतना शक्ति के उत्थान हेतु जो पंक्तियां उन्होंने लिखी हैं उनमें उनकी अक्षया कीर्ति सोई हुई है। इतना प्रौढ़ पाण्डित्यपूर्ण सुशोभन लेख बड़ेबड़ों में स्पर्धा जगाकर उनकी अपस्मृति को सुस्मृति में बदलने की क्षमता रखता है।

--रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी।



अपस्मार शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है अप + स्मार। सुश्रुत के अनुसार अप शब्द का अर्थ है "परिवर्जन" (गमन, नाश, अवरोध आदि) और स्मृति शब्द का अर्थ है "भूतार्थ का विज्ञान" (पूर्वानुभूत वस्तुओं का ज्ञान, उनकी तात्कालिक चेतना)। अतः अपस्मार का शाब्दिक अर्थ हुआ स्मृति का नाश अथवा अवरोध। चरक के शब्दों में-स्मृति बुद्धि और मन की विकृति से वीभत्स चेष्टाओं के साथ अन्धकार में प्रवेश करना अथवा संज्ञाशून्य हो जाना ही अपस्मार कहलाता है। चरक द्वारा प्रस्तुत अपस्मार की उक्त परिभाषा में उसकी तीन प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है-(१) स्मृति, बुद्धि और मन की विकृति (२) वीभत्स चेष्टाएं-शरीर में कम्प, मुंह में फेन, उच्च स्वर से रुदन आदि तथा (३) संज्ञाशून्यता।

पश्चात्य मनोवैकारिकी में अपस्मार को एपिलेप्सी (Epilepsy) कहते हैं। यह शब्द ग्रीक भाषा के एक शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है सीजर (Seizure) अथवा अभिग्रहण। इसमें व्यक्ति सहसा संज्ञाशून्यता का शिकार होकर कटे हुए बृक्ष के समान पृथ्वी पर गिर पड़ता है। ऐसा लगता है जैसे कि किसी अज्ञात शक्ति ने उसे अचानक धर दबोचा हो। शायद इसीलिए इसका यह नाम पड़

गया। यहां इस ओर संकेत कर देना अनुचित न होगा कि पूर्व तथा पश्चिम दोनों में एक लम्बे अर्से तक इस प्रकार की धारणा भी रही है कि यह रोग किसी ग्रह के आवेश अथवा अभिग्रहण के कारण ही उत्पन्न होता है। पश्चिम में तो लगभग १८५७ तक यही धारणा काम करती है। हमारे यहां सुश्रुत ने एक जमाने पहले इसका खण्डन किया है और अपस्मार को भी एक दोषज व्याधि ही बतलाया है और उसी के अनुरूप उसकी चिकित्सा की व्यवस्था भी की है।

मानसिक स्वास्थ्य के विश्वकोष में अपस्मार अथवा एपिलेप्सी की परिभाषा निम्न शब्दों में दी गई है–"एपिलेप्सी एक ऐसा पद है जो चेतना, शरीर की गतियों अथवा दोनों में ही सहसा और बार-बार उत्पन्न होने वाली उन गड़बड़ियों के उपाख्यानों के लिए प्रयोग में लाया जाता है जो क्षुब्ध मस्तिष्क कोशों की अत्यधिक सक्रियता के कारण उत्पन्न होती हैं। चेतना में परिवर्तन तथा आक्षेपक गतियां इसके प्रमुख लक्षण हैं। कोलमैन के शब्दों में एपिलेप्सी चेतना में बार-बार उत्पन्न होने वाली वह गड़बड़ी है जिसमें स्वतन्त्रन ाड़ी-मण्डल की अस्तव्यस्तता, आक्षेपक गतियां तथा मानसिक गड़बड़ियां भी साथ पाई जाती हैं"। उक्त दोनों ही परिभाषाओं की यदि हम चरक द्वारा प्रस्तुत परिभाषा से तुलना करें तो दोनों में केवल भाषा का ही अन्तर प्रतीत होगा। दोनों में ही समान लक्षणों पर जोर दिया गया है।

अपस्मार का पूर्वरूप—हृदय का कम्पन, शून्यता, चक्कर आना, आंखों के आगे अंधकार छाना, ध्यान (चिन्ता) भ्रूविक्षेप, आंखों की विकृती, अस्तित्वहीन शब्दों को सुनना अथवा श्रुतिविभ्रम, पसीना आना, मुंह से लार और नाक से मैल निकलना, अविपाक, अरुचि, मूर्च्छा, उदर में आटोप (गड़बड़ाहट), बलनाश, निद्रानाश, अंगों का टूटना, प्यास, स्वप्न में नाचना-गाना, तेल या मद्य का पीना और इन्ही का मूत्र त्याग करना, व्यधन (शरीर का छिदना अथवा उस पर आघात लगना) तथा व्यथन (पीड़ा का होना)।

पेज ने भी बतलाया है कि रोग के आक्रमण की सूचना देनेवाले प्रारम्भिक लक्षण एकाध अथवा कुछ दिन पहले से ही प्रकट होने लगते हैं। ये पेशीय फड़कन, वेदनात्मक गड़बड़ियों अथवा भावदशा-विचलन हो सकते हैं। अपस्मार के कुछ रोगी आक्रमण के कुछ घंटे पहले से ही रूक्ष तथा चिड़चिड़े हो जाते हैं।

अपस्मार के सामान्य लक्षण—अपस्मार के सामान्य लक्षण प्रायः सभी प्रकार के अपस्मारों में समान रूप में पा जाते हैं। इनमें से प्रमुख निम्न हैं–भ्रान्ति, असत्रूपदर्शन, हाथपैर पटकना, जिह्वा भौं तथा नेत्रों की विकृति, दांत कटकटाना, दांत लगना, फेन वमन करना, नेत्रों का विस्फारित होना, पृथ्वी पर गिरना (अचेत होना) तथा कुछ समय के उपरान्त पुनः संज्ञा लाभ करना।

अपस्मार के भेद

अपस्मार मुख्य रूप में चार प्रकार का माना गया है– वातज, पित्तज, कफज और त्रिदोषज। चरक ने आगान्तुक अपस्मार की भी चर्चा की है पर सुश्रुत ने उसे नहीं माना है उनके अनुसार आगन्तुक अपस्मार भी दोषज है। सुश्रुत के ही शब्दों में-बिनाहेतु के रोग का अक्रमण होने से, चिकित्सा न करने पर भी रोग के मिट जाने से तथा आगम के प्रमाण से अन्य विद्वान् अपस्मार को दोषजन्य नहीं मानते अर्थात् आगन्तुक मानते हैं।" उन्होंने इन तीनों ही तर्कों का खण्डन करते हुए आगे कहा है–"वातपित्तादि दोष व्यक्ति के अनजाने ही संचित होते रहते हैं और सहसा रोग को उत्पन्न कर देते हैं अतः रोगोत्पत्ति बिना हेतु के नहीं दोषों के कारण ही होती है। दूसरे, दोष कभीकभी क्षण क्षण में अपना स्वभाव बदलते रहते हैं इसीलिए रोग बिना चिकित्सा के भी अदृश्य हो जाता है। तीसरे अपने तथा परशास्त्र में भी अपस्मार को दोषजन्य ही माना गया है। जिस प्रकार पृथ्वी के अन्दर पड़े हुए कुछ बीज बर्षा हो जाने पर शरद् ऋतु में अंकुरित होते हैं ठीक उसी प्रकार शरीर में पड़े व्याधि के बीज (दोष) अनुकुल समय आने पर ही अपना प्रभाव दिखाते हैं।

नीचे हम अपस्मार के भेदों का संक्षेप में बर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

वातज अपस्मार—वायु के कारण टागों में स्फुरण के साथ बार बार गिरकर संज्ञाशून्य होना और पुनः संज्ञालाभ करना, विकृत अथवा उच्च स्वर से रोना, तथा बिलाप करना, नेत्रगोलकों का बाहर निकला



हुआ सा होना, जोर जोर से सांस लेना, झाग वमन करना, कांपना, दीवार से सर टकराना, कंधे फुलाना, ग्रीवा का अधिक फूलजाना, सिर का टेढ़ा होजाना, हाथपैर पटकना, उंगलियों का विषम मोड़ना, आंख त्वचा नख और मुख का अरुण तथा श्याव होजाना, काले चपल चंचल कठोर विरूप तथा विकृत रूपों को देखते हुए बेहोश होना ।

पित्तज अपस्मार—बार-बार बेहोश होना और पुन: संज्ञालाभ करना, मुंह से निकलने वाले झाग, मुख और शरीर की त्वचा का पीला पड़ जाना, प्यास की अधिकता, शरीर का गर्म रहना, हाथ-पैर पटकना, भयानक दीप्तहीन तथा क्रुद्ध रूपों को देखते हुए बेहोश होना।

कफज अपस्मार—आक्रमणों का देर से होना और देर से संज्ञालाभ करना, चेष्टाओं का अपेक्षाकृत कम होना ढेर सा तथा सफेद रंग का लालास्राव, शरीर, मुख और नेत्रों का श्वेत वर्ण का हो जाना, शरीर का शीतल और भारी होना, जी मिचलाना, रोमांच होना, श्वेत चमक वाले रूपों को देखते हुए बेहोश होना ।

त्रिदोषज अपस्मार—सभी दोषों के लक्षणों का मिलेजुले रूप में साथ-साथ पाया जाना। त्रिदोषज अपस्मार को असाध्य माना गया है ।

क्षीण पुरुष को होने वाला तथा बहुत दिनों का पुराना अपस्मार एक दोष के प्रकोप से हो तो भी असाध्य माना जाता है ।

अपस्मार के इन भेदों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने योषापस्मार तथा बालापस्मार की भी चर्चा की है। योषापस्मार स्त्रियों को तथा बालापस्मार बच्चों को होता है। ग्रहप्रकोप के सिलसिले में स्कंदापस्मार का भी वर्णन आया है ।

अपस्मार के वेग आने का काल—

चरक के शब्दों में—"प्रकुपित दोष १०-१० दिनों पर, १५-१५ दिनों पर अथवा १-१ महीने पर अपस्मार के वेग को उत्पन्न करते हैं। कभी-कभी वेगों का आक्रमण कुछ जल्दी भी हो जाता है।" इससे स्पष्ट है कि वेगों के आक्रमण का बारम्बार तथा उनके बीच के समयान्तर के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पेज ने भी कहा है—"वेगों के आक्रमण की संख्या के बारे में व्यापक वैयक्तिक भिन्नता पाई जाती है। कुछ लोगों पर तो जीवन भर में कुछ ही बार, पर कुछ पर वर्ष में सैकड़ों बार आक्रमण होते हैं ।

निदान—

आयुर्वेद के अनुसार अपस्मार का रोग उन्हीं प्राणियों को होता है जो पहले से ही हीनसत्वता के शिकार होते हैं। ऐसे लोगों में शुरू से ही सत्व की कमी होती है। रज और तम बढ़े हुए होते हैं। फलत: वे स्वभाव के चंचल और मूढ़ता से युक्त होते हैं। इन दोनों से प्रेरित वे नाना प्रकार के अकरणीय और विवेकहीन कार्यों को करने लगते हैं। यथा—प्रकृतिविरुद्ध, मलिन, अहितकर एवं विधि विपरीत भोजन करना, नियम विरुद्ध एवं विकृत ढङ्ग से काम सेवन करना, आए हुए वेगों को रोकना, असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग आदि। इससे उनके दोष प्रकुपित होकर उन्मार्गगामी हो जाते हैं और हृदय तथा मस्तिष्क में अपना स्थान बना लेते हैं। वहीं से संचित होते रहते हैं। यही विकृत दोषों का संचय प्राणी में अपस्मार के आक्रमण की अनुकूल पीठिका तैयार कर देता है। बाद में काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, दर्द, शोक, चिंता, उद्वेग आदि संवेगों की विकृति से जब रज और तम और बढ़ जाते हैं अर्थात् प्राणी का मानसिक द्वन्द और भी विकराल रूप धारण कर संवेगात्मक संकट की स्थिति उत्पन्न कर देता है तो अनुकूल अवसर मिलते ही संचित दोष मनोवाही स्रोतों को अवरुद्ध कर हृदय तथा मस्तिष्क को अभिभूत कर लेते हैं। हृदय तथा मस्तिष्क के सहसा अभिभूत होते ही प्राणी की चेष्टा और चेतना का लोप हो जाता है और वह निश्चेष्ट एवं अचेत होकर सूखे हुए काठ के समान गिर जाता है।

आयुर्वेद द्वारा प्रस्तुत उक्त व्याख्या का यदि हम विश्लेषण करें तो हमें उसमें निम्न प्रमुख बातें मिलेंगी—

(१) अपस्मार के रोगी में पूर्व प्रवृत्ति का पाया जाना आवश्यक है। यह पूर्वप्रवृत्ति वंशज भी हो सकती है और अर्जित भी ।

(२) आक्रमण के पूर्व रोगी में दोषों का संचय

आवश्यक है। यह दोष हृदय तथा मस्तिष्क में संचित होता है।

(३) मात्र दोषों के संचित हो जाने से ही अपस्मार की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसकी उत्पत्ति के लिए संवेगात्मक संकट—मानसिक द्वन्द अथवा क्षोभ का होना आवश्यक है।

(४) शारीरिक दोष और मानसिक द्वन्द दोनों मिलकर ही अपस्मार को उत्पन्न करते हैं।

जीवरसायनिक तत्व—कुछ लोगों का मत है कि कभी-कभी रोगी के रक्त में कुछ विषैले पदार्थ (Toxins) जमा हो जाते हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये विषैले पदार्थ मस्तिष्क अथवा अन्तड़ियों में बनते हैं। जब इनकी मात्रा एक निश्चित सीमा तक बढ़ जाती है तो प्राणी को अपस्मार का दौरा आ जाता है। यह दौरा उन विषैले पदार्थों को रक्त से मूत्र में ला देता है। मूत्र के साथ वे शरीर से बाहर निकल जाते हैं। अपस्मार के दौरे की समाप्ति के साथ ही अथवा उसके तुरन्त बाद रोगी द्वारा त्यागे गए मूत्र में ये विषैले पदार्थ अत्यधिक मात्रा में पाए जाते हैं। लेकिन ये विषैले पदार्थ क्या हैं, इनके क्या घटक हैं इसके बारे में अभी विशेषज्ञों को कोई जानकारी नहीं है। उनमें कुछ का मत है कि यह "एमोनियम कार्बोनेट की कोटि का कोई द्रव्य होता है। इस क्षेत्र में काम करने वाले कुछ लोगों ने रोगियों में एड्रिनल तथा मस्तिष्क-तन्तुओं के प्रति रक्त में "ऐबडरहैल्डेन प्रतिक्रिया" को घनात्मक अथवा प्रभावशाली पाया है।

मनोवैज्ञानिक तत्व

अपस्मार में संवेगों तथा भावदशा की विकृतियों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये अवस्थाएं अपस्मार के प्रायः सभी रोगियों में पाई जाती हैं। वे सहसा दुखी, शोकाकुल, क्रुद्ध और कभीकभी आह्लाद से पूर्ण होते देखे जाते हैं। ये स्थितियां उनमें सहसा आती जाती रहती हैं। कोई-कोई स्थिति तो कुछ घंटों अथवा कई-कई दिनों तक बनी रह जाती है। कभी-कभी रोगी में उत्पन्न निराधार भय-आशंकाएं उसकी निराशा, उसके क्रोध को उग्ररूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इन्हीं सब बातों को देखते हुए कतिपय विद्वानों ने ऐसी भी संकल्पना की है कि अपस्मारीय आक्षेप मानसिक तनाव कम करने वाली मनोरचनाएं हैं। ये निम्नस्तरीय मस्तिष्क केन्द्रों के विस्फोटक-विसर्जन (Explosive Discharge) का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनके द्वारा मन के **गुप्त** गह्वरों में संग्रहीत अव्यक्त संवेगों को व्यक्त होने का अवसर मिलता है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए कुछ विद्वान् "मनःगतीय अपस्मार" (Psychomotor Epilepsy) को अपस्मारीय आक्षेपों का मानसिक समकक्ष अथवा प्रतिनिधि भी मानने लगे हैं। इस बीच रोगी का जो भी आचरण होता है उसमें उसके घनीभूत संवेगों को द्रवति होने का अवसर मिल जाता है। इससे उसके संवेगात्मक तनाव में कमी आ जाती है।

इस संदर्भ में मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त भी ध्यान देने योग्य हैं। मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अपस्मारीय अभिग्रहण हिस्टीरियाजन्य दौरों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। फायड्वादी विचारधारा के अनुसार ये शैशवावस्था की दमित कामेच्छाओं की ही अभिव्यक्तियां हैं। इन अभिग्रहणों के द्वारा रोगी के अवरुद्ध संवेगों को व्यक्त होने का मौका मिल जाता है। इन संवेगों में आक्रामकता और आत्मविनाशकारी तत्व भी निहित रहते हैं। अपस्मारीय अभिग्रहणों में शिश्नोत्थान के साथ-साथ कामोत्तेजना को प्रकट होकर चरमसीमा तक पहुँचते भी देखा गया है।

अपस्मार की चिकित्सा

अपस्मार की चिकित्सा के दो पक्ष हैं—वेगकालीन चिकित्सा एवं विरामकालीन चिकित्सा। नीचे इन दोनों का ही संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

वेगकालीन चिकित्सा

अपस्मार के वेग के समय रोगी को ऐसे स्थान पर लिटाएं जहां उसे शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा में मिल सके। उसका बिस्तर यथासाध्य कोमल और मुलायम हो ताकि हाथ-पैर पटकने पर भी वह अपने आपको किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सके। उसकी गर्दन, सीने, पेट और कमर के बंधनों को ढीला कर दें। सिर को कुछ ऊंचा रखें। दांतों के बीच बोतल का कार्क अथवा कपड़े की गद्दी रख दें ताकि उसकी जबान दांतों के बीच पड़कर कट



न जाए। मुंह पर ठंडे पानी के छींटे दें। सर पर बरफ की थैली रखें। फिर आवश्यकतानुसार मूर्च्छा को दूर करने वाले किसी उपयुक्त नस्य एवं अंजन का प्रयोग करें। यदि इतने पर भी रोगी संज्ञालाभ न करे और पूर्णता निश्चेष्ट होकर पड़ जाए तो उसे उसी हालत में आराम से पड़ा रहने दें। बाद में स्वतः संज्ञा लाभ कर लेने पर भी दो तीन घंटे तक उसकी रक्षा करें। क्योंकि कभी-कभी वेग के समाप्त हो जाने के बाद भी रोगी मूढ़-मति हो उन्मत्त के समान आचरण करने लगता है। संज्ञा-लाभ के बाद यदि वह सर दर्द का अनुभव करे तो कोई उत्तम शिरोशूल नाशक औषधि दें।

विरामकालीन चिकित्सा

वेग के शान्त हो जाने के बाद रोगी की ठीक से परीक्षा करें। यह जानने की कोशिश करें कि उसके रोग का वास्तविक कारण क्या है। कारण का ज्ञान हो जाने पर चिकित्सा की उपयुक्त व्यवस्था करें।

आयुर्वेद ने अपस्मार तो दैहिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के कारणों की उपज माना है अतः चिकित्सा में भी उसने दोनों ही प्रकार की चिकित्सा का विधान किया है।

दैहिक चिकित्सा

अपस्मार की दैहिक चिकित्सा के प्रधानतः तीन अंग हैं—(१) शरीर का शोधन (२) पेया आदि क्रम का पालन तथा (३) रोग का शंसमन। नीचे इन तीनों पर ही संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

शरीर का शोधन

आयुर्वेद की मान्यता है कि प्रायः सभी मानसिक रोगों में हृदय, स्रोत तथा मन दोषों से आवृत्त हो जाते हैं इनकी चिकित्सा में वमन, विरेचन आदि द्वारा पहले इन अंगों को ही शुद्ध करने का प्रयास करना चाहिए। वाग्भट के शब्दों में—"अपस्मार में सबसे पहले दोषों से आवृत्त बुद्धि, मन और हृदय के स्रोतों को तीक्ष्ण कर्मों और तीक्ष्ण वचनों से प्रबोधन करना चाहिए।" चरक के अनुसार—"वातज अपस्मार के रोगी की बस्तिप्रधान, पित्तज अपस्मार के रोगी की विरेचन-प्रधान तथा कफज अपस्मार के रोगी की वमन-प्रधान चिकित्सा की जानी चाहिए।" शास्त्रों ने वस्ति के लिए "दशमूल, बला रास्ना, सरल-काष्ट, देवदारु, यव, बेल, कुल्थी, गोमूत्र, यवक्षार तथा सेंधा नमक—इनसे वस्ति बनाकर उसमें स्नेह और हींग मिलाकर आस्थापन वस्ति देने की राय दी है। विरेचन के लिए गोमूत्र, निशोथ, काली निशोथ, द्रवन्ती, शिकाकाई और स्नुही (एक प्रकार का सेंहुड़, को बरतने को कहा है। वमन के लिए मैनफल, कड़वी तुम्बी, इन्द्रवायणी, नीम अथवा इन्द्रयव का उपयोग करने को कहा है।" चिकित्सक देशकाल, रोगी का बलाबल, प्रकृति आदि का विचार करते हुए इन कर्मों के लिए अन्य उपयुक्त द्रव्यों अथवा विधियों का चुनाव भी कर सकते हैं।

पेया आदि क्रम का पालन

पंचकर्मों द्वारा शरीर का शोधन कर लेने के उपरान्त पेया, विलेपी आदि क्रम का पालन करना चाहिए।

रोग का संशमन

अब रोग की शान्ति के लिए उपयुक्त औषधि देनी चाहिए। नीचे इस सम्बन्ध में प्रयोग में आने वाले कुछ योग दिए जा रहे हैं:—

१. योगराज गुग्गुल—वातज, पित्तज तथा सन्निपातज अपस्मार की मध्यमावस्था में जबकि रोगी को मलबन्ध न हो यह औषधि विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होती है। इसकी एक खुराक मात्र प्रातः लेनी चाहिए।

साधारण योगराज गुग्गुल की १ से ४ गोली तक तथा महोयोगराज गुग्गुल की १ से २ गोली तक गर्म दूध के साथ सेवन करें।

२. रसोन पिण्ड—कफज अपस्मार की प्रथम तथा मध्यम अवस्था में लाभदायक सिद्ध होता है।

३ से ६ मासे तक जल के साथ दें। साथ ही वात की प्रबलता रहने पर गर्म जल के साथ दें।

३. भूतभैरव रस—कफज अपस्मार में विशेष रूप से उपयोगी है।

१ रत्ती हींग सेंचर नमक, त्रिकुटा, नरमूत्र तथा घी को समभाग मिलाकर उसके १ तोले मिश्रण के साथ दें।

४. वातकुलान्तक रस—नाना प्रकार के लक्षणों से युक्त वातज तथा पित्तज अपस्मार में, सन्निपातज अपस्मार की प्रथमावस्था में—विशेषकर वात और पित्त के

प्रबल रहने पर तथा रोगी के दीर्घकाल तक मूर्च्छा से ग्रस्त रहने की हालत में विशेष रूप से उपयोगी है।

१-१ गोली दिन में ३-४ बार ब्राह्मी, शंखपुष्पी, लौंग तथा जटामांसी के क्वाथ अथवा बला के रस और मधु के साथ दें।

५. चतुर्भुज रस—सभी प्रकार के अपस्मारों की प्रथमावस्था में उपयोगी है।

१-१ गोली ताल की शाखा के रस और मधु के साथ दें।

६. त्रैलोक्य चिन्तामणि—सभी प्रकार के अपस्मारों की प्रथमावस्था में उपयोगी है। खासकर वातकफ का प्रकोप होने पर तथा मूर्च्छा के समय रोगी के हाथ-पैरों में कम्प आदि उपद्रव होने पर इसका उपयोग लाभदायक सिद्ध होता है। अपस्मार की पुरातनावस्था में भी इसका उपयोग किया जाता है।

१-१ वटी नवीन अवस्था में अदरख के रस और मधु के साथ, पुरातनावस्था में दूध के साथ दें।

७. उन्माद गजकेसरी—नाना प्रकार के लक्षणों से युक्त कफज अपस्मार की प्रथमावस्था में उपयोगी है।

१ वटी प्रातः गाय के घी के साथ दें।

८. बृहत् नारदीय लक्ष्मीविलास रस—भांति-भांति के उपद्रवों से युक्त कफज अपस्मार की प्रथमावस्था में जबकि रोगी की मूर्च्छा दीर्घकाल तक बनी रहती हो इसका सेवन लाभदायक सिद्ध होता है। वातज अपस्मार में भी इसका उपयोग किया जाता है।

१-१ वटी निर्गुण्डी के पत्तों के रस और मधु के साथ दें।

९. चतुर्भुज रस—वातज तथा पित्तज अपस्मार की मध्यम तथा पुरातन अवस्था में जबकि रोगी का शरीर क्षीण हो और उसमें वात और पित्त की प्रबलता हो, यह अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

१-१ गोली त्रिफला के शीत कषाय और मधु के साथ दें।

१०. चिन्तामणि चतुर्भुज रस—वातज तथा पित्तज अपस्मार की मध्यम तथा पुरातन अवस्था में उपयोगी है। जिन रोगियों में हृत्कम्प, शारीरिक दुर्बलता तथा अनिद्रा के लक्षण पाए जाएं उनके लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

मात्र अपराह्न में १ वटी मांस्यादि क्वाथ अथवा १ तोला महाचैतस घृत, पंचगव्य घृत अथवा ब्राह्मी घृत को दूध में डाल उसके साथ दें।

११. योगेन्द्र रस—वातज तथा पित्तज अपस्मार की पुरातनावस्था में जबकि रोगी का शरीर कृश हो और वह प्रमेह अथवा बहुमूत्र से ग्रस्त हो अथवा हो रहा हो इसका उपयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होता है।

मात्र अपराह्न में १ वटी त्रिफला जल और मिश्री, जटामांसी के क्वाथ अथवा रसोन घृत और मिश्री के साथ दें।

१२. अपस्मारनाशन रस—सभी प्रकार के अपस्मारों में उपयोगी है।

१ वटी समभाग बच, सोंठ, काली मिर्च, पीपल और बायविडंग के ४ माशे चूर्ण और मधु के साथ मात्र प्रातःकाल सेवन करें। आध घण्टे के बाद डेढ़ से दो तोले तक बकरी का मूत्र पिलायें।

१३. नवांग वटिका—सभी प्रकार के अपस्मारों में उपयोगी है।

१-१ वटी अपस्मार हर औषधियों, शंखपुष्पी, वच, ब्राह्मी, कूट आदि के चूर्ण तथा मधु के साथ लें।

१४. सर्वेश्वर रस—सभी प्रकार के अपस्मारों में उपयोग में लाया जाता है। १-१ वटी अपस्मारहर औषधियों के चूर्ण और मधु के साथ दें।

१५. कल्याण चूर्ण—वातज तथा कफज अपस्मार में जबकि रोगी में हृत्कम्प, नेत्र-विकृति तथा हाथ-पैरों में शीतलता आदि के लक्षण पाए जाएं इसका उपयोग करना चाहिए। ३ से ६ माशे तक घी और मधु के साथ।

१६. सारस्वत चूर्ण—विशेषकर मानसिक ह्रास तथा स्मरण-शक्ति की हीनता पर सेवन करें।

३ से ६ माशे तक घी और मधु के साथ।

इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार निम्न योगों को भी उपयोग में लाया जा सकता है :—अपस्मार गजांकुश, अपस्मारारि, स्मृतिसागर रस, चण्डभैरव, अमरसुन्दरी वटी आदि।

अपस्मार
तथा उसकी सफल चिकित्सा

आचार्य विरञ्चिलाल शर्मा, शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद-वृहस्पति,
माहेश्वरी आयुर्वेदीय औषधालय, इस्लामपुर (झुन्झनू)

रोग का नाम—जिस व्याधि में स्मरणशक्ति का सर्वथा अभाव हो उसे ही अपस्मार कहते हैं यथा अपगता स्मृतिः यस्मिन स अपस्मार इसी तरह आचार्य सुश्रुत का भी अभिमत है—

स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपश्च परिवर्जने।
अपस्मार इतिप्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृतः ॥१॥

चूंकि विगत वस्तु के ज्ञान को स्मृति कहते हैं, जैसा कि—

'अनुभवजन्यंज्ञानंस्मृतिः'

उसके परिवर्जन अर्थात् नाश को अप कहते हैं। इसके संयोग से अपस्मार बना है। अतः अपस्मार का अर्थ हुआ बीते हुए का ज्ञान न होना है।

रोगोत्पत्ति में कारण—विशेष यह है कि आधुनिकता में संयमी जीवन की उपहासकर उसे तिलाञ्जली देकर मानव विलासिता की ओर अग्रसर हो रहा है। अतः जीवन को कृत्रिमता ने आवृत कर लिया है। आहार और विहार के अनौचित्य ने मनुष्य की प्राणशक्ति एवं मानसिक शक्ति का ह्रास विशेष रूप से करा दे या यही कारण है कि आज हमें उन्माद, अपस्मार, योषापस्मार आदि मानसिक व्याधियों से ग्रस्त मानव बहुतायत से दिखाई देते हैं। अपस्मार रोग की निदान व सम्प्राप्ति में आयुर्वेद कहता है जैसे—'चिन्ता शोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धाः हृत्स्रोतसिस्थिताः। कृत्वास्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥' अर्थात् चिन्ता, शोक आदि कारणों से दोषों का प्रकोप होने से कुपित हुए दोष मस्तिष्क में पहुँचकर मन और मस्तिष्क में कुपित दोष अपने प्रभाव से स्मरणशक्ति का नाश कर देते हैं उस स्मृतिभ्रंश अवस्था में जो मूर्च्छादि (बेहोशी) आती है उसे ही अपस्मार कहते हैं। रही बात अपस्मार की, क्यों और कैसे होता है, यह विषय गूढ़ रहस्यमय है परन्तु साथ-साथ यह भी लिखना है कि निश्चित रूप से मत है कि विकृत व कुपित हुए दोष मस्तिष्क में एक प्रकार की समस्या क्या उग्रता खड़ी कर देते हैं। लेकिन सही बात तो यह है कि जिसके शरीर में वातादि दोष बढ़े हुए हों, आंखें अहितकर एवं रूक्ष और दूषित अन्न जलादि सेवन करता रहे तथा चिन्ता, काम, शोक और उद्वेग आदि कारण से शरीरोष्मा बढ़कर रज और तम को बढ़ावा देने मात्र से सत्व गुण का ह्रास कर देते हैं और वही दोष हृदय पर अपना प्रभाव जमा लेते हैं। हृदय और मन को विकृति मिलने पर मानव चिंता आदि में विशेष उलझ जाता है। इसीसे मानसिक

राजस्थान में जहां पग-पग पर वैद्यों की मान्यता है वहां उच्चकोटि के चिकित्सकों की गणना आज अंगुलियों पर गिनी जा सकती है। आचार्य विरञ्चिलाल जी उनमें से एक हैं। आपने अपने व्यस्त समय में से कुछ समय निकाल कर, लेख भेजकर अनुग्रह किया है।

—गोपालशरण गर्ग।

दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है। इसके अलावा भी अन्य कारणों में अधिक मैथुनादि से वीर्य क्षीण होकर मस्तिष्क में रूक्षता पैदा होने से भी अपस्मार हो जाता है। विशेषतः अप्राकृतिक मैथुन करने वालों का वात संस्थान दूषित होता है उससे मस्तिष्क में शून्यता आदि लक्षण प्रगट प्रत्यक्ष में देखने को मिलते हैं। इस प्रकार अनेक कारणों से जैसे रक्ताल्पता से आक्षेपादि होने लगते हैं। अतः हृदय और इन्द्रियां अपने स्थान को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं तभी अपस्मार होता है। उपरोक्त कहे हुए चिन्ता शोकादिभिः का यही तो अर्थ है कि चिंता और शोकादिकों से कुपित हुए दोष हृदय के स्रोतों में अर्थात् मन को बहने वाली नाड़ियों में स्थित होकर स्मृति का नाश कर अपस्मार को उत्पन्न करते हैं। एकाएक चिल्लाकर या इसी तरह चुपचाप मृगी (अपस्मार) का रोगी बेहोश होकर गिर पड़ता है। रोगी को पड़ने का जरा भी ख्याल नहीं रहता। यह अपस्मार रोग चार प्रकार का है यह आयुर्वेद का अभिमत है यथा—'वातात्पित्तात्कफात्सर्वैर्दोषैः स स्याच्चतुर्विधः। अर्थात् वात से पित्त से, कफ से और त्रिदोष से चार प्रकार का ही है।

लक्षण—नेत्रविकृत हो जाना, हाथ-पैरों का इतस्ततः पटकना, स्मरणशक्ति का लोप होना, दाँतों को कट्कटाना, मुंह से झाग (फेन) का आना, लड़खड़ाकर पृथ्वी पर गिर जाना, गिरते समय जोर से चिल्लाना, श्वास का सही रूप में नहीं आना, धीरे-धीरे रोगी को होश आना, जिह्वा का बाहर आना, नेत्रविकृति से नेत्र प्रायः खुले रहना, सिर्फ नेत्रगोलकों का ऊपर चढ़ जाना या किसी-किसी के नेत्रों का घूमना यही इसके लक्षण सही रूप में है, अतः लिखा है—

तमः प्रवेशो संरम्भो (सरम्भः नेत्रविकृति हस्तपादादिनां विक्षेपणादि) दोषोद्रेक हतस्मृतिः। अपस्मार इतिज्ञेयो गदोघोरस्तरोहि सः। किसी किसी की मृगी (अपस्मार) के दौरा होने से पूर्व यह रूप (लक्षण) होते हैं और अपस्मार के पूर्वरूप भी यही हैं जैसे-हृत्कम्पः शून्यता स्वेदोध्यानंमूर्च्छाप्रमूढता। निद्रानाशश्चतस्मिश्च भविष्यति भवत्यथः॥ अर्थात् हृदय कम्पायमान होना (शरीर का कांपना) गर्दन की ओर टेढ़ी होना, आंखों की पुतलीयों का नीचे आना या ऊपर चढ़ना, पसीना आना विस्मय मूर्च्छा, मन में मोह, इन्द्रियों की मूढ़ता निद्रा का नाश, हृदय की शून्यता से ज्ञान शून्य, होना, मन चंचल होना, मन के भ्रांत होने पर लाल पीला हरा आदि दिखाई देना, लार गिरना, नेत्रों का फड़कना, मूच्छित होकर गिरना, आदि विशेष लक्षण हैं वैसे मुंह से सफेद झाग आना भी अपस्मार (मृगी) का प्रधान लक्षण है

वागभट्ट के मतानुसार—पूर्वरूप में भ्रम और चक्कर आना, आंखों के सामने अंधकार कासा होना चिन्तातुरसा बैठे हुऐ सोचते रहना, अरुचि, पेट में गुडगुड़ाहट, शक्तिक्षय, और निद्रानाश होना।

अब आयुर्वेदीय सिद्धान्त से चार प्रकार के अपस्मार का अलग-अलग दिग्दर्शन इस प्रकार है।

वातज अपस्मार में—शरीर में कम्प दांतों का चबाना, मुख से झागों का गिरना, ऊंची-ऊंची श्वास लेना, नेत्रों से अग्नि समान चारों ओर लाल देखना, जैसे—कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामीश्वसित्यपि। अमितोऽरुणवर्णानिपश्येद्रूपाणिचानिलात्।

पित्तज अपस्मार में—शरीर में नेत्रों में पीलापन तृषा (प्यास) और संसार की सभी वस्तुओं में अग्नि की प्रचंड ज्वाला सी व्याप्त दिखाई दें। यथा—

पीतफेनांगवक्राक्षः पीत ऽसृग्रूपदर्शकः
सतृष्णोष्णानल व्याप्त लोकदर्शीच पैत्तिकः॥

इसी तरह कफ के अपस्मार में—झागों का और नेत्रों का रंग सफेद, अंगों का भारीपन शीत लगना, रोमों का खड़ा होना सभी लोक की वस्तुएं सफेद दीखना, त्रिदोषापस्मार में उपरोक्त तीनों दोषों के दोष अलग-अलग हैं वे सब हो जावें तो त्रिदोषी मान लिया जावे—लिखा है—

सर्वैरेतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः।
अपस्मारः स चासाध्यो यःक्षीणस्यानवश्च यः॥

इसी तरह बच्चों को होने वाले अपस्मार को बालकापस्मार कहा जाता है। इसमें प्रायः निम्न लक्षण हैं—बार-बार बेहोश होना, अपने बाल नोंचना, गर्दन झुका देना, जम्भाई लेते समय मल मूत्र का स्राव, मुंह से झाग आना, स्तन व जीभ बार-बार काट लेता है नींद नहीं लेना इसी तरह एक योषापस्मार भी होता है जिसे लोग हिस्टी-



रिया भी कहते हैं। चिकित्सा साध्य भी है जब इसके कारणों पर ध्यान दिया जावे। अपस्मार (मृगी) का आक्रमण काल भी बताता है जैसे––

पक्षाद्वाद्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः। अपस्मार प्रकुर्वन्तिवेगंकिंचिदथान्तरम्। अर्थात् प्रकुपित पित्तजन्य अपस्मार प्रायः एक पक्ष से प्रकुपित वातज अपस्मार १२ दिनों में तथा प्रकुपित कफज अपस्मार का दौरा प्रायः एक महीने में वैसे कभी-कभी तो समय से पूर्व आता है। अपस्मार जो असाध्य माना जाता है उसके लक्षण अंगों का विशेष फड़कना। शरीर का क्षीण होना। नेत्रों का विकृत होना, भृकुटी भौंह चलायमान होना रोगी के लक्षण हैं यह––

प्रस्फुरन्तञ्च बहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम्।
नेत्राभ्याञ्च विकुर्वाणमपस्मारी विनाशयेत्॥

वैसे कई चिकित्सक हिस्टीरिया अपस्मार को अलग-अलग नहीं मानते इसलिए उनके भेद का दिग्दर्शन से सही रोग का पता लग सके इसलिए अलग-अलग पहचान लिख देना उचित ही रहेगा।

प्रारम्भ में तीक्ष्ण वमन विरेचन नस्य आदि कर्मों द्वारा चिकित्सा करें। वमन विरेचन से शरीर शुद्ध हो जाने पर पेया आदि का प्रयोग करना हितकर है। नस्य भी तीक्ष्ण देने में नस्यार्थ सफेद कन्नेर के पत्तों के रस की नस्य व इसके पत्तों को सुखाकर कपड़ छानकर नस्य रखें आवश्यकता पर अर्थात् दौड़े के समय नस्य काम में लेने के साथ रोज लें तो दौड़ा नष्ट हो जावे।

नस्य के लिए छोटी कटेरी का रस भी इस में उपयोगी है। अथवा केवड़े का भुट्टा सुखाकर उसकी नस्य भी दौरा कम करती है। जायफल को गले या दाहिने हाथ के बाजू में छेद निकाल धागे से बांधे रखने से विशेषोपयोगी रहता है। शास्त्रीय चिकित्सा में भूतभैरव रस, योगेन्द्र रस स्मृतिसागर, कृष्णचतुर्मुख रस, सारस्वत घृत, कूष्मांड घृत नारायण चूर्ण, ब्राह्मी शर्बत बगैरा विशेषोपयोगी हैं।

स्वानुभूत शास्त्रीय चिकित्सा में––लशुन इकपोथी को बकरी के दूध में प्रयोग करावें। शास्त्रीय सिद्धान्त से तिल के तैल के साथ लशुन का प्रयोग शतावरी चूर्ण शहद में ब्राह्मी का रस या क्वाथ करके पिलाना चाहिए।

अपस्मार में	योषापस्मार में
१. अपस्मार में चैतन्यता अकस्मात् लुप्त हो जाती है	१. योषापस्मार में धीरे-धीरे।
२. मुख मण्डल विकृत होता है अपस्मार में।	२. योषापस्मार में वैसे का वैसा ही रहता है।
३. अपस्मार में मुंह में झाग आते हैं।	३. योषापस्मार में यही सबसे अच्छी पहचान अपस्मार की है।
४. अपस्मार में आंखें पूर्ण बन्द नहीं होती।	४. हिस्टीरिया में हो जाती हैं।
५. अपस्मार में दांतों का किटकिटाना होता है।	५. हिस्टीरिया में दांत लग जाते हैं।
६. अपस्मार का दौड़ा बहुत कम समय रहता है।	६. हिस्टीरिया का कई दिनों तक भी।

अपस्मार रोग के चिकित्सा सिद्धान्त

वातिकं बस्तिभूयिष्ठै पीतंप्रायोविरेचनैः।
श्लैष्मिकं वमनं प्रायैरपस्मार मुपाचरेत्॥

अर्थात् वातज अपस्मार में बस्ति प्रधान चिकित्सा पित्तज अपस्मार में विरेचन प्रधान चिकित्सा। कफज अपस्मार में वमन प्रधान चिकित्सा है। वातादि दोषों से आवृत हुए हृदय स्रोत मन को प्रबुद्ध करने के लिए

विशिष्ट स्वानुभूत योग––पाव किलो दधि (दही) बढ़िया देशी चीनी (शर्करा) ५० ग्राम बाजरा की बनाई हुई मोटी २ रोटी अच्छे गाय के घृत से खूब चुपड़ी हुई रात की वासी तथा गोदन्ती भस्म ६ रत्ती कपर्दिका भस्म ६ रत्ती सब को मिला कर चूर्ण कर सुबह २ खाने से दो महीने में ठीक होगा।

सुधानिधि



जटिल रोग चिकित्सांक

औपसर्गिक जटिल रोग

इस खण्ड में







विषूचिका

लेखक—आयुर्वेदरत्न डा० अमरनाथ शर्मा वैद्य, चमरोआ (रामपुर)

> मूल लेख विद्वान् द्वारा १७ पृष्ठों में लिखकर भेजा गया है। हम यहां उसके चिकित्सात्मक भाग का ही उपयोग कर पा रहे हैं जिसके लिए सम्पादक त्रिवेदी जी ने आरम्भ में ही निवेदन कर दिया है। जो भाग प्रस्तुत किया जा रहा है वह स्वयं में कितना उपादेय है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। हमें विश्वास है डा० शर्मा भविष्य में भी ऐसे ही उत्तमोत्तम लेख चषकों के माध्यम से सुधानिधि को भरते ही रहेंगे।
>
> —मदनमोहनलाल चरोरे।

पर्याय—प्रसिद्ध नाम-हैजा, डॉक्टरी नाम-कॉलरा (Cholera) १

निरुक्ति—इस रोग में अजीर्ण के द्वारा वायु कुपित होकर अंगों में सुई चुभोने की सी पीड़ा करता है अतः वैद्यगण इसे "विसूची" (अथवा विसूचिका) कहते हैं।[२] आंग्ल शब्द कॉलरा (Cholera) का शाब्दिक अर्थ टोंटी या नलिका (Sput) होता है। जैसे किसी पात्र की टोंटी से पानी की धारा बहती रहती है वैसे ही इस रोग में गुदनलिका से पतले दस्तों की धारा बहती है अतः इसका नाम "कॉलरा" भी है।

निदान—आयुर्वेद दृष्ट्या इस रोग का प्रधान हेतु अजीर्ण है। आधुनिक दृष्ट्या इस रोग का कारण कॉलरा बैसीलस (Cholera Bacillus) नामक जीवाणु है। सन् १८८४ ई० में डा० कॉक ने इस का पता लगाया था अतः इस जीवाणु को Koch's Bacillus भी कहते हैं। इस जीवाणु की आकृति अर्धविराम चिह्न; (Comma) जैसी होती है तथा यह अत्यन्त चपल होता है। अतः इसे Comma Vibrio अर्थात् चपल वक्राणु भी कह देते हैं। रोगी के मल में ये जीवाणु असंख्य होते हैं।[३] रोगमुक्त होने के बाद भी कई दिन तक ये जीवाणु

---

१. रसरत्न समुच्चयकार ने इसे सर्वाजीर्ण नाम दिया है, यथाः—
विरेको जठरे शूलं वमनं च मुहुर्मुहः। हस्तपादादि संकोचः सर्वाजीर्णस्य लक्षणम् ॥ —र० र० स०

२. सूचीभिरिव गात्राणि तुदन्सन्तिष्टतेऽनिलः। यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥

३. ये जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं नंगी आंखों से हम इन्हें देख नहीं सकते। निदान (*Diagnosis*) की संदिग्धावस्था में पैथोलॉजिस्ट डाक्टर्स रोगी के मल (Stool) से पूरे श्लेष्मिक कला का कोई छिछड़ा उठाकर उसे कांच की पट्टी (Slide) पर रंजित कर सूक्ष्म दर्शक यन्त्र (Microscope) से देखते हैं यदि अर्धविरामाकारी धीरे-धीरे जीवाणु दिखाई पड़ें तो कॉलरा का निश्चयात्मक निदान करते हैं।



मल द्वारा बाहर निकलते एवं वायु में फैलते रहते हैं। इस प्रकार रोग का प्रसार अन्य व्यक्तियों में होता है।

इस रोग का संचय-काल (Incubation Period) कुछ घन्टों से लेकर ६ दिन का होता है, अधिक से अधिक १० दिन का भी हो सकता है। इस संचयकाल में भी उपसृष्ट मनुष्य के मल के साथ ये जीवाणु निकलते रहते हैं। इस प्रकार वह मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से रोगी होने से पूर्व भी रोग का प्रसार करता है। ऐसे मनुष्य तथा पदार्थ जो रोगी के सम्पर्क में आते हैं वे जीवाणु ग्रहण करते हैं एवं फैलाते हैं—ये सब वाहक (Carriers) कहलाते हैं। यह जीवाणु सूख जाने पर भी १४-१५ दिनों तक जीवित रह सकता है। किन्तु जल में तो कई मास तक जीवित रहता है।

अतः वाहकों एवं मक्खियों द्वारा (मक्खी रोगी के दस्त पर बैठती है और वहां से जीवाणु उसके शरीर पर चिपट जाते हैं फिर वह अन्य मनुष्यों एवं खाद्यपदार्थों पर पहुंच जाते हैं अतः मक्खी भी इस रोग का वाहक है) संक्रमण प्रसार पाता है।

सम्प्राप्ति—जीवाणु जब किसी माध्यम से अन्न नलिका में पहुंचते हैं तो आमाशय में पहुंचने पर वहां के लवणाम्ल रस (Gastric Juice) के सम्पर्क में आते ही ये मर जाते हैं तथा दैवात् कुछ बच भी निकलते हैं तो वे इतने अशक्त हो जाते हैं कि उस शरीर में रोगोत्पत्ति में समर्थ नहीं रहते किन्तु यदि दैवयोग से उस समय आमाशय में अम्लाभाव हो या वह लवणाम्ल रस अत्यन्त पतला हो तो ये वहां से सही सलामत बच निकलते हैं और आमाशय से चलकर लघ्वान्त्र के ऊपरी भाग में पहुंच कर वंशवृद्धि करने लगते हैं साथ ही एक प्रकार के विष (Toxin) के द्वारा आमाशय आन्त्र में प्रक्षेप होकर उन में प्रसेक होने लगता है, अतः दस्त, वमन प्रारम्भ हो जाते हैं।

रोग के लक्षण

आयुर्वेद में प्रायः सभी रोगों का वर्णन सूत्ररूप में (संक्षिप्त) किया गया है। विसूचिका के वर्णन में भी वही बात घटित होती है यथा विसूचिका रोग में भिन्न-भिन्न समयों पर (Bystages) होने वाले लक्षणों को एकत्र करके एक श्लोक में बन्द कर दिया है। यथा—

"मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलं भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः।
वैवर्ण्यकम्पोहृदयरुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः॥"
मा० नि०

किन्तु आधुनिक ग्रन्थकारों ने इस रोग को चार अवस्थाओं में बांटकर उक्त लक्षणों का क्रमवद्ध विस्तृत वर्णन किया है। ये अवस्थाएं निम्न लिखित हैं।

१. आक्रमण अवस्था (Premonitory Diarrhoea)—प्रथम सुस्ती, सिर व उदर में कुछ भारीपन आदि मामूली से पूर्वरूप प्रकट होकर रोग आक्रमण करता है किन्तु शीघ्र ही दस्त शुरू हो जाते हैं। प्रारम्भिक दस्तों में पहले पतला मल निकलता है जो दुर्गन्धित भी हो सकता है एवं उसमें अपच्य अन्न भी निकल सकता है फिर दस्तों में पित्त मिश्रित होने से ये दस्त रंगदार (थोड़े हरे या पीले रंग के होते हैं किन्तु पित्त निकल जाने के बाद ये दस्त चावलों के मांड के समान कुछ गाढ़े अथवा चावलों के धोवन के समान पतले एवं श्वेतवर्ण के होने लगते हैं।[1] यद्यपि दस्त पेट में गुड़गुड़ होकर आते हैं किन्तु उदर में मरोड़ (कुंथन) या शूल बिल्कुल नहीं होता। प्रायः १-२ घंटे बाद वमन भी प्रारम्भ हो जाती है परन्तु इसमें किसी प्रकार का कष्ट या हृल्लास नहीं होता मानो मशक से पानी निकल रहा हो। आमाशय स्थान को दबाने से थोड़ा दर्द होता है। तृषा लगने लगती है। दस्तों में शुक्लि(Albumin)लवण(Sodium Chloride) की प्रधानता रहती है, कफ तथा उपकलीय कोष (Epithelial Cells) भी रहते हैं क्वचित् रक्त भी पाया जाता है। दस्तों में विसूचिका वक्राणु (Cholera Bacillus) बहुत बड़ी मात्रा में रहते हैं। प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। वमन में भी यही सब पदार्थ पाये जाते हैं किन्तु विसूचिका जीवाणु नहीं होते प्रायः ६-७ घंटे बाद दूसरी अवस्था प्रारम्भ हो जाती है।

---

[1] यदि आन्त्र में क्षत हों तो दस्तों में रक्त मिश्रित हो जाने से उनका वर्ण कुछ गुलाबी भी हो सकता है परन्तु ऐसे केस अपेक्षाकृत कम होते हैं। कभी-कभी प्रथम अवस्था में तो मण्ड या तण्डुलोदकवत् श्वेत दस्त आते हैं और द्वितीय या तृतीय अवस्थाओं में उनमें रक्त मिश्रित होकर भी आने लगता है।

२. वर्द्धमान अवस्था (Stage of evacuation)–इस अवस्था में दस्त, वमन बहुत बढ़ जाते हैं। जिस प्रकार टोंटी या नलिका से अनवरत पानी गिरता है इसी प्रकार लगातार दस्त, कै होते हैं। दस्त बहुत पतले (कभी-कभी बिलकुल जलवत्) आते हैं। जो वस्तु या जल दें फौरन वमन द्वारा निकल जाता है। शरीर में जलाल्पता होने से खुश्की आने लगती है। अन्तर्दाह और तृषा से रोगी छटपटाता है, हाथ, पैरों की अंगुलियों में आक्षेप (Cramps, खाली ऐंठन) होने लगते हैं जिनका प्रभाव पिंडलियों तथा उदर की दीवार तक पहुँचने लगता है अतः इस ऐंठन के समय हाथ पैरों एवं उदर प्रदेश में तीव्र पीड़ा होने लगती है। भ्रम, शिरःशूल, स्वेदगमन, दिल में घबराहट (हृत्‌रुक) होने लगती है। मूत्र बन्द हो जाता है यदि क्वचित् आता भी है तो अत्यल्प तथा सकष्ट। इसके ४-८ घंटे के बाद तृतीय अवस्था प्रारम्भ होती है।

३. शीताङ्गावस्था (Stage of Collapse)–वमन अतीसार स्वेद द्वारा रक्त का जलीय अंश इस अवस्था तक बहुत निकल चुका होता है अतः रक्त का परिभ्रमण त्वचा तक नहीं हो पाता फलतः त्वचा सर्द, झुर्रीदार (शीताङ्ग) हो जाती है। हाथ-पैर नाक, चेहरा सिकुड़कर नीले या काले (वैवर्ण्य) पड़ जाते हैं। आंखों में गड्ढे पड़ जाते हैं। बगल का तापांश स्वाभाविक तापांश से ४-५°F कम हो जाता है और मुंह का उससे भी कम, परन्तु गुदा या योनि का तापांश स्वाभाविक तापांश से भी ५-६°F (कभी-कभी इससे भी अधिक) बैठता है। नाड़ी शीतल, दबी हुई, मन्दगति हो जाती है प्रत्युत प्रायः मणिबन्ध पर स्पन्दन ही प्रतीत नहीं होता। नाड़ीगति ६०-१०० प्रति मिनट श्वासगति ३५-४० प्रति मिनट, स्वर मन्द कभी-कभी बिलकुल अस्पष्ट पुनः-पुनः शीतल स्वेदागमन आदि लक्षणों के साथ पूर्णतया मूत्रावरोध मिलता है। इसी अवस्था में मूत्रमयता के कारण सुई चुभोने जैसी पीड़ा की अनुभूति विशेषतया वस्ति एवं उदर प्रदेश में होती है। कै-दस्त प्रायः इस अवस्था में बन्द हो जाते हैं परन्तु कभी-कभी आते भी रहते हैं। प्रायः २ से २४ घंटे यह अवस्था रह कर चतुर्थ अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। अधिकतर रोगी इसी अवस्था में मरते हैं।

४. प्रतिक्रिया अवस्था (*Stage of Reaction*)–थोड़ी देर रोगी निःसंज्ञ (*Unconscious*) रह कर ठीक होने लगता है, दस्त, कै बन्द हो जाते हैं, प्यास कम हो जाती है। कइयों को यह अवस्था प्रारम्भ होने से पूर्व जाड़ा (कम्प) लगता है फिर नाड़ी तेज होकर शरीर गर्म होने लगता है। कइयों को थोड़ा ज्वर भी हो जाता है। चेहरे और आंखों पर स्वस्थता के लक्षण झलकने लगते हैं। मूत्र होने लगता है और रोगी क्रमशः ठीक हो जाता है।

विशेष सूचनाएं

महामारी (*Epidemic*) के भी कई रूप होते हैं कभी महामारी थोड़े से व्यक्तियों तक सीमित रह कर समाप्त हो जाती है और कभी-कभी हजारों लाखों लोगों को अपनी लपेट में ले लेती है। इसी प्रकार महामारी काल में उक्त चारों अवस्थायें बहुत कम रुग्णों में देखने को मिलती हैं। कुछ मामलों में रोग अत्यन्त सौम्य प्रकार का (क्षुद्र विसूचिका *Cholerine*) होता है। इसमें चारों अथवा अन्तिम ३ अवस्थाएं मिलती हैं और शीताङ्गावस्था के थोड़े से ही लक्षण प्रकट होते हैं। कुछ मामलों में थोड़े से ही वमन अतीसार होकर बिना अधिक जलाल्पता (*Dehydration*) हुए ही हृदयावसाद (*Heart failure*) होकर मृत्यु हो जाती है ऐसा प्रायः भीषण प्रकार की महामारी में संभवतः रोगी के अति भयान्वित हो जाने से होता है किन्तु कुछ केसों में विषमयता (*Toxaemia*) इतनी अधिक होती है कि बिना वमन, अतीसार हुए ही यकायक निपात होकर मृत्यु हो जाती है। ऐसी ही अवस्था को शुष्क विसूचिका या गुम हैजा (*Dry Cholera or Cholera Sicca*) कहते हैं। ऐसी दशा में कै, दस्त, पेशाब कुछ नहीं होता, इच्छा करने पर भी नहीं होता। पेट फूल जाता है, मूर्च्छा, घबराहट, हिक्का, खल्ली आदि लक्षण होते हैं। इस दशा में शरीर के भीतर एकत्रित विष (*Toxin*) बाहर नहीं निकल पाते आलसी की तरह पड़े रहते हैं अथवा उनके बाहर आने में बहुत विलम्ब होता है अतः आयुर्वेदज्ञों ने इस अवस्था को "अलसक" या "विलम्बिका" कहा है। ये दोनों शब्द गुम हैजा के लिये ही हैं किन्तु इनमें अन्तर केवल इतना किया है बाकी सब लक्षण दोनों में समान होने के बावजूद भी अलसक में तीव्र



शूल होता है जो विलम्बिका में नहीं होता। बस यही अन्तर है।

सापेक्ष निदान (*Differential Diagnosis*)—कुछ चिकित्सक किसी भी वमन विरेचन वाले रोगी को देखते ही विसूचिका (*Cholera*) का निदान कर देते हैं। विसूचिका संक्रमण काल (जनपदोध्वंसक *Epidemic*) में प्रत्येक वमन विरेचन युक्त रोगी के विषय में सुरक्षात्मक एवं निदानात्मक दृष्टि से ऐसा संदेह करना अधिकाधिक मामलों में सही ही बैठेगा किन्तु जब इसका संक्रमण विशेष न हो तब तो निदान करने में बहुत सावधानी अपेक्षित है।

जहां तक अतीसार एवं वमन का प्रश्न है बहुत से विष द्रव्य भी ऐसे हैं जो कि यदि औषधीय मात्रा (*Medicinal dose*) से अधिक मात्रा में उदर में पहुँच जाये तो अपने क्षोभक प्रभाव के कारण वमन, अतीसार, तृषा, दाह आदि लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसे द्रव्यों में तीव्र क्षार (कास्टिक सोडा, पोटास, एमोनिया आदि) जयपाल, एरण्डबीज, अर्क दुग्ध, स्नुही दुग्ध, इन्द्रायण, अर्गट, डिजीटेलिस, आयोडीन, चित्रक, सीसक, ताम्र, पारद, सैंटोनीन आदि हैं। उक्त द्रव्यों से निर्मित अनेक औषधियां भी होती हैं जिन्हें परिचारक या व्यवस्थापक भूल से अधिक दे सकता है अथवा रोगी स्वयं भी अधिक मात्रा में सेवन कर सकता है किन्तु अन्य कारणों से भी यह विष द्रव्य उदर में पहुँच सकते हैं यथा ताम्रपात्रों में किसी अम्लरसयुक्त आहार का पकाना अथवा खाना इत्यादि। अस्तु, वमन, अतीसार के बावजूद कुछ विशिष्ट लक्षण इन विषों के प्रभाव से होते हैं जिनसे भिज्ञ चिकित्सक इनके निदान में धोखा नहीं खा सकता। अतः अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये चिकित्सकों को अगदतंत्र सम्बन्धी ग्रन्थों को तथा इस ग्रन्थ के प्रखंड ११ को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। इस प्रकार के विषों में केवल मल्ल (*Arsenic*) ऐसा विष द्रव्य है जिसके लक्षणों की समानता बहुत अंशों में विसूचिका के लक्षणों से है अतः प्रकरणोचित समझते हुए उसके विभेदक लक्षणों को नीचे लिखा जा रहा है। विसूचिका से मिलते जुलते लक्षणों वाले अन्य रोगों का भी सापेक्ष निदान दिया जा रहा है।

(क) **मल्ल विष** (*Arsenical Poisoning*)—मल्ल या मल्ल के योगिक हड़ताल तबकी, मैनसिल और अंजन (*Antimony*) विषैली मात्रा (*Fatal dose*) में खाने से थोड़ी देर बाद आमाशय में तीव्र दाह होकर जी मिचलाने लगता है और वमन प्रारम्भ हो जाती है। वमन करते समय कंठ में बहुत पीड़ा होती है। वमन कृष्णवर्ण तथा रक्तयुक्त होती है। तीव्र उदरशूल होता है, वमन वेग तीव्र हो जाते हैं तथा विसूचिकावत् ही पिंडलियां ऐंठने लगती हैं। अन्तर केवल इतना है कि विसूचिका में प्रायः पहले दस्त होते हैं और बाद को वमन किन्तु मल्ल विष में पहले वमन प्रारम्भ होती है और बाद की अवस्था में दस्त। विसूचिका में दस्त, कै चावलों की पीछ या तण्डुलोदकवत् श्वेतवर्ण होते हैं उनमें प्रायः रक्त नहीं आता। दूसरे विसूचिका रोगी को वमन करते समय कंठ में कोई कष्ट नहीं होता। विसूचिका में उदरशूल प्रायः दूसरी अवस्था में प्रारम्भ होता है किन्तु मल्लविष में प्रारम्भ से ही तीव्र उदरशूल होता है। विसूचिका रोगी को दस्त आते समय भी कोई कष्ट नहीं होता जब कि मल्लविष में दस्त आते समय तीव्र कुंथन होता है तथा दस्त सरक्त होता है।

(ख) तीव्र दण्डाण्वीय प्रवाहिका (Acute Bacillary Dysentry)—इस में भी कभी-कभी विसूचीवत् लक्षण होते हैं किन्तु इसमें कुन्थन (मरोड़) बहुत होता है एवं मल में आंव और रक्त अधिक होता है। पहले प्रायः तीव्रताप (१०३–१०४°F.) होता है शीतांग (Collapse) बाद को होता है।

(ग) गम्भीर विषम ज्वर जन्य छर्द्यतीसार (Choleraic Type of Malaria) दस्त माण्ड या तन्दुलोदकवत् श्वेत नहीं होते बल्कि पीले से वर्ण के होते हैं यद्यपि क्वचित् रक्त भी मल के साथ आ सकता है। ज्वर अवश्य उपस्थित होता है। रक्त तथा मल में मलेरिया के कीटाणु मिलते हैं।

(घ) आमाशयान्त्रीय अंशुघात (*Heat gasteroenteritis*)—वमन-अतीसार सह तीव्रताप (*Hyperpyraxia*) होता है। नाड़ी तीव्र तथा उछलती हुई चलती है। गर्मी की ऋतु, गर्म प्रदेशों, गर्म वातावरण में

ही होता है लू लगना (*Sunstroke*) प्रधान कारण है। दस्त-कै का न तो वर्ण ही विसूचीवत् होता है और न विसूचिका के जीवाणु ही मिलते हैं।

(ङ) कृमिजन्य छर्दतीसार—कभी-कभी उदरकृमि (गण्डूपद कृमि, धान्यांकुर कृमि, पटार आदि) एक प्रकार के विष (*Toxin*) का उत्सर्ग करते हैं फलतः आमाशय, आंत्र में क्षोभ होकर छर्दतीसार प्रारम्भ हो जाता है, उदरशूल (विशेषकर कौड़ी प्रदेश में) होता है। वमन प्रायः खाली पेट होता है तथा वमन से पूर्व मुख में जल भर आता है तिक्त रसयुक्त वमन होता है। कभी-कभी मल, वमन में कृमि भी निकल आते हैं या कृमि रोग का पूर्व इतिहास मिलता है। छर्दतीसार का वर्ण विसूचीवत् नहीं होता अन्य लक्षण भी उतने तीव्र नहीं होते। संदिग्ध स्थिति में मलपरीक्षा में कृमियों के अण्डे पाये जाना निश्चित निदान हैं।

(च) जाठरान्त्र शोथ(*Gastero Enteritis or Food Poisoning*) कभी-कभी भोजन में सालमोनेला वर्ग (*Salmonella Group*) के दण्डाणु वृद्धि कर के एक गर विष की उत्पत्ति करते हैं जो पकाने पर भी नष्ट नहीं होता। तैयार खाद्य पदार्थों में सड़ांध उत्पन्न होकर टोमेन (*Ptomaine*)नामकगरविष उत्पन्न हो जाता है। अस्तु ऐसे दूषित खाद्यपदार्थों (अन्न, शाक, फलादि) के सेवन से कुछ घण्टों के अन्दर ही (प्रायः खाने के बाद २ से १२ घण्टे के भीतर) उस गर विष से आमाशय, आन्त्र में शोथ होकर पेट में जल्दी-जल्दी ऐंठन या दर्द उठना, हृल्लास (जी मिचलाना) वमन होना ये लक्षण होते हैं कम्प लगकर ज्वर (प्रायः ६६°F से १०२°F तक) हो जाता है अतीसार भी होता है। वमन करते समय कष्ट होता है। वमन, अतीसार विसूचीवत् श्वेत वर्ण के नहीं होते, उद्वेष्टन (खल्ली *Cramps*) नहीं होते। कतिपय रोगियों के शरीर पर शीतपित्त या रक्तवर्ण के धब्बे भी उभर आते हैं। मूत्राघात का अभाव होता है। खल्ली (ऐंठन, उद्वेष्टन) के बजाय हाथों, पांवों में सरसराहट सी मालूम होती है। शिरःशूल होता है नाड़ी की स्थिति प्रायः ठीक रहती है कष्ट बहुत समय तक बना रहने से जलाल्पता के कारण शीतांग भी हो सकता है, मल में विसूचिका वक्राणुओं का अभाव रहता है। क्वचित् संक्रामक रूप में भी फैलता है किन्तु रोग सुसाध्य है बच्चों में तथा अत्यन्त निर्बलों, गर्भिणियों में कष्टसाध्य होता है। क्वचित् ही असाध्य होता है।[1]

प्रतिषेधक उपाय

विसूचिका संक्रमण काल में रोग के संक्रमण को रोकने के लिये निम्न नियमों का पालन अपेक्षित है क्योंकि बचाव चिकित्सा से बेहतर है।

(१) यह रोग गन्दगी से फैलता है अतः शरीर, मकान, वस्त्रादि स्वच्छ रखें।

(२) उन दिनों कुओं में पोटासपरमेंगनेट (लाल दवा) डालें। प्रति कुआं २-४ औंस पर्याप्त है।

(३) दूध, जल आदि को खूब उबाल कर पीना चाहिए ताकि जीवाणु नष्ट हो जावें।

(४) पाचन को ठीक रखना चाहिए। अंट-संट खाते रहना (विषमाशन), भूख से अधिक खाना, गरिष्ट आहार (पूड़ी पकवान, तरबूज आदि) करना, बाजारू मिठाई जो नंगी रखी हो और उस पर हवा से धूल आदि पड़ रही हो या मक्खियां बैठी हों न खावें। सड़ा हुआ, बासी भोजन भी न करें। अजीर्ण में भोजन न करें इन सब बातों से पाचन शक्ति अव्यवस्थित हो जाती है शरीर में विजातीय द्रव्य बनने लगते हैं अतः जीवाणु विरोधी क्षमता नष्ट हो जाती है।

(५) इन दिनों जुलाब भूलकर भी न लें।

(६) हैजे के जीवाणु तेजाब में जीवित नहीं रहते।

---

१. यह रोग प्रायः थोड़ी या अधिक कंपकंपी लग कर प्रारम्भ होता है किन्तु विसूचिका में यदि कंप लगने लग जाये तो रोगी प्रायः स्वस्थ होजाता है ऐसा बार-बार के अनुभवों से प्रमाणित हुआ है। जाठरान्त्र शोथ एवं विसूचिका की चिकित्सा में कोई विशेष अन्तर नहीं। जो औषधि विसूचिका में लाभप्रद है वही जाठरान्त्र शोथ में भी काम करेगी। कभी-कभी भोजन में स्टेफिलोकाइ (गुच्छ गोलाणु) नामक जीवाणु तथा उस से उत्पन्न विषाक्तता से भी जाठरांत्र शोथ होता है।



अतः संक्रमण काल में भूखे पेट बाहर न निकलें। खाली पेट रहने से तेजाब (*Gastric Juice*) पैदा नहीं होता अतः जीवाणु प्रभाव डाल सकते हैं।

(७) रोग प्रसार के समय चाय, काफी, नीबू, हरी मिर्च, इमली, पीदीने की चटनी, सिरका, प्याज, लहसुन, हींग मट्ठा, दही इन पदार्थों का आहार में दैनिक प्रयोग अच्छा है क्योंकि ये जीवाणुघ्न हैं।

(८) रोज प्रातः सायं अमृतधारा या अर्ककपूर ५ बूंद बताशे में डालकर सेवन करने से बचाव रहता है।

(९) रोगी के पास अधिक आदमियों को नहीं जाने दें। परिचारकों को गृहस्थी के कार्य से पृथक् रखें। बच्चों को रोगी के पास बिलकुल न जाने दें क्योंकि उनकी रोगावरोध क्षमता (*Vital Force*) बहुत कमजोर होती है।

(१०) रोग का भय दिल में न आने दें (यद्यपि यथा संभव बचाव उत्तम है।) क्योंकि ऐसे रोगों में संक्रमण द्वारा इतने व्यक्ति नहीं मरते जितने भय से मरते हैं। भय से आमाशय का स्राव निकलना भी बन्द या कम हो जाता है। अतः इससे भी संक्रमण की संभावना रहती है।

(११) संक्रमण काल में खुले पैर न फिरें बल्कि पूरा मोजा पहने। कारण इसके जीवाणु अधिकतम १ फुट की ऊंचाई तक ही उड़ सकते हैं।●

(१२) संक्रमण प्रतिसेधार्थ कालरा वैक्सीन (*Cholera vaccine*) का टीका लगवाना उत्तम है। इसका प्रभाव ६ मास तक रहता है। प्रथम $\frac{1}{2}$ मिलीलिटर का इन्जैक्शन मांस पेशी में दें। एक सप्ताह बाद १ मिलीलिटर का एक इन्जैक्शन और लगा दें। गर्भवती को यह टीका न लगावें गर्भपात की संभावना हो जाती है।

(१३) रोगी के कै दस्त अत्यन्त सावधानी से दबा देना चाहिए और ऊपर से डी. डी. टी. या चूना छिड़क देना चाहिए।

(१४) रोगी को छूने के बाद हाथ पांव आदि को निम्बक्वाथ, डिटोल लोशन, कार्बोलिक सोप या पोटासियम परमेंगनेट के घोल से धोना चाहिए।

(१५) गड्ढों व नालियों की सफाई करके उनमें फिनाइल डाल देना चाहिए।

परिचर्या—परिचारकों को भी उपरोक्त नियमों का यथा संभव पालन करना चाहिए एवं रोगी को स्वच्छ, हवादार कमरे में लिटाना चाहिए। अत्यन्त गर्म, सीलनदार अथवा अधिक भीड़-भाड़ युक्त वातावरण रोगी के लिये ठीक नहीं रहता। रोगी के कमरे को प्रतिदिन स्वच्छ करके फिनाइल का पानी छिड़क देना चाहिए यदि फर्श पक्का हो तो फिनाइल के पानी से धो देना चाहिए। कमरे की वायु शुद्धि के लिये गंधक, लोबान, गुग्गुल, नीम, हींग, कपूर, कपूरकचरी जैसी सुगन्धित तथा जीवाणु नाशक वस्तुओं की धूनी देनी चाहिए। रोगी के वस्त्र दिन में २ बार गर्म पानी में उबाल कर, धोकर बदलते रहना चाहिए।

चिकित्सा-सिद्धान्त

रोगी की चिकित्सा निम्न सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए।

१. लंघन—रोगकाल में आहार सर्वथा निषेध है।

२. शोधन—विसूचिका स्वयं एक प्राकृतिक शोधन-क्रिया है, वमन-अतीसार द्वारा प्रवृद्ध दोष, रोगाणु, रोगाणुविष (Toxin) आदि निकलते हैं अतः प्रारम्भिक अवस्था में जब तक अतीसार व वमन में दुर्गन्धित पदार्थ, पित्त, मल, अन्नांश निकलें अवरोधक औषधि देना भयंकर भूल है अन्यथा मल पदार्थ के अन्दर रुके रहने से अलसक या विलम्बिका जैसी खतरनाक स्थिति हो सकती है, इस दशा में तो १ गिलास मन्दोष्ण जल में २० ग्राम लवण मिला कर पिलायें ताकि वमन खुलकर हो जाये यदि वमन न हो तो कण्ठ में अंगुली या किसी पक्षी का पंख आदि डालकर वमन करायें। साथ ही लवण मिश्रित

● डा० हेरि लिखते हैं कि हैजा फैलते समय जूतों या मोजों में गंधक का थोड़ा सा पाउडर डालकर पहनना तथा गंधक को जलाकर धुआं घर में देना उत्तम है। इससे रोग प्रतिषेध होता है। फ्रान्स के अनेक डाक्टरों ने परीक्षण किया है कि तांबे की खान में काम करने वाले मजदूरों को कालरा नहीं होता। कलकत्ता के डा० घोष के मत से तांबे के पैसे में छेद करके धागे में डालकर बच्चे की कमर या गले में बांध देने से कालरा से बचाव होता है।

सुखोष्ण जल की बस्ति भी दे दें तो अधिक उत्तम है।[1] यदि इतना न भी कर सकें तो भी स्तम्भक (अवरोधक) दवा तो न ही दें जब तक कि मल पदार्थ, अन्नादि निकल कर स्वतः ही पतले व मण्डवत् दस्त या कै न होने लगें।

३. पाचन-दीपन—प्रत्येक अवस्था में यथोचित उपक्रमों के साथ-साथ पाचन-दीपन चिकित्सा भी करनी चाहिए ताकि जाठराग्नि दीप्त होकर विषोत्पत्ति बन्द हो जावे। रोगाणु-नाशक द्रव्यों का समावेश भी आवश्यक है।

४. शमन—जब स्वतः अथवा वमन-बस्ति उपक्रमों द्वारा मल पदार्थ निकल कर पतले दस्त-वमन प्रारम्भ हो जावें तब फौरन शामक (Sedative of Tranquillizers) औषधियों द्वारा आंत्र आमाशय के प्रक्षोभ (Irritation & Spasm) को रोकना चाहिए अन्यथा जीवनोपयोगी तत्वों का अधिकाधिक ह्रास होकर (वमन, अतीसार द्वारा) सांघातिक अवस्था बन जाती है। एतदर्थ आयुर्वेद में जातीफल, भांग, खुरासानी अजवायन के योग तथा एलोपैथी में सिक्विल, लार्जेक्टिल, एट्रोपीन का प्रयोग (प्रायः इन्जेक्शन रूप में) करते हैं। इनसे रोगी को नींद आ जाती है तथा प्रक्षोभ शान्त होता है।

५. स्तम्भन—शामक उपायों से भी कै-दस्त न रुकें तब तीव्र स्तम्भक (अहिफेन युक्त) औषधियों का प्रयोग करें अथवा रोगी की स्थिति को समझते हुए मार्फीन विद् एट्रोपीन का एक इन्जैक्शन ही यथोचित् मात्रा में लगा देने से किसी भी चिकित्सा से न रुकने वाले कै-दस्त सद्यः बन्द हो जाते हैं अथवा अहिफेनयुक्त कर्पूर रस, अहिफेनासव, कैम्फरोहीन, क्लोरोडीन, टिंक्चर ओपियम, डोवर्स पाउडर आदि में से कोई दें।

६. सन्तर्पण—आवश्यक घटकों की शरीर में पूर्ति हेतु शिरा, त्वचादि मार्गों से लवणोदक एवं द्राक्षा शर्करा (*Glucose*) या नारियल का जल (केवल शिरागत अथवा मुखमार्ग से) आवश्यक मात्रा में पहुंचाना चाहिए। पीपल की छाल का बुझाया हुआ जल, जौ का उबला पानी (*Barley Water*), केओलीन युक्त उबाल कर ठण्डा किया हुआ[2] जल आदि प्रचुर मात्रा में (यथेच्छ) पिलायें पानी ऐसे पीना चाहिए जैसे कि घूंट-घूंट करके चाय पीते हैं तभी वह पच सकेगा अन्यथा कै द्वारा निकल जाने की सम्भावना रहती है।

साथ ही कभी-कभी बर्फ चुसाना (यदि ऋतु अनुकूल हो) अथवा नीम्बू चुसाना भी लाभदायक है इससे वमन तथा तृषा की भीषणता में कमी आती है।

विसूचिका रोगी को पानी पिलाने की सर्वथा मनाही कर देना हानिप्रद, अवैज्ञानिक तथा मूर्खतापूर्ण बात है।

७. उपद्रव नाशन—विसूचिका में जो लक्षण प्रबलता धारण कर लेते हैं वही उपद्रव कहलाते हैं एवं चिकित्सा में जटिलता उत्पन्न करते हैं अतः उन से यथासंभव शीघ्र ही निबटना चाहिए।

स्वानुभव—जब रोग विष से आमाशय में Spasm बढ़ जाते हैं तो जल्दी-जल्दी वमन होने लगती है। इस दशा में कोई भी औषधि बल्कि पानी तक पेट में रुक नहीं पाता। पदार्थ खाने या पीने के फौरन बाद कै से बाहर निकल जाते हैं। अतः ऐसी अवस्था में आमाशय के प्रक्षोभ को शान्त करने के लिये मैं प्रायः लार्जेक्टिल २५ या ५० मिलीग्राम का सूचीवेध मांसगत गहरा लगा देता हूं अथवा सिक्विल १० से २५ mg. मांसगत इन्जैक्ट कर देता हूं। इनके शामक (*Sedative*) प्रभाव के कारण प्रक्षोभ २०-३० मिनट के अन्दर ही शान्त होकर कै रुक जाती हैं यदि संयोग से कहीं सफलता न मिले तब आधे घन्टे बाद एट्रोपीन १/१०० ग्रेन का या बेलाफोलिन

---

१. अलसक-विलम्बिका की अवस्था में कभी-कभी तीक्ष्ण नामक एवं रेचक पदार्थों की आवश्यकता पड़ जाती है अन्यथा मल-मूत्रादि का पूर्ण अवरोध बना रहता है। तदर्थ उसारे रेवन्द १ माशा बारीक कर के गुलकन्द ४ तो० में मिलाकर अर्क गुलाब से दें।

२. यथेच्छ पानी उबाल कर ठण्डा करले एवं ढक कर रखें। जब-जब रोगी पानी की इच्छा करे १ कप इस पानी में १ छोटा चम्मच केओलीन घोल कर पिला दिया करें।



का इन्जैक्शन लगा देता हूं।[1] उक्त इन्जैक्शनों के साथ या थोड़े अन्तर से इनका प्रयोग करते ही कै रुक जाती है यदि पेट में दर्द हो तो वह शांत हो जाता है, हिक्का भी शान्त होती है। यदि बेलाफोलिन, एट्रोपीन इनमें से कोई इन्जैक्शन न हो तब "मार्तण्ड" या "प्रताप" का शूलहर इन्जैक्शन भी वैसा ही कार्य करते हैं। लार्जेक्टिल या सिविल के साथ या बाद को इनका प्रयोग हो जाने से कई विसूचिका रोगी जिनका रोग अभी विशेष बढ़ा हुआ नहीं होता प्रायः २०-३० मिनटके अन्दर सोजाते हैं और परिणामतः सभी लक्षण शान्त होकर चंगे हो जाते हैं। इन्जैक्शनों की मात्रा का निर्धारण रोग, रोगी की स्थिति तथा आयु के अनुसार न्यूनाधिक हो सकता है। अल्पसत्व वाले व्यक्ति अथवा हृद्क्षीणतायुक्त रोगियों में किसी प्रकार के दुष्प्रभाव की सम्भावना न रहे अतः उन्हें इनके साथ ही किसी अन्य मांसपेशी में कोरामीन २ सी० सी० का इन्जैक्शन भी दे देता हूं।

बढ़े हुए रोग वालों में भी इन इन्जैक्शनों से इतना लाभ तो अवश्य होता है कि कै रुक जाती है फलतः मुख-मार्ग से दी जाने वाली औषधियां उदर में रुकने लगती हैं फलतः उनका प्रभाव शरीर पर होने लगता है और रोगी ठीक हो जाता है। खल्ली शूल (Cramps) से प्रभावित अंगों की केवल खुश्क हाथों से मालिश करें या सरसों के तैल में जायफल तथा ताम्बे का टुकड़ा घिसकर मलें।

शीतांग व मूर्च्छा की दशा में मकरध्वज, बृ०कस्तूरी-भैरव रस का मुखमार्ग से प्रयोग एवं मुस्क विद कैम्फर अथवा प्रताप का गंधकर्पूर अथवा कोरामिन, कर्डीमा, डिजीटेलिस, एड्रेनलीन आदि इन्जैक्शनों आदि का युक्ति-युक्त प्रयोग लाभकारी है किन्तु शीतांग को रोकने के लिये रोगी की अगल बगल गर्म पानी की बोतलें रखना गलत तरीका है डा० रोगर्स ने भी इसका विरोध किया है क्यों कि इससे रोगी के शरीर का रक्त प्राणरक्षक अंगों से खिच कर त्वचा की ओर चला जाता है जो बहुत अनर्थकारी सिद्ध होता है। दूसरे ऐसे प्रयोग से गर्मी पाकर त्वचा के रन्ध्र और ज्यादा खुल जाते हैं फलतः जीवनरक्षक ऊष्मा भी पसीने द्वारा बाहर निकलने लगती है। ऐसी अवस्था में रोगी को शीतल वायुपूर्ण स्थान में लिटाना चाहिए ताकि हवा लगकर रोमरन्ध्र संकुचित हो पसीने का प्रबल वेग रुके। शीतांग को रोकने के लिये लवणोदक प्रवेश (Saline transfusion) युक्तियुक्त प्रयोग है। इसे प्रत्येक वैद्य हकीम को भी सीख लेना जरूरी है।

वैसे तो सैलायन के प्रयोग के बाद (यदि वह आवश्यक परिमाण में किया गया हो तथा वमन दस्त बंद हो गये हों) ५-६ घंटे के अन्दर मूत्र त्याग हो ही जाता है किन्तु यदि ऐसा न हो तब कैफीन सोड़ा बेंजोएट, प्रोस्टामिन, कार्बे-कोल, पिच्युट्री इन में से किसी सूचीवेध का मांसगत प्रयोग करें। वैद्य लोग ऐसी अवस्था में श्वेत पर्पटी (वज्र क्षार) ५-१० रत्ती की मात्रा में प्रति घंटे (३ मात्राएं तक) नारियल के पानी या ठंडे जल से देते हैं यह प्रयोग भी मूत्र लाने में उपयोगी है। इस के अलावा गुर्दों पर सेक करना भी हितकारी है। यह न भूलना चाहिए कि विसूचिका के उपद्रवों में सर्वाधिक खतरनाक उपद्रव मूत्रावरोध ही है। यदि किसी विसूचिका रोगी के दस्तों में रक्त आने लगे या फुफ्फुस शोथ हो तो कैलसियम ग्लूकोनेट १० से ३० ग्रेन प्रति ४ घंटे पश्चात् खिलायें या १०% सोल्यूशन का ५-१० c. c. की मात्रा में शिरागत इन्जैक्शन दें। आयुर्वेद में इस अभिप्राय के लिए मुक्ता पिष्टी, प्रवाल पिष्टी या इन के भस्म यथोचित मात्रा में उचित अनुपान से देते हैं।

विसूचिका नाशक विशेष चिकित्सा

ऊपर सामान्य चिकित्सा सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है और उपद्रव चिकित्सा की ओर संकेत किया गया है। अब मैं उन आयुर्वेदिक एवं एलोपेथिक अनुभूत प्रयोगों का वर्णन करता हूं जो रोग के मूल कारण का नाश करते हैं और उपद्रव का शमन भी। उपरोक्त चिकित्सा सिद्धान्तों को स्मरण रखते हुए एवं बलवान उपद्रवों का प्रतिकार करते हुए साथ में मूलोच्छेदनार्थ इन प्रयोगों में से

---

१. १० वर्ष से कम आयु के बच्चों में यथासम्भव ये इन्जैक्शन नहीं देना चाहिए यदि कै किसी प्रकार से रुकने में नहीं आवें तो बहुत सौम्य समझकर अत्यल्प मात्रा में देना चाहिए। लार्जेक्टिल का इन्जैक्शन जब मांसगत दिया जावे तो गहरा दिया जावे अन्यथा पाक हो सकता है।

किसी न किसी का भी प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

(क) आयुर्वेदिक प्रयोग—(१) संजीवनी वटी (शा० सं०) दीपन, पाचन, विषघ्न, जीवाणुघ्न गुणों से युक्त यह औषधि विसूचिका के लिये अमोघ है। २-२ वटी अदरक के साफ किये हुए रस में दूनी मिश्री या चीनी मिलाकर और (कांस्य पात्र में पकाकर) उस के अनुपान से प्रति ३-३ घंटे पर देना चाहिए। यह अनुपान स्व० वैद्य गोवर्द्धन शर्मा छांगाणी आयुर्वेदाचार्य ने लिखा है। स्व० वैद्य श्री जगन्नाथ प्रसाद जी शुक्ल ने उचित मात्रा भांग को मिलाकर उसके साथ देने को लाभकारी बताया है किन्तु रोग आरम्भ होते ही भांग का प्रयोग न करें। दूसरी अवस्था एवं उसके पश्चात् इस अनुपान को व्यवहार करें। श्री छांगाणी जी वाला अनुपान प्रत्येक अवस्था में सेव्य है। अथवा इनके अतिरिक्त पलाण्डु स्वरस, लवणोदक, अर्क पोदीना आदि किसी अन्य उचित सहपान से भी दे सकते हैं, दिन भर में १२ गोलियों से अधिक न देनी चाहिए। कै दस्त मूत्रावरोध को अति शीघ्र रोकती है।

(२) लशुनादि वटी (वैं० जी०) विसूचिका में लाभकारी है १-४ वटी चूसते रहें या प्रत्येक घंटे प्याज स्वरस में लें। यह पाचनदीपन तथा वातनाशक हैं।

(३) क्रमिकुठार रस (नि० र०) विसूचिका की प्रथम अवस्था में इसकी १-२ वटी की मात्रा हर घंटे पर नमक युक्त प्याज के स्वरस में देते हैं। यदि उदर क्रमि के कारण अतीसार हो तो वह भी ठीक हो जाते हैं।

(४) अर्कवटी—अर्कमूलत्वक, रक्त मरिच के बीज, अर्क लवंग, हरिद्रा, शुद्ध स्फटिका प्रत्येक समभाग लेकर बारीक पीसकर अदरक या पोदीना स्वरस में घोट कर चना प्रमाण वटी बनावें १-१ घंटे बाद १-१ गोली प्याज के रस या अर्क गुलाब में दें इन गोलियों से विसूचिका के कै दस्त बंद हो जाते हैं शीतांगता दूर होती है।

स्व० हकीमअजमल खां

(५) अपामार्ग मूल ५ ग्राम, कालीमिर्च ५ दाने, जल ५०० ग्राम में घोट छान कर घूंट घूंट पिलाते रहें। १५-२० मिनट के अंतर से ३-४ बार पिलाने से रोगी ठीक हो जाता है।

(६) लहसुन की तुरियां १० ग्राम, लोंगें १८ नग शुद्ध जल १२५ ग्राम में घोट कर ऐसी ३-४ मात्राएं देने से ठीक होगा।

(७) १ तोला लहसुन की तुरियों को नीबू के ४ तोला रस में बारीक पीस कर कपड़े से छान लें। इन छने रस में ६ माशे काला नमक और १ माशा लाल मिर्च का छिलका और १ माशा कपूर मिलाकर थोड़ी देर खरल कर के घोट कर बोतल में रखलें। रोग की तेजी और रोगी की आयु देखते हुए आधा आधा घंटे या १-१ घंटे बाद १-१ चम्मच पिलाते रहें शीघ्र लाभ होगा।

(कवि० हरदयाल वैद्य वाचस्पति दिल्ली)

(८) विसूचिकानाशक अद्भुत प्रयोग

जब कोई भी औषधि लाभ न कर रही हो और रोगी की जान खतरे में हो तब रोगी को एक बड़े कढ़ाहे या टब में बिठा कर गर्दन तक ठंडा पानी भर दो और दवा के रूप से नरमूत्र (शिवाम्बु) या हुक्के का पानी २-२ औंस की मात्रा में आधा-आधा घंटे बाद पिलाते रहो। जब तक कि रोगी को जाड़ा न लगने लगे यह क्रिया जारी रहे। जब जाड़ा लगने लगे तो रोगी को पानी में से निकाल कर शरीर पौंछ कर बिस्तर पर लिटा दें। अनेक मरणासन्न विसूचिका रोगी भी इस प्रयोग से ठीक हो गये हैं। यदि रोगी के निवास के आस पास कोई तलाब या नदी बहती हो तो टब के वजाय उस बहते पानी में रोगी को गले तक खड़ा कर दें। आधे या एक घंटे बाद अथवा जब ठंड लगने लगे रोगी को निकाल कर शरीर पौंछ कर बिस्तर पर लिटा दें। यदि प्रारम्भ में ही यह तरकीब की जाये तो रोगी की दशा बिगड़ने नहीं पाती और रोगी अति शीघ्र स्वस्थ होजाता है। विसूचिका रोग में विष के कारण रोगी की आन्तरिक गर्मी बढ़ जाती है अतः कै दस्त होकर रोगी के शरीर की जल धातु का क्रमशः क्षय होता है। रोग की द्वितीय अवस्था में स्वेद भी आने लगता है जो तृतीय अवस्था में तो और भी बढ़ जाता है अतः जल धातु का क्षय और भी तीव्रगति से होकर जीवन रक्षक ऊष्मा भी शरीर से बाहर निकलने लगती है फलतः रोगी का शरीर बाहर से शीतल होने लगता है। मणिबन्ध की नाड़ी लुप्त हो जाती है अतः प्रारम्भ से ही यदि उपरोक्त जल चिकित्सा की जावे तो रोगी की आन्तरिक गर्मी कम होने

लगती है। शीत स्पर्श के कारण रोमरन्ध्र संकुचित हो जाते हैं फलतः पसीना के द्वारा शरीर की जल धातु बाहर नहीं जाने पाती फलतः जलाल्पता (Dehydration) की सांघातिक अवस्था से साबिका ही नहीं पड़ता और रोगी ठीक हो जाता है। यदि जलाल्पता की सांघातिक अवस्था में रोगी पहुँच चुका हो तब भी यह प्रयोग उस अवस्था को आगे नहीं बढ़ने देता तथा कै दस्त रुक कर पिये गये जल का पाचन, शोषण होने लगता है और रोगी ठीक हो जाता है। हुक्के का पानी तथा नरमूत्र दोनों जन्तुघ्न तथा विषघ्न होने के कारण रोग के मूल का नाश करते हैं।

निषेध–जिस बिसूचिका रोगी को साथ में पार्श्व या वक्षशूल हो उसे यह प्रयोग हानिकारक है अतः उस पर यह प्रयोग न करें।

(C) **दहन चिकित्सा**—आयुर्वेद में वर्णित इस अनोखी चिकित्सा पद्धति को वैद्यों ने भुलादिया है। इस पर शोध कार्य होना आवश्यक है संभवतः हमें चिकित्सा पद्धति में बहुत अनमोल मोती प्राप्त हो जावें जिन का किसी अन्य पद्धति में सानी ही न हो। अस्तु आचार्य वाग्भट तथा सुश्रुत ने विसूचिका रोग में पार्ष्णि (एढ़ियां) दाह का करना प्रशस्त कहा है। इस विधि से भीषण स्थिति में भी लाभ होता है। भारत के प्रसिद्ध वैद्य श्री चरण तीर्थ जी महाराज गोंडल वासी ने लिखा है कि इस रोग में नाभि की आजु-बाजु कुंडली के आकार का दाग देना और सिर के बाल निकाल कर तालु व गर्दन में २-३ दाग देने से विसूचिका मिटता है। लोहे की छड़ी को अग्नि में तपा कर उस का सिरा लाल हो जाने पर उल्लिखित स्थानों पर दहन किया जाता है। दोनों टखनों के पीछे अन्दर की ओर १½ इंच व्यास के तप्त लोह खंड से ऐसा जलाते हैं कि वह स्थान काला वर्ण का हो जाए। दो तीन सैकिंड में ही वह स्थान काला पड़ जायगा। अभी तक इस चिकित्सा पर मेरा अनुभव नहीं है शोधकार्यरत वैद्यों से प्रार्थना है कि वे इस पर शोध करें।

एलोपैथिक चिकित्सा

(१) वक्राणुओं को नष्ट करने तथा उनके विष को प्रभावहीन करने के लिये सल्फाग्वानिडिन, सल्फाडायजीन, सल्फा थैलाजोल, सल्फा सक्सीडीन इनमें से किसी सल्फा ड्रग को देते हैं। सल्फा की ०.५ ग्राम वाली टेब्लेट की प्रथम मात्रा ५-६ टेब्लेट एक साथ जलादि अनुपान से देते हैं फिर जब तक रोग लक्षण शान्त न हों २-४ गोली प्रति २ घंटे बाद देते हैं, दीपनपाचन एवं क्षारत्व गुण के कारण प्रति मात्रा सल्फा के साथ १०-१५ ग्रेन सोडाबाई कार्ब मिला कर देना अच्छा होता है अथवा सोडा जिंजामिंट की २-४ गोली मिला लिया करें।

(२) टेरामायसिन २५० मि० ग्रा० या क्लोरोस्ट्रेप २५० मि० ग्रा० इन में से कोई एक कैप्सूल के प्रति चार घंटे पर २-२ कैप्सूल देते हैं जब तक रोगी शांत न होजाये।

(३) स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट ½ से १ ग्राम की मात्रा में जल में या अनार, नीबू संतरा आदि फलों के रस में घोल कर हर ५ घंटे बाद दें।

(४) स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट २ ग्राम, केओलीन १५ ग्राम दोनों को मिलाकर रखें। २ चाय की चम्मच भर यह दवा एक औंस पानी में घोल कर दिन में ३-४ बार पिलायें।[१]

अन्य लाक्षाणिक (उपद्रवानुसार) चिकित्सा ऊपर वर्णित विद्वानों एवं औषधियों द्वारा साथ साथ करते जाते हैं।

किन्तु यहां यह बात कहनी अनुचित न होगी कि इस चिकित्सा पद्धति की विसूचिका में महान उपलब्धि केवल मात्र लवणोदक प्रक्षेपण (Saline Transfusion) ही है इस रोग में वमन-अतीसार के कारण रक्त में से जल लवणादि तत्वों की न्यूनता हो जाती हैं जिस से रक्तसंचरण मन्द होने लगता है अतः रोगी खतरे में पड़ जाता है किन्तु लवणोदक प्रक्षेपण करने से रक्त में उन तत्वों की फौरन पूर्ति होने लगती है अतः रोगी खतरे से निकलने लगता है। शीतांग अवस्था में तो इस चिकित्सा का आश्रय लेना कभी कभी अपरिहार्य हो जाता है। शीतांग की जिस अवस्था को आयुर्वेद के ग्रन्थकारों ने असाध्य कह दिया है उस दशा में भी यह चमत्कार दिखाती है। इस अवस्था में रोग, रोगी की अवस्था को दृष्टिगत रखते हुए नार्मल सेलाइन या

—शेषांश पृष्ठ ४५६ पर।

१ यह प्रयोग आन्त्र की राजयक्ष्मा (Intestinal T. B.) में भी अत्यन्त हितकारी है किन्तु उस में प्रातः सायं नित्य २ मात्राएं लेनी चाहिए।

विसूचिका चिकित्सा और कुछ प्रयोग

लेखक—पं० नन्दकिशोर शर्मा वैद्यरत्न, संचालक युगनिर्माण योजना,
आगर (मालवा) म० प्र०

★★

हैजे की चिकित्सा में ध्यान देने योग्य बातें

१. हैजे की औषधियां तैयार रखो।

२. रोग आरम्भ होने पर दस्त रोकने वाली तेज दवा न दो ऐसा करने से अगर दस्त आना बन्द भी हो जायेंगे तो फिर जोर से आने लगेंगे अथवा दस्त बन्द हो जायेंगे तो कै बढ़ जायेंगी। पेट में अफरा हो जायेगा। अगर दस्त बन्द करने की दवा दो तो थोड़ी मात्रा में दो।

३. पाचक और काबिज दवा दो।

४. रोग प्रधान औषधि बराबर देते रहो। गर्म और औटा हुआ पानी दो। उसके कपड़े फौरन बदलते रहो। घर में गंधक या कपूर का धुआं करवा दो। हाथों से कपूर सूंघो तथा सभी को सूंघने की राय दो।

५. रोगी को सर्दी न लगने दो। उसके शरीर को गर्म रखने का ध्यान रखो। बोतलों में गर्म पानी करके पैरों के नीचे रखवा दो। पानी कम दो। पेशाब खोलने का उपाय करो।

चिकित्सा—

१. हुक्के का सड़ा हुआ पानी १-१ तोले घंटे-घंटे भर के अन्तर से पिलावें। कैसा भी हैजा हो शीघ्र लाभ होता है।

२. शुद्ध काले तिल का तैल बार-बार प्यास लगने पर थोड़ा थोड़ा पिलाया जाय और पानी बिल्कुल बन्द कर दिया जाय तो शीघ्र लाभ होगा और मरेगा नहीं।

३. अवस्था अधिक बिगड़ गई हो, रोगी की आंखें फट गई हों और मुख श्वेत हो गया हो तो भी अंग्रेजी पपीता नग १ लेकर गुलाब के अर्क में घिस-घिसकर कई बार देने से लाभ होता है।

४. निम्न प्रयोग हैजा के लिये अति उत्तम और सत्वर गुणकारी है—

हींग भुनी हुई १॥ तोला, लालमिर्च के छिलके और आम की गुठली की गिरी १-१ तोला, जावित्री, जायफल, अफीम और शुद्ध शिगरफ ६-६ माशे, पिपरमेंट ३ माशे, सबको ६ घंटे नीबू के रस में और ६ घंटे लहसन के रस में घोटकर आधी रत्ती की गोलियां बना लें।

मात्रा—१ से २ गोली तक १-१ घंटे के अन्तर से पानी के साथ दें। अवस्था काबू में आने पर गोली देने का समय बढ़ा दें। इससे प्रत्येक अवस्था में लाभ हो जाता है। इसी प्रयोग से पेशाब भी खुलकर आने लगता है फिर भी पेशाब आने में विलम्ब हो तो काली मूसली की जड़ का काढ़ा २॥ तोला की मात्रा में पिलाने से लाभ होता है।



प्रस्तुत लेख में एक जनरल आयुर्वेदिक प्रैक्टीशनर की दृष्टि से हैजे की चिकित्सा-सम्बन्धी निदेश तथा प्रयोग दिये हैं। हैजे में विविध उपद्रवों और लक्षणों के उपचार पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

—गोपालशरण गर्ग।



पथ्य में दूध साबूदाना या खिचड़ी दोष निवृत्त होने पर ही देने चाहिये। रोगी को पानी कम पिलाना चाहिये।

५. हैजा, कै, पतले श्वेत दस्त, भीषण पेट दर्द, घबराहट आदि में निम्न प्रयोग अमृत तुल्य हैं—

कपूर भीमसेनी ६ माशे, सत पिपरमेंट, सत अजवाइन, दालचीनी का तैल, सौंफ का तैल, नीलगिरी का तैल १॥-१॥ माशे और सत लोहबान १ माशा, सबको एक शीशी में कड़ी डाट लगाकर अच्छी तरह हिलावें अथवा धूप में रख दें, पानीवत् हो जायगा।

मात्रा—प्रत्येक दस्त या उल्टी के बाद ५-५ बूंद यह दवा बताशे में भर कर दें और ऊपर से १ तोला सौंफ का अर्क पिलावें। प्यास लगने पर सौंफ का अर्क ही थोड़ा-थोड़ा दें पानी नहीं देना चाहिये।

६. हैजा अथवा अजीर्ण दोनों को निम्न योग अत्यन्त प्रभावकारी है। देखने में सुगम परन्तु गुणों में महत्वपूर्ण है—

छोटी पीपल १ छटांक, सेंधा नमक १ तोला, सांभर नमक ६ माशे, और काला नमक ३ माशे, लेकर ८ दिन तक नीबू के रस में डाल दें। रस इतना हो कि सभी द्रव्य उसमें डूबे रहें। ८ दिन बाद खरल कर सुखा लें और उसमें १ माशा पिपरमेंट फूल डालकर चना प्रमाण गोलियां बना लें। आवश्यकता पर १ से ४ गोली तक जल योग से लेनी चाहिये। पेट दर्द, अफरा आदि पर भी तत्काल काम करती है।

विविध

प्रयोग नं० १

रैक्टीफाइड स्प्रिट नं० ६०' २४ औंस, कैम्फर ५ औंस, आयल आफ मैन्थल पिपरेटा २ औंस।

विधि—कैम्फर के टुकड़े करो और उन्हें स्प्रिट में डाल दो। गल जाने पर आयल आफ मैन्थ मिला दो। दस्त कै शुरू होते ही १० बूंद बताशे में १-१ घंटे भर बाद देना शुरू कर दो।

प्रयोग नं० २

४-५ तोला कपूर केले की जड़ में खरल करके सुखा लें। पीछे अजवायन के अर्क में खरल करके सुखा लें इस प्रकार बनाया हुआ कपूर ६ माशे सत अजवायन ६ माशे और ६ माशे पिपरमेंट शीशी में बन्द करके कार्क लगाकर रख दो। ४-५ बूंद पानी या बताशे में दो।

प्रयोग नं० ३

सरसों का तैल आग पर गर्म करके गर्मा-गर्म पेट, शरीर, हाथ, पैरों में लगवाओ। इससे शरीर का दर्द, पेट का दर्द तथा अफरा और हाथ पैरों के बाइटे नष्ट हो जाते हैं। अथवा चूहे की मेंगनी सौंफ के पानी में पीसकर गरम करके पेट पर लेप करो।

हैजा नाशक वटी—

लहसुन, सफेद जीरा, सेंधानमक, शुद्ध गंधक, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल और भुनी हींग इन सबको कूट छानकर नींबू के रस में खरल करो और चने प्रमाण गोली बनाओ।

मात्रा—४-५ गोली युवक को और कम उम्र वाले को उसी प्रकार कम, रोग अनुसार समय-समय पर दो।

प्यास कम करने के लिये

पानी में लौंग डालकर औटाओ। आधा जल जाने पर थोड़ा नमक डाल दो।

वमन नाश करने के लिये

बड़ी इलायची, धान की खील, लौंग, नाग केशर, पीपल, मेंहदी, बेर की गुठली की गिरी, नागरमोंथा और सफेद चन्दन इनको कूट पीसकर छान लो उसमें मिश्री और मिला दो। इसे शहद के साथ चटाने को दो।

अंगों की शीतलता तथा बाइटे आने पर

सोंठ को गरम करके मलवाओ। अथवा सोंठ और कायफल की मालिश करवाओ। या विषगर्भ तैल में तारपीन का तैल और कपूर मिलाकर मालिश कराओ। इसे कलाइयों पर मलना चाहिये।

यदि दस्त बन्द हो जावें और मूत्र न हो तो—

१. कलमी शोरा २ तोला, पीसकर पानी में मिलाकर कपड़े की साफ पट्टी भिगोकर पेड़ू पर रखो। जब तक पेशाब न हो बराबर रखते रहो।

२. चूहे की मेंगनी, थोड़ा सा कलमी शोरा पानी में पीसकर पेड़ू पर लेप करो।

हिचकी नाश करने के लिये—

सेंधानमक पानी या घी में पीसकर सुंघाओ।

पसीना नष्ट करने के लिये—

कुलथी भुनवाकर पीस लो और मालिश करवाओ।

हैजे की सम्पूर्ण अवस्थाओं पर

कर्पूरासव

विधि—उत्तम मद्य (रेक्टीफाइड स्प्रिट अथवा मृत-सञ्जीवनी सुरा) पांच सेर लेकर, शुद्ध चीनी के पात्र में भरकर उसमें शुद्ध कपूर (अथवा भीमसेनी कपूर) ३२ तोले, इलायची छोटी, नागरमोंथा, सोंठ, अजवायन और कालीमिर्च प्रत्येक का चूर्ण ४-४ तोले मिलाकर उत्तम प्रकार से मुख बन्धन कर एक मास तक सुरक्षित रूप से रखें। पश्चात् छानकर शीशियों में भर कर रख दें।

मात्रा—५ से २० बूंद तक बताशा मिश्री अथवा सौंफ के अर्क के साथ खिलाओ।

गुण--हैजा या अतीसार को तो शीघ्र ही नष्ट करता है तथा अनेक प्रकार के उदर रोगों को भी भगाता है। कुचिला विष का शीघ्र प्रतिकारक है, यदि किसी को कुचले के विष की बाधा हो तो इसकी २ या ३ मात्रा से ही विष बाधा दूर होती है। मूत्रावरोध पर इस आसव को पेड़ू पर मलकर सेकने से मूत्र खुलकर आता है अगर न आवे तो शिश्न के मुख के अन्दर इस आसव से भिगोई हुई बत्ती को अन्दर प्रविष्ट करें। शीघ्र ही मूत्र खुलकर आवेगा। अमृतधारा के समान भिन्न-भिन्न अनुपात के साथ विविध विकारों में इसका सेवन किया जा सकता है।

●

पृष्ठ ४५६ का शेषांश

ग्लुकोज सेलाइन १ से५ पिंट तक शिरा मार्ग से चढ़ा देना ही अनिष्टापत्ति को तत्काल टालने वाली चिकित्सा है किन्तु किसी२ रोगी में लवणोदक प्रक्षेपण शिरा द्वारा करते समय कुछ प्रतिक्रियात्मक दुर्लक्षण पैदा हो जाते हैं अतः सम्प्रति इस प्रतिक्रिया के प्रतिषेधार्थ सेलाइन या ग्लुकोज सेलाइन की बोतल में कोरामीन (सीबा) २ शीशी डेकाड्रोन (M. S. D.) एक एम्पुल तथा विटामिन सी ५०० मिली ग्राम का एम्पुल मिला कर शनैः शनैः बिन्दूत्क्षेपण विधि (Dripmethod) से देते हैं।

यदि शिरा उपलब्ध न हो अथवा छोटे बच्चों में त्वचागत लवणोदक प्रवेष करते हैं। यदि त्वचा में देने से पूर्व उस स्थान पर Hyolase (हायालेज) १ मिलीग्राम का इंजेक्शन (त्वचागत) लगा दें तो लवणोदक का शोषण त्वचा मार्ग से भी शीघ्र होने लगता है। एतदर्थ उदर प्रदेश बगल, कटिविभाग, उरु प्रदेश तथा स्त्रियों में स्तनाधः प्रदेश की त्वचा द्वारा देते हैं किन्तु इस मार्ग से १ पिंट तक लवणोदक दे सकते हैं। सामान्य स्थिति में गुदा मार्ग से भी लवणोदक (बिन्दुशः) दिया जा सकता है किन्तु अधिक सांघातिक स्थिति में इस पर भरोसा नहीं किया जा सकता।

लवणोदक प्रवेश की इन विधियों का सैद्धान्तिक ज्ञान तत्सम्बन्धी पुस्तकों एवं क्रियात्मक ज्ञान इस क्रिया के ज्ञाताओं से प्राप्त करना चाहिए।

पथ्यापथ्य

(१) **पथ्य**—इस रोग में बड़ी सतर्कता से पथ्य पालन करना चाहिए। रोगावस्था में लंघन करना चाहिए। जब रोगी के समस्त उपद्रव दूर हो जायें मल-मूत्र का विसर्जन उचित रूपेण होने लगे और भूख लगे तब अवस्था-नुसार चाय, मूंग की दाल का पानी, दूध फाड़ कर उस का पानी (Whey water),छाछ, तक्र, फलरस, अल्ब्यूमिन वाटर, चावल का पतला माण्ड, अरारोट, साबूदाना, आदि पहले तरल पुनः अर्धतरल आहार देना चाहिए। शक्ति के लिये द्राक्षासव या ब्रांडी भी दे सकते हैं उपरोक्त पथ्य पचने पर शनैः शनैः चावल, दलिया आदि देना चाहिए।

(२) **अपथ्य**—मांस, मछली, अंडा, सड़े फल, सूखी मेवा, आलू, रोटी, मिठाई, माल्टा की शराब, उड़द, चने की दाल, दूध, मावा, घी, तेल, आदि भारी चीजें पूर्ण स्वास्थ्य लाभ होने तक अपथ्य हैं। धूप में चलने फिरने व्यायाम, मैथुन आदि से भी बचना आवश्यक है।

●●

कुकुर कास —या— हूपिंग कफ

ले०—आयुर्वेद मार्त्तण्ड डा० इन्द्रमोहन झा 'सच्चन' सम्पादक, साप्ताहिक-मधुबनीसमाचार,
प्राचार्य स० आयुर्वेद चिकित्सा महाविद्यालय, रांटी मधुबनी, मिथिला (बिहार)

●

पर्याय—कुकुर खांसी, काली खांसी, अरबी में शहका, शहीका, सोआलदीकी, फारसी में सुर्फास्याह, अंग्रेजी में हूपिंग कफ (*Whooping Caugh*), पर्ट्यूसिस (*Pertussis*), मराठी में डांग्याखोकल तथा आयुर्वेद में वातज कास कहते हैं।

परिचय—यह दुधमुंहे तथा वयस्क शिशु की एक आक्षेपिक (*Convulsion*), संक्रामक (*Infections*), और स्पर्शाक्रामक (*Contagiaus*) तीक्ष्ण व्याधि है, जिसमें खांसी का दौरा जोरों का उठता है और बच्चा खांसते-खांसते बेदम होने लगता है। आंखें व चेहरा लाल हो जाते हैं। नसें उभर आती हैं तथा वमन तक भी हो जाता है।

आक्षेपों के अन्त में जब रोगी श्वास ग्रहण करता है तब उसके मुंह से कुकुरध्वनियुक्त शब्द 'हूप' की आवाज निकलती है। इसलिये डाक्टरों ने इसका नाम '*Whooping Caugh*' (हूपिंग कफ) रख लिया है।

यूनानी मतानुसार इसका वेग दिन की अपेक्षा रात्रि में अधिक होता है। इसमें कफ तो नाममात्र भी नहीं निकलता। यदि निकल जाता है तो रोगी आराम का अनुभव करता हैं।

सामान्यतः यह खांसी २ वर्षों से लेकर १६ साल तक की अवस्था वाले को अधिक होती है। इसका प्रसार बसन्त या गर्मी के प्रारम्भ में अधिक होता है। एक बार रोग का आक्रमण हो जाने पर फिर जीवन पर्यन्त नहीं होता है। इसका संचयकाल ७ से १४ दिनों का है।

कभी-कभी यह खांसी इतना उग्ररूप धारण कर लेती है कि बच्चों में कतिपय प्राणघातक उपद्रव पैदा हो जाते हैं, जिनसे प्रायः मृत्यु का खतरा पैदा हो जाता है। वे उपद्रव निम्नलिखित हैं—

(१) त्वचा, नेत्र, फुफ्फुस, नाक, कान तथा मस्तिष्क में से रक्तस्राव का होना।
(२) वमन वृद्धि (*Prolonged Vomiting*)
(३) श्वसनक ज्वर, फुफ्फुसावरण शोथ
(४) अस्थिमृदुता (*Rickets*)
(४) तीव्र प्रवाहिका (*Acute dysentry*)
(६) फुफ्फुस-निपात (*Collapes of Lungs*)
(७) कर्णशूल, कर्णशोथ, गुदभ्रंश इत्यादि।

रोगोत्पत्ति के कारण—

आधुनिक चिकित्सकों के मतानुसार इसका प्रधान कारण 'हीमोफाइलस पर्ट्यूसिस' (*Haemophilus pertu-*

डा० सच्चन आयुर्वेद के विद्वान् तो हैं ही उनके लेखों में अपनी कुछ विशेषताएं रहती हैं। उन्होंने कुकुर कास को वातिक कास ही मान लिया है। ज्ञान-विज्ञानात्मक विचारों से युक्त और एक व्यावहारिक चिकित्सात्मक लेख झा जी ने प्रस्तुत किया है। लेख में अपनी मौलिकता की उन्होंने छाप लगादी है।

---गोपालशरण गर्ग।

---

ssis) जिसे 'बौर्डेट गेंगु बैसिलस' (*Bordet gengoy bacillus* भी कहते हैं), नामक जीवाणु है। इस जीवाणु का अन्वेषण (*Research*) बोर्डे और गंगू ने सन् १६०६ में सर्वप्रथम किया था।

यह जीवाणु ऊर्ध्वश्वसन मार्गों से प्रवेश करता है और स्वरयन्त्र, श्वासनाल और श्वासनलिकाओं में बैठ जाता है। फुफ्फुस के वायुकोशों में भी चला जाता है पर रक्त के अन्दर या कोष्ठाओं में प्रवेश नहीं करता। फुफ्फुस के वायुकोषों में प्रवेश के बाद यह जीवाणु एक प्रकार का तीव्र विषैला (*Acute Toxin*) पदार्थ बनाता है जिससे श्वासकला में जो वातनाडीय (तन्त्रीय) ग्राहक या रिसैप्टर्स होते हैं वे इस विषैले पदार्थ से बुरी तरह प्रक्षुब्ध हो उठते हैं, जिससे तीव्र खांसी का दौरा चालू हो जाता है। यही विषैला पदार्थ जब रक्त में प्रविष्ट हो जाता है तब वह वाहिनियों के वातनाड़ी संस्थान में प्रक्षोभ करके वाहिनियों में आक्षेप या आकुंचन पैदा करता है। इससे रक्तदाब (*Blood Presure*) का बढ़ जाना, श्वासनिकाओं में संकोच का होना तथा स्वर रज्जुओं में भी आकुंचन होना उठ खड़ा हो जाता है।

इस जीवाणु का आक्रमण गोदुग्ध के द्वारा, बच्चों के नाखून के द्वारा, माता के स्तन के द्वारा व्यापक रूप से होता है तथा इस रोग के जीवाणु रोगी के कफ, थूक और रोगी द्वारा व्यवहृत रूमाल या वस्त्रादि में सदा रहते हैं।

रोग का संक्रमण विन्दूत्क्षेपण विधि (*Droplet infection*) द्वारा होता है। रोगी के साथ उठने-बैठने से रोगी द्वारा कफ, थूक या श्वास से निकला हुआ जीवाणु उसके साथ रहने वाले व्यक्ति के श्वास द्वारा अन्दर प्रविष्ट होकर काली खांसी पैदा कर देता है। कभी-कभी बिल्ली, कुत्ते तथा दूषित पदार्थ भी इन कीटाणुओं के वाहक हो जाते हैं। अहित आहार व्यवहार, गन्दीवायु, गन्दे स्थानों में निवास तथा कम जगहों, अत्यधिक घनी आबादी आदि इसके सहायक कारणों में से हैं।

काली खांसी के जीवाणु अचलनशील, सूक्ष्म, अंडाभ, ग्रामनास्तिक और वातप (*Aerhoe*) होते हैं तथा धूप, प्रकाश, उच्चतापक्रम आदि से शीघ्र ही प्रभावित हो जाते हैं। सूखने और जीवाणुनाशक द्रव्यों से भी ये शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

परञ्च वैद्यक-शास्त्र मतानुसार रूखे, शीतल और कषैले पदार्थों के अधिक सेवन करने से, अतिस्वल्प भोजन, अतिमैथुन, छींक आदि वेगों को धारण करने से वात प्रकुपित होकर शुष्क कास को उत्पन्न करता है कहा भी है—

'रूक्षशीतकषायाल्पप्रमितानशनं स्त्रियः।
वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः ॥'

हारीत संहिता में स्पष्ट लिखा है कि कण्ठ में रहने वाली उदानवायु के विकृत होने पर तथा फुफ्फुस में स्थित प्राणवायु का कफ के साथ संयोग होने पर छाती में जमा हुआ कफ खांसने से कण्ठ में आता है और तब इससे खांसी होने लगती है।

अतः जब तक कफधातु प्रकुपित नहीं होता तब तक कास नहीं हो सकता। यथा किसी आचार्य का कथन है कि—

'न वातेन बिनाश्वासः कासोन श्लेष्यतां बिना।
न रक्तेन बिना पित्तं न पित्त रहितः क्षयः ॥'

लक्षण —

महर्षि सुश्रुताचार्य ने वातज कास (काली खांसी) के लक्षण लिखते हुए कहा है—

'हृच्छङ्ख मूर्धोपरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबल स्वरौजाः
प्रसक्तमन्तः कफमीरणेन कासेन्तु शुष्कं स्वरभेद युक्तः ॥
—सु० उ० अ० ५२-८

अर्थात् वातज कास से रोगी के हृदय, शंख प्रदेश, मस्तिष्क, उदर और पार्श्व अर्थात् पसलियों में पीड़ा होती है। रोगी का चेहरा सूखा और कान्तिहीन हो जाता है। शारीरिक बल और ओज क्षीण हो जाते हैं। निरन्तर खांसी के आवेग आते रहते हैं। श्लेष्मा कठिनाई के साथ निकलती है और आवाज बैठ जाती है।

महर्षि चरक के अनुसार इस रोग के लक्षण निम्न प्रकार से हैं—

हृत्पार्श्वोरः शिरःशूल स्वरभेद करोभृशम्।
शुष्कोरः कण्ठ वक्त्रास्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः ॥
निर्घोषदैन्य क्षामस्य दौर्बल्य क्षोभ मोहकृत्।
शुष्ककासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाल्पतांव्रजेत् ॥
—च० चि० अ० १८-११-१२-१३



अर्थात् हृदय, पार्श्व, वक्षप्रदेश और शिर में दर्द हो स्वरभेद हो जाता है। रोगी का वक्षस्थल, कण्ठ एवं मुख सूखा रहता है। रोंगटे खड़े हो जाते है। रोगी अपने को अंधकार में प्रविष्ट हुआ सा जानता है। इस तरह रोगी दुर्बल, हीन, क्षुभित एवं मोहित हो जाता है। खांसी के आवेग तीव्र शब्दयुक्त तथा शुष्क आते हैं। निरन्तर खांसी के आवेग आते रहने से बड़ी कठिनाई के साथ कफ के निकलने पर वेग शान्त होता है।

उपर्युक्त लक्षण कुकुरकास (*Whooping Caugh*) में सामान्य तौर से मिलते हैं तथा उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर ही आचार्य सुश्रुत एवं चरक ने कुकुरकास का समावेश सम्भवतः वातज कास के अन्तर्गत ही कर दिया है। क्योंकि वातज कास में भी जब रोगी को खांसी के वेग आते हैं तब प्रायः वमन होना, चेहरे का लालिमायुक्त होना, वेगान्त में अन्तः श्वसन के साथ 'हूप' शब्द की उत्पत्ति, वायु प्रणाली की विस्तीर्णता, गले की लसीका, ग्रन्थियों में किंचित् शोथ, क्षुब्धता आदि होना स्वाभाविक ही हैं।

अतएव कुकुरकास का अन्तर्भाव आयुर्वेदीय मतानुसार वातज कास में ही किया जा सकता है।

वैसे तो आधुनिक डाक्टरों ने लाक्षणिक भेद से रोग की तीन अवस्थायें मानी हैं। जैसे—

१. प्रतिश्याय अवस्था (*Catarrhal stage*)—यह एक तीव्र औपसर्गिक अवस्था है तथा इसकी अवधि एक से दो सप्ताह तक रहती है। स्टेथिस्कोप (आला) से वक्ष (*Chest*) परीक्षा करने पर वंशी की अथवा कोयल की कूक की तरह ध्वनि आती है। इस अवस्था में विशेषकर बच्चों को ज्वर नाक-मुंह से पतला स्राव तथा छींक आती हैं। आंखें लाल रहती हैं तथा कष्टदायक खांसी धीरे-धीरे बढ़कर काली खांसी में परिणत हो जाती है। प्रायः खांसी के आवेग दिन की अपेक्षा रात्रि को अधिक आते हैं। रक्त परीक्षा करने से १२००० से २७००० तक रक्त में श्वेतकण मिलते हैं तथा लसीकाणु (*Lymohocytes*) प्रायः ६०% घटे हुए मिलते हैं।

२. आवेगावस्था (*Paroxysmal stage*)—प्रतिश्याय अवस्था उपरान्त ही इस अवस्था का श्रीगणेश होता है तथा रोगी के लिये यह तीव्रावस्था होती है। क्योंकि इस अवस्था में बच्चों को बहुत ही कष्ट सहन करना पड़ता है। वैसे तो इस अवस्था में प्रायः ज्वर नहीं आता किन्तु खांसी के दौर या आवेग भयंकर रूप से होते हैं। बच्चा खांसते-खांसते बेचैन हो जाता है। सांस लेने में तकलीफ होती है। चेहरे की आकृति रक्तमय एवं लालिमायुक्त हो जाती है। शरीर की समस्त मांस-पेशियां जकड़ जाती हैं। वेग प्रबल होने के कारण और रक्त केशिकाओं पर जोर पड़ने से नेत्रकलागत रक्तस्राव होने लगता है। त्वचा पसीने से तर हो जाती है। वेगकाल कुछ सेकेण्डों से लेकर ५—३ मिनट तक चलते हैं।

आवेगों की गति एक के बाद एक गम्भीर होती जाती है एवं जिस समय आवेग प्रारम्भ होता है, रोगी की आवेगावस्था देखते ही बनती है। ऐसा लगता है कि मानो रोगी प्राण त्याग देगा, किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता लेकिन आंखों में रक्तस्राव, नासा से रक्तस्राव, कान का पर्दा विदीर्ण होकर उससे रक्तस्राव, अनजाने मल-मूत्र का उत्सर्ग आक्षेप, बेहोशी तथा जिह्वा में व्रण इत्यादि लक्षण भी कभी-कभी दृष्टिगोचर होते हैं। तीव्र आवेग के पश्चात् रोगी थोड़ी देर तक बदहवास और कमजोर व सुस्त रहता है। इसलिए आवेग की अनुभूति होती है तो रोगी माता, पिता, चारपाई, मकान की दीवार, खिड़की या अन्य किसी भी समीपवर्ती वस्तुओं को अपना सहारा बनाने का प्रयत्न करता है तथा अपनी छाती को पकड़ता है। रात को दौरा आने पर रोगी उठकर बिस्तरे पर बैठ जाता है।

दौरे में वक्ष परीक्षा करने पर सब जगह कुंजन शब्द सुन पड़ता है। वायुकोष कुछ फैलता हुआ सा प्रतीत होता है। यह अवस्था २ से १० सप्ताह तक प्रायः देखी जाती है।

विशेष—कतिपय विद्वानों ने इस अवस्था का प्रारम्भ उस दिन से माना है, जबसे रोगी को खांसी के बाद "हूप" (Whoop) शब्द करता है।

३. उपशय अवस्था—समुचित परिचर्या या चिकित्सा होने पर ही प्रायः यह अवस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में साधारणतः सभी उपद्रव कम हो जाते हैं। रक्तस्थ श्वेताणुओं की स्थिति सामान्य होने लगती है। इस प्रकार रोगी धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ करने लगता है

और रोग का नाश होकर पुनः स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है।

चिह्न १—कफ बिलकुल नहीं आता। अगर कभी आता है तो रोगी आराम का अनुभव करता है।

२—वेग दिन की अपेक्षा रात्रि में अधिक होता है।

३—चिकने, खट्टे, नमकीन, और गरम पदार्थ के व्यवहार से खांसी दब जाती है तथा भोजन पचते ही फिर उठने लगती है।

४—छाती, कनपटी और सिर में वेदना इत्यादि होती है।

रोग निर्णय के आधुनिक उपाय

वैसे तो तीव्र आवेगों के साथ शुष्क खांसी होने के साथ "हूप" शब्द का होना ही रोग की निर्णयात्मक परीक्षा हो जाती है। किन्तु पूर्णरूपेण निर्णयात्मकता के लिए आधुनिक डाक्टरों ने रक्तपरीक्षा को विश्वसनीय माना है। सामान्य की अपेक्षा रक्त में श्वेतकण अत्यधिक संख्या में बढ़े हुए मिलते हैं। साथ ही साथ इनमें Lympho Cytes लसीकाणु भी अधिक मिलते हैं। आवेगावस्था में अनुमानतः श्वेताणु ३०,००० से ८०,००० तक हो जाते हैं तथा लसीकाणुओं की उपस्थिति ६० से ८० प्रतिशत तक हो जाती है। अतः रक्तपरीक्षा द्वारा काली खांसी का पूर्ण निदान करना सरल और विश्वसनीय है। इसके अतिरिक्त रोग निर्णय करने के और भी साधन हैं। जैसे—

१. डा० एडवर्थ की पद्धति के अनुसार रोगी को "हूपिंग कफ वैक्सीन" का इन्जैक्शन लगाकर आधे घंटे के उपरान्त ही श्वेताणुओं की वृद्धि घटने लग जाती है। अतः रोग निर्णय के लिये यह भी एक सरल उपाय है।

२. नासा के पश्चिम भाग से थोड़ा सा रक्तस्राव लेकर प्रयोगशाला में उसके अन्दर कुकुरकास कारक जीवाणु के दर्शन से रोग का निर्णय किया जा सकता है।

काली खांसी से बचने के उपाय

१. रोगी को अन्य बच्चों से पूर्णतः पृथक् रखें।

२. रोगी के थूक, श्लेष्मा आदि को किसी विसंक्रमित घोल में रखें और प्रति दिन उसे नगर से बाहर गड्ढा खुदवाकर गढ़वा दें।

३. यदि कभी नगर या मुहल्ले में इस रोग से किसी को ग्रस्त होने का संकेत मिले तो तत्काल सभी बच्चों को काली खांसी निरोधक टीका या दवा किसी अस्पताल या चिकित्सक से ले लेना चाहिए।

४. रोगी द्वारा व्यवहृत वस्तुओं को अन्य स्वस्थ बच्चों को व्यवहार नहीं करने दें।

५. रोगमुक्त हो जाने पर रोगी के वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं को विसंक्रमित कर दें।

चिकित्सा में ध्यान देने योग्य बातें

१. रोगी को हवादार कमरे में रखें, जहां न अधिक शीत हो या न अधिक उष्णता।

२. ज्वरावस्था में शय्या पर आराम करावें तथा गरम कपड़ा पहनाकर छाती की रक्षा करें।

३. जब बच्चे को खांसी का वेग प्रारम्भ हो जाय तब एक हाथ से उसकी पीठ को और दूसरे हाथ से उसके मस्तक को सहारा दें।

४. यदि मुंह में कफ आ जाय अथवा वमन हो जाय तो उसे बाहर कर दें।

५. वर्षाऋतु की आर्द्र वायु से रोगी को बचावें।

६. स्निग्ध, अम्ल, लवण और उष्णपान का प्रयोग हितकारी है। कहा भी है—

"स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च भुक्तपीतैः प्रशाम्यति।"
—च० चि० १८-१३

७. जिस समय खांसी का आवेग समाप्त हो जाय, रोगी को थोड़ा-थोड़ी सुपाच्य भोजन, यथा मौसमी रस, दूध, ग्लुकोज इत्यादि दें।

८. आवेग शान्ति के पश्चात् छाती पर कपूर मिश्रित गरम तैल या A.B.C. लिनिमेंट की मालिश करें वैसे तो पुराना घी, कपूर और उसमें थोड़ा सेंधानमक मिलाकर किञ्चित् उष्णकर मालिश करने से भी फुफ्फुसों से किञ्चित् और चिपका हुआ कफ बाहर निकलने में उत्तम है।

९. रोगी के उपद्रवों से सदैव सचेत रहें। यदि कोई उपद्रव उठ खड़ा हो तो तत्काल उसकी चिकित्सा करें। ऐसा न करने से इसके उपद्रव प्राणघातक बन जाते हैं।

पथ्य—विशेषतः रोगी को सुपाच्य एवं तरल पदार्थ



यथा—दूध, ग्लूकोज, मौसमी रस या अनार का रस देना लाभदायक है। गेहूँ, चावल, मूंग का यूष, पुराना घृत, बथुआ, बैंगन, मूली, अपक्व केला, गूलर, परबल, मधु, साबूदाना आदि पदार्थ भी हितकारी हैं।

अपथ्य—नस्य, आलू, सरसों, इमली रात्रि जागरण, लौकी, मिर्च, दही इत्यादि।

शास्त्रोक्त औषधियां

इस रोग में लवंगादि चूर्ण, लवंगादि वटी, सितोफलादि चूर्ण, खदिरादि वटी, द्राक्षासव, मोरपंख भस्म, टंकणभस्म, अपामार्ग क्षार, चन्द्रामृत रस आदि अनेक शास्त्रोक्त औषधियाँ हैं जिनका यथोचित मात्रा में अनुपानों के साथ व्यवहार करना लाभप्रद सिद्ध हुआ है।

दौरों की तीव्रता कम करने के लिए—

सर्पगन्धा, ब्राह्मी, वच, शंखपुष्पी, इत्यादि या इन द्रव्यों से घटित उपयुक्त औषधियों का व्यवहार करना चाहिए।

कतिपय अनुभूत औषधियां

१. कस्तूरी आधी रत्ती को शहद या दूध के साथ देने से काली खांसी शीघ्र शान्त हो जाती है।

२. फूली हुई फिटकिरी आधी रत्ती, फुलाया हुआ सुहागे का चूर्ण आधी रत्ती, बबूल का गोद या बच चूर्ण या गोंद का चूर्ण १ रत्ती, मधु के साथ प्रति ४ घंटे के अन्तर से चटाना लाभप्रद है। बड़े बच्चों को इस योग की मात्रा दुगुनी देनी चाहिए।

३. यदि कफ संकोच या ऐंठन के साथ सूखा निकले तो बालक को सर्पगन्धा $\frac{1}{4}$ रत्ती से आधी रत्ती और मुलहठी चूर्ण १ रत्ती से २ रत्ती, प्रवाल पंचामृत आधी से १ रत्ती शहद के साथ प्रति चार घंटे के अन्तर से चटाना चाहिए।

४. काकड़ासिंघी, पीपल, अतीस, नागरमोंथा, इन सबको १-१ तोला की मात्रा में लेकर, कूट-पीसकर तथा कपड़ छानकर, साफ शीशी में भरकर रख लें। १ रत्ती से २ रत्ती तक बालक की अवस्था के अनुसार माता के दूध या शहद के साथ प्रातः सायं देने से काली खांसी, ज्वर और वमन वगैरह उपद्रव शांत हो जाते हैं।

५. सरसों का तैल ५ तोला, पिसा हुआ लाहौरी नमक १ तोला किसी साफ कटोरे में डालकर आग पर चढ़ावें जब नमक गल जावे तो छानकर शीशी में रखें। जब भी बच्चे की छाती पर मालिश करें तो किञ्चित् सुसुम कर दें। ऐसा करने से उपद्रव शांत होने के साथ-साथ जमा हुआ कफ भी आसानी से निकल जाता है।

होमियोपैथिक मतानुसार काली खांसी का विशेष लक्षण और उसकी सफल चिकित्सा

१. यदि समझ में आ जाय कि बच्चे को काली खांसी हो गई है तो उसे ड्रोसेरा (Drosera) ३० शक्ति की दो बूंद आधा औंस शुद्ध पानी में मिलाकर पिला दीजिए तथा ३-४ दिन तक कोई दवा न दीजिए। इससे जरूर रोग का बहुत अंश घट जायगा।

२. यदि बच्चा खांसते-खांसते दस्त या वमन कर देता है तो 'इपिकाक' (Ipecac) ६ शक्ति की दो गोलियां २ औंस शुद्ध पानी (डिसटिल्ड वाटर) में मिलाकर दिन में चार बार दें। इससे बच्चे को आराम हो जायगा।

३. यदि बच्चे को खांसी का दौरा तेज हो जाय या मुंह से तथा नाक से रक्त निकलने लगे व चेहरा पीला पड़ गया हो तो कोरेलियम रुब्रम (Coraleium Rebrum) ३ शक्ति की २ बूंद दो औंस शुद्ध पानी में मिलाकर दें। २-२ घंटे पर एक-एक चम्मच दवा देते रहें। जब तक इससे आराम न हो।

४. यदि बच्चे का गला घर-घर करता हो और हिलने डुलने से खांसी बढ़ती हो, बच्चा दांत किटकिटाता हो तो (Cina) ३० शक्ति की ८ गोलियां २ औंस शुद्ध पानी मिलाकर दिन में चार बार दें। इससे जरूर आराम होगा।

५. यदि बच्चे की खांसी आधी रात के बाद बढ़ती हो, गले में दर्द होता हो तो बेलाडोना (Bella dona) ३० की चार गोलियां २ औंस शुद्ध पानी में मिलाकर दिन में चार बार दें।



कण्ठरोहिणी (Diphtheria)

ले०—डा० अमरनाथ शर्मा आयुर्वेदरत्न, आर० एम० पी०,
चमरौआ (रामपुर) उ० प्र०

यह एक भयानक जटिल व्याधि है। प्रत्येक चिकित्सक इसकी चिकित्सा में कुशल नहीं होता अतः इसकी सफल चिकित्सा विधियों का उपयोगी ज्ञान कराना ही प्रस्तुत लेख का मुख्य उद्देश्य है।

यह रोहिणी वस्तुतः त्रिदोषज व्याधि है। किन्तु दोषोत्कटता के हिसाब से इसके (१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) सन्निपातज, (५) रक्तज—ये पांच भेद कहे हैं। इनमें से सन्निपातज तथा रक्तज रोहिणी असाध्य कही हैं। शेष चिकित्सा योग्य हैं। दोषानुसार लक्षण नीचे लिखे जाते हैं—

(१) वातज रोहिणी—में जीभ के चारों ओर अत्यधिक वेदना होना तथा मन्यास्तम्भ, पक्षाघातादि वायु के उपद्रव होते हैं।

(२) पित्तज रोहिणी—बड़ी तेजी से पैदा होती, तेजी से बढ़ती तथा दाह, पाक प्रभृति पैत्तिक लक्षणों से युक्त होती है।

(३) कफज रोहिणी—के अंकुर भारी, स्थिर तथा देर में पकने वाले और स्रोतस का अवरोध करने वाले होते हैं।

(४) त्रिदोषज रोहिणी—में लक्षण बड़े सांघातिक होते हैं। उनकी वृद्धि रोकना अत्यन्त कठिन होता है और गहराई में दोष का अवस्थापन होने से गम्भीर (गहराई में स्थित) धातुओं का पाक होता है। त्रिदोषज उपद्रव होते हैं अचिकित्स्य है।

(५) रक्तज रोहिणी—इसके सभी लक्षण पित्तजवत् ही होते हैं विशेषता केवल यह है कि इसमें गले के अन्दर बड़े-बड़े स्फोट (अथवा व्रण) भी पैदा हो जाते हैं। वह भी असाध्य प्रकार है।

विशेष लक्षण एवं एलोपैथिक दृष्ट्या सम्प्राप्ति—

एलोपैथिक चिकित्सा शास्त्र अनुसार डिफ्थीरिया बैसीलस नामक जीवाणु कण्ठ में किसी स्थान पर जमा होकर वहां की श्लेष्मता (Mucaus Membrane) तथा पेशियों में शोथ पैदा कर के वहां के कोषों (Cells) को युद्ध में मार देते हैं अतः श्लेष्मकला से एक तरह का स्राव निकलने लगता है जो कि जम जाता है, उसी में श्वेत एवं रक्त, रक्तकण (W. B. C. & R. B. C.) एवं स्टेफिलोकोक्कस आदि अन्य जीवाणु भी आकर जम जाते हैं। फलतः मवाद, रक्तकण और जीवाणुओं के योग से वहां पर एक मिथ्या कला (झिल्ली False Mambrane) बन जाती है जो प्रायः धूसर राख के रंग की या भूरे रंग की होती है। जो प्रारम्भ में नर्म तथा आसानी से उखड़ सकने वाली होती है किन्तु २४ घण्टे बाद सख्त हो जाती है और इसका वर्ण भी प्रायः कुछ हरा, पीलापन लिये हो जाता है।

उस समय इस झिल्ली को बलात् उखेड़ने से रक्तस्राव होने लगता है।● यदि इस झिल्ली का रंग काला हो

● डिफ्थीरिया की झिल्ली कभी-कभी कण्ठ में न होकर नाक, नेत्रकला, कान, नाभि, योनि, गुदा अथवा किसी व्रण के ऊपरी स्तर—इन स्थानों में से किसी पर भी हो सकती है ऐसी स्थिति में उस स्थान के कार्य में अवरोध हो सकता है, ज्वरादि एवं प्रायः धातक होता है इसीलिये आयुर्वेदज्ञों बल्कि कई डाक्टरों ने भी इस रोग को कण्ठ रोगान्तर्गत लिखा है। कण्ठ से आशय कण्ठ के आन्तरिक अंग, तालु, स्वरयंत्र, वायुनली आदि से है।

जाये तो रोगबल ज्यादा भयानक समझा जाता है● या झिल्ली जितनी कड़ी और विस्तृत होगी उसका ही रोग भयानक जाने।

इस रोग का आक्रमण प्रायः अकस्मात् होता है किन्तु कभी-कभी प्रारूप में अरुचि, उत्क्लेद, प्रतिश्याय, अंगमर्द, कास, स्वरभंग, गले में कुछ बोझ पड़ा तथा विलन सी होकर बार-बार सूखी खांसी उठना, निगलने में कष्ट होना आदि लक्षण होते हैं, साथ ही कमजोरी तथा हरारत की अनुभूति होती है।

रोगारम्भ में गला और टांसिल लाल सुर्ख हो जाते हैं। कभी एक ओर के टांसिल में ही प्रदाहयुक्त सूजन होती है तो किसी रोगी के दोनों ओर के टांसिलों में सूजन हो जाती है। रोगी के गले में कुछ अटका सा प्रतीत होता है जिसे वह पुनः-पुनः निगलने का यत्न करता है किन्तु रोगी प्रायः टांसिल शोथ समझकर इसकी उपेक्षा करता है। आगे चलकर जब रोग बढ़ने लगता है तो उसे खाने, पीने, बोलने आदि में बहुत कष्ट होने लगता है तब कहीं उसका ध्यान चिकित्सा की ओर पहुंचता है। इस समय टांसिल पर या स्वरयन्त्र में या इनके आस-पास पूर्वोक्त प्रकार की झिल्ली बनने लगती है। यह झिल्ली प्रायः फैलने वाली होती है। अतः शीघ्रता से स्वस्थान से नीचे या ऊपर या किसी ओर को अथवा दोनों ओर को फैल सकती है। ऊपर की ओर फैलने पर तालु, नासामार्ग अथवा नीचे की ओर फैलने पर स्वरयन्त्र, कंठनली, वायुनली, फुफ्फुस या अन्ननली की ओर फैलती है। क्वचित् नहीं भी फैलती स्वस्थान पर ही सीमित रहती है।

नासा गह्वर की ओर फैलने पर रोगी को नाक द्वारा श्वास प्रश्वास करने में कष्ट होता है। नाक से पतला श्लेष्मा या पूययुक्त दुर्गन्धित क्लेद निकलता है। नासारन्ध्र, ऊपरी होंठ इत्यादि में जहां भी यह (क्लेद) लग जाता है वहां क्षत बन जाता है। स्वरयन्त्र की ओर फैलने पर मुख द्वारा भी श्वास-प्रश्वास करने में कष्ट होने लगता, मुंह से ली गई वस्तु नासामार्ग से बाहर निकल जाती है। कान की ओर फैलने पर यह झिल्ली बहरा कर देती है। इस प्रकार यह झिल्ली जिधर फैलती है उसी अंग के कार्य में अवरोध पैदा कर देती है। रोहिणी में ज्वर प्रायः तेज नहीं होता १०२° F तक ही बहुधा रहता है किन्तु रोगी को बेचैनी, परेशानी, हड़कल, शिरःशूल, शक्तिहीनता, बहुत होती है गले की कौड़ियां फूल जाती हैं। अणुवीक्षण यन्त्र से गले के थूक, नाक के बलगम एवं मिथ्याकला (झिल्ली) की परत खुरच कर उसका निरीक्षण करने पर डिफ्थीरिया के जीवाणु मिलते हैं। इस रोग के रोगी के पास से एक विशिष्ट प्रकार की गंध आती है जिन चिकित्सकों की घ्राण शक्ति उत्तम होती है वे उस गंध को रोगी में (श्वास में तथा शरीर में) अनुभव करके ही निश्चित रोग निदान कर देते हैं बशर्ते कि उन्होंने अनेक डिफ्थीरिया रोगियों को देख कर इस घ्राण परीक्षा में पटुता प्राप्त करली हो।

बच्चों में रोग का पहचानना अधिक कठिन होता है क्योंकि वे अपने कष्ट का स्वयं वर्णन करने में असमर्थ होते हैं फिर भी बच्चों में नासास्राव, प्रतिश्याय, मन्दज्वर, शुष्क कास, खर्राटेदार तथा कष्ट सहित श्वास प्रश्वास, तृषाधिक्य, मुंह में दुर्गन्ध, स्वरभंग, शिरशूल, वमनादि लक्षण होते हैं। बच्चा बार-बार अंगुली डालता है कई बच्चों में जल्दी-जल्दी आक्षेप (Convulsions) होने लगते हैं। कष्ट विशेष होने पर मुंह खुला रहता है जिह्वा बाहर को निकल आती है, गला बंद हो जाता है। इस रोग के कारण यदि अविलम्ब रोगनिदान एवं उचित चिकित्सा न की जावे तो प्रायः बच्चे मर जाते हैं।

संभवतः आयुर्वेदीय कण्ठरोहिणी के लक्षणों में अंकुरों की उत्पत्ति एवं यूनानी खुनाक में शोथ की उत्पत्ति तथा डाक्टरी डिफ्थीरिया में मिथ्याकला की उत्पत्ति पढ़कर कुछ पाठक इन्हें एक ही रोग मानने को तैयार न हों

● एक प्रकार के कण्ठ शोथ जिसे "क्रूप" (Croup or Pseudo Membranous) कहते हैं, में भी एक प्रकार की श्वेत झिल्ली सी कण्ठ के अन्दर बनती है किन्तु यह झिल्ली किसी पिचु आदि से ही सरलतापूर्वक अलग की जा सकती है एवं इस रोग के लक्षण भी सांघातिक नहीं होते। डिफ्थीरिया तथा इसमें यही अन्तर है।

किन्तु उपरोक्त बातों से इनके एक होने के प्रमाण में कोई ठोस अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुतः इस रोग में कण्ठ के अन्दर दोष संश्रय होने से कण्ठ की पेशियों व लसीका ग्रन्थियों में अस्वाभाविक वृद्धि, शोथोत्पत्ति होती है जिससे कण्ठ के अन्दर अंकुर से भी प्रतीत होते हैं और झिल्ली जो बनती है वह भी उन्हीं दोषों के कारण पैदा हुई शोथ प्रदाहजन्य रचना होती है। यद्यपि इस झिल्ली की उत्पत्ति प्रायः रोगियों में देखी जाती है किन्तु कुछ डिफ्थीरिया रोगियों में इस झिल्ली का अभाव भी रहता है अर्थात् उनमें यह झिल्ली उतनी अन्दर की ओर होती है कि देखपाना असंभव सा होता है, इसलिये केवल झिल्ली के लक्षण पर निर्भर रहने से डिफ्थीरिया के निदान में भ्रांति संभव है। अतः श्वासकष्ट, कण्ठ में पीड़ा, ग्रीवा के अन्दर पेशियों व लसीका ग्रन्थियों का शोथ होने के साथ-साथ हृद्दौर्बल्य, कमजोरी का द्रुतगति से बढ़ना, चेहरे का वर्ण धूसर अथवा पाण्डु हो जाना इत्यादि लक्षण उग्ररूप से नजर आयें तो नासा स्राव, थूक, कफ की अणुवीक्षणीय जांच कराके रोग निर्णय कर लेना चाहिए। इस रोग में रोगी की नाड़ी मृदु किन्तु द्रुतगामिनी होती है। वैसे आयुर्वेदिक, होम्योपैथिक तथा प्राकृतिक चिकित्सा विधान में लैबोरेट्री परीक्षण की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि इन चिकित्सा विधानों में वर्णित उपाय एक जैसे रोग लक्षणों वाले प्रायः सभी रोगों में समान कार्यकारी होते हैं किन्तु एलोपैथी की अनेक ओषधियां ऐसी हैं जो विशिष्ट रोग को छोड़कर अन्य रोग से लगा दी जावें तो खतरनाक बन जाती हैं जैसे कि डिफ्थीरिया की एलोपैथिक औषधि 'ऐण्टीडिफ्थीरिया सीरम' का उदाहरण है।

उपद्रव (Complications)—

रक्त में मिला हुआ रोहिणी विष हृदय, फेफड़े, वात-संस्थान तथा वृक्कों में कोई न कोई विकृति कर देता है जिसके कारण हृद्रोग (हृत्कार्यावरोध, हृदय विस्तृति, तीव्र हृत्पीड़ा, हृत्पेशीक्षय), न्यून रक्तदाव (L. B. P.) मूर्च्छा, छर्दि, कास, फुफ्फुसावरण प्रदाह (Plurisy), तीव्रताप, फुफ्फुस प्रदाह (Pneumonia), वायुकोष विस्तृति, अन्तः कर्णशोथ, नासारक्त, गले की मांसपेशियों का सूजकर सख्त हो जाना, तन्द्रा, प्रलाप, मूत्राघात, अल्पमूत्रता, शुक्तिमेह वृक्कशोथ, पक्षाघात, हनुस्तम्भ, द्विधादृष्टि, दृष्टिक्षीणता या दृष्टिनाश, हनुस्तम्भ, सैप्टीसीमिया आदि अनेक भयानक उपद्रव बन सकते हैं। मृत्यु प्रायः श्वासावरोध या हृदयावसाद से होती है।

उपद्रव युक्त क्षीण तथा गर्भिणी स्त्री का रोग दुःसाध्य अथवा असाध्य होता है। रोग से मुक्त होने या मृत्यु का काल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह बातें रोग व रोगी के बल पर निर्भर हैं। कभी-कभी रोग इतना भयानक होता है कि २-३ दिन के अन्दर ही मृत्यु हो जाती है। बहुधा रोगी ८-१० दिन तक रोगग्रस्त रह कर स्वस्थ हो जाते हैं। कुछ रोगी २-३ सप्ताह तक भी रोगयुक्त रहते देखे जाते हैं। इसलिए रोगकाल या मृत्यु के विषय में निश्चित रूप से कहना असंभव है। फिर भी जितनी शीघ्रता से रोगी का श्रेष्ठतम उपचार मिल जावे उतने ही ज्यादा अंशों में रोगी की जान बचने की आशा की जा सकती है जितना विलम्ब होता है उतनी ही जीवन की आशा कम होती जाती है।

चिकित्सा विधि

यह रोग बड़ा घातक तथा जटिल (Complicated) होता है एलोपैथिक चिकित्सा शास्त्र में इसका एकमात्र उपचार प्रतिविष चिकित्सा (Anti Diphtheria Serum) है जो कि बहुत महंगा एवं सर्वसुलभ नहीं जबकि हमारी चिकित्सा विधि बहुत सस्ती निरापद तथा लाभ में भी उससे कम नहीं है। चिकित्सा निम्न सूत्रों पर आधारित होना चाहिए।

१. **रुग्णावास**—रोगी के लिये एकान्त में तथा दुर्गन्धित, सीलन आदि से रहित शुष्क वातावरण में स्थित शयनागार का प्रबन्ध अत्यावश्यक है। शयनागार में सूर्य की धूप तथा शुद्ध वायु संचार में कोई बाधा नहीं हो किन्तु हवा के तेज झोंके भी सीधे न लगें। घर का दरवाजा तथा रोगी का मुख खुला रखें ताकि श्वास ग्रहण में किसी प्रकार का अवरोध न होने पावे। रोगी चित्त न लेटे बल्कि करवट से लेटे। जिधर डिफ्थीरिया हो उस करवट से लेटना ज्यादा अच्छा है। रोगी को बिस्तर पर पूरा-पूरा विश्राम करना चाहिए।

२. **उपवास**—कंठरोहिणी विष रोग है इससे रक्तादि धातुएं विषमय हो जाती हैं और इसी से रोग के लक्षण पैदा होते हैं अत: इस विष को शरीर से नष्ट करने के लिये आवश्यक है कि रोगी को पूरा-पूरा उपवास कराया जावे। केवल शक्ति रक्षार्थ एवं विष निर्हरणार्थ संतरे या अनन्नास का रस दिया जावे। प्यास लगने पर प्रचुर मात्रा में सुखोष्ण जल पिलायें। शेष सब प्रकार का आहार एवं दूध तक भी न दिया जावे।

३. **वाष्पस्वेदन**—कंठस्थ दोषों का स्थान संश्रय हटाने के लिये गले के अन्दर एवं बाहर वाष्पस्वेदन दें। वाष्प स्वेदन केवल मात्र गर्म पानी की भाप से भी लिया जा सकता है अथवा अलकतरा और तारपीन का तैल रोगी के बिछौने के पास जलायें एवं रोगी उसी की भाप नाक, मुंह द्वारा अन्दर खींचे। तथा हर २ घंटे पर गले का पैक कराते रहिए।● उग्रदशा में सीने, पेड़ू या सारे शरीर पर भी इसी प्रकार का पैक नित्य दिन भर में १-२ बार के लिये करें। यदि नित्य दिन में १-२ बार २०-२५ मिनट का उष्ण स्नान (Hotwater Bath) भी दे दें तो कष्ठ अति शीघ्र दूर होने लगेगा। स्नानार्थ जल का तापांश रोगी की दशानुसार ९८°F से १०५°F तक रखते हैं। टब में या नांद में वह उष्ण पानी भरकर उसमें रोगी को लिटा या बिठा देते हैं किन्तु ऐसे स्नान के समय रोगी के सिर पर ठंडे पानी से भीगा तौलिया रखना चाहिए।

४. **वस्तिकर्म**—नित्य प्रात: सायं केवल गर्म जल की या नीबू रस मिश्रित गर्म जल की वस्ति देते रहने से भी पर्याप्त विष निर्हरण होकर रोग के नाश में मदद मिलती है।

चिकित्सकगण उपरोक्त प्राकृतिक चिकित्सा उपक्रमों के साथ यदि निम्न औषधियों का आवश्यकतानुसार गण्डूष, पेंट, अन्त: सेवनादि रूप में यथा-विधि व्यवहार करेंगे तो उन्हें बहुत शीघ्र एवं अधिकाधिक सफलता प्राप्त होगी।

१. **लहसुन**—लहसुन के जबरदस्त विषघ्न, भूतघ्न, (Anti toxin & Anti Biotic) गुणों की प्रशंसा रूस एवं अमेरिका के डाक्टरों ने भी की है। १-१ ड्राम की मात्रा में इसका स्वरस अकेला अथवा सादे शर्वत (Simple Syrup) में अथवा समभाग जल में मिलाकर प्रति ४-४ घंटे बाद देते रहने से रोहिणी दण्डाणुओं एवं विष का नाश होकर रोग अतिशीघ्र कम होने लगता है। बच्चों में अवस्थानुसार लहसुन स्वरस को १० से ३० बूंद की मात्रा में हर ४ घंटे पर सादे शर्वत के साथ देना चाहिए अथवा मधु मिलाकर दें। रोगी यदि समझदार हो तो प्रयोग की सरलतम विधि यह है कि रोगी लहसुन की एक कली को मुंह में रख ले और उसे दांतों के मध्य में जरा सा चबायें जिससे थोड़े से परिणाम में रस निकल आवे, इसे निगल लें, कुछ देर बाद फिर पहले की तरह दांतों से रस निकाल कर निगल लें। कली में से पूरा रस निकल आने तक यह क्रम जारी रखना चाहिए। कली की चटनी सी बन जाने पर फोक को भी निंगल लें तथा दूसरी कली मुंह में रख लें इस विधि से ३-४ घंटों में १-२ औंस लहसुन की कलियां खा लेना चाहिए। झिल्ली लुप्त हो जाने पर भी एक सप्ताह पर्यन्त नित्य १-२ औंस लहसुन खाते रहें। डिफ्थीरिया रोगी को लहसुन की न तो गन्ध आती है और न स्वाद। रोगी इसे केवल गर्म अनुभव करता है।

थ्रोटपेन्ट रूप में भी इसका व्यवहार करते हैं तदर्थ लहसुन स्वरस और मधु मिलाकर गले में अन्दर फुरेरी से हर घंटे आध घंटे पर लगाते हैं।

लहसुन के स्वरस में थोड़ा सा गर्म जल मिलाकर गले में सीकर परिषेक (झींसी मारना Spray) करने से भी शीघ्र लाभ होता है।

इसका स्वरस २० गुना साफ जल में मिलाकर गण्डूष (गरारे) कराना भी लाभकारी है।

जो रोगी तुरियों को खाना या केवल लहसुन स्वरस

● गले की चौड़ाई के माप की ४×३२ इञ्च की पट्टी ठंडे पानी में भिगो निचोड़कर गले के चारों तरफ कई तह में लपेट दें ऊपर से ऊनी मफलर या कोई गरम कपड़ा लपेट दें। यही गले का पैक है। हर २ घंटे पर नया पैक लगाने से पूर्व उस स्थान को ठंडे पानी से भिगोयें व खूब निचोड़े हुए अंगोछे से रगड़ कर अवश्य साफ कर लिया जावे तब नया पैक लगाया जावे।

पीना बहुत गर्म अनुभव करते हो उन्हें ताजे लहसुन स्वरस में बराबर साफ जलादि मिलाकर अन्तः सेवनार्थ एवं पिचु, गण्डूषादि रूप में प्रयोगार्थ व्यवहार करना चाहिए।

लहसुन कंठरोहिणी (Diphtheria) की प्रत्येक अवस्था में कार्यकारी अमोघ औषधि है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रयोग कराने से रोग तत्काल दबने लगता है। मैंने भी लहसुन को इस रोग में अकसीर पाया है। गर्भिणी स्त्री को अन्तः प्रयोगार्थ लहसुन देते समय बहुत सावधानी अपेक्षित है अधिक मात्रा गर्भपात कर सकती है।

२. रीठा—कंठरोहिणी पर रीठा बहुत तेज असर करता है। गंभीर अवस्था में जब रोगी मूर्च्छित हो गया हो। उसके कंठ में पानी का घूंट तक भी न जा सकता हो तब भी यह अपना चमत्कार दिखाता है। रीठे का छिलका १ तोला घोटकर या पानी में उबालकर रोगी को गरारे कराएं, यदि रोगी बेहोश हो तो रीठे का पानी रोगी के मुंह में डालकर दूसरा आदमी रोगी के सिर को हिलाए तो ईश्वर इच्छा से मिनटों में रोगी उठ बैठेगा और गला भी खुलता जायेगा। अथवा रीठे के फल का छिलका ६ माशा, उष्णोदक ५ तोला, में घोटकर उसमें रुई लिप्त शलाका भिगोकर आध-आध घंटे पर गले के अन्दर संघर्षित करते रहें ऐसा सुझाव आचार्य श्री हरदयाल जी वैद्य दिल्ली वालों ने अपने एक लेख में दिया है। मैंने भी कई रोगियों पर परीक्षा की है वास्तव में रीठा इस रोग की चमत्कारी औषधि है। रोड़ी निवासी प्रसिद्ध हकीम स्वर्गीय श्री अब्दुल्ला ने रीठे के फल का छिलका १ तोला, तथा फिटकिरी १ माशे का विधिवत् काढ़ा बनाकर उसके गण्डूष कराने को बहुत प्रशंसनीय प्रयोग कहा है।

३. अनन्नास—आयुर्वेदाचार्य पं० चतुरसेन शास्त्री का अनुभव पूर्ण कथन है कि अनन्नास का रस कंठरोहिणी (Diphtheria) के लिये बहुत गुणकारी है। रोगी को इसका रस निगलवाना चाहिए। किन्तु यह विचित्र बात है कि ६-६ माह के बच्चे यद्यपि दूध के बदले इस रस को मजे से पी लेते हैं किन्तु इस रोग का रोगी नहीं पी सकता अतः इसके निगलवाने की विधि निम्न है।

अनन्नास को काटकर और खरल में कुचलकर रस निकालो। रोगी को गर्म पानी से कुल्ले कराओ और चांदी की चम्मच से इसका रस रोगी के मुंह में डाल दो। यदि पहलीबार रोगी रस भी न निगल सके तो वह रस मुंह और गले को धोने का काम ही करेगा तथा अंदर की झिल्ली को गला देगा। इसके बाद सावधानी से चम्मच से उसे खुरच डालना चाहिए। इसके रस का पिलाना तथा झिल्ली का खुरचना रोगी जितना सह सके उतना ही करना चाहिए। थोड़ी देर बाद रस फिर पिलायें उसे रोगी निगल सकेगा किन्तु खुरचने का काम धीरे-धीरे होशियारी से जारी रहे तो बच्चे भी इस कष्ट को सह लेते हैं। चम्मच चांदी का ही लेना चाहिए और उसे बार-बार गर्म पानी में डुबोकर साफ कर लेना चाहिए। यह रस झिल्ली को गलाकर निकालने में बड़ा अकसीर है। गर्भवती को अनन्नास का रस नहीं देना चाहिए गर्भपात कर देता है।

नोट—पीपल पेड़ के कोमल पत्तों के स्वरस को भी इसी तरह प्रयोग करने से झिल्ली गल जाती है। ऐसा लिखा है।

४. अजवायन सत्व (Thymol) बालकों के घट सर्परोग (कंठ रोहिणी Diphtheria) पर अजवायन सत्व २ रत्ती शहद में खरल करके उसमें ५ तोला जल भी मिलाकर घोटकर रख लें। प्रति मिनट में १-१ बूंद पिलाते रहने से ४-५ घंटों में लाभ होता है।

५. कछुआ—यह प्राणी भी जबरदस्त डिफ्थीरिया प्रूफ है। यूनानी हकीमों ने लिखा है कि जब इस रोग पर कोई उपाय कारगर न हो तथा रोगी का श्वासावरोध होने लगे तब एक जीवित कछुआ पकड़कर उसका मुंह रोगी के मुंह के इतना समीप रखें कि कछुये के श्वास की वायु रोगी के मुख में पहुंचती रहे तब फौरन ही शोथ झिल्ली आदि का शमन होकर श्वास आराम से आने लगता है। कछुये का पेट फाड़कर फौरन गले पर बांधने से भी लाभ होता है।

चीनी चिकित्सक डिफ्थीरिया रोगी के गले में कछुये की गर्दन सावधानी से प्रविष्ट कराते हैं और कछुवा डिफ्थीरिया की मिथ्याकला (झिल्ली) को चट कर जाता है जिससे रोगी फौरन ठीक होने लगता है। चीनी चिकित्सक इस कार्य के विशेष कौशल रखते हैं।

अन्य औषधियां—

अण्ड खरबूजा (पपीता) का ताजा दूध लेकर उसकी



फुरेरी बनाकर हर घंटे आध घंटे पर लगाना अथवा पपीते के दूध और बंगला पान के रस तथा मधु को मिलाकर लगाना या ग्लिसरीन में पपीते का दूध घोलकर लगना—

तथा

अमलतास के वृक्ष की छाल या मूल की छाल अथवा अमलतास की फली के गूदे के काढ़े से बार-बार गण्डूष कराना—ये उपचार भी कंठरोहिणी की प्रारम्भिक दशा में लाभ करते हैं किन्तु प्रवृद्ध रोग में इन पर आश्रित रहना ठीक नहीं।

अन्य अन्तः प्रयोग—हिंगुलेश्वर रस, आरोग्य-वर्धिनी, संजीवनी वटी, मकरध्वज ये औषधियां पान या रसौत या श्वेत पुनर्नवा के स्वरस से पुनः-पुनः देते हैं। दशमूलारिष्ट+द्राक्षारिष्ट प्रत्येक २॥ २॥ तोला लेकर थोड़ा जल मिलाकर ४-४ घंटे बाद देते हैं। अथवा केवल श्वेत पुनर्नवा स्वरस या क्वाथ बार-बार पिलाते हैं। मुख द्वारा औषधि या आहार न लिये जा सकने की दशा में दशमूलारिष्ट+द्राक्षारिष्ट १-१ औंस लेकर बराबर मात्रा में समबल लवणोदक (Normal Saline) मिलाकर पोषक वस्ति देते हैं। पोषक वस्ति देने से पूर्व गर्म जल के एनिमा से आन्त्र शुद्धि कर लेना बहुत जरूरी है।

शास्त्रोक्त चिकित्सा उपक्रमों में—१. रक्तमोक्षण २. वमन ३. धूम्रपान ४. नस्य ५. गण्डूष इनका निर्देश मिलता है। सम्प्रति इन उपक्रमों को यथा विधि कराने वाले वैद्यराजों की कमी है।

१. रक्तमोक्षण—वहां से किया जाता है जहां रोग संश्रय होता है अथवा यूनानी ग्रन्थों में लिखे अनुसार जिह्वाधस्था वाहिनी का सिरावेधन करायें। रोगी में पित्त एवं रक्त दोष का प्राबल्य दीखे तो यूनानियों ने उस रोगी की सरारू नामक शिरा खोलने का उपदेश किया है और दोनों कानों के पीछे तथा ग्रीवा के मध्य जलोकावचारण (Leeching) का निर्देश भी किया है। रोगारम्भ में रोगी की पिंडलियों और दोनों कन्धों के मध्य तथा ठोड़ी के नीचे सींग (शृंग) लगाने को हितकारी बताया है।

२. वमन—रोहिणी में जब झिल्ली से पूरा कण्ठ आवृत्त होकर श्वासावरोध होने लगे ऐसे समय में यदि वमन कराई जा सके तो झिल्ली का कुछ निर्हरण होकर तात्कालिक लाभ मिल सकता है किन्तु पहले किसी ऐसे द्रव्य के गण्डूषादि का प्रयोग करना चाहिए जिससे झिल्ली गल जाये या कमजोर पड़ जाये। ऐसे समय में वमन कराना भी हर एक के वश का काम नहीं तथा एक बार झिल्ली निकल कर दोबारा भी बन सकती है। अतः ऐसी अवस्था में ऐसे वामक द्रव्य से वमन कराया जावे जिससे तत्काल वमन हो जाए और जीवनी शक्ति भी बनी रहे, फिर उचित उपचारों से पुनः बनने से रोका जा सकेगा। सन् १८७७ ई० में पेरिस वासी डा० सन्ने एपोमार्फीन नामक त्वगीय प्रक्षेपण (Subcutaneous Injection) का प्रयोग इस आशय के लिए करते थे। इस सूचीवेध से ३ से ५ मिनट में ही वमन होकर श्वास ग्रहण में सरलता उपस्थित होती है।

३. धूम्रपान—धूम्रपानार्थ ६ माशे अपामार्ग को कूटकर चिलम में रखकर धूम्रपान कराने या बीड़ी बनाकर पिलाने से भी लाभ होता है।

४-५. नस्य तथा गण्डूष—सुश्रुतोक्त 'श्वेतादि तैल' का इस प्रयोजन के लिए व्यवहार उत्तम है। इसकी कुछ बूंदें निक्षेपक द्वारा नाक में डालते हैं तथा इसी तैल के गण्डूष भी कराते हैं।

एलोपैथिक चिकित्सा—

इस पद्धति में इस रोग के लिए दो प्रकार के उपचार वर्णित हैं—

(१) रोग प्रतिषेधक (Prophylaxis) अर्थात् रोग से बचाव की शक्ति (Immunity) शरीर में उत्पन्न करने वाले प्रयोग।

(२) रोगनाशक अर्थात् चिकित्सा (Curative treatment) प्रतिषेधार्थ निम्नलिखित कोई सूचीवेध यथा विधि देते हैं। बच्चों को ५ माह की आयु में पहला प्रतिषेधक टीका लगा देना संक्रमण प्रतिषेधार्थ श्रेष्ठ रहेगा, ताकि ६-७ माह की आयु तक उनमें रोगप्रतिषेधक क्षमता का निर्माण हो जाये। संक्रमण काल में तो यथासम्भव प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को टीका लगवा लेना चाहिए ताकि रोग हो ही नहीं। ये वैक्सीन्स हैं। इनके द्वारा उपार्जित क्षमता लगभग ६ वर्ष तक शरीर में बनी रहती है।

१. A. P. T. (ए. पी. टी.) प्रतिषेधार्थ $\frac{1}{2}$ ml. का एक इन्जैक्शन मांसगत दे एक माह बाद $\frac{1}{2}$ ml. का

एक इन्जैक्शन और लगा दें। केवल दो इन्जैक्शन लगाये जाते हैं। इसका शोषण धीरे-धीरे होता है, बच्चों में रीएक्शन प्रायः नहीं करता। बड़ों में यह प्रायः रीएक्शन करता है।

२. T. A. F. (टी. ए. एफ.) एक सी. सी. (1ml.) के कुल ३ इन्जैक्शन (प्रत्येक ३–४ सप्ताह के अन्तर पर) मांसगत देते हैं। बच्चों तथा बड़ों दोनों को सह्य है।

३. T. A. M. (टी. ए. एम.) प्रयोग का गुण T. A. F. वत्।

४. फोर्मल टाक्साइड या एनाटाक्सिन (Formel Toxide [F. T.] or Anatoxin)–इनकी मात्रा लेवल पर लिखे अनुसार इन्जैक्ट करते हैं। प्रथम दो मात्राएं ४ सप्ताह के अन्तर से तथा तीसरी मात्रा २ सप्ताह के अन्तर से देते हैं।

५. ट्रिपलएन्टीजेन (ग्लैक्सो) इसे डिफ्थीरिया, टिटेनस एण्ड पर्टुसिस वैक्सीन भी कहते हैं। नामानुसार यह कंठरोहिणी, धनुर्वात तथा कुकास तीनों के प्रतिषेध की शक्ति उत्पन्न करता है। शिशुओं को ½ सी. सी. तथा स्कूल जाने की आयु वाले बच्चों को १ सी. सी. की मात्रा के मांसगत ४-६ सप्ताह के अन्तर पर प्रति इन्जैक्शन (कुल ३ इन्जैक्शन) देते हैं।

रोगनाशक चिकित्सा—

१. इस पद्धति में कण्ठरोहिणी की एक मात्र औषधि 'डिफ्थीरिया ऐण्टी टॉक्सिन सीरम' (Diphtheria anti toxin serum) ही है। चिकित्सार्थ इसकी एक पर्याप्त मात्रा छोटी-छोटी मात्राओं में बार-बार देने की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती है। 'बरोज बेलकम' नामक एलोपैथिक औषधि निर्माता कम्पनी के सूचीपत्रानुसार रोगी के रोग की दशानुसार निम्नलिखित मात्राएं हैं जो रोगी की आयु को न देखते हुए रोग की उग्रतानुसार निश्चित करनी पड़ती है।

मामूली और दरम्याने केस में यदि रोगी रोग आरंभ होते ही आ गया हो तो–५००० से ३०००० यूनिट सामान्यतया मांसगत।

दरम्याने प्रकार के केस जो ३ दिन के बाद चिकित्सार्थ आये हों या घातक रोग में–४०००० से १००००० यूनिट्स या अधिक। जब ४०००० यूनिट्स से अधिक देना हो तो यथासम्भव शिरागत (i. v.) देना श्रेष्ठ रहता है। सीरम का पेशीगत इन्जैक्शन बहुत धीरे-धीरे लाभ करता है, कभी-कभी तो ३६ घण्टे बाद प्रभाव व्यक्त होता है अतः भीषण रोग में शिरागत इन्जैक्शन देना ही ठीक है। रोग की प्रबलता कम हो जाने पर फिर मांसगत दिया जा सकता है। शिरागत इन्जैक्शन के लिए सीरम को ३ गुने नार्मल सैलाइन में मिलाकर लगाना अधिक अच्छा रहता है। थोड़ी सी रुई का पिचु इस सीरम में भिगोकर भी लगाना चाहिए। बरोज बैलकम कम्पनी १०००० तथा २०००० यूनिट्स के इन्जैक्शन बनाती है, रोग प्रतिषेधार्थ भी प्रयोग करते हैं तदर्थ ५०० से २००० यूनिट्स (आयु अनुसार) मांसगत देते हैं।

सीरम असह्यताजन्य विकार व प्रतिकार—

कुछ व्यक्तियों में सीरम के प्रति असह्यता होती है उन्हें सीरम के प्रयोग हृत्क्षीणता, श्वास कष्ट, नाड़ी मन्द हो जाना आदि विकार हो जाते हैं जो कभी-कभी इतने भयानक भी हो सकते हैं कि सद्यः मृत्यु का कारण बन जावें यदि उनका फौरन प्रतिकार न किया जा सके तो। अतः पहले ½–१ सी० सी० की थोड़ी मात्रा त्वचा में देकर देखना चाहिए यदि इन्जैक्शन लगाने के १ घण्टे बाद तक भी कोई दुर्लक्षण पैदा न हो अथवा इन्जैक्शन के स्थान पर कोई उभार लालिमा या नीलिमा हो जावे तो प्रतिविष लगाना खतरनाक है ऐसा समझना चाहिए तथा विकार शान्त्यर्थ तुरन्त एड्रेनलीन १ : १००० शक्ति का त्वचागत लगा देना चाहिए अथवा एट्रोपीन या कैफीन का इन्जैक्शन लगावें।

सीरम के प्रति अलर्जिक ऐसे व्यक्तियों में यदि सीरम प्रविष्ट करने से पूर्व एड्रेनलीन का इन्जैक्शन लगा दिया जावे या एड्रेनलीन की ४-५ बूंदें रोगी की जिह्वा पर टपका दी जावें तथा एन्टी हिस्टामिन ड्रग्ज (प्रेडनीसीलोन, बेनाड्रेल, एण्टिसटीन इत्यादि) के साथ अल्प मात्रा में एफेड्रीन दे दी जावे और इनके प्रयोग से १५-२० मिनट बाद सीरम का इन्जैक्शन यथायोग्य मात्रा में लगा दिया जावे तो प्रतिक्रिया प्रायः नहीं होती।



(२) एलोपैथिक पद्धति में लिस्ट्रीन, सेवलान, पोटास परमेंग्नेट, हाईड्रोजन परआक्साइड, डिटौल अथवा स्प्रिट (Spirit) इन औषधियों को यथोचित मात्रा में पानी में मिलाकर गण्डूष (गरारे Gargle) करने का निर्देश रोगी को देते हैं। उष्ण जल में टिंक्चर आयोडीन मिलाकर भाप लेने (नाक मुंह द्वारा वाष्प ग्रहण) का भी निर्देश करते हैं।

(३) पेनिसिलीन, आइलोटाइसीन, इरीथ्रोमाईसीन, टेरामाइसीन, स्ट्रेप्टोमाइसीन—इनमें से किसी एण्टीबायोटिक औषधि का भी इञ्जेक्शन रूप में पूर्ण मात्रा में नित्य व्यवहार किया जाना चाहिए क्योंकि इनके व्यवहार से द्वितीयक उपसर्गों, सहवर्ती रोगों तथा उपद्रवों का प्रतीकार होता है।

(४) हृदय उपद्रवों से पीड़ित न हो तथा यदि कोई विकृति पैदा भी हो गई हो तो उसके प्रतीकार के उद्देश्य से नित्य कोरामीन, ग्लुकोज, स्ट्रकनीन इनमें से किसी औषधि का मुखमार्ग से अथवा इञ्जैक्शन रूप में भी नित्य देते हैं बेचैनी, वमन को कम करने के लिये मार्फीन का सूचीवेध भी दिया जा सकता है। अथवा हृदय को बल देने हेतु निम्न मिश्रण (Mixture) विशेष उपयोगी है।

टिंक्चर नक्सवोमिका	२ बूंद
स्प्रिट क्लोरोफार्म	७ बूंद
स्प्रिट एमोनिया एरोमेटिक	१० बूंद
कोरामीन ड्राप्स	५ बूंद
एलिक्जर बी. कम्पलेक्स	३० बूंद
वाइनम ग्लैसीआई (Vinum Glacii)	१५ बूंद
सीरप ग्लुकोज	१ ड्राम
एक्वा	१ औंस

—यह एक मात्रा है, ऐसी नित्य दिन में ३ मात्राएं (प्रातः, दोपहर, सायं) पिलाना चाहिए।

(५) कोलार्गल ५% का घोल पेन्ट रूप में प्रयुक्त करना भी हितकारी है।

(६) श्वासावरोध के लक्षण होने पर प्राणवायु (Oxygen) सुंघाना चाहिए श्वासावरोध की गम्भीर स्थिति में निपुण शल्य-चिकित्सक गले से स्वरयन्त्र के नीचे तक रबर की नली डालना (Intubation) या कण्ठनलिका छेदन अथवा तुण्डिकाछेदन (Tracheotomy or Tonsillectomy) नामक शल्यकर्मों को आवश्यकतानुसार करके श्वास प्रश्वास की व्यवस्था करते हैं किन्तु ये क्रियाएं केवल विशेषज्ञ सर्जन के क्षेत्र की हैं।

पथ्य—रोगकाल में पथ्यरूप में संतरे अनन्नास के रस तथा शुद्ध जल के अलावा कुछ न दिया जावे। जब रोग शान्त हो जाए तब कुछ दिन फलाहार पर रखें पुनः यवमण्ड, मूंग का यूष, गेहूं का पतला दलिया आदि कुछ दिन तक देकर धीरे-धीरे सामान्य आहार पर आवें।

अपथ्य—मांस, गुड़, तेल व हर प्रकार के अम्ल, गरिष्ट पदार्थ, अचार, छाछ, मैदे के पकवान, उड़द, दही, दूध, दिवाशयनादि से परहेज, रोग ठीक होने के बाद भी कुछ सप्ताह तक आवश्यक है। संक्रमण दूसरों में न फैले एतदर्थ स्वस्थ होने के बाद भी ४ सप्ताह तक रोगी को एकान्तवास में रहना चाहिए।



कण्ठरोहिणी पर सफल प्रयोग

प्याज के रस की भाप देने से आशातीत लाभ होता है, मेरा अनुभूत है। विधि—आवश्यकतानुसार प्याज का रस निकाल लिया जाय। अंगारों पर तबा तप्त कर लिया जाय, तबे के नीचे के अंगारे धूम रहित हों। रोगी को पेट के बल लिटा दिया जाय मुंह और नाक से भाप जाय इसके लिये सुविधाजनक व्यवस्था कर लेनी चाहिए। तबे पर प्याज का रस डाल दिया जाय उससे उठने वाली भाप गले, नाक में जानी चाहिए, छोटे बच्चों के मुंह को खोल लेना चाहिए। रोग की अवस्थानुसार यह भाप दी जाय। इस भाप से झिल्ली कटती है और उसका निर्माण रुकता है। यह क्रिया बड़ा चमत्कारिक प्रभाव दिखाती है। रोगी को तुरन्त ही आराम पहुंचता है, अनेक बार की अनुभूत है। जहां शल्यक्रिया या प्रतिविष उपलब्ध नहीं है। इस प्रयोग से रोगी को मृत्यु से बचाया जा सकता है।

—श्री अनिलेश्वरसिंह शास्त्री।

स्त्रियों और पुरुषों में पूयमेह या गनोरिया

लेखिका—श्रीमती सावित्रीदेवी भटनागर वैद्या, वैद्याचार्य
संचालिका सूर्य आयुर्वेद चिकित्सा एवं प्रकाशन संस्थान ४/३८ जगदीश चौक,
उदयपुर (राज०)

पूयमेह पर यह लेख अपने में पूर्ण है और अति संक्षिप्त है। एक महत्त्वपूर्ण विषय पर वैद्याजी के प्रदत्त इस लेख के लिए हम उनका विशेष आभार प्रदर्शित करते हुए आशा करते हैं कि वे अपनी रुचि में महिलाओं के रोगों पर अब अपनी लेखनी को विश्राम नहीं देंगी। —मदनमोहनलाल चरोरे।

यह एक औपसर्गिक रोग है, जो 'नीसेरियन गोनोकोकस' (Neisserian Gonococcus) नामक जीवाणु के संक्रमण से होता है। ये दो की संख्या में परस्पर जुड़े हुए (Diplococci) पाये जाते हैं। स्त्रियों में 'गनोरिया' किसी भी आयु में हो सकता है, किन्तु अधिकतर आर्त्तवदर्शन से लेकर आर्त्तव-निवृत्ति के मध्यवर्तिकाल में इसके होने की सम्भावना होती है। प्रायः यह उपसर्गयुक्त पुरुष के साथ मैथुन करने से स्त्री में पहुँचता है। गेनोरिया से पीड़ित स्त्री के योनिस्राव का प्रसव के समय बालक के नेत्र में उपसर्ग हो जाने पर तीव्रस्वरूप का नेत्रकलाशोथ उत्पन्न हो जाता है, जिसे "कुकूणक" या "आफ्थेल्मिया निओनेटोरम" (Ophthalmia Neonatorum) कहते हैं। युवावस्था में भी दुर्घटनावश नेत्र में इसका उपसर्ग पहुँचने पर नेत्रकलाशोथ (Conjunctivitis) हो जाता है। गोनोकोकस जीवाणुओं की श्लैष्मिककला में उपसर्ग पहुँचाने की प्रवृत्ति विशेष पायी जाती है।

प्रथम बार संसर्ग के पश्चात् २ से २० दिनों के भीतर उपसृष्ट व्यक्ति में इस रोग के लक्षण प्रकट हो सकते हैं।

लक्षण और चिह्न—गनोरिया दो प्रकार का हो सकता है तीव्र और जीर्ण।

तीव्रावस्था के लक्षण—प्रभावित क्षेत्र के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। इन्हें वर्णन की सुविधा की दृष्टि से ३ वर्गों में बांटा जा सकता है।

१. **स्थानिक**—पुरुषों में मूत्रसंस्थान में भीतर की ओर तथा स्त्रियों में आभ्यन्तर जननेन्द्रियों की ओर बढ़ने की इस रोग की प्रवृत्ति पायी जाती है।

अतएव इसी के अनुसार स्थानिक लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। पुरुषों के मूत्रमार्ग (Urethra) में जलन और वेदना होती है तथा पूय निकलता है। स्त्रियों में योनिमार्ग से दुर्गन्धित, पिच्छिल, पूय मिश्रित गाढा स्राव निकलता है तथा योनिगत दाह, मूत्रकृच्छ्रता, मूत्रदाह, कण्डू और वेदना होती है। स्त्रियों में इस रोग के जीवाणुओं के उपसर्ग के कारण—भगशोथ, योनिशोथ, बार्थोलिनग्रन्थिशोथ, मूत्रमार्गशोथ, मूत्राशयशोथ, स्केन नलिकाओं का शोथ, गर्भाशय-ग्रीवाशोथ, बीजवाहिनीशोथ और बीजग्रन्थिशोथ हो जाते हैं।

२. **श्रोणिगत उपसर्ग**—बीजवाहिनी के माध्यम से श्रोणि (*Pelvis*) में उपसर्ग पहुंचता है, जिससे निम्न उदरप्रदेश में वेदना और ज्वर मुख्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। इससे उदरावरणशोथ (Paritonitis) हो जाता है।

३. **द्वितीयक उपसर्ग**—पुरुषों में पूयमेह के द्वैतीयक उपसर्ग के कारण संधिशोथ, सन्धिकलाशोथ, तारामण्डलशोथ (Iritis), विषमयता, अन्तर्हृच्छोथ लक्षण पाये जाते हैं। स्त्रियों में ये लक्षण क्वचित् मिलते हैं।

तीव्रपूयमेह में भग-योनिशोथ के लक्षण मुख्यरूप से उत्पन्न होते हैं। श्रोणिगत उपसर्ग के लक्षण इस समय प्रायः नहीं मिलते। समीपवर्ती लसीका-ग्रन्थियां शोथयुक्त होती हैं। गर्भावस्था में पूयमेह का उपसर्ग होने पर नवजात शिशु में नेत्राभिष्यन्द होजाता है। तब तत्काल ही माता की चिकित्सा पर ध्यान देना चाहिये।

जीर्णावस्था—प्रायः तीव्रावस्था के अनन्तर जीर्णावस्था बन जाती है। जीर्ण उपसर्ग की स्थिति ग्रीवा,



बार्थोलिनग्रन्थि, मूत्रमार्ग, स्केन की नलियां आदि अवयवों में पायी जाती है। इस स्थिति में श्वेत स्राव, पूयमिश्रित स्राव,भगकण्डू,मूत्रदाह लक्षण मिलते हैं। श्रोणि के अवयवों का उपसर्ग और द्वैतीयक उपसर्ग इसमें पायाजाता है।

निदान—स्राव का परीक्षण और संवर्धन करने से 'गोनोकोकस' जीवाणुओं का निश्चय किया जाना चाहिये।

चिकित्सा—जीवाणुनाशक (Antibiotics) द्रव्यों का प्रयोग सर्वथा हितावह है।

तीव्रावस्था में—१. स्थानिक उपसर्ग होने पर 'पेनिसिलिन' ४ लाख यूनिट का या प्रोकेन पेनिसिलिन १ ग्राम का मांसगत सूचीवेध प्रतिदिन के हिसाब से दस दिन तक प्रयोग करने से ९०%रोगियों में लाभ मिलता है। 'टेट्रासाइक्लिन' १ ग्राम, स्ट्रेप्टोमाइसिन, क्लोरेम्फेनिकोल का प्रयोग भी लाभप्रद है।

२. श्रोणिगत उपसर्ग होने पर प्रतिदिन ४ लाख यूनिट का प्रोकेन पेनिसिलीन १० दिन तक लगाया जाय। सल्फा औषधियों, जैसे सल्फामेथाजीन, सल्फाडायजीन का प्रयोग भी कराया जा सकता है।

स्थानिक उपचार—विसंक्रमित भगकवलिका, योनिबस्ति, मैथुन-त्याग ये स्थानिक चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी हैं।

सामान्यतया—बिस्तर पर पूर्ण विश्राम, क्षार द्रव्यों का प्रयोग, द्रवबहुल और लघु आहार, संक्रामक द्रव्य, लाभप्रद हैं।

नवजात शिशु में 'गनोरिया'—जन्य नेत्रकलाशोथ होने पर बोरिक विलयन से नेत्र का प्रक्षालन कर पारद मलहम का अञ्जन या आर्जिरोल,सिल्वर नाइट्रेट के विरल विलयन का आश्च्योतन किया जाय। प्रोकेन पेनिसिलिन का सूचीवेध लगाया जाय।

आयुर्वेदीय मत—

प्राचीन ग्रन्थों में इस रोग का अन्तर्भाव 'उष्णवात' के अन्तर्गत किया जा सकता है।

व्यवहार में 'उष्णवात' दो प्रकार का पाया जाता है—१. निज और २. आगन्तुज या औपसर्गिक।

'आगन्तुज या औपसर्गिक उष्णवात', इसे पूयमेह (Gonorrhoea) भी कहते हैं, की उत्पत्ति इस रोग से पीड़ित व्यक्ति के साथ मैथुन करने से होती है।

मूत्रमार्ग में दाह, शिश्न पर, विशेषतः अग्रभाग में शोथ, कष्ट के साथ बार-बार मूत्रत्याग, पूय का स्राव, कभी-कभी रक्तस्राव, कभी मूत्रावरोध और कष्टयुक्त शिश्नोत्थान होकर वीर्य स्खलन, ये इसकी तीव्रावस्था के लक्षण हैं।

कुछ समय बीत जाने पर लक्षणों की तीव्रता घट जाती है। जीर्णावस्था में कभी स्राव होता है, कभी नहीं। प्रातःकाल सोकर उठने पर थोड़ी सी हल्के रङ्ग की पूय निकलती है या लिंग को दबाकर खींचने से थोड़ी सी पूय निकलती है।

इस रोग के उपद्रव स्वरूप—मूत्राशय शोथ, मूत्रमार्ग सन्निरोध, वृषणशोथ, स्त्रियों में—गर्भाशयग्रीवा शोथ, बीजवाहिनी शोथ, उदरकला शोथ, गर्भस्राव, स्त्री व पुरुषों में—वन्ध्यता, संधिशोथ, हृदयकलाशोथ आदि विकार पैदा हो जाते हैं। स्रावयुक्त हाथ, वस्त्र आदि के संपर्क से नेत्राभिष्यंद, नासाशोथ, गुदशोथ आदि भी हो जाते हैं।

आयुर्वेदीय चिकित्सा—विश्राम करना हितकर है। चाय, काफी आदि गरम वस्तुओं का सेवन और अधिक कामोत्तेजना तथा साईकिल आदि की सवारी करना अहितकर है।

मलावरोध होने पर मृदुविरेचन देवें। उष्णजल से कटिस्नान और वृषण व शिश्न का स्वेदन करें। दूध की लस्सी, नारियल का जल, यवमंड, मीठा सोड़ा (शुद्ध सर्जिका) या यवक्षार मिलाया हुआ जल पीने को दें। मूत्रल द्रव्य हितकर होते हैं।

बस्तिशोधन के लिए शुद्ध स्फटिका १ रत्ती, चीनी मिलाकर दिन में २–३ बार, कच्चे दूध की लस्सी के साथ सेवन करें।

त्रिफला क्वाथ से अथवा पंचवल्कल क्वाथ झड़बेरी की जड़ के क्वाथ से मूत्रमार्ग प्रक्षालन (पिचकारी द्वारा) करें। सप्ताह में १–२ बार आधा मिनट तक पौरुषग्रन्थि मर्दन करें, मर्दन के बाद मूत्रत्याग करके प्रक्षालन करें। रोग की तीव्रावस्था में मर्दन नहीं करें। इससे रोग आगे नहीं बढ़ पाता। लिंगाग्र पर लगाने के लिए शीतलचीनी २ दाना, १ छोटी इलायची के बीज और भुनी तूतिया २

—शेषांश पृष्ठ ४७६ पर।

औपसर्गिक जटिल रोग—फिरंग (सिफलिस)

लेखक—डा० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी एम० ए०, पी० एच० डी०,
साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य डी० ए० वी० कालेज, बाराणासी

आश्चर्यजनक रूप से संक्षिप्त इस लेख में विद्वज्जन समादृत त्रिपाठी जी ने फिरंग रोग पर रसकर्पूर के उपयोग की सिफारिश की है। इसके प्रयोग से पूर्व त्रिपाठी जी से विचार-विमर्श अवश्य करलें। उनका लेख अविकल नीचे दिया जा रहा है। —गोपालशरण गर्ग।

फिरङ्ग शब्द की निरुक्ति—यह रोग फिरङ्ग देश (यूरोप) में विशेष रूप से होता है इसलिए इसका नाम चिकित्सकों ने फिरङ्ग रख दिया है। यह संक्रामक रोग है, इससे पीड़ित नर-नारी के परस्पर संसर्ग तथा सहवास से यह रोग फैलता है।

पर्यायवाची शब्द—आयुर्वेद में—उपदंश (सुश्रुत), ध्वजभंग (चरक), यूनानी तिब्ब में—आतशक, ऐलोपैथी में—सिफलिस, हिन्दी में—पहाड़ी रोग, फिरङ्ग, बादफिरङ्ग, गर्मी।

उक्त रोग को 'गर्मी' इसलिए कहते हैं, इसमें दाह—जलन बहुत होती है और गर्म आहार-विहार करने वाले नर-नारी के सहवास से इसकी उत्पत्ति होती है।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, यह रोग संक्रामक है इसका स्राव किसी को भी लग जाय तो रोग उत्पन्न हो जाता है, यह रोग केवल लिंग और योनि तक ही सीमित नहीं रहता अपि तु समस्त शरीर पर इसका प्रभाव तथा प्रसार हो जाता है, यथा होंठ, आंखें, नाक, गुद, लिंग और योनि। इसमें सफेद फुड़ियां निकल आती हैं, जिनमें अत्यन्त दाह-गर्मी होती है।

निदान—फिरङ्ग रोग गंध के समान फैलने वाला होता है। क्योंकि फिरङ्ग रोगी या रोगिणी के शरीर के संसर्ग एवं संस्पर्श से यह स्वस्थ प्राणियों को भी हो जाता है। यद्यपि यह रोग आगन्तुज-बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है तथापि इसमें वातादि दोषों का संक्रमण अवश्य होता है, अतः उन दोषों के लक्षणानुसार इसका निश्चय करें।

भेद—फिरङ्ग रोग तीन प्रकार का होता है, यथा—१. बाह्य, २. आभ्यन्तर, ३. बाह्याभ्यन्तर।

बाह्य फिरङ्ग के लक्षण—त्वचा पर सफेद मुखवाली फुन्सियां, उनमें थोड़ी बहुत वेदना, घाव की व्रण चिकित्सा के अनुसार शोधन रोपण चिकित्सा करें। यह सुखसाध्य होता है।

आभ्यन्तर फिरङ्ग के लक्षण—सन्धियों में आमवात—गठिया के समान शोथ एवं पीड़ा होती है। यह माता-पिता के रज वीर्य के दोष से होता है और कभी बाह्य ही उचित चिकित्सा न करने से आभ्यन्तर का रूप धारण कर लेता है। उपर्युक्त दोनों लक्षण जिसमें हों उसको बाह्याभ्यन्तर कहा गया है।

उपद्रव—कृशता, दुर्बलता, कुष्ठ के समान नासाभंग (नासा प्राचीर का सड़ जाना), मन्दाग्नि, हड्डियों का शोष हड्डियों का टेढ़ापन आदि उपद्रव हो जाते हैं। इन उपद्रवों के उत्पन्न हो जाने पर फिरङ्ग रोगी की दशा कुष्ठ रोगियों की सी हो जाती है।

साध्यासाध्यता—थोड़े दिनों से हुआ तथा उक्त उपद्रवों से रहित बाह्य फिरङ्ग रोग साध्य, आभ्यन्तर फिरङ्ग कष्टसाध्य और बाह्याभ्यन्तर नामक तीसरे भेद वाला फिरङ्ग पुराना, अस्थिक्षययुक्त अन्य उपद्रवों से घिरा हुआ एवं समस्त धातुओं में व्याप्त होता है।

चिकित्सा सूत्र—इस रोग में सर्वप्रथम विरेचन कराकर तब निम्नलिखित औषधोपचार करना चाहिए।

रसकर्पूर सेवन विधि—उक्त रोग में रसकर्पूर का अवश्य सेवन कराना चाहिए। रसकर्पूर इस रोग की सर्वोत्तम औषधि है। इसके सामान्य रीति से सेवन करने से मसूड़ों में सूजन हो जाती है और मुख से लार चूने



लगती है, ऐसी स्थिति में झरबेरी या अन्य किसी कषैले द्रव्य के क्वाथ से कुल्ले करने चाहिए, इससे शीघ्र उपद्रव शान्त हो जाते हैं। यदि आटा का हलुआ बनाकर उसके बीच में चौथाई रत्ती रसकर्पूर को रखकर फिर उसे बन्द कर गोली जैसी बनाकर निगल लिया जाय तो उक्त उपद्रव नहीं होते।

अपथ्य—शाक, अम्लपदार्थ, नमक या नमक डाले हुए व्यञ्जन, परिश्रम, व्यायाम, मार्गगमन तथा मैथुन का स्वास्थ्य लाभ होने तक परहेज करे।

पथ्य—घी के साथ रोटी, हलुआ, दलिया का सेवन करे। इस प्रकार उक्त रसकर्पूर का सेवन करने से एक या दो सप्ताह में रोग का शमन हो जाता है।

कतिपय योग—१. नीम के पत्तों का चूर्ण ८ तोला हरड़ तथा आंवले का चूर्ण १-१ तोला, हल्दी का चूर्ण ½ तोला। सबको मिलाकर एक शीशी में रख लें। मात्रा—२ माशा। अनुपान—जल। उपयोग—सब प्रकार के फिरङ्ग रोगों पर।

२. रसकर्पूर को पीले फूल की बला के रस में मिलाकर तब तक हाथों से मले जब तक रसकर्पूर दिखाई देता रहे, जब वह न दिखाई दे तब अन्त में हाथों को आग पर तपावें। इस प्रकार ७ दिन तक इस प्रयोग के करने से उक्त रोग शान्त हो जाता है। पथ्यापथ्य सभी स्थिति में ऊपर लिखे अनुसार ही करें।

[पृष्ठ ४७४ का शेषांश]

रत्ती के कपड़छन चूर्ण को शतधौत मक्खन ५ तोला में मिलाकर नीम के डण्डे से घोटकर रख लें। इसे दिन में २–३ बार लगावें।

आभ्यन्तर सेवन के लिए निम्न चिकित्सा व्यवस्था देवें—(१) पूयमेहान्तक रस १ माशा (गंधा बिरोजा व मकरध्वज), रालादि चूर्ण ३ माशा। (सि०भै०म०मा०) १×३ मात्रा कच्चे दूध की लस्सी के साथ या जल से। विशेष—यदि रक्तस्राव अधिक हो तो चन्द्रकला रस २ रत्ती और मिलावें।

(२) चन्दनादि वटी (सि० यो० स०) २ गोली (४ रत्ती) १×२ मात्रा गोखरू के जल से।

(३) रोग शान्त होने पर अथवा जीर्णावस्था में—चन्द्रप्रभावटी २ गोली। १×२ मात्रा दूध के साथ देवें।

(४) चन्दनासव १ तोला। १×२ बार भोजन के बाद, समान जल मिलाकर देवें।

ऊपर दिये गये योगों का परिचय इस प्रकार है—

१. चन्दनादि वटी (सि० यो० सं०)—श्वेत चन्दन का बुरादा, छोटी इलायची के बीज, कवाबचीनी, सफेद राल, गंधाबिरोजा का सत्व, कत्था, गेरू, आंवला, गोखरू, पाषाणभेद—प्रत्येक ४-४ तोला तथा कपूर १ तोला ले, कपड़छन चूर्ण बनाकर, उसमें ५ तोला उत्तम चन्दन का तेल (इत्र) तथा गोली बन सके इतनी रसोंत (दारुहल्दी का घन) मिलाकर ३-३ रत्ती की गोलियां बनालें।

२. पूयमेहान्तक रस—शुद्ध किया हुआ गंधाबिरोजा ४ तोला और मकरध्वज (या षड्गुणबलिजारित रससिन्दूर) ६ माशा लेकर दोनों को खरल कर रखलें। मात्रा—१ माशा से २ माशा तक। गोदुग्ध या मिश्री के शर्बत के साथ देवें।

३. रालादि चूर्ण (सि० भै० म० मा०)—राल, दुग्धपाषाण (सेलखड़ी), सेंमल का गोंद—प्रत्येक १८ भाग, वंशलोचन ६ भाग, स्याहजीरा ६ भाग, सफेद जीरा ६ भाग, २० छोटी इलायची के बीज, गंधाबिरोजा का सत्व १२ भाग और चीनी ६० भाग, सबका कपड़छान चूर्ण बनाकर रख लेवें।

इसके साथ बाह्यप्रयोगार्थ दशांग लेप का स्थानिक उपयोग करें। मूत्रमार्ग प्रक्षालन, कटिस्नान और व्रणशोधन रोपण, उपचार करने से और पथ्यपूर्वक व संयत जीवन व्यतीत करने से शीघ्र आराम मिलता है।

चेचक—सरल चिकित्सा —और— निवारण के उपाय

लेखक—वैद्यरत्न डा० पन्नालाल गर्ग, एम० ए० एम० डी० एच०,
८० गाड़ीवान मुहल्ला, इलाहाबाद

डा० गर्ग ने चेचक पर सर्वाङ्गीण सुन्दर लेख प्रस्तुत किया है। डा० गर्ग की इस परिश्रमपूर्ण श्रेष्ठ कृति के लिए हम उन्हें अनेक साधुवाद अर्पित करते हैं तथा भविष्य में भी उनसे ऐसे ही विद्वत्तापूर्ण लेखों की आशा करते हैं। लेख में अपने अनुभूत योगों के साथ-साथ विद्वान् लेखक द्वारा होम्योपैथिक दृष्टिकोण अपने सहज सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसके कि डा० गर्ग विद्वान् हैं।

—गोपालशरण गर्ग।

चेचक को हमारे देश में अधिकतर माता या देवी के के नाम से पुकारा जाता है। लोग इसे शीतला भी कहा करते हैं।

चेचक का बीज या विषाणु (Virus) इतना सूक्ष्म होता है कि केवल वायु द्वारा ही यह शरीर में घुस कर चारों तरफ इस रोग को शीघ्रता से फैला देता है।

होम्योपैथिक विधि से यदि चेचक को रोकने की कोशिश की जाय तो बहुत ही कम लोग इससे आक्रान्त होंगे। और यदि आक्रान्त भी होंगे तो बहुत ही शीघ्रता और आसानी से स्वस्थ हो जायेंगे।

प्रतिषेधक दवा—इस रोग की आशंका होते ही बैरियोलिनम २०० शक्ति की एक खुराक हर व्यक्ति को फौरन ले लेनी चाहिए। यदि यह रोग बहुत ही प्रबल रूप से फैल रहा हो तो इस दवा की छः गोली की एक खुराक प्रति सप्ताह प्रत्येक व्यक्ति को लेनी चाहिए।

वैरियोलिनम खा लेने के बाद पहले तो चेचक निकलने का कोई भय नहीं रहता और यदि निकल भी आये तो किसी प्रकार का उग्र रूप या जटिलता पैदा होने की आशंका नहीं रहती और न चेहरे पर गड्ढे ही पड़ते हैं खाली बैरियोलिनम से पूरे रोग का इलाज होजाता है।

विशेष लक्षण के समय विशेष चिकित्सा

चेचक के दाग मिटाने के लिए—वैसे तो वैरियोलिनम खाने के बाद चेचक का दाग पड़ने की आशंका नहीं रहती। फिर भी यदि सैरासिनिया ३x का प्रयोग किया जावे तो और भी डर नहीं रहता है। इस दवा को एक बूंद दो चम्मच पानी में डालकर रोज रोगी को देना चाहिए। यह दवा रोग की तेजी भी कम कर देती है और गोटियों में पीव भरना रोक देती है।

गोटियों का रंग काला नीला होने पर—पीव भरी गोटियां, साफ या पीले रंग की न होकर हरी बैंगनी या काली हों या बहुत अधिक खुजला रही हों तो सल्फर २०० की एक खुराक दे देनी चाहिए।

गोटियों के एकाएक बैठ जाने पर—यदि सारा शरीर ठण्डा पड़ जाए तो गरम पानी में तीन-चार बूंद रूबिनी का कैम्फर दस-दस मिनट पर तब तक दें जब तक शरीर गरम न हो जावे।

नाक या मुंह से घर्रा चलने पर ओपियम सी० एम० की एक-एक खुराक दस-दस मिनट पर दें।

चेहरा या पलकों के फूल जाने पर—एपिस २०० की एक खुराक देनी चाहिए।

गोटियों को पूरी तरह से निकालने के लिए—पहली अवस्था में गोटियों में पीव न भरने तक ऐन्टिमटार्ट ३० देने से सब गोटियाँ भलीभांति निकल आती हैं। चेचक में हमेशा न्यूमोनिया होने का खतरा रहता है। इसलिए बीच-बीच में ऐन्टिमटार्ट देते रहने से न्यूमोनिया होने का कोई खतरा नहीं रहता है।

गोटियों से खून बहने पर—रोगी एकदम सुस्त पड़ गया हो तो बैपटीशिया ३० देना चाहिए।



पानी की तरह पतले दस्त होने पर—पीठ या कमर में दर्द, नाड़ी तेज बुखार और पानी की तरह पतले दस्त में विरेट्म विरिड ३० देना चाहिए।

गोटियां पकने के समय बेचैनी—अगर बुखार के समय बहुत ज्यादा बेचैनी हो तो रसटाक्स ३० देने से लाभ होता है।

अनुभूत प्रयोग

चेचक निकलने के पहली ही अवस्था में यदि मैले-न्ड्रनीम २०० शक्ति की एक मात्रा दे दी जावे तो रोग की तेजी में बहुत कमी हो जाती है दाने मलीभांति उभर आते हैं और जो दाने मलीभांति उभरे रहते हैं वे सूखने शुरू हो जाते हैं। इस दवा को देते ही कलबलाहट में अति शीघ्र ही कमी का अनुभव रोगी करने लगता है इन्हीं दो गुणों के कारण बिना किसी अन्य औषधि का प्रयोग किये हुए ही रोगी ७ से १२ दिन के अन्दर पूर्ण रूप से केवल इसी दवा से स्वस्थ हो जाते हैं। मुझे इस औषधि की दूसरी मात्रा सेवन कराने की कभी जरूरत नहीं पड़ी और रोगी अच्छे हो गये। रोजाना सैकलैक (दूध की चीनी) की तीन मात्रायें रोगी के इत्मीनान के लिए दे देना चाहिए।

जिन रोगियों में कलबलाहट बहुत अधिक हो उन्हें थूजा २०० शक्ति से बहुत अधिक लाभ हुआ और १०-१२ दिन में बिल्कुल स्वस्थ हो गये। यदि खांसी और बलगम की घबड़ाहट सीने में मालूम पड़े तो ऐन्टिमटार्ट ३० सुबह, दोपहर, शाम को एक-एक खुराक शुरू से ही देनी चाहिए इससे दाने भी बहुत जल्द सूख जाते हैं और न्यूमोनियां का भी भय समाप्त हो जाता है।

चेहरे या शरीर पर चेचक के दाग न पड़ने पावें इसके लिए सैरासिनिया ३x की दो बूंदों की एक औंस पानी में रोजाना २ बार पीने से रोगी हर प्रकार के भय से मुक्त रहता है।

अनुभवी लोगों ने इस भयानकरोग के होने पर अन्य व्यवस्थाओं के साथ-साथ प्रार्थना तथा सफाई इत्यादि की व्यवस्था रखी है।

आनुसंगिक उपाय

रोगी को हवादार साफ-सुथरे कमरे में रखना चाहिए, कम से कम सुबह शाम बिछावन बदल देना और मुलायम शैय्या पर रोगी को सुलाना चाहिए।

रोग के समय में बार्लीवाटर, साबूदाना, अंगूर, सेब, दूध इत्यादि बहुत हल्का खाना देना चाहिए। चेचक के रोगी के पहनने और बिछाने के कपड़े सदैव खौलते पानी में साफ करते रहना चाहिए।

देहातों में होम्योपैथी का सम्यक् प्रचार न होने से इसके द्वारा सफल चिकित्सा का लाभ लोग उठा नहीं पा रहे हैं।

जल चेचक (मोतिया माता) [Chichen pox]–यह बालकों और बच्चों को ज्यादा हुआ करता है। जल चेचक में बुखार हल्का आता है। गोटियां चिपटी न होकर ऊपर उठी और नुकीली होती हैं। तीन-चार दिन बाद गोटियों में पानी भर आने के कारण फफोले जैसी दिखाई देने लगती हैं, उनमें पीप होता है। प्रायः छः सात दिनों में ही वे गोटियां सूख जाती हैं। इनमें प्राण जाने का कोई डर नहीं होता है। यदि बुखार तेज है तो एकोनाइट १००० की केवल एक खुराक दिन में एक बार दे देना चाहिए और बाद में रसटाक्स २०० की एक खुराक प्रति दिन देते रहने से कोई गड़बड़ी पैदा होने नहीं पाती है। यदि दाने पूरी तरह न उभरे हों तो ऐण्टिम टार्ट २०० की एक खुराक दे देना चाहिए।

बहुत सुस्ती रहने पर जेलसिमियम ३० नम्बर की देनी चाहिए।

खसरा या छोटी माता [Measles]—बच्चों को ही यह बुखार हुआ करता है। इसका विष शरीर में फैलने के १०–१२ दिन बाद सर्दी, खांसी और छींकें आने लगती हैं, नाक से पानी गिरता है, आंखें लाल और पानी भरी रहती हैं, सर में दर्द, स्वरभंग मिली खांसी, पीठ और हाथ पैरों में दर्द के साथ बुखार शुरू होता है। इसके तीन चार दिन बाद खसरा निकलना आरम्भ होता है। खसरा पहले चेहरे के पीछे गर्दन और छाती तथा अन्त में सब शरीर में निकल आता है, तीन-चार दिन रहने के बाद आप ही आप मिट जाता है और साथ ही साथ बुखार भी छूट जाता है। यदि वह बुखार एकाएक बढ़ जाये, ताप १०३ से १०६ डिग्री तक हो जाए तो रोगी उसी समय अंडबंड बकने लगता है और तन्द्रा में जा पड़ता है, अरुचि

कै या मिचली, कब्ज या पतले दस्त श्वासनली का प्रदाह, फेफड़े का प्रदाह, सांस में कष्ट आदि लक्षण दिखाई देने लगते हैं। किसी-किसी रोगी को अतीसार या रक्तातीसार होने से जीवन संकट में जा पड़ता है, खसरा का बैठ जाना या बहुत ज्यादा या लाल होना बुरा लक्षण है।

प्रतिषेधक—जब खसरा रोग विशेष रूप में फैला हो, मार्विसिनम २०० की चार गोलियां हर बच्चे को तीसरे दिन देना चाहिए। रोग के आरम्भ से अन्त तक यही दवा खिला दी जावे तो दूसरी दवाओं की जरूरत नहीं पड़ती है।

अगर खांसी सूखी और कष्ट देने वाली हो तो ब्रायोनिया २०० की एक खुराक देनी चाहिए, इससे खसरे बैठ जाने का भी कोई खतरा नहीं रहता है। खसरे के बैठ जाने पर तेज बुखार और सर्दी वगैरह हो तो जेलसिमियम ३० की गोली तीन-तीन घण्टे पर देना चाहिए।

पलसटिला ३० खसरा रोग की हर अवस्था में दी जा सकती है। विशेष कर पाकाशय की गड़बड़ी में प्यास के न रहने पर दिया जाना चाहिए।

गले और सोने में यदि घरघराघट की आवाज सुनाई दे तो ऐण्टिम टार्ट तीन-तीन घण्टे पर देना चाहिए।

यदि दाना काले रङ्ग का निकल रहा हो और पतले दस्त हो रहे हों तो आर्सेनिक ३० की केवल एक खुराक से आराम हो जाता है।

खसरा अच्छी तरह से न निकलने के कारण अकड़न पैदा हो जावे तो विरेट्रम विरिड ३० की चार-चार गोली तीन-तीन घण्टे पर देना चाहिए।

बार-बार चौंकने पर आंखें और चेहरा लाल रहने पर तेज बुखार, तन्द्रा तथा अण्टसण्ट बकने पर बेलाडोना १००० देना चाहिए।

यदि आंख, नाक से पानी गिरे तो इयुफ्रेशिया ३० देना चाहिए। कैया ओकाई के साथ हरे रङ्ग के आमयुक्त पतले दस्त और खांसी रहे तो इपीकाक ३० देना चाहिए।

बहुत से देहातों में होम्योपैथी दवा आसानी से नहीं मिल पाती है उनके लिए कुछ देशी दवाओं के चमत्कारिक प्रयोग दिए जा रहे हैं।

बम्बई के अस्पतालों में डाक्टरों ने परीक्षा करके लिखा है कि केले का बीज चेचक को रोकने के लिए बड़ा उपकारी सिद्ध हुआ है। स्व० श्री बाबू हरीदास जी वैद्य ने इसकी परीक्षा बहुत से लोगों पर की और बिलकुल ठीक पाया।

चेचक से बचने के लिए केले के आठ बीजों का करीब ५ रत्ती चूर्ण शहद या दूध के साथ एक बार भी खा लिया जावे तो एक साल तक माता नहीं निकलती।

एक से पांच वर्ष के बालक के लिए सवा रत्ती और ५ से १५ साल तक के लिए ढाई रत्ती केले के बीजों का चूर्ण देना चाहिए। १६ वर्ष या ऊपर वाले को ५ रत्ती देना चाहिए।

चेचक के मरीज को भी केले के बीज का चूर्ण देना चाहिए बड़ों को ५ रत्ती शहद के साथ दिन में दो बार दें।

चेचक निकल आने के कारण बहुत से लोगों और बच्चों की आंखें नष्ट हो जाती हैं। यदि ठीक समय पर उपयुक्त चिकित्सा की जावे तो नेत्र नष्ट नहीं हो पाते हैं।

यदि नेत्रों में माता के कारण पीड़ा हो तो लिसोड़े की छाल को पानी के साथ पीसकर आंख पर गाढ़ा लेप करें। फिर आंखों में किसी तरह की खराबी का भय नहीं रहता है।

जहां पर लिसौड़े की छाल नहीं मिल सकती है वहां पर निम्नलिखित औषधियों का चूर्ण प्रयोग में लाना चाहिए—

आंवला, बहेड़ा, मुलहठी, लोध, खस की जड़, मजीठ, नीलकमल, दारुहल्दी, दूर्वा इनको समान लेकर कूट-पीस और छानकर पानी के साथ पीस लेवें और आखों पर लेप करें अथवा नेत्र के अन्दर लगावें इससे दाने सूख जावेंगे और आंखों के नष्ट होने का भय न रहेगा।

जिस जगह पर उपर्युक्त दवाओं के मिलने में भी कठिनाई हो वहां पंचबल्कल का चूर्ण काम में लाना चाहिए।

पंचवल्कल का चूर्ण बनाने की तरकीब

बरगद, पीपल, पाकर, गूलर व मोलश्री की छालों को लेकर चूर्ण करके कपड़छान कर लें यह चूर्ण जहां पर



मी माता के घाव हों या बहती हों वहां पर छिड़का जा सकता है।

निकली हुई माता रुक जाए तो उसको निकालने का देशी उपाय—थोड़ी-थोड़ी जावित्री कई बार प्रतिदिन खिलाने से भी माता निकल आती है।

माता को पकाने का उपाय—बादाम के दो दाने पानी में भिगो कर और छीलकर जल में महीन घिसकर पिलाने से भी माता भर जाती है।

लाल छोटे बेरों का चूर्ण भी गुड़ के साथ खिलाने पर माता को पका देता है।

चेचक के दाग मिटाने के लिए—खरबूजे के बिये, मसूर की छिली दाल दोनों को पीसकर उबटन की तरह बना लिया जावे, उसी उबटन को लगाने से तथा नागरमोथा को औटाकर उसके जल से मुंह धोने से मुंह सुन्दर हो जाता है और दाग मिट जाते हैं।

शीतला ढल जाने पर यदि ज्वर रह जाये तो होम्योपैथी की थूजा १००० की एक खुराक से आराम हो जाता है लेकिन यदि यह दवा किसी जगह न मिल पाये तो निम्नलिखित देशी दवा से भी लाभ हो सकता है।

लाल चन्दन, अडूसा, गिलोय, नागरमोथा, मुनक्का—इनका काढ़ा पिलाने से माता के पीछे ज्वर चला जाता है।

स्वामी श्री शिवानन्द जी महाराज के अनुसार यदि निम्नलिखित औषधि को ७ मास की गर्भवती को गोदुग्ध के साथ खिला दिया जावे तो फिर बच्चों को शीतला नहीं निकलती है।

यह प्रयोग निम्नलिखित है

शुद्ध रसौत ५ तोला, पीपल की डाढ़ी (जटा) २ तोला, पारस पीपल का फल १ तोला, ऊंटकटेरा का फूल १ तोला, मुक्तापिष्टी ३ माशा, सुवर्ण भस्म डेढ़ माशा, सुवर्णक्षीरी ६ माशा, खस ६ माशा।

उपर्युक्त वस्तुओं को कूट कपड़छान कर गोदुग्ध में घोंट कर ४२ गोलियां बनालें। ७ मास की गर्भवती स्त्री को गोदुग्ध के साथ खिलावें, प्रातः सायं २१ दिन का विधान है। गोदुग्ध, मिश्री, गेहूं, चावल, घी केवल इन्हीं ५ वस्तुओं का भोजन में प्रयोग करने से उस माता के बच्चे को शीतला नहीं निकलती है।

यदि गर्भवती स्त्री को तीसरे महीने के बाद से हर महीने एक खुराक सल्फर २०० की और छठवें महीने थूजा १०० की केवल एक खुराक दे दिया जाया करे तो आने वाला बच्चा केवल चेचक से ही नहीं अन्य सैकड़ों बीमारियों से बच जावेगा। अगर माता-पिता को उपदंश रोग का भी सन्देह हो तो केवल एक खुराक सिफलिनम १००० की चौथे महीने में स्त्री को देना चाहिए। जहां तक हो सके तो गर्भिणी को भोजन में गोदुग्ध, मिश्री, गेहूं, चावल, घी के अतिरिक्त और गरम पदार्थ न खाना चाहिए।

यदि उपर्युक्त दवाओं का प्रबन्ध न हो तो पीपल का फल एक तोला और पीपल की जटा एक तोला दोनों को आधा सेर दूध में औटा कर यदि सात मास की गर्भिणी को केवल २१ दिन का उपर्युक्त पथ्य के साथ दे दिया जावे तो भी बालक बड़ा सुन्दर, स्वस्थ तथा नीरोग उत्पन्न होता है और माता होने का कभी भी खतरा नहीं रहता है।

इस लिए अश्वत्थ (पीपल) पेड़ का नाता हमारे यहां गर्भाधान संस्कार से लेकर दाह संस्कार के बाद तक जोड़ दिया गया है। पीपल पेड़ की जटा, छाल फल इत्यादि के प्रयोग से बन्ध्या स्त्रियों को भी पुत्र उत्पन्न होता है। जिन स्त्रियों के केवल लड़कियां ही होती हैं उन्हें भी पुत्र प्राप्ति के लिए पीपल के उचित प्रयोग से पुत्र पैदा हो सकता है पीपल हर प्रकार के विष को दूर करने की अमोघ शक्ति है।

संक्रामक रोग फैलाने पर हर माता को चाहिए कि हरड़ को पानी में घिस कर बच्चों को शहद के साथ चटा दिया करें और हरड़ के बीज को हाथ में बांध दिया करें।

धन्वन्तरि कार्यालय

विजयगढ़ (अलीगढ़)

●

★ सुपरीक्षित पेटेन्ट औषधियां

★ शास्त्रोक्त प्रामाणिक औषधियां

★ चिकित्सा विषयक पुस्तकें

★ चिकित्सोपयोगी उपकरण

आदि की

* मूल्य-तालिका *

आगामी पृष्ठों में धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ द्वारा निर्मित आयुर्वेदिक शास्त्रोक्त पेटेन्ट औषधियों, चिकित्सा-विषयक स्व-प्रकाशित तथा अन्य प्रकाशकों की पुस्तकों, चिकित्सा में उपयोगी यंत्र शस्त्रों आदि की मूल्य-तालिका तथा विवरण प्रकाशित किया जा रहा है। कृपालु पाठकों से निवेदन है कि वे इसका अवलोकन कर हमें सेवा का अवसर प्रदान करें।

मार्च १९७६ [केवल रजिस्टर्ड चिकित्सकों के हेतु]

शास्त्रोक्त औषधियां



भस्में

औषधि	१० ग्राम	३ ग्राम	१ ग्राम
अभ्रक भस्म नं० १	६०.००	१९.००	६.५०
मुक्ता भस्म	२६०.००	७९.००	२६.५०
रौप्य भस्म	२२.५०	७.००	२.६०
औषधि	**५० ग्राम**	**२५ ग्राम**	**१० ग्राम**
अभ्रक भस्म नं० २	३४.००	१८.००	७.५०
अभ्रक भस्म नं० ३	१७.००	९.००	३.८०
अकीक भस्म	१६.५०	८.५०	३.८०
कपर्द भस्म	७.००	३.७५	१.७५
कान्तलौह भस्म	२२.००	११.५०	४.७५
कुक्कुटाण्डत्वक् भस्म	८.५०	४.५०	२.००
गोदन्तीहरताल भस्म	४.५०	२.५०	१.२०
जहरमोहरा भस्म	१६.५०	८.५०	३.७५
तबकी हरताल भस्म	६०.००	३१.००	१३.००
ताम्र भस्म नं० २	३०.००	१५.५०	६.५०
ताम्र भस्म नं० ३	२५.००	१३.००	५.५०
नाग भस्म नं० १	२०.००	१०.५०	४.५०
नाग भस्म नं० २	१३.५०	७.००	३.००
प्रवाल भस्म नं० १	३४.००	१७.५०	७.५०
प्रवाल भस्म नं० २	२०.००	१०.४०	४.५०
प्रवाल भस्म नं० ३	१६.५०	८.५०	३.८०
प्रवाल चन्द्रपुटी	२०.००	१०.५०	४.५०
वंग भस्म नं० १	३०.००	१५.५०	६.५०
वंग भस्म नं० २	२५.००	१३.००	५.५०
वैक्रांत भस्म	४०.००	२१.००	८.५०
मल्ल भस्म	६०.००	३१.००	१२.२०
मृगश्रृङ्ग भस्म	७.२५	३.७५	१.६०
माणिक्य भस्म	६५.००	३३.००	१४.००
माण्डूर भस्म नं० १	४.५०	२.५०	१.२०
यशद भस्म	८.५०	४.५०	२.००

औषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
लोह भस्म नं० १	६०.००	३१.००	१२.५०
लोह भस्म नं० २	१४.००	७.५०	३.२५
लोह भस्म नं० ३	९.५०	५.००	२.२५
स्वर्णमाक्षिक भस्म	१४.००	७.५०	३.२५
शंख भस्थ	४.५०	२.५०	१.२०
शंकरलोह भस्म	२२.५०	१२.००	५.००
शुक्ति भस्म	७.००	३.७५	१.८०
संगजराहत भस्म	४.५०	२.५०	१.२०
त्रिवंग भस्म नं० १	३०.००	१५.५०	६.२५
त्रिवंग भस्म नं० २	२०.००	१०.५०	४.५०
प्रवाल पिष्टी	१६.५०	८.५०	३.८०
अकीक पिष्टी	१६.५०	८.५०	३.८०
जहरमोहरा पिष्टी	१६.५०	८.५०	३.८०
कहरवा पिष्टी	७२.००	३७.००	१५.००
मुक्ताशुक्ति पिष्टी	५.२५	२.७५	१.५०
माणिक्य पिष्टी	४९,००	२५.००	१०.२५
वैक्रान्त पिष्टी	३३.००	१७.००	७.००
विड पिष्टी	७५.००	३८.५०	१६.००
	५ ग्राम	**३ ग्राम**	**१ ग्राम**
मुक्ता पिष्टी	१२६.००	७६.००	२५.५०

पर्पटी

औषधि	५ ग्राम	३ ग्राम	१ ग्राम
ताम्र पर्पटी	६.००	३.८०	१.४०
पंचामृत पर्पटी	६.००	३.८०	१.४०
विजय पर्पटी	३३.५०	२०.५०	७.००
बोल पर्पटी	३.२५	२.००	१.००
रस पर्पटी	६.५०	३.५०	१.३०
लोह पर्पटी	६.५०	३.५०	१.३०
	५० ग्राम	**२५ ग्राम**	**१० ग्राम**
श्वेत पर्पटी	३.५	२.००	१.००

कूपीपक्व रसायन

औषधि	५ ग्राम	३ ग्राम	१ ग्राम
सिद्ध मकरध्वज नं० १	३३.५०	२०.००	७.००
सिद्ध मकरध्वज नं० २	२६.००	१५.५०	५.५०
सिद्ध मकरध्वज नं० ३	२१.५०	१२.५०	४.५०
अनुपान मकरध्वज	८.५०	५.००	२.००
सिद्ध चन्द्रोदय	५२.००	३१.००	१०.५०
मल्ल चन्द्रोदय	३३.५०	२०.००	७.००
रस सिन्दूर नं० १	९.००	५.३०	२.००
रससिन्दूर नं० २	७.००	४.१०	१.७०
ताम्रसिन्दूर	८.५०	५.००	२.००
मल्ल सिन्दूर	८.५०	५.००	२.००
शिलासिन्दूर	८.५०	५.००	२.००
स्वर्णबङ्ग भस्म	४.००	२.६०	१.००
मृतसंजीवनी रस	३.००	२.१०	०.८०
रस माणिक्य	३.००	२,१०	०.८०
समीरपन्नग रस नं० १	१९.००	११.३०	४.१०
समीरपन्नग रस नं० २	८.५०	५.००	२.००
पंचसूत रस	९.००	५.००	२.००
व्याधिहरण रस	८.५०	५.३०	२.१०

बहुमूल्य रस रसायन गुटिका

औषधि	१० ग्राम	३ ग्राम	१ ग्राम
आमवातेश्वर रस	२४.५०	८.००	२.९०
बृ० कस्तूरी भैरव रस	९०.००	२७.५०	९.५०
कस्तूरी भैरव रस	८०.००	२४.५०	८.५०
कस्तूरी भूषण	७०.००	२१.५०	७.५०
कामदुधा रस नं० १	१५.००	५.००	२.००
बृ० कामचूड़ामणि रस	३५.००	११.००	४.००
कुमार-कल्याण रस	१००.००	३१.००	१०.५०
कृष्णचतुर्मुख रस	४५.००	१४.००	५.००
जयमंगल रस	८०.००	२४.५०	८.५०
प्रवालपंचामृत रस	३०.००	१०.००	३.५०
पुटपक्व विषमज्वरांतक	३५.००	११.००	४.००
बृ० पूर्णचन्द्र रस	२८.००	९.००	३.३०
बसन्त कुसुमाकर रस	७०.००	२१.५०	७.५०

औषधि	१० ग्राम	३ ग्राम	१ ग्राम
बृ० वातचिन्तामणि रस	१००.००	३१.००	१०.५०
ब्राह्मी वटी नं० १	७०.००	२१.५०	७.५०
मृगांकपोटली रस	१२५.००	३८.००	१३.००
मधुरांतक वटी	२८.००	९.००	३.३०
महाराज नृपतिवल्लभ रस	१५.००	५.००	२.००
महालक्ष्मीविलास रस	३५.००	११.००	४.००
महाराज बङ्ग भस्म	१५.००	५.००	२.००
योगेन्द्र रस	१२०.००	३७.००	१२.५०
रसराज रस	६०.००	१९.००	६.५०
राजमृगांक रस	४५.००	१४.००	५.००
बृ० लोकनाथ	६.२५	२.००	०.८०
श्वासचिन्तामणि रस	३५.००	११.००	४.००
श्वासकासचिन्तामणि रस	४५.००	१४.००	५.००
बसन्त मालती नं०१	७०.००	२१.५०	७.५०
सर्वाङ्गसुन्दर रस	६५.००	२०.००	७.००
सूतशेखर रस नं० १	४०.००	१२.५०	४.५०
	५० गोली	×	×
मधुरौल	२१.००	×	×

रस रसायन गुटिका

औषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
अग्निकुमार रस	६.००	३.२५	१.५०
अजीर्णकंटक रस	६.००	३.२५	१.५०
अमरसुन्दरी वटी	४.५०	२.५०	१.२०
अग्नितुण्डी वटी	५.००	२.७५	१.३०
आनन्दभैरव रस	८.५०	४.५०	२.००
आनन्दोदय रस	९.५०	५.००	२.२०
आदित्य रस	८.५०	४.५०	२.००
अर्शकुठार रस	८.५०	४.५०	२.००
आमलकी रसायन	७.००	३.७५	१.७०
आरोग्यवर्द्धनी वटी	८.५०	४.५०	२.००
इच्छाभेदी रस	८.५०	४.५०	२.००
इच्छाभेदी वटी	९.००	४.७५	२.१०
उपदंशकुठार रस	४.५०	२.५०	१.२०
एकांगवीर रस	२९.५०	१५.००	६.२५
एलादि वटी	४.५०	२.५०	१.२०

औषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
एलुआदि वटी	३.५०	२.००	१.००
कनकसुन्दर रस	८.५०	४.५०	२.००
कफकुठार रस	१२.२५	६.२५	२.७५
कफकेतु रस	५.५०	३.००	१.४०
कामदुधा रस	१३.५०	७.००	३.००
कांकायन गुटिका	४.५०	२.५०	१.२०
कीटमर्द रस	४.५०	२.५०	१.२०
क्रव्यादि रस	२२.००	११.५०	४.७०
कृमिकुठार रस	१२.२५	६.२५	२.७५
कामनीकुलमंडन रस	३८.५०	१९.५०	८.००
खैरसार वटी	६.००	३.२५	१.५०
गंगाधर रस वटी	११.५०	६.००	२.६०
गंधक वटी	६.००	३.२५	१.५०
गंधक रसायन	९.५०	५.००	२.२०
	५०० गोली		५० गोली
करंजादि वटी	१४.५०		१.७५
गर्भविनोद रस	६.५०	३.५०	१.६०
गर्भपाल रस	१४.५०	७.५०	३.२०
गर्भचिन्तामणि रस	१८.५०	९.५०	४.००
गुल्मकुठार रस	७.००	३.७५	१.७०
गुल्मकालानल रस	८.५०	४.५०	२.००
गुड़पिप्पली	४.५०	२.५०	१.२०
गुड़मार वटी	५.५०	३.००	१.४०
ग्रहणीगजेन्द्र रस	१८.५०	९.५०	४.००
ग्रहणीकपाट रस काला	१४.५०	७.५०	३.२०
घोड़ाचोली रस	७.५०	४.००	१.८०
चन्द्रप्रभा वटी	६.५०	३.५०	१.६०
चन्द्रोदय वटी	५.५०	३.००	१.४०
चन्द्रकला रस	८.५०	४.५०	२.००
चन्द्रामृत रस	७.००	३.७५	१.७०
चन्द्रांशु रस	१३.००	७,००	२.९०
चित्रकादि वटी	४.५०	२.५०	१.२०
ज्वरांकुश रस	७.००	३.७५	१.७०
जय वटी	९.५०	५.००	२.२०
जलोदरारि वटी	७.००	३.७५	१.७०
जातीफलादि रस	१५.००	८.००	३.५०

ओषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
दुग्धवटी नं० २	८.५०	४.५०	२.००
दुर्जलजेता रस	६.००	३.२५	१.५०
नवज्वरहर वटी	८.५०	४.५०	२.००
नष्टपुष्पान्तक रस	२३.५०	१२.००	५.००
नृपतिवल्लभ रस	९.५०	५.००	२.२०
नाराच रस	७.५०	४.००	१.८०
नित्यानन्द रस	७.५०	४.००	१.८०
प्रतापलंकेश्वर रस	१०.००	५.२५	२.३०
प्रदरारि रस	८.५०	४.२५	२.००
प्रदरान्तक रस	१४.५०	७.५०	३.२०
प्लीहारि रस	७.००	३.७५	१.७०
प्राणदागुटिका	४.५०	२.५०	१.२०
पंचामृत रस नं० १	९.५०	५.००	२.२०
पंचामृत रस नं० २	११.००	५.७५	२.५०
पाशुपत रस	७.००	३.७५	१.७५
पीपल ६४ पहरी	२३.५०	१२.००	७.००
बृ० शंखवटी	८.००	४.२५	१.९०
वृद्धिवाधिका वटी	१२.००	६.५०	२.७०
बृ० नायकादि रस	५.००	२.७५	१.३०
बोलवद्ध रस	१०.००	५.२५	२.३०
ब्राह्मीवटी	११.५०	६.००	२.६०
बालामृतवटी	२९.५०	१५.००	६.२०
बृ० बातगजांकुश रस	११.५०	६.००	२.६०
विषमुष्टिकावटी	५.५०	३.००	१.४०
बेताल रस	१४.५०	७.५०	३.२०
व्योपादि वटी	४.००	२.२५	१.२०
महामृत्युंजय रस (लाल)	१६.००	८.२५	३.५०
मृत्युँजयरस (काला)	११.००	५.७५	२.५०
	२५० गोली	१०० गोली	४१ गोली
मकरध्वज वटी	२९.००	१२.००	५.००
मरिच्यादि वटी	४.००	२.२५	१.२०
महागंधक रस	२६.००	१३.५०	५.५०
महाशूलहर रस	९.५०	५.००	२.२०
महावातविध्वंसक रस	२४.५०	१२.५०	५.२०
मार्कण्डेय रस	७.००	३.७५	१.७५
मूत्रकृच्छ्रान्तक रस	२२.००	११.५०	४.७०

औषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
मेहमुद्गर रस	७.००	३.७५	१.७५
रक्तपित्तान्तक रस	९.५०	५.००	२.२०
रस पीपरी	२८.५०	१४.५०	६.००
रामबाण रस	८.००	४.२५	२.००
लशुनादि वटी	५.५०	३.००	१.४०
लघुमालती वसंत ०	१७.००	९.००	३.७०
लक्ष्मीविलास रस	१६.००	८.२५	३.५०
लक्ष्मीनारायण रस	१९.५०	१०.००	४.२५
लाई रस	७.००	३.७५	१.७५
लीलावती गुटिका	७.००	३.७५	१.७५
लीलाविलास रस	११.००	५.७५	२.५०
लोकनाथ रस	१२.००	६.२५	२.७५
श्वासकुठार रस	८.००	४.२५	२.००
शंखवटी	७.००	३.७५	१.७५
शंसमनी वटी	७.००	३.७५	१.७५
शिरोवज्र रस	७.००	३.७५	१.७५
शिलाजीत वटी	११.००	५.७५	२.५०
शीतभंजी रस	१२.५०	६.५०	२.८०
शूलवज्रिणी वटी	८.००	४.२५	२.००
शूलगजकेशरी	१५.००	७.७५	३.३०
शृङ्गाराभ्रक	१२.००	६.२५	२.७५
स्मृतिसागर रस	२२.००	११.२५	४.७५
सन्निपात भैरव रस	१०.००	५.२५	२.३०
संजीवनी वटी	४.५०	२.५०	१.२०
सर्पगंधा वटी	१२.५०	६.५०	२.८०
समीरगजकेशरी	२९.५०	१५.००	६.२०
सिद्धप्राणेश्वर रस	७.००	३.७५	१.७५
सूतशेखर रस नं. २	१९.५०	१०.००	४.२५
सौभाग्यवटी	७.००	३.७५	१.७५
हिंग्वादि वटी	४.५०	२.५०	१.२०
हृदयार्णव रस	१६.००	८.२५	३.५०
त्रिपुरभैरव रस	७.५०	४.००	१.९०
त्रिभुवनकीर्ति रस	८.००	४.२५	२.००
त्रिविक्रम रस	२०.००	१०.२५	४.३०

लोह मांडूर

औषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
अम्लपित्तांतक लोह	१२.००	६.२५	२.७५
चन्दनादि लोह(ज्वर)	८.००	४.२५	२.००
चंदनादिलोह(प्रमेह)	१०.००	५.२५	२.३०
ताप्यादि लोह	१८.५०	९.५०	४.००
धात्री लोह	७.००	३.७५	१.७५
नवायस लोह	८.००	४.२५	२.००
प्रदरारि लोह	८.५०	४.५०	२.१०
प्रदरान्तक लोह	१०.५०	५.५०	२.४०
पुनर्नवादि मांडूर	५.५०	३.००	१.४०
बिडंगादि लोह	६.००	३.२५	१.५०
विषमज्वरान्तक लोह	१६.००	८.२५	३.५०
यकृत्हर लोह	१०.५०	५.५०	२.४०
शोथोदरारि लोह	११.००	५.७५	२.५०
सर्वज्वरहर लोह	१२.००	६.२५	२.७५
सप्तामृतहर लोह	८.००	४.२५	२.००
त्र्यूषणादि लोह	८.००	४.२५	२.००

गुग्गुल

औषधि	२०० ग्राम	५० ग्राम	१० ग्राम
अमृतादि गुग्गुल	१३.५०	३.५०	१.००
कांचनार गुग्गुल	१६.००	४.२५	१.००
किशोर गुग्गुल	१६.००	४.२५	१.००
गोक्षुरादि गुग्गुल	१६.००	४.२५	१.००
पुनर्नवादि गुग्गुल	१६.००	४.२५	१.००
बृ. योगराज गुग्गुल	५७.५०	१४.५०	३.२०
योगराज गुग्गुल	१६.००	४.२५	१.००
रसाभ्र गुग्गुल	२३.००	६.५०	१.६०
रास्नादि गुग्गुल	१६.००	४.२५	१.००
सिंहनाद गुग्गुल	१६.००	४.२५	१.००
त्रयोदशांग गुग्गुल	११.५०	३.००	०.९०
त्रिफलादि गुग्गुल	११.५०	३.००	०.९०

चूर्ण

औषधि	१ किलो	१०० ग्राम	५० ग्राम
अग्निमुख चूर्ण	२५.००	३.२५	१.७५
अविपत्तिकर चूर्ण	७०.००	७.५०	४.००
अजीर्णपानक चूर्ण	४०.००	४.५०	२.५०
उदरभास्कर चूर्ण	४०.००	४.५०	२.५०
एलादि चूर्ण	५५.००	६.००	३.२५
कामदेव चूर्ण	३०.००	३.५०	२.००
गंगाधर चूर्ण	२५.००	३.००	१.७५
ज्वरभैरव चूर्ण	२०.००	२.२५	१.२५
जातीफलादि चूर्ण	५०.००	५.५०	३.००
तालीसादि चूर्ण	५०.००	५.५०	३.००
दशनसंस्कार चूर्ण	४०.००	४.५०	२.५०
नारायण चूर्ण	२०.००	२.२५	१.२५
निम्बादि चर्ण	२५.००	३.००	१.७५
बिल्वादि चूर्ण	२५.००	३.००	१.७५
प्रदरान्तक चूर्ण	२५.००	३.००	१.७५
पंचसंस्कार चूर्ण	२५.००	३.००	१.७५
प्रदरारि चूर्ण	२१.००	२.५०	१.५०
पुष्यानुग चूर्ण	२१.००	२.५०	१.५०
यवानीखांडव चूर्ण	२५.००	३.००	१.७५
लवंगादि चूर्ण	७०.००	७.५०	४.००
लवणभास्कर चूर्ण	२५.००	३.००	१.७५
सारस्वत चूर्ण	३०.००	३.५०	२.००
सामुद्रादि चूर्ण	३०.००	३.५०	२.००
शृंग्यादि चूर्ण	२५.००	३.००	१.७५
सितोपलादि चूर्ण	५५.००	६.००	३.२५
सुदर्शन चूर्ण	२५.००	३.००	१.७५
हिंग्वष्टक चूर्ण	४०.००	४.५०	२.५०
त्रिफला चूर्ण	१५.००	२.००	१.२५

तैल

औषधि	४०० मि.लि.	१००मि.लि.	५०मि.लि
इरमेदादि तैल	१६.००	४.२०	२.२०
कन्दर्पसुन्दर तैल	१६.००	४.२०	२.२०
कासीसादि तैल	१८.००	४.६५	२.४०

औषधि	४००मि.लि.	१००मि.लि.	५०मि.लि.
किरातादि तैल	१५.००	३.६०	१.८०
कुमारी तैल	१६.००	४.२०	२.२०
ग्रहणीमिहिर तैल	१८.००	४.६५	२.४०
गुडूच्यादि तैल	१६.००	४.२०	२.२०
महाचन्दनादि तैल	२०.००	५.१५	२.६५
चन्दन वलाक्षादि तैल	२०.००	५.१५	२.६५
जात्यादि तैल	२०.००	५.१५	२.६५
दशमूल तैल	१८.००	४.६५	२.४०
दार्व्यादि तैल	१८.००	४.६५	२.४०
महानारायण तैल	१८.००	४.६५	२.४०
पिपल्यादि तैल	१८.००	४.६५	२.४०
पिंड तैल	२०.००	५.१५	२.६५
पुनर्नवादि तैल	१६.००	४.२०	२.२०
बिल्व तैल	२०.००	५.१५	२.६५
विषगर्भ तैल	१८.००	४.६५	२.४०
भृङ्गराज तैल	२०.००	५.१५	२.६५
महाविषगर्भ तैल	२०.००	५.१५	२.६५
बैरोजा का तैल	२४.००	६.१०	३.१०
महामरिच्यादि तैल	१८.००	४.६५	२.४०
महामाष तैल	२०.००	५.१५	२.६५
मोंम का तैल	२६.००	६.७०	३.४०
राल का तैल	२४.००	६.१०	३.१०
लाक्षादि तैल	१८.००	४.६५	२.४०
शुष्क मूलादि तैल	१६.००	४.२०	२.२०
षटबिन्दु तैल	१८.००	४.६५	२.४०
हिमसागर तैल	२४.००	६.१०	३.१०
क्षार तैल	२६.००	६.७०	३.४०

घृत

औषधि	४००मि.लि.	२००मि.लि.	५०मि.लि.
अर्जुन घृत	२२.५०	५.८०	३.००
अशोक घृत	२२.५०	५.८०	३.००
कदली घृत	२२.५०	५.८०	३.००
कामदेव घृत	२२.५०	५.८०	३.००
पञ्चतिक्त घृत	२५.००	६.२०	३.२०
फल घृत	२५.००	६.२०	३.२०

औषधि	४००मि.लि.	२००मि.लि.	५०मि.लि.
ब्राह्मी घृत	२२.५०	५.८०	३.००
महात्रिफलादि घृत	२५.००	६.२०	३.२०
सारस्वत घृत	२२.५०	५.८०	३.००

आसव अरिष्ट

औषधि	५५०मि.लि.	४००मि.लि.	२१०मि.लि.
अमृतारिष्ट	४.६०	४.२०	२.५०
अर्जुनारिष्ट	५.१०	४.३०	२.६०
अरविन्दासव नं. १	१०.७०	८.६०	४.६०
अरविन्दासव नं. २	५.५०	४.५०	२.७५
अशोकारिष्ट	५.१०	४.३०	२.६०
अभयारिष्ट	५.१०	४.३०	२.६०
अश्वगंधारिष्ट	५.५०	४.५०	२.७५
उसीरासव	४.६०	४.२०	२.५०
कनकासव	४.६०	४.२०	२.५०
कुमारीआसव	५.४०	४.५०	२.७५
कुटजारिष्ट	५.१०	४.३०	२.६०
खदिरारिष्ट	४.६०	४.२०	२.५०
चन्दनासव	४.६०	४.२०	२.५०
दशमूलारिष्ट नं. १	८.००	६.५०	३.७०
दशमूलारिष्ट नं. २	५.४०	४.५०	२.७५
द्राक्षासव	५.४०	४.५०	२.७५
द्राक्षारिष्ट	५.४०	४.५०	२.७५
देवदार्व्यारिष्ट	५.१०	४.३०	२.६०
पत्रांगासव	५.१०	४.३०	२.६०
पुनर्नवासव	४.६०	४.२०	२.५०
वल्लभारिष्ट	७.३०	६.००	३.३५
बबूलारिष्ट	४.६०	४.२०	२.५०
वासारिष्ट	५.४०	४.५०	२.७५
विडङ्गासव	४.६०	४.२०	२.५०
रक्तशोधिकारिष्ट	५.४०	४.५०	२.७५
रोहितकारिष्ट	४.६०	४.२०	२.५०
लोहाकुमारी द्राक्षा	६.००	५.००	३.००
लोहासव	४.६०	४.२०	२.५०
सारस्वतारिष्ट	६.००	५.००	३.००

औषधि	५५०मि.लि.	४००मि.लि.	२१०मि.लि
नारिवाद्यासव	५.४०	४.५०	२.७५
सोमकल्पासव	६.५०	५.४०	३.२०

अर्क

औषधि	५५० मि.लि.	४०० मि.लि.	२१० मि.लि.
अर्क उसवा	५.१०	४.३०	२.६०
अर्क दशमूल	३.७०	३.२०	२.००
द्राक्षादि अर्क	४.२०	३.६०	२.२०
महामंजिष्ठादि अर्क	३.७०	३.२०	२.००
रास्नादि अर्क	३.७०	३.२०	२.००
सुदर्शन अर्क	४.००	३.५०	२.१०
सौंफ अर्क	४.००	३.५०	२.१०
अर्क अजवाइन	४.००	३.५०	२.१०
अर्क पोदीना	४.००	३.५०	२.१०

अवलेह

औषधि	२० किलो		
च्यवनप्राश (अवलेह)	२६०.००		
	१ किलो	२५० ग्राम	१२५ ग्राम
	१५.००	४.५०	
द्राक्षावलेह	×	×	२.५०
लोह रसायन	८०.००	२१.००	४.००
	×		×
		२०० ग्राम	१०० ग्राम
लोहरसायन	×	×	
कुटजावलेह	१८.००	४.००	६.००
कुशावलेह	१८.००	४.००	२.२५
कण्टकारी अवलेह	१८.००	४.००	२.२५
वांसावलेह	१८.००	४.००	२.२५
ब्राह्म रसायन	१८.००	४.००	२.२५
सुपारी पाक	२०.००	×	२.२५
			२.४०
विषमुष्टिकावलेह	×		५० ग्राम
		६.००	५.००
		१५० ग्राम	७५ ग्राम
मधुकाद्यावलेह	२८.००	५.००	२.७५

क्वाथ

औषधि	१ किलो	१२५ ग्राम ८ पुड़िया	४० ग्राम १००पुड़िया
दार्व्यादि क्वाथ	१०.००	१२.००	६०.००
देवदार्व्यादि क्वाथ	९.००	१०.८०	५५.००
पथ्यादि क्वाथ	१०.००	१२.००	६०.००
महामजिष्ठादि क्वाथ	१०.००	१२.००	६०.००
महारास्नादि क्वाथ	१०.००	१२.००	६०.००
त्रिफलादि क्वाथ	९.००	१०.८०	५५.००
दशमूल क्वाथ	३.००	४.८०	३०.००
"	४० किलो	९०.००	

क्षार-सत्व द्रव

औषधि	२५० ग्राम	१०० ग्राम	१० ग्राम
बांसा क्षार	×	८.००	१.००
बज्रक्षार	१८.००	८.००	१.००
कदली क्षार	×	८.००	१.००
तिल क्षार	×	८.००	१.००
पलास क्षार	×	८.००	१.००
चना क्षार	×	९.००	१.१०
आक क्षार	×	९.००	१.१०
केतकी क्षार	×	८.००	१.००
अपामार्ग क्षार	×	८.००	१.००
इमली क्षार	×	९.००	१.१०
मूली क्षार	×	९.००	१.१०
कटेरी क्षार	×	८.००	१.००
नाड़ी क्षार	×	८.००	१.००
सौंफ क्षार	×	८.००	१.००
धतूरा क्षार	×	८.००	१.००
यवक्षार	११.००	५.००	०.७५
गिलोयसत्व	१३.००	६.००	१.००
"	१ किलो	५०.००	
यवक्षार	"	४०.००	

कतिपय मुख्य द्रव्य

औषधि	१ किलो	५० ग्राम	१० ग्राम
शिलाजीत नं० १	२००.००	१०.५०	२.४०
शिलाजीत नं० २	१७०.००	९.००	२.१०
रुदन्तीफल	२५.००	×	×
रुदन्तीफल चूर्ण	३०.००	×	×
रुदन्तीफल टेबलेट	३५.००	×	×

मलहम

औषधि	२०० ग्राम	१०० ग्राम	५० ग्राम
अग्निदग्धव्रणहर मलहम	५.००	२.७५	१.५०
कर्पूरादि मलहम	१०.५०	५.५०	३.००
गन्धकादि मलहम	८.५०	४.५०	२;५०
जात्यादि मलहम	८.५०	४.५०	२.५०
पारदादि मलहम	६.५०	३.५०	२.००
निम्बादि मलहम	१०.५०	५.५०	३.००
मरिच्यादि मलहम	८.५०	४.५०	२.५०
दशांग लेप	५.००	२.७५	१.५०

शोधित द्रव्य

औषधि	१०० ग्राम	५० ग्राम	१० ग्राम
कज्जली (बराबर गंधक पारद)	३०.००	१५.५०	३.५०
शु० गन्धक आंवलासार	४.००	२.२५	०.८०
शु० जयपाल	५.००	२.७५	०.९०
शु० हरताल (ताल)	३०.००	१५.५०	३.५०
शु० पारद हिंगुलोत्थ	५०.००	२५.५०	५.७५
बच्छनाग शुद्ध	६.५०	३.५०	१.००
विषबीज शुद्ध	८.५०	४.५०	१.२०
शुद्ध मल्ल (संखिया)	२५.००	१३.००	३.००
मल्लातक शुद्ध	६.००	३.२५	१.००
शिला (मंशिल) शुद्ध	२०.००	१०.५०	२.५०
हिंगुल शुद्ध (हंसपदी)	२५.००	१३.००	३.००
शुद्ध धतूराबीज	६.००	३.२५	१.००
	१ किलो	५०० ग्राम	१०० ग्राम
शुद्ध गुग्गुल	४०.००	२१.००	४.५०
शुद्ध माण्डूर	१२.००	६.५०	१.६०
शुद्ध लौहचूर्ण	१४,००	७.५०	१.८०
शुद्ध ताम्रचूर्ण	७०.००	३६.००	७.५०
शुद्ध धान्याभ्रक	१५.००	८.००	२.००

केवल रजिस्टर्ड चिकित्सकों के लिये—

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ द्वारा निर्मित

अनुभूत एवं सफल पेटेन्ट दवाएं

हमारी ये पेटेन्ट औषधियां ७८ वर्षों से भारत के प्रसिद्ध वैद्यराज और धर्मार्थ औषधालयों द्वारा व्यवहार की जा रही हैं। अतः इनकी उत्तमता के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए।

औषधि	गोली व तोल	१ शीशी	१ दर्जन
मकरध्वजवटी	४१ गोली	५.००	५९.००
"	२१ गोली	२.६०	३०.००
"	५०० गोली	५६.००	—
कुमारकल्याणघुटी	१४ मि.लि.	०.६०	७.००
"	५० मि.लि.	१.७५	२०.५०
"	१०० मि.लि.	३.२५	३८.५०
"	४०० मि.लि.	१४.५०	१३७.००
कुमाररक्षक तैल	५० मि.लि.	२.२५	२६.५०
"	१०० मि.लि.	४.००	४७.५०
"	४०० मि.लि.	१४.५०	१७३.००
कासारि	२५ मि.लि.	१.००	११.५०
"	१०० मि.लि.	२.५०	२९.५०
"	४०० मि.लि.	९.००	१०७.००
ज्वरारि	१०० मि.लि.	२.२५	२६.५०
"	२०० मि.लि.	४.००	४७.५०
"	५५० मि.लि.	९.००	१०७.००
स्त्रीसुधा	२०० मि.लि.	३.७५	४५.५०
"	५५० मि.लि.	८.००	९५.००
आ. सालसापरेला	२०० मि.लि.	३.००	३५.५०
"	५५० मि.लि.	७.५०	८९.००
खाजरिपु	५० मि.लि.	२.५०	२९.५०
"	२५ मि.लि.	१.४०	१६.२०
शिरो विरेचनीय सुरमा	१ ग्राम	०.९०	१०.२०
करंजादि वटी	५० गोली	१.७५	२०.५०
कासहर वटी	१० ग्राम	१.००	११.५०
"	१०० ग्राम	९.५०	
निम्बादि मलहम	१५ ग्राम	१.००	११.५०
सरलभेदी वटी	३१ गोली	२.००	२३.५०
आंवनिस्सारक वटी	१० ग्राम	१.६०	१८.५०
मुख के छालों की दवा	१० ग्राम	१.००	११.५०
कर्णामृत तैल	१४ मि.लि.	१.००	११.५०
पायरिया मंजन	५० ग्राम	१.२५	१४.५०
नयनामृत सुरमा	३ ग्राम	१.००	११.५०

औषधि	गोली व तोल	१ शीशी	१ दर्जन
दाद की दवा	१५ ग्राम	१.००	११.५०
नेत्रबिन्दु	१४ मि.लि.	१.२०	१२.६०
"	७ मि.लि.	०.७५	८.५०
कामिनीरक्षक	३० ग्राम	२.७५	
वातारि वटी	४० गोली	३.००	
वल्लभ रसायन	३० ग्राम	२.५०	
रक्तवल्लभ रसायन	१० ग्राम	२.२५	
बालोपकारक वटी	३१ गोली	३.२५	
मधुरौल	१० गोली	४.२५	
अग्निसंदीपन चूर्ण	३० ग्राम	१.४०	१६.२०
मनोरम चूर्ण	४० ग्राम	१.६०	१८.५०
"	२० ग्राम	०.९०	१०.२०
अग्निवल्लभ क्षार	४० ग्राम	१.७५	२०.५०
ग्रहणीरिपु	१० ग्राम	३.५०	४०.००
स्वादिष्ट चटनी	३० ग्राम	१.५०	१७.५०
स्वप्नोजित चूर्ण	५० ग्राम	३.००	३५.५०
स्वप्नोजित वटी	३० गोली	३.००	३५.५०
नारीसुखदा वटी	३० गोली	२.५०	२९.५०
धन्व. काला दन्तमंजन	५० माशा	१.५०	१७.५०
निद्राकारक तैल	५० मि.लि.	३.००	३५.५०
शोथशार्दूल तैल	५० मि.लि.	३.००	३५.५०
शूलहर टिकिया	१० टिकिया	२.००	२३.५०
डब्बानाशक वटी	३० गोली	२.००	२३.५०
सौंदर्यवर्द्ध कउबटन	५० ग्रा०	१.७५	२०.५०
चन्द्रप्रभावर्ती	१० ग्रा०	२.००	२३.५०
द्राक्षावलेह	१२५ ग्रा०	४.००	४७.५०
शक्तिदाचूर्ण	५० ग्रा०	३.००	३५.५०
आनन्दवटी	३० गोली	३.००	३५.५०
ज्वरहर रस	६ मात्रा	०.५०	५.७५
"	५० ग्राम	२५.००	
सोमकल्पासव	५५० मि.लि. ६.५०	४०० मि.लि. ५.४०	२१० मि. लि. ३.२०

गर्ग वनौषधि भण्डार, विजयगढ़ (अलीगढ़)
की मूल्य तालिका

आत्म-निवेदन

•

पिलानी से बी फार्म अध्ययन पूर्ण करने के बाद जब मैं विजयगढ़ आया तो मेरा विचार एलोपैथिक औषधियों के निर्माण का था परन्तु पूज्य पिताजी स्व. देवीशरण जी गर्ग के आदेश पर आयुर्वेदिक कैपसूलों, आयुर्वेदिक घनसत्वों तथा आयुर्वेदिक मलहमों (आकर्षक ट्यूब पैकिंग में) का निर्माण १९७० में गर्ग वनौषधि भण्डार नामक संस्था के अन्तर्गत प्रारम्भ किया गया। इन आयुर्वेदिक कैपसूल घनसत्व तथा अन्य पेटेण्ट आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण स्वर्गीय पिताजी ने अपने ४० वर्ष के चिकित्सानुभव के आधार पर कराया। यही कारण था कि इन औषधियों ने अपने गुणों के आधार पर अल्प समय में अत्यन्त ख्याति प्राप्त की। हमारी औषधियों के प्रचार का एक और कारण है आकर्षक पैकिंग। हम सभी औषधियों का पैकिंग आधुनिक ढंग से कराते हैं। चर्मनौल तथा दग्धनौल जो विशुद्ध आयुर्वेदिक मलहम है, की ट्यूब एलोपैथिक मलहमों के समान आकर्षक रंगों में प्रिन्ट कराई गयीं हैं। इसी प्रकार अतीसार नाशक प्रसिद्ध औषधि "डाइरील" का आधुनिक स्ट्रैप विधि से पैकिंग किया गया है। आगे के पृष्ठों पर अपने यहां से निर्मित सभी औषधियों का विवरण दिया जा रहा है। यहां औषधि मंगाने के नियम संक्षिप्त रूप में दिये जा रहे हैं—

कमीशन के नियम—(१) २५.०० से कम औषधियों पर कोई कमीशन नहीं दिया जाता है।
(२) ५०.०० तक की औषधियों पर १५% कमीशन दिया जाता है।
(३) ५०.०० से अधिक की औषधियों हर २५% कमीशन दिया जाता है।

पोस्टव्यय के नियम—(१) ५०.०० से कम औषधि मंगाने पर सम्पूर्ण पोस्टव्यय ग्राहक को देना होगा। १००.०० तक औषधि मंगाने पर आधा पोस्टव्यय ग्राहक को देना होगा तथा १००.०० से अधिक मंगाने पर भी आधा पोस्ट-व्यय (अधिकतम आठ रुपया) ग्राहक को ही देना होगा।
(२) बालविट, गैसनौल, जुकामहारी, अशोका कार्डीयल आदि भारी सामान पोस्ट से नहीं भेजे जाते हैं।
(३) वजन के आधार पर पोस्टेज निम्न प्रकार लगेगा—

	१०.०० तक	२०.०० तक	५०.०० तक	१००.०० तक		१०.०० तक	२०.०० तक	५०.०० तक	१००.०० तक
५०० ग्राम तक	४.००	४.५०	५.००	६.००	२००० ग्राम तक	८.५०	९.००	९.५०	१०.५०
१००० ग्राम तक	५.५०	६.००	६.५०	७.५०	२५०० ग्राम तक	१०.००	१०.५०	११.००	१२.००
१५०० ग्राम तक	७.००	७.५०	८.००	९.००	३००० ग्राम तक	११.५०	१२.००	१२.५०	१३.५०

सेल टैक्स के नियम—उत्तर प्रदेश के ग्राहकों को औषधियों पर ५% तथा उत्तर प्रदेश से प्रथक् प्रान्तों के ग्राहकों को १०% सी. फार्म देने पर ४ % सेलटैक्स प्रथक् से देना होगा।

उपर्युक्त नियमों का ठीक तरह अवलोकन कर ग्राहकों को हमारी औषधियों का आर्डर देना चाहिए। हमारा विश्वास है कि एक बार हमारे यहां से निर्मित औषधियों को व्यवहार कर सदैव के लिये आप इनके भक्त बन जायेंगे। आशा है, सेवा का अवसर अवश्य प्रदान करेंगे।

भवदीय—

भगवती प्रसाद गर्ग, बी० फार्म

वातनौल

वायु के दर्द और सूजन के लिए आशुफलप्रद है। पक्षाघात, गृध्रसी, आमवात आदि किसी भी रोग के कारण दर्द और सूजन हो इसकी मालिश करने से बहुत शीघ्र लाभ होता है। वायु के रोगों में प्रायः महा नारायण तैल, विषगर्भ तैल की मालिश की जाती है, किन्तु यह मलहम इन सब तैलों से अधिक लाभप्रद है। आमवात में जब रोगी पीड़ा और सूजन से छटपटाता है तो इसकी मालिश करने से चैन पड़ जाता है आमवात और गृध्रसी के रोगी को वातान्तक कैपसूल १-१ खिलाकर ऊपर से रास्ना मूल का क्वाथ पिलाना चाहिए और इस मलहम की मालिश करके सिकाई करनी चाहिये। पसली या गले के दर्द में इसकी मालिश करके रुई बांध देने में बहुत शीघ्र लाभ होता है। व्यवहार करने से ही पता चलेगा कि इस विशुद्ध आयुर्वेदीय मलहम की बराबरी न कोई तेल कर सकता है न औइन्टमेंट ही। ट्यूब २५ ग्राम का सुन्दर पैकिंग ३.२५।

त्रिफलावलेह

यह अवलेह उन रोगियों के लिए है जिन्हें स्थायी मलावरोध रहता है, दस्त कभी साफ नहीं होता पेट में भारीपन रहता है और पेट की शिकायत रहती है, अत्युत्तम औषधि है। यह केवल दस्तावर ही नहीं, आंखों को बल भी प्रदान करती है, कुछ दिन नियमित सेवन के पश्चात् इसके सेवन की आवश्यकता ही नहीं रहती। जिन व्यक्तियों की बाल्यावस्था या युवावस्था में नेत्रों की ज्योति कम हो जाती है और नेत्र चिकित्सक आंखों में किसी प्रकार की खराबी नहीं बताते वह यदि नेत्र ज्योति-वर्द्धक सुरमा तथा इस अवलेह का नियमित प्रयोग करते हैं तो निश्चय ही नेत्रों की ज्योति बढ़ जाती है। मूल्य २५० ग्राम ४.७५।

स्वप्ना

वीर्यगत ऊष्मा को शान्त करके स्वप्नदोष को दूर करने वाली अत्युत्तम औषधि है पुराने से पुराना स्वप्नदोष और उसके उपद्रव जैसे हाथ पैरों की हड़कल, पेशाब का पीलापन, निस्तेजता आदि बहुत शीघ्र ठीक हो जाते हैं। सैकड़ों रोगी जो अनेकों मूल्यवान् औषधियां सेवन करके निराश हो चुके थे इसके व्यवहार से स्वस्थ हुये हैं। मूल्य १०० ग्राम ३.२५।

गैसनौल

आज जिधर देखिए उधर यही सुनने में आता है कि हमारी अग्नि कमजोर है खाना हजम नहीं होता, दस्त साफ नहीं उतरता, भूख नहीं लगती इत्यादि। गैसनौल के सेवन से अग्नि प्रज्वलित होती है खाया हुआ खाना हजम होता है। रोगी का पेट फूल रहा हो और वायु का निस्सरण न हो तो इसके लेते ही चैन पड़ जाता है। मूल्य १०० मि. लि. २.५०, ४५० मि. लि. ८.५०।

बालबिट

इसके सेवन से बालकों के समस्त रोग जैसे ज्वर, हरे पीले दस्त, अजीर्ण, पेट का दर्द, अफरा, पेट में कीड़े पड़ जाना, दस्त साफ न होना, सर्दी, कफ, खांसी दूध पलटना, सोते-सोते चौंक पड़ना, दांत निकलने के समय के रोग बहुत शीघ्र ठीक हो जाते हैं। बच्चा मोटा ताजा और बलवान हो जाता है। कैल्शियम और विटामिन युक्त इस औषधि के व्यवहार से बच्चे भी स्वस्थ हो गये हैं, जिनकी सूखा रोग के कारण खाल तक लटक गई थी। मूल्य ३० मि. लि. की शीशी २.२५।

जुकामहारी

जुकाम, नजला और खांसी की अत्युत्तम और शीघ्र लाभप्रद औषधि है। इसकी २-४ मात्राओं के सेवन से ही जुकाम की तेजी कम हो जाती है और रोगी को चैन पड़ जाता है। जिन रोगियों का जुकाम रुक जाता है, उसके कारण खांसी होती है और रोगी खांसते-खांसते और नाक साफ करते-करते परेशान हो जाता है, किन्तु बलगम नहीं निकलता, ऐसी अवस्था में इसके प्रयोग से कफ पतला होकर निकल जाता है। इसके निरन्तर सेवन से बारबार होने वाला जुकाम भी ठीक हो जाता है। मूल्य १०० मि. लि. की शीशी २.५०।

गर्ग बनौषधि भण्डार, विजयगढ़ [अलीगढ़]

अशोका कार्डियल फोर्ट

यह दवा स्त्रियों के लिए अत्यधिक उपयोगी है। इसके सेवन से रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, कमरदर्द, मासिकधर्म की खराबी गर्भाशय में दर्द रहना, मन्दाग्नि, जी मिचलाना, सिर भारी रहना, खून की कमी के कारण चेहरा पीला व कमजोर पड़ जाना हाथ-पैर व आंखों में जलन आदि सभी स्त्री विकारों में स्थायी लाभ होता है।

प्राकृतिक नियम है कि प्रति माह स्त्री ऋतुमयी हो इस नियम में अवरोध होने या कमी होने से व्याधियां उठ खड़ी होती हैं। प्राकृतिक नियम की बाधा नष्ट कर देती तथा स्त्रियों के स्वास्थ्य में बड़ी सहायक है।

गर्ग अशोका कार्डियल फोर्ट का स्वस्थ अवस्था में भी निरन्तर प्रयोग करते रहने से स्त्रियों का शरीर पूर्णतः नीरोग बना रहता है। यह एक बल स्फूर्तिदायक मधुर पेय है। २२५ मि. लि. का सुन्दर पैंकिग मूल्य ४.०० ।

नवयौवन मलहम

जिन व्यक्तियों की हस्तमैथुन, बहुमैथुन आदि निन्द-नीय कर्मों से नसें कमजोर हो गई हैं और उसके कारण निर्बलता, टेढ़ापन और पतलापन आकर नपुंसकता आ गई है उनके लिए इसके व्यवहार से बहुत शीघ्र लाभ होता है। कोई तिला या मलहम इसकी समानता नहीं कर सकता। इसके व्यवहार से टेढ़ापन, पतलापन सुस्ती नपुंसकता, नसों में पानी भरना, रगों का फूलना आदि विकार दूर होकर पूर्ण पुष्टता आ जाती है। मूल्य १० ग्राम का ट्यूब ४.७५ ।

विशेष—नवयौवन मलहम प्रयोग के साथ ही यदि क्लीवान्तक कैपसूल या नपुंसकत्वारि का प्रयोग किया जाय तो शीघ्र लाभ होता है।

डायरौल

बहुत समय से हम यह चेष्टा कर रहे थे कि अहिफेन (अफीम) मिलने में असुविधा होने के कारण किसी ऐसी औषधि का निर्माण किया जाय, जिसमें अफीम का मिश्रण न हो और जो कर्पूर रस आदि अहिफेन मिश्रित औषधियों के समान लाभ करे। सैकड़ों प्रयोगों की परीक्षा के बाद हमने [illegible] इस प्रयोग को तैयार कराया है। इसके व्यवहार से सब प्रकार के अतीसार, आमातीसार, रक्तातीसार, ग्रहणी संग्रहणी, पेट में मरोड़ रहना या मरोड़ के साथ पतला दस्त आदि में चमत्कारी लाभ होता है। एलोपैथिक औष-धियों की तरह बहुत सुन्दर स्ट्रिप पैंकिग किया गया है। मूल्य १०० टेबलेट का १२.००, ५०० टेबलेट ५७.५० ।

शर्बत ब्राह्मी

मस्तिष्क की निर्बलता और स्मरण शक्ति की कमी की शिकायत आजकल प्रायः की जाती है। अनेक विद्यार्थी शीघ्र ही अपने पाठ को याद नहीं कर पाते हैं या शीघ्र भूल जाते हैं परीक्षा के समय काफी प्रयत्न करने पर भी असफल हो जाते हैं, शर्बत ब्राह्मी से स्मरण शक्ति बढ़ती है मस्तिष्क में हर समय रहने वाली थकावट दूर हो जाती है। पित्तज विकारों को नष्ट करने के लिए उत्तम है। शिक्षकों, वकीलों, विद्यार्थियों आदि दिमागी काम करने वालों को उत्तम है। परीक्षा के समय विद्यार्थियों आदि दिमागी काम करने वालों को उत्तम है। परीक्षा के समय विद्यार्थियों को इसका सेवन उपयोगी है। मूल्य २२५ मि. लि. ३.७५, ४५० मि. लि. ७.०० ।

पता—गर्ग वनौषधि भंडार विजयगढ़ (अलीगढ़)